ओ३म्

अथर्ववेदभाष्य

(आध्यात्मिक व्याख्या)

[काण्ड १ से ७]

प्रथम भागः

भाष्यकार :

प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार

प्रकाशक :

वैदिक पुस्तकालय

केसरगंज, अजमेर (राज०)

प्रकाशक : **वैदिक पुस्तकालय**
केसरगंज, अजमेर-३२२ २३० (राजस्थान)
दूरभाष : ०१४५-२४६०१२०

संस्करण : २०७० विक्रमी संवत्, २०१३ ई०

मूल्य : ५००.०० (प्रथम भाग)

टाईप-सैटिंग : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** करनाल, हरियाणा
दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४

मुद्रक : **अजय प्रिंटर्स, दिल्ली**

प्रकाशकीय

वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभा द्वारा अथर्ववेद भाष्य को प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। चारों वेदों का सम्पूर्ण भाष्य उपलब्ध कराने की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण कदम है। पं० विश्वनाथ जी का अथर्ववेद भाष्य रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया गया था। वैदिक पुस्तकालय द्वारा भी इसे प्रकाशित करने के लिए आचार्य विजयपाल जी रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा स्वीकृति प्रदान कर दी गई थी। आज आचार्य जी स्मृतिशेष हैं, यदि वे इस प्रकाशन को देखते तो प्रसन्न होते।

पं० विश्वनाथ जी के इस भाष्य में भाष्यकार की भावनानुसार कहीं-कहीं पदों के क्रम में परिवर्तन किया गया है, कहीं भाष्यकार के आशय को स्पष्ट करने के लिए नये पद जोड़े गये हैं और कहीं अनावश्यक पाठ हटाये गये हैं। उद्धरण के मूल-ग्रन्थ को देखकर उद्धरण के पाठ में आवश्यकतानुसार संशोधन किये गये हैं तथा उद्धरण के पते ठीक कर दिये गये हैं। मन्त्र, ऋषि, देवता तथा छन्द का पाठ अथर्ववेद मन्त्रसंहिता (दशम संस्करण), वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभा, अजमेर वाला लिया गया है।

इस संस्करण को शुद्ध रूप में लाने के लिए विशेष प्रयास किये गये हैं। एतदर्थ आचार्य प्रदीप जी, नलीखुर्द (हरियाणा), आचार्या शीतल जी, धनसुरा (गुजरात) का विशेष सहयोग मिला। ब्र शक्तिनन्दन जी (आंध्रप्रदेश) का भी सहयोग प्राप्त हुआ। आशा है, वेदप्रेमी जनता को यह प्रकाशन अच्छा लगेगा। सुधी पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

मन्त्री

परोपकारिणी सभा, अजमेर (राजस्थान)

भाष्यकार पं० विश्वनाथ विद्यालंकार का संक्षिप्त परिचय

अथर्ववेद के प्रस्तुत भाष्य के रचयिता पण्डितप्रवर श्रद्धेय श्री विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका विद्याध्ययन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की गंगापार की तप:स्थली में हुआ था, जहाँ उन्होंने महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी) के सांनिध्य में व्रत साधना करते हुए विविध विद्याओं का उपार्जन किया था। गुरुकुल कांगड़ी के सर्वप्रथम स्नातक थे पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, जो दोनों ही गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम जी के सुपुत्र थे तथा संवत् १९६८ (सन् १९१२) में स्नातक बने। आगामी वर्ष कोई स्नातक नहीं बना। उसके बाद संवत् १९७० (सन् १९१४) में पांच स्नातक बने, उन्हीं में पं० विश्वनाथ विद्यालंकार भी थे। इस प्रकार वे गुरुकुल के प्रथम परिपक्व फलों में से थे। वेदों का पाण्डित्य प्राप्त करने में स्वामी दयानन्द सरस्वती को गुरु मानकर उनके ग्रन्थों से तथा उनके वेदभाष्य से सहायता लेकर किये गये उनके अपने परिश्रम का ही अधिक योगदान था, क्योंकि उस समय स्वामी दयानन्द की पद्धति से वेद पढ़ानेवाले विद्वान् उपलब्ध नहीं थे। वेदों के अतिरिक्त श्री पण्डित जी भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनशास्त्र, रसायनशास्त्र, खगोल ज्योतिष, आंग्लभाषा आदि के भी अच्छे विद्वान् थे। पूज्य पण्डित जी का एक संक्षिप्त परिचय उन्हीं के शब्दों में, जो उन्होंने स्वयं कुछ पंक्तियों में लिखा था, नीचे दिया जा रहा है।

''मेरे पिता वजीराबाद, जिला गुजरांवाला (जो सम्प्रति पाकिस्तान में है) के निवासी थे। उनका नाम था लाला प्रीतमदास। इन दिनों देश भर में आर्यसमाज द्वारा गुरुकुलसम्बन्धी प्रचार से तथा गुरुकुल शिक्षा पद्धति के पक्ष में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी जी आदि के विचारों से प्रेरणा पाकर मेरे पिताजी ने श्री मुंशीराम जी को मुझे गुरुकुल भेजने का वचन दे दिया। मैं उस समय लगभग ९ वर्ष का था। प्रारम्भ में वैदिक पाठशाला गुजरांवाला में मुझे प्रविष्ट कराया गया। यह वैदिक पाठशाला गुरुकुल का प्रारम्भिक बीज था और इसके संचालक श्री मुंशीराम जी थे। स्व० श्री पं० गंगादत्त जी व्याकरणाचार्य वैदिक पाठशाला के आचार्य थे। इस पाठशाला में भावी गुरुकुल ब्रह्मचारी भी रहते थे तथा अन्य उच्च आयुओं के विद्यार्थी भी। कुछ काल के पश्चात् ब्रह्मचारियों को शेष विद्यार्थियों से पृथक् गुजरांवाला की एक कोठी में ले आया गया। इस काल में स्व० पं० विष्णुमित्र जी ब्रह्मचारियों के आचार्य रहे। यहीं से ब्रह्मचारी श्री आचार्य पं० गंगादत्त जी तथा पं० विष्णुमित्र जी समेत श्री मुंशीराम जी की अध्यक्षता में गुरुकुल कांगड़ी पहुंचे।''

''सन् १९१४ में मैं स्नातक हुआ और लगभग दो-तीन मास बाद मुझे गुरुकुल में प्रोफेसर रूप में नियुक्त कर दिया गया। प्रारम्भ में मैं दर्शनशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के पढ़ाने में नियुक्त हुआ। उस समय गुरुकुल में वेद पढ़ाने का कोई विशेष प्रबन्ध न था। दर्शन पढ़ाते हुए तर्कशास्त्र में मेरी रुचि न रही,

इसलिये महात्मा मुंशीराम जी तथा प्रो० रामदेव जी की प्रेरणा से मैंने वेद पढ़ाने का कार्य स्वगत कर लिया। आचार्य रामदेव जी के आचार्यतत्व-काल में लगभग १५ वर्ष उपाचार्यरूप में रहा, परन्तु कतिपय विषयों में मतभेद हो जाने पर त्यागपत्र दे दिया।

''वैदिक साहित्य के लेखनकार्य में मेरी रुचि सन् १९४२ के पश्चात् हुई जबकि मैं गुरुकुल की सेवा से मुक्त हुआ। सर्वप्रथम मैंने 'वैदिक गृहस्थाश्रम' पुस्तक लिखी। राजाधिराज उमेदसिंह जी के राज्यारोहणकाल में मुझे राजाधिराज जी ने आमन्त्रित किया और राजसूय पद्धति के अनुसार राजसूय यज्ञ कराया और 'वैदिक गृहस्थाश्रम' के प्रकाशनार्थ उन्होंने मुझे तीन हजार रुपये देने का वचन दिया। उस राशि द्वारा पुस्तक देहरादून में सन् १९४७ में प्रकाशित की गई।''

''पंजाब-विभाजन के पश्चात् लाहौर में सर्वस्व का नुकसान हो जाने पर देहरादून में आ बसा। सन् १९७३ तक मैंने और कोई साहित्य-ग्रन्थ न लिखा, क्योंकि उसके प्रकाशनार्थ धन मेरे पास न था। सन् १९२३-२४ के लगभग अजमेर में रहकर परोपकारिणी सभा के तत्त्वाधान में ऋग्वेद के संशोधित मूलपाठ को तैयार किया और मथुरा-शताब्दी के निमित्त महर्षि दयानन्द की पुस्तकों के दो संस्कृत संस्करण तैयार कर परोपकारिणी सभा को दे दिये, जिन्हें मथुरा-शताब्दी के लिए प्रकाशित कर दिया गया।''

''सन् १९५६-५७ में लगभग दो वर्ष मैं आर्य सार्वदेशिक वाटिका में अनुसंधान का कार्य करता रहा। 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक का प्रकाशन तथा महर्षि के ऋग्वेदभाष्य के सुगम संस्करण के रूप में लगभग एक हजार मन्त्रों का भाष्य परोपकारिणी सभा को दिया।''

''सन् १९७३ के लगभग रायसाहिब श्री प्रतापसिंह जी चौधरी करनाल द्वारा आर्थिक सहायता से सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य, अथर्ववेद-परिचय, यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा ग्रन्थ छपे। अथर्ववेद भाष्य के चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं, ५वाँ खण्ड लिख रहा हूँ। 'शतपथब्राह्मण और अग्निचयन-समीक्षा' ग्रन्थ छप रहा है और प्रत्येक वर्ष एक नया ग्रन्थ लिखकर प्रकाशनार्थ भेज देता हूँ। इस सब पर व्यय रायसाहिब श्री प्रतापसिंह जी कर रहे हैं। अथर्ववेद के बाकी काण्डों पर भाष्य चल रहा है। लिखना अब शनैःशनैः ही होता है। स्वास्थ्य प्रायः सहायक नहीं रहा।''

जब पूज्य पण्डित जी ने आत्मपरिचय की उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी थीं, तब तक अथर्ववेदभाष्य के अन्तिम चार खण्ड (अर्थात् काण्ड ११ से २० तक) ही प्रकाशित हुए थे, तथा पाँचवाँ खण्ड (अर्थात् काण्ड ९ और १० का भाष्य) चल रहा था। परन्तु अब पूज्य पण्डित जी के दृढ़ संकल्प तथा अध्यवसाय से प्रस्तुत खण्ड के साथ सम्पूर्ण अथर्ववेद का भाष्य पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। प्रबल अस्वास्थ्य तथा लिखते हुए हाथ काँपने की दशा में भी मान्य पण्डित जी भाष्य पूर्ण कर सके, यह पाठकों के लिये वरदान ही है। समझा यह जा रहा है कि प्रथम खण्ड का भाष्य नहीं हो पाया है, क्योंकि आदरणीय पण्डितजी के देहावसान के पश्चात् द्वितीय-तृतीय काण्ड का भाष्य तो मिल गया था, किन्तु प्रथम काण्ड का भाष्य उपलब्ध नहीं हो पा रहा था। परन्तु पण्डित जी की सुपुत्री श्रीमती इन्दिरा जी से हमारा सम्पर्क निरन्तर बना रहा तथा पण्डित जी के कागजों की छानबीन भी होती रही। परिणामतः प्रथम काण्ड का भाष्य भी उपलब्ध हो गया तथा हमने (श्री मनमोहन कुमार आर्य ने) प्रकाशनार्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ को उसकी पाण्डुलिपि पहुँचा दी। काण्ड द्वितीय-तृतीय के भाष्य की पाण्डुलिपि उससे पूर्व ही स्वयं बहालगढ़ जाकर दे आये थे।

पू० पण्डित जी के अपने सम्बन्ध में लिखे गये एक त्रुटित हस्तलेख से ज्ञात होता है कि उनका जन्म सन् १८८९ में हुआ था। आपके पिता श्री प्रीतमदास आर्य गुजरांवाला में आर्यसमाज के प्रधान थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के दर्शन किये थे। आर्यसमाज के सिद्धान्तों में दृढ़ता के कारण ही उन्होंने अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कराया था। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से विद्यालंकार परीक्षा सन् १९१४ में पं० विश्वनाथ जी ने प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रहकर उत्तीर्ण की थी। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शनशास्त्र और रसायनशास्त्र में पृथक्-पृथक् तथा सर्वयोग में भी प्रथम रहने के कारण आपको चार सुवर्णपदक एवं कई रजतपदक प्राप्त हुए थे। सन् १९१४ में ही गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में उपाध्याय पद पर नियुक्त होकर निरन्तर २८ वर्षों तक सफल अध्यापन करते हुए मार्च सन् १९४२ में वहाँ से सेवानिवृत हुए। सेवाकाल में आपका कार्य केवल पढ़ाना ही नहीं था, अपितु उपाचार्य होने के नाते छात्रों के व्रतपालन एवं चहुँमुखी विकास का भी आप उत्तरदायित्व सम्भालते थे। समय-समय पर आप छात्रों की साहित्य संजीवनी आदि सभाओं में विविध विषयों पर भाषण देकर भी उनका ज्ञानवर्द्धन करते थे। विदेशों में जो छात्र या विद्वान् अपने ज्ञानवर्धनार्थ गुरुकुल आते थे, उनका भी वैदिक संस्कृति के विषय में मार्गदर्शन आप करते थे तथा वे गुरुकुल से पर्याप्त प्रभावित होकर स्वदेश लौटते थे।

वैदिक विषयों पर ग्रन्थलेखन प्रोफेसर विश्वनाथ जी ने गुरुकुल में रहते हुए ही आरम्भ कर दिया था, यद्यपि इनके अधिकतर ग्रन्थ सेवानिवृत्ति के पश्चात् लिखे गये। गुरुकुल में शिक्षक रहते हुए आपने वैदिक पशुयज्ञमीमांसा, वैदिक जीवन तथा सन्ध्या-रहस्य नामक पुस्तकें लिखी थीं। इनमें से प्रथम पुस्तक में आपने अनेक वैदिक एवं महाभारत, रामायण आदि के प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि यज्ञों में पशुहिंसा वेदानुमोदित नहीं है। द्वितीय पुस्तक में वेदमन्त्रों द्वारा वैदिक जीवन की झांकी प्रस्तुत की गयी है। यह मथुरा-शताब्दी पर प्रकाशित हुई थी। तृतीय पुस्तक में भूमिकासहित सन्ध्या के मन्त्रों की व्याख्या है, जिसकी एक विशेषता यह है कि व्याख्या में खगोल ज्योतिष का पर्याप्त उपयोग किया गया है। सेवानिवृत्ति के उपरान्त आपने जो ग्रन्थ लिखे, उनमें सामवेद और अथर्ववेद इन दो वेदों का भाष्य उल्लेखनीय है। इनका सामवेदभाष्य अध्यात्मपरक है तथा अब तक विद्वानों द्वारा हिन्दी में जो भी अनुवाद या भाष्य लिखे गये हैं, उनमें महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेदभाष्य इन्होंने उल्टे क्रम से आरम्भ किया था। सर्वप्रथम २०वें काण्ड का भाष्य किया, तदनन्तर १९, १८, १७ आदि के क्रम से इतर काण्डों का। उल्टे क्रम से भाष्य करने में यह हेतु रहा प्रतीत होता है कि अन्त के काण्डों में रहस्यमय स्थल अधिक हैं, यथा २०वें काण्ड में कुन्ताप सूक्त, १९वें काण्ड में मणिबन्धन सूक्त, १८वें काण्ड में पितृमेध-सूक्त एवं १५वें काण्ड में व्रात्य-सूक्त। १४वें काण्ड में दोनों सूक्त विवाह-सूक्त हैं। जिन पर आपने विशेष मनन-मन्थन किया हुआ था। एवं रहस्यमय, उलझन-भरे तथा विवादास्पद सूक्तों का भाष्य पहले पाठकों के सम्मुख रख देने का प्रलोभन उल्टे क्रम से भाष्य करने का विशेष प्रेरक रहा है। पण्डित जी ने इस अथर्ववेदभाष्य में अपने खगोल ज्योतिष, निरुक्त, गणित, भौतिक विज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि के ज्ञान का पर्याप्त प्रयोग किया है, जिससे कई सूक्तों का रहस्य नवीनरूप में प्रस्फुटित करने में आप समर्थ हुए। भाष्यशैली अत्यन्त सुबोध है। पण्डित जी का एक प्रौढ़ ग्रन्थ 'शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा' है, जिसमें शतपथ के जटिल अग्निचयन-प्रकरण की मीमांसा की गयी है। इस कोटि का एक ग्रन्थ 'यजुर्वेद-

स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा' है। इससे आपके यजुर्वेद के सूक्ष्म तथा गहन अध्ययन का परिचय मिलता है। आपकी कतिपय अन्य पुस्तकें वैदिक गृहस्थाश्रम, बालसत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभूमिका का सरल अध्ययन, ऋग्वेद-परिचय, अथर्ववेद-परिचय तथा वीर माता का उपदेश हैं।

अपने प्रगाढ़ वैदिक वैदुष्य तथा अमर साहित्य साधना के कारण पूज्य पण्डित जी को कई संस्थाओं ने सम्मानित तथा पुरस्कृत करके स्वयं को सौभाग्यशाली माना है। पण्डित जी की मातृ-संस्था गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने अपनी सर्वोच्च पूजोपाधि 'विद्यामार्तण्ड' से आपको सत्कृत किया। आर्यसमाज सान्ताक्रुज बम्बई ने सन् १९८७ में आपको २१ सहस्र रुपयों की राशि, रजत-ट्राफी, उत्तरीय एवं प्रशस्तिपत्र अर्पित कर अपने वेदवेदांग-पुरस्कार से सम्मानित किया। इनके अतिरिक्त आप सन् १९७९ में गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार तथा सन् १९८३ में पण्डित गोवर्धनशास्त्री पुरस्कार से भी आदृत हो चुके हैं। उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी भी आपको अथर्ववेदभाष्य आदि पर पुरस्कृत कर चुकी हैं। पण्डित जी की आयु के शत वर्ष पूर्ण होने पर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से उसके प्रधान श्री वीरेन्द्र जी ने कन्या गुरुकुल देहरादून में एक आयोजन करके आपको सम्मानित किया था। इसी प्रकार आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश के मन्त्री श्री धर्मेन्द्रसिंह आर्य द्वारा गठित समिति की ओर से भी आप समादृत हो चुके हैं।

आदरणीय पण्डित जी के अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रेय रायसाहिब स्व० चौधरी प्रतापसिंह जी, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ तथा महामहोपाध्याय पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक को है। रायसाहिब द्वारा आर्थिक सहायता की निश्चिन्तता यदि पण्डित जी को न होती तो प्रकाशन के संदिग्ध होने के कारण वे ग्रन्थलेखन में भी प्रवृत्त न होते। रामलाल कपूर ट्रस्ट तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने पण्डित जी के ग्रन्थों के प्रकाशन में पूर्ण रुचि ली। रायसाहिब के दिवंगत हो जाने पश्चात् यह समस्या थी कि अथर्ववेद के शेष छः काण्ड कैसे प्रकाशित होंगे। किन्तु अर्थाभाव से ग्रस्त होने पर भी श्री मीमांसक जी की प्रेरणा से उक्त ट्रस्ट ने शेष काण्डों के प्रकाशन का भार वहन किया।

पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार जी का जीवन अत्यन्त, सादगी तथा तपस्या से व्यतीत हुआ। उनका स्वभाव अति सरल था। आगुन्तकों के सत्कार में उन्हें आनन्द आता था। गिरे हुए स्वास्थ्य में भी पत्रों का उत्तर अवश्य देते थे। सम्मत्यर्थ कोई लेखक उनके पास पुस्तकें भेजते थे तो उन पर सम्मति लिखना भी नहीं भूलते थे। गुरुकुल कांगड़ी की प्रायः सभी पुराने स्नातक उनके शिष्य हैं। अपने शिष्यों के प्रति उनके मन में वात्सल्य रहा। शिष्यों की उन्नति देख वे सदा प्रसन्न होते थे तथा उन्हें उत्साहित किया करते थे।

श्रीयुत पण्डित जी ने १०३ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त की। अन्तिम समय तक लेखन-कार्य करते रहे। ११ मार्च १९९१ को उन्होंने इहलोकलीला संवरण की। उनकी शवयात्रा में देहरादून तथा गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के अनेक गणमान्य व्यक्ति सम्मिलित थे।

पण्डित जी की धर्मपत्नी श्रीमती कुन्ती देवी का जन्म सन् १८९८ में क्वेटा में एक आर्यसमाजी परिवार में हुआ था। वे कन्या महाविद्यालय जालन्धर की प्रथम छात्राओं में थीं। पण्डित जी को सब कार्यों में सदा उनका सहयोग प्राप्त होता रहा। पण्डित जी के देहावसान के समय से ही वे अस्वस्थ चल रही थीं। १५ अप्रैल १९९२ को ९४ वर्ष की आयु में वे दिवंगत हो गयीं। उन्होंने चार पुत्रों एवं तीन पुत्रियों

को जन्म दिया था। चार पुत्रों में क्रमशः डॉ० प्रेमनाथ, श्री राजेन्द्रनाथ, श्री सोमनाथ तथा श्री रवीन्द्रनाथ हैं, तीन पुत्रियाँ हैं श्रीमती कमला डबराल, श्रीमती विमला बहल, और श्रीमती इन्दिरा खन्ना। डॉ० प्रेमनाथ पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में दर्शन विभाग के अध्यक्ष थे, वे सन् १९७५ में दिवंगत हो गये। श्री रवीन्द्रनाथ खन्ना बी०एस०एफ० में डिप्टी कमांडेंट थे। वे भी सम्प्रति इस लोक में नहीं हैं। इस समय शेष दोनों पुत्र एवं तीनों पुत्रियाँ विद्यमान हैं। पण्डित विश्वनाथ जी अपनी धर्मपत्नी सहित सबसे छोटी पुत्री श्रीमती इन्दिरा खन्ना के पास ६१, कांवली रोड, देहरादून में रहते रहे, जो पूर्ण मनोयोग से उनकी सेवा करती रहीं। अधिकांश लेखन-कार्य पण्डित जी ने वहीं किया। इस प्रकार पण्डित जी के लेखन-कार्य का श्रेय उनकी पुत्री श्रीमती इन्दिरा जी एवं उनके परिवार को भी जाता है।

पं० विश्वनाथ विद्यालंकार जी ने जिस अमूल्य वैदिक साहित्य की रचना की है, उसके कारण उनका नाम सदा अमर रहेगा। उस साहित्य को पढ़कर उनके अनेक मानस पुत्र जन्म लेते रहेंगे।

मनमोहन कुमार आर्य
१९६, दो, चुक्खूवाला, देहरादून

रामनाथ वेदालंकार
वेदमन्दिर, ज्वालापुर, हरिद्वार

विषय-सूची

प्रथम काण्ड

		सूक्त सं०
१.	त्रिषप्ता: के स्वरूप तथा वाचस्पति अर्थात् वाग्मी आचार्य	१
२.	शर=सरकण्डा घास तथा जीवात्मा	२
३.	मूत्रकृच्छ्र रोग और मुञ्जादि द्वारा रोगनिवृत्ति	३
४.	वस्तिभेदन लोहशलाका द्वारा (मन्त्र ७)	३
५.	जल-चिकित्सा	३
६.	जननशक्ति, जलचिकित्सा द्वारा (मन्त्र ३)	५
७.	दृष्टिशक्ति तथा जलचिकित्सा (मन्त्र ३)	६

द्वितीय काण्ड

		सूक्त संख्या
१.	ब्रह्मसाक्षात्कार और वेन (मन्त्र १), परमेश्वर के ३ पाद गुहा में निहित (मन्त्र २), सब दैवतनाम परमेश्वर के हैं (मन्त्र ३)	१
२.	एक ही नमस्कार तथा स्तुतियोग्य है (मन्त्र १,२), गन्धर्व, अप्सराएँ	२
३.	आस्राव अर्थात् अतीसार, अतिमूत्र, व्रणपाक के विविध औषध	३
४.	जङ्गिड[1] औषध विश्वभेषज है (मन्त्र ३)	४
५.	त्रिकद्रुक=ज्योति:, गौ:, आयु: (आपस्तम्ब: तथा सायण:, मन्त्र ७)	५
६.	ऋषियों के परामर्श द्वारा प्रधानमन्त्री शासन करे (मन्त्र १), तथा ब्राह्मणों द्वारा वह निर्वाचित किया जाए (मन्त्र ३)	६
७.	विचृतौ दो तारे (मन्त्र १)	८
८.	परमेश्वर ही भिषक्[2] है, चिकित्सक है, रोगनाशक है (मन्त्र ५)	१०
९.	जीवात्मा का स्वरूप और उसकी शक्तियाँ	११
१०.	तपस्वी को संसार तपोमय प्रतीत होता है (मन्त्र १) तथा भरद्वाज है मन (मन्त्र २), राजाज्ञा द्वारा उग्र दण्ड (मन्त्र ८)	१२
११.	ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी के प्रवेश में घृताहुतियाँ और उसे तदनुकूल वस्त्र-प्रदान	१३
१२.	रोग-कीटाणुओं का विनाश	१४
१३.	भय कारण है विनाश का	१५
१४.	परमेश्वर का चातन स्वरूप	१८
१५.	अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आप:—ये नाम परमेश्वर[3] और प्राकृतिक देवों[3] के साधारण हैं	१९-२३

---

१. वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः (सायण) मन्त्र १।

२. परमेश्वर को भेषज भी कहा है। यथा—''भेषजमसि भेषजम्'' (यजु:० ३.५९)।

३. ''तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥'' यजु:० ३.५९॥

१६. शेरभक=सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर शत्रु द्वारा किये रभस् अर्थात् बलप्रयोग का निषेध, रभस्=बलात्कार, आक्रमण २४
१७. पृश्निपर्णी ओषधि द्वारा कणसदृश सूक्ष्म रोग-कीटाणुओं का विनाश २५
१८. पशुशाला तथा गोदुग्ध और गृहप्रवेश २६
१९. पाटा अथवा पाठा ओषधि का प्राशन (मन्त्र ४), आसुरी भावना के विनाशार्थ (मन्त्र ५) २७
२०. मृत्यु जरावस्था में, पूर्व नहीं २८
२१. ब्रह्मचारी और आचार्य वरुण, तथा स्नातक का गृहस्थ प्रवेश २९
२२. रुष्टा पत्नी के प्रति पति की उक्ति, तदर्थ माता-पिता के सहयोग की कामना ३०
२३. हिंस्र क्रिमियों का विनाश ३१
२४. उदय होता हुआ तथा अस्त होता हुआ आदित्य क्रिमियों का हनन करता है ३२
२५. यक्ष्म का विवर्हण अर्थात् पृथक् करनेवाला है सूर्य ३३
२६. यक्ष्मनाशक है कश्यप की ज्योतिः तथा वर्चस् अर्थात् तेज, कश्यप=सूर्य ३३
२७. पशुपति परमेश्वर सहायक है बद्ध जीवात्मा के ध्यान में, तथा उसके मोक्ष में ३४
२८. खाओ, परन्तु धनसञ्चय न करो, यह स्विष्टि है, उत्तम दृष्टि है, उत्तम यज्ञ है। अभिप्राय यह है कि खाओ, परन्तु खाते हुए धन का संग्रह न करो, अपितु तद्द्वारा इष्टि करो, यज्ञ करो। इससे पूर्वकृत दुरिष्टि भी स्विष्टि हो जाती है (मन्त्र १) ३५
२९. ऋषियों के स्वरूप (मन्त्र ४) ३५
३०. विवाह में वधू को सत्परामर्श (मन्त्र १-८) ३६

तृतीय काण्ड

सूक्त सं०
१. शत्रुसेना का विमोहन और उपाय १, २
२. अप्वा अस्त्र (मन्त्र ५), तामसास्त्र (मन्त्र ६) २
३. एकराट्, विशांपति (मन्त्र १ तथा ६) ४
४. इन्द्रेन्द्र=सम्राटों का सम्राट्, इसका चुनाव (मन्त्र ७), राजसिंहासन है परमेश्वर का, इन्द्रेन्द्र उसका प्रतिनिधि है (मन्त्र ६) ४
५. पर्णमणि=सेनाध्यक्ष, जोकि राष्ट्र का पालक पुरुषरत्न है ५
६. अश्वत्थ=पुमान् पुरुष, अश्वत्थ के सदृश युद्ध में स्थिर रहनेवाला ६
७. हरिण शङ्गभस्म, क्षेत्रीय रोगनाशक (मन्त्र १-२) ७
८. विचृतौ तारके क्षेत्रीय रोगनाशक (मन्त्र ४) ७
९. आपः भेषजीः क्षेत्रीय रोगनाशक (मन्त्र ५) ७
१०. बृहद्-राष्ट्र का भरण-पोषण, और उसका धारक-पोषक ८
११. राजाओं में मध्यस्थ सम्राट्, उसके कर्त्तव्य (मन्त्र ५,६) ८
१२. हायन, संवत्सर, सभा के स्वरूप (मन्त्र ९) १०
१३. यक्ष्मरोग की निवृत्ति—उपाय, यज्ञिय हविः, इन्द्राग्नी, हस्तस्पर्श, हस्ताभ्याम् ११
१४. शालानिर्माण १२
१५. नद्यः, आपः, वाः, उदकम् के निर्वचन, निरुक्तियाँ १३
१६. गावः, गोष्ठ (गोशाला) १४

१७. इन्द्र=वणिक् (बणिया), वायुयानों के मार्ग, तद्द्वारा व्यापार १५
१८. भगनामक परमेश्वर की प्रातः-उपासना १६
१९. कृषि, उसके साधन १७
२०. एकपति-एकपत्नी भावना (मन्त्र २) १८
२१. राष्ट्र-पुरोहित। शरव्या[१]=शरसंहतिः १९
२२. संगति में प्रसन्नता और दान देना (मन्त्र ६) २०
२३. त्रयोदश भौवनाः, पञ्च मानवाः (मन्त्र ५) २१
२४. उक्षान्न और वशान्न के स्वरूप (मन्त्र ६) २१
२५. हस्तीवर्चस की प्राप्ति २२
२६. वन्ध्यात्त्व चिकित्सा, तदर्थ ऋषभ-ओषधियों के भद्र-बीज, सामुद्रिक लताएँ २३
२७. पुत्रोत्पत्ति के लिए प्राजापत्य-संस्कार २३
२८. कृषि-उपज का यथोचित विभाग, गन्धर्व को ३ मात्राएँ, गृहपत्नी को ४ मात्राएँ (मं० ६) २४
२९. रुष्टा पत्नी को स्वानुकूल करना २५
३०. भिन्न-भिन्न दिशाओं के भिन्न-भिन्न देव २६-२७
३१. यमिनि=यम-नियमों की प्रतिपादिका वेदवाणी २८
३२. यम के सभासद् राजा, तथा शितिपाद् अविः २९
३३. आदर्श गृहस्थ ३०
३४. त्वष्टा की दुहिता का विवाह और भुवनों द्वारा विवाह में असहयोग (मन्त्र ५) और पापविमोचन ३१

षष्ठ काण्ड **सूक्त सं०**

१. स्तुतिगान, उभयकालिक (मन्त्र १-३) १
२. परमेश्वर स्तुति को सुनता है (मन्त्र १) २
३. परमेश्वर सोम [भक्तिरस] का पान करता है (मन्त्र ३) २
४. अदिति, पुत्रों भ्राताओं वाली (मन्त्र १) ४
५. घृताहुत अग्नि वृद्धिकारक है (मन्त्र १, ३) ५
६. सेनाध्यक्ष सोम ६,७
७. पत्नी रुष्टा को स्वानुकूल करना, पति द्वारा ८,९
८. पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ सम्बन्धी प्रत्येक के विविध तत्त्वों का कथन १०
९. पुत्र और कन्या की प्राप्ति, स्वेच्छापूर्वक ११
१०. विष निवारण, भिन्न-भिन्न प्रकार के उदकों द्वारा जल चिकित्सा १२
११. मृत्युनिवारक उपाय १३
१२. बलास अर्थात् श्लेष्मा रोग का निराकरण १४
१३. परमेश्वर, जीवात्मा, प्रकृति का वर्णन १६

१. शरव्या=शर+वेञ्, "तन्तुसन्ताने" (भ्वादिः), सन्तान अर्थात् सन्तति अर्थ अभिप्रेत है। अथवा व्येञ् संवरणे (भ्वादिः)। तथा (शरूणां हिंसकानाम्) आयुधानां संहतिः शरव्या (सायण)।

१४. ईर्ष्याग्नि का निर्वापण, बुझाना (मन्त्र १) १८

१५. पवित्र जीवन द्वारा परमेश्वर का दर्शन (मन्त्र ३) १९

१६. वन्यतक्मा का निराकरण, तक्मा=पित्त ज्वर (मन्त्र ३) २०

१७. केशों को दृढ़ तथा वर्धन करने वाली औषध (मन्त्र ३) २१

१८. परित्यक्ता जाया का पुनर्विवाह (मन्त्र ३) २२

१९. कुल्या अर्थात् नहर का निर्माण (मन्त्र १) २३

२०. मन्याः अर्थात् गण्डमालाओं का विनाश (मन्त्र १-३) २५, ८३

२१. कपोत=पक्षिणी की आकृति वाला, वायुयान (मन्त्र १) २७, २८

२२. पृथिवी का परिभ्रमण ३१

२३. सप्त ऋषियों के स्वरूप (मन्त्र १) ४०

२४. यज्ञाग्नि में आहुतियों द्वारा शारीरिक शक्तियों का विकास (मन्त्र १-३) ४१

२५. मन्युनाशक ४२, ४३

२६. वृक्षाः ऊर्ध्वस्वप्नाः (मन्त्र १) ४४

२७. मनस्पाप का अपहरण, पापियों का पुनर्जन्म वृक्षों[१] में (मन्त्र १) ४५

२८. स्वप्न-विज्ञान (मन्त्र १-३) ४६

२९. सवनत्रय, वसु रुद्र आदित्य (मन्त्र १-३) ४७

३०. ध्वन्युत्पादक सूर्यरश्मियां (मन्त्र ३) ४९

३१. त्रिविध, पञ्चविध वत्सर अर्थात् वर्ष (मन्त्र ३) ५५

३२. अन्तरिक्ष में व्यापार के मार्ग (मन्त्र १) ५५

३३. नानाविध वत्सर अर्थात् वर्ष (मन्त्र ३) ५५

३४. ऋतुएं सात (मन्त्र २) ६१

३५. मुण्डन संस्कार "आयमगत्सविता[२] क्षुरेण" (मन्त्र १-३) ६८

३६. दिव्यश्वा=Dogstar, canicula (मन्त्र १,३) ८०

३७. कालकाञ्जाः त्रयः=सूर्य, चन्द्रमाः, सप्तर्षिमण्डल (मन्त्र २) ८०

३८. यक्ष्म निवारण के उपाय (मन्त्र १-३) ८५

३९. यव तथा उसके अष्टायोग और षड्योग द्वारा शारीरिक रोग को पृथक् करना (मन्त्र १-३) ९१

४०. व्यभिचारी के दोनों अण्डों का भेदन (मन्त्र १-५) १३८

४१. दो व्याघ्रदान्त और उन द्वारा सात्त्विक अन्न भोजन (मन्त्र १-३) १४०

४२. कर्णवेध-संस्कार (मन्त्र १-३) १४१

सप्तम काण्ड **सूक्त सं०**

१. तृतीय तथा तुरीय ब्रह्म १

---

१. अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितम् ओषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः। संस्कार-विधि, तथा ऋ० १०.१६.३ [किंचित् पाठ भेद से]।

२. सायण ने सविता का अर्थ किया है "संस्कारक पुरुष, केशों का छेत्ता पुरुष", नापित, न कि द्युलोकस्य चेतन देवता विशेष।

२.	अथर्वा पिता	२
३.	२१ अश्व, २२ अश्व, ३३ अश्व	४
४.	नाक और साध्याः देवाः	५
५.	पुरुषेण, शुना, गोरङ्गैः यज्ञ (मन्त्र ४, ५)	५
६.	अदिति=प्रकृति, परमेश्वर	६, ७
७.	दिति	८
८.	भद्र और श्रेय मार्ग	९
९.	सरस्वती का शशयुः स्तन	१०
१०.	सभा, समिति, सङ्गत (मन्त्र १)	१२
११.	कण्व ऋषि	१५-१६
१२.	मरुतः=मानसून वायुएँ	३३
१३.	सन्ततिनिरोध (मन्त्र २, ३)	३५
१४.	पति-पत्नी सौहार्द	३६, ३७, ३८
१५.	रोग हैं पाप के परिणाम	४२
१६.	तिस्रः वाचः	४३
१७.	अनुमति, सिनीवाली, कुहू, राका, देवपत्नियाँ, न कि चन्द्रकलाएँ	२०, २१, ४६, ४७, ४८, ४९
१८.	निरामिष भोजन (मन्त्र ७)	५०
१९.	अश्विनौ=प्राणापानौ (मन्त्र १-५)	५३
२०.	गृहजीवन (मन्त्र १-७)	६०
२१.	ब्रह्मचर्याश्रम (मन्त्र १-२)	६१
२२.	कृष्णशकुनि=तमोगुण (मन्त्र १-२)	६४
२३.	मरुतः=सैनिकाः (मन्त्र १-३)	७७
२४.	अमावास्या, पौर्णमासी=पारमेश्वरी माता	७९, ८०
२५.	सूर्य-चन्द्र द्वारा पति-पत्नी का वर्णन (मन्त्र १-६)	८१
२६.	वरुण के तीन पाश (मन्त्र १-४)	८३
२७.	सर्पविषनाशन (मन्त्र १)	८८
२८.	व्यभिचारी का लिङ्गच्छेद (मन्त्र १)	९०
२९.	व्यभिचारी का लिङ्गबन्धन (मन्त्र ३)	९५
३०.	शल्यचिकित्सा द्वारा दो गुर्दों का ठीक स्थान में स्थापन (मन्त्र १)	९६
३१.	गुरुकुलाश्रम का स्थापन और राष्ट्र द्वारा उसका भरण-पोषण (मन्त्र १-८)	९७
३२.	दुःस्वप्नों का परिहार	१००, १०१
३३.	अथर्वा तथा पृश्निः, धेनुः (मन्त्र १)	१०४
३४.	ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य	१०५, १०६
३५.	तृष्णा का परिवर्जन (मन्त्र १-२)	११३
३६.	मण्डूक को ज्वर (मन्त्र २)	११६

छठे काण्ड की भूमिका

१. काण्ड ६ में कतिपय ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं जो कि रूढि प्रतीत होते हैं, उनके यौगिक स्वरूपों पर प्रकाश डाला है, यथा "कालकाञ्जाः" त्रयः (सूक्त ८० मन्त्र २)।

२. सवनत्रय=वसु, रुद्र, आदित्य (सूक्त ४७)।

३. ध्वन्युत्पादक सूर्यरश्मियां (सूक्त ४९)।

४. ऋतुएं ७ (सूक्त ६१)।

५. दिव्यश्वा (सूक्त ८०)।

६. दो व्याघ्रदान्त[१] (सूक्त १४०)। ये मांस खाने के लिए नहीं अपितु व्रीहि-यव आदि के खाने के लिए है (सूक्त १४०। मन्त्र २)।

७. कर्णवेध संस्कार (सूक्त १४२)।

८. स्वप्न विज्ञान (सूक्त ४६)।

९. कपोत पक्षी=वायुयान (सूक्त २७, २८)।

१०. पृथिवी का परिभ्रमण (सूक्त ३१)।

कर्णवेध संस्कार पर विशेष विचार

श्री पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार द्वारा लिखित संस्कारचन्द्रिका से उद्धृत, यथा—"आयुर्वेद सम्बन्धी सुश्रुत के अनुसार वैद्य अपने बांय हाथ से कान को खींचकर देखें कि जहां सूर्य की किरणें चमकें वहां धीरे-धीरे सीधे बींधे। इससे आन्त्रवृद्धि रुक जाती है। चीन में एक्युपंकचर (Acupuncture) द्वारा सूई चुभो कर शल्य क्रिया के अनेक काम कर लेते हैं।"

अथर्ववेदानुसार कर्णवेध द्वारा सहस्रविध पुष्टि मानी है "सहस्रपोषाय" (सूक्त १४१, मन्त्र ३) कर्णवेध के लिए सूक्त १४१, मन्त्र २ देखो। कर्णवेध बाल-बालिका दोनों का होना चाहिए।

---

१. व्याघ्रौ व्याघ्रवत् हिंसकौ दन्तौ, उपरितनपंक्तिस्थितौ, अवरूढौ अवाङ्मुख प्ररूढौ (सायण)।

अथर्ववेदभाष्य

प्रथम काण्ड

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

अर्थ—(ये) जो (त्रिषप्ताः) तीन या सात (विश्वा रूपाणि) सब रूपों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (परियन्ति) सब ओर गति कर रहे हैं, (वाचस्पतिः) वाग्मी आचार्य (तेषाम् बला) उन त्रिषप्तों के बल (मे) मेरी (तन्वः) तनू अर्थात् शरीर के मध्य (अद्य[1]) आज से (दधातु) स्थापित करे।

[विश्वा=विश्वानि। बला=बलानि। तन्वः=तनू के मध्य अर्थात् शरीर में। त्रिषप्ताः=तीन या सात। तीन हैं मूल प्रकृति के तीन अवयव, सत्त्व, रजस् और तमस्। सप्त हैं प्रकृति-विकृति उभय रूप, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राएँ। त्रिषप्ताः=**अन्यपदार्थे बहुव्रीहौ डच् समासान्तः** (सायण)। अन्य पदार्थ है विकल्प "**त्रयो वा सप्त वा**" इत्येवंरूपः।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

अर्थ—(वाचस्पते) हे वेदवाणी के वाग्मी आचार्य! (पुनः एहि) बार-बार तू आया कर, (देवेन मनसा सह) दिव्य मन के साथ अर्थात् अनुग्रह बुद्धि के साथ। (वसोष्पते) हे वसुओं के स्वामी आचार्य! (नि रमय) मेरे चित्त में तू नितरां रमण कर, (श्रुतम्) आप द्वारा श्रुत किया वेद (मयि) मुझमें (अस्तु) विद्यमान रहे, (मयि अस्तु एव) मुझमें विद्यमान ही रहे, मैं उसे भूल न जाऊँ, विस्मृत न करूँ।

[मन्त्र १ में वाचस्पति पद द्वारा वाग्मी आचार्य से अभ्यर्थना की है। मन्त्र २ आदि से भी वाचस्पति पद द्वारा वाणी के विद्वान् मनुष्य, आचार्य का वर्णन हुआ है। वह जब आश्रम में निरीक्षणार्थ ब्रह्मचारियों के पास जाए तो उससे कहा है कि तू दिव्य बुद्धि अर्थात् अनुग्रह बुद्धि के साथ आया कर, हम पर अनुग्रह करने के लिए आया कर—यह आश्रमवासी प्रत्येक ब्रह्मचारी कहता है या आचार्य से प्रार्थना करता है। आचार्य वसोष्पति है। राज्य द्वारा या दान द्वारा जो वसु प्राप्त हुआ है, उसका स्वामी आचार्य ही है, उसकी इच्छानुसार ही आश्रम में न्याय होता है।]

---

१. अद्यप्रभृति, आज से, जबकि मैं युवावस्था का हो गया हूँ और त्रिषप्त तत्त्वों के ज्ञान-ग्रहण के योग्य हो गया हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाचस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया। वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ ३॥

अर्थ—(इह एव) इस आश्रम में ही (अभि वितनु) मेरे सम्मुख विस्तारपूर्वक [हे आचार्य!] तू (उभे) दोनों अर्थात् अभ्युदय तथा निःश्रेयस कह दे, (इव) जैसेकि (ज्यया) धनुष् की डोरी द्वारा (उभे) दोनों (आर्त्नी) धनुष्-कोटियों अर्थात् प्रान्तों को परस्पर के अभिमुख किया जाता है। (वाचस्पतिः) वेदवाणी का रक्षक आचार्य (नियच्छतु) नियमपूर्वक मुझे प्रदान करे (श्रुतम्) वेदविद्या। (मयि श्रुतम्) मुझमें प्राप्त "श्रुत" (मयि) मुझमें (अस्तु एव) विद्यमान ही हो, अर्थात् मैं उसे विस्मृत न करूँ, न भूलूँ।

[यच्छतु="दा" को यच्छ आदेश।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाचस्पतिः**॥ छन्दः—**चतुष्पदा विराडुरोबृहती**॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम्। सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि॥ ४॥

अर्थ—(वाचस्पतिः) वेदवाणी का विद्वान् आचार्य (उपहूतः) श्रद्धापूर्वक आहूत हुआ है, (वाचस्पतिः) वेदवाणी का विद्वान् आचार्य (अस्मान्) हम ब्रह्मचारियों को (उपह्वयताम्) प्रेमपूर्वक अपने पास आहूत करे [वेद के पठन-पाठन के लिए], ताकि (श्रुतेन) वेद के (सं गमेमहि) साथ हमारा संगम रहे, (श्रुतेन) वेद के श्रवण से (मा वि राधिषि) हम वियुक्त न हों।

[अस्मान् द्वारा ब्रह्मचारियों का अनेकत्व सूचित हुआ है। मा वि राधिषि=वि+**राध संसिद्धौ, माङि लुङ्** (सायण), (स्वादिः)। यह प्रत्येक ब्रह्मचारी कहता है।]

सूक्त २

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्। विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥ १॥

अर्थ—(विद्मा=विद्म) हम जानते हैं, (शरस्य) शर के (पितरम्) पिता को (पर्जन्यम्) अर्थात् पर्जन्य को, (भूरिधायसम्) जोकि बहुतों का धारण-पोषण करता है। (विद्म उ) और हम (सु) अच्छे प्रकार जानते हैं (अस्य) इस शर की (मातरम्) माता (पृथिवीम्) पृथिवी को (भूरिवर्पसम्) जोकि बहुत रूपोंवाली है।

[पर्जन्यम्=पालयिता चासौ जन्यः, जनहितकारी च मेघः। भूरिधायसम्=भूरि+धा(धारण-पोषण-कर्त्ता)+युक् (**आतो युक् चिण्कृतोः**)+कर्तरि असुन्। भूरिवर्पसम्=भूरि+वर्पस् है रूपनाम (निघं० ३.७)। अथवा शर=आत्मा, "**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा**" (मुण्डक० २.२.४)। सूक्त आध्यात्मिकार्थक भी है। मन्त्र में पर्जन्य, शर तथा भूरिधायसम्, परमेश्वरार्थक भी हैं। इस प्रकार सूक्त १ और २ में विषय-साम्य हो जाता है। पर्जन्यम्=**पॄ पालने**+जन्यम्।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि। वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषांस्या कृधि॥ २॥

अर्थ—(ज्याके) हे ह्रस्व ज्या! (नः) हमारी ओर (परि) सर्वथा (नम) तू प्रह्वीभूत हो जा, (तन्वम्) निज तनू को (अश्मानम्) पत्थर सदृश दृढ़ (आकृधि) कर ले। (वीडुः) दृढ़ हुआ तू हे शर! [जीवात्मन्!] (अरातीः) मेरी अदान-भावनाओं को (द्वेषांसि) तथा द्वेषभावनाओं को (वरीयः) दूरतर

प्रदेश में (अप आकृधि) अपगत कर दे। जबकि इन्द्रियाँ विषयों की ओर न जाकर, जीवात्मा की ओर हो जाती हैं, तब।

[ज्या=**जिह्वा ज्या भवति** (अथर्व० ५.१८.८)। जिह्वा काय में ह्रस्वा है, छोटी-सी है (**ह्रस्वे** अष्टा० ५.३.८६, **कः**)। जिह्वा को कहा है कि तू सुदृढ़ होकर हमारे प्रति प्रह्वीभूत हो जा, झुक जा, ताकि हमारा उद्देश्य पूरा हो सके, मन्त्र के भावों के कथन में। यह कथन मन्त्र के उत्तरार्ध में हुआ है। यद्यपि अथर्व० ५.१८.८ में ब्राह्मण की जिह्वा को ज्या कहा है। परन्तु सूक्त में भी यत: "शर" द्वारा आत्मा का वर्णन है, जोकि ब्राह्मण की आत्मा का सूचक है। निघण्टु में भी जिह्वा को वाक् कहा है (१.११)।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यः**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराण्नामगायत्री**॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्। शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र॥ ३॥

अर्थ—(गावः) इन्द्रियाँ (यत्) जो (वृक्षम्) छेदनीय शरीर को (परिषस्वजानाः) सब ओर आलिङ्गन करती हुईं, (अनु स्फुरम्) निज स्फूर्ति के अनुसार (ऋभुम्) उरु भासमान[1] (शरम्) शर अर्थात् जीवात्मा की (अर्चन्ति) अर्चना करती हैं, (इन्द्र) हे परमेश्वर! (शरुम् दिद्युम्) हिंस्र पापरूपी वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) पृथक् कर दे।

[**दिद्युद् वज्रनाम** (निघं० २.२०)। अभिप्राय यह कि इन्द्रियाँ जब निज स्फूर्तियाँ अर्थात् संचरण करती हुईं जीवात्मा की अर्चना करती हैं, उसे निज पूज्य करती हैं, तब परमेश्वर पापरूपी हिंस्र वज्र को हमसे पृथक् कर देता है, हटा देता है। गावः=**गौः इन्द्रियम्** (उणा० २.६८; दयानन्द)। वृक्षम्=**वृश्च्यते इति, ओव्रश्चू छेदने** (तुदादिः), छेदनीय शरीर है, विनाशी शरीर। वृक्ष पद के नानार्थ हैं—(१) प्रकृति, यथा "**किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**" (यजुः० १७.२०)। (२) "**वृक्षे-वृक्षे नियता मीमयद् गौः।**" (ऋ० १०.२७.२२)=वृक्षेवृक्षे=**धनुषि धनुषि** (निरुक्त २.१.६)। (३) वृक्षम्=**वृक्षविकारं धनुर्दण्डम्** (सायण)।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्॥ ४॥

अर्थ—(यथा) जैसे (द्याम् च पृथिवीम् च) द्यौ और पृथिवी के (अन्तः) अन्तराल में (तेजनम्) तेजस्वी सूर्य (तिष्ठति) स्थित होता है, (एव) इसी प्रकार (रोगम् च आस्रावम् च) रोग और आस्राव के (अन्तः) अन्तराल में (मुञ्जः इत्) मुञ्ज ही (तिष्ठतु) स्थित हो।

[अभिप्राय यह है कि जैसे द्यौ और पृथिवी के मध्य में सूर्य स्थित है, वैसे रोग अर्थात् मूत्रकृच्छ्र में, और आस्राव अर्थात् मूत्र के स्रवण में, मुञ्ज ही स्थित है, अर्थात् रोग और आस्राव का परस्पर सम्बन्ध मुञ्ज के साथ है, मुञ्ज ही रोग का नाश कर, आस्राव उत्पन्न कर देता है। मुञ्ज का काढ़ा या इसका अन्य आयुर्वैदिक योग अच्छा मूत्रस्रावी है, तभी "इत्" अर्थात् 'ही' का प्रयोग हुआ है।]

---

१. जीवात्मा भासमान है, प्रकाशस्वरूप है, तभी वह इन्द्रियों और बुद्धि को प्रकाशित करता है। जो स्वयं प्रकाशमान नहीं वह अन्यों को प्रकाशित नहीं कर सकता।

सूक्त ३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ १ ॥

अर्थ—(शरस्य पितरम्) शर के पिता अर्थात् उत्पादक (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों शक्तियों की वर्षा करने की शक्तिवाले (पर्जन्यम्) पालक और जनहितकारी मेघ को (विद्म) हम सब जानते हैं, (तेन) उस द्वारा (ते तन्वे) तेरी तनू के लिए (शम्) सुख (करम्) मैं करता हूँ, (ते) तेरा (निषेचनम्) मूत्रसेचन (पृथिव्याम्) पृथिवी पर हो (ते) तेरा मूत्र (बहिः) बाहर (अस्तु) हो, (बालिति) अर्थात् वारिरूप, जल अर्थात् मूत्र जल।

[वाल्=वार्, वाः अर्थात् जल। **रलयोरभेदः**। वाः=वारि, जल (अथर्व० ३.१३.३)। प्रकरणानुसार मूत्ररूप जल। पर्जन्य=पालक तथा जनहितकारी मेघ, **पॄ पालने**।

यह "मूत्रकृच्छ्र" रोग है, मूत्र निरुद्ध हुआ-हुआ है, जिसे कि निषेचनम् और बहिः द्वारा निर्दिष्ट किया है। अन्तरिक्ष में पर्जन्य की स्थिति होने पर वायुनिष्ठ जल नासिका द्वारा फेफड़ों में संचरित होकर रक्त में मिल जाता है। इससे मूत्र अधिक होकर मूत्रकृच्छ्र रोग का निवारण करता है।

वाल् इति, वाल् शब्द करता हुआ। यह अर्थ सायणाचार्य के अनुसार है। परन्तु यह अर्थ अनुभव-गम्य नहीं, इसलिए सायणाचार्य ने लिखा है कि "**मन्त्रसामर्थ्याद् विविधं शब्दं कुर्वत्**", अर्थात् मन्त्र के सामर्थ्य से विविध शब्द करता हुआ हुआ, "**त्वरया शरीरात् निर्गच्छतु**", अर्थात् "शीघ्रता से शरीर से निकले"। इस अर्थ से सन्तुष्ट न होकर सायणाचार्य ने "बल प्राणने" द्वारा "**अस्य रोगार्तस्य जीवहेतोः मूत्रं बहिरस्तु**" भी कहा है। यह विवरण मैंने इसलिए लिखा है कि मन्त्र ९ तक में इसकी पुनरुक्ति हुई है, इन सब मन्त्रों में बार-बार इस विषय का कथन न करना पड़े। वस्तुतः "बालिति" पद का अभिप्राय है "**वारिति वाः** (वार्+इति)" यथा "**तस्माद् वार्नाम वो हितम्**" (अथर्व० ३.१३.३), अर्थात् इसलिए तुम्हारा नाम "वाः" अर्थात् "वारि" हुआ है। "वाल्" इति में वर्ण विकार हुए हैं, "वाल्=वार्=वाः" अर्थात् तेरा मूत्र-जल बाहर हो।

सायणाचार्य ने "शर" का अर्थ किया है "हिंसक-वाण"। जोकि समग्र सूक्त में अनुपपन्न है। जीवात्मरहित शरीर मृत है, और शरीर-रहित जीवात्मा को रोग और मूत्रस्राव नहीं हो सकते। अतः "शरो ह्यात्मा" के अनुसार शरीर-विशिष्ट-जीवात्मा अर्थ ही समग्र सूक्त में उपपन्न हो सकता है। वालिति=वार् इति (रलयोरभेदः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ २ ॥

अर्थ—(शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों प्रकार से सुखों की वर्षा करनेवाले, (शरस्य पितरम्) शरीर विशिष्ट जीवात्मा के (मित्रम्) मित्रवत् हितकारी "दिन" को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस दिन द्वारा (ते

तन्वे) तेरी तनू के लिए [इत्यादि पूर्ववत्]। ["**मैत्रं वा अहः, वारुणी**[1] **रात्रिः**[2]" (तै० ब्रा० १.७.२०, १-२)। दिन का प्रकाश वस्तुतः विविध सुखों की वर्षा करता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।

तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ३॥

अर्थ—[वरुणम्=**वृणोति तमसा** (सायण), शेष पूर्ववत्। सूर्यास्त, तमस् द्वारा, आवरण करता है, और रात्री के सुखों की वर्षा करता है, प्रदान करता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।

तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ४॥

अर्थ—[चन्द्रम्=**चदि आह्लादने दीप्तौ च** (भ्वादिः)। चन्द्र का प्रकाश आह्लादकारी तथा शीतल होने के कारण सुखों की वर्षा करता है, प्रदान करता है। शेष पूर्ववत्।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।

तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ५॥

अर्थ—सूर्यम्=सूर्य तो सौर-जगत् का राजा है। इसके नियन्त्रण में सब ग्रह, उपग्रह हैं। इन पर सूर्य निज ताप और प्रकाश की वर्षा द्वारा सुखों की वर्षा कर रहा है, प्रदान कर रहा है। सूर्य तो इतना प्रतापी है कि उसके प्रकाश में, असंख्य तारागणों वाले द्युलोक का प्रकाश भी विलुप्त हो जाता है। शेषार्थ पूर्ववत्।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम्।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ६॥

अर्थ—(यत्) जो मूत्र (आन्त्रेषु) आन्तों में, और (गवीन्योः) दो मूत्र नाड़ियों में, (यत्) जो (वस्तौ अधि) मूत्र के आवास स्थान में (संश्रितम्) एकत्रित हुआ, आश्रय पाया हुआ है, (एव=एवम्) इस प्रकार (ते) तेरा (सर्वकम् मूत्रम्) सब मूत्रयुक्त हो जाए (बहिः मुच्यताम्) आन्त्र आदि से बाहर हो जाए, (बालिति) शेषार्थ पूर्ववत्।

["आन्त्रेषु=**उदरान्तर्गतेषु पुरीतत्सु** (उदर के अन्दर फैली आन्तों में)। गवीन्योः=आन्तों से निकले मूत्र को मूत्राशय में प्राप्ति के साधन, दो पार्श्वों में स्थित नाड़ियाँ। वस्ति=**धनुराकारमूत्राशय**" (सायणाचार्य के अनुसार)। एव=एवम्=इसी प्रकार; अर्थात् जैसेकि पूर्वोक्त "मुच्यताम्" कहा है तद्वत् मुक्त हो जाए, मूत्र बाहर निकल जाए।]

---

१. मन्त्र २-४ में दिन-काल तथा रात्रि-काल का और उनके देवताओं वरुण और चन्द्र का भी वर्णन हुआ है।
२. रात्री दीर्घशयन प्रदान द्वारा तनू पर सुखवर्षा करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ७॥

अर्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्रसेचक-मूत्रनाल का (भिनद्मि[1]) मैं [शल्यचिकित्सक] भेदन करता हूँ, (इव) जैसेकि (वेशन्त्याः) तालाब के जलों का (वर्त्रम्) मार्ग भिन्न किया जाता है, विदारित किया जाता है।

[**"वर्त्रम्=वर्तते प्रवहति जलम् अत्रेति वर्त्रो मार्गः। वेशन्त्याः=विशन्ति तिष्ठन्ति अस्मिन् आपः इति वेशन्तः पल्वम्, तत्र भवाः आपः वेशन्त्याः"** (सायण)। शेष पूर्ववत्।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ८॥

अर्थ—(उदधेः समुद्रस्य इव) उदक की निधिरूप समुद्र के सदृश (ते) तेरा (वस्तिबिलम्) मूत्राशय मार्ग (विषितम्) खुल गया है। (एव=एवम्) इस प्रकार (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र (मुच्यताम्) विमुक्त अर्थात् प्रस्रवित हो जाए, (बहिः) मूत्राशय से बाहर हो जाए, (बालिति सर्वकम्), शेषार्थ पूर्ववत्।

[जैसे कि समुद्र का उदक, खाड़ी रूप में, समुद्र से पृथक् हो जाता है, वैसे तेरा मूत्र वस्ति के मार्ग, अर्थात् द्वार से बाहर हो जाए। समुद्रस्य=समुद्र दो प्रकार के हैं, पार्थिव समुद्र और अन्तरिक्षस्थ समुद्र। अन्तरिक्ष में जल वाष्परूप में रहता है, और वर्षाकाल में मेघरूप में। **"स उत्तरस्मादधरं[2] समुद्रम्"** (ऋ० १०.९८.५) में उत्तर-समुद्र का वर्णन हुआ है। उत्तर समुद्र=ऊर्ध्वा दिक् का समुद्र। विषितम्=वि+षिञ् बन्धने (स्वादिः)+क्तः।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ९॥

अर्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुर्धारी से (अवसृष्टा) छोड़ी गई (इषुका) इषु (परापतत्) परे जा गिरती है, (एवा=एवम्) इस प्रकार (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र (मुच्यताम्) विमुक्त हो जाए, प्रस्रवित हो जाए, (बहिः) मूत्राशय से बाहर हो जाए, (बालिति सर्वकम्), शेषार्थ पूर्ववत्।

सूक्त ४

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥ १॥

अर्थ—(अध्वरीयताम्[3]) अहिंसा की कामना करनेवालों की (अम्बयः) माताओं के सदृश, (जामयः) तथा बहिनों के सदृश, आपः [जल] (अध्वभिः) नाना मार्गों द्वारा (यन्ति) गति करती हैं, (मधुना) मधु के साथ (पयः) जल को (पृञ्चन्तीः) सम्पृक्त करती हुईं।

---

१. **"लोहशलाकया"** (सायण)। इसे Catheter कहते हैं।

२. तथा निरुक्त (२.३.११)।

३. **"ध्वरतिः हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः"**। निरुक्त (१.३.८)।

[मन्त्र का देवता है आप:, स्त्रीलिङ्गी। अत: आप: को अम्बय: तथा जामय: कहा है। अम्बि शब्द भी वेद में माता के लिए प्रयुक्त होता है, यथा "**अम्बितमे नदीतमे**" (ऋ० २.४१.१६)। माताएँ निज पय: अर्थात् दुग्ध को माधुर्य से सम्पृक्त कर शिशुओं को पिलाती हैं। इसी प्रकार व्यापी आप:, सामुद्रिक-पय: अर्थात् जल को भी मधुर बनाकर हमें पिलाती हैं। सामुद्रिक जल नमकीन होता है। वाष्पीभवन द्वारा वह जल नमकरहित होकर, उड़कर अन्तरिक्ष में पहुँचता है, और वहाँ से मधुर जल वर्षा रूप में लौटकर आता है, जोकि हमारे लिए पेय होता है।

जामय: अर्थात् बहिनें भी भाइयों के लिए हितकारिणी होती हैं, इसी प्रकार मधुर हुए आप: भी अहिंसा चाहनेवालों के लिए हितकारी हो जाते हैं। मन्त्र में इन मधुर आप: द्वारा जलचिकित्सा का विधान हुआ है। अध्वभि:=समुद्र की स्थिति भूमण्डल के नाना स्थानों में है। इन नाना स्थानों से नाना मार्गों द्वारा आप: अन्तरिक्ष में वाष्पीभूत होकर जाते हैं, "**अध्वभि: यन्ति**"।]

ऋषि:—**सिन्धुद्वीप: कृतिर्वा**॥ देवता—**आप:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्य: सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ २॥

अर्थ—(अमू:) वे (या:) जो आप: (उप सूर्ये) सूर्य में उपस्थित हैं, (वा) अथवा (याभि:) जिन भूमिष्ठ आप: के (सह) साथ (सूर्य:) सूर्य [राशियों द्वारा] उपस्थित है (ता:) वे द्विविध आप: (न:) हमारे (अध्वरम्) अहिंसाकर्म की (हिन्वन्तु) वृद्धि करें। अहिंसाकर्म=जलचिकित्सा द्वारा शरीर को हिंसारहित करना। हिन्वन्तु=हि वृद्धौ (स्वादि:)।

ऋषि:—**सिन्धुद्वीप: कृतिर्वा**॥ देवता—**आप:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गाव: पिबन्ति न:। सिन्धुभ्य: कर्त्वं हवि:॥ ३॥

अर्थ—(देवी: अप:) द्योतमान अर्थात् शुद्ध जल का (उपह्वये) उस स्थान के समीप मैं आह्वान करता हूँ, (यत्र) जिस स्थान में (न: गाव: पिबन्ति) हमारी गौएँ जल पीती हैं, अर्थात् (सिन्धुभ्य:) स्यन्दनशील नदियों से (कर्त्वम्) काटा गया (हवि:) उदक।

[कर्त्वम्=**कृती छेदने** (तुदादि:)+व: (उणा० १.१५५)। **हवि: उदकनाम** (निघं० १.१२)। मन्त्रोक्ति नहरों के इञ्जीनियर की है, जोकि प्रवाहित नदियों से जल काटकर गोशाला तक पहुँचाता है।]

ऋषि:—**सिन्धुद्वीप: कृतिर्वा**॥ देवता—**आप:**॥ छन्द:—**पुरस्ताद् बृहती**॥

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम्।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनी:॥ ४॥

अर्थ—(अप्सु अन्त:) जलों के अन्दर (अमृतम्) न मरने अर्थात् दीर्घायुष्यकारी गुण है। (अप्सु भेषजम्) जलों में रोगनिवारक शक्ति है। (उत) तथा (अपाम्) जलों की (प्रशस्तिभि:) प्रशस्त शक्तियों के द्वारा (अश्वा:) अश्वों के सदृश (वाजिन:) बलवाले हे पुरुषो! (भवथ) तुम होओ, (गाव:) गौओं के सदृश हे महिलाओ! तुम (वाजिनी:) दुग्धान्नवाली (भवथ) होओ।

[(वाजिन:) बलवाले, **वाज: बलनाम** (निघं० २.९)। वाज+इनि:। (वाजिनी:) **वाज: अन्ननाम** (निघं० २.७), अर्थात् दुग्धान्नवाली। जलों की प्रशस्त शक्तियों द्वारा जलचिकित्सा निर्दिष्ट हुई है।]

सूक्त ५

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ १॥

अर्थ—(आपः) हे व्याप्त अर्थात् विस्तृत जलो! (मयोभुवः) सुखोत्पादक (हि) निश्चय से (ष्ठाः) तुम हो, (ताः) वे तुम (नः) हमें (ऊर्जे) बल के लिए (दधातन) परिपुष्ट करो। (महे रणाय चक्षसे) तथा महारमणीय दृष्टि के लिए परिपुष्ट करो, या होओ।

[आपः=**आप्लृ व्याप्तौ** (स्वादिः) अर्थात् विस्तृत [शुद्ध] जल। विस्तृत जल=(अथर्व० १.६.४)। ऊर्जे=**ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)। **मयः सुखनाम** (निघं० ३.६) दधातन=**डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। जलचिकित्सा द्वारा दृष्टि रमणीय होती है।]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २॥

अर्थ—[हे आपः!] (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः रसः) अतिकल्याणकारी रस है, (तस्य भाजयत) उसका भागी बनाओ, (इह) इस जीवन में (नः) हमें। (इव) जैसेकि (उशतीः) कामनावाली (मातरः) माताएँ [पुत्रों को निज दुग्धरस का भागी करती हैं, दूध पिलाती हैं]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥ ३॥

अर्थ—(तस्मै) उस रस के लिए [हे आपः] (वः) तुम्हें (अरम्) पर्याप्त रूप में (गमाम) हम प्राप्त होते हैं, (यस्य) जिस रस की (क्षयाय) स्थिति के लिए (जिन्वथ) तुम जीवित हो। (आपः) हे जलो! (नः) हमें (जनयथ च) जननशक्ति भी प्रदान करो।

[जनयथ=जिवि धातु जीवनार्थक भी प्रतीत होती है। क्षयाय=**क्षि निवासे** (तुदादिः)।]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्। अपो याचामि भेषजम्॥ ४॥

अर्थ—(वार्याणाम्) निवारणीय रोगों की (ईशानाः) अधीश्वरी, अर्थात् नियन्त्रित करनेवाली तथा (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (क्षयन्तीः) रोगों का क्षय करनेवाली (अपः) जलों को (भेषजम्) औषधरूप में (याचामि) मैं याचित करता हूँ चाहता हूँ [या अपों से[1] भेषज की मैं याचना करता हूँ]।

[**चर्षणयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३)।]

सूक्त ६

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥ १॥

अर्थ—(देवीः=देव्यः) दिव्यगुणोंवाले (आपः) जल (नः शम्) हमारे लिए शान्तिदायक, (अभिष्टये) अभीष्ट सुख के लिए, (पीतये) तथा पीने के लिए (भवन्तु) हों। (शम्) प्राप्त रोगों के शमन के लिए

---

१. **यथा गां दोग्धि पयः।**

(योः) तथा भविष्य में आनेवाले रोगों के भय को पृथक् करने के लिए (नः) हमारी ओर (अभिस्रवन्तु) प्रवाहित हों।

[योः=**यु अमिश्रणे** (अदादिः), अमिश्रणम्=पृथक्करणम्। योः=यु+डोस् (औणादिक प्रत्यय), शं योः="**शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्**" निरुक्त (४.३.२१)।]

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्॥ २॥

अर्थ—(सोमः) जगदुत्पादक या चन्द्रवत् या जलवत् शान्तिदायक परमेश्वर ने (मे) मुझे (अब्रवीत्) कहा है कि (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (विश्वानि भेषजा=भेषजानि) सब औषधें हैं, (च) तथा (अग्निम्) उनमें अग्नि है, (विश्वशंभुवम्) जो कि सब रोगों का शमन करती है।

[जलों में सब रोगों को शान्त करने की शक्ति है, और इनमें वैद्युताग्नि[१] भी है, जोकि सब रोगों को शान्त कर देती है। सोमः=**षु प्रसवे** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ३॥

अर्थ—(आपः) हे जलो! (मम तन्वे) मेरी तनू के लिए (वरूथम्) रोग-निवारक (भेषजम्) औषध (पृणीत) पूरित करो, (च) और औषध प्रदान करो (ज्योक्) चिरकाल तक (सूर्यं दृशे) सूर्य को देखने के लिए। दीर्घकाल तक जीवित रहने के लिए।

[दो प्रकार के औषध का कथन हुआ है, शारीरिक रोगनिवारक तथा दृष्टिशक्ति-प्रदायक। पृणीत=**पॄ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः), पूरित और पालित करना अर्थात् स्थिर बनाए रखना। दृशे=द्रष्टुम्।]

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥ ४॥

अर्थ—(नः) हमें (धन्वन्याः) मरुभूमि के (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक तथा सुखदायक (सन्तु) हों; (अनूप्याः) जलप्राय प्रदेश के जल (शम् उ) शान्तिदायक तथा सुखदायक। (नः) हमें (खनित्रिमाः) खनन द्वारा उद्भूत (आपः) कूपजल (शम्) शान्तिदायक तथा सुखकारक हों। (शम् उ) शान्तिदायक तथा सुखदायक हों, (याः) जोकि (कुम्भे आभृताः) कुम्भ में धारित हैं। (नः) हमें (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) हों, (वार्षिकीः) वर्षा के आपः अर्थात् जल।

प्रथम अनुवाक समाप्त।

१. विद्युदग्नि द्वारा रोगों को शान्त करने का निर्देश हुआ है। जलों से विद्युत् पैदा होती है।

अनुवाक २

सूक्त ७

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्। त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ॥ १ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (स्तुवानम्) यातना के प्रशंसक, (किमीदिनम्) किम्-इदानीम् इस प्रकार प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले, (यातुधानम्) यातना के निधि रूप को (आवह) बाँध कर [मन्त्र ७] यहाँ ला।[१] (देव) हे दिव्यगुणी अग्रणी! (त्वम्, हि) तू निश्चय से (वन्दितः) हम प्रजाओं द्वारा अभिवादित है, (दस्योः) उपक्षयकारी यातुधान का (हन्ता बभूविथ) हननकर्ता हुआ है।

[समग्र सूक्त के अनुसार अग्नि यज्ञियाग्नि नहीं, अपितु अग्रणी है। अग्रणी-प्रधानमन्त्री, यह अगले मन्त्रों द्वारा स्पष्ट हो जाएगा।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन्। अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान्वि लापय॥ २ ॥

अर्थ—(परमेष्ठिन्) परम अर्थात् श्रेष्ठ स्थान अर्थात् पद पर स्थित, (जातवेदः) राष्ट्र में उत्पन्न तत्त्वों के जाननेवाले, या जातप्रज्ञ, (तनूवशिन्) निजतनू को वश में रखनेवाले (अग्ने) हे अग्रणी! (तौलस्य आज्यस्य) मापेतौले घृत का (प्राशान) प्राशन किया कर (यातुधानान्) यातनाओं के निधिभूतों को (विलापय) विलापयुक्त कर या रुला।

[मापे-तौले आज्य का प्रतिदिन सेवन करने से शरीर स्वस्थ तथा सशक्त रहता है, शक्ति प्रदान भी करता है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः; इन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि लपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्॥ ३ ॥

अर्थ—(यातुधानाः) यातनाओं के निधिभूत, (अत्रिणः) माँसभक्षी, तथा (ये) जो (किमीदिनः) किम् इदानीम् इस प्रकार प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले हैं, वे (विलपन्तु) विलाप करें, रोएँ। (अथ) तदनन्तर (अग्ने) हे अग्रणी! तू (इन्द्रः च) और इन्द्र अर्थात् सम्राट् तुम दोनों, (नः) हम द्वारा प्रस्तुत (इदम्) इस (हविः) हवि के रूप में पवित्र अन्न को (प्रति हर्यतम्) चाहो, उसकी कामना करो।

[मन्त्र में हविः द्वारा राष्ट्रशासन को यज्ञ कहा है, इसलिए अग्नि अर्थात् राष्ट्राग्रणी और इन्द्र अर्थात् सम्राट् को दिए जानेवाले भोजन को हविः कहा है। यातुधान पर-राष्ट्रियगुप्तचर हैं, भेद लेनेवाले]।

१. राष्ट्रिय-न्यायालय में अपराध पर निर्णय करने के लिए राष्ट्रिय सभा का वर्णन हुआ है। यथा ''धर्माय सभाचरम्'' (यजु० ३०.६)। राष्ट्रिय-न्यायालय की भावना नई नहीं। यजुर्वेद ३०.१० में ''**मर्यादायै प्रश्नविवाकम्**'' द्वारा राष्ट्रिय मर्यादा के लिए प्राड्विवाक का वर्णन हुआ है और ३०.१८ में ''**सभास्थाणुम्**'' द्वारा सभा अर्थात् न्यायाधीशों की सभा में स्थिर रहनेवाले ''मुख्य सभाधीश'' का वर्णन हुआ है। महीधर ने ''प्रश्नविवाकम्'' का अर्थ किया है ''**कृतान् प्रश्नान् यो विविनक्ति**'', ३०.१८ में ''सभास्थाणुम्'' का अर्थ किया है स्थिरता, सभायां स्थिरम्। **धर्माय सभाचरम्** का अभिप्राय है राष्ट्रधर्म की स्थिति के लिए सभाचर अर्थात् न्यायसभा में विचरण करनेवाला मुख्य न्यायाधीश।

इन्द्रः=**इन्द्रश्च सम्राट्** (यजुः० ८.३७)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒ग्निः पूर्व॒ आ र॑भतां॒ प्रेन्द्रो॑ नुदतु बा॒हुमा॑न्। ब्रवी॑तु॒ सर्वो॑ यातु॒मान॒यम॒स्मीत्येत्य॑॥ ४॥

अर्थ—(अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (पूर्वः) प्रथम (आरभताम्) [यातुधानों का पकड़ना] आरम्भ करे, (बाहुमान् इन्द्रः) सशक्त बाहुओंवाला सम्राट् (प्रनुदतु) उन्हें प्रेरित करे [न्यायालय में जाने के लिए] (सर्वः यातुमान्) सब यातुधानों में से प्रत्येक (एत्य) [न्यायालय] पहुँच कर (ब्रवीतु) कहे (अयमस्मि इति) कि यह मैं हूँ।

[नुदतु=**णुद प्रेरणे** (तुदादिः)। बाहुमान् द्वारा प्रतीत होता है कि इन्द्र मनुष्य है, जिसकी कि बाहुएँ हैं। अतः अग्नि भी मनुष्य है, जोकि इन्द्र का सहचारी है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पश्या॑म ते वी॒र्यं॑ जातवेदः॒ प्र णो॑ ब्रूहि यातु॒धाना॑न्नृचक्षः।

त्वया॒ सर्वे॒ परि॑तप्ताः पु॒रस्ता॒त्त आ य॑न्तु प्रब्रु॒वा॒णा उपे॒दम्॥ ५॥

अर्थ—(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ [अग्रणी] (ते) तेरी (वीर्यम्) वीरता या शक्ति को (पश्याम) हम [प्रजाजन] देखें, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के निरीक्षक! (नः) हमें (यातुधानान्) यातनाओं की निधियों को (ब्रूहि) कहिए, उनके सम्बन्ध में परिचय दीजिए। (त्वया) तूने (पुरस्तात्) पहले से ही (सर्वे) सब यातुधान (परितप्ताः) पूर्णरूप से संतप्त कर दिए हैं, (ते) वे (इदम्) इस न्यायालय में (उप आयन्तु) उपस्थित हों (प्रब्रुवाणाः) अपनी-अपनी उपस्थिति को कहते हुए।

[यातनाओं की निधियाँ हैं, यातुधान।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ र॑भस्व जातवेदो॒ऽस्माका॒र्थाय॑ जज्ञिषे। दू॒तो नो॑ अग्ने भू॒त्वा या॑तु॒धाना॒न्वि ला॑पय॥ ६॥

अर्थ—(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ अग्रणी! (आरभस्व) तू निज कार्य प्रारम्भ कर, (अस्माकार्थाय) हमारे प्रयोजन के लिए (जज्ञिषे) प्रजा से तू उत्पन्न हुआ है। [अग्रणीरूप में प्रकट हुआ है] (नः अग्ने) हे हमारे अग्रणी! (दूतः भूत्वा) यातुधानों का उपतापी होकर (यातुधानान्) यातुधानों को (विलापय) नष्ट कर या विलापवाले कर, शोकित कर।

[दूतः=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्वम॑ग्ने यातु॒धाना॒नुप॑बद्धाँ इ॒हा व॑ह। अथै॑षा॒मिन्द्रो॒ वज्रे॒णापि॑ शी॒र्षाणि॑ वृश्चतु॥ ७॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (त्वम्) तू (यातुधानान्) यातना के निधिभूत मनुष्यों को (उपबद्धान्) लगभग बाँधे हुओं को (इह) यहाँ अर्थात् न्यायालय में (आ वह) प्राप्त कर, (अथ) तदनन्तर (इन्द्रः) सम्राट् (वज्रेण) वज्रसदृश दृढ़ तलवार द्वारा (एषां शीर्षाणि) इनके सिरों को (अपि) भी (वृश्चतु) काट दे।

[प्रथम, अग्रणी यातुधानों को, न्यायालय में, बाँधे हुओं को पहुँचाए। ये लगभग बँधे हुए होने चाहिएँ, हाथ-पैर आदि बँधे हुए। न्यायालय में, अपराधानुसार दण्डविधान हो जाने पर सम्राट् के निर्देशानुसार

इनके सिरों को काट देना चाहिए। "अपि" का अभिप्राय यह है कि निर्णयानुसार यदि कोई अन्य दण्ड दिया गया है तो उसके होते हुए भी सिर काटने का दण्ड स्थिर है। न्यायालय वेदानुकूल है। यथा "**धर्माय सभाचरम्**" (यजुः० ३०.६)। अर्थात् राज्य में धर्मव्यवस्था के लिए सभा अर्थात् न्यायाधीशों को, तथा सभाचरम् अर्थात् न्यायाधीशों के मुखिया को "**आलभते**" [प्राप्त करता है] (यजुः० ३०.२२) धर्माय सभाचरम्=धर्म की रक्षा के लिए सभा में विचरनेवाले सभापति को (यजुः० ३०.६; ऋषि दयानन्द)। सभा के होते ही सभाचर सम्भव है। अतः सभा द्वारा न्यायालय के न्यायाधीश तथा सभाचर द्वारा न्यायाधीशों का मुखिया ही अभिप्रेत है। धर्म है वर्णाश्रमधर्म या प्रजा का धारण-पोषण।

सूक्त ८

ऋषिः—**चातनः**॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इदं हविर्यातुधानान्नदी फेनमिवा वहत्। य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥ १॥

अर्थ—(इदम् हविः) यह हविः (यातुधानान्) यातना के निधियों, यातना के पोषकों को (इह) यहाँ, अर्थात् हमारे पास (आ वहत्) लाई है, (इव) जैसे (नदी फेनम्) नदी फेन अर्थात् झाग को लाती है। (यः) जिस (स्त्री पुमान् अकः) स्त्री या पुरुष ने (इदम्) यह अभिचार कर्म किया है, (सः) वह (जनः) जन (इह) यहाँ (स्तुवताम्) कह दे।

[शत्रुजन ने यज्ञ द्वारा यातुधानों को हमारे पास भेजा है, उसको निजस्वरूप के कथन करने के लिए कहा है। यातुधान भी यज्ञ विधि का अवलम्बन कर अभिचारकर्म करते हैं।

यातुधानान्=यातु+धान (**धा धारणपोषणयोः**, जुहोत्यादिः), पोषण अर्थ अभिप्रेत है। यातु=यातना।]

ऋषिः—**चातनः**॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं स्तुवान आगमदिमं स्म प्रति हर्यत। बृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम्॥ २॥

अर्थ—(अयम्) यह जन (स्तुवानः) निजस्वरूप का कथन करता हुआ (आगमत्) आया है, (इमम्) इसको (प्रति हर्यत) तुम चाहो। (बृहस्पते) हे बृहती सेना के पति! (वशे लब्ध्वा) इसे निज वश में लेकर, (अग्नीषोमौ) अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री और सेनानायक तुम [दोनों परस्पर परामर्श करके] (विविध्यतम्) इसे वेधो, ताड़ित करो। सोमः=सेनानायक (यजुः० १७.४०)।

ऋषिः—**चातनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च। नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम्॥ ३॥

अर्थ—(सोमप) हे सोमनामक[1] अर्थात् सेनानायक के रक्षक! (यातुधानस्य) यातुधान की (प्रजाम्) प्रजा का (जहि) हनन कर, (नयस्य च), और निजप्रजा का उन्नति के मार्ग में नयन कर। (निस्तुवानस्य) जो अपना परिचय न दे उसके (परम् अक्षि) श्रेष्ठ अर्थात् दक्षिण आँख को, (उत) तथा (अवरम्) श्रेष्ठ, वाम अक्षि को (पातय) अधःपतित कर दे, निकाल दे। (नि[2]=निग्रह; रोकना, यथा इन्द्रिय-निग्रह।)

[(१) में यातुधान, आततायी कहे हैं। मनु ने कहा है कि "**आततायिनमायन्तं हन्यादेवाविचारयन्**", अर्थात् आते हुए आततायी का हनन ही कर दे, बिना विचारे।]

१. सोम=सेनानायक (यजु० १७.४०)।

२. नि=**विनिग्रहार्थीयः** (निरुक्त १.१.३)। विनिग्रहः=विशेषेण निग्रहः, रोकना। यथा इन्द्रियनिग्रहः, मनोनिग्रहः।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतगर्भा त्रिष्टुप्** ॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः।

तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने॥ ४॥

अर्थ—(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ (अग्ने) अग्रणी प्रधानमन्त्री! (गुहासताम्) गुफा में वर्तमान, (अत्रिणाम्) मांसभक्षक, (एषाम्) इन यातुधानों के (यत्र) जिन स्थानविशेषों में (जनिमानि) जनों अर्थात् उत्पत्तियों को (वेत्थ) तू जानता है (तान्) उन्हें (ब्रह्मणा) वेदमन्त्रों द्वारा (वावृधानः) ज्ञान में बढ़ा हुआ, तू (एषाम्) इन यातुधानों का (शततर्हम्) हिंसा के बहुविध प्रकार से (जहि) हनन कर।

[वैदिक मन्त्रों में यातुधानों के हनन के बहुविध उपाय दर्शाये हैं। शततर्हम् विशेषण है जहि क्रिया का।]

सूक्त ९

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः।

इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु॥ १॥

अर्थ—(वसवः) ८ वसु, (अस्मिन्) इसमें (वसु) धन-सम्पत्ति (धारयन्तु) धारित करें अर्थात् प्रदान करें, (इन्द्रः) मेघीय विद्युत्, (पूषा) रश्मियों द्वारा परिपुष्ट सूर्य, (वरुणः) अन्तरिक्ष को आवृत करनेवाला मेघ, (मित्रः) वर्षा द्वारा स्निग्ध करनेवाला वर्षर्तु का सूर्य, (अग्निः) तथा पार्थिव अग्नि।

(इमम्) इसे (आदित्याः) १२ मासों के १२ आदित्य, (उत) तथा (विश्वे च देवाः) और सब देव अर्थात् द्योतमान पदार्थ (उत्तरस्मिन् ज्योतिषि) उत्कृष्ट ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें, ज्योतिः प्रदान करें।

[वसवः=**अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं च, आदित्यश्च द्यौश्च, चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च एते वसवः एतेषु हीदं वसु सर्वं हितम्** (बृहदा० ३.९.३)। पूषा=**यद्रश्मिपोषं पुष्यति=सूर्यः** (निरुक्त १२.२.१६)। वसु आदि द्वारा धन-सम्पत्ति प्राप्त होती ही है। यथा पृथिवी से अन्नादि तथा धातवीय पदार्थ प्राप्त होते हैं। आपः से जल-सम्पत्ति, तेजः से प्रकाश-ताप सम्पत्ति, वायु द्वारा जल-चक्कियाँ, आकाश से शब्दवहन आदि सम्पत्तियाँ प्राप्त हो रही हैं—इत्यादि।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।

सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ २॥

अर्थ—(देवाः) हे द्युतिविद्याविज्ञ वैज्ञानिको! (अस्य प्रदिशि) इसके निर्देश में (ज्योतिः अस्तु) राष्ट्र की ज्योति रहे, अर्थात् (सूर्यः अग्निः) सूर्य, अग्नि, (उत वा) तथा राष्ट्र का (हिरण्यम्)[1] सुवर्ण चाँदी आदि का प्रयोग। (सपत्नाः) शत्रु (अस्मत् अधरे भवन्तु) ताकि हमसे निकृष्ट रहें। हे परमेश्वर! (इमम्) इस हमारे शासक—राजा को तू (उत्तमम्) सर्वश्रेष्ठ (नाकम्) मोक्ष पर (अधिरोहय) आरूढ़ कर।

[राष्ट्र की ज्योतिर्मयी शक्तियाँ राष्ट्र के राजा के निर्देश में रहनी चाहिएँ, ताकि राजा की आज्ञा के

१. ज्योतिः रूप में हिरण्य दृष्टान्त भी है। यथा "**हिरण्यरूपः स हिरण्यसदृक्**" (ऋ० २.३५.१०); निरुक्त ३.३.१५।

अनुसार वैज्ञानिक इनका प्रयोग करें। इससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती और तद्-द्वारा शत्रु को अधर किया जा सकता है। राजा भी निःस्वार्थ भावना से राष्ट्र-सेवा करता हुआ ''नाक'' को प्राप्त हो जाता है। नाकम्; कम् (सुखम्)+अकम् (सुखाभाव)+नाकम् (अकम् का निषेध) (निरुक्त २.४.१४)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।

तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्॥ ३॥

अर्थ—(जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों के जाननेवाले हे परमेश्वर! (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद द्वारा (इन्द्राय) सम्राट् के लिए (पयांसि) विविध ज्ञानदुग्ध (समभरः=सम् अहरः) तूने सम्यक्तया प्राप्त कराए हैं, [उसे प्रदत्त किये हैं] (तेन) उस उत्तम वेद द्वारा (अग्ने) ज्ञानाग्निसम्पन्न हे परमेश्वर! (त्वम्) तू, (इह) इस लोक में (इमम्) इस सम्राट् को (वर्धय) बढ़ा, (एनम्) और इस सम्राट् को (सजातानाम्) समान जातिवाले [राजाओं] में (श्रैष्ठ्ये) सर्वश्रेष्ठ रूप में (आ धेहि) स्थापित कर।

[इन्द्र=**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा** (यजुः० ८.३७)। वरुण[1] हैं प्रत्येक राष्ट्र के राजा और सम्राट् है इन संयुक्त राजाओं द्वारा निर्वाचित श्रेष्ठ राजा। पयांसि द्वारा परमेश्वर का मातृरूप सूचित किया है जोकि इन्द्र को ज्ञानदुग्ध पिलाता है, वेदरूपी स्तनों द्वारा। सजातानाम्=यथा ''**सजातानां मध्यमेष्ठा एधि राज्ञाम्**'' (अथर्व० २.६.४)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।

सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

अर्थ—(एषाम्) इन वरुण राजाओं की (यज्ञम्) यज्ञपद्धति को, (उत) तथा (वर्चः) तेज को, (रायस्पोषम्) ''कर'' रूप में प्रदत्त परिपुष्ट-धन को, (उत) तथा (चित्तानि) परामर्श में दिए सम्यक्-ज्ञानों को (अग्ने) हे ज्ञानाग्नि-सम्पन्न परमेश्वर! (अहम्) मैं सम्राट् (आददे) ग्रहण करता हूँ। ताकि (सपत्नाः) शत्रु (अस्मत् अधरे) हम से निकृष्ट (भवन्तु) हो जाएँ और (इमम्) इस सम्राट् को (उत्तमम् नाकम् अधिरोहय) तू हे ब्रह्म अर्थात् हे परमेश्वर! सर्वश्रेष्ठ नाक पर अधिरूढ़ कर।

[''अग्ने'' यथा ''**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**'' (यजुः० ३२.१) में अग्नि आदि नाम ब्रह्म के कहे हैं। ब्रह्म=परमेश्वर।]

सूक्त १०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**असुरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।

ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि॥ १॥

अर्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) देवों के मध्य में (असुरः) प्राणप्रदाता (वि राजति) विराजता है।

---

१. प्रत्येक राष्ट्र के राजा को वरुण इसलिए कहा है कि यह भी प्रजा द्वारा निर्वाचित होता है। ''**व्रियते वाऽसौ वरुणः**'' (उणा० ३.५३, दयानन्द)।

(उग्रस्य वरुणस्य राज्ञः) उग्र वरुण—राजा की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य है। तो भी (ब्रह्मणा शाशदानः) वेदविद्या द्वारा अतितीक्ष्ण हुआ मैं (इमम्) इसको, (वरुणस्य राज्ञः) वरुण—राजा के (ततः मन्योः) उस क्रोध से (परि) परिवर्जित[1] करके, (उन्नयामि) उन्नति के मार्ग में मैं ले चलता हूँ।

[वरुण=''**वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः**'' (उणा०३.५३) जो वरुण—परमेश्वर उपासकों का वरण करता है तथा उपासकों द्वारा जिसका वरण किया जाता है। ततः=पञ्चम्यर्थे सार्वविभक्तिकः तसिल्। वशा=इच्छा, **वश कान्तौ** (अदादिः), कान्तिः=कामना, इच्छा। परि=**अपपरी वर्जने** (अष्टा० १.४.८७) वरुणः=वरुण-सूक्त (अथर्व० १६.१.२-५, ७)। मन्यु होता है अवबोध तथा ज्ञानपूर्वक। परन्तु वह जब उग्ररूप हो जाता है तब वह क्रोधरूप हो जाता है। मन्यु की प्राप्ति की प्रार्थना हुई है ''**मन्युरसि मन्युं मयि धेहि**'' (अथर्व० २०.१५.५)। वरुण का उग्रमन्यु भूचाल, बाढ़ और महायुद्धों में प्रकट होता है। असुरः=**असुः प्राणं** (निरुक्त ११.१८) 'अनवत्त्वम्' [अन प्राणने], (निरुक्त १०.३.३४)+**रा दाने** (अदादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नर्मस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यु॑ग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्त्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

अर्थ—(वरुण राजन्) हे वरुण राजन्! (ते) तेरे (मन्यवे) मन्यु के प्रति (नमः[2] अस्तु) प्रह्वीभाव हो, (हि) यतः (उग्र) हे उग्र! (विश्वं द्रुग्धम्) सब प्रकार के द्रोह भाव को (निचिकेषि[3]) तू जानता है, (सहस्त्रम् अन्यान् साकम्) अन्य हजार नमस्कारों को एक साथ (प्र सुवामि) मैं तेरे प्रति प्रेरित करता हूँ, ताकि (तव) तेरा (अयम्) यह उपासक (शतम् जीवाति) सौ वर्षों तक जीवित हो।

[नमः=**णम प्रह्वत्वे शब्दे च** (भ्वादिः)। प्रह्वीभाव तथा नमस्कार शब्द। अन्यान्=प्रह्वीभाव से भिन्न नमस्कार। निचिकेषि=**कि ज्ञाने** (जुहोत्यादिः)। ते=तेरा यह उपासक।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु। राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥ ३॥

अर्थ—(जिह्वया) जिह्वा द्वारा (यद्) जो (बहु) बहुत (वृजिनम्) पापरूप (अनृतम् उवक्थ) अनृत भाषण तूने किया है, [ततः] उस असत्य भाषण से (त्वा) तुझे (अहम्) मैं (सत्यधर्मणः) सत्यधर्मवाले अर्थात् सत्यस्वरूप (राज्ञः) संसार से राजा (वरुणात्) वरुण से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ।

[वरुणसूक्त (अथर्व० ४.१६.७) में ''अनृतवादी'' (मन्त्र ६) का, तथा (मन्त्र ७) में ''अनृत वाक्'' का, तथा उसे ''दण्डविधान'' का कथन हुआ है। तथा (मन्त्र ८) में वरुण द्वारा नाना रोगों का कथन हुआ है, जोकि अनृत वाक् तथा ''अनृत'' कर्मों के कारण फलरूप में प्राप्त होते हैं। सद्गुरु पापी को पापकर्मों से छुड़ाकर सन्मार्ग पर लाने का विश्वास दिलाता है, ताकि भविष्य में वह वारुण्य कोप से उन्मुक्त रहे।]

---

१. **परि=परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः** (विष्णुपुराण)। त्रिगर्त=जलन्धर (आप्टे)।
२. **णम प्रह्वत्वे शब्दे च** (भ्वादिः)।
३. ''**कि**'' **ज्ञाने** (जुहोत्यादिः)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि।

सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चापं चिकीहि नः॥ ४॥

अर्थ—(वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारी, (अर्णवात्) जलवाले उदधि के सदृश गम्भीर, (महतः परि) तथा सर्वतो महान् वरुण-परमेश्वर के दण्ड से (त्वा) तुझे (मुञ्चामि) मैं उन्मुक्त करता हूँ [उसके दण्ड से छुड़ाता हूँ]। (उग्र) हे कष्टों द्वारा उद्विग्न हुए! (सजातान्) स्वसमान कष्टोत्पन्नों को (इह) इस जीवन में (आवद) कह, और (अप) अपने कष्ट के अपाकृत करने के पश्चात् (नः) हमारे (ब्रह्म) परमेश्वर को (चिकीहि) तू जान। (जो हमारा उपास्य ब्रह्म है उसके स्वरूप को जानने में यत्न कर)।

[कष्टोत्पन्नों के कष्टों का अपाकरण करना पुण्यकर्म है। पुण्यकर्मों के करने से ब्रह्मज्ञान होता है, पापियों को नहीं।]

सूक्त ११

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।

सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥ १॥

अर्थ—(पूषन्) हे पुष्टि करनेवाले! (अस्मिन्; सूतौ) इस प्रसूति-यज्ञ में (अर्यमा) अर्यों का मान करनेवाला, (वेधाः) और यज्ञविधि का विधान करनेवाला, (होता) आहुति देनेवाला ऋत्विक् (ते) तेरे लिए (वषट्) वषट् शब्द का उच्चारण करके (कृणोतु) आहुति प्रदान करे। (ऋतप्रजाता[१]) सत्यनियमानुसार प्रजन करनेवाली गर्भवती हुई (नारी) नारी (सिस्रताम्) अङ्गों में ढीली हो जाए, (पर्वाणि) जोड़ (विजिहताम्) खुल जाएँ, [वि+हाङ् गतौ], (सूतवै उ) प्रसूति के लिए।

[वषट्, वौषट् तथा वह समानार्थक हैं। तीनों पद "वह" धातु के रूप हैं। "वह प्रापणे" (भ्वादिः)। वषट्=वह+सत् (अस्+शतृ)+हकार का लोप। वौषट्=वह के हकार को "ऊठ्" करके "वृद्धि"+सत् (अस्+शतृ) अथवा वकार के उत्तरवर्ती अकार को प्लुत औकार। **वह प्रापणे** (भ्वादिः) पूषन्=पुष्टि करनेवाला परमेश्वर। प्रसव क्रिया से पूर्व परमेश्वर के नाम पर यज्ञ किया है। उसका निर्देश अस्मिन् द्वारा हुआ है। प्रसूतियज्ञ है जातकर्म संस्कार।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत। देवा गर्भं समैरयन्तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥ २॥

अर्थ—(चतस्रः दिवः प्रदिशः) चार द्युलोक की विस्तृत दिशाएँ हैं। (उत) तथा (चतस्रः भूम्याः) चार भूमि की हैं। (देवाः) देवों ने (तम्) उस (गर्भम्) को (समैरयन्) मिलकर प्रेरित किया है। (सूतवे) प्रसव के लिए (सम् व्यूर्णुवन्तु) वे गर्भ को विगताच्छादन करें, आच्छादन से रहित करें।

[देवाः=सम्भवतः १० मास। यथा "**दशमे मासि सूतवे**" (अथर्व० ५.२५.१०)। चतस्रः=जैसे द्युलोक की तथा भूमि की चार-चार विस्तृत दिशाएँ हैं, वैसे प्रसूतिगृह की चारों दिशाएँ भी विस्तृत होनी चाहिएँ, जिसमें खुली वायु तथा खुले प्रकाश का प्रवेश होता रहे।]

---

१. **ऋतम् सत्यनाम** (निघं० ३.७)। प्रजाता=कर्तरि क्तः।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिग्गर्भा ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि। श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥ ३॥

अर्थ—(सूषा) प्राणिगर्भ विमोचन करके शिशु देनेवाली सेविका (व्यूर्णोतु) आसन्न प्रसवा के वस्त्राच्छादन को विगत करे, पृथक् करे, और (योनिम्) योनिमार्ग को (विहापयामसि) हम [शल्यकर्म में दक्षों द्वारा] विवृत कराते हैं [ये दूसरी सेविकाएँ हैं]। (सूषणे) हे सुखपूर्वक जन्म देनेवाली माता! (त्वम्) तू (श्रथय) अपने शरीर को शिथिल कर। (बिष्कले) गर्भ को प्रेरित करनेवाली सेविका! तू (अवसृज) गर्भ को नीचे प्रेरित कर।

[सूषा=**षूङ् प्राणिगर्भविमोचने** (सायण तथा अदादिः)+**षणु दाने; जनसनखनक्रमगमो विट्** (अष्टा० ३.१.६७) इति विट्। **विड्वनोरनुनासिकस्यात्** (अष्टा० ६.४.४१) इति आत्वम् (सायण)। व्यूर्णोतु=वि+**ऊर्णुञ् आच्छादने** (अदादिः) वस्त्राच्छादन को विगत करनेवाली।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्।

अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेव जरायु पद्यताम्॥ ४॥

अर्थ—(न इव) न मानो (मांसे) मांस में, (न पीवसि) न स्थूलावयव में, (न इव) न मानो (मज्जसु) नलिकास्थियों के अस्थिसार में (आहतम्) संलग्न है, (पृश्नि) शुभ्रवर्ण[१] [सायण], (शेवलम्) काई के सदृश वर्तमान (जरायु) जीर्ण हुआ गर्भावरण (शुने अत्तवे) कुत्ते के खाने के लिए (अव एतु) नीचे भूमि पर गिर जाए, (जरायु) जीर्ण हुआ गर्भावरण (अव पद्यताम्) नीचे गिर जाए [गर्भ में ही न रह जाए]।

[पीवसि=**पीव स्थौल्ये** (भ्वादिः)। आहतम्=संलग्नम्, संसक्तम्, आबद्धम्।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।

वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्॥ ५॥

अर्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्रद्वार का (वि भिनद्मि) मैं भेदन करता हूँ, (योनिम् वि) योनि का भेदन करता हूँ, (वि गवीनिके) पार्श्ववर्ति दो नाड़ियों का भेदन करता हूँ। (पुत्रम् च) नरक के त्राण करनेवाले पुत्र[२] को (मातरम् च) और माता को (वि) पृथक् करता हूँ, तथा (कुमारम्) कुमार को (वि) पृथक् करता हूँ (जरायुणा) जरायु से अर्थात् जीर्ण हुए गर्भावरण से। (जरायु अव पद्यताम्) जरायु नीचे पतित हो जाए।

[गवीनिके=**योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबन्धिके नाड्यौ** (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।

एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम्॥ ६॥

---

१. शुभ्र का अर्थ यदि श्वेत है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि शुभ्र पद शेवल का विशेषण है, शेवल हरी होती है। शेवल है जल की काई। यदि शुभ्र का अर्थ है चमकीला तो यह विशेषण ठीक है, शेवल हरेपन में चमकीला तो होता ही है।

२. वृद्धावस्था नरकरूप ही है, जबकि व्यक्ति निःसहाय हो जाता है, तब पुत्र ही रक्षा करता है। अथवा **पुरु त्रायते पुत्रः**।

अर्थ—(यथा वातः) जैसे वायु [शीघ्र प्रवाहित होती है] (यथा मनः) जैसे मन [शीघ्र विषयों की ओर जाता है], (यथा पक्षिणः पतन्ति) जैसे पक्षी बिना रुकावट [अन्तरिक्ष में] (पतन्ति) उड़ते हैं; (एव=एवम्) इस प्रकार (दशमास्य) १० मासों का हे शिशु! (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जीर्ण हुए गर्भावरण अर्थात् जेर के साथ (पत) गर्भाशय से शीघ्र निर्गत हो, (अव जरायु पद्यताम्) और जरायु भी नीचे गिरे।

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त १२

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

जरायुजः प्रथम उस्त्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे॥ १॥

अर्थ—(प्रथमः) प्रथमकाल से विद्यमान अर्थात् अनादि, (जरायुजः) जीर्ण होनेवाली प्रकृति से प्रकट हुआ, (उस्त्रियः) किरणोंवाले सूर्यादि का स्वामी, (वृषा) सुखवर्षी, (वातभ्रजाः) वायु और मेघों का उत्पादक, (वृष्ट्या, स्तनयन् एति) वृष्टि के साथ, मेघों को गर्जाता हुआ परमेश्वर आता है, प्रकट होता है [जगत् में] (ऋजुगः) ऋजु अर्थात् सत्यमार्गगामी (सः) वह (नः तन्वः) हमारी तनुओं को (मृडाति) सुखी करे। (रुजन्) प्रलयकाल में जगत् को भंग करता हुआ (यः) जो परमेश्वर (एकम् ओजः) निज एक ओज को (त्रेधा) तीन प्रकार से (विचक्रमे) विक्षिप्त करता है।

[जरायुजः=तीन अनादि हैं—परमेश्वर, जीवात्मा, प्रकृति। प्रकृति भी अनादि है जोकि त्रिरूपा है, सत्त्व, रजस् और तमोरूपा। यह ओजः रूप है, शक्तिरूप है। परमेश्वर इस द्वारा निज ओज को प्रकट करता है। इसे परमेश्वर ने तीन स्थानों में विभक्त किया है—पृथिवी में, अन्तरिक्ष में तथा द्युलोक में। विचक्रमे=वि+**क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादिः)।

ऋजुगः=ऋजुमार्ग है सत्यमार्ग। यथा "**तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयः**" (अथर्व० ८.४.१२)। उस्त्रिया=उस्र+इयाट्। मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन हुआ है, उसे ही नमस्यन्तः द्वारा नमस्कार किया है (अथर्व० १.१२.१), तथा बार-बार नमस्कार किया है (अथर्व० १.१३.१-४)। रुजन्=**रुजो भङ्गे** (तुदादिः)। सूक्त १२, १३ में परमेश्वर का ही वर्णन है। नमस्कार चेतन को ही किया जाता है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती (त्रिष्टुप्)**॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान्हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता॥ २॥

अर्थ—(अङ्गे अङ्गे) प्राणियों तथा जगत् के अङ्ग-अङ्ग में (शोचिषा) दीप्ति के सहित (शिश्रियाणम्), आश्रित हुए (त्वा) हे परमेश्वर! तुझे (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुए (हविषा) हविः द्वारा (विधेम) हम पूजित करें। (अङ्कान्) अञ्चनशील अर्थात् गमनशील, (समङ्कान्) तथा समूह में गमनशील घटकों को (हविषा) हविः द्वारा (विधेम) विशेषतया हम परिपोषित करें, (यः) जिस (ग्रभीता) ग्रहण अर्थात् धारण करनेवाले ने (अस्याः) इस सृष्टि के (पर्व) परु-परु को (अग्रभीत्) ग्रहण अर्थात् धारण किया

हुआ है।

[मन्त्र में ग्रहीता द्वारा परमेश्वर अभिप्रेत है। वह प्राणियों के अङ्ग-अङ्ग में, मस्तिष्क, हृदय आदि में व्याप्त है और जगत् के अङ्ग-अङ्ग में, चान्द, सूर्य, नक्षत्रों और ताराओं में भी व्याप्त है। उसे ही नमस्कार किया गया है और यज्ञिय हवियाँ समर्पित की हैं। गतिशील जगत् घटक हैं पृथिवी आदि, और समूहरूप में जगत् घटक हैं तारागुच्छक राशियाँ; मेष, वृष आदि। इन्हें constellation कहते हैं। ग्रभीता=**अपाणिपादो जवनो ग्रभीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः**। ग्रभीता=**ग्रह उपादाने** (क्र्यादिः)]। शिश्रियाणम्=श्रि+कानच्।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।

यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च॥ ३॥

अर्थ—(शीर्षक्त्याः) सिर को प्राप्त रोग से, (उत) तथा (कासः) खाँसी से (एनम्) इसे (मुञ्च) हे परमेश्वर! तू मुक्त कर, (यः) जोकि (अस्य) इस मेरे (परुः परुः) सन्धिबन्धों में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है। (यः) जो रोग (अभ्रजाः) वर्षाकाल में पैदा होता है, अर्थात् श्लेष रोग, (वातजाः) वात-विकार से उत्पन्न होता है, (यः च) और जो (शुष्मः) पित्त विकार का है। वह त्रिविध रोग (वनस्पतीन्) वनस्पतियों के साथ (सचताम्) सम्बद्ध हो, (पर्वतान् च) और पर्वतों के साथ सम्बद्ध हो, अर्थात् इन रोगों की निवृत्ति के लिए वनस्पतियों का सेवन करना चाहिए और पर्वतों में निवास करना चाहिए। पर्वत शीत होते हैं अतः पित्तजनित रोग के लिए हितकर है।

[(शीर्षक्त्याः) शिरः अञ्चति प्राप्नोति इति शीर्षक्तिः। परमेश्वर भेषज रूप है, (यजुः० ३.५९)। अस्य=अस्य मे। "अस्य" के साथ "मे" का सम्बन्ध जानना चाहिए। मन्त्र ४ के अनुसार कासः=**कासृ शब्दकुत्सायाम्** (भ्वादिः), क्विप्, पञ्चम्येकवचन।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे।

शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम॥ ४॥

(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शिरोभूत अङ्ग के लिए (शम्) सुख हो, (मे) मेरे (अवराय) नीचे के गात्र के लिए (शम् अस्तु) सुख हो। (शम्) सुख हो (मे) मेरे (चतुर्भ्यः अङ्गेभ्यः) चारों अङ्गों दो टाँगों, दो बाहुओं के लिए, (मम) तथा मेरी (तन्वे) तनू के लिए (शम् अस्तु) सुख हो।

[अवर गात्र है ग्रीवा से नीचे कटि तक। **शम् सुखनाम** (निघं० ३.६)।]

सूक्त १३

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**विद्युत्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।

नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि॥ १॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (विद्युते) विद्योतमान अर्थात् ज्योतिःस्वरूप (ते) तेरे लिए (नमः अस्तु)

नमस्कार हो, (स्तनयित्नवे) मेघवत् गर्जन करनेवाले (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार हो। (अश्मने) अश्मा अर्थात् मेघवत् वर्षा करनेवाले के सदृश सुखवर्षा करनेवाले (ते) तेरे लिए (नमः अस्तु) नमस्कार हो, (येना=येन) जिस कारण (दूडाशे) दुःखपूर्वक दान देनेवाले पर (अस्यसि) तू दुःख बम फैंकता है। **अश्मा मेघनाम** (निघं० १.१०)।

[दूडाशे=दुर्+दाशे (**दाशृ दाने** भ्वादिः)। सामाजिक कर्म तथा राष्ट्रोन्नति के लिए दान देना। बाढ़, भूचाल, अग्निकाण्ड तथा रोग रूप में परमेश्वर का गर्जन।

दूडाशे=दुर्+दाशे (**दासृ दाने,** भ्वादिः), "दू" दाशे=**दुःखेन दाश्यते दाप्यते इति दूडाशो लुब्धः दुरो दाशनाशदभध्येष्विति** (अष्टा० ६.३.१०९, वा०) दूरो रेफस्य उत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वञ्च (सायणः)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नम॑स्ते प्रवतो नपा॒द्यत॒स्तपः॑ स॒मूह॑सि। मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि॥ २॥

अर्थ—(प्रवतः) प्रकृष्ट मनुष्य का (नपात्) पात न होने देनेवाले हे परमेश्वर! (ते नमः) तेरे लिए नमस्कार हो। (यतः) चूँकि (तपः) तपोमय जीवन को (समूहसि) तू संघीकृत करता है, बढ़ाता[1] है। (नः) हमारे (तनूभ्यः) देहों के लिए (मृडय) सुख पैदा कर, (तोकेभ्यः) पुत्र-पौत्र आदि के लिए (मयः) सुख (कृधि) कर।

[परमेश्वर हमारे तपोमय जीवन के बढ़ाने में सहायता देता है। मृडय=**मृड सुखने** (तुदादिः, तथा क्र्यादिः)। **मयः सुखनाम** (निघं० ३.६)। परमेश्वर निज उपासक को प्रकृष्ट मार्ग से गिरने नहीं देता, उसके तपोमय जीवन को प्रगति देता और उसे सुख प्रदान करता है। नपात्=**न पातयति**, पतन नहीं करता।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**चतुष्पाद् विराड् जगती** ॥

प्रव॑तो नपा॒न्नम॑ ए॒वास्तु॒ तुभ्यं॒ नम॑स्ते हे॒तये॒ तपु॑षे च कृण्मः।
वि॒द्म ते॒ धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत्स॑मु॒द्रे अ॒न्तर्निहि॑तासि॒ नाभिः॑॥ ३॥

अर्थ—(प्रवतः) प्रकृष्ट मनुष्य का (नपात्) पतन न होने देनेवाले परमेश्वर! (तुभ्यम्) तेरे लिए (नम एव अस्तु) नमस्कार ही हो, (हेतये) प्रगति और वृद्धि प्राप्त करने के लिए, (तपुषे च) और तपोमय जीवन के लिए, (ते) तेरे लिए (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं। (ते) तेरा (धाम) स्थान (विद्म) हम जानते हैं (परमम्) जो कि परम श्रेष्ठ है, (यत् गुहा) जो कि हृदय-गुहा है, (समुद्रे अन्तः) हृदय समुद्र में (नाभिः) बन्धनरूप में (निहिता असि) तू निहित है।

[नम एव=श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए तदुचित भेंट दी जाती है। परमेश्वर इतना श्रेष्ठ है कि उसे भेंट करने के लिए तदुचित कोई सांसारिक वस्तु नहीं, इसलिए नमस्कार ही भेंट किया है। समुद्रे—हृदय समुद्ररूप हैं यथा "हृद्यः समुद्रः"। हेतये=**हि गतौ वृद्धौ च** (स्वादिः)। नाभि की अपेक्षा से "निहिता" स्त्रीलिङ्ग में हैं।]

---

१. परमेश्वर जैसे हमारे तपः को बढ़ाता है वैसे वह श्रद्धापूर्वक उपासित हुआ हमें नानाविध सहायता प्रदान करता है। यथा "**प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति**" (योग, पाद १, सूक्त २३)।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—विद्युत्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्परा बृहतीगर्भा पङ्क्तिः॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्।

सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि॥ ४॥

अर्थ—हे पारमेश्वरी माता! (याम् त्वा) जिस तुझको (विश्वे देवाः) सब उपासक योगीजन (असृजन्त) प्रकट करते हैं, (असनाय) आसुर भावों और कर्मों पर फेंकने के लिए, (धृष्णुम्) धर्षक (इषुं कृण्वानाः) अपना बाण करते हुए, बनाते हुए। (सा) वह तू (नः) हमें (मृड) सुखी कर (विदथे) ज्ञान के निमित्त (गृणाना) वेदोपदेश करती हुई; (देवि) हे दिव्य माता! (तस्यै ते) उस तेरे लिए (नमः अस्तु) नमस्कार हो। यह पारमेश्वरी माता है।

[धृष्णुम्=धर्षक, आक्रमणकारी।]

सूक्त १४

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—यमः॥ छन्दः—ककुम्मत्यनुष्टुप्॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्त्रजम्।

महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक्पितृष्वास्ताम्॥ १॥

अर्थ—(अस्याः) इस कन्या के (भगम्) सौभाग्य को, (वर्चः) दीप्ति अर्थात् कान्ति को (आदिषि) मैं [वर] ने प्राप्त किया है, (इव) जैसे (वृक्षात्) [पुष्प वाले] वृक्ष से (स्त्रजम्) पुष्पमाला प्राप्त की जाती है। (महाबुध्नः[1]) महामूल अर्थात् दीर्घविस्तारी मूल वाले (पर्वतः इव) पर्वत के सदृश (ज्योक्) चिरकाल तक (पितृषु) हे वर! तेरे माता-पिता आदि बन्धु में (आस्ताम्) यह रहे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—यमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

एषा ते राजन्कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतां गृहेथो भ्रातुरथो पितुः॥ २॥

अर्थ—(राजन्) हे राजमान अर्थात् शोभायमान[2] [वर] (एषा कन्या) यह कन्या (ते वधूः) तेरी वधू अर्थात् विवाहयोग्या पत्नी है, (यम) हे संयमी वर! (निधूयताम्) इसे नितरां कम्पित कर, इसके पितृगृह से संचालित कर। (सा) वह (मातुः) तेरी माता के, (अथो) तथा (भ्रातुः) भाई के, (अथो) तथा (पितुः) पिता के (गृहे) घर में (बध्यताम्) दृढ़तया संबद्ध रहे।

[अभिप्राय; यह तेरी वधू हुई है। इसके साथ ऐसा सद्व्यवहार करना कि यह तेरी माता, भाई तथा पिता के घर दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध रहे। विवाह के पश्चात् वर-वधू अपने नये घर में स्वेच्छापूर्वक रहते हैं। वधू, वर के माता आदि के घर जाती रहे, इसके लिए माता, पिता, भाई द्वारा वधू के साथ सद्व्यवहार रहना चाहिए। वरः=वरणीयः, वधूः=प्रापणीया, **वह प्रापणे,** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—यमः॥ छन्दः—चतुष्पदा विराडनुष्टुप्॥

एषा ते कुलपा राजन्तामु ते परि दद्मसि। ज्योक्पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात्॥ ३॥

अर्थ—(राजन्) राजमान अर्थात् शोभायमान हे वर! (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपा) कुल

---

१. जैसे महाबुध्न पर्वत पृथिवी में अविचल रूप में रहता है, वैसे वधू पतिगृह में अविचलरूप में रहे।

२. वर विवाहार्थ माला, मुकुट आदि द्वारा शोभायमान होता है।

की रक्षिका है, (ताम् उ) उसे (ते) तुझे (परिदद्मसि) हम कन्या के सम्बन्धी समर्पित करते हैं। (ज्योक्) चिरकाल तक (पितृषु) तेरे पिता आदि में (आसातै) निवास करे और (शीर्ष्णः) सिर अर्थात् विचार से (शम्) सुख का (ओप्यात्) बीज बोए, उसका विस्तार[1] करे। डुवप बीजसन्ताने छेदने च (भ्वादिः) चिरकाल तक अर्थात् जब तक वह चाहे, अर्थात् वैराग्य हो जाने से पूर्वकाल तक। वैराग्य हो जाने पर विवाहिता स्त्री भी गृह परित्याग का अधिकार रखती है। यथा "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा ब्रह्मचर्यादेव वा प्रव्रजेत्" (जाबालोपनिषद् खण्ड ४)। स्त्रियों को भी प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास का अधिकार है। यथा "अथ जिर्विः[2] विदथमा वदासि" (अथर्व० १४.१.२१) गृहाद्वा द्वारा स्त्रियों के लिए श्वशुरगृह भी समझना चाहिए। विदथम्=ज्ञानम्।

[ओप्यात्=आवपनात्, वपनं छेदनम्, डुवप बीजसन्ताने छेदने च (भ्वादिः)।

कुलपाः=सन्तानोत्पादन द्वारा कुल परम्परा की रक्षिका। सिर के न वपन का अवधिकाल है जब तक कि पत्नी संन्यास ग्रहण न करे। संन्यासकाल में सिर के केशों का वपन होता है—यह प्रथा है। उस संन्यासकाल में वृद्धा स्त्री भी संन्यास ग्रहण कर ज्ञानोपदेश करती है। यथा "**अथ जिर्विर्विदथमा वदासि**" (अथर्व० १४.१.२१)। यह प्रथा पुरुष के लिए भी है (अथर्व० ८.१.६)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोपि नह्यामि ते भगम्॥ ४॥

अर्थ—(असितस्य) बन्धन रहित अर्थात् सर्वव्यापक के, (कश्यपस्य) सर्वद्रष्टा के, (गयस्य च) और प्राणरूप परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेद द्वारा, अर्थात् वेदोपदेश द्वारा (ते) तेरे लिए [हे वर!] (भगम्) कन्या के सौभाग्य को (अपि) भी (नह्यामि) मैं बाँधता हूँ, दृढ़बद्ध करता हूँ। (जामयः) स्त्रियाँ (अन्तः कोशम् इव) छिपे ख़ज़ाने के सदृश हैं।

[नह्यामि द्वारा कन्याप्रदाता कन्या का दृढ़ बन्धन वर के साथ करता है। वह प्रदाता कन्या का पिता है। स्त्रियाँ सद्गुणों में, छिपे-कोश के सदृश हैं। अतः उनकी रक्षा यत्नपूर्वक होनी चाहिए।]

सूक्त १५

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप् (भुरिग्बृहती)**॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥ १॥

अर्थ—(सिन्धवः) स्यन्दनशील नदियाँ (सम् सम्) परस्पर संगत हुए, परस्पर मिले जलों समेत (स्रवन्तु) स्रवित हों, प्रवाहित हों, (वाताः) गमनशील वायुएँ (सम्) परस्पर मिलकर स्रवित हों, (पतत्रिणः सम्) पक्षियों के सदृश परस्पर मिलकर उड़नेवाले व्यावहारिक वायुयान उड़ें। (प्रदिवः)

---

१. बीज बोने के लिए खेत में उसका विस्तार करना होता है।

२. प्रव्रज्या तो जब भी वैराग्य हो जाए तब हो सकती है, परन्तु ज्ञानोपदेश का अधिकार जरावस्था में ही है, जबकि वह अनुभवी हो जाए। इससे पूर्व वैरागी विरक्ता गृह में निवास करे, चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष (अथर्व० ८.१.६)।

प्रज्ञानी व्यवहारी (मे इमम् यज्ञम्) मेरे इस व्यावहारिक-यज्ञ को (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवित करें। (संस्राव्येण हविषा) परस्पर मिलकर एकत्रित हुई हविः द्वारा (जुहोमि) मैं राष्ट्रपति यज्ञ करता हूँ।

[यह यज्ञ है व्यापारिक-यज्ञ। राष्ट्रपति इस यज्ञ को करता है। वह परस्पर सहयोगियों द्वारा धनसंग्रह करता है, यह संस्राव्य-हविः है, पारस्परिक दान रूपी हवि है। व्यापारिक[१]-वायुयानों द्वारा यह यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। ये यान पक्षियों की आकृतिवाले, अर्थात् पंखोंवाले होते हैं। प्रदिवः=प्रज्ञानी व्यवहारी "प्र+दिवः" **दिवु क्रीडाविजीगीषा "व्यवहार"** आदि (दिवादिः)। संस्राव्य-हवि का स्वरूप मन्त्र (३ और ४) में स्पष्ट है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः**॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।

इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन्तिष्ठतु या रयिः॥ २॥

अर्थ—हे व्यापारियो! (इह एव) इस व्यापारिक स्थान में ही (मे हवम्) मेरे आह्वान को उद्दिष्ट करके (आ यात) आओ। (इह) इस व्यापारिक स्थान में (संस्रावणाः) संस्राव्य-हवियाँ हैं, एकत्रित की गई हैं। (उत) तथा (गिरः) अपनी-अपनी वाणियाँ अर्थात् विचार (इमम्) इस व्यापारी का (वर्धयत) संवर्धन करें। (इह एतु) यहाँ आएँ (यः) जोकि (सर्वः) सब (पशुः) पशु[२] हैं [व्यापार कर्म में सहायक] (अस्मिन्) इस व्यापाराध्यक्ष में (तिष्ठतु) स्थित रहे (या) जोकि (रयिः) व्यापारिक सम्पत्ति है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः। तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥ ३॥

अर्थ—(नदीनाम्) नदियों के (ये) जो (उत्सासः) उत्स (संस्रवन्ति) प्रवाहित होते हैं (सदम्) सदा (अक्षिताः) न क्षीण हुए, (तेभिः) उन सब (संस्रावैः) प्रवाहों द्वारा (मे) मुझ व्यापाराध्यक्ष के (धनम्) सम्पत्ति को (संस्रावयामसि) हम मिलकर प्रवाहित करते हैं। उत्सासः=नदियों के उद्गम स्थान अर्थात् स्रोत जहाँ से नदियों का उद्गम होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च। तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥ ४॥

अर्थ—(ये) जो उत्साः (सर्पिषः) आज्य के, (च क्षीरस्य) और दूध के, (उदकस्य च) और उदक के (संस्रवन्ति) सम्यक् प्रवाहित होते हैं, (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन मेरे सब संस्रावों अर्थात् प्रवाहों द्वारा, (धनम्) धन को (संस्रावयामसि) हम परस्पर मिलकर प्रवाहित करते हैं, प्रभूत रूप में पैदा करते हैं।

[सर्पिः, दूध द्वारा तथा पशुओं की सहायता द्वारा कूपों से उद्धृत उदक के सेचन से प्राप्त, कृष्यन्न तो, स्वयं धन रूप हैं तथा इनके विक्रय से भी धनप्राप्ति होती है।]

---

१. व्यापारिक वायुयानों के स्वरूपज्ञानार्थ, देखो (अथर्व० ३.१५.१-६)।

२. पशुसमूहः। वैदिक दृष्टि में सर्वपशु पञ्चविध हैं, जो कि धनार्जन में उत्स रूप हैं। यथा "**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावः अश्वाः पुरुषाः अजावयः**" (अथर्व० १०.२.९)। पुरुषों को भी पशु कहते हैं। ये श्रमिक रूप हैं जोकि मित्रादि से प्रेरित न होकर परबुद्धि से प्रेरित होकर धनार्जन में सहायक होते हैं, (मन्त्र ४)।

सूक्त १६

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

येमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्रिणः।

अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्॥ १ ॥

अर्थ—(ये) जो (अत्रिणः) भक्षक चोर-डाकू या शत्रु सैनिकों का (व्राजम्) समूह, (अमावास्यां रात्रिम्) अमावास्या की रात्रि को निमित्त करके (उदस्थुः) उत्थान करते हैं [आक्रमण करने के लिए], (सः) वह (यातुहा) यातनाकारियों का हनन करनेवाला, (तुरीयः) तुरीयावस्था का परमेश्वर, (अग्निः) जो कि अग्निवत् प्रकाशस्वरूप है, (अस्मभ्यम्) हमें (अधि ब्रवत्) स्वाधिकारपूर्वक इसका उपदेश करे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**वरुणः, अग्निः, इन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम्॥ २ ॥

अर्थ—(सीसाय) सीसे के प्रयोग के लिए (वरुणः[१]) राष्ट्र के पति ने (अध्याह) अधिकारपूर्वक कहा है, (सीसाय) सीसे के प्रयोग के लिए (अग्निः) अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री (उपावति) स्वयं उपस्थित होकर हमारी रक्षा करता है। (इन्द्रः[१]) सम्राट् ने (मे) मुझ प्रजाजन को (सीसम्, प्रायच्छत्) सीसा प्रदान किया है, (अङ्ग) हे प्रिय! (तत्) वह सीसा (यातुचातनम्) यातनाकारियों का नाशक है। (चातयतिर्नाशने), (निरुक्त ६.६.३०) सीस=Lead धातु।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ ३ ॥

अर्थ—(इदम्) यह सीस (विष्कन्धम्) गति के प्रतिबन्धक अर्थात् विघ्न करनेवाले का (सहते) पराभव करता है, (इदम्) यह सीस (अत्रिणः) परभक्षिकों का (बाधते) बद्ध करता है, हनन करता है। (अनेन) इस सीस द्वारा (विश्वा=विश्वानि) सबको (ससहे) मैं पराभूत करता हूँ (या=यानि) जितनी कि (पिशाच्याः) पिशाचों की (जातानि) जातियाँ हैं, उत्पत्तियाँ हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोसो अवीरहा॥ ४ ॥

अर्थ—(यदि) यदि (नः) हमारी (गाम्) गौ की (हंसि) तू हिंसा करता है, (यदि अश्वम्) यदि अश्व की, (यदि पूरुषम्) और यदि पुरुष [की हिंसा करता है] तो (तम् त्वा) उस तुझको (सीसेन) सीसे की गोली से (विध्यामः) हम वींधते हैं, (यथा) जिस प्रकार से (नो असः) न तू हो (अवीरहा) अवीरजन का हनन करनेवाला।[१]

---

१. **इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा** (यजुः० ८.३७)। सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति और वरुण है एक राष्ट्र का अधिपति और अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री।

[विध्यामः पद द्वारा वींधने का कथन हुआ है, जिससे यह सीस है, सीसे की गोली।]

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

अनुवाक ४

सूक्त १७

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥ १॥

अर्थ—(योषितः) स्त्री की (लोहितवाससः) रक्त की निवासभूत (अमूः याः) वे जो (हिराः) सिराएँ (यन्ति) गति करती हैं, वे (तिष्ठन्तु) ठहर जाएँ, गतिरहित हो जाएँ, (हतवर्चसः) निज तेज से विहीन हुईं। (इव) जैसे कि (अभ्रातरः जामयः) भाई बिना बहिनें (तिष्ठन्तु) निज गृह में ही स्थित रहती हैं।

[हिराः=सिराएँ, जो कि अशुद्ध रक्त को बहाती हैं, इन्हें (Veins) कहते हैं। इनमें अशुद्ध रक्त सरण करता है, शनैः-शनैः गति करता है। सिराः=हिराः, यथा सिन्धु=हिन्दु। भाईरहित बहिनें पितृकुल में ही रहकर स्वपति के साथ निवास कर पितृकुल का संवर्धन करती हैं। ऐसे पति को गृहजामाता कहते हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।

कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही॥ २॥

अर्थ—(अवरे) शरीर के अधोभाग में वर्तमान हे धमनि! (तिष्ठ) तू यथा-स्थान स्थित रह, (परे) ऊर्ध्वाङ्ग में वर्तमान हे धमनि! (उत) तथा (मध्यमे) मध्यमाङ्ग में वर्तमान हे धमनि! (त्वम्) तू (तिष्ठ) यथास्थान में स्थित रह। (कनिष्ठिका च) और सबसे छोटी अर्थात् सूक्ष्मतरा धमनि (तिष्ठति) तो स्वस्थान में स्थित रहती ही है, (मही धमनिः) सबसे बड़ी धमनि (तिष्ठात् इत्) भी स्वस्थान में स्थित रहे।

[मन्त्र (१) में तो सिराओं का वर्णन हुआ है। मन्त्र (२) में धमनियों का। ये धम-धम में हिलती हुई गति करती हैं, ये हाथ की कलाई में हैं अँगूठे के नीचे, जिन द्वारा स्वास्थ्य और शरीर के तापमान की परख की जाती है। हृदय की गति के कारण धमनियों में धम-धम की गति होती है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्। अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत॥ ३॥

अर्थ—(शतस्य धमनीनाम्) सौ धमनियों की नाड़ियाँ और (सहस्रस्य हिराणाम्) हजार हिराओं अर्थात् सिराओं की (अस्थुः इत्) स्व-स्व स्थान में स्थित ही हैं। (इमाः मध्यमाः) इन दो प्रकार की नाड़ियों के मध्यगत नाड़ियाँ भी स्व-स्व स्थान में स्थित ही हैं। (साकम्) साथ ही, (अन्ताः) अवशिष्ट नाड़ियाँ भी (अरंसत) यथापूर्व रमण कर रही हैं। अर्थात् ये सब प्रकार की नाड़ियाँ स्व-स्व स्थान में रमण कर रही हैं, स्व-स्व स्थान से प्रच्युत नहीं हुईं।

---

१. वीर हैं सैनिक; अवीर हैं गौ, अश्व तथा प्रजा के पुरुष आदि।

[शतस्य="**शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानं अभिनिःसृतैका**" (कठ उप० ६.१६)। सहस्रम्="**अत्रैतद् एकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा-नाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति**"[१] (प्रश्नोपनिषद् ३.६)। धमनियों की नाड़ियाँ नडवत् खोखली होती हैं, जिनमें रक्त गति करता है और सहस्रम् द्वारा सुषुम्णा से निर्गत हजारों ज्ञान-वाहिनी तथा क्रियावाहिनी सूक्ष्म तन्तुओं का वर्णन अभिप्रेत है, इन्हें Nerves कहते हैं, ये तन्तु की तरह कठोर होती हैं, नाड़ियों की तरह खोखली नहीं। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक सायण ने उद्धृत किया है—

मध्यस्थायाः सुषुम्णायाः पर्वपञ्चकसंभवाः।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरा लक्षत्रयात् परम्।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः॥

सुषुम्णा[२] लगभग एक फुट लम्बी होती है और स्थूलकाय होती है और पाँच पर्वों अर्थात् केन्द्रों में विभक्त होती है। कुण्डलिनी सर्पिणी प्रथम पर्व या केन्द्र है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च**॥ छन्दः—**त्रिपदार्षी गायत्री**॥

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत्। तिष्ठतेलयता सु कम्॥ ४॥

अर्थ—(वः) तुम्हारे (परि) सब ओर (सिकतावती) सिकतावाली (बृहती) बड़ी (धनूः) धनुष् की आकृतिवाली अर्थात् वक्रा नाड़ी ने (अक्रमीत्) पाद-विक्षेप किया है। (तिष्ठत) तुम स्व-स्थानों में स्थित रहो, और (सु) अच्छे प्रकार से (कम्) सुखदायी होकर (इलयत) गति करती रहो और कम्पित होती रहो।

[सिकतावती=सिकता रजाँसि, रजस्वला स्त्री के रजोधर्म की आधारभूता नाड़ी, यद्वा अश्मरी नामक व्याधि विशेषवाली नाड़ी (सायण)। मन्त्र का अभिप्राय अस्पष्ट है। इलयत=**ईर गतौ कम्पने च** (अदादिः)। अथवा **इल प्रेरणे** (चुरादिः)। अश्मरी व्याधि=वस्ति अर्थात् मूत्राशय [Bladder] में की पत्थरी। धनूः=**मूत्राशयो धनुर्वक्रो वस्तिरित्यभिधीयते** (सायण)।]

सूक्त १८

ऋषिः—**द्रविणोदाः**॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं निररातिं सुवामसि।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि॥ १॥

अर्थ—(ललाम्यम्) ललाट अर्थात् मस्तक में हुए (लक्ष्म्यम्) दुष्ट दुर्लक्षण को (निः) निकाल देते हैं, और (अरातिम्) शत्रुरूप अन्य दुर्लक्षण को भी (निः सुवामसि) हम निकाल देते हैं। (अथ) तदनन्तर (या भद्रा=यानि भद्राणि) जो कल्याणकारी तथा सुखप्रद लक्षण हैं (तानि) उन्हें (नः प्रजायै) अपनी प्रजा [सन्तान] के लिए (नयामसि) हम प्राप्त कराते हैं, और (अरातिम्) शत्रुरूप दुर्लक्षण को (नयामसि)

---

१. व्यानः सर्वशरीरगः।

२. सुषुम्णा=सु+सुम्नं सुखनाम (निघं० ३.६)। मध्यस्था=यह सुषुम्णा पीठ के मध्यभाग में स्थित है। पञ्चपर्वा=सुषुम्णा के ५ पर्व, अर्थात् केन्द्र होते हैं। एक केन्द्र पेट को नर्व अर्थात् "ज्ञान और क्रिया तन्तु" प्रदान करता है। दूसरा केन्द्र हृदय को, तीसरा फेफड़ों को, चौथा कण्ठ को, पाँचवाँ मस्तिष्क को ज्ञान और क्रिया तन्तु प्रदान करता है।

हम शत्रु को प्राप्त कराते हैं। लक्ष्म्यम्=**लक्ष दर्शनाङ्कनयोः** (भ्वादिः)।

[मस्तक स्थान विचार का है, अतः दुर्लक्षण का अभिप्राय है दुर्विचार। नयामसि **णीञ् प्रापणे** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥

निररणिं सविता साविषक्पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा।

निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय॥ २॥

अर्थ—(सविता) वधू का प्रसवकर्त्ता पिता (पदोः) तेरे पैरों से (अरणिम्) अरमणीया चेष्टा को (निः साविषक्=निःसाविषत्) निकल जाने को प्रेरित करे, (हस्तयोः) हाथों से (निः) निकल जाने को प्रेरित करे (वरुणः)[१] वरण करनेवाला (मित्रः) स्नेही (अर्यमा) न्यायी [तेरा पति]। (अनुमतिः) आचार्यदेव के अनुकूल मतिवाली पत्नी (निः) अरमणीया चेष्टा को निकाल कर (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (रराणा) तुझे प्रदान करनेवाली हो। (देवाः) दिव्यगुणी अन्य सम्बन्धियों ने (इमाम्) इस वधू को (सौभगाय) हमारे सौभाग्य के लिए (प्र असाविषुः) प्रेरित किया है। हमारे="वर के सम्बन्धियों के सौभाग्य के लिए"।

[मन्त्र में विवाहित वधू का वर्णन प्रतीत होता है। अनुमति है देवपत्नी। यथा "**अनुमतिः राकेति देवपत्न्यौ इति नैरुक्ताः**" (निरुक्त ११.३.२९)। वधू जब तक अल्पावस्था की है तब तक उसका पिता उसकी चेष्टाओं को नियन्त्रित करे। पढ़ने अर्थात् विद्याध्ययन के लिए जब वह गुरुकुल में प्रविष्ट हुई है तब उसकी आचार्या उसकी चेष्टाओं का नियन्त्रण करे। विवाह हो जाने पर उसका वरण करनेवाला पति नियन्त्रण करे। निः साविषत्=**षू प्रेरणे** अस्मात् पञ्चमलकारे "**लेटोऽडाटौ**" (अष्टा० ३.४.९४) इति अडागमः। "**सिब्बहुलम्**" (अष्टा० ३.१.३४) इति सिप्। **स च णिद् वक्तव्यः** (वार्त्तिक, अष्टा० ३.१.३४) इति वचनाद् **अचो ञ्णिति** (अष्टा० ७.२.११५) इति वृद्धिः। **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (अष्टा० ७.२.३५) इति सिपः इडागमः (सायण)।]

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिस्त्रिष्टुप्** ॥

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा।

सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु॥ ३॥

अर्थ—[हे वधू!] (ते आत्मनि तन्वाम्) तेरी आत्मा में तथा तनू में या तेरी अपनी तनू में (यत्) जो (घोरम् अस्ति) जो घोर कर्म है, (तद् वा) या जो (केशेषु) केशोपलक्षित सिर में, (वा प्रतिचक्षणे) या प्रत्येक चक्षु में है, (यत् सर्वम्) उस सबको (वयम्) हम [अध्यात्मशक्तिसम्पन्न योगी] (वाचा अपहन्मः) मिलकर वाणी द्वारा नष्ट करते हैं, (सविता देवः) सर्वोत्पादक परमेश्वर देव (त्वा) तुझे (सूदयतु) घोर कर्मों से रहित करे।

[सूदयतु=**षूद क्षरणे** (भ्वादिः), जैसे जल द्वारा मल क्षरित किया जाता है वैसे परमेश्वर, निजकृपा द्वारा तेरे घोरकर्मों को क्षरित कर दे।]

---

१. **वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः** (उणा० ३.५३, दयानन्द)। वर-कन्या का वरण करता है, और कन्या द्वारा वर का वरण किया जाता है [यह अर्थ है आधिभौतिक दृष्टि में, न कि आध्यात्मिक दृष्टि में]।

ऋषि:—**द्रविणोदा:** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।

विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि॥ ४॥

अर्थ—(रिश्यपदीम्) हिरण के पैरोंवाली को, (वृषदतीम्) बैल के सदृश लम्बे दान्तोंवाली को, (गोषेधाम्) गौ के सदृश शनै:-शनै: चलनेवाली को (उत विधमाम्) तथा कल्कारादि विविध शब्द करनेवाली को (सायण) (विलीढ्यम्[१]=बिलीढीम्) विकृत[१] स्वादोंवाली को, (ललाम्यम्=ललामीम्) सौन्दर्य प्रिया को, (ता:) उन सबको (अस्मत्) हम अपने से (नाशयामसि) अदृष्ट करते हैं, इनसे विवाह नहीं करते।

[रिश्यपदीम्=हिरण के सदृश छोटे पैरोंवाली को। गोषेधाम्=गौ+**षिधु गत्याम्** (भ्वादि:)। ललामीम्=जो अपने सौन्दर्य के लिए लगी रहे, अपने को सदा संवारणे में दत्तचित्ता रहे। नाशयामसि=**णश अदर्शने** (दिवादि:)।]

सूक्त १९

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

मा नो विदन्विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्।

आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय॥ १॥

अर्थ—(विव्याधिन:) विविध प्रकार से वेंधनेवाले [शत्रु] (न:) हमें (मा[२]) न (विदन्) जाने तक नहीं, (मो) न (विदन्) जानें (अभिव्याधिन:) सम्मुख हुए वेंधनेवाले। (इन्द्र) हे इन्द्र! (अस्मत्) हमसे (आरात्) दूर (विषूची:) नानाविध अञ्चन अर्थात् गमन करनेवाली (शरव्या) शरसंहती: अर्थात् शरसमूह को (पातय) प्रक्षिप्त कर, फेंक।

[समग्र सूक्त आध्यात्मिक भावनावाला है। तभी इसका ऋषि ब्रह्मा कहा है। ब्रह्मा है चतुर्वेदविज्ञ[३] व्यक्ति। सांसारिक विषय "विव्याधिन:" हैं। हमारे आन्तरिक विषय, अर्थात् मनोगत विषय "अभिव्याधिन:" हैं। दोनों प्रकार के विषय हमें वेधते हैं। इन्द्र द्वारा परमेश्वर अभिप्रेत है, जो कि पापियों के लिए रौद्ररूपवाला है।]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मनुष्येषव:** ॥ छन्द:—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरव: पतन्तु ये अस्ता ये चास्या:।

दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान्वि विध्यत॥ २॥

अर्थ—(अस्मत्) हमसे (विष्वञ्च:) सर्वत्रगामी, (शरव:) हिंसक इषु (ये) जोकि (अस्ता:) फेंके जा चुके हैं, (ये च) और जो (आस्या:) भविष्य में फेंके जानेवाले हैं, (दैवी:) वे दिव्य भावनाएँ रूप इषु (मनुष्येषव:) तथा मननशील मनुष्य के मननरूप मानसिक विचाररूप इषु, (मम अमित्रान्) मेरे

---

१. अथवा विविध प्रकार के आस्वाद चाहनेवाली चटोरी को। वि+**लिह (आस्वादने)** (अदादि:)।

२. **माङर्थक: "मा" शब्द: माङ्प्रतिरूपक:।**

३. **सर्वविद्य: सर्वं वेदितुमर्हति ब्रह्मा परिवृढ: श्रुतत:।** (निरुक्त १.३.८)

साथ स्नेह न करनेवालों को (विविध्यत) विशेषतया वींधो।

[इषु दो प्रकार के हैं—दैवी तथा मननशील मनुष्य के मानसिक मननरूप। ये दोनों अमित्ररूप—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को वींधते हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति।

रुद्रः शरव्ययैतान्ममामित्रान्वि विध्यतु॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो (नः) हमारा (स्वः) अपना अर्थात् मानसिक [शत्रु] है, (यः) जो (अरणः) पर प्राप्त [शत्रु] है, (सजातः) जो समानकुलोत्पन्न है, (उत) तथा (निष्ट्यः) विजातीय कुल से प्राप्त हुआ है, (यः) इनमें से जो भी (अस्मान्) हमें (अभिदासति) उपक्षीण करता है, (रुद्रः) कर्मानुसार रुलानेवाला परमेश्वर (शरव्यया) निज शरसंहति द्वारा (मम) मेरे (एतान्) इन (अमित्रान्) अस्नेही काम, क्रोध आदि को (वि विध्यतु) विविध प्रकार से वींधे।

[अरणः=**अ**+**रण (शब्दे,** भ्वादिः) अर्थात् जिनके साथ हमारा बोलना नहीं है, जिनकी बोली को हम समझते नहीं, अर्थात् परदेशी व्यक्ति। रुद्ररूप परमेश्वर की शरसंहति नानाविध है, नाना रोगरूप तथा नाना कष्टरूप। निष्ट्यः=निस्+त्यप् "**अव्ययात् त्यप्**" (अष्टा० ४.२.१०३)। अभिदासति=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषञ्छपाति नः।

देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ ४॥

अर्थ—(यः) जो शत्रु (सपत्नः) सपत्नीवत् दुःखदायक है, (यः) जो (असपत्नः) सपत्नी से भिन्न साधन से प्राप्त हुआ है, (यः च) और जो शत्रु (द्विषन्) हमारे साथ अप्रीति करता हुआ, (नः) हमारे लिए (शपाति) शापरूप है, (तम्) उस प्रत्येक शत्रु को (सर्वे देवाः) सब दिव्य विचार (धूर्वन्तु) नष्ट करें, (ब्रह्म) परमेश्वर (मम) मेरा (अन्तरम्) आभ्यन्तरिक (वर्म) कवच है। कवचवत् रक्षक है परमेश्वर=उसकी उपासना तथा सदा ध्यान। अतः सूक्त आध्यात्मिक है।[1]

सूक्त २०

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, मरुतश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अदारसृद्भवतु देव सोमास्मिन्यज्ञे मरुतो मृडता नः।

मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या॥ १॥

अर्थ—(देव सोम) हे विजिगीषु सेनानायक! (अस्मिन् यज्ञे) इस युद्धयज्ञ में (अदारसृत्) न विदारण कर सकनेवाले के सदृश हमारी ओर सरण करनेवाला (भवतु) शत्रु[2] हो, (मरुतः) हे मारने में कुशल सैनिको! (नः) हमें (मृडत) सुखी करो। (नः) हमें (अभिभाः) पराभव (मा विदत्) न प्राप्त

१. राष्ट्रिय दृष्टि में सपत्न है निजराष्ट्रोत्पन्न शत्रु, असपत्न है परराष्ट्रोत्पन्न शत्रु। ब्रह्म है ब्रह्मास्त्र अर्थात् महास्त्र। अन्तरम्=अन्तर गुप्त, अभी तक अप्रकाशित।

२. जो हो तो निर्बल परन्तु अपने को प्रबल जानकर हम पर आक्रमण करता है।

हो, (मो अशस्ति) न अप्रशंसा अर्थात् पराभव से प्राप्त निन्दा प्राप्त हो। (मा नो विदत्) न हमें प्राप्त हों (वृजिना=वृजिनानि) पाप[१] (द्वेष्या या=द्वेष्याणि यानि) जो कि हमें अप्रिय हैं।

[सोम=सेना का प्रेरक अर्थात् नायक सेनापति (यजुः० १७.४९)। सोमः=**षू प्रेरणे** (तुदादिः)। देव=**दिवु क्रीडाविजिगीषा०** (दिवादिः)। मरुतः=मारने में कुशल सैनिक (यजुः० १७.४७)। ये हैं तामसास्त्र फेंकने वाले सैनिक। तामसास्त्र शत्रु सैनिकों पर फेंका जाता है, जिससे वहाँ अन्धकार फैल जाता है और वे एक-दूसरे को न पहिचानते हुए, परस्पर का हनन करते हुए, मृत्यु को प्राप्त करते हैं (यजुः० १७.४७)। तथा (यजुः० १७.४०, ४४, ४५, ४७)। तथा (अथर्व० ६.३२.३)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अद्य सेन्यो वधोघायूनामुदीरते। युवं तं मित्रावरुणावस्मद्यावयतं परि॥ २॥

अर्थ—(अद्य) इस दिन [युद्ध में] (अघायूनाम्) पापकर्म, अर्थात् परहत्यारूपी कर्म चाहनेवालों का (यः) जो (सेन्यः वधः) सेनासम्बन्धी वध कर्म (उदीरते) हमारे प्रति उद्गत होता है, उठता है, (तम्) उसे, (मित्रावरुणौ) हे मित्र और वरुण! (युवम्) तुम दोनों (अस्मत् परि) हमसे (यावयतम्) पृथक् कर दो।

[मित्रावरुणौ=मित्र है हमारे साथ सन्धिप्राप्त परराष्ट्र का राजा, और वरुण है हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाला परराष्ट्र का राजा। यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। यावयतम्=**यु मिश्रणे अमिश्रणे च** (अदादिः)। अमिश्रण अभिप्रेत है, अमिश्रण अर्थात् हमारे साथ मिश्रित न होना, हमसे पृथक् रहना।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय। वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ३॥

अर्थ—(वरुण) हे हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाले परराष्ट्र के राजन्! (यत् इतः च) जो इधर से (अमुतः च) और उधर से (वधम्) प्राप्त होने वाले वधकर्म को (यावय) हमसे पृथक् कर। (महत् शर्म) महासुख (वि यच्छ) विशेषरूप में हमें प्रदान कर। (वरीयः वधम्) शत्रु द्वारा प्राप्य उरुतर वध कर्म को (यावय) हमसे पृथक् कर।

[सन्धिप्राप्त मित्र राजा तो सन्धि के कारण महावध कर्म को पृथक् करने में तत्पर रहेगा ही, परन्तु वरुण के सम्बन्ध में निश्चित नहीं कि समय पर वह सहयोग देता है या नहीं, इसलिए उससे विशेष याचना की गई है। इतश्च अमुतश्च द्वारा सन्देह प्रकट किया गया है कि न जाने शत्रु हमारे राष्ट्र के किस ओर से आक्रमण करे, समीप की सीमा हो या दूर की सीमा हो।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन॥ ४॥

अर्थ—(इत्था) सत्य है (महान् शासः) तू महाशासक (असि) है, (अमित्रसाहः) अस्नेहियों का अर्थात् शत्रुओं का पराभव करनेवाला है, (अस्तृतः) और उन द्वारा तू हिंसित नहीं होता। (यस्य सखा) जिसका सखा (न हन्यते) नहीं हिंसित होता, (न) और न (जीयते) वयोहानि को (कदाचन) कभी भी

१. शत्रु द्वारा किये जानेवाले हम पर पापकर्म, हत्यारूप कर्म।

प्राप्त होता है।

[**इत्था सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। साहः=**षह**[1] **मर्षणे** (चुरादिः)। अस्तृतः[2]=अ+**स्तॄञ् आच्छादने** (क्र्यादिः)। आच्छादित होना, पराभूत होना। जीयते=**ज्या वयोहानौ** (क्र्यादिः)। वैदिक राजनीति इन्द्र अर्थात् सम्राट् और वरुण अर्थात् एक-एक राष्ट्र के पति का परस्पर सम्बन्ध है। अतः मन्त्र (३) में वर्णित वरुण द्वारा मन्त्र (४) में इन्द्र अर्थात् सम्राट् आक्षिप्त हुआ है, अतः मन्त्र (४) में सम्राट् को ही "सत्य" अर्थात् वास्तविक शासक कहा है।]

सूक्त २१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः॥ १॥

अर्थ—(स्वस्तिदाः) कल्याणदाता, (विशांपतिः) प्रजाओं का पति (वृत्रहा) घेरा डालनेवाले शत्रु का हनन करनेवाला, (विमृधः) शत्रुओं की विविध प्रकार से हिंसा करनेवाला, (वशी) शत्रुओं को निजवश में करनेवाला, (वृषा) सुखों की वर्षा करनेवाला, (सोमपाः) सेनाप्रेरक सेनानायक का रक्षक, (अभयंकरः) निर्भय करनेवाला, (इन्द्रः) सम्राट् (नः पुरः एतु) हमारा अगुआ हो।

[विमृधः=**मृध हिंसायाम्** (भ्वादिः)। सोम=सेनानायक (यजुः० १७.४०)। वृत्रहा=**वृञ् आवरणे** (चुरादिः)। इन्द्रः=**इन्द्रश्च सम्राट्** (यजुः० ८.३७)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति॥ २॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (नः मृधः) हमारे [साथ] संग्राम करनेवालों का (विजहि) विनाश कर, (पृतन्यतः) निज पृतना अर्थात् निज सेनाएँ चाहनेवालों को (नीचा यच्छ) हमारे नीचे नियन्त्रित कर। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें नष्ट करता है उसे (अधमम्) निकृष्ट (तमः) अन्धकार (गमय) प्राप्त करा।

[अधमम् तमः=भूमि के नीचे अन्धकारमयी जेलों में प्राप्त करा।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥ ३॥

अर्थ—(रक्षः) राक्षस स्वभाववाले शत्रु राजा का (विजहि) हनन कर, (मृधः) उसके संग्राम करनेवाले सैनिकों का (वि जहि) हनन कर, (वृत्रस्य) हमें घेरनेवाले सेनापति की (हनू) दोनों हनुओं का (रुज) भंग कर। (वृत्रहन्) हम पर घेरा डालनेवाले का हनन करनेवाले, (अभिदासतः) हमारा

---

१. **षह अभिभवे** (सायण)।

२. अस्तृतः में ह्रस्व ऋकारान्त के प्रयोग से "स्तृ" धातु भी वेदानुमोदित है। सायण में "स्तृ" ह्रस्व ऋकारान्त ही पाठ है "**स्तृञ् हिंसायाम्**"।

उपक्षय करनेवाले (अमित्रस्य) शत्रु के (मन्युम्) क्रोध को (इन्द्र) हे सम्राट्! (वि) विगत कर। अथवा विरुज:; **रुजो भंगे** (तुदादि:)।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोप जिज्यासतो वधम्।

वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (द्विषत:) द्वेष करनेवाले के (मन:) मन अर्थात् विचार को (अप) अपगत कर, (जिज्यासत:) हमारी वयोहानि चाहनेवाले के (वधम्) वधकारी आयुध को या मन के विचार का (अप) अपगत कर दे। (महत् शर्म वि यच्छ) और महासुख विशेषरूप में हमें प्रदान कर। (वरीय:) उरुतर (वधम्) वध को (यावय) हमसे पृथक् कर।

[मन्त्र में वधम् के दो अर्थ प्रतीत होते हैं, वध अर्थात् हनन तथा वध का साधन आयुध। **शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६), तथा **गृहनाम** (निघं० ३.४), गृह का अभिप्राय है आश्रय।]

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ५

सूक्त २२

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्य:, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि॥ १॥

अर्थ—(अनु सूर्यम्) सूर्य के उदय तथा अस्त होने के अनुसार (ते) तेरा (हृद्-द्योत:) हृदय का सन्ताप, (च) और (हरिमा) पीलापन अर्थात् कामला रोग [ये दोनों] (उदयताम्) उड़ जाएँ। (तेन) उस (रोहितस्य गो: वर्णेन) लाल सूर्य के वर्ण द्वारा (त्वा) तुझे (परिदध्मसि) हम ढाँपते हैं।

[गौ:=**आदित्योऽपि गौरुच्यते "उताद: परुषे गवि"** (ऋ० ६.५६.३); तथा (निरुक्त २.२.६)। प्रात: तथा सायम् सूर्य की रश्मियाँ लाल होती हैं, यथा (अथर्ववेदभाष्य २.३२.१)। हृद-द्योत:, हरिमा=ये दोनों रोग हृदय के खून की विकृति के कारण होते हैं।]

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्य:, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि। यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत्॥ २॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (दीर्घायु[१]त्वाय) दीर्घ आयु के लिए, (रोहितै:) लाल रश्मियों के (वर्णै:) वर्णों द्वारा (परिदध्मसि) हम ढाँपते हैं। (यथा) जिस प्रकार कि (अयम्) यह (अरपा:) पापजन्यरोग से रहित (असत्) हो, (अथो) तथा (अहरित:) पीलेपन[२] से रहित (भुवत्) हो।

[असत्, भुवत्=दोनों पद लेट् लकार के हैं, अत: दोनों में अडागम हुआ है।]

---

१. आयु पद "उकारान्त" तथा आयुस् "सकारान्त" दोनों ठीक हैं।

२. इस पीलेपन को jaundica कहते हैं। इस रोग में आँखों तथा त्वचा पर पीलापन हो जाता है। पीलापन पित्त की विकृति के कारण होता है। आयुर्वेद में इसे कामला कहते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः।

रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

अर्थ—(याः) जो (देवत्याः रोहिणीः) दैवी लाल (गावः) रश्मियाँ हैं, (उत) तथा (याः) जो (रोहिणीः) मानुषी लाल रश्मियाँ हैं, (त्वा रूपम्, रूपम्) तेरे प्रत्येक रूप को, (वयः वयः) तथा प्रत्येक वयस् अर्थात् बाल, युवा, तथा वृद्धावस्था को, (ताभिः) उन रश्मियों द्वारा (परि दध्मसि) हम ढाँपते हैं। इन अवस्थाओं में प्रकट विकृतियों के निराकरण के लिए।

[देवत्याः=सूर्यसम्बन्धी लाल रश्मियाँ, तथा रोहिणीः अर्थात् मनुष्योत्पादित कृत्रिम लाल रश्मियाँ। रूपम् रूपम्=प्रत्येक वयः अर्थात् शरीरावस्था में प्रकट नया-नया रूप, अर्थात् बाल, युवा, तथा वृद्धावस्था के वयस् में प्रकट विकृत नया-नया रूप रोग। ताभिः यद्यपि स्त्रीलिङ्गी प्रयोग है, यह गो पद की दृष्टि से है। गो पद गौओं और बैलों इन दोनों में प्रयुक्त होता है। गो पद प्रायः स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है (आप्टेकोष)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि। अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ—(ते) तेरे (हरिमाणम्) हरेपन को (सुकेषु=शुकेषु) सिरीष वृक्षों में, (रोपणाकासु) तथा रोपण करनेवाली लताओं में (दध्मसि) हम स्थापित करते हैं। (अथो) तथा (हारिद्रवेषु) हरिद्रु अर्थात् हरिद्रा अर्थात् हरड़ के आयुर्वैदिक योगों में (ते हरिमाणम्) तेरे हरेपन को (नि दध्मसि) हम निहित करते हैं।

[हरित् पद पीतवर्ण के लिए भी प्रयुक्त होता है (आप्टे कोष)। अतः हरिमा पद सम्भवतः पीतार्थक हो। तथा पीत ही कालान्तर में हरे वर्ण में परिणत हो जाता है। गाढ़ा पीतवर्ण ही सूर्यरश्मियों के सन्निधान में हरा हो जाता है। रोपणाकासु=**रोपणं कुर्वन्तीति रोपणाकाः लताः, तासु**। रोपण=चिकित्सा करना। सिरीषवृक्ष सम्भवतः हरेपन की औषध हो। सिरीष का अभिप्राय है इसकी जड़, फूल, पत्ते तथा स्वरस आदि।]

सूक्त २३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नक्तञ्जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

अर्थ—(ओषधे) हे ओषधि! (नक्तम् जाता असि) रात्री में पैदा तू हुई है, (रामे, कृष्णे, असिक्नि च) हे कुछ काली, काली, तथा असिता। (रजनि) हे रञ्जन करनेवाली! (इदम्) इसे (यत्) जोकि (किलासम्) श्वेतकुष्ठ है (च पलितम्) और केशों का श्वेतपन है, उसे (रजय) रञ्जित कर।

[कौशिक सूत्रों में केवल असिक्नी का वर्णन हुआ है। सायण के अनुसार "ओषधि" हरिद्रा अर्थात् हरड़ है; रामा है भृङ्गराज ओषधि; कृष्णा है इन्द्रवारुणी; असिक्नी है नील। रजनि और रजय=**रञ्ज रागे** (भ्वादिः), तथा (दिवादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कि॒लासं॑ च पलि॒तं च॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त्।

आ त्वा॒ स्वो वि॑शतां॒ वर्णः॒ परा॑ शु॒क्लानि॑ पातय॥ २॥

अर्थ—(पृषत्) सिंचित हुए (किलासम् च) श्वेत कुष्ठ रोग को, (पलितम् च) और सुफेद केशों को, (इतः) इस रुग्ण से (निर् नाशय) निरवशेष नष्ट कर। (त्वा स्वः वर्णः) हे रुग्ण! तुझे अपना स्वाभाविक वर्ण (आ विशताम्) प्रविष्ट हो, (शुक्लानि परापातय) हे ओषधि तू शुक्लवर्णों को पराङ्मुख करके उनका पतन कर।

[पृषत्[1]=**पृषु सेचने** (भ्वादिः)। श्वेत कुष्ठ पककर जब उससे पीप का स्राव होता हो।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असि॑तं ते प्र॒लय॑नमा॒स्थान॒मसि॑तं॒ तव॑। असि॑क्न्यस्योषधे॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त्॥ ३॥

अर्थ—(ते) तेरी [जड़] के (प्रलयनम्) लीन होने अर्थात् छिपने का स्थान (असितम्) सित नहीं है, (तव) तेरा (आस्थानम्) स्थित होने का स्थान (असितम्) सित नहीं है। (ओषधे) हे ओषधि! (असिक्नी असि) तू भी असिक्नी है, सिता नहीं है। (इतः) इस रुग्ण से (पृषत्) सिंचित हुए श्वेत कुष्ठ को (निर् नाशय) निरवशेष रूप में तू विनष्ट कर।

[ओषधि की जड़ काले स्थान पृथिवी के स्तर से नीचे है, वह सित नहीं है। तथा ओषधि की शाखाप्रशाखा के फैलने का स्थान भी पृथिवी का उपरिस्थल है, जोकि सित नहीं है। तथा ओषधि स्वयम् भी सिता नहीं है। असिक्नी=अशुक्ला (निरुक्त ६.८.२)। अशुक्ला=असिता, **सितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम्** (निरुक्त ९.३.२६)। निरुक्त में असिक्नी पद यद्यपि नदीवाचक है, और अथर्ववेद में रोगवाचक है, तथापि दोनों स्थानों में यौगिकार्थ समान ही है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒स्थि॒जस्य॑ कि॒लास॑स्य तनू॒जस्य॑ च॒ यत्त्व॒चि।

दूष्या॑ कृ॒तस्य॒ ब्रह्म॑णा॒ लक्ष्म॑ श्वे॒तम॑नीनशम्॥ ४॥

अर्थ—(अस्थिजस्य) अस्थि में उत्पन्न हुए, (तनूजस्य) तनू में उत्पन्न हुए, (च) और (यत्) जो (त्वचि) त्वचा में हुए, (दूष्या) दूषित कृति द्वारा (कृतस्य) किये गये, (किलासस्य) किलास नामक (श्वेतम्) श्वेत-कुष्ठ रूपी (लक्ष्म) चिह्न को, (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है।

[दूषित कृति=दूषित अर्थात् बुरा कर्म। अनीनशम्=**णश अदर्शने,** लुङ् लकार, च्लि को चङ्।]

विशेष वक्तव्य—कौशिक सूत्रानुसार सूक्त का देवता असिक्नी है। अतः सूक्त का देवता एक ही है। अतः मन्त्र (१) में रामे और कृष्णे पद असिक्नी के ही विशेषण हैं। सायण ने इन्हें पृथक्-पृथक् औषधियाँ माना है। "रजनी" पृथक् ओषधि प्रतीत होती है, जिसे कि कौशिक-विनियोग में वनस्पति पद द्वारा दर्शाया है। मन्त्र (३) में भी असिक्नी को ही ओषधि कहा है, रामे कृष्णे को स्वतन्त्र रूप में पृथक्-

---

१. पृषत्—बिन्दु या बिन्दुसमूह। प्रकरणानुसार श्वेतकुष्ठ के। पृषत् (उणादि २.८५; ३.१११)। **पृषु सेचने** (भ्वादिः) **पर्षति सिंचति तत् पृषत्** (२.८५, उणादिः दयानन्द)।

पृथक् वर्णित नहीं किया।

सूक्त २४

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥ १ ॥

अर्थ—(सुपर्णः) उत्तम पर्णों अर्थात् पंखोंवाला [गरुड़] (प्रथमः) आदिभूत हुआ, अथवा (प्रथमः प्रतमः) प्रकृष्टतम अति प्रकृष्ट, (जातः) उत्पन्न हुआ, (तस्य) उसकी (त्वम्) तू [हे ओषधि!] (पित्तम्) पित्तरूप (आसिथ) हुई थी। (तत्) वह पित्त (आसुरी) प्राणवान् मनुष्य की शक्तिरूपा हुआ, (युधा) उसने युद्ध द्वारा (जिता)[१] किलास रोग पर विजय पाई और (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (रूपम्)[२] निज पित्त रूप (चक्रे) कर लिया।

[अभिप्राय यह कि गरुड़ पक्षी के शरीर से प्रथम या प्रकृष्टतम पित्त पैदा हुआ था। वह पित्त आसुरी शक्तिरूप हुआ। आसुरी=**असुरत्वम् प्राणवत्त्वम्** (अनवत्वम्), **अन प्राणने** (अदादिः)। (निरुक्त १०.३.३४) वह आसुरी शक्ति है वनस्पतियाँ, रोगनिवारक ओषधियाँ।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत् पथ्या पङ्क्तिः** ॥

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत्किलासं सरूपामकरत्त्वचम्॥ २ ॥

अर्थ—(आसुरी) मन्त्र (१) में कथित प्राणवान् मनुष्य का शक्तिरूप पित्त (प्रथमा) मुख्य शक्तिरूप हुआ, इसने (इदम्) इस (किलासभेषजम्) किलासौषध को (चक्रे) उत्पन्न किया [अर्थात् वह किलास का मुख्य भेषज हुआ], (इदम्) यह पित्त (किलासनाशनम्) किलास का नाशक हुआ। (अनीनशत् किलासम्) इसने किलास को नष्ट किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपाम्) समानरूपवाली (अकरत्) कर दिया। अर्थात् किलास[३] को नष्ट कर समग्र त्वचा को समानरूपवाली कर दिया। एकरूपवाली कर दिया [अर्थात् किलास के चिह्नों को भी मिटा दिया।]

[मन्त्र में आसुरी और पित्तम् को पर्यायवाची रूप में वर्णित किया है। अतः दोनों में लिङ्गभेद की उपेक्षा हुई है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता। सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥ ३ ॥

अर्थ—(ते माता) तेरी माता (सरूपा) समान अर्थात् एकरूपवाली (नाम) प्रसिद्ध है, (ते पिता)

---

१. **जितवती, जि जये अस्मात् कर्त्तरि क्तः** (सायण)।

२. अर्थात् वनस्पतियाँ भी पित्त का काम करती हैं। पित्त द्वारा भुक्तान्न का परिपाक होता है। पित्त के क्षीण हो जाने पर वनस्पतियाँ भी पित्त की क्षीणता को निवारित कर देती हैं। मन्त्र में युधा द्वारा पित्त की प्रबल शक्ति दर्शाई है। जैसे कोई प्रबल व्यक्ति युद्ध द्वारा निर्बल पर विजय पा लेता है वैसे पित्त ने, वनस्पतियों की अपेक्षा किलास पर विजय पाई, उसे निराकृत किया।

३. किलास है श्वित्र अर्थात् श्वेत कुष्ठ (सायण)।

तेरा पिता (सरूपः) समान अर्थात् एकरूपवाला (नाम) प्रसिद्ध है। (ओषधे) हे ओषधि! (त्वम्) तू (सरूपकृत्) समान अर्थात् एकरूपवाला कर देती है। (सा) वह तू (इदम्) इस शरीर को (सरूपम्) समान अर्थात् एकरूपवाला (कृधि) कर।

[ओषधि है असिक्नी (अथर्व० १.२३.१)। इसकी माता है पृथिवी। वह सरूपा है, एकरूपवाली है। इसका पिता है द्यौः। वह भी एकरूपवाला है, शुक्लरूपवाला।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय॥ ४॥

अर्थ—(श्यामा) श्यामवर्णवाली, (सरूपंकरणी) समान अर्थात् एकरूप कर देनेवाली [ओषधि], (पृथिव्या अधि) पृथिवी से (उद्भृता) उद्धृत हुई है। (इदम्) इस शरीर को (सु) उत्तम प्रकार से (प्र साधय) तू ठीक कर दे, (पुनः) अर्थात् फिर से (रूपाणि) इसके भिन्न-भिन्न रूपों को (कल्पय) एकरूप कर दे।

[श्यामा ओषधि है असिक्नी (अथर्व० १.२३.१)।]

सूक्त २५

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यदग्निरापो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन्धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ १॥

अर्थ—(अग्निः) ज्वराग्नि (यत्) जो (आपः=अपः) शारीरिक रक्त तथा रसों में (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर (अदहत्) शारीरिक रक्त तथा रसों को दग्ध कर देती है, उन्हें सुखा देती है। (यत्र) तथा जिस जठराग्नि में (धर्मधृतः) धारण-पोषण करनेवाले अन्न का, धारण-पोषण करनेवाले अन्नभक्षक, (नमांसि) अन्नों को (अकृण्वन्) धारित करते हैं, (तत्र) उस जठराग्नि[१] में [हे ज्वराग्नि!] (ते) तेरा (परमं जनित्रम्) परम जन्म होता है, (आहुः) यह चिकित्सक कहते हैं, (संविद्वान्) सम्यक् अर्थात् उग्ररूप में वहाँ तू विद्यमान रहती है, [हे ज्वराग्नि!] (सः) वह तू (नः) हमें, (तक्मन्) हे जीवन को कृच्छ्र करनेवाली ज्वराग्नि! (परि वृङ्ग्धि) पूर्णतया परित्यक्त कर दे। **वृजी वर्जने** (रुधादिः)।

[आपः=शारीरिक रक्त-रस (अथर्व० १०.२.११)। यह ज्वराग्नि मलेरिया ज्वररूपी अग्नि है। यह उग्ररूप होकर शारीरिक रक्त-रसों को सूखा कर रोगी को निर्बल कर देती है। नमांसि=**नम अन्ननाम** (निघं० २.७), तथा **नमांसि अन्ननामैतत्** (सायण)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गर्भा त्रिष्टुप्**॥

यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ २॥

अर्थ—[हे ज्वराग्नि!] (यदि अर्चिः) यदि तू ज्वालारूप है, (यदि वा असि) अथवा यदि तू (शोचिः) शोकजनिका अथवा शरीरसम्बन्धी सन्तापरूप है। (शकल्येषि)[२] यदि शकलों अर्थात् काष्ठसमूह

१. जठरं व्याधिमन्दिरम्।
२. **शकलानां समूहः शकल्यः, शकल्यं दाह्यं काष्ठसमूहम् इन्दतीति शकल्येद् अग्निः; इषु इच्छायाम्** (सायण)।

को चाहनेवाली अग्नि के सदृश तू है, (यदि वा) अथवा (ते जनित्रम्) इनमें से कोई तेरा जन्मदाता है, (ह्रूडुः नाम असि) तू ह्रूडु नामवाली है। (देव) हे दीप्यमान ज्वराग्नि! तू (हरितस्य) पीतवर्ण का (ह्रूडुः) "ह" अर्थात् निश्चय से "रूडु" रोहण[1] करनेवाली है। (संविद्वान्) सम्यक् अर्थात् उग्ररूप में विद्यमान तू है। (तक्मन्) हे जीवन को कृच्छ्र अर्थात् कष्टमय करनेवाली ज्वराग्नि! (नः परिवृङ्ग्धि) हमें तू परित्याग दे। तक्मन्=**तकि कृच्छ्रजीवने** (भ्वादिः)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भा त्रिष्टुप्** ॥

यदि॑ शो॒को यदि॑ वाभिशो॒को यदि॑ वा॒ राज्ञो॒ वरु॑ण॒स्यासि॑ पु॒त्रः।

ह्रूडु॒र्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान्परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

अर्थ—[हे शीत ज्वर!] (यदि शोकः) यदि तू शरीरान्तर्वर्ती सन्ताप है, (यदि वा अभिशोकः) अथवा शरीरान्तर्वर्ती समग्र अङ्गों का सन्ताप है, (यदि वा) अथवा यदि तू (वरुणस्य राज्ञः) जलाधिपति वरुण राजा का (पुत्रः असि) पुत्र है। शेष पूर्ववत् (मन्त्र २)।

[शीत ज्वर में त्वचा तो शीत होती है, परन्तु शरीर के अभ्यन्तर भाग सन्तप्त होते हैं। वरुण है "अपामधिपतिः" (अर्थव० ५.२४.४)। आपः शीत होते हैं, इसलिए शीत ज्वर को वरुण-राजा का पुत्र कहा है। तथा आपः में मच्छर पैदा होते हैं, जोकि मलेरिया ज्वर के उत्पादक हैं। शरीर में भी जब जल का अनुपात बढ़ जाता है तो मलेरिया का आक्रमण होता है। शरीर में जल को साम्यावस्था में लाने के लिए होम्योपेथी में Natrum mur तथा Natrum sulpha दो दवाइयाँ प्रायः दी जाती हैं। ये दो दवाइयाँ बायोकेमिक हैं।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्** ॥

नमः॑ शी॒ताय॑ त॒क्मने॒ नमो॑ रू॒राय॑ शो॒चिषे॑ कृणोमि।

यो अ॑न्येद्यु॒रु॑भय॒द्यु॒र॒भ्येति॒ तृ॒तीय॑काय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑ ॥ ४ ॥

अर्थ—(शीताय तक्मने) शीत ज्वर के लिए (नमः) वज्रपात हो, अथवा अन्नाहुतियाँ हों [उसके अपाकरण के लिए]। (रूराय) रेषक अर्थात् हिंसक (शोचिषे) सन्तापक तक्मा के लिए (नमः) वज्रपात या अन्नाहुतियाँ (कृणोमि) मैं करता हूँ। (यः) जो शीत ज्वर (अन्येद्युः) एक दिन (उभयद्युः) दो दिन (अभ्येति) आता है, (तृतीयकाय) तथा तीसरे दिन आता है, उस (तक्मने) ज्वर के लिए (नमः अस्तु) वज्रपात या अन्नाहुतियाँ हों।

[**नमः वज्रनाम; अन्ननाम** (निघं० २.२०; २.७)। वज्रपात का अभिप्राय है नाश करना; तथा अन्नाहुतियों का अभिप्राय है यज्ञियाग्नि में ज्वर के अपाकरण के लिए यथोचित हविष्यान्न की आहुतियाँ देना। रूराय=**रुङ् गतिरेषणयोः** (भ्वादिः) रेषण=हिंसन, विनाश।]

सूक्त २६

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आ॒रे॒३॒॑सावस्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत्। आ॒रे अश्मा॒ यमस्य॑थ ॥ १ ॥

अर्थ—(देवासः) हे देवो! (असौ हेतिः) वह प्रेरित आयुध (अस्मत्) हमसे (आरे) दूर रहे।

१. रोहण=प्रादुर्भाव, प्रकट होना; **रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च** (भ्वादिः)।

(आरे) दूर (असत्) हो (अश्मा) पत्थर अर्थात् वज्र (यम्) जिसको (अस्यथ) तुम फेंकते हो।

[देवासः=विजिगीषु हमारे सेनापति आदि; "**दिवु क्रीड़ाविजिगीषा**" आदि (दिवादिः)। निज सेनापति आदि से कहा है कि तुम हेति अर्थात् आयुध को इस प्रकार शत्रु पर फेंको कि उसका दुष्परिणाम हम पर न हो। अश्मा ही हेति है, अश्मा **अशूङ् व्याप्तौ** (स्वादिः)। यह ऐसा अस्त्र है जिसका कि दुष्परिणाम शत्रु पर और हम पर भी हो सकता है। अतः निजसेनापतियों को सावधान किया गया है। तामसास्त्र का दुष्परिणाम हम पर और शत्रु पर, दोनों पर हो सकता है। तामसास्त्र है अन्धकार फैला देनेवाला अस्त्र (अथर्व० ३.२.५, ६)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदा साम्नी त्रिष्टुप् (एकावसाना)**॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः॥ २॥

अर्थ—(असौ) वह (रातिः) दाता परमेश्वर (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (सखा) मित्र (अस्तु) हो (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान्, परमेश्वर, (भगः) भजनीय परमेश्वर, (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर तथा (चित्रराधाः) चित्र-विचित्र धनवाला परमेश्वर (सखा अस्तु) हमारे लिए सखा हो।

[रातिः आदि परमेश्वर के नाम हैं। परमेश्वर और जीवात्मा परस्पर सखा हैं, "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते**" (अथर्व० ९.९.२०)। समानवृक्ष है संसार। ये दोनों परस्पर सखा हैं—इस सत्य का ही कथन मन्त्र में हुआ है। चित्रराधाः=**राधः धननाम** (निघं० २.१०)। परमेश्वर के धन चित्र-विचित्र हैं, नानाविध हैं। यह समग्र संसार उसका धन है, जोकि नानाविध वस्तुओं से भरपूर है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः। शर्म यच्छाथ सप्रथाः॥ ३॥

अर्थ—(प्रवतः) प्रकृष्ट गुणोंवाले व्यक्ति का (नपात्) न पात करनेवाले हे परमेश्वर! (सूर्यत्वचसः) तथा सूर्य की त्वचा के सदृश त्वचावाले (मरुतः) शत्रु को मारनेवाले हे सैनिको! (यूयम्) तुम (नः) हम प्रजाजनों को (सप्रथाः) विस्तृत (शर्म) सुख या गृह (यच्छाथ) प्रदान करो।

[परमेश्वर प्रकृष्ट गुणोंवाले मनुष्य का पात नहीं करता, अपितु उसका उद्धार करता है, उसे समुन्नत करता है, सुखी करता है। नपात्=**न पातयिता** (सायण)। मरुतः=**म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः** (उणादिः १.९४, दयानन्द)। ये सैनिक हैं जोकि युद्ध में मरते भी हैं और शत्रु को मारते भी हैं। ये सूर्यत्वचसः हैं, सूर्य की पृष्ठ के समान तेजस्वी, चमकीले। युद्ध के शस्त्रास्त्रों को धारण करने से उनकी चमक द्वारा चमकने वाले। ये प्रजाजनों की रक्षा कर उन्हें विस्तृत अर्थात् महासुख प्रदान करते तथा उनके राष्ट्रगृह का विस्तार करते हैं, राष्ट्रगृह की सीमाओं को बढ़ाते हैं। **शर्म=सुखनाम** तथा **गृहनाम** (निघं० ३.६ तथा ३.४)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पादनिचृत् गायत्री (एकावसाना)**॥

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि॥ ४॥

अर्थ—[हे मरुतः, सैनिको! मन्त्र (३)] तुम (सुषूदत) शत्रुओं पर बाणों को क्षरित करो, फेंको। (मृडत) तथा हे परमेश्वर, मन्त्र (३) (मृडया) तू सुख प्रदान कर (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों के लिए तथा हमारे (तोकेभ्यः) सन्तानों के लिए (मयः) सुख (कृधि) कर।

[सुषूदत=**षूद क्षरणे** (भ्वादि:)। **मयः सुखनाम** (निघं० ३.६)। **तोकम् अपत्यनाम** (निघं० २.२)। **मृड सुखने** (तुदादि:)।]

सूक्त २७

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः॥ १॥

अर्थ—(अमूः) वे जो (पारे) हमारी दैशिक सीमा से पार (निर्जरायवः) जरावस्था से रहित, (त्रिषप्ताः) त्रिविध या सप्तविध (पृदाक्वः) सर्पणियों के सदृश [शत्रुसेनाएँ] हैं। (तासाम्) उन सेनाओं की (जरायुभिः) वस्तुतः जीर्णतावस्थाओं के कारण, (वयम्) हम (अक्ष्यौ अपि) दोनों आँखों को भी (व्ययामसि) संवृत कर देते हैं, ढाँप देते हैं, सेनाएँ जोकि (अघायोः) अघ अर्थात् पाप के परिणामरूपी हननकर्म को चाहनेवाले, (परिपन्थिनः) परिवर्जित पथवाले [शत्रुराजा] की हैं।

[मन्त्रस्थ जरायु पद गर्भस्थ शिशु का आवरण करनेवाली झिल्ली का वाचक नहीं। प्रकरणानुसार जरायु पद भिन्नार्थक है। शत्रुसेनाएँ त्रिविध हैं, [पदाति, अश्वारोही तथा रथाश्वारोही]। तथा सप्तविध हैं सप्ताङ्ग प्रकृति, यथा **स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि** (आप्टे)। ये सप्त भी शत्रु राजा की सेनाओं के उपकारी होने से सेनारूप कहे हैं। परि=**अपपरी वर्जने** (अष्टा० १.४.८७) युद्ध का पथ अर्थात् मार्ग वैदिक राजनीति में परिवर्जित है, यह केवल आपद्धर्म[1] है। आँखों को संवृत करना अर्थात् ढाँपना वैदिक तामसास्त्रों द्वारा होता है (अथर्व० ३.२.५,६)।]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती। विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः॥ २॥

अर्थ—(पिनाकम् इव बिभ्रती) नाकस्थ धनुष् के सदृश धनुष् को धारण करती हुई, (कृन्तती) काटती हुई [शत्रुसेना] (विषूची) नाना दिशाओं में गमन करती हुई (एतु) चली जाए, नानामुखी हो जाए, विप्रकीर्ण हो जाए। (पुनर्भुवा) यदि शत्रुसेना पुनः एकत्रित हो जाए तो (मनः) उनका एकीभूत मन अर्थात् संकल्प (विष्वक्) भिन्न-भिन्न हो जाए, अर्थात् परस्पर विरुद्ध हो जाए, (अघायवः) अघ अर्थात् पापरूपी युद्ध-कर्म चाहते हुए शत्रु (असमृद्धाः) समृद्धिरहित हो जाएँ।

[पिनाकम्=नाकस्थ इन्द्रधनुष् के समान बड़ा धनुष्, समृद्ध धनुष्[2]।]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥ ३॥

अर्थ—(बहवः) बहुसंख्यक शत्रु (न समशकन्) हमें पराजित करने में, परस्पर संघीभूत हुए,

---

१. शत्रु द्वारा आक्रमण होने पर तत्प्रतीकाररूप है। आत्मरक्षार्थ हैं।

२. पिनाकम्=पि गतौ (तुदादि:)+नाकम् दुःखरहित लोक (निरुक्त २.४.१४)। गतिः=प्रगत अर्थात् व्याप्त। **पिनाकमिव ऐश्वर्यं धनुरिव** (सायण)। ऐश्वर्यधनुः, सम्भवतः वर्षा ऋतु में आकाश में दृश्यमान इन्द्रधनुष के समान। यह इन्द्रधनुष् परमेश्वरकृत हैं, अतः परमेश्वरीय है।

समर्थ नहीं हुए। (अर्भका:) अल्पसंख्यक शत्रुओं ने तो (अभि) अभिमुख हमारे होकर (न दाधृषु:) यह धृष्टता ही नहीं की। (अघायव:) अघ अर्थात् पापरूपी युद्धकर्म चाहते हुए शत्रु, (वेणो:) बाँस से (अभित:, इव अद्गा:) शाखा-प्रशाखारूप में निरन्तर उठी हुईं, फैली हुईं (इव) के सदृश (असमृद्धा:) समृद्धिरहित हुए हैं, तितर-बितर हुए हैं।

ऋषि:—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकाम:)** ॥ देवता—**इन्द्राणी** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्। इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुर: ॥ ४ ॥

अर्थ—(पादौ) हे दो पैरो! (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) स्फूर्ति करो, (पृणत:) सेना के पालक शत्रु के (गृहान्) घरों की ओर (वहतम्) हमें ले चलो, या पहुँचाओ। (प्रथमा) मुखिया, (अजीता) वयोहानि को अप्राप्त, (अमुषिता) अपराजिता (इन्द्राणी) सम्राट् की पत्नी (पुर:) आगे (एतु) चले।

[इन्द्र=सम्राट्, **इन्द्रश्च सम्राट्** (यजु:० ८.३७)। इन्द्राणी=सम्राट् की पत्नी। साम्राज्य में यह महिलाओं में मुखिया है, सम्राट् की पत्नी होने से। सम्राट् शक्तिशाली है, उसकी पत्नी होने से इन्द्राणी भी शक्तिसम्पन्ना है, साम्राज्य की सब शक्तियाँ इसकी सहायिका हैं। यह सेना के आगे-आगे चलती है। इससे सैनिकों को स्फूर्ति मिलती है, उनका उत्साह बढ़ता है। अजीता=अ+**ज्या वयोहानौ** (क्र्यादि:)। अमुषिता=अ+**मुष स्तेये** (क्र्यादि:)। शत्रु द्वारा छल-कपट से जिसकी शक्ति अपहृत नहीं हुई।]

सूक्त २८

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**(पूर्वार्धस्य) अग्नि:, (उत्तरार्धात्) यातुधान्य:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातन:। दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिन: ॥ १ ॥

अर्थ—(रक्षोहा) राक्षसी कर्म करनेवाले शत्रु सैनिकों का विनाश करनेवाला (अग्नि: देव:) अग्रणी देव (उप प्रागात्) हमारे समीप आ गया है, (अमीवचातन:) जोकि शत्रु द्वारा उत्पादित रोगों का शान्त करनेवाला है। वह (द्वयाविन:) वाणी में अन्यत् और कर्म में अन्यत् इस प्रकार द्विविध चालों वालों को तथा (यातुधानान्) यातनाओं के निधिभूत या यातनाओं के परिपोषकों (किमीदिन:) "किम् इदानीम्" इस प्रकार के प्रश्नों द्वारा भेद लेनेवाले शत्रु सैनिकों को (अपदहन्, अपदहत्) दग्ध करे अथवा "दहन् उप प्रागात्।"

[मन्त्रवर्णन से अग्निदेव चेतन प्रतीत होता है। वह प्रधानमन्त्री है, जोकि देव है, दिव्यगुणी है। वह राक्षसी स्वभाववाले शत्रुसैनिकों का हनन करता तथा राष्ट्र के रोगों का शमन करता है। मन्त्र में चातन: पद देखकर सूक्त का ऋषि "चातन"[1] कह दिया है, वास्तविक ऋषि अज्ञात प्रतीत होता है।]

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**(पूर्वार्धस्य) अग्नि:, (उत्तरार्धात्) यातुधान्य:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिन:।
प्रतीची: कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्य: ॥ २ ॥

अर्थ—(देव) हे प्रधानमन्त्री! (यातुधानान्) यातनाओं के निधिभूत या यातनाओं के परिपोषक

१. "चातन:" यह नाम सूक्तद्रष्टा ऋषि ने स्वयं अपना औपाधिक नाम चुन लिया है, या उसके माता-पिता ने नामकरण संस्कार के समय रखा है। तदनुसार विनियोगकार ने सूक्त का ऋषि "चातन" मान लिया है। इसी प्रकार की भावना उन सूक्तों में भी समझनी चाहिए जिनमें कि मन्त्रगत ऋषिनाम को सूक्त का द्रष्टा ऋषि विनियोगकार ने कहा है।

सैनिकों को (प्रतिदह) प्रत्येक को दग्ध कर, (किमीदिनः) ''किम् इदानीम्'' इस प्रकार प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवालों में से (प्रतिदह) प्रत्येक सैनिक को दग्ध कर। (कृष्णवर्तने) कृष्णवर्ताव करनेवाले सेनाधिपति के प्रति कृष्णवर्ताव करनेवाले हे प्रधानमन्त्री! (प्रतीचीः) प्रतिकूल चालोंवाली (यातुधान्यः) यातनाओं के निधिभूत सेनाओं को (सं दह) सम्यक् दग्ध कर।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—यातुधान्यः ॥ छन्दः—विराट् पथ्या बृहती ॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

अर्थ—(या) जो [शत्रु की सम्राज्ञी] (शपनेन) शप द्वारा (शशाप) शाप देती है, (या) जो (मूरम्) मूलभूत (अघम्) हत्यारे कर्म को (आदधे) निज जीवन में आधान करती है, (या) जो (रसस्य) विषयों की प्यास बुझाने के लिए (जातम्) बच्चों को (आरेभे) मार डालती है और (सा) वह (तोकम्) अपनी सन्तान को (अत्तु) खा जाती है।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—यातुधान्यः ॥ छन्दः—पथ्या पङ्क्तिः ॥

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम्।
अधा मिथो विकेश्योः वि घ्नतां यातुधान्योः वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—(यातुधानीः) यातुधानी स्त्री (पुत्रमत्तु) पुत्र को खाए[1] (स्वसारम्) निज बहिन को (उत) तथा (नप्त्यम्) नातिन को खाए। (अध) तथा (विकेश्यः) बिखरे केशोंवाली हुई, (मिथः) परस्पर (विघ्नताम्) विशेष रूप में हनन करें, (यातुधान्यः) यातुधानी स्त्रियाँ (अराय्यः) एक-दूसरे को कुछ न देती हुई परस्पर शत्रुरूप हो जाएँ। (वितृह्यन्ताम्) परस्पर के कार्यों में विघ्न पैदा करें।

[विकेश्यः द्वारा यातुधानियों की उन्मत्तता को सूचित किया है। देखो मन्त्र (३) में ''मूरम्'' पद। इन यातुधानियों के तोक, नाती तथा स्वसाएँ भी हैं। अतः ये मानुषी हैं। मनुष्यजाति के ही भिन्न-भिन्न वर्ग की हैं। अराय्यः अ+रा [दाने]+युक् (अष्टा० ७.३.३३)।

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ६

सूक्त २९

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे। तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अर्थ—(येन) जिस (अभीवर्तेन) परराष्ट्र की ओर या सम्मुख प्रवृत्त होनेवाले सेनाधिपति रूप (मणिना) पुरुष-रत्न द्वारा (इन्द्रः) सम्राट् (अभिवावृधे) सब ओर बढ़ा, वृद्धि को प्राप्त हुआ है, (तेन) उस पुरुष-रत्न के सहयोग द्वारा (ब्रह्मणस्पते) हे वेदपति, वैदिक विद्वान्! (अस्मान्) हम राष्ट्रपतियों को, (राष्ट्राय) राष्ट्रोन्नति के लिए, (अभिवर्धय) अभिवृद्ध कर।

[इन्द्रः=सम्राट् (यजुः० ८.३७) यथा—''**इन्द्रश्च सम्राड्, वरुणश्च राजा।**'' वरुण है प्रत्येक राष्ट्र

१. सूक्त का अर्थ सायणकृत अर्थ के आधार पर किया है। ब्रह्मा है चतुर्वेदविद् विद्वान्। यथा ''**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्**'' (ऋ० १०.७१.११) तथा ''**ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः**'' (निरुक्त १.३.८)।

का निर्वाचित राष्ट्रपति, और इन्द्र है राष्ट्र-समूहों का निर्वाचित साम्राज्य या अधिपति। ब्रह्मणस्पति है वैदिक विद्वान्, ब्रह्मा। प्रत्येक राष्ट्र में नियत ब्रह्मा तत्-तत् राष्ट्र के धर्मकार्यों का निर्वारण करता है। प्रत्येक राष्ट्र की धार्मिक उन्नति द्वारा मानो वह साम्राज्य की सामूहिक उन्नति में सहायक होता है। अभिवर्तते अनेन इति अभीवर्त:, सेनाधिपति:। यह साम्राज्योन्नति के लिए मणिरूप है, रत्नरूप है। **''जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते''** (आप्टे)।]

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः। अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ २॥

अर्थ—[हे अभीवर्त सेनाधिपति!] (सपत्नान्) मुझ राजा की, सपत्नी के समान वर्तमान परस्पर विद्रोही प्रजाजनों को (अभिवृत्य) घेरकर, (या: नो अरातय:) जो राज्य-कर नहीं देते अत: हमारे शत्रु हैं उन्हें (अभि, वृत्य) घेरकर, (य: नो दुरस्यति) जो हमारे साथ दुष्टकर्म [युद्ध] करना चाहता है (अभि, वृत्य) उसे भी घेरकर, तथा (पृतन्यन्तम्) सेना का संग्रह करना चाहते हुए को (अभि, वृत्य) घेरकर (तिष्ठ) उस-उसका तू अधिष्ठाता हो जा। उन्हें निजपादाधीन कर।

[अभिवृत्य=अभि+**वृञ् आवरणे**। पृतन्यन्तम्=**पृतनां सेनाम् आत्मनः इच्छन्तम्,** पृतना+क्यच्। **कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः** (अष्टा० ७.४.३९) इत्याकारलोप:। दुरस्यति=**दुष्टं कर्म कर्तुमिच्छति, दुष्टशब्दस्य दुरस् भावः** (अष्टा० ७.४.३६)। सपत्नान्=एक ही राजा के राज्य में वर्तमान परस्पर विद्रोही प्रजाजन।]

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि॥ ३॥

अर्थ—[हे सेनाधिपति!] (देव:) धन देनेवाले (सविता) ऐश्वर्य के अधिष्ठाता कोषाध्यक्ष ने (त्वा) तुझे (अभि, अवीवृधत्) बढ़ाया है, (सोम:) सेनाध्यक्ष ने (अभि, अवीवृधत्) तुझे बढ़ाया है। (विश्वा भूतानि) राष्ट्र की सब भौतिक शक्तियों ने (त्वा अभि अवीवृधत्) तुझे बढ़ाया है। (यथा) जिस प्रकार कि तू (अभीवर्त:) शत्रु की ओर प्रवृत्त होनेवाला (अससि) हो सके।

[**देवः=दानाद् वा** (निरुक्त ७.४.१४)। सविता=**षु प्रसवैश्वर्ययोः** (भ्वादि:), ऐश्वर्य अर्थ अभिप्रेत है। ऐश्वर्य का अधिष्ठाता है राज्य का कोषाध्यक्ष। सोम:=सेना का प्रेरक, सेना के आगे-आगे चलनेवाला सेनानायक (यजु:० १७.४९)। विश्वा भूतानि=राष्ट्र की सब शक्तियाँ, अर्थात् खनिज पदार्थ, वन्य पदार्थ तथा कृषिजन्य पदार्थ आदि।]

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः। राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥ ४॥

अर्थ—(अभीवर्त:) शत्रु की ओर प्रवृत्त हुआ, (सपत्नक्षयण:) शत्रु का क्षय करनेवाला, (मणि:) सेनाधिपति रूप पुरुष रत्न (अभिभव:) शत्रु का पराभव करता है। (राष्ट्राय) राष्ट्रोन्नति करने के लिए, (सपत्नेभ्य: पराभुवे) तथा शत्रुओं के पराभव के लिए, (मह्यम्) मेरे साथ (बध्यताम्) दृढ़ बन्धन में वह बद्ध हो जाए।

[मन्त्र में राष्ट्रपति अपने साथ सेनाधिपति के दृढ़ बन्धन की अभिलाषा करता है।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः। यथाहं शत्रुहोसान्यसपत्नः सपत्नहा॥ ५॥

अर्थ—(असौ सूर्यः उद् अगात्) वह सूर्य उदित हुआ है, (मामकम्) मेरा (इदम् वचः) यह वचन भी (उद् अगात्) उदित हुआ है, (यथा) जिस प्रकार कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रु का हनन करने वाला (असानि) हो जाऊँ, (असपत्नः) शत्रुरहित हुआ (सपत्नहा) शत्रु का हनन करनेवाला हो जाऊँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥ ६॥

अर्थ—(सपत्नक्षयणः) सपत्न-शत्रु का क्षय करनेवाला, (वृषा) तथा सुख-वर्षा करनेवाला (अभिराष्ट्रः) शत्रुराजा के राष्ट्र को अभिगत अर्थात् प्राप्त हुआ, (विषासहिः) अवशिष्ट शत्रुओं का भी पराभव करनेवाला [मैं हो जाऊँ]। (यथा) जिस प्रकार कि (अहम्) मैं (एषाम् वीराणाम्) इन सैनिक वीरों का (च) और (जनस्य) जनता का (विराजानि) विशेष प्रकार से राजा बन जाऊँ, या इनका नियन्ता हो जाऊँ।

[मन्त्र में राष्ट्रपति, जिसने कि शत्रु के राष्ट्र पर विजय पाई है वह सेनाधिपति से कहता है कि तू मुझे सहायता प्रदान कर जिस प्रकार कि मैं शत्रु के वीरों अर्थात् सैनिकों, तथा प्रजाजनों पर राज्य कर सकूँ।]

सूक्त ३०

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन्।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः॥ १॥

अर्थ—(विश्वे देवाः) हे सब देवो! (वसवः) तथा वसुओ! (इमम्) इसकी (रक्षत) रक्षा करो, (उत) तथा (आदित्याः) हे आदित्यो! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस आयुष्काम पुरुष के सम्बन्ध में (जागृत) जागरूक अर्थात् सावधान रहो। (इमम्) इसे (मा) न तो (सनाभिः) सम्बन्धी (उत वा) अथवा (इमम्) इसे (मा) न तो (अन्य-नाभिः) असम्बन्धी, (यः) जोकि (पौरुषेयः) पुरुष द्वारा प्राप्त (वधः) वध है उसे (प्रापत्) प्राप्त कराए।

[उपनयन कर्म में सूक्त का विनियोग हुआ है (सायण)। वसु और आदित्य कोटि में गुरु विवक्षित है। रुद्रकोटि के गुरु भी अभिप्रेत हैं। इन सबको सम्बोधित कर ब्रह्मचारी का पिता ब्रह्मचर्याश्रम के निवासियों के प्रति ब्रह्मचारी को सुपुर्द कर इसकी रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। सनाभिः=**समानो नाभिः गर्भाशयो यस्यासौ सनाभिः** (सायण), एक परिवार या कुल का सम्बन्धी। नाभिः=णह बन्धने (दिवादिः)। ''पौरुषेयः वधः'' द्वारा यह भी ब्रह्मचारी का पिता प्रार्थना करता है कि इस पर किसी भी पुरुष द्वारा की गई चोट न पहुँचे।]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम्।
सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ॥ २॥

अर्थ—(देवा:) हे गुरुदेवो! (ये) जो (व:) तुम्हारे (पितर:) पिता-माता हैं, (ये च पुत्रा:) और जो पुत्र हैं, (सचेतस:) वे एकचित्त होकर (मे) मेरे (इदम् उक्तम्) इस कथन को (शृणुत) सुनो कि (व: सर्वेभ्य:) तुम सबके प्रति (एतम्) इस ब्रह्मचारी को (परिददामि) मैं सौंपता हूँ, (एनम्) इसे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (जरसे) जरावस्था के लिए (वहाथ) तुम प्राप्त कराओ।

[ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुओं के पितर अर्थात् माता-पिता आदि बुजुर्ग भी रहते हैं, और गुरुओं के पुत्र भी। ब्रह्मचारी का पिता, ब्रह्मचारी की रक्षा के लिए उन सबके प्रति कहता है कि मैं तुम सबके प्रति इसे सौंपता हूँ, तुम सब एकचित्त होकर इसकी रक्षा करो, और इस प्रकार इसे सुरक्षित करो कि यह जरावस्था तक पहुँच सके, उससे पूर्व इसकी मृत्यु न हो। वहाथ=**वह प्रापणे** (भ्वादि:)।]

ऋषि:—**अथर्वा (आयुष्काम:)**॥ देवता—**विश्वे देवा:**॥ छन्द:—**शक्वरीगर्भा विराड् जगती**॥

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान्परि वृणक्तु मृत्यून्॥ ३॥

अर्थ—(देवा:) हे देवो! (ये) जो (दिवि) द्युलोक में (स्थ) तुम हो, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (ये) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में, (ओषधीषु) ओषधियों में, (पशुषु) पशुओं में, (अप्सु) जलों में (अन्त:) इनके मध्य में हो। (ते) वे (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिए (जरसम् आयु:) जरावस्था तक की आयु (कृणुत) तुम करो, (शतम् अन्यान्) शतविध अन्य (मृत्यून्) मृत्युओं को (परिवृणक्तु) परिवर्जित करे [परमेश्वर।]

[ऋषि दयानन्द द्युलोक, अन्तरिक्ष में भी देवों की सत्ता मानते हैं। सत्यार्थप्रकाश समुल्लास आठ के अनुसार यथा "जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात् उनमें उसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह है? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे? परमेश्वर का कोई काम निष्प्रयोजन नहीं होता। तो क्या इन असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है, इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है। कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है।"

यजुर्वेद के अनुसार भी नाकलोक में मुक्त आत्माओं की विद्यमानता है (३१.१६)। यजुर्वेद के इस मन्त्र में "साध्या:" हैं वे जिन्होंने योग के अष्टाङ्गों को सिद्ध कर लिया है। तथा पूर्वे के दो अभिप्राय हैं—(१) पूर्वसृष्टिकाल के अथवा (२) वर्तमान सृष्टि में भी जो अष्टाङ्ग योग में पूर्ण हुए हैं, **पूर्व पूरणे** (भ्वादि:)। या **पूरी आप्यायने,** आप्यायनम्, **ओप्यायी वृद्धौ** (भ्वादि:)।

ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्त: देवा:=ओषधियों, पशुओं, जलों के मध्य में काम करनेवाले व्यवहारी अर्थात् व्यापारी लोग "**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार**" आदि (दिवादि:)। ओषधियों के व्यवहारी हैं वन्य तथा कृषि-जन्य पदार्थों के व्यापारी, पशुओं के व्यवहारी हैं पशुपालक तथा इनके क्रय-विक्रय करनेवाले; जलों के व्यापारी हैं नौकाओं द्वारा व्यापार करनेवाले, व्यवहारी।]

ऋषि:—**अथर्वा (आयुष्काम:)**॥ देवता—**विश्वे देवा:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवा:।
येषां व: पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान्वो अस्मै सत्रसद: कृणोमि॥ ४॥

अर्थ—(येषाम्) जिन [सद्गृहस्थियों] के (प्रयाजाः) प्रकृष्ट पञ्चमहायज्ञ हैं, (उत वा) या (अनुयाजाः) आनुषङ्गिक याग हैं, (हुतभागाः) अग्निहोत्र तथा बलिवैश्वयज्ञ में आहुतियाँ देकर जो अन्नभागी हैं, अन्न ग्रहण करते हैं, (च) और (अहुतादः) बिना आहुतियाँ दिए अन्नादन करते हैं, वे संन्यासी या विरक्त (देवाः) दिव्य मनुष्य हैं; (येषाम्) तथा जिन (वः) तुम्हारे लिए (पञ्च) विस्तृत (प्रदिशः) दिशाएँ (विभक्ताः) विभक्त हैं [जोकि पृथिवी, वायु आदि हैं] (तान् वः) उन तुमको, (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिए (सत्रसदः) त्राण करने में स्थित (कृणोमि) मैं परमेश्वर नियत करता हूँ। पञ्च=**पचि विस्तारे** (चुरादिः)।

[मन्त्र में याज्ञिक-प्रसिद्ध प्रयाजों और अनुयाजों का वर्णन नहीं है। ये हैं इध्म से लेकर वनस्पति पर्यन्त ११ (निरुक्त ८.२.४ से ८.३.२२)।]

सूक्त ३१

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः।

इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम्॥ १॥

अर्थ—(आशानाम्) दिशाओं के (आशापालेभ्यः) दिक्-पालक, (चतुर्भ्यः) चार (अमृतेभ्यः) अमृत (भूतस्याध्यक्षेभ्यः) भूत-भौतिक जगत् के अध्यक्षों के लिए (वयम्) हम (इदम्)[1] अब (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) परिचर्या करते हैं।

[इदम्=इदानीम् (सायण)। परिचर्या=सेवा। चार दिशाएँ=पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर। इन चार दिशाओं के अध्यक्ष हैं चार अमृत अध्यक्ष; पूर्वदिक् का अध्यक्ष है अग्नि, "**प्राची दिगग्निरधिपतिः**", दक्षिणा दिक् का अध्यक्ष है इन्द्र, "**दक्षिणा दिगिन्द्रो अधिपतिः**" पश्चिम दिक् का अध्यक्ष है वरुण, "वरुणो अधिपतिः", उत्तर दिक् का अध्यक्ष है सोम, "**सोमो अधिपतिः**" (अथर्व० ३.२७.१-४)। **विधेम=परिचरणकर्मा** (निघं० ३.५)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः।

ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः॥ २॥

अर्थ—(देवाः) हे देवो! (ये) जो (आशानाम् आशापालाः) दिशाओं के दिक्पाल (चत्वारः) चार (स्थन) तुम हो, (ते) वे तुम (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति अर्थात् कष्टों के (पाशेभ्यः) फंदों से (नः) हमें (मुञ्चत) छुड़ाओ (अंहसः अंहसः) तथा निर्ऋति के हेतुभूत प्रत्येक पाप से छुड़ाओ।

[चार देव हैं मन्त्र (१) में कथित अर्थात् अग्नि, इन्द्र, वरुण तथा सोम। ये चार नाम परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणों के प्रतिपादक हैं। अग्नि ज्ञानाग्नि देकर, इन्द्र शक्ति देकर, वरुण दण्ड देकर पापकर्मों से, पाप से निवारित करता, अथर्व० (४.१६.१-९), और सोम अर्थात् चन्द्रमा के सदृश शान्ति प्रदान करता है।]

---

१. अथवा "इदम्" है परिचर्या-कर्म, जोकि विधेमद्योतित क्रिया का कर्म-विशेषण है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि।

य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत्॥ ३॥

अर्थ—(अस्रामः) स्राम रोग से रहित हुआ, (त्वा) तुझे (हविषा) हवि द्वारा (यजामि) मैं पूजता हूँ, या तुझे यज्ञाग्नि द्वारा आहुतियाँ देता हूँ, (अश्लोणः) लंगड़ा न होता हुआ (त्वा) तुझे (घृतेन) घृत द्वारा (जुहोमि) आहुतियाँ देता हूँ। (यः) जो (आशानाम्) सब दिशाओं का (आशापालः) दिक्पाल (तुरीयः देवः) चतुर्थ देव है (सः) वह (नः) हमारे लिए (इह) इस जीवन में (सुभूतम्) उत्तम स्थिति (वक्षत्) प्राप्त कराए। **वह प्रापणे** (भ्वादिः)।

[स्राम-रोग प्रवाही रोग है, सम्भवतः अतिसार। स्रामाः स्रु (स्रवित होना, स्रुत होना)। यज्ञ करने के लिए शरीर स्वस्थ तथा अविकृताङ्ग होना चाहिए। घृतरूपी हविः[1] श्रेष्ठ हविः है। सब दिशाओं का दिक्पाल एक है, जिसे कि "तुरीय" कहा है। इसे "चतुर्थः पादः" भी कहा है। जोकि ओङ्कार है (माण्डूक्योपनिषद्, सन्दर्भ १२)। चार दिशाओं के दिक्पालों का पृथक्-पृथक् कथन मन्त्र (२) में हुआ है। मन्त्र (३) में चार दिशाओं, अवान्तर दिशाओं, ध्रुवा, ऊर्ध्वा दिशाओं के एकपति का कथन "तुरीय" पद द्वारा हुआ है। सुभूतम्=सु+**भू, सत्तायाम्** (भ्वादिः), सत्ता है स्थिति। सुभूतम् को मन्त्र (४) में स्वस्ति कहा है। स्वस्ति=सु+अस्+ति। तुरीय-परमेश्वर है ब्रह्म। देखो सूक्त ३२, मन्त्र (१) में "महद्-ब्रह्म"।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप् त्रिष्टुप्** ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।

विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥ ४॥

अर्थ—(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिए, (उत) तथा (पित्रे) पिता के लिए (स्वस्ति) उत्तम स्थिति (अस्तु) हो, (गोभ्यः) गौओं के लिए, (जगते) जगत् के लिए या जङ्गम प्राणिसमूह के लिए, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिए (स्वस्ति) उत्तमस्थिति हो। (विश्वम्) समग्र संसार (सुभूतम्) उत्तम स्थितिवाला, (सुविदत्रम्) उत्तम धन को प्राप्त तथा सबका त्राण करनेवाला (नः) हमारे लिए हो, ताकि (ज्योग् एव) चिरकाल तक ही (सूर्यम्) सूर्य का (दृशेम) दर्शन करें। अथवा स्वस्ति=कल्याण या कुशलता।

[सुविदत्रम्=सुविद्, इगुपधत्त्वात् "कः" प्रत्ययः+त्रम्, **त्रैङ् पालने** या त्राण (औणादिक) "ड" प्रत्ययः।]

सूक्त ३२

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।

न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः॥ १॥

अर्थ—(जनासः) हे उत्पन्न मनुष्यो! (इदम् विदथ) यह जानो (महद् ब्रह्म) महद्-ब्रह्म का (वदिष्यति)

१. घृतरूपी हविः अथवा घृत और हविः।

यह कथन करेगा कि (न तत्) न वह (पृथिव्याम्) केवल पृथिवी में है, (नो दिवि) न केवल द्युलोक में है, (येन) जिस द्वारा कि (वीरुधः) विरोहण करनेवाली ओषधियाँ (प्राणन्ति) प्राण धारण करती हैं, जीवित हैं।

[न पृथिव्याम् नो दिवि=अपितु वह सर्वत्र विद्यमान है। वह है महद्-ब्रह्म। सायण ने "महद्-ब्रह्म" का अर्थ किया है। "**ब्रह्मणः प्रथमकार्यम् आपः**"। सम्भवतः इसलिए कि वीरुधें आपः द्वारा ही "प्राणन्ति" हैं। परन्तु मन्त्र में महद्-ब्रह्म द्वारा समग्र जगत् को, चाहे वह जड़ हो या चेतन, अध्यात्म दृष्टि से देखा है। समग्र जगत् उसी द्वारा प्राणधारण कर रहा है, केवल "आपः" ही नहीं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**द्यावापृथिवी**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव। आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा॥ २॥

अर्थ—(आसाम्) इन ओषधियों का (स्थाम) स्थान (अन्तरिक्षे[1]) ब्रह्माण्ड में निवास करनेवाले में है (इव) जैसेकि (श्रान्तसदाम्) जगत् के धन्धों से थके हुए विरक्त व्यक्तियों का वह विश्रामस्थान है। (अस्य भूतस्य) इस भूत-भौतिक के (तत्) उस (आ स्थानम्) व्यापी-स्थान को (वेधसः) मेधावी भी (विदुः) जानते हैं (न वा) अथवा नहीं जानते।

[यह सन्देहास्पद है]। वेधसः=**वेधा मेधाविनाम** (निघं० ३.१५) विदुः नवा=यथा—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

जिसे ब्रह्म अज्ञेय है, उसे तो वह ज्ञेय है, और जिसे ब्रह्म ज्ञेय है उसे वह नहीं जानता। (अविज्ञातम्, विजानताम्) ज्ञेयवादियों को ब्रह्म अविज्ञात है, और अज्ञेयवादियों को ब्रह्म विज्ञात है।

[जाननेवाला जीवात्मा अल्पज्ञ और सीमित है, और ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। अल्पज्ञ और सीमित, सर्वज्ञ और निःसीम को जानने की शक्ति नहीं रखता। इस औपनिषद वचन द्वारा ज्ञेयवाद और अज्ञेयवाद का अन्तिम निर्णय हो गया। इस वचन में "वि" का विशेष महत्त्व है। "वि" का अभिप्राय है विशेषतया जानना। ब्रह्म का विशेष ज्ञान नहीं हो सकता, सामान्य ज्ञान ही हो सकता है। मतम्=**मन ज्ञाने** (दिवादिः), **मनु अवबोधने** (तनादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**द्यावापृथिवी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्। आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः॥ ३॥

अर्थ—(रोदसी) हे द्यौः-तथा-पृथिवी! (रेजमाने) कम्पन करते हुए तुम (भूमिः च) अर्थात् भूमि और पृथिवी तुम दो ने, (यद्) जिस ब्रह्म को (निरतक्षतम्) घड़ा, प्रकट किया, (तत्) वह ब्रह्म (अद्य, सर्वदा) आज तक और सदा से (आर्द्रम्) दयार्द्रहृदय रहा है, (समुद्रस्य स्रोत्याः इव) जैसेकि समुद्रगामिनी नदियाँ सदा आर्द्र रहती हैं, (प्रभूत जल होने से)।

[समग्र द्यौः और पृथिवी सदा गतिवाले हैं, इसे कम्पन से सूचित किया है। कम्पन करनेवाला है, ब्रह्म। ब्रह्म द्वारा ही इन सबमें गतियाँ हो रही हैं। ब्रह्माण्ड की गतियों का करनेवाला कोई चेतन-तत्त्व होना

---

१. "अन्तरिक्ष" को आकाश भी कहा है, यथा "**आकाशस्तल्लिंगात्**" (ब्रह्मसूत्र वेदान्त)। ब्रह्मसूत्र में "आकाश" का प्रयोग "ब्रह्म" के लिए हुआ है जोकि सर्वाधार है। तथा अन्तरिक्षम्=**अन्तराक्षान्तं भवति** (निरुक्त २.३.१०), **क्षि निवासे** (तुदादिः)।

चाहिए, यह इन गतियों द्वारा सूचित होता है। यह ही ब्रह्म को घड़ना है, ज्ञापित करना है। मन्त्र में निरतक्षतम् की भावना निम्न मन्त्र द्वारा सूचित भी होती है। यथा—

किꣳस्विद्वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।

मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ यजुः० १७.२०॥

मन्त्र में निष्टतक्षुः और भुवनानि धारयन् यदध्यतिष्ठत्, तथा वनम् द्वारा ब्रह्म का सम्बन्ध घड़ने के साथ सूचित होता है। निस्ततक्षुः=निस्ततक्ष [परमेश्वरः] महीधर; बहुवचनं पूजार्थम्, उव्वटः। अथवा निस्ततक्षुः प्राकृतिक-शक्तयः। परमेश्वर तो तक्षा है, वह प्राकृतिक-शक्तियों की सहायता से तक्षण करता है। अतः सहायक शक्तियों में भी तक्षण क्रिया का सम्बन्ध दर्शाया है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**द्यावापृथिवी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम्।

दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः॥ ४॥

अर्थ—(विश्वम्) समस्त ब्रह्माण्ड ने (अन्याम्) इस प्रकृति को (अभीवार) सब ओर से घेरा हुआ है। (तद्) वह ब्रह्माण्ड (अन्यस्याम्) तद्भिन्न प्रकृति में (अधि श्रितम्) आश्रित है। (विश्ववेदसे) विश्व के वेत्ता (दिवे च) और द्योतमान, (पृथिव्यै च) और पृथिवी के सदृश प्रथित और आधारभूत ब्रह्म के लिए (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है, या मैं करता हूँ।

[सूक्त में महद्-ब्रह्म का वर्णन प्रतिज्ञात हुआ है (मन्त्र १)। अतः उसकी विभूति का वर्णन मन्त्र में हुआ है, उस महद्-ब्रह्म को नमस्कार किया है। "विश्ववेदसे" द्वारा महद्-ब्रह्म को विश्ववेत्ता कहा है। अतः मन्त्र के प्रथमपाद में पठित "विश्वम्" पद ब्रह्माण्डवाची प्रतीत होता है। मन्त्र से यह अतिस्पष्ट है कि सूक्त में उदक का वर्णन नहीं, अपितु आधारभूत ब्रह्म का ही वर्णन है। अधिक स्पष्टता के लिए मन्त्र में ब्रह्माण्ड, प्रकृति और महद्-ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। महद्-ब्रह्म ब्रह्माण्ड का रचयिता और प्रकृति का अधिष्ठाता है, नियन्ता है।]

सूक्त ३३

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ १॥

अर्थ—(हिरण्यवर्णाः) सुवर्ण के सदृश वर्णवाले, (शुचयः) शुद्ध, (पावकाः) पवित्र करनेवाले, (यासु) जिनमें (सविता) सूर्य, (यासु) और जिनमें (अग्निः) अग्नि (जातः) प्रादुर्भूत हुई। (याः) जिन (सुवर्णाः) उत्तम वर्णवाले (आपः) आप ने (अग्निम्) अग्नि को (गर्भम्) गर्भरूप में (दधिरे) धारण किया, (ताः) वे [आपः] (नः) हमें (शम् स्योनाः) सुखकारी (भवन्तु) हों।

[समग्र सूक्त में आपःपद भिन्न-भिन्न प्रकार के आपः के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। हिरण्यवर्णाः आप हैं विराट् रूपी आपः (यजुः० ३१.५)। ये आपः हैं द्रवावस्था में, अतः इनका अतिरेचन अर्थात् विरेचन हुआ (अति अरिच्यत) (यजुः० ३१.५)। ये आपः दधकती अवस्था में थे (विराट्=वि+राजृ दीप्तौ) अतः चमकीले थे। अतिविरेचन से छींटे रूप में द्युलोक के दधकते नक्षत्र-तारागण पैदा हुए। ये

भी हिरण्यवर्णाः हैं। ये शुचि हैं अतः पावक हैं। ये द्रवावस्था में थे। कालान्तर में ये घनीभूत हुए और इनसे सविता अर्थात् सूर्य पैदा हुआ, और अग्नि पैदा हुई। यह अग्नि है अन्तरिक्षस्थ मेघों में स्थित मेघीय विद्युत्। स्योना=स्योनमिति सुखनाम (निघं० ३.६)। मनु ने विराडवस्था को आपः कहा है। प्रारम्भ में विराट् द्रवरूप था। उसमें प्रजापति ने काम अर्थात् कामनारूपी बीज का स्थापन किया, आधान किया।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ २॥

अर्थ—(यासाम् मध्ये) जिन आपः के मध्य में, (जनानाम्) जनों के (सत्यानृते अव पश्यन्) सत्य तथा अनृत व्यवहारों को देखता हुआ (राजा वरुणः) जगत् का राजा वरुण अर्थात् पापनिवारक परमेश्वर (याति) विचरता है। (याः) जिन (सुवर्णाः) उत्तम वर्णवाले आपः में (अग्निम्) अग्नि को (गर्भम् दधिरे) गर्भरूप में धारण किया है (ताः) वे (आपः) (नः) हमें (शम्) शान्तिप्रद तथा (स्योनाः) सुखदायक (भवन्तु) हों।

[आपः हैं हृदयस्थ आपः (अथर्व० १०.२.११)। परमेश्वर-वरुण इन आपः में विचर रहा है। **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** (गीता)। इन आपः ने अग्निः नाम के परमेश्वर को गर्भरूप में धारण किया हुआ है। अग्नि दाहक है, परमेश्वर वरुण भी पापदाहक है। इसे दर्शाने के लिए वरुण को अग्निरूप कहा है। परमेश्वर का नाम अग्नि भी है (यजुः० ३२.१)।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ ३॥

अर्थ—(यासाम्) जिन आपः का (देवाः) दिव्य-तत्त्व (दिवि) द्युलोक में (भक्षम्) भक्षण (कृण्वन्ति) करते हैं, (याः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (बहुधा) बहुत प्रकार के (भवन्ति) होते हैं। (याः अग्निम्) जो अग्नि को [शेष पूर्ववत्]।

[भक्षम्=वायु, सूर्य, चन्द्र आदि देव आपः का भक्षण करते हैं, वायु में आपः का निवास है, समुद्र में ज्वार-भाटा होते रहते हैं सूर्य और चन्द्र द्वारा आकर्षण से, यह देवों द्वारा आपः का भक्षण है। अन्तरिक्ष में आपः वर्षाऋतु में नानाकृतियों में होते रहते हैं, यह बहुधा द्वारा सूचित किया है।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ ४॥

अर्थ—(आपः) हे आपः! (मा) मुझे (शिवेन चक्षुषा) शिवकारी चक्षु द्वारा (पश्यत) देखो, (शिवया तन्वा) शिवकारी तनू द्वारा (मे) मेरी (त्वचम्) त्वचा का (उपस्पृशत) स्पर्श करो। (घृतश्चुतः) घृतस्रावी (शुचयः) और शुचि, (याः) जो तुम (पावकाः) पवित्र करनेवाले हो, (ताः) वे तुम (आपः) आप (नः) हमें (शम्) शान्तिप्रद, (स्योनाः) सुखप्रद (भवन्तु) होओ।

मन्त्र में चक्षु आदि पदों द्वारा आपः को चेतनरूप में वर्णित किया है। यह शैली भी वैदिक वर्णनों

में अपनाई गयी है, यथा "अचेतनान्यपि एवं स्तूयन्ते तथा अक्षप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि।" (निरुक्त ७.२.२७)।

अथवा

[आप: पद, व्यापी परमेश्वर का व्यापक है, **आप्लृ व्याप्तौ,** स्वादि:] तथा "**ता आप:, स प्रजापति:**" (यजु:० ३२.१)। परमेश्वर चेतन है। अत: उसके साथ "शिवेन चक्षुषा" का सम्बन्ध सार्थक हो सकता है। यथा "**चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य अग्ने:**" (यजु:० ७.४२)। मित्र है सूर्य (**मिदि स्नेहने,** चुरादि:), सूर्य वर्षा द्वारा स्निग्ध करता है, वरुण है आवरण करनेवाला वायु मण्डल, अग्नि है पार्थिव अग्नि। ये सब जड़ हैं। इन्हें परमेश्वर की शिवचक्षु मार्गप्रदर्शन करा रही है। वस्तुत: परमेश्वर ही सूर्य आदि का मार्गदर्शन करा रहा है, जिससे ये नियम से निज पथों पर गतियाँ कर रहे हैं।

तन्वा व्याप्त्या (**तनु विस्तारे,** तनादि:)। परमेश्वररूपी आप: "घृतश्चुत:" है। प्रदीप्त सूर्य आदि को भी क्षरित कर देते हैं। **श्च्युतिर् क्षरणे,** (भ्वादि:)। क्षरण=विनाश। प्रलयकाल में परमेश्वर ही इन सबको विनष्ट करता है, प्रकृति में विलीन करता है। **चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने: "एवमपररूपेण स्तुत्वा पररूपेण स्तौति जगत: तस्थुषश्च आत्मा जङ्गमस्य स्थावरस्य च आत्मा अन्तर्यामी**" (महीधर)। सूर्य अर्थात् आदित्य में भी स्थित हुआ परमेश्वर समग्र जगत् का नियन्त्रण कर रहा है। **योऽसावादित्ये पुरुष: सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म** (यजु:० ४०.१७)।]

सूक्त ३४

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**मधुवनस्पति:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि। मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥ १॥

अर्थ—(इयम्) यह (वीरुत्) विरोहणशीला लता (मधुजाता) मधुवत् पैदा हुई है, (मधुना) मधुर विधि द्वारा (त्वा) तुझे (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोरधि) मधुर खण्ड से (प्रजाता असि) तू पैदा हुई है, (सा) वह तू (न:) हमें (मधुमत:) मधुर (कृधि) कर।

[यह लता है गन्ना[1]। गन्ना जैसे सर्वतोभावेन मधुर होता है वैसे व्यक्ति सर्वतोभावेन मधुर होने की अभिलाषा प्रकट करता है, मनसा, वाचा, कर्मणा वह मधुर होना चाहता है। गन्ना गन्ने के मधुर खण्ड अर्थात् टुकड़े से पैदा होता है। गन्ने को वीरुध् अर्थात् लता कहा है, जैसे लता लम्बी होती है वैसे गन्ना भी लम्बा होता है।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**मधुवनस्पति:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥

अर्थ—(मे) मेरी (जिह्वाया:) जिह्वा के (अग्रे) अग्रभाग में (मधु) मधु हो, (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल अर्थात् जड़ में (मधूलकम्) मधु को आदान करनेवाला मन हो। (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म में (इत्) अवश्य (अस:) हे मधु! तू हो, (अह मम) और मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू प्राप्त हो।

[मधूलकम्=मधु+**ला आदाने,** (अदादि:)+क: (कृञ् ड: औणादिक:)। **क्रतु कर्मनाम** (निघं० २.१)। मन में तो मधु का विचार सदा रहे, और चित्त में उसका सम्यक् ज्ञान (**चिती संज्ञाने,** भ्वादि:)।]

---

१. इक्षुणा (मन्त्र ५)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥

अर्थ—(मे) मेरा (निक्रमणम्) घर से निकलना (मधुमत्) मधुररूप हो, (मे) मेरा (परायणम्) दूरगमन या अन्यों को मिलना (मधुमत्) मधुररूप हो। (वाचा) वाणी द्वारा (मधुमत्) मधुर (वदामि) मैं बोलता हूँ। (मधुसंदृशः) मधु के सदृश सर्वतोभावेन मैं मधुर (भूयासम्) हो जाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

अर्थ—(मधोः) मधु की अपेक्षा से (मधुतरः) अधिक मधुवाला, (मदुघात्) मधु के दोहन करनेवाले मधुछत्ते से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर (अस्मि) मैं हो गया हूँ। (माम् इत्) मुझे अवश्य (त्वम्) तू हे मधु मधुररस! (वनाः) प्राप्त हो (इव) जैसे कि तू (मधुमतीम् शाखाम्) मधुर शाखा रूप इक्षु को प्राप्त हुआ है।

[किल प्रसिद्धौ। मधुमती शाखा है इक्षु अर्थात् गन्ना (मन्त्र ५) मदुघात्=**मधुदुघात्**[१], **धुलोपः छान्दसः, मधुस्त्राविणः पदार्थविशेषात् मधुमत्तरः अतिशयेन मधुमानस्मि** (सायण)। मदुघात्=मधुदुहात्।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

अर्थ—[हे जाया!] (परितत्नुना) परितत अर्थात् सब ओर फैले हुए (इक्षुणा) गन्ने के साथ (त्वा) तेरी मैंने (परि अगाम्) परिक्रमा की है (अविद्विषे) पारस्परिक विद्वेष मिटाने के लिए, तथा (यथा) जिस प्रकार कि (माम्) मेरी (कामिनी) कामनावाली (असः) तू हो जा, (यथा) जिस प्रकार कि (मत्) मुझसे (अपगाः) अपगत हो जानेवाली, मुझे त्यागकर चले जानेवाली (न असः) तू न हो।

सूक्त भावना का उपसंहार

सूक्त के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पति-पत्नी में परस्पर कलह है। जिसमें पति कारण बना है, अतः पत्नी पति से रूठी हुई है। पति उसे स्वानुकूल करना चाहता है। इसलिए वह अपने-आपको मधुर-व्यवहारवाला बनाता है, और पत्नी को निश्चय कराता है कि मैं तेरे प्रति मधुर व्यवहार-वाला हो गया हूँ। एतदर्थ वह मधुरसवाले गन्ने के साथ, पत्नी की परिक्रमा करता है। परिक्रमा पूज्य व्यक्ति की की जाती है। इस द्वारा वह पत्नी को अपनी पूज्या मानता है। "**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**" (मनु), और दोनों में अनुकूलता पुनः हो जाती है।

सूक्त ३५

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)** ॥ देवता—**हिरण्यम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

---

१. **दुहः कब् घश्च** (अष्टा० ३.२.७०), **इति कप् तत्संनियोगेन घत्वं च** (सायण)।

अर्थ—(दाक्षायणाः) वृद्धि के निवासभूत आचार्यों ने, (सुमनस्यमानाः) सुप्रसन्न हुए, (शतानीकाय) सौ वर्षों तक के जीवन के लिए, (यद् हिरण्यम्) जो हिरण्यसदृश बहुमूल्य वीर्य को (आबध्नन्) बाँधा था [निज शरीरों में, उसे च्युत न होने दिया था] (तत्) उस वीर्य को (ते) तेरे शरीर में (बध्नामि) मैं बाँधता हूँ, स्थिर करता हूँ, (आयुषे) सुखी जीवन के लिए, (वर्चसे) तेज के लिए, (बलाय) शारीरिक बल के लिए, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवनकाल के लिए, (शतशारदाय) सौ वर्षों तक जीवन के लिए।

[ब्रह्मचारी का आचार्य ब्रह्मचारी को वीर्य स्थिर रखने की विधि सिखाता है। दाक्षायणाः=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)+अयनाः। अनीकाय=**अन प्राणने** (अदादिः)। तथा "**दक्षः बलनाम**" (निघं० २.९)। आबध्नन्=इस द्वारा नित्य वैदिक प्रथा का कथन किया है, ब्रह्मचारी को इस प्रथा के सम्बन्ध में विश्वास दिलाने के लिए। मन्त्र (२) में इसका विशेष कथन हुआ है।]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्ये३तत्।

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥ २॥

अर्थ—(न एनम्) न इसे (रक्षांसि) राक्षसी कर्म, (न पिशाचाः) न पैशाची कर्म (सहन्ते) पराभूत करते हैं, (हि) निश्चय से (एतत् ओजः) यह ओज (प्रथमजम्) प्रथम आश्रम में पैदा होता है, (देवानाम्) और इन्द्रिय-देवों का है। (यः) जो (दाक्षायणम्) दक्ष अर्थात् वृद्धि और बल के अयन अर्थात् निवासभूत, (हिरण्यम्) हिरण्यसदृश बहुमूल्य वीर्य का (बिभर्ति) धारण-पोषण करता है (सः) वह (जीवेषु) जीवितों में (आयुः) निज आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुते) करता है।

[देवानाम्=**नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्** (यजुः० ४०.४)। **देवा द्योतनात्मकाः चक्षुरादीनीन्द्रियाणि** (महीधर)। राक्षसी कर्म हैं तामसिक, तमोगुण प्रधान और पैशाचीकर्म हैं राजसिक, रजोगुणप्रधान। "ओजः=**शरीरधारको बलहेतुः अष्टमो धातुविशेषः। हिरण्यं रेतोरूपं तेजः**" (सायण)। यतः हिरण्य है "रेतो-रूप ओज"।

अतः इसका "अबध्नन्" (मन्त्र १) रस्सी द्वारा सम्भव नहीं हो सकता, अपितु शरीर में ही बन्धन सम्भव है, अर्थात् च्युत न होने देना है, ऊर्ध्वरेताः होना रूपी बन्धन है।]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि।

इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम्॥ ३॥

अर्थ—["यह रेतोरूप ओज"] (अपां तेजः) रक्तरूपी आपः का तेज, ज्योति, ओज, और बल है, (उत) तथा (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों के, (वीर्याणि) वीर्यों रूप है। (इव) जैसेकि (इन्द्रे अधि) जीवात्मा में, (इन्द्रियाणि) इन्द्रशक्तियाँ धारित हैं वैसे (अस्मिन्) इस ब्रह्मचारी में, हम आचार्य ऐन्द्रियिक बल या वीर्य (धारयामः) स्थापित करते हैं, (तत्) उस (हिरण्यम्) हिरण्यसदृश बहुमूल्य वीर्य को, (दक्षमाणः) वृद्धि और बल प्राप्त होता हुआ ब्रह्मचारी (बिभरत्) परिपुष्ट करे।

[शरीरस्थ वीर्य वनस्पतियों के खाने से पैदा होता है, अतः वानस्पत्य है, वनस्पतियों का परिणामरूप है। हिरण्य अर्थात् वीर्य "अपाम् तेजः, ज्योतिः आदि रूप है। यह "आप" शरीरस्थ रक्तरूप हैं, जोकि

विधिपूर्वक शरीर में स्थापित किये गये हैं। यथा, "**को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरुवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अपाचीः पुरुषे तिरश्ची।**" (अथर्व० १०.२.११)। मन्त्र में सिन्धु है हृदय। व्याख्या यथास्थान में देखो। सामान्य आपः में मन्त्रोक्त गुण नहीं होते।]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप्**॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥ ४॥

अर्थ—(समानाम्) चान्द्रवर्षों के (मासाम्) मासों सम्बन्धी (ऋतुभिः) ऋतुओं के [ज्ञान[१]] द्वारा (संवत्सरस्य) तथा सौरवर्ष में [मासों सम्बन्धी ऋतुओं के ज्ञान[१]] द्वारा (वयम्) हम गुरुजन (त्वा) हे ब्रह्मचारी! तुझे पूरित करते हैं, [पृ पूरणे] तथा (पयसा) दुग्ध आदि सात्त्विक अन्न द्वारा (पिपर्मि) मैं आचार्य तुझे परिपालित करता हूँ। (इन्द्राग्नी) साम्राज्य का इन्द्र अर्थात् सम्राट्, तथा अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री तथा (विश्वेदेवाः) सब दिव्य अधिकारी (अहृणीयमानाः) रोष के बिना, (ते) तेरे लिए [हे ब्रह्मचारी!] (अनु मन्यन्ताम्) अनुमोदित करें, स्वीकृत करें।

[मन्त्र में वयम् द्वारा बहुवचन तथा पिपर्मि द्वारा एकवचन के कथन से पदान्वय क्लिष्ट हुआ है। अहृणीयमानाः=**हृणीङ् रोषणे** (कण्ड्वादिः)। गुरुकुलों की पाठविधि तथा भोजन की व्यवस्था केवल गुरुजनों तथा आचार्य के अधीन हो जाने से साम्राज्य के अधिकारियों में दोष होना सम्भावित है। इन्द्रः=सम्राट् (यजुः० ८.३७)। पिपर्मि=**पॄ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः)। **ह्रस्वान्तोऽयमित्येके** (जुहोत्यादिः)।]

सूक्त ३५ का सार

कौशिक सूत्रानुसार (५७.३१) उपनयनकर्मण्यपि आयुष्कामस्य ब्रह्मचारिणः आज्यहोमे विनियुक्तम् कहा है। उपनयन है समीप प्राप्त करना, उप (समीप)+नयन (णीञ् प्रापणे)। आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन कर उसे अपने समीप प्राप्त कर लेता है, ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट कर लेता है। एतदनुसार ही सूक्तार्थ किया गया है। अतः सूक्त में "हिरण्य" का अर्थ है रेतः अर्थात् वीर्य, और "प्रथमजम् ओजः" का अर्थ है प्रथमाश्रम में पैदा हुआ ओज (मन्त्र २)। उपनयन और इसके उद्देश्य की व्याख्या (अथर्व० ११.७.३) में देखो।

षष्ठ अनुवाक समाप्त॥

प्रथम काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

---

१. ज्ञान यथा "चान्द्र वर्ष=३५४ दिन का। चान्द्र मास है दर्श से दर्श तक २९$\frac{1}{2}$ दिन का। संवत्सर है पृथिवी का सूर्य की-परिक्रमा का काल ३६५ दिनों का, और प्रति चतुर्थ वर्ष ३६६ दिनों का। ऋतुएँ हैं ६। इत्यादि ज्ञान ब्रह्मचारी को गुरुजन देते हैं। यह कालज्ञान है।"

द्वितीय काण्ड

अथ तृतीयः प्रपाठकः

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।

इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥ १ ॥

अर्थ—(वेनः) कामनावाला उपासक (तत्) उस ब्रह्म को (पश्यत्) देखता है, साक्षात् करता है, (परमम्) जो ब्रह्म कि परश्रीरूप है, (यत् गुहा) जो हृदय-गुहा में विद्यमान है, (यत्र) जिसमें (विश्वम्) समग्र ब्रह्माण्ड (एकरूपम् भवति) एकरूप हो जाता है [प्रलय में]। (इदम्) इस ब्रह्म को (पृश्निः) व्याप्तवर्णवाले द्युलोक ने (अदुहत्) दोहा है, (जायमानाः) पैदा हुए, (स्वर्विदः) उपतप्त द्युलोक में विद्यमान (व्राः) द्युलोक का आवरण किये हुए नक्षत्र-तारा-मण्डल (अभि) इसके अभिमुख होकर (अनूषत) मानो इसकी स्तुतियाँ कर रहे हैं।

[परमम्=पर+मा, लक्ष्मी या श्री। यथा "**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**" (यजुः० ३१.२२)। पृश्निः=**अथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिभिः** (निरुक्त० २.४.१४)। अदुहत्=मानो द्युलोक ने "इदं ब्रह्म" का दोहन कर दुग्धवत् शुभ्र नक्षत्र-तारामण्डलों को प्राप्त किया है।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥ २ ॥

अर्थ—(गन्धर्वः) गौ अर्थात् वेदवाणी को धारण करनेवाला, (अमृतस्य विद्वान्) अविनाशी ब्रह्म को जाननेवाला, (तत्) उस ब्रह्म का (प्रवोचेद्) प्रवचन करता है, (परमम् धाम) जो ब्रह्म कि परमधाम है, अन्तिम प्राप्य स्थान है, (यत्) जो (गुहा) हृदयगुहा में है। (अस्य) इस ब्रह्म के (त्रीणि पदानि) तीन पाद (गुहा निहिता=निहितानि) हृदय-गुहा में निहित हैं। (यः) जो उपासक (तानि वेद) उन पादों को जानता है (सः) वह (पितुः पिता) पितामह के सदृश (असत्) पूजनीय है या हो जाता है।

[गन्धर्वः=**गाम् वेदवाणीं** (निघं० १.११) **धारयतीति। त्रीणि पदानि** (यजुः० ३१.३,४)। जो इन तीन पादों का भी प्रवचन कर सकता है वह पितामह के सदृश पूजनीय होता है। ये तीन पाद भी उसकी हृदयगुहा में निहित होते हैं, अतः उसे प्रत्यक्ष होते हैं।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥ ३ ॥

अर्थ—(सः) वह (नः) हमारा (पिता) रक्षक है, (जनिता) जन्मदाता है, (उत) तथा (सः) वह (बन्धुः) बन्धु है। (धामानि) सब नामों, स्थानों और जन्मों को, (विश्वा भुवनानि) और सब भुवनों को (वेद) जानता है। (यः) जो (देवानाम्) देवों के (नामधः) नामों को धारण करता है (एक एव) परन्तु है एक ही। (तम् संप्रश्नम्) जिसके विज्ञान के लिए सम्यक्-प्रश्न करने होते हैं उसे (सर्वा भुवना) सब भुवन (यन्ति) प्राप्त हैं। या प्रलयकाल में उसमें लीन हो जाते हैं।

[नामधः=अग्नि आदि नामों को धारण करता है, यथा (यजुः० ३२.१)। **धामानि=त्रयाणि भवन्ति नामानि, स्थानानि जन्मानि** (निरुक्त० ९.३.२८)।]

ऋषिः—**वेनः**॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः॥ ४॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक की (परि) परिक्रमा [मानसिक] करके (सद्यः) शीघ्र (आयम्) मैं आया हूँ, (ऋतस्य) सत्य के (प्रथमजाम्) प्रथमोत्पादक परमेश्वर का (उपातिष्ठे) मैंने उपस्थान किया है, उसकी उपासना की है। (वक्तरि) वक्ता में स्थित (वाचम् इव) वाणी को जैसे मनुष्य जान लेता है, वैसे मुझमें स्थित परमेश्वर को मैंने जान लिया है, (भुवनेष्ठाः) वह भुवन, अर्थात् उत्पन्न ब्रह्माण्ड में स्थित है, अतः मुझमें भी स्थित है। (एषः) यह परमेश्वर (ननु) निश्चय से (अग्निः) सर्वाग्रणी है। (धास्युः) वह सबके धारण-पोषण को चाहता है। धा+असुन्+क्यच्।

[अभिप्राय यह कि व्यक्ति कहता है कि मैंने द्युलोक और पृथिवीलोक की मानसिक परिक्रमा कर शीघ्र जान लिया है कि वस्तुतः सारतत्त्व, जगत् में एक ईश्वर ही है, अतः मैंने ईश्वर की ही उपासना की है। परमेश्वर मुझ में भी स्थित है, अतः मुझमें वह प्राप्त है। अतः इसकी उपासना के लिए मुझे अन्यत्र मन्दिर आदि में जाना नहीं होता, और न किसी अन्य देव की उपासना करनी पड़ती है, यतः परमेश्वर ही सर्वाग्रणी है।]

ऋषिः—**वेनः**॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त॥ ५॥

अर्थ—(विश्वा भुवनानि) सब भुवनों की (परि) परिक्रमा करके (आयम्) मैं आया हूँ, (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (कम् तन्तुम्) सुखस्वरूप तान्ते का (दृशे) दर्शन करने के लिए। (अमृतम् आनशानाः) अमृत-परमेश्वर को प्राप्त (देवाः) देव (यत्र) जिस (समाने) एक (योनौ अधि) जगद्-योनि में (ऐरयन्त) गति करते हैं, विचरते हैं।

[आनशानाः=**अशूङ्** व्याप्तौ, लिटि कानच् (सायण)। ऐरयन्त=**ईर गतौ** (अदादिः)।]

सूक्त २

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥ १॥

अर्थ—(दिव्य:) द्युलोक में विद्यमान, (गन्धर्व:) पृथिवी का धारण करने वाला, (भुवनस्य) उत्पन्न जगत् का (य: पति:) जो स्वामी है, (एक: एव) वह एक ही (विक्षु नमस्य:) प्रजाओं में नमस्कारयोग्य और (ईड्य:) स्तुति-योग्य है। (दिव्य देव) दिव्यदेव (तम्, त्वा) उस तुझको (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (यौमि) मैं अपने साथ संयुक्त करता हूँ। (नमस्ते अस्तु) तुझे नमस्कार हो। (दिवि ते सधस्थम्) द्युलोक में तेरा साथ बैठने का स्थान है, सहवास है।

[गन्धर्व:=**गाम् पृथिवीं धारयतीति** (निघं० १.१)। यौमि=**यु मिश्रणे** (अदादि:), मिश्रित करना अर्थात् सम्बद्ध करना। द्युलोक में सूर्य, तारागण का भी वास है और परमेश्वर का भी वास है। द्युलोक परमेश्वर की ज्योति द्वारा भासमान हो रहा है। देखने पर पृथिवी से भिन्न द्युलोक ही प्रतीत होता है, जोकि पृथिवी पर छत रूप में छाया हुआ है। अत: इसे परमेश्वर का स्थान कहा है।]

ऋषि:—**मातृनामा**॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरस:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य।
मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः॥ २॥

अर्थ—(दिवि स्पृष्ट:) द्युलोक में स्पर्श किया हुआ, (यजत:) यजनीय, (सूर्यत्वक्) त्वचारूप में सूर्य का रक्षक, (दैव्यस्य हरस:) ऐन्द्रियिक कोपों का (अवयाता) पृथक् करनेवाला, (गन्धर्व:) पृथिवी का धारण करनेवाला परमेश्वर (मृडात्) हमें सुखी करे। (य: भुवनस्य पति:) जो उत्पन्न जगत् का पति है, वह (एक एव) एक ही (नमस्य:) नमस्कारयोग्य है, (सुशेवा:) और उत्तम सुखप्रदाता है।

[द्युलोक में परमेश्वर के स्पर्शमात्र से नक्षत्र-तारागण भासमान हो रहे हैं। जैसे अस्मदादि के शरीरों की रक्षा त्वचा द्वारा हो रही है, वैसे सूर्य की रक्षा परमेश्वररूपी त्वचा द्वारा हो रही है। देवा: हैं इन्द्रियाँ। ये विषयों में लिप्त हुईं निज क्रोधों को प्रकट करती हैं। इनके क्रोधों को परमेश्वर ही शान्त करता है। यथा "**ब्रह्मोडुपेन प्रतरेद् विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि**" (श्वेता० उप० २.८)। ब्रह्मोडुप=ब्रह्मरूपी नौका। स्रोतांसि=**इन्द्रियस्रोतांसि**। ये स्रोत विषयसमुद्र में मनुष्य को बहा ले जाते हैं, अत: भयानक हैं। **हर: क्रोधनाम** (निघं० २.१३)। सुशेवा:=सु+शेव्+असुन्। **शेवम् सुखनाम** (निघं० ३.६)। तथा "**शेव इति सुखनाम शिष्यते: वकारो नामकरण:, विभाषितगुण:**" (निरुक्त १०.२.१७)। **शिष्लृ विशेषणे** (रुधादि:)। सुशेवा:=**सु+शेवृ सेवने** (भ्वादि:), **अनायासेन सेव्य:, शेवृ इति तालव्यादि: पठ्यते** (सायण)।]

ऋषि:—**मातृनामा**॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरस:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति॥ ३॥

अर्थ—(अनवद्याभि:) अनिन्दनीय अर्थात् प्रशस्त (आभि:) इन अप्सराओं के साथ (गन्धर्व:) गौओं अर्थात् पृथिवी आदि का धारण करनेवाला सूर्य, (सम्, उ, जग्मे) संगत अर्थात् सम्बद्ध हुआ, (अप्सरासु अपि) अप्सराओं में भी (गन्धर्व: आसीत्) गन्धर्व की सत्ता थी। (आसाम्) इन अप्सराओं का (सदनम्) घर (समुद्रम्) समुद्र है, यह वेदवेत्ता (मे आहु:) मुझे कहते हैं, (यत:) जहाँ से (सद्य:) शीघ्र (आ च यन्ति) ये आती हैं, (परा च यन्ति) और पराङ्मुख होकर चली जाती हैं।

[गन्धर्व है सूर्य और अप्सराएँ हैं सूर्यरश्मियाँ। ये अप्सराएँ रूपवाली हैं। रश्मियों का सम्बन्ध रूप के साथ है। ये स्वयं रूपवाली हैं, और पदार्थों को भी रूपवान् करती हैं। इनका सदन है समुद्र अर्थात् सूर्य या द्युलोक, जहाँ से कुछ क्षणों में ही ये पृथिवी पर आ जाती हैं और अस्तकाल में वापिस चली जाती हैं। इन रश्मियों में भी सूर्य की ही सत्ता है, सूर्य द्वारा ही ये चमकती हैं। अप्सरस:=**अप्स इति रूपनाम,** तद् रा: भवन्ति (निरुक्त ५.१३)।]

ऋषि:—**मातृनामा**॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरस:**॥ छन्द:—**त्रिपाद् विराण्नाम गायत्री**॥

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि॥ ४॥

अर्थ—(अभ्रिये) मेघस्थ (दिद्युत्) हे द्युतिमति! विद्युत्! (नक्षत्रिये) नक्षत्रस्थ, हे द्युतिमति! विद्युत्! (या:) जो (विश्वावसुम्) समग्र वस्तुओं के स्वामी (गन्धर्वं) सूर्य के साथ (सचध्वे) तुम संगत हुई हो। (ताभ्य: देवी: व:) उन दिव्यगुणोंवाली तुम्हारे लिए (नम: इत् कृणोमि) अन्नाहुतियाँ प्रदान करता हूँ।

[मेघस्थ तथा द्युलोकस्थ चमक विद्युत्रूपा है। नम:=**हविर्लक्षणम् अन्नम्** (सायण)। **नम: अन्ननाम** (निघं० २.७)। विश्वावसुम्=पार्थिव तथा अन्य ग्रहों के वसुओं अर्थात् सम्पत्तियों का स्वामी सूर्य है। सूर्य से विभक्त पृथिवी आदि ग्रह हैं।]

ऋषि:—**मातृनामा**॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरस:**॥ छन्द:—**भुरिगनुष्टुप्**॥

या: क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुह:।

ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नम:॥ ५॥

अर्थ—(या:) जो (क्लन्दा:) ग्लानिप्रद[1] हैं, (तमिषीचय:[2]) तमस् अर्थात् अन्धकार में चयन होने अर्थात् बहनेवाली, (अक्षकामा:) इन्द्रियों में विनाश करने की कामनावाली हैं, (मनोमुह:) मन को मोहन अर्थात् वैचित्य करनेवाली हैं, (ताभ्य: गन्धर्वपत्नीभ्य:) उन गन्धर्वपत्नियों (अप्सराभ्य:) अप्सराओं के लिए (नम:) अन्नाहुतियाँ (अकरम्) मैंने की हैं, प्रदत्त की हैं।

[अक्षकामा:=अक्षाणि इन्द्रियाणि तानि नाशयितुं कामयमाना: (सायण)। नम:=हविर्लक्षणम्, अन्नम् (सायण)। गन्धर्व है चन्द्रमा, जोकि सौर-रश्मियों को धारण करता है, और गन्धर्वपत्नियाँ हैं चान्द्रप्रभाएँ। यथा "**सुषुम्ण: सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व:**" (यजु:० १८.४०) तथा निरुक्त[3] (२.२.६)। मन का मोहन है वैचित्य, अर्थात् चितिशून्यता, ज्ञान से रहित होना। रात्रीकाल में मन ज्ञानरहित हो जाता है और मनुष्य सो जाते हैं। क्लन्दा:=चान्द्रप्रभाएँ रात्री में ग्लानि अर्थात् हर्षक्षय कर देती हैं, दिन में अनुभूयमान हर्ष का क्षय कर देती हैं "ग्लै हर्षक्षये" (भ्वादि:)। मन्त्र में रात्रीकाल का वर्णन हुआ है। मन्त्र ४ में दिनकाल का वर्णन हुआ है। दोनों कालों के प्रारम्भ में अग्निहोत्र में आहुतियों के प्रदान का कथन किया है। चन्द्रमा की प्रभाएँ अप्सराएँ हैं, यत: ये रूपवाली हैं, "अप्स:" इति रूपनाम, "मन्त्र ३ की व्याख्या"।]

---

१. **क्लमु ग्लानौ,** (दिवादि:)+दा:।

२. **तमिषी=तमसि** (वर्णव्यत्यय, वर्णविकार हैं,) छान्दस।

३. **अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे**॥ (ऋ० १.८४.१५)।

सूक्त ३

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—(आस्राव) भेषजम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात्। तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

अर्थ—(पर्वतात् अधि) मेघ से (अदः यत्) वह जो (अवत्कम्) रक्षा करने वाला [उदक] (अवधावति) नीचे की ओर दौड़कर आता है, (तत्) उसे (ते) तेरे लिए (भेषजम्) औषधरूप (कृणोमि) मैं करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि [हे भेषज!] (सुभेषजम्) उत्तम औषध (असिस) तू है।

[**पर्वतः मेघनाम** (निघं० १.१०)। अवत्कम्=**अवतम् अवनम् करोतीति**। मन्त्र में मेघ से बरसे उदक का कथन हुआ है। मेघ से बरसा उदक शुद्ध होता है। शुद्ध जल द्वारा जलचिकित्सा अभिप्रेत है।]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—(आस्राव) भेषजम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते। तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

अर्थ—(अङ्ग) हे उदक औषध! (आत्) इस तुझ उदक औषध के पश्चात् (ते) तेरे सजातीय (कुवित्) बहुत अर्थात् (शतम्) सैकड़ों (या=यानि) जो (भेषजानि) औषधें हैं, (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू हे उदक! (उत्तमम्) सर्वोत्तम (असि) है, (अनास्रावम्) आस्राव को हटानेवाला (अरोगणम्) और रोगनिवर्तक। आस्राव=फोफे से पीप का बहना, अतीसार और अतिमूत्र।

[आस्राव है पके फोड़े की पीप को स्रवित कर ठीक कर देना। तथा अनास्राव है अतीसार और अतिमूत्र रोग का निवर्तन करना। **कुवित्=बहुनाम** (निघं० ३.१)।]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—(आस्राव) भेषजम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(असुराः) प्राणप्रदाता या प्राणशक्तिसम्पन्न खनक, (इदम् महत्) इस महान् (अरुस्राणम्) घाव को बहा देनेवाले [उदक की प्राप्ति के लिए] (नीचैः) नीचे की ओर (खनन्ति) भूमि को खोदते हैं। (तत्) वह उदक (आस्रावस्य) आस्राव का (भेषजम्) औषध है, (तत् उ) वह निश्चय से (रोगम्, अनीनशत्) रोग को नष्ट कर देता है।

[मन्त्र में कूपखनन का वर्णन है, महौषध उदक की प्राप्ति के लिए। नीचैः=इसीलिए कूप को "अवतः" कहते हैं (निघं० ३.२३)। अवतः=अव (नीचे की ओर)+तः ("ततः" ताना हुआ, विस्तृत हुआ, फैला हुआ), **तनु विस्तारे** (तनादिः)। असुराः=असुः प्राणः[1], तद्-वन्तः; रः मत्वर्थीयः)।]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—(आस्राव) भेषजम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

अर्थ—(उपजीकाः) दीमकें (समुद्रात् अधि) समुद्र से (भेषजम्) औषध को (उद् भरन्ति) उद्धृत करती हैं, ऊपर की ओर लाती हैं। (तत्) वह (आस्रावस्य) आस्राव की (भेषजम्) औषध है, (तत् उ) वह निश्चय से (रोगम्, अशीशमत्) रोग को शान्त कर देती है।

[दीमकों का सामुद्रिक जल में निवास अनुपपन्न है। अतः समुद्रात् का अभिप्राय है "समुद्रतटात्"।

१. अनवत्त्वम् (निरुक्त १०.३.२४), अन प्राणने (अदादिः)। उपजीका अर्थात् दीमकें प्राणवान् हैं, यतः ये काष्ठ को भी खाकर, उसे मिट्टी में परिवर्तित कर देती हैं।

जैसेकि "गङ्गायां घोषा:" वाक्य में घोषजाति के मनुष्यों का निवास प्रवाहित-गङ्गा में अनुपपन्न है, अतः गङ्गायाम् का अभिप्राय है "गङ्गा-तटे"। समुद्र-तट पर दीमकें वल्मीक को पैदा कर सकती हैं, जिसेकि Ant-Hill कहते हैं। वल्मीक यतः समुद्र के तट पर है, इसलिए इसके निर्माण में सामुद्रिक लवण का भी मिश्रण हो जाता है। लवणमिश्रित वल्मीक की मिट्टी आस्राव के शामन में विशेषोपकारी है, यह अभिप्राय है। सामुद्रिक तट पर निर्मित वल्मीक में सामुद्रिक जल सिमसिम कर निज लवण को वल्मीक में मिश्रित कर देता है। इसलिए सामुद्रिक वल्मीक में विशेष गुणाधान हो जाता है।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्राव) भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥ ५ ॥

अर्थ—(पृथिव्याः अधि) पृथिवी से (उद्भृतम्) उद्धृत [वल्मीक], (इदम्) यह (महत्) बड़ा (अरुस्राणम्) घावस्रावी है। (तद्) वह (आस्रावस्य भेषजम्) आस्राव का औषध है, (तद् उ) वह [भी] निश्चय से (रोगम् अनीनशत्) रोग को नष्ट कर देता है।

[मन्त्र (४) में समुद्रोत्थित वल्मीक का वर्णन हुआ है, और मन्त्र (५) में असामुद्रिक वल्मीक का वर्णन हुआ है। दोनों ही आस्राव के औषध हैं। आस्राव है मुखपरिपाक का पीप, अतीसार, तथा अतिमूत्र। अतिमूत्र है बार-बार मूत्रण, तथा Diabetes। दस्तों का आना भी सम्भवतः आस्राव है।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्राव) भेषजम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदा स्वराडुपरिष्टान्महाबृहती** ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः।

इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम्॥ ६ ॥

अर्थ—(अपः=आपः) जलरूप (ओषधयः) ओषधियाँ (नः) हमारे लिए (शिवाः) कल्याणकारी, तथा (शम् भवन्तु) रोगशामक हों। (इन्द्रस्य वज्रः) मेघस्थ विद्युत् का वज्र (रक्षसः) रोगरूपी राक्षस का (अपहन्तु) अपहनन करे, (रक्षसाम्) रोगकीटाणुओं के (विसृष्टाः) प्रयुक्त (इषवः) रोगरूपी इषु (आराद्) हमसे दूर (पतन्तु) गिरें, हम पर प्रहार न करें।

[इन्द्रस्य वज्रः=मेघस्थ विद्युत्। अतः अपः=आपः को ओषधियाँ कहा है। आपः स्त्रीलिङ्गी बहुवचनान्त है, ओषधयः भी स्त्रीलिङ्गी बहुवचनान्त है। आपः को सर्वौषध कहने के अभिप्राय से मन्त्र में आपः का पुनः कथन हुआ है (मन्त्र १)।]

सूक्त ४

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।

मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्॥ १ ॥

अर्थ—(दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिए, (बृहते रणाय) महा-रमणीय कर्म के लिए, अथवा महायुद्ध के लिए, (अरिष्यन्तः) हिंसित न होते हुए, (सदा एव दक्षमाणाः) सदा ही वृद्धि को प्राप्त हुए (वयम्) हम, (मणिम्) रत्नरूप, (विष्कन्धदूषणम्) शरीरशोषणरूपी दोष का निवारण करनेवाले (जङ्गिडम्) जङ्गिड को (बिभृमः) विशेषरूप में धारण करते हैं।

[दीर्घायुत्वाय=दीर्घ+इण्+उण् प्रत्यय (सायण)। रणाय=**रमु क्रीडायाम्,** (भ्वादिः) अथवा रण=युद्ध।

अरिष्यन्तः=अ+**रिष् हिंसायाम्** (भ्वादिः)। दक्षमाणाः=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)। विष्कन्ध=वि+**स्कन्दिर्=विशेषशोषणे** (भ्वादिः)। जङ्गिडम् (अर्थव० १९.३४.१-४; १९.३५.१ आदि)। रणाय=रोगों के जीव-कीटाणुओं के साथ महायुद्ध (मन्त्र २,३,४)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात्।

मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः॥ २॥

अर्थ—(सहस्रवीर्यः) अपरिमित शक्तिवाला, (मणिः) रत्नरूप, (जङ्गिडः)जङ्गिड औषध (जम्भात्) जम्भाई से या हनुओं के जकड़न से, (विशरात्) शारीरिक हिंसा से, (विष्कन्धात्) शरीर के शोषण से, (अभिशोचनात्) मानसिक शोक से, (विश्वतः) तथा सब प्रकार के रोगों से (नः) हमारी (परिपातु) पूर्णतया रक्षा करे।

[जङ्गिड सहस्रवीर्य है, अतः नाना रोगों से रक्षा कर सकता है। जम्भसम्बन्धी रोग यथा "हनुग्रह" (पैप्लाद ११.२.१०), तथा "संहनुः" (अथर्व० ५.२८.१३; ८.१.१६)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्रिणः। अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः॥ ३॥

अर्थ—(अयम्) यह (विष्कन्धम्) शोषण रोग को (सहते) पराभूत करता है, (अयम्) यह (अत्रिणः) भक्षक रोगकीटाणुओं [germs] का (बाधते) वध करता है। (अयम्) यह (विश्वभेषजः) सर्वौषधरूप (जङ्गिडः) जङ्गिड (नः) हमें (अंहसः पातु) पाप से सुरक्षित करे। [विश्वभेषजः=सहस्रवीर्यः (मन्त्र २)। अत्रिणः=अद् भक्षणे (अदादिः)+त्रिनिप्रत्ययः (सायण)।

[अत्रिणः=त्रिप् (उणा० ४.६९)। त्रिनिच्, त्रिप् च (दशपादी उणा०)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा। विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे॥ ४॥

अर्थ—(देवैः) दिव्य [वैद्यों] द्वारा (दत्तेन) दिये, (मणिना) रत्नरूप, (मयोभुवा) सुखोत्पादक (जङ्गिडेन) जङ्गिड द्वारा, (व्यायामे) प्रयत्न करने पर, (विष्कन्धम्) शोषक रोग को, (सर्वा रक्षांसि) तथा सब राक्षसों को (सहामहे) हम पराभूत करते हैं।

[देवैः=दिव्यगुणी, (सम्भवतः वैद्य, जोकि जङ्गिड के गुणों को जानते हैं) व्यायामे=शरीर के अङ्गों का आयाम अर्थात् विस्तार, तथा (वि) तद्-विरुद्ध संकोच करना (सम्भवतः व्यायाम करने पर), व्यायाम द्वारा शरीर तथा स्वस्थ शक्तिसम्पन्न होता है। रक्षांसि=अत्रिणः (मन्त्र ३)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।

अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥ ५॥

अर्थ—(शणश्च जङ्गिडश्च) शण और जङ्गिड (मा) मुझे (विष्कन्धात्) शोषक रोग से (अभि) साक्षात् (रक्षताम्) रक्षित करें। (अन्यः) एक शण (अरण्यात्) अरण्य से (आभृतः) आहृत हुआ है, लाया गया है, (अन्यः) तथा उससे भिन्न जङ्गिड (कृष्याः) कृष्युत्पन्न पौधों के रसों से।

[रस पौधों से उत्पन्न होते हैं। रसेभ्यः में बहुवचन द्वारा सूचित होता है कि कृष्युत्पादित पौधों के पत्तों, शाखाओं, और जड़ों से जङ्गिड रस एकत्रित किया जाता है। शण भी औषध है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।

अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६॥

अर्थ—(कृत्यादूषिः) छेदनक्रिया का निवारण करनेवाला (अयम्) यह [जङ्गिड] (मणिः) रत्न है, (अथो) तथा (अरातिदूषिः) शत्रुरूप [रोग] कीटाणुओं का निवारण करनेवाला है। (अथो) तथा (सहस्वान्) बलवान् (जङ्गिडः) जङ्गिड (नः आयूँषि) हमारी आयुओं को (प्र तारिषत्) प्रवृद्ध करे।

[सहस्वान=**सहः बलनाम** (निघं० २.९)। प्र तारिषत्=**प्रपूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः** (सायण)। अथवा हमारी आयुओं को रोगनद से तैराए, पार करे। **तॄ प्लवनसंतरणयोः** (भ्वादिः)। कृत्या=**कृती छेदने** (तुदादिः)।]

सूक्त ५

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद् बृहती**॥

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।

पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय॥ १॥

अर्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य! (जुषस्व) तू सेवन कर, (प्रवह) प्रवाहरूप में प्राप्त हो, (आ याहि) आ (हरिभ्याम्) हरण करनेवाले दो अश्वों के द्वारा, (शूर) हे शौर्ययुक्त! (इह) इस पृथिवी पर (मतेः) मननीय (सुतस्य) अभिषुत (मधोः) मधुर जल का (पिब) पान कर, (चकानः) और तृप्त हुआ (मदाय) हमारी प्रसन्नता के लिए (चारुः) रुचिकर हो।

[मन्त्र में कविता के शब्दों में सूर्य का वर्णन हुआ है। जुषस्व द्वारा मधुर जल का सेवन अभिप्रेत है। **मधु उदकनाम** (निघं० १.१२)। सूर्य रश्म्यग्रों द्वारा सामुद्रिक जल का पान करता है। यद्यपि सामुद्रिक जल नमकीन होता है, मधुर नहीं, परन्तु सूर्य की तीव्र रश्मियों के द्वारा अभिषुत हुए जल का सूर्य पान करता है, जोकि नमकीन नहीं होता। रश्मियों के अग्रभागों को मुख कहा है, जिन द्वारा सूर्य जलपान करता है। चकानः=**चक तृप्तौ** (भ्वादिः)+शानच्। तृप्ति का अभिप्राय है जल का प्रभूत पान कर तृप्ति। वर्षा ऋतु में जल का प्रभूत पान करना होता है।]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद् बृहती**॥

इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न।

अस्य सुतस्य स्व१र्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः॥ २॥

अर्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य! (मधोः) मधुर जल के [प्रभूतांश द्वारा] (जठरम् पृणस्व) निज पेट को पूरित कर ले, (नव्यः न) जैसेकि नवीनोदित चन्द्रमा करता है, (दिवो न) तथा जैसे द्युलोक के जठर को, (स्वः न) जैसे अन्तरिक्ष को तू पूरित करता है। (अस्य सुतस्य) इस अभिषुत जल सम्बन्धी (मदाः सुवाचः) हर्ष भरी उत्तम वाणियाँ (त्वा उप अगुः) तुझे तेरी प्रशंसा के लिए निकटता से प्राप्त हों या प्राप्त हुई हैं।

[नव्यः=चन्द्रमा अमावस्या के पश्चात् नवोदित होता है। अमावस्या की रात्रि में सूर्य और चन्द्रमा साथ-साथ वास करते हैं। अतः इनमें सामुद्रिक जल के आकर्षण करने की शक्ति बढ़ जाती है, समुद्र में उच्चोच्च लहरें चन्द्रमा की ओर उठती हैं। यह है नवोदित चन्द्रमा की जठरपूर्ति। वर्षाऋतु में द्युलोक तथा अन्तरिक्ष भी जल द्वारा पूरित हो जाते हैं। तथा मनुष्यों से प्रसन्नताभरी वाणियाँ उच्चारित होती हैं। सुतस्य=अभिषुतस्य (सायण)। अभिषवः=Distillation, अर्क निकालना, सूर्य का समुद्र से विशुद्ध जल लेना, अपनी रश्मियों द्वारा यह विशुद्ध जल अर्करूप है।]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट् पथ्या बृहती**॥

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न।

बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो (तुराषाट्) त्वरया अर्थात् शीघ्रता से [मेघ का] पराभव करता, (मित्रः) [वर्षा द्वारा] स्निग्ध करनेवाला (इन्द्रः) ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य (वृत्रम्) आवरणकारी मेघ का (जघान) हनन करता है, (न) जैसेकि (यतीः) प्रयत्नशील अर्थात् शीघ्रप्रवाहिनी नदियाँ (वलम्) आवरणकारी तट-द्वय का हनन करती हैं, तथा जो इन्द्र (भृगुः न) भर्जन करनेवाले प्रतप्त सूर्य के सदृश (वृत्रम्) आवरणकारी मेघ का (बिभेद) भेदन करता है, वह सूर्य (सोमस्य मदे) जल के पान के मद में (शत्रून्) अन्धकार और शैत्य आदि शत्रुओं का (ससहे) पराभव करता है। सोमस्य; सोम=water=जल (आप्टे)।

[वृत्रम्=**तत्को वृत्रः, मेघ इति नैरुक्ताः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति** (निरक्त २.५.१६)। वलम्=वरम्, **वृञ् वरणे** (क्र्यादिः; रलयोरभेदः)]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगतीपुरोविराट् त्रिष्टुप्**॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।

श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न सूर्य! (त्वा) तुझमें (सुतासः) अभिषुत जल (आ विशन्तु) आ प्रविष्ट हों। (कुक्षी) दोनों कोखों को (पृणस्व) पूरित कर ले, भर ले, (विड्ढि) और बढ़। (शक्र) हे शक्तिशाली! (धिया) निजकर्म के साथ (नः) हमारी ओर (आ इहि) आ (हवम्, श्रुधि) मेरे आह्वान को सुन। (मे गिरः जुषस्व) मेरी वाणियों का प्रीतिपूर्वक सेवन कर (इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न! (स्वयुग्भिः) अपने सहयोगियों के साथ (इह) इस पृथिवी में (मत्स्व) हर्ष को प्राप्त हो, (महे रणाय) मेघ के साथ महायुद्ध के लिए।

[मन्त्र में कविता के शब्दों में वर्णन हुआ है। "श्रुधि हवम्" और "गिरः जुषस्व", तथा "कुक्षी" और "मत्स्व" द्वारा इन्द्र चेतन है, और अन्य वर्णनों द्वारा दृश्यमान सूर्यरूप में अचेतन भी प्रतीत होता है। निरुक्त में कहा है कि "**चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि**" (७.२.६)। जुषस्व=**जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तुदादिः)। कुक्षी=सूर्य की दो कुक्षी हैं उत्तरायण तथा दक्षिणायन; दोनों अयनों में सूर्य अभिषुत जल को कुक्षियों में भरता रहता है। मत्स्व=मदी हर्षे (सायण)। स्वयुग्भिः=इन्द्र के सहयोगी अर्थात् साथी हैं, अन्तरिक्षवायु तथा आदित्यरश्मियाँ। अभिषुत जल है रश्मियों के ताप द्वारा वाष्पीभूत सामुद्रिक जल। यह वायुरूपी सीढ़ी द्वारा आन्तरिक्ष में पहुँचता है।]

विशेष—दो कुक्षियाँ वस्तुतः जुगाली करनेवाले पशुओं में होती हैं। कुक्षि है उदर, पेट। पशु जब घास को चर्वित करते हैं, चबाते हैं, तो वह अर्ध-चर्वित घास पहिले एक कुक्षि में जाता है, जिसे हम "जग्धाशय" कह सकते हैं। जुगाली करते समय वह अर्ध-चर्वित घास शनैः-शनैः पाकाशय में पहुँचता रहता है। जग्धाशय को कुक्षि इसलिए कहते हैं कि अर्ध-चर्वित घास कुत्सित अवस्था में वहाँ पहुँचता है। कु=कुत्सिरूप में+क्षि=क्षीण हुआ, घास प्रथम जग्धाशय में पहुँचता है, तत्साम्यात् पाकाशय को भी कुक्षि कहते हैं। परन्तु इन्द्र के सम्बन्ध में जो दो कुक्षियाँ हैं, उनका स्पष्टीकरण भी कर दिया है।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्र॑स्य॒ नु प्र वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।

अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम्॥ ५ ॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र अर्थात् सूर्य के (नु) निश्चय से (वीर्याणि) वीरकर्मों का (प्रावोचम्) मैंने कथन किया है, या कथन करता हूँ, (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रख्यातकर्मों को (वज्री) वज्रधारी ने (चकार) किया है। (अहिम्) मेघ का (अहन्) हनन किया है, (अनु) तत्पश्चात् (अपः) जल को (ततर्द) काटा है, और (पर्वतानाम्) मेघों सम्बन्धी या पर्वतों सम्बन्धी (वक्षणाः) नदियों को (अभिनत्) विदारित किया है।

[प्रथमानि=**प्रथ प्रख्याने** (भ्वादिः)। **वक्षणाः नदीनाम** (निघं० १.१३)। **पर्वतः मेघनाम** (निघं० १.१०)। अहिम्=**अहिः अयनात् एति अन्तरिक्षे** (निरुक्त २.५.१७)।]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष।

वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑॥ ६ ॥

अर्थ—(पर्वते) पर्वत अर्थात् मेघ में (शिश्रियाणम्) आश्रय पाए हुए (अहिम्) मेघ की (अहन्) इन्द्र ने हत्या की। (त्वष्टा) प्रदीप्त विद्युत् ने या वायु ने (अस्मै) इस इन्द्र के लिए (स्वर्यम्) उपतापकारी तथा शब्दायमान (वज्रम्) वज्र को (ततक्ष) घड़ा, निर्मित किया। (वाश्राः) शब्द करती हुईं (धेनवः इव) दुधार गौओं के सदृश, (स्यन्दमानाः) प्रवाहित होती हुईं, (अञ्जः) तथा शब्दायमान (आपः) नदियों के जल (समुद्रम्) समुद्र की ओर (अवजग्मुः) गतिमान् हुए।

[त्वष्टा=**त्विषेर्वा स्यात् दीप्तिकर्मणः। त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः** (निरुक्त ८.२.१४)। त्वष्टा अन्तरिक्षस्थानी है, अतः विद्युत् है, या वायु। अहिः=मेघः (मन्त्र ५)। स्वर्यम्=**स्वृ शब्दोपतापयोः** (भ्वादिः)। मेघगर्जना में शब्द भी होता है और प्रतप्त विद्युत् भी चमकती है। प्रतप्त विद्युत् प्रपात वज्र है। धेनवः=**धेट् पाने** (भ्वादिः)। गौएँ दूध पिलाने के लिए हम्भा-रव करती हुई बछड़े की ओर जाती हैं। अञ्जः=**अजि शब्दार्थः** (चुरादिः)। अव=अवस्तात्, नीचे की ओर। नदी-जल समुद्र की ओर गति करते हैं, यतः उनका मार्ग क्रमशः समुद्र की ओर झुकता हुआ होता है।]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वृ॒षा॒यमा॑णो अवृणीत॒ सोमं॒ त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सु॒तस्य॑।

आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त॒ वज्र॒मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम्॥ ७ ॥

अर्थ—(वृषायमाणः) वर्षा करनेवाले के सदृश आचरण करते हुए इन्द्र ने (सोमम्) जल को (अवृणीत) स्वीकृत किया, (त्रिकद्रुकेषु) तीन कद्रुक स्थानों में उसने (सुतस्य) अभिषुत जल को (अपिबत्) पीया। (मघवा) इन्द्र ने (सायकम्, वज्रम्) अन्तकारी अर्थात् शत्रुघातक वज्र को (आदत्त) ग्रहण किया, और (अहीनाम्) मेघों में से (प्रथमजाम् एनम्) प्रथमोत्पन्न इस मेघ का (अहन्) उसने हनन किया। वर्षा करनेवाले हैं, वायु या विद्युत्। तद्वत् इन्द्र भी वर्षा करता है।

[सोम=जल (आप्टे)। त्रिकद्रुक=त्रि+कम्[1]=सुखकारी+**द्रु (गतौ[2])**+क (कृ+डः, औणादिकः); तीन सुखकारी स्थान हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः; यथा '**ज्योतिर्गौरायुरिति त्रिकद्रुकाः**' आपस्तम्ब; (सायण)। ज्योतिः=द्यौः, गौः (पृथिवी, निघं० १.१), आयुः, वायुः, प्राणप्रद वायु, अन्तरिक्षस्थानी। वायु में आदि वकार का लोप है। सायकम्=**षो अन्तकर्मणि** (दिवादिः)। प्रथमजाम्=प्रथम+जन् (विट्, अष्टा० ३.२.६७)+आत्त्वम् (अष्टा० ६.४.४१)। प्रथमजा अहि=वर्षाकाल में प्रथमोत्पन्न मेघ।]

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त ६

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (त्वा) तुझे (समाः) चान्द्रवर्ष, (ऋतवः) ऋतुएँ, (संवत्सराः) सौरवर्ष, (ऋषयः) ऋषि, (यानि सत्या=सत्यानि) और जो सत्यकर्म हैं वे (वर्धयन्तु) बढ़ाएँ। (दिव्येन) दिव्य (रोचनेन) रुचिकर प्रदीप्ति द्वारा (सं दीदिहि) अच्छी तरह चमक और (विश्वाः चतस्रः प्रदिशः) सब चारों प्रकृष्ट-दिशाओं को (आ भाहि) पूर्णतया प्रकाशित कर।

[दीदिहि=**दीदयति ज्वलतिकर्मा** (निघं० १.१६)। **अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। ऋषिकोटि के व्यक्तियों के परामर्शानुसार प्रधानमन्त्री शासन करे, यह अभिप्राय है।]

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये॥ २॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (सम् इध्यस्व) सम्यक्-वृद्धि को तू प्राप्त हो। (च) और (इमम्) इस प्रजाजन को (प्रवर्धय) प्रवृद्ध कर। (उत् च) ऊँची निज गद्दी पर (तिष्ठ) स्थित हो (महते सौभगाय) प्रजाजन के महासौभाग्य के लिए। (अग्ने) हे अग्रणी! (ते उपसत्तारः) तेरे समीप अर्थात् आश्रम में स्थित प्रजाजन (मा रिषन्) हिंसित न हों। (ते) तेरे शासन में (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ (यशसः सन्तु) यशस्वी हों (मा अन्ये) अन्य नहीं।

---

१. **कम् सुखनाम**, यथा नाक पद में, **कम्=सुखम्** (निरुक्त २.४.१४)।

२. **गतौ, गतेः त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिः**। प्राप्त्यर्थ अभिप्रेत है। पृथिवी से अन्न प्राप्त होता है, अन्तरिक्ष से प्राणप्रद वायु, द्यौः से ताप, प्रकाश। अतः ये तीनों स्थान सुखप्रद हैं।

[मन्त्र में ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों के यश बढ़ाने का कथन किया है, ताकि अन्य प्रजाजन भी इस यश की प्राप्ति के लिए यत्न करें और राष्ट्र अधिकाधिक सत्त्वगुणी हो सके।]

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः।

स॒प॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद्भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृह्यप्र॑युच्छन्॥ ३॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (इमे ब्राह्मणाः) ये ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ (त्वाम् वृणते) तेरा चुनाव करते हैं? (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (नः संवरणे) हमारे सम्यक्-चुनाव में (शिवः) प्रजाजन के लिए कल्याणकारी (भव) तू हो! (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (सपत्नहा) तू शत्रुओं का हनन कर, (अभिमातिजित्) अभिमानियों पर विजय प्राप्त कर। (स्वे गये) निज राष्ट्रगृह में (अप्रयुच्छन्) प्रमाद किये बिना (जागृहि) जागरूक हो, सावधान रह।

[वृणते और संवरणे में समानाभिप्राय है, चुनाव। स्वे गये=अग्नि, राष्ट्र को अपना घर जानकर उसकी सदा रक्षा करे, **गयः गृहनाम** (निघं० ३.४)। ब्राह्मणाः वृणते=ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ, अग्रणी प्रधानमन्त्री का चुनाव करें। राष्ट्र में प्रधानमन्त्री किसी एक राजनैतिक पार्टी द्वारा निर्वाचित न होना चाहिए, अपितु राष्ट्र के ब्रह्मज्ञों तथा वेदज्ञों द्वारा निर्वाचित होना चाहिए, यह मन्त्र में अभिप्रेत है। एतदर्थ ब्रह्मज्ञों तथा वेदयज्ञों को प्रमाणपत्र राजकीय सभाओं द्वारा मिलने चाहिएँ। तीन सभाओं का निर्माण राजा करे। राजार्यसभा, विद्यार्य सभा, तथा धर्मार्यसभा का। राजार्यसभा तो राज्य के शासन का प्रबन्ध करे। विद्यार्यसभा राज्य में विद्या का तथा धर्मार्यसभा राज्य में धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करे। धार्मिक शिक्षा के बिना शासन और विद्या, यथेष्ट उपकारी नहीं हो सकते। वेद में कहा है कि—

त्रीणि॑ राजाना वि॒दथे॑ पु॒रूणि॒ परि॒ विश्वा॑नि भूषथः॒ सदां॑सि।

अप॑श्यम॒त्र मन॑सा जग॒न्वान्व्र॒ते ग॑न्ध॒र्वाँ अपि॑ वा॒युके॑शान्॥ ऋ० ३.३८.६॥

राजाना=राजानौ। त्रीणि संदासि=तीन सभाएँ।]

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाऽऽर्षी पङ्क्तिः** ॥

क्ष॒त्रेणा॑ग्ने॒ स्वेन॒ सं र॑भस्व मि॒त्रेणा॑ग्ने मि॒त्र॒धा य॑तस्व।

स॒जा॒ता॒नां॑ मध्यमे॒ष्ठा रा॒ज्ञाम॑ग्ने वि॒हव्यो॑ दीदिही॒ह॥ ४॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (स्वेन क्षत्रेण) निज क्षत्र द्वारा (संरभस्व) उग्रता का काम अर्थात् युद्ध कर, (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (मित्रधा) मित्र राजाओं का पोषण करनेवाला तू (मित्रेण) स्नेही मन्त्री द्वारा [उनके पोषण के लिए] (यतस्व) यत्न किया कर। (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (सजातानाम्) एक ही साम्राज्य में उत्पन्न (राज्ञाम्) राजाओं का (मध्यमेष्ठाः) मध्यस्थ हुआ तू (इह) इस साम्राज्य में (विहव्यः) विरोधी या विविध राजाओं द्वारा आह्वानयोग्य हुआ (दीदिहि) प्रकाशित हो।

[राजा दो प्रकार के हैं, सजात तथा विजात। अपने साम्राज्य में उत्पन्न राजा सजात है, वे हैं यथा **"इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा"** (यजुः० ८.३७), तथा विजात हैं अन्य साम्राज्यों में उत्पन्न राजा। क्षत्र हैं क्षत्रिय-सैनिक। मित्रधा=मित्र+धाञ्+विच् (सायण)। दीदिहि=**दीदयति ज्वलतिकर्मा** (निघं०

१.१६)। मन्त्र द्वारा प्रतीत होता है कि निज साम्राज्य के राजाओं में परस्पर विवाद की अवस्था में प्रधानमन्त्री उनमें मध्यस्थ होकर विवाद में निर्णय दे।]

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

अति निहो अति सृधोत्यचित्तीरति द्विषः।

विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥ ५॥

अर्थ—(निहः) नितरां हनन करनेवाले विषयज दोषों से [सायण] (अति तर) हमें तैरा, (अति सृधः=स्रिधः) शोषण करनेवाले दोषों से तैरा, (अति अचित्तीः) अज्ञानमयी चित्तवृत्तियों से तैरा, (अति द्विषः) द्वेषभावनाओं से तैरा। (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (विश्वा दुरिता=विश्वानि दुरातानि) सब दुरितों को (त्वम्) तू भी (तर) तैर, (अथ) तदनन्तर (सहवीरम्) वीर पुत्रोंसहित (रयिम्) ऐश्वर्य (अस्मभ्यम् दाः) हमें दे।

[मन्त्र में "तर" पद के प्रयोग द्वारा दोषों को "नद" कहा है। इन्हें तर जाना सूचित किया है। दुरिता तर=दुरितानि परासुव। स्रिधः=**स्रेधतिः शोषणकर्मा छान्दसः** (सायण)। **अतितर=अतितारय, अन्तर्णीतण्यर्थः** (सायण)।]

सूक्त ७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।

आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान्मच्छपथाँ अधि॥ १॥

अर्थ—(अघद्विष्टा) पाप से द्वेष अर्थात् अप्रीति करनेवाली, (देवजाता) दिव्य व्यक्तियों में प्रकट हुई, (शपथयोपनी) शपथों से हटानेवाली (वीरुत्) ओषधिरूपी परमेश्वर-माता, (सर्वान् शपथान्) सब प्रकार के शपथों को (मत् अधि) मुझसे (प्राणैक्षीत्) प्रक्षालित करती है, धो देती है, (इव) जैसेकि (मलम्) मल को (आपः) जल प्रक्षालित करते हैं, धो देते हैं।

[द्विष्टा=**द्विष अप्रीतौ, कर्तरि क्तः** (सायण)। योपनी=**युप विमोहने,** विमोहन=निवारण (सायण)। प्राणैक्षीत्=प्र+**णिजिर् शौचपोषणयोः, छान्दसे लुङि** (सायण)। वीरुत्=परमेश्वर माता ओषधिरूपा है। यथा "**भेषजमसि भेषजम्**" (यजुः० ३.५९)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।

ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात्सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥ २॥

अर्थ—(यः च) और जो (सापत्नः) शत्रु द्वारा हमारे प्रति किया गया (शपथः) शपथ है, (यः शपथः च) और जो (जाम्याः) गृहोत्पन्न किसी स्त्री द्वारा हमारे प्रति किया गया शपथ है, (ब्रह्मा यत् मन्युतः शपात्) वेदविद् ने कुपित होकर जो शाप दिया है, (तत् सर्वम्) वह सब (नः) हमारे (अधः पदम्) पैरों के नीचे हो, पैरों तले कुचल दिया जाए।

[शपथ और शाप में भेद है (निरुक्त, शपथाभिशापौ, ७.१.३)। शपथ स्वयं ली जाती है और शाप दूसरे को दिया जाता है। सूक्त में शपथ और शाप दोनों का कथन हुआ है। ब्रह्मा द्वारा शाप का कथन

हुआ है, और सपत्नों द्वारा शपथों का।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्। तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥ ३॥

अर्थ—(दिवः) द्युलोक से (मूलम्) जड़ (अवततम्) नीचे की ओर फैली है, (पृथिव्याः अधि) और पृथिवी से (उत्ततम्) ऊपर को फैली है। (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) हजारों ग्रन्थियोंवाले जगत्-वृक्ष द्वारा (विश्वतः) सब प्रकार से (नः परि पाहि) हमारी रक्षा कर [हे परमेश्वरमातः]।

[यह जगत्-वृक्ष है, अश्वत्थ वृक्ष। यथा "**ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्**" (गीता १५.१)। वृक्ष की शोभा पत्तों द्वारा होती है, न कि पत्तोंरहित शाखाओं द्वारा। संसार-वृक्ष की शोभा वैदिक छन्दों द्वारा होती है। वेदों के बिना संसार शोभा-रहित है। संसार-वृक्ष का मूल ऊर्ध्व में है। ऊर्ध्व में स्थित नक्षत्र-तारा तथा आदित्य की रश्मियों पर पृथिवी आश्रित है, और ऊर्ध्वस्थ आदित्य से ही प्रकट हुई है। संसार-वृक्ष की ग्रन्थियाँ हैं, संसार-वृक्ष के घटक अवयव, जोकि हमारी रक्षा कर रहे हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद् बृहती**॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम्।

अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः॥ ४॥

अर्थ—[हे परमेश्वरमातः!] (माम् परि पाहि) मेरी सब ओर से रक्षा कर, (मे प्रजाम् परि) मेरी प्रजा की सब ओर से रक्षा कर, (नः यद् धनम्) हमारा जो धन है उसकी (परि पाहि) सब ओर से रक्षा कर। (अरातिः नः मा तारीत्) अदान भावना या अदानी शत्रु हमारा अतिक्रमण न करे, (नः मा तारिषुः अभिमातयः) निज शक्ति का अभिमान करनेवाले हमारा अतिक्रमण न करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सह। चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि॥ ५॥

अर्थ—(शपथः) शपथ अर्थात् शाप (शप्तारम्) शाप देनेवाले को (एतु) प्राप्त हो। (यः) जो (सुहार्त्) उत्तम हृदयवाला है (तेन) उसके साथ (नः सह) हमारा सहवास हो। (चक्षुर्मन्त्रस्य) आँखों के इशारों द्वारा जो गुप्त भाषण करता है (दुर्हार्दः) अतः जो दुष्टहृदय है उसकी (पृष्टीः अपि) पसलियों को भी (शृणीमसि) हम तोड़ देते हैं।

[शाप देनेवाला दुष्टहृदय होता है, अतः यह दुष्टता उसे ही दूषित करती है। इसका प्रभाव उस पर नहीं होता, जिसे कि शाप दिया जाता है। शपथ का अभिप्राय है शाप, न कि शपथ।]

सूक्त ८

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ १॥

अर्थ—(भगवती[1]) यशस्वी, (विचृतौ) बन्ध को काटनेवाले, (नाम) प्रसिद्ध (तारके) दो तारा (उदगाताम्) उदित हुए हैं, वे (क्षेत्रियस्य) शरीर-क्षेत्र के (अधमम्) अधोभाग के, (उत्तमम्) तथा

१. भग=यश। यथा—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥"

ऊर्ध्वभाग के (पाशम्) फन्दे को (वि मुञ्चताम्) विमुक्त करें।

[क्षेत्र=शरीर। यथा "**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**" (गीता १३.१)। "**क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः**" (अष्टा० ५.२.९२) का वर्णन प्रतीत नहीं होता। ये दो तारा हैं मूला-नक्षत्र में, अर्थात् वृश्चिक-राशि के पुच्छ के अन्त में। सम्भवतः इन दो तारों का उदयकाल विशिष्ट-शारीरिक रोग के उन्मूलन के लिए उपयोगी हो। इसलिए इन दो ताराओं को भगवती कहा है, ये रोगोन्मूलन के यशवाले हैं। रोग और रोगोपचार का सम्बन्ध काल के साथ भी होता है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः। वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ २ ॥

अर्थ—(इयम् रात्री) यह उषाकालीना रात्री (अप उच्छतु) क्षेत्रियरोग का विवासन करे, अपनयन करे, (अभिकृत्वरीः) साक्षात् रोगमूल को काटनेवाली वीरुधें (अप उच्छन्तु) क्षेत्रिय रोग का विवासन करें, अपनयन करें। (क्षेत्रियनाशनी) क्षेत्रिय रोग का नाश करती हुई (वीरुत्) वीरुत् (क्षेत्रियम्) क्षेत्रिय रोग का (अप उच्छतु) विवासन करे, अपनयन करे।

[यह रात्री तमोमयी नहीं, अपितु उषाकालीना रात्री है, जोकि तमोविवासन कर सकती है, इसे सवित्-काल[1] कह सकते हैं, जबकि द्युलोक रश्मियों द्वारा आकीर्ण[1] होता है, और अधस्तात् अर्थात् पृथिवी पर अभी अन्धकार होता है (निरुक्त १२.२.१२)। अभिप्राय यह है कि उषाकालीना रात्री जैसे तमस् का नाश करती है, वैसे वीरुत् क्षेत्रिय रोग का नाश करे। यह वीरुत् सम्भवतः मन्त्र (३) में कथित यव-पललि या तिलपिञ्जा है। इसे हृदयगत कर मन्त्र (२) में वीरुत् का कथन हुआ है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ३ ॥

अर्थ—(बभ्रोः) भरण-पोषण करनेवाले (अर्जुनकाण्डस्य) अर्जुनवृक्ष की, तथा (यवस्य) जौं की (पलाल्या) पराल द्वारा, तथा (तिलस्य तिलपिञ्जया) तिल की तिलपीठी द्वारा निर्मित (वीरुत्) विरोहणशील लता, (क्षेत्रियनाशनी) जोकि शारीरिक रोग का विनाश करनेवाली है, वह (ते) हे रुग्ण! तेरे (क्षेत्रियम्) शारीरिक रोग का (अप उच्छतु) विवासन करे, अपनयन करे, निवारण करे।

[बभ्रोः=**भृञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। पलाल्या=अर्जुन वृक्ष के काण्ड से उत्पन्न पत्तों की पराल द्वारा। पिञ्जया=तिलों की हिंसा अर्थात् हनन द्वारा प्राप्त पीठी द्वारा, **पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु।** (चुरादिः)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः। वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ४ ॥

अर्थ—हे रुग्ण! (ते) तेरे (लाङ्गलेभ्यः) हलों से उत्पन्न (नमः) अन्न, (ईषायुगेभ्यः) ईषा और युगों से प्राप्त (नमः) अन्न (वीरुत्) वीरुत् रूप है। (क्षेत्रियनाशनी) वह शारीरिक रोग का नाश करती है, (क्षेत्रियम्) वह (ते) तेरे शारीरिक रोग का (अप उच्छतु) विवासन करे, अपनयन करे, उसे निवारित करे।

---

१. तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति। अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति।

[हलों से प्राप्त कृष्यन्न को वीरुत् कहा है। पौष्टिक अन्न के सेवन से बल बढ़ता है। बल की प्राप्ति से रोग पर आक्रमण नहीं करते। ईषा है शकट के अग्रभाग का डण्डा और युग हैं जुआ, बैलों के कन्धों पर रखने की लकड़ी। ते=दो बार अन्वय। लाङ्गल आदि कृषिकर्म में अत्युपकारी हैं, अतः इनकी सहायता से उत्पन्न अन्न कहा है, यद्यपि अन्न कृषिभूमि से प्राप्त होता है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**निचृत् पथ्या पङ्क्तिः** ॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः।

नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ५॥

अर्थ—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) ध्वस्त-इन्द्रियवालों के लिए (नमः) अन्न प्रदान हो, (संदेश्येभ्यः) अन्नोत्पादन का सम्यक् निर्देश करने योग्य व्यक्ति के लिए (नमः) अन्न प्रदान हो। (क्षेत्रस्य पतये) खेत के स्वामी तथा रक्षक श्रमी के लिए (नमः) अन्न प्रदान हो। (वीरुत्) अन्नरूपी वीरुत् (क्षेत्रियनाशनी) शरीर-क्षेत्र के रोग का नाश करनेवाली है (क्षेत्रियम् अप उच्छतु) शरीर-क्षेत्र के रोग का विवासन करे, अपनयन करे, उसका निवारण करे।

[वीरुत् है अन्नरूप। **नमः अन्ननाम** (निघं० २.७)। सनिस्रसाक्षेभ्यः=**स्रंसु अवस्रंसने,** (भ्वादिः) यङ्लुकि+अक्ष (आँख तथा अन्य इन्द्रियाँ)। संदेश्य=कृषिविभाग के राज्याधिकारी, अन्य परामर्शदाता। क्षेत्र के पति अर्थात् स्वामी तथा कृषिरक्षक श्रमी।]

सायण का अभिप्राय

सनिस्रसाक्षेभ्यः=जिनके गवाक्ष अर्थात् झरोखे और द्वार विशीर्ण हो रहे हैं, उन शून्य गृहों के लिए नमस्कार हो। संदेश्येभ्यः=जो त्याग दिए जाते हैं उनमें कि मिट्टी के आदान से, उन जर्दगर्तों अर्थात् जीर्ण हुए गढ़ों को नमस्कार हो। क्षेत्रस्य पतये=शून्यगृहादिरूप क्षेत्र के अधिपति, इस नामवाले देव को नमस्कार हो। तुम्हारी प्रसन्नता से रोगशान्ति हो, यह अभिप्राय है नमस्कारों का (सायण)।

सूक्त ९

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय॥ १॥

अर्थ—(दशवृक्ष) हे दशवृक्ष! अथवा दसवृक्षों के मेल से निर्मित औषध! (इमम्) इसे (रक्षसः ग्राह्याः अधि) राक्षसरूप रोग की जकड़ से (मुञ्च) मुक्त कर, छुड़ा, (या) जिस जकड़ ने कि (एनम्) इसे (पर्वसु) जोड़ों में (जग्राह) जकड़ा हुआ है। (अथो) तथा (वनस्पते) हे वनस्पति! या वनस्पतियों द्वारा निर्मित! (एनम्) इसे (जीवानाम् लोकम्) जीवितों के लोक के प्रति (उन्नय) उठा।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात्। अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः॥ २॥

अर्थ—(अयम्) यह रोगी (आगात्) आ गया है, (उदगात्) तथा उठ आया है, (जीवानां व्रातम् अपि) जीवितों के समूह के प्रति भी (अगात्) आया है। (उ) तथा (पुत्राणाम्) पूर्वोत्पन्न पुत्रों का (पिता) पुनः रक्षक (अभूत्) हो गया है, (च) और (नृणाम्) मनुष्यों में (भगवत्तमः) अतिशय

भाग्यशाली हो गया है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन्। शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः॥ ३॥

अर्थ—(अयम्) इस रोगी ने (अधीतीः) स्मर्तव्य विषयों को (अध्यगात्) स्मरण कर लिया है, और (जीवपुराः) जीवितों के पुरों को (अधि अगन्) प्राप्त हो गया है। (अस्य) इस रोगी के, (हि) निश्चय से, (शतम्, भिषजः) सैकड़ों चिकित्सक हैं, (उत) तथा (सहस्रम्) हजारों (वीरुधः) ओषधियाँ हैं।

[अगन्=**मो नो धातोः** (अष्टा० ८.२.६४), इति नत्वम् (सायण)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः। चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि॥ ४॥

अर्थ—(देवाः) देवों ने (ते) तेरे (चीतिम्) चीत्कार को (अविदन्) जाना, (ब्रह्माणः) वेदवेत्ताओं तथा ब्रह्मज्ञों ने, (उत) तथा (वीरुधः) वीरुधों के ज्ञाता चिकित्सकों ने तेरे चीत्कार को जाना। (भूम्याम् अधि) भूमिनिवासी (विश्वे देवाः) सब देवों ने (ते चीतिम्) तेरे चीत्कार को (अविदन्) जाना।

[**वीरुधः=विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान् इति वीरुधः** (सायण, मन्त्र ३)। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वीरुधः का अर्थ चिकित्सक भी सम्भव है। अथवा वीरुधः=वीरुधां ज्ञातारः, लाक्षणिक प्रयोग, यथा ''मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्ति।'' मन्त्र २, ३ में भूतकाल-प्रयोगों द्वारा, तथा अन्य वर्णनों द्वारा ज्ञात होता है कि रोगी रोगोन्मुक्त हो चुका था। मन्त्र ४ में रोगोन्मुक्त के चीत्कार का पुनः कथन हुआ है। अतः वह पुनः रोगाक्रान्त हो गया है। इसलिए उसके रोग के स्थिर शमन के लिए परमेश्वर से याचनार्थ मन्त्र ५ कहा है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यश्चकार स निष्करत्स एव सुभिषक्तमः।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः॥ ५॥

अर्थ—हे रुग्ण! (यः चकार) जिसने तुझे पैदा किया है (स निष्करत्) वह तेरे रोग का शमन करे, (स एव) वह ही (सुभिषक्तमः) सर्वश्रेष्ठ महाचिकित्सक है। (स एव) वह ही (भिषजा) निजभिषक् रूप द्वारा (तुभ्यम्) तेरे लिए (भेषजानि) औषधें (कृणवत्) करे। (शुचिः) जो भिषक् रूप कि पवित्र है, [अर्थात् जो परमेश्वर कि पवित्ररूप है, वह तुझे पवित्र करके तुझे रोगोन्मुक्त करे।]

[परमेश्वर भेषज भी है, यथा ''**भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै**''॥ (यजुः० ३.५९), अर्थात् परमेश्वर भिषक् भी है और भेषज भी। उसकी इच्छामात्र से सर्वरोग-निवृत्ति हो जाती है।]

सूक्त १०

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १॥

अर्थ—हे पुरुष! (क्षेत्रियात्) क्षेत्र अर्थात् शरीरसम्बन्धी रोग से, (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति से, (जामिशंसात्) बहिन के प्रति की गई दुरिच्छा से (द्रुहः) द्रोह से, (वरुणस्य पाशात्) वरुण के पाश से, अर्थात् असत्यवचन आदि से (त्वा मुञ्चामि) तुझे मैं [चिकित्सक] मुक्त करता हूँ। (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (त्वा) तुझे (अनागसम्) पापरहित (कृणोमि) मैं करता हूँ। (ते) तेरे लिए (द्यावापृथिवी उभे) द्यौः और पृथिवी दोनों (शिवे स्ताम्) कल्याणकारी हों।[1]

[वरुणस्य पाशात्=अनृत भाषण से प्राप्त पाश आदि (अथर्व० ४.१६.७ आदि)। ब्रह्मणा (अथर्व० ६.२६.२)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाष्टिः** ॥

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ २॥

अर्थ—(अद्भिः सह अग्निः) जल के साथ अग्नि (ते) तेरे लिए (शम्) सुखकारी तथा रोग का शमन करनेवाली हो। (ओषधीभिः सह) ओषधियों के साथ (सोमः) सोम-ओषधि (शम्) सुखकारी तथा रोग का शमन करनेवाला हो (एव=एवम्) इसी प्रकार (अहम्) मैं प्रयोक्ता (त्वाम्) तुझे (क्षेत्रियात्) क्षेत्रिय आदि से; पूर्ववत्, [अर्थात् क्षेत्रिय आदि से मुक्त कर मैं प्रयोक्ता "शम्" सुखी होता हूँ।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा धृतिः** ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ३॥

अर्थ—(अन्तरिक्षे वातः) अन्तरिक्ष में वायु (ते) तेरे लिए (शम्) सुखकारी हो, और (वयः धात्) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु परिपुष्ट करे, (प्रदिशः चतस्रः) विस्तृत चार दिशाएँ (ते) तेरे लिए (शम्) सुखकारी (भवन्तु) हों। (एव=एवम्) इसी प्रकार (अहम्) मैं प्रयोक्ता (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्....) क्षेत्रिय आदि से, पूर्ववत्।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा धृतिः** ॥

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ४॥

अर्थ—(इमाः याः) ये जो (देवीः) द्योतमान (चतस्रः प्रदिशः) चार प्रकृष्ट दिशाएँ हैं, (वातपत्नीः) वायु जिन का पति है, रक्षक है, जिन्हें कि (सूर्यः अभि विचष्टे) सूर्य सब ओर से देखता है, प्रकाशित करता है [वे तेरे लिए ("सूर्यसहित, शम् भवन्तु")] (एव=एवम्) इसी प्रकार (अहम्) मैं प्रयोक्ता (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्.....) क्षेत्रिय आदि से; पूर्ववत्।

१. मन्त्र से शारीरिक रोग, तथा मानसिक दुरिच्छा आदि रोगों का कथन हुआ है।

[विचष्टे=**चष्टे पश्यतिकर्मा** (निघं० ३.११)। अभि=अभितः, सर्वतः (सायण)। देवीः=**देवो दानाद् वा दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा**" (निरुक्त ७.४.१५)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा धृतिः** ॥

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः।
एवाहं त्वां क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ५ ॥

अर्थ—(तासु अन्तः) उन द्योतमान दिशाओं के मध्य, (जरसि) जरावस्था में (त्वा) तुझे (आ दधामि) मैं स्थापित करता हूँ। (निर्ऋतिः यक्ष्मः) कृच्छ्रापत्तिरूप यक्ष्म (पराचैः) परे के अर्थात् दूर के मार्गों द्वारा (प्र एतु) प्रगत हो जाए। (एवाहम्) इस प्रकार मैं प्रयोक्ता (त्वाम्) तुझे (क्षेत्रियात्.....) क्षेत्रिय आदि से; पूर्ववत्।

[मन्त्र में कष्टदायक यक्ष्मरोग का वर्णन हुआ है। यक्ष्मरोगी को, जबकि वह विशेषतया वृद्धावस्था में हो, तो उसका निवास द्योतमान तथा खुले घर में होना चाहिए। यथा "**ता वां वास्तून्यश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।** (ऋ० १.१५४.६) **गावः=सूर्यरश्मयः। भूरिशृङ्गाः=बहुज्वलनाः, बहुप्रदीप्ताः" शृङ्गाणि ज्वलतो नाम** (निघं० १.१०)। **उरुगायस्य=महागृहस्य। वृष्णः=वर्षाकारिणः सूर्यस्य, अथवा रश्मीणाम् वर्षाकारिणः सूर्यस्य।**]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदात्यष्टिः** ॥

अमुक्था यक्ष्माद्दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः।
एवाहं त्वां क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ६ ॥

अर्थ—(अवद्यात्) निन्दनीय या अकथनीय (दुरितात् यक्ष्मात्) दुष्परिणामी यक्ष्म से (अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, छूट गया है, (द्रुहः) द्रोहभावना से, (पाशात्) वरुण के पाश से, (ग्राह्याः च) और जकड़न से (उत् अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, छूट गया है। (एवाहम्) इस प्रकार मैं चिकित्सक (त्वाम्) तुझे (क्षेत्रियात्.....) क्षेत्रिय रोग आदि से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ; शेष पूर्ववत्।

[अमुक्थाः से ज्ञात होता है कि व्यक्ति यक्ष्म आदि से मुक्त हो गया है। इसे ही "मुञ्चामि" द्वारा कहा है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा धृतिः** ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके।
एवाहं त्वां क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ७॥

अर्थ—(अहाः अरातिम्) शत्रुसदृश वर्तमान क्षेत्रिय रोग आदि का तूने त्याग कर दिया है, (स्योनम् अविदः) सुख को तूने प्राप्त किया है। (भद्रे सुकृतस्य लोके अपि) सुखदायक और कल्याणकारी, सुकर्मियों के इस लोक में भी (अभूः) तू हो गया है। (एवाहम्) इस प्रकार मैं चिकित्सक (त्वाम्) तुझे

(क्षेत्रियात्.....) क्षत्रिय रोग आदि से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ; शेष पूर्ववत्।

[अहाः **ओहाक् त्यागे** (जुहोत्यादिः)। **स्योनम् सुखनाम** (निघं० ३.६) भद्रे=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)। **सुकृतस्य लोके=अस्मिन् भूलोके** (सायण)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा धृतिः** ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः।

एवाहं त्वां क्षैत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ८॥

अर्थ—(ऋतम्) सत्यस्वरूप (सूर्यम्) सूर्य को, (तमसः ग्राह्याः अधि) तमस् की जकड़न से (मुञ्चन्तः) मुक्त करती हुईं (देवाः) दिव्य शक्तियों ने (एनसः) तमस् रूपी पाप से (निः असृजन्) विमुक्त कर दिया। (एवाहम्) इसी प्रकार मैं चिकित्सक (त्वाम्) तुझे (क्षेत्रियात्.....) क्षेत्रिय आदि रोग से (मुञ्चामि) मुक्त करता हूँ; शेष पूर्ववत्।

[ऋतम् सत्यनाम (निघं० ३.१०)। सूर्य सदा एकरूप रहता है अतः सत्यरूप है, इसके स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता। उत्तरायण में दक्षिणायन में इसकी गति होते हुए भी यह अपने प्रकाशस्वरूप में सदा बना रहता है। एनसः=सूर्य को "ग्रहण" घेर लेता है, यह उसके पाप के कारण होता है—ऐसा कहा जाता है। आकाशीय-देव इसे इस पाप से मुक्त कर देते हैं। सूर्य और पृथिवी के मध्य में जब चन्द्रमा व्यवधायक होता है, तब सूर्यग्रहण होता है—यह भी आकाशीय दिव्यशक्तियों के कारण होता है। और दिव्य-शक्तियों के प्रभाव द्वारा जब चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी के मध्य से हट जाता है, तो सूर्य ग्रहण से सूर्य छूट जाता है, मानो वह पाप से मुक्त हो गया है "निरेणस" हो गया है।]

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त ११

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा विराड् गायत्री** ॥

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ १॥

अर्थ—हे जीवात्मन्! (दूष्याः) दूषित चित्तवृत्तियों का (दूषिरसि) दूषक अर्थात् निवारक तू है, (हेत्याः) विषयरूपी अस्त्रों का (हेतिः) अस्त्ररूप तू है, (मेन्याः) घातक मनोवृत्ति का (मेनिः) घातक (असि) तू है। (श्रेयांसम्) अपने से श्रेष्ठ गुरु को (आप्नुहि) प्राप्त कर [उसकी सेवा किया कर] (समम्) और स्वसमान व्यक्तियों का (अतिक्राम) अतिक्रमण कर, उनसे आगे बढ़।

[**मेनिः वज्रनाम** (निघं० २.२०), **मीञ् हिंसायाम्** (क्र्यादिः)+नि (औणादिक)। हेतिः=**हि गतौ** (स्वादिः), जोकि शत्रु की ओर गमन करता है, अर्थात् अस्त्र, न कि शस्त्र, जोकि शत्रु के हननार्थ प्रयोक्ता के हाथ में रहता है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा परोष्णिक्** ॥

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ २॥

अर्थ—[हे अतिक्रमण किये हुए जीवित पुरुष!] (स्रक्त्यः) मालायोग्य (असि) तू है, (प्रतिसरः असि) विषयों के प्रतिकूल होकर उनकी ओर तू सरण करता है, (प्रत्यभिचरणः असि) उनके प्रतिकूल होकर उनका अभिचार अर्थात् विनाशकारी तू है। पुनरपि (श्रेयांसम्) श्रेष्ठ गुरु को (आप्नुहि) प्राप्त कर, उसकी सेवा कर, (समम् अतिक्राम) और स्वसमान व्यक्ति का अतिक्रमण कर, उससे आगे बढ़।

[स्रक्त्यः=स्रक्=स्रज्, **सृज विसर्गे**+तिः (औणादिक)+यत् प्रत्यय। समम्=श्रेष्ठता में सम हुए व्यक्ति का भी अतिक्रमण कर, उससे भी आगे बढ़। स्रजम्="**पुष्पितात् यथा स्रजं पुष्पनिकरं जनाः आददते**" (अथर्व० १.१४.१), (सायण)। स्रक्त्यः का अर्थ "स्रक्तिः तिलकवृक्ष तत्र भवः, तिलकवृक्षनिर्मितः" यह अर्थ सायण ने किया है। परन्तु सूक्त ११, मन्त्र ४ में स्रक्त्य को सूरिः कहा है, जिसका अर्थ किया है "अभिज्ञः" (सायण)। तिलकवृक्षनिर्मित काष्ठमणि "अभिज्ञ" कैसे सम्भव है, तथा उस काष्ठमणि को कहना कि "**आप्नुहि श्रेयांसम्**"—यह कैसे उपपन्न हो सकता है?]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदा परोष्णिक्**॥

प्रति तमभि चर यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ ३॥

अर्थ—हे जीवात्मन्! (तम्) उस दुरित को (अभिचर) विनष्ट कर (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम् प्रति वयम्) और जिसके साथ हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं। (श्रेयांसम् आप्नुहि) एतदर्थ श्रेष्ठ गुरु को प्राप्त हो, उसकी सेवा कर, (समम् अतिक्राम) और स्वसमान व्यक्ति का अतिक्रमण कर, उससे भी आगे बढ़।

[जो दुरित और दुर्विचार हैं, वे जीवन में शत्रुरूप हैं। यदि उन्हें हम अपनाते रहें तो उनका विनाश अर्थात् निवारण नहीं हो सकता। उनका निवारण तभी हो सकता है यदि हम भी उनसे द्वेष करें, प्रीति न करें और एतदर्थ श्रेष्ठ गुरुओं का सत्सङ्ग करते रहें, और उनकी सेवा शुश्रूषा करते रहें।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृदुष्णिक्**॥

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ ४॥

अर्थ—हे जीवात्मन्! (सूरिः असि) तू अभिज्ञ है, (वर्चोधाः असि) तेजधारी है, (तनूपानः असि) शरीर का रक्षक है। (श्रेयांसम् आप्नुहि, समम् अतिक्राम) अर्थ, पूर्ववत्।

[सायण ने सूरि का अर्थ "अभिज्ञ" किया है। अभिज्ञ का अर्थ होता है ज्ञानवान्, ज्ञानी। यह अर्थ तिलकवृक्ष की मणि अर्थात् काष्ठखण्ड में उत्पन्न नहीं हो सकता, जीवात्मा में ही उपपन्न हो सकता है। ज्ञानधर्म जीवात्मा का है।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदा परोष्णिक्**॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ ५॥

अर्थ—हे जीवात्मन्! (शुक्रः असि) कामक्रोध आदि का तू शोषक है, (भ्राजः असि) दीप्तिस्वरूप तू है, (स्वः असि) आदित्यसदृश स्वप्रकाशमान तू है, (ज्योतिः असि) ज्योतिस्वरूप तू है। (श्रेयांसम् आप्नुहि) श्रेष्ठ गुरु को तू प्राप्त कर, (समम् अतिक्राम) और स्वसमान व्यक्ति का अतिक्रमण कर, उनसे आगे बढ़।

[मन्त्र के वर्णन में तिलकवृक्ष की मणि अर्थात् काष्ठखण्ड में अनुपपन्न है, जैसेकि सायण ने कहा

है।]

सूक्त १२

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्।**

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोद्भुतः।

उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने॥ १॥

अर्थ—(इह) इस पृथिवी पर (मयि तप्यमाने) मेरे तपश्चर्या करते हुए, (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक, (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्ष, (क्षेत्रस्य पत्नी) संसार क्षेत्र की रक्षिका शक्ति [अग्नि, वायु, और सूर्य आदि,] (उरुगायः) महागीयमान (अद्भुतः) अद्भुत परमेश्वर, (उत) तथा (वातगोपम्) वायु द्वारा सुरक्षित या वायु का रक्षक (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (ते) वे सब (तप्यन्ताम्) तपश्चर्या करते हुए प्रतीत हों।

[जैसे सुखी को सब ससार सुखमय और दुःखी को दुःखमय प्रतीत होता है, वैसे तपस्वी को संसार तपश्चर्या करता हुआ प्रतीत होता है। परमेश्वर भी उसे तपस्वी प्रतीत होता है, जो कि विश्राम किये बिना संसार की रचना और पालना करता रहता है। अन्तरिक्षपद दो बार पठित है। प्रथम पठित अन्तरिक्ष है संसारव्यापी महा अन्तरिक्ष, और द्वितीय अन्तरिक्ष सीमित है वहाँ तक, जितनी सीमा में वायु का निवास है, इसे "वातगोपम्" कहा है।]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**जगती।**

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।

पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ २॥

अर्थ—(देवाः) हे मेरे दिव्य विचारो! (ये) जोकि (यज्ञियाः स्थ) पूजनीय हो, (इदम् शृणुत) इस मेरे कथन को सुनो—(भरद्वाजः) कि शक्ति भरा मेरा मन (मह्यम्) मेरे लिए (उक्थानि) सूक्तियों का (शंसति) कथन करता है कि (सः) वह दुर्विचार (पाशे) पाशों में (बद्धः) बंधा हुआ होकर (दुरिते) दुष्फल में (नियुज्यताम्) नियुक्त हो (यः) जोकि (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस (मनः) मन की (हिनस्ति) हिंसा करता है।

[भरद्वाजः=मनः जो कि शक्ति भरा है (यजुः० १३.५५), यथा "**भरद्वाजऽऋषिः मनो गृह्णामि।**" भरद्वाजः=भरत्+वाजः बलनाम (निघं० २.९)। मन्त्र में भरद्वाजः पद यौगिकार्थ है। अस्माकम् मनः=शिवसंकल्पी मन। पाशे बद्धः=अशिव संकल्प हिंसा करता है शिवसंकल्प की, और तद्-द्वारा मन की। अशिव संकल्पों के बाधक हैं यज्ञिय भाव, अतः देवों अर्थात् दिव्यभावों को सम्बोधित किया है।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्।**

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।

वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्र) हे इन्द्रियों के अधिष्ठातः जीवात्मन्! (सोमप) हे वीर्य का पान करनेवाले! (इदम् शृणुहि) यह सुन (यत्) जिसे कि (शोचता हृदा) शोकाविष्ट हृदय के साथ (त्वा) तेरा मैं (जोहवीमि) बार-बार आह्वान करता हूँ। (तम्) उसे (वृश्चामि) मैं काटता हूँ, (इव) जैसेकि (कुलिशेन) परशु द्वारा

(वृक्षम्) वृक्ष को काटा जाता है (यः) जोकि (अस्माकम्) हमारे (इदम् मनः) इस शिवसंकल्पी मन की (हिनस्ति) हिंसा करता है।

[इन्द्र=सूक्त ११ में प्रोक्त शुक्र आदि गुणों से सम्पन्न जीवात्मा। सोमप=वीर्यपायी ऊर्ध्वरेता जीवात्मा। सोम=वीर्य (देखो १४.१.१-५, मत्कृत भाष्य)। जोहवीमि=ह्वयतेर्यङ्लुगन्त रूप। शोचता हृदा=हे जीवात्मन्! शुक्र आदि होते हुए तथा सोमप होते हुए भी, जो अशिवसंकल्पी रूपी शत्रु तेरा परित्याग नहीं कर रहा, इसलिए मैं तेरा गुरु शोकाविष्ट हृदयवाला हूँ। मन में अशिवसंकल्पों का रहना, यह मन की हिंसा है।]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**आदित्यवस्वङ्गिरसः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।

इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन॥ ४॥

अर्थ—(सामगेभिः) साम के गानेवाले (आदित्येभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः) आदित्यों, वसुओं, और अङ्गिराओं अर्थात् रुद्रों की सहायता द्वारा, और (अशीतिभिः तिसृभिः) और ८० तृचों द्वारा (नः पितृणाम्) हम [गृहस्थी] माता-पिता के (इष्टापूर्तम्) इष्ट और आपूर्त को (अवतु) सुरक्षित करे [देवसम्बन्धी] (हरस्) क्रोध, इसलिए (अमुम्) उस क्रोध को (दैव्येन हरसा) देवों सम्बन्धी क्रोध द्वारा (आददे) मैं ग्रहण करता हूँ। वसु, रुद्र, आदित्य स्नातक विद्वान् हैं।

[अङ्गिरोभिः=**वस्वादित्य समभिव्याहारात् अङ्गिरः-शब्देन रुद्राः प्रत्येतव्याः** (सायण)। अशीतिभिः तिसृभिः=सामवेद के उत्तरार्चिक में सामगान के लिए तीन-तीन ऋचाओं के तृच हैं, उनमें से ८० तृचों का कथन हुआ है। हरस्=**हरः क्रोधनाम** (निघं० २.१३)। दैव्येन हरसा=देवों का हरस् अर्थात् क्रोध दिव्य होता है, जिसे कि मन्यु कहते हैं, यह अवबोधपूर्वक होता है, मनु अवबोधने (तनादिः), इसलिए इसका उपादान कहा है—"**मन्युरसि**[१] **मन्युं मयि धेहि**"। यह मन्यु गृहस्थियों के इष्टापूर्त की रक्षा करता है। इष्ट है यागादि; आपूर्त है सामाजिक उपकार कार्य, कूप, तडाग आदि कर्म।]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**सोम्यासः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम्।

अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता॥ ५॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक तथा पृथिवीलोक (मा अनु) मेरे अनुकूल (दीधीथाम्) तुम दोनों प्रदीप्त होओ, (विश्वे देवासः) हे सब देवो! (मा अनु) मेरे अनुकूल (रभध्वम्) निज कार्यों का आरम्भ करो। (सोम्यासः) हे सौम्य स्वभावोंवाले (अङ्गिरसः पितरः) अथर्वाङ्गिरस वेद के ज्ञाता पितरो! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामना का करनेवाला (पापम् आ ऋच्छतु) पाप को प्राप्त हो।

[मा अनु=**मयि तप्यमाने तप्यन्ताम्** (मन्त्र १) की भावनानुसारी भावना मन्त्र ५ में प्रकट की गई है। वह भावना है "**आमुं ददे हरसा दैव्येन**" (मन्त्र ४) की भावना। विश्वे देवासः=द्यावापृथिवी के

---

१. मन्यु है अवबोधपूर्वक की गई दैवी, मानसिक दृढ़ता।
हरस् यद्यपि क्रोध है। मानव-क्रोध में द्रोहभावना होती है, देवों के क्रोध में द्रोह-भावना नहीं होती। वह मन्युपूर्वक होता है, अवबोधपूर्वक होता है। मन्यु है मनन-पूर्वक किया गया क्रोध। यह क्रोध दैव्य है, जिसमें कि द्रोह भावना का लेश भी नहीं होता। वह यथार्थ होता है, सच्चाईपूर्वक होता है।

सदृश। दीप्यमान सूर्य, चन्द्र आदि अन्य देव। अपकामस्य कर्ता=पापी होता है; बुरी कामनाएँ पापरूप होती हैं, और सुकामनाएँ पुण्यरूप होती हैं, यह अभिप्राय है। मन्त्र में यह भी निर्देश है कि अथर्ववेद में किसी के प्रति कोई अपकामना नहीं अपितु सुकामनाएँ हैं, पापियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए।]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम्।

तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसन्तपाति ॥ ६ ॥

अर्थ—(मरुतः) हे मनुष्यो! अथवा हे ऋत्विजो! (यः) जो (नः) हमें (अति इव) अतिक्रान्त हुए के सदृश (मन्यते) अपने को मानता है, (वा) या (नः) हमारे (क्रियमाणम् ब्रह्म) किये जानेवाले वैदिक कर्म को (निन्दिषत्) निन्दा करता है। (तस्मै) उसके लिए (तपूंषि) ताप-सन्ताप (वृजिनानि) इस निन्दा कार्य से वर्जित करनेवाले (सन्तु) हों, (ब्रह्मद्विषम्) ब्रह्मद्वेषी को (द्यौः) द्यौ (अभिसंतपाति) साक्षात् संतप्त करे।

[मरुतः=**म्रियते इति मनुष्यजातिः** (उणा० १.९४; दयानन्द)। **मरुतः ऋत्विङ्नाम** (निघं० ३.१८)। (क्रियमाणम् ब्रह्म) "किये जानेवाले मन्त्रसाध्य कर्म को" (सायण)। निन्दिषत्=सिप्; **सिब् बहुलं लेटि** (सायण)। ऐसे व्यक्ति को द्युलोक स्वयम् संतप्त करे। संतपाति=लेट् लकार, आडागम।]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**यमसादनम्, ब्रह्म** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।

अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

अर्थ—(ते सप्त प्राणान्) तेरे सात प्राणों को, (तान् अष्टौ मन्यः) आठ उन धमनियों को, (ब्रह्मणा) वेदाज्ञा द्वारा, (वृश्चामि[१]) मैं काटता हूँ। (यमस्य सादनम्) यम के घर (अयाः) तू आया है, (अग्निदूतः) अग्नि द्वारा परितप्त होनेवाला, (अरंकृतः) और अलंकृत अर्थात् सुशोभित हुआ।

[सप्तप्राण=शीर्षस्थ सात गोलकों के सात प्राण। एक मुख का, दो चक्षुओं के, दो नासाछिद्रों के, दो कर्णों के प्राण। अष्टौ मन्यः="८ धमनियां कण्ठगत नाडीविशेष" (सायण)। अयाः=**"या प्रापणे"** लुङि। अरंकृतः=**शवालंकारेण विभूषितः** (सायण)। यमस्य सादनम्=श्मशान भूमि। दूतः=दूङ् परितापे (दिवादिः)। जो प्रजाजन अति दुष्ट है और प्रजा में रहने के अधिकार योग्य नहीं, राजदण्डानुसार उसे मृत्युदण्ड मिला है।]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि। अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मृत्युदण्डित! (ते पदम्) तेरे पैर को (समिद्धे) सम्यक्-प्रदीप्त (जातवेदसि) अग्नि में (आ दधामि) मैं स्थापित करता हूँ। (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) तेरे शरीर में (वेवेष्टु) प्रविष्ट हो जाए, (वाक् अपि) तेरी वाणी भी (असुम्) प्राणवायु में (गच्छतु) चली जाए। जातवेदसि=**जाते जाते विद्यते इति जातवेदाः, तस्मिन्** (निरुक्त ७.५.१९)।

---

१. राजवधक का वचन है; आसन्नभविष्यद्-घटना अर्थात् दाहकर्म में वर्तमानकाल में प्रयोग है वृश्चामि।

सूक्त १३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥ १ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे यज्ञियाग्नि! (आयुर्दाः) आयु का तू दान करती है, (जरसम् वृणानः) जरावस्था का तू संभजन करती है [अतः जरावस्था का तू प्रदान कर], (घृतप्रतीकः) घृत द्वारा अभिव्यक्त अवयवोंवाली तथा (घृतपृष्ठः) घृत द्वारा स्पृष्ट हुई (अग्ने) हे अग्नि! (मधुचारु, गव्यम् घृतम् पीत्वा) मधुर, रुचिकर या निर्मल गोघृत पीकर (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (रक्षतात्) तू रक्षा कर, (इव) जैसेकि (पिता पुत्रान्) पिता पुत्रों की रक्षा करता है।

[सूक्त में ब्रह्मचारी का वर्णन है, जोकि गुरुकुल में प्रवेश पा रहा है। यज्ञियाग्नि, आयु को दीर्घ करती है। यज्ञियाग्नि में गोघृत की पर्याप्त आहुतियाँ देनी चाहिएँ। यह अग्नि रोगों से रक्षा करती है। स्वरक्षार्थ प्रतिदिन ब्रह्मचारी अग्निहोत्र किया करे, यह अभिप्राय है। वृणानः=**वृङ् संभक्तौ** (क्र्यादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ॥ २ ॥

अर्थ—हे गुरुदेव! (परिधत्त) इसे वस्त्र पहनाओ, (नः) हमारे (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (धत्त) परिपुष्ट करो (जरामृत्युम्) जरावस्था में मृत्यु वाला अर्थात् (दीर्घमायुः) दीर्घायु (कृणतु) करो। (बृहस्पतिः) बृहती=वेदवाणी के पति अर्थात् आश्रम के वेदाचार्य ने (परिधातवे) पहिनने के लिए (एतद् वासः) यह वस्त्र (सोमाय राज्ञे) सौम्य स्वभाववाले, वस्त्रों से प्रदीप्त ब्रह्मचारी के लिए (प्रायच्छत्) दिया है।

[बृहस्पति है बृही=वेदवाणी का पति, परमेश्वर। यथा "**बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्**" (ऋ० १०.७१.१)। सूक्त में ब्रह्मचर्याश्रम में बृहस्पति द्वारा वेदपति अर्थात् वेदाचार्य कथित हुआ है, जोकि ब्रह्मचर्याश्रम का मुखिया है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व॥ ३ ॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारिन्! (इदं वासः) इस वस्त्र को (स्वस्तये) कल्याण के लिए तूने (परि अधिथाः) पहिना है, (गृष्टीनाम्) गौओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करनेवाला (उ) निश्चय से (अभूः) तू हुआ है। (पुरूचीः) बहुविध कर्मों में व्याप्त (शतम्, शरदः) सौ वर्षों तक (जीव) तू जीवित रह, (रायः च) और विद्याधन की (पोषम्) पुष्टि को कर, (उप संव्ययस्व) और वस्त्र को ठीक प्रकार से ओढ़ा कर।

[गृष्टीनाम्=गुरुकुल में प्रविष्ट ब्रह्मचारियों का कर्त्तव्य है गुरुकुल की गौओं की सेवा तथा रक्षा, जिनका दूध गुरुकुल के गुरुओं तथा ब्रह्मचारियों ने पीना है। ब्रह्मचर्यकाल में उनके पास धन केवल

विद्याधन ही होता है, व्यापारिक धन नहीं। उप संव्ययस्व=प्रविष्ट ब्रह्मचारी अल्पायु होते हैं, उन्हें वस्त्रों का ठीक प्रकार से ओढ़ना भी सिखाना होता है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम्॥ ४॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारी! (एहि) आ (अश्मानम्, आतिष्ठ) अश्मा पर आ खड़ा हो, (अश्मा भवतु ते तनूः) पत्थरसदृश दृढ़ हो तेरी तनू। (विश्वे देवाः) सब गुरुदेव (ते आयुः) तेरी आयुः (शतम्, शरदः) सौ वर्षों की (कृण्वन्तु) करें।

[ब्रह्मचारी को क्रियात्मक शिक्षा दी है। उसे दर्शाया है कि यह पत्थर जैसे दृढ़ाङ्ग है, वैसे तुझे कठोराङ्ग होना चाहिए, तदर्थ तू नियमपूर्वक व्यायाम किया कर, और वीर्य की रक्षा किया कर। आश्रम के सब गुरुदेव ब्रह्मचारी के खान-पान का विशेष ख्याल करें, जिससे कि ब्रह्मचारी की आयुः सौ वर्षों की हो सके। वर्ष शब्द के लिए शरदः शब्द पठित हुआ है, शरत् काल में जीवन स्वस्थ रहता है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती** ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेवन्तु देवाः।

तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम्॥ ५॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारी! (यस्य ते) जिस तेरे लिए (प्रथमवास्यम्) प्रथम पहिनने योग्य (वासः) वस्त्र को (हरामः) हम तेरे पितृपक्ष के लोग लाते हैं, (तम्, त्वा) उस तुझको (विश्वे देवाः) सब गुरुदेव (अवन्तु) सुरक्षित करें। (सुवृधा वर्धमानम्) उत्तमवृद्धि से बढ़ते हुए (तम् त्वा) उस तुझ के (अनु) पश्चात् (भ्रातरः) सतीर्थ्य भाई (बहवः) बहुसंख्या में (जायन्ताम्) हों, (सुजातम्) विद्यामाता से द्विजन्मा तुझको देखकर।

[ब्रह्मचारी जब गुरुकुल में प्रविष्ट हो तो उसके प्रथम पहिनने के वस्त्र पितृपक्ष के लोग लाते हैं। ब्रह्मचारी द्विजन्मा बन कर जब स्नातक हो जाए, तब उसके पश्चात् भी जो ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रविष्ट होते रहें, उन्हें भी अपना सतीर्थ्य भाई वह समझता रहे। तथा देखो ब्रह्मचर्यसूक्त (अथर्व० ११.५)।]

सूक्त १४

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्।

सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः॥ १॥

अर्थ—(निःसालाम्) शाला से निकाल दी गई, (धृष्णुम्) धर्षक अर्थात् पराभूत करनेवाली, (धिषणम्) धर्षणशीला अर्थात् भयोत्पादिका, (एकवाद्याम्) एक ही वाद्य[1] द्वारा गीत गानेवाली, (जिघत्स्वम्) खा

१. जैसेकि "**दत्तावधानां मधुलेहगीतौ**" (भट्टिकाव्य) में भ्रमर की गूँज को गीत कहकर उसके वाद्य की भी कल्पना की गई है, उसकी गीति सदा एक प्रकार की होती है, अतः उसका वाद्य भी एक ही कहा है। इसी प्रकार मच्छर की घूँ-घूँ को वाद्य कहा जा सकता है।

जानेवाली (चण्डस्य) तथा प्रचण्ड रोग की (सर्वा नप्त्यः) इन सब अपत्यरूपा, (सदान्वाः) तथा सदा कष्टसूचक शब्दों का उच्चारण करानेवाली, स्त्रीजातिक रोग कीटाणुओं का (नाशयामः) हम नाश करते हैं।

[मन्त्र १ में बहुविध रोग-कीटाणुओं का वर्णन हुआ है। ये कीटाणु स्त्री जाति के हैं। समग्र सूक्त में इन्हें स्त्रीलिङ्गी पदों द्वारा सूचित किया है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

निर्वो॑ गो॒ष्ठाद॑जामसि॒ निर॒क्षान्निरु॑पान॒सात्।

निर्वो॑ मगुन्द्या दुहितरो गृ॒हेभ्य॑श्चातयामहे॥ २॥

अर्थ—हे रोग-कीटाणुओ! (वः) तुम्हें (गोष्ठात्) गोशाला से (निर् अजामसि) हम निकालते हैं, (अक्षात्) शकट से (निर्) निकालते हैं, (उपानसात्) रसोई के पास से (निर्) निकालते हैं। (मगुन्द्याः दुहितरः) हे मगुन्दी की पुत्रियो! (वः) तुम्हें (गृहेभ्यः) घरों से (निर् चातयामहे) हम पूर्णतया विनष्ट कर देते हैं।

[अजामसि=**अज गतिक्षेपणयोः** (भ्वादिः)। अक्ष=cart (आप्टे), अर्थात् शकट। अनस्=Kitchen (आप्टे), अर्थात् रसोई। मगुन्दी=मग गत्यर्थः+**दीङ् क्षये** (दिवादिः), अर्थात् गति का क्षय करनेवाली, गति अर्थात् शरीर की क्रियाशक्ति का विनाश करनेवाली, स्त्रीजातिक रोग-कीटाणु=gems। दुहितरः= नप्त्यः (मन्त्र १)। गृहेभ्यः=सालाम् (शालाम्) मन्त्र (१)। दुहितरः तथा आगामी मन्त्रों में स्त्रीलिङ्गी प्रयोगों द्वारा स्त्रीजातिक रोग कीटाणु[1] निश्चित होते हैं।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒सौ यो अ॑ध॒राद् गृ॒हस्तत्र॑ सन्त्वरा॒य्य॑ः।

तत्र॑ से॒दिर्न्यु॑च्यतु॒ सर्वा॑श्च यातुधा॒न्य॑ः॥ ३॥

अर्थ—(असौ यः) वह जो (अधरात्) नीचे अर्थात् भूतल पर (गृहः) घर है, (तत्र) वहाँ पर (अराय्यः) अराति अर्थात् शत्रुरूप, स्त्रीजाति के रोग-कीटाणु (सन्तु) हों। (तत्र) वहाँ (सेदिः) विनाशिका निर्ऋति (न्युच्यतु) नितरां समवेत अर्थात् सम्बद्ध रहे, (च) तथा (सर्वाः यातुधान्यः) सब यातनाएँ धारण करनेवाले स्त्रीजाति के रोगकीटाणु रहें।

[अभिप्राय यह कि रोगकीटाणु शाला के भूतल पर होते हैं, शाला के उपरिभाग में नहीं। अतः यज्ञादि द्वारा वहाँ उनका विनाश करते रहना चाहिए। उच्यतु=**उच समवाये** (दिवादिः)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती** ॥

भू॒तप॑ति॒र्निर॑ज॒त्विन्द्र॑श्चे॒तः स॒दान्वा॑ः।

गृ॒हस्य॑ बु॒ध्न आसी॑ना॒स्ता इन्द्रो॒ वज्रे॒णाधि॑ तिष्ठतु॥ ४॥

अर्थ—(भूतपतिः) भूतभौतिक जगत् का पति परमेश्वर [निजकृपा द्वारा] (इतः) यहाँ से, (च) और (इन्द्रः) इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीवात्मा निज अध्यात्म शक्ति द्वारा, (सदान्वाः) सदा कष्टसूचक

---

१. रोग-कीटाणु दो प्रकार के प्रतीत होते हैं, नर और मादा।

आवाजें पैदा करनेवाली स्त्री-जातिक रोग-कीटाणुओं को (निर् अजतु) निकाल फेंके। (गृहस्य बुध्ने) घर के मूल में अर्थात् अधोदेश में (आसीनाः ताः) उन आसीन हुई स्त्री-जातिक[1] रोग-कीटाणुओं को (इन्द्रः) सूर्य (वज्रेण) निज किरणोंरूपी वज्र द्वारा (अधि तिष्ठतु) कुचले।

[मन्त्र (३) में और मन्त्र (४) में "अधराद् गृहः" तथा "गृहस्य बुध्ने" का अभिप्राय एक ही है। सूर्य की किरणें रोग-कीटाणुओं का नाश करती हैं, **"उद्यन्त्सूर्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः"** (अथर्व० २.३२.१)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदि॑ स्थ क्षैत्रि॒याणां॒ यदि॑ वा॒ पुरु॑षेषिताः।

यदि॑ स्थ दस्यु॒भ्यो जा॒ता नश्य॑ते॒तः स॒दान्वाः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ—(सदान्वाः) हे सदा कष्ट की सूचिकाओ! (यदि स्थ) यदि तुम हो (क्षेत्रियाणाम्) शारीरिक अंगों सम्बन्धी, (यदि वा) अथवा (पुरुषेषिताः) रुग्ण पुरुष के संग द्वारा प्रेषित हुई, (यदि स्थ) यदि तुम हो (दस्युभ्यः) उपक्षय अर्थात् निर्बल क्षयरोगों से (जाताः) उत्पन्न, तो तुम (इतः) इस शरीर से (नश्यत) नष्ट हो जाओ।

[ये, शारीरिक रोगों के कारणीभूत स्त्रीजातिक रोगकीटाणु हैं, जिन्हें कि मन्त्र (४) में कथित उपायों द्वारा निकाल फेंका है। दस्युभ्यः=**तसु उपक्षये, दसु च** (दिवादिः)। सदान्वाः=**सदा णू स्तवने** (तुदादिः), सदा कष्टों का स्तवन करनेवाली, कथन करनेवाली, सूचना देनेवाली।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परि॒ धामा॑न्यासामा॒शुर्गाष्ठा॑मिवासरम्। अजै॑षं॒ सर्वा॑ना॒जीन्वो॒ नश्य॑ते॒तः स॒दान्वाः॑ ॥ ६ ॥

अर्थ—(आसाम्) इन सदान्वाओं के (धामानि) स्थानों को (परि असरम्) मैंने [शीघ्र] घेर लिया है, (इव) जैसेकि (आशुः) शीघ्रगामी अश्व (गाष्ठाम्=काष्ठाम्) युद्धभूमि के अन्त तक शीघ्र पहुँच जाता है। तथा हे सदान्वाओ! (वः) तुम्हारे (सर्वान् आजीन्) सब युद्धों को (अजैषम्) मैंने जीत लिया है। अतः (सदान्वाः) हे सदान्वाओ! (इतः) यहाँ से (नश्यत) तुम नष्ट हो जाओ।

[काष्ठा=**आज्यन्तः, संग्रामान्तः** (निरुक्त २.५.१६)। **आशुः अश्वनाम** (निघं० १.१४) परि असरम्= इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा की उक्ति है। मन्त्र में आध्यात्मिक देवासुर संग्राम अभिप्रेत है।]

सूक्त १५

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् गायत्री** ॥

यथा॒ द्यौश्च॑ पृथि॒वी च॒ न बि॒भीतो न रिष्य॑तः। ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ १ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (द्यौः च, पृथिवी च) द्युलोक और पृथिवी लोक (न बिभीतः) नहीं डरते, (न रिष्यतः) और नहीं हिंसित होते। (एवा=एवम्) इस प्रकार (मे प्राण) मेरे हे प्राण! (मा बिभेः) तू भय न कर [और हिंसित न हो।]

[द्युलोक और पृथिवीलोक निराधार आकाश में, सततगति से घूम रहे हैं, तो भी पतनशङ्का से

---

१. जब मादा रोग-कीटाणु कुचले गये, तब नरकीटाणु पैदा ही कहाँ से होने हुए।

भयभीत नहीं होते। इसी प्रकार प्रवक्ता निज प्राण को कहता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् गायत्री** ॥

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे दिन और रात्री नहीं डरते और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू न डर (और न हिंसित हो)। [भय हिंसा का कारण होता है, निर्भयता रक्षा करती है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् गायत्री** ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य और चन्द्र नहीं डरते और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू न डर [और न हिंसित हो।] [अभिप्राय मन्त्र १ वत्]।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् गायत्री** ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं डरते और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू न डर [और न हिंसित हो।]

[ब्राह्मण निज ब्राह्मी शक्ति के कारण, और क्षत्रिय निज क्षात्रशक्ति के कारण नहीं डरते।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् गायत्री** ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे सत्य और अनृत नहीं डरते, और नहीं हिंसित होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू न डर [और न हिंसित हो।]

[सत्य और अनृत वाक्रूप नहीं। अपितु सत्य है परमेश्वर और अनृत है ब्रह्माण्ड। परमेश्वर सदास्थायी है, और ब्रह्माण्ड का लय भी हो जाता है, अतः यह अनृत है, सदास्थायी नहीं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद् गायत्री** ॥

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे भूतकाल और भविष्यत् काल नहीं डरते और हिंसित नहीं होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू न डर [और न हिंसित हो]।

[भूतकाल और भविष्यत् काल की स्थिति सदा बनी रहती है। काल नित्य है, अतः इसकी हिंसा नहीं होती।]

सूक्त १६

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणापानौ** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान! (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो (मृत्योः) मृत्यु से, (स्वाहा) सु+आह, यह ठीक कहा है।

[प्राण-अपान=श्वास-प्रश्वास; या श्वासवायु और अपान वायु, गुदावायु। इन दोनों के स्वस्थ रहते मृत्यु नहीं होती। स्वाहा=**"स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा"** (निरुक्त ८.३.२१)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुर्युष्णिक्** ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक—और—पृथिवीलोक! तुम (उपश्रुत्या) समीप श्रवण द्वारा (मा पातम्) मेरी रक्षा करो, (स्वाहा) सु आह।

[श्रवण का सम्बन्ध वायु के साथ है, जोकि अन्तरिक्षस्थ है, अर्थात् द्यौ और पृथिवी के अन्तराल में है। द्यावापृथिवी वायु के दो ढकने हैं, इन द्वारा वायु सुरक्षित रहती है। उपश्रुति=श्रुति है वेद, **"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः"** (मनु)। इस श्रुति का श्रवण गुरुमुख द्वारा होता है। गुरु की धीमी आवाज को भी मैं सुन सकूँ, इसलिए "उपश्रवण" का कथन हुआ है। गुरुवाक्य द्वारा वेदश्रवण से रक्षा होती है, जीवन सुधरता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—(सूर्य) हे सूर्य! (चक्षुषा) चक्षु द्वारा (मा पाहि) मेरी रक्षा कर, (स्वाहा) सु आह।

[सूर्य के प्रकाश के बिना चक्षु देख नहीं सकती, अतः सूर्य चक्षुःप्रदाता है, और तद्-द्वारा रक्षा करता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरी गायत्री** ॥

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

अर्थ—(वैश्वानर अग्ने) सब नर-नारियों के हितकारी, अग्निवत् प्रकाशमान हे परमेश्वर! (विश्वैः देवैः) सब इन्द्रिय-देवों द्वारा (मा पाहि) मेरी रक्षा कर, (स्वाहा) सु आह।

[इन्द्रियाँ देव हैं, विषयों का द्योतन करती हैं, उन्हें प्रकाशित करती हैं। **देवो द्योतनाद्वा** (निरुक्त ७.४.१५)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वम्भरः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरी गायत्री** ॥

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—(विश्वम्भर) विश्व का भरण-पोषण करनेवाले हे परमेश्वर! (विश्वेन भरसा) निज समग्र भरण-पोषण द्वारा (मा पाहि) मेरी रक्षा कर (स्वाहा) सु आह।

सूक्त १७

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजःप्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(ओजः असि) तू ओजस् रूप है, (मे) मुझे (ओजः) ओजस् (दाः) प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[सूक्त में कोई दैवतनाम नहीं। पूर्व सूक्त से विश्वम्भर पद का अन्वय जानना चाहिए। ओजस् है

उब्ज आर्जवे (तुदादि:), वह शक्ति जिसे देखते शत्रु ऋजु हो जाता है, और शत्रुता को त्याग देता है।]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओज:प्रभृतीनि** ॥ छन्द:—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

सहो॑ऽसि सहो॒ मे दा॒: स्वाहा॑ ॥ २ ॥

अर्थ—(सह: असि) शत्रु का पराभव करनेवाला तेज तू है, (सह:) पराभव करने का तेज (मे दा:) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[मन्त्र १ और मन्त्र २ में यत: विश्वम्भर पद का अन्वय है, अत: शत्रु हैं अस्मदादि के काम, क्रोध, लोभ आदि, जिन्हें कि परमेश्वर परास्त कर देता है, उपासित हुआ।]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओज:प्रभृतीनि** ॥ छन्द:—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

बल॑मसि॒ बलं॑ मे दा॒: स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ—(बलमसि) तू बलरूप है, (मे) मुझे (बलं दा:) बल प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओज:प्रभृतीनि** ॥ छन्द:—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

आयु॑र॒स्यायु॑र्मे दा॒: स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अर्थ—(आयु: असि) तू आयुरूप है, (मे) मुझे (आयु: दा:) आयु प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[परमेश्वर नित्य है, अत: उसकी आयु अपरिमित है, मापी नहीं जा सकती। प्रार्थी दीर्घायु की प्रार्थना करता है।]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओज:प्रभृतीनि** ॥ छन्द:—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दा॒: स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

अर्थ—(श्रोत्रम् असि) तू श्रोत्ररूप है, (मे श्रोत्रम् दा:) मुझे श्रवणशक्ति प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओज:प्रभृतीनि** ॥ छन्द:—**एकपदाऽऽसुरी त्रिष्टुप्** ॥

चक्षु॑रसि॒ चक्षु॑र्मे दा॒: स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— (चक्षु:असि) तू चक्षुरूप है, (मे चक्षु: दा:) मुझे दृष्टि शक्ति प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[परमेश्वर के लिए कहा है "**पश्यत्यचक्षु:**[1] **स शृणोत्यकर्ण:**"।]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओज:प्रभृतीनि** ॥ छन्द:—**आसुर्युष्णिक्**।

प॒रि॒पाण॑मसि प॒रि॒पाणं॑ मे दा॒: स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

अर्थ—(परिपाणम् असि) तू सबका पालक है, (मे परिपाणम् दा:) मैं भी सबका परिपालक होऊँ, इसकी शक्ति मुझे प्रदान कर, (स्वाहा) सु आह।

[विश्वम्भर पद का (सूक्त १६। मन्त्र ५) से अन्वय जानना चाहिए। परिपाणम् में ल्युट् कर्त्ता में है। परिपाणम्=परिपालक: ।]

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

---

१. परमेश्वर बिना चक्षु के देखता है, यत: वह स्वयं चक्षुरूप है।

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

अनुवाक ४

सूक्त १८

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी बृहती** ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—(भ्रातृव्यक्षयणम् असि) शत्रु के पुत्र का क्षय करनेवाला तू है, (भ्रातृव्यचातनम्) भाई के पुत्र के विनाश करने का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[सूक्त १६, मन्त्र (५) से विश्वम्भर का अन्वय अभिप्रेत है। सूक्त १८ में अन्य किसी देवता का नाम नहीं। मन्त्र में जीवात्मा की उक्ति है। जीवात्मा शरीर का स्वामी है, और मन है उसका भाई, उसके कार्यों का भरण-पोषण करनेवाला। मन भरण-पोषण न कर जब विरोधी कर्म करने वाला हो जाता है, तब इसके विरोधी विचार और कर्म भ्रातृव्य अर्थात् मन के पुत्र कहलाते हैं। जीवात्मा इनके क्षय करने का सामर्थ्य विश्वम्भर-परमेश्वर से प्रार्थित करता है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी बृहती** ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(सपत्नक्षयणम् असि) सपत्न का क्षय करनेवाला तू है, (सपत्नचातनम्) सपत्न के विनाश करने का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[सूक्त में सर्वत्र विश्वम्भर पद का अन्वय अभिप्रेत है। शरीर का स्वामी या पति है जीवात्मा। जब जीवात्मा को निज दोष दूषित करने लगते हैं, तब ये दोष जीवात्मा के सपत्न कहाते हैं। एक ही पति जीवात्मा के शत्रु बन जाते हैं। जीवात्मा के शुभ विचार तो उसके मित्र होते हैं और अशुभ विचार सपत्न होते हैं।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी बृहती** ॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—(अरायक्षयणम्, असि) अदानभावनाओं का क्षय करनेवाला तू है, (अरायचातनम्) अदान-भावनाओं के विनाश का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी बृहती** ॥

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ।

अर्थ—(पिशाचक्षयणम् असि) पिशाचों का क्षय करनेवाला तू है, (पिशाचचातनम्) पिशाच भावनाओं के विनाश का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

[पिशाच भावनाएँ हैं, काम, क्रोध, शोक, ईर्ष्या आदि। पिशाच=पिशं पिशितं मांसम् (सायण)+अच् (याचने भ्वादिः), काम आदि शारीरिक और मानसिक शक्तियों की याचना करते हैं, उन्हें चाहते हैं, उनका भक्षण करते रहते हैं। सूक्त में आध्यात्मिक भावनाओं का कथन हुआ है, और विश्वम्भर पद का अन्वय है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी बृहती** ॥

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—(सदान्वाक्षयणम् असि) सदा कष्ट की आवाजों का उच्चारण कराने वाली स्त्रीजातिक रोग-कीटाणुओं का क्षय करनेवाली तू है, (सदान्वाचातनम्) सदान्वाओं के विनाश का सामर्थ्य (मे दाः) मुझे दे, (स्वाहा) सु आह।

सूक्त १९

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद् गायत्री** ॥

अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (यत् ते तपः) जो तेरा ताप है, (तेन) उस द्वारा (तम्) उसे (प्रति तप) तपा (यः) जो कि (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम्) और जिसके साथ (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं।

विशेष—[मन्त्र में अस्मान्-और-यम् द्वारा समाज और व्यक्ति को सूचित किया है। जो व्यक्ति समाज के साथ द्वेष करता है अतः जिसके साथ समाज प्रीति नहीं करता उसे अग्नि के प्रति समर्पित किया है, उचित दण्ड देने के लिए। द्वेष्टि=द्विष अप्रीतौ (अदादिः)। व्यक्ति तो समाज के साथ भावात्मक द्वेष करता है, इसलिए समाज उसके साथ अप्रीति करता है। सूक्त १९-२३ में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आपः का वर्णन हुआ है। अग्नि आदि नाम परमेश्वर के भी हैं। यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१)। परमेश्वर के ही नाम हैं अग्नि, आदित्य अर्थात् सूर्य, वायु, चन्द्रमा, आपः, शुक्र, ब्रह्म और प्रजापति। अतः इन ५ सूक्तों में परमेश्वर का भी वर्णन है। इन ५ सूक्तों में "योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः" द्वारा मनसापरिक्रमा मन्त्रों को सूचित किया है, जिनमें कि द्वेष्टा और अप्रीति करनेवालों को परमेश्वर के जम्भ के प्रति समर्पित किया है और समाज स्वयं उसे दण्ड नहीं देता। परमेश्वर के प्रति समर्पण इसलिए कि वह ही सच्चा न्यायकारी है, दण्डव्यस्था के लिए। अग्नि के सम्बन्ध में "तपः" है संतापन शक्ति, "हरः" है संहार शक्ति, "अर्चिः" है ज्वाला, "शोचिः" है शोकजननशक्ति, शुच शोके (भ्वादिः), "तेजः" है प्रसिद्ध तेज। परमेश्वर के सम्बन्ध में "तपः" है "**यस्य ज्ञानमयं तपः**" (मुण्डक० उप० १.२.९), "हरः" है संहारशक्तिः; "अर्चिः" है सौरार्चिः सौरज्वाला (यथा[1] गीता ११.१२), "तेजः" है परमेश्वर का तेज, तेजस्वी प्रकाश।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

अर्थ—(हरः की व्याख्या के लिए देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

---

१. अथवा "**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**" (मुण्डक उप० २.२.१०)।

अर्थ—(अर्चिः की व्याख्या के लिए देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद् गायत्री**॥

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ४॥

अर्थ—(शोचिः की व्याख्या के लिए देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिग् विषमा त्रिपाद् गायत्री**॥

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५॥

अर्थ—(तेजः की व्याख्या के लिए देखो मन्त्र (१) की व्याख्या)। शेष अर्थ पूर्ववत्।

"तपः हरः" आदि के अर्थ अग्नि का अर्थ परमेश्वर मानने में ही चरितार्थ होते हैं, पार्थिव अग्नि में नहीं, यह जड़ है। जड़ का सम्बोधन केवल कविता में सम्भव है।

सूक्त २०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ १॥

अर्थ—वायु का मुख्य अर्थ है परमेश्वर। जैसे अग्नि का शासक होने से अग्नि है परमेश्वर, वैसे वायु का शासक होने से वायु है परमेश्वर। जैसे देवदत्त आदि नाम न केवल शरीर के हैं, और न केवल जीवात्मा के, अपितु शरीर विशिष्ट जीवात्मा के हैं, वैसे ही वायु, आदि नाम वायुविशिष्ट परमात्मा के हैं। वायु आदि परमेश्वर के शरीरसदृश हैं। उदाहरणार्थ "**यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः**" (बृहदा० ३.७.७)। ब्राह्मण ७, खण्ड १ से २३ द्रष्टव्य हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ २॥

अर्थ—अर्थ और भाव पूर्ववत्। हरः है संहारशक्ति।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ३॥

अर्थ—अर्थ और भाव पूर्ववत्। अर्चिः है ज्वाला।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ४॥

अर्थ—अर्थ और भाव पूर्ववत्। शोचि है, पापियों को कर्मफल प्रदान द्वारा शोकाविष्ट करना। यह परमेश्वर करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**भुरिग् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५॥

अर्थ—अर्थ और भाव पूर्ववत्। तेजः है परमेश्वर का तेजःस्वरूप, प्रकाशमय स्वरूप। वह पापियों के तेज का अपहरण कर लेता है, और धर्मात्माओं के तेज और यश का संवर्धन करता है। तथा वायु के

कारण अग्नि का प्रज्वलन होता है। वायु[१] कारण है और अग्नि कार्य है। कार्य के गुणों का आरोप कारण में हुआ है, कारणे कार्योपचारः। तथा प्रचण्ड वायु वृक्षों आदि का अपहरण करती है। अतः इसमें "हरः" गुण स्वतः विद्यमान है। ग्रीष्म ऋतु में यह प्रतप्त हो जाती है। अतः इसमें "तपः" गुण भी विद्यमान है। अग्नि का कारण होने से वायु में अर्चिः और शोचि गुण का कथन है।

सूक्त २१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ १॥

अर्थ—(सूर्य) हे सूर्य! (यत्) जो (ते तपः) तेरा ताप है (तेन) उस द्वारा (तम् प्रति) उसे (तप) तू तपा (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम् वयम् द्विष्मः) इसलिए जिसके प्रति हम प्रेम नहीं करते।

(सूर्य द्वारा परमेश्वर भी अभिप्रेत है जिसे कि आदित्य कहा है (यजुः० ३२.१)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ २॥

अर्थ—(सूर्य) हे सूर्य! (यत् ते) जो तेरा (हरः) हरणसामर्थ्य है (तेन) उस द्वारा (तं प्रति हर) उसका हरण कर....। शेष का अर्थ और भाव पूर्ववत्। सूर्य अन्धकार का हरण करता है, तद्वत् उस द्वेष्टा का हरण कर।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

सूर्य यत्तेर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ३॥

अर्थ—(अर्चिः) ज्वाला। सूर्य में गर्म ज्वालाएँ उठती रहती हैं, सूर्यरश्मियाँ भी उस ज्वाला के अंशरूप हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ४॥

अर्थ—(शोचिः) शोकित करना। शेष का अर्थ और भाव पूर्ववत्।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**भुरिग् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५॥

अर्थ—(तेजः) तेजप्रकाश। द्वेष्टा की आँखों से निज तेज का अपहरण करना, अथवा उसकी आँखों को चौंधिया देना।

सूक्त २२

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री**॥

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ १॥

अर्थ—(चन्द्र) हे चांद! (यत् ते तपः) जो तेरा ताप है (तेन) उस द्वारा (तम् प्रति) उसे (तप)

---

१. वायु को "अग्निसखः" भी इसलिए कहते हैं।

तपा, (यः) जो द्वेष्टा (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, अतः (यम् वयम् द्विष्मः) जिसके प्रति हम प्रेम नहीं करते।

[चन्द्र द्वारा चन्द्रमा अर्थात् परमेश्वर भी अभिप्रेत है (यजुः० ३२.१)। परमेश्वरार्थ मुख्य है। वह निज आह्लादक तथा प्रदीप्त स्वरूप द्वारा आध्यात्मिक देवासुर संग्राम में आसुर विचारों तथा कर्मों को तपा देता है, संतप्त कर देता है। **चदि आह्लादने दीप्तौ च** (भ्वादिः)। प्राकृतिक चांद तो रात्रीकाल में अन्धकार को ही तपाता है, संतप्त करता है, हटाता है। आगामी मन्त्रों में भी परमेश्वरार्थ ही मुख्य है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

अर्थ—(प्राकृतिक चांद में हरण है अन्धकार का हरण, और परमेश्वरार्थ में हरण का अर्थ है आध्यात्मिक आसुर विचारों और कर्मों का हरण)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

चन्द्र यत्तेर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

अर्थ—[प्राकृतिक चांद की अर्चिः अर्थात् ज्वाला है चांद द्वारा प्रतिक्षिप्त रश्मियां; परमेश्वर के सम्बन्ध में अर्चिः अर्थात् ज्वाला है, उसकी "भासा" (यथा "**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**" (मुण्डक उपनिषद् २.२)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद् विषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

अर्थ—[चन्द्र द्वारा परमेश्वर अभिप्रेत है, जोकि दुष्कर्मी को उसके दुष्कर्मों के फलस्वरूप में शोकान्वित करता है। प्राकृतिक चाँद में शोकान्वित करने का कोई अभिप्राय प्रतीत नहीं होता।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग् विषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—[चन्द्र द्वारा परमेश्वर ही प्रतीत होता है जोकि निज तेज द्वारा दुष्कर्मी को उसके दुष्कर्म के फलरूप में निस्तेज कर देता है।]

सूक्त २३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**समविषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

अर्थ—[आपः है व्यापक परमेश्वर (यजुः० ३२.१), **आप्लृ व्याप्तौ** (स्वादिः)। प्राकृतिक आपः अर्थात् जल में तापने की शक्ति गौण है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**समविषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

अर्थ—[आपः है व्यापक परमेश्वर जोकि प्रलयकाल में सबका हरण कर लेता है। प्राकृतिक आपः अर्थात् जल में यह शक्ति विद्यमान नहीं। आपः पद नित्य बहुवचनान्त ही है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**समविषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

अर्थ—[परमेश्वरार्थ में अर्चिः है परमेश्वर की ज्वाला, जोकि प्रखर अग्नि-रूप में देवासुर संग्राम में प्रकट होती है, आध्यात्मिक देवासुर संग्राम में आसुर विचारों और कर्मों को भस्मीभूत करने के लिए। परमेश्वर तो निज इच्छामात्र से ही नाश कर देता है आसुर विचारों और कुकर्मों का, तथापि अर्चिः पद के कारण उसके आग्नेयस्वरूप का कथन किया है। आसुर विचार और कर्म हमारे द्वेष्टा हैं, द्वेष करनेवाले हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**समविषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

अर्थ—[परमेश्वरार्थ में परमेश्वर की शोचि है शोकित करने की शक्ति। आसुर विचारों तथा कर्मों को शोकित करना, कवितादृष्टि से है। आपः=व्यापक परमेश्वर।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**स्वराड्विषमा त्रिपाद्गायत्री** ॥

आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—[परमेश्वर तेजःस्वरूप है, वह निज तेज द्वारा आसुर विचारों और कर्मों के तेज को तेजोरहित कर देता है, जिससे आसुर विचार और कर्म व्यक्ति पर निज प्रभाव नहीं कर पाते। यह कथन आध्यात्मिक देवासुर संग्राम की दृष्टि से है।]

राष्ट्रीय दृष्टि से विचार

राष्ट्रीय दृष्टि से राष्ट्र के राजा के स्वरूप पर निम्नलिखित श्लोक विशेष प्रकाश डालता है। यथा "**सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्। स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥**" (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६) तथा (मनु० ७.७)।

इस श्लोक में राजा को अग्नि, वायु, सूर्य [अर्कः] चन्द्र [सोमः], आपः [वरुणः] द्वारा कहा है। वरुण है "**अपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४)। यतः आपः का अधिपति है वरुण, इसलिए अधिपति द्वारा आपः का कथन हुआ है। अग्नि से आपः तक का कथन अथर्व० २.१९-२३ में भी हुआ है। अतः मनु० और अथर्व० में दैवतसाम्य है। अथर्व० में जो "**योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः**" कहा है वह शत्रु राष्ट्र का राजा और वैदिकराष्ट्र का राजा है। इस प्रकार राष्ट्रिय दृष्टि से वास्तविक राष्ट्रिय शत्रुओं को निर्दिष्ट किया है।

सूक्त २४

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक् पङ्क्तिः** ॥

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥

अर्थ—(शेरभक) शक्तिशाली अतः सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर बलात्कार या आक्रमण करनेवाले! (शेरभ) सुखपूर्वक शयन करनेवाले पर बलात्काररूप हे राजवर्ग! (वः) तुम्हारे (यातवः) यातना देनेवाले सैनिक (पुनः) फिर लौटकर (वः) तुम्हें (यन्तु) प्राप्त हों। (हेतिः) तुम्हारे अस्त्र,

(किमीदिनः) अब क्या हो रहा है, ऐसे प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले तुम्हारे गुप्तचर (पुनः) फिर लौटकर तुम्हें प्राप्त हों। ''यस्य स्थ तम् अत्त यो वः प्राहैत् तम् अत्त स्वा मांसान्यत्त'' इसकी व्याख्या (मन्त्र २) की व्याख्या में कर दी गई है, उसे देखो।

[शेरभक=शे+**रभ्(राभस्ये,** भ्वादिः)+कः (करोतीति), सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर बलात्कार करनेवाले, आक्रमण करनेवाले, शेरभ अर्थात् सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर उग्ररूप हे परराष्ट्र के राजवर्ग! [शेष व्याख्या मन्त्र २ में देखो। प्राहैत्=प्राहैषीत्, **हि गतौ,** लुङि रूपम् (सायण)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक् पङ्क्तिः** ॥

शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ २॥

अर्थ—(शेवृधक) शयन करनेवाले राष्ट्र के आधार पर निजबुद्धि करनेवाले हे शत्रुराजन्! (शेवृध) शयन करनेवाले राष्ट्र के आधार पर वृद्धिरूप हे शत्रु-राजन्! (वः यातवः) तुम्हारे यातनारूप सैनिक (पुनः) फिर (यन्तु) वापिस चले जाएँ, (हेतिः) अस्त्र (पुनः) फिर, (किमीदिनः) किम् इदानीम् क्या अब हो रहा है ऐसे प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले गुप्तचर वापिस चले जाएँ। (यस्य स्थ) जिसके तुम हो (तम् अत्त) उसे खाओ, (यः वः प्राहैत्) जिसने तुम्हें प्रेषित किया है (तम् अत्त) उसे खाओ, (स्व मांसानि अत्त) अपने मांसों को खाओ।

[शयन किया राष्ट्र शक्तिशाली है, अतः वह निश्चिन्त हुआ सुखपूर्वक शयन करनेवाला है। परन्तु ऐसे राष्ट्र पर सैनिक आदि ने आक्रमण किया है। उन सैनिकों को शक्तिशाली राष्ट्र ने परास्त कर फिर वापिस कर दिया है। अतः उनमें पारस्परिक विद्रोह भावना हो गई है और वे परस्पर युद्ध करके विनष्ट होते हैं, जिन मांसों का ही अदन करने लगते हैं—यह अभिप्राय मन्त्र में निहित है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोदेवत्या पङ्क्तिः** ॥

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ३॥

अर्थ—[म्रोक अनुम्रोक=कुटिल गतिवाले सेनाधिपति तथा तदनुरूप सेनानायक। ये कुटिल गति अर्थात् चाल से आक्रमण कर देते हैं। दो का कथन इसलिए हुआ है कि ये दो परस्पर विचार विमर्श कर आक्रमण करें। शेष का अभिप्राय पूर्ववत्। म्रुच, गत्यर्थः (भ्वादिः), कुटिल गति अभिप्रेत है, अर्थात् कुटिल चाल।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ **छन्दः**—**पुरोदेवत्या पङ्क्तिः** ॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ४॥

अर्थ—[सर्पानुसर्प=म्रोक और अनुम्रोक का ही सर्पानुसर्प द्वारा पुनः कथन हुआ है। ये वे सेनाधिपति तथा तदनुरूप सेनानायक हैं, जोकि सर्प के सदृश सदा कुटिल गति अर्थात् चाल से आक्रमण करने में कुशल हैं। सर्प सदा कुटिल गति से गमन करता है, सीधी गति से नहीं। सर्प=सृप्लृ गतौ (भ्वादिः), गति अर्थात् कुटिल गति, शेष अर्थ पूर्ववत्।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा बृहती** ॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः[1] **।**

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ५ ॥

अर्थ—[जूर्णिः=**जूरी हिंसावयोहान्योः** (दिवादिः), हिंसार्थ अभिप्रेत है। जूर्णि है हिंस्र सेना, शत्रु राजा द्वारा भेजी हुई। जूर्णि स्त्रीलिङ्ग सम्बुद्ध्यन्त पद है। जूर्णिः=जूरी+क्त+ङीष् (**कृदिकारादक्तिनः** इति), ततः ह्रस्वत्वम् (**अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** इति)। शेष अर्थ, पूर्ववत्।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक् चतुष्पदा बृहती** ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ६ ॥

अर्थ—[उपब्दे=उप (उपस्थित होकर युद्धस्थली में)+बद (स्थिरतापूर्वक युद्ध करनेवाली हे शत्रुसेना!)। बद स्थैर्ये (भ्वादिः)। यह शत्रु की सेना है, जोकि पराजित होकर निजराष्ट्र में वापिस लौट जाती है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक् चतुष्पदा बृहती** ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ७ ॥

अर्थ—[अर्जुनि=युद्ध में अर्जित प्रतिष्ठावाली हे शत्रुसेना, अथवा युद्ध-विजय में प्रतियत्नशील हे शत्रुसेना! **अर्ज अर्जने** (भ्वादिः), **अर्ज प्रतियत्ने** (चुरादिः)। शेष अर्थ पूर्ववत्।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक् चतुष्पदा बृहती** ॥

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

अर्थ—(भरूजि) भर्जन कर सकनेवाली हे शत्रुसेना! ("पुनर्वो यन्तु") आदि पूर्ववत्। भर्जन=**भ्रस्ज पाके** (तुदादिः)। भर्जन=भूनना, शस्त्रास्त्रों द्वारा।

सूक्त २४ का अभिप्राय

सूक्त २४ में दो राष्ट्रों का वर्णन हुआ है। एक राष्ट्र तो वह है जोकि शक्तिशाली होने के कारण निज शक्ति के भरोसे सुखपूर्वक शयन करता है, और समझता है कि वह सब प्रकार से सुरक्षित है, उस पर न तो कोई बलात्कार कर सकता है, और न आक्रमण। दूसरा राष्ट्र शत्रुराष्ट्र है जोकि अपने-आपको शक्तिशाली समझता है। अतः उसने सुखपूर्वक शयन करनेवाले राष्ट्र पर आक्रमण कर दिया है, परन्तु वह वस्तुतः शक्तिशाली नहीं। अतः वह सर्पवत् कुटिल चालों का अवलम्बन किये हुए है। इन दोनों राष्ट्रों में युद्ध आरम्भ हो जाता है। सुखपूर्वक शयन किये हुआ राष्ट्र सन्मार्गगामी है, और आक्रमण करनेवाला राष्ट्र कुटिल चालों द्वारा उस पर बलात्कार तथा आक्रमण कर देता है। परिणामतः उसकी पराजय हो जाती है। सुखपूर्वक शयन करनेवाला राष्ट्र पराजित हुए राष्ट्र की सेना का हनन नहीं करता, अपितु उसे और

१. स्त्रीलिङ्ग पद द्वारा गुप्तचर स्त्रियाँ अभिप्रेत हैं।

उसकी हेति आदि अस्त्र-शस्त्र को उसके राष्ट्र में वापिस कर देता है। वापिस किये गये राष्ट्र में पराजय के कारण विद्रोह भावना उत्पन्न हो जाती है। अतः वे परस्पर में युद्ध कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, और निज प्रेषक का भी हनन कर देते हैं। सूक्त २४ द्वारा यह कथन सार्थक होता है कि सन्मार्गी राष्ट्र असन्-मार्गी राष्ट्र पर सदा विजय पाता है। असन्मार्गी राष्ट्र के सम्बन्ध में यह कथन सार्थक हो जाता है कि—

"अधर्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

सूक्त २५

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः।

उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम्॥ १॥

अर्थ—(देवी) दिव्यगुणोंवाली (पृश्निपर्णी) चित्रपर्णोंवाली ओषधि ने (नः) हमें (शम् अकः) सुखी किया है, और (निर्ऋत्यै) कृच्छ्रापत्ति के लिए (अशम्) दुःखी किया है। (कण्वजम्भनी) कण्व का नाश करनेवाली (हि) निश्चय से (उग्रा) कण्व के विनाश करने में उग्ररूपा है। (ताम्) उस (सहस्वतीम्) रोगपराभव करनेवाली का (अभक्षि) मैंने भक्षण किया है, [या मैंने अनुलेपन आदि द्वारा सेवन किया है] (सायण)।

[कण्वस्य=पापस्य (सायण)। कण्व=कण सदृश सूक्ष्म रोग-कीटाणु (germs)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत। तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृ॒श्चामि॑ श॒कुने॑रिव॥ २॥

अर्थ—(सहमाना इयम्) रोगों का पराभव करनेवाली यह (पृश्निपर्णी) चित्रपर्णी-वाली ओषधि (प्रथमा) अन्य ओषधियों में मुखिया (अजायत) पैदा हुई है। (अहम्) मैं (तया) उस द्वारा (दुर्णाम्नाम्) दुष्परिणामोंवाले रोगों को (वृश्चामि) काटता हूँ, (इव) जैसेकि (शकुनेः) पक्षी का (शिरः) सिर काटा जाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒राय॑मसृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति।

ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्नि॑पर्णि॒ सह॑स्व च॥ ३॥

अर्थ—(असृक् पावानम्) शरीर के रक्त को पीनेवाले, (अरायम्) अराति अर्थात् शत्रुरोग को, (यः च) और जो (स्फातिम्) शरीर की वृद्धि का (जिहीर्षति) अपहरण करना चाहता है, (गर्भादम्) गर्भ के भक्षक (कण्वम्) कण्व का (नाशय) नाश कर (पृश्निपर्णि) हे पृश्निपर्णी! (सहस्व च) और उसका पराभव कर।

[कण्व, गर्भ का भक्षण करता है—इससे ज्ञात होता है कि कण्व रोगकीटाणु हैं।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

गि॒रिमे॑नाँ॒ आ वे॑शय॒ कण्वा॑ञ्जीवित॒योप॑नान्।

तांस्त्वं दे॑वि॒ पृश्निपर्ण्य॒ग्निरि॑वानु॒दह॑न्निहि॥ ४॥

अर्थ—(एनान्) इन (जीवितयोपनान्) जीवनापहारी (कण्वान्) कणसदृश सूक्ष्म रोगकीटाणुओं को

(गिरिम् आवेशय) तू निगीर्ण[1] कर। (देवि पृश्निपर्णि) हे दिव्य गुणोंवाली पृश्निपर्णी! (त्वम्) तू (तान्) उन कण्वों को (अग्निः इव) अग्नि के सदृश (अनु दहन्) निरन्तर दहन करती हुई (इहि) जा।

[गिरिम्=गॄ निगरणे (तुदादिः)। अथवा **"गिरिम् आवेशय=पर्वतं स्वसंचाररहितं प्रवेशय"** (सायण)]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परा॑च एना॒न्प्र णु॑द कण्वा॒ञ्जीवित॒योप॑नान्।

तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत्क्र॒व्यादो॑ अजीगमम्॥ ५॥

अर्थ—(जीवितयोपनान्) जीवनापहारी (एनान्) इन (कण्वान्) कणसदृश सूक्ष्म रोगकीटाणुओं को (पराचः) हमसे पराङ्मुख (प्रणुद) प्रेरित कर। (यत्र) जहां [सूर्योदय होने पर] (तमांसि गच्छन्ति) अन्धकार चले जाते हैं (तत्) उस स्थान में (क्रव्यादः) मांसभक्षक रोगकीटाणु को [पृश्निपर्णी द्वारा] (अजीगमम्) मैंने भेज दिया है। मन्त्रोक्ति ओषधि प्रयोक्ता की है।

सूक्त २६

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एह य॑न्तु प॒शवो॒ ये प॑रे॒युर्वा॒युर्येषां॑ सहचा॒रं जु॒जोष॑।

त्वष्टा॒ येषां॑ रूप॒धेया॑नि॒ वेदा॒स्मिन्तान्गो॒ष्ठे स॑वि॒ता नि य॑च्छतु॥ १॥

अर्थ—(इह) यहां (आ यन्तु) आ जाएँ (पशवः) पशु (ये) जोकि (पराऽईयुः) परे गये हैं [चरने के लिए], (येषाम् सहचारम् वायुः जुजोष) जिनका, साथ-विचरना, वायु ने किया है। (त्वष्टा) सूर्य (येषाम्) जिनके (रूपधेयानि) रूपों अर्थात् स्वरूपों को (वेद) जानता है, (तान्) उनको (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में (सविता) प्रातःकाल का उदित हुआ सूर्य (नि यच्छतु) नियमित करे [स्थित रहने दे]। जुजोष=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)।

[मन्त्र वर्णन कवितामय है। पशु चरने के लिए गोशाला से बाहर खुले वायुमण्डल में जाते हैं, मानो वहां उनका साथी होता है वहां का वायु, उनकी रक्षा के लिए। त्वष्टा[2] है रश्मियों से आकीर्ण सूर्य, जोकि पशुओं के स्वरूपों का भेदज्ञापक होता है। सविता[3] का काल है उदीयमान सूर्य; इस काल तक पशु गोशाला में ही नियमित रहते हैं।]

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इ॒मं गो॒ष्ठं प॒शवः॒ सं स्र॑वन्तु॒ बृह॒स्पति॒रा न॑यतु प्रजा॒नन्।

सि॒नी॒वा॒ली न॑य॒त्वाग्र॑मेषामाज॒ग्मुषो॑ अनुमते॒ नि य॑च्छ॥ २॥

अर्थ—(पशवः) पशु (इमम् गोष्ठम्) इस गोशाला में (सम्) मिलकर (स्रवन्तु) शनैः शनैः आ जाएँ। (बृहस्पतिः) बृहत्-पशुसमूह का रक्षक गोपाल, (प्रजानन्) प्रत्येक पशु को पहिचानता हुआ (आ नयतु) इन्हें वापिस ले आए। (सिनीवाली) अन्नाधिष्ठात्री सुन्दर बालोंवाली सेविका (एषाम्) इन पशुओं

---

१. खा जा, विनष्ट कर। २. **त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः** (निरुक्त ८.२.१४)।

३. **तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति, अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति** (निरुक्त १२.२.१३)।

के (अग्रम्) श्रेष्ठ खाद्य को (आ नयतु) लाए। (अनुमते) हे सिनीवाली के अनुमत होती हुई तू (आ जग्मुषः) आये हुए पशुओं को (नि यच्छ) उन-उन के नियम स्थानों में उन्हें नियत कर दे, बाँध दे।

[सिनीवाली तथा अनुमति, ये गृह्य-सेवा करनेवाली हैं। ये ही गृह्य-पशुओं की भी सेवाओं में नियुक्त की हुई हैं। गृह्य-सेवा करने में स्त्रियां कुशल होती हैं। वाली=स्त्रियाँ स्वभावतः निज केशों को संवार कर रखती हैं। ये देवपत्नियाँ हैं (निरुक्त ११.३.२२), दिव्यगुणोंवाले परिचारकों की पत्नियां हैं; यथा "**सिनिवाली कुहुरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः**।" सिनीवाली और अनुमति सम्भवतः बृहस्पति की पत्नियाँ हों।]

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती** ॥

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।

सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥ ३॥

अर्थ—(पशवः) गौएँ (सं सं स्रवन्तु) परस्पर मिलकर प्रवाहित होती आएँ, (अश्वाः) अश्व (सम्) मिलकर आएँ, (पूरुषाः) पुरुष (सम्, उ) परस्पर मिल कर आएँ। (धान्यस्य) धान्य की (या स्फातिः) जो समृद्धि है वह (सम्) मिलकर आए, (सं स्राव्येण हविषा) परस्पर मिली हुई हवि द्वारा (जुहोमि) मैं आहुतियाँ देता हूँ।

[सामूहिक यज्ञ का वर्णन है, जिसमें दूध के लिए गौएँ आवें, अश्वारोही सैनिक आवें, सर्वसाधारण पुरुष तथा स्त्रियाँ आवें। प्रभूत धान्यादि अन्न आवे, मैं परस्पर के सहयोग से प्राप्त हवि द्वारा आहुतियां देता हूँ।]

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।

संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ॥ ४॥

अर्थ—(गवाम् क्षीरम्) गौओं के दूध को (सम् सिञ्चामि) समागत व्यक्तियों में मैं सींचता हूँ, उन्हें पिलाता हूँ, (आज्येन) गौओं के घृत द्वारा (बलम्) शारीरिक बल तथा (रसम्) शारीरिक रससमूह को सींचता हूँ। (अस्माकम् वीराः) हमारे वीर पुरुष तथा पुत्र (सं सिक्ताः) सम्यक् सींचे गये हैं। [दूध तथा आज्य द्वारा], (मयि गोपतौ) मुझ गोस्वामी में (ध्रुवाः) स्थिर रूप में (गावः) गौएँ हों।

[रसम्=शरीर के रस, अर्थात् रक्त तथा अन्य रस।]

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।

आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्॥ ५॥

अर्थ—(इदम् अस्तकम्) इस घर में (गवाम् क्षीरम्) गौएँ और गौओं का दूध (आ हरामि) मैं लाता हूँ, (धान्यम् रसम्) धान्य तथा रस [फलादि का] (आहार्षम्) मैं लाया हूँ। (अस्माकम् वीराः) हमारे पुत्र तथा अन्य सन्तानें (आहृताः) लाये गये हैं, (पत्नीः) पुत्रों आदि की पत्नियाँ (आ) लाई गई हैं।

[अस्तकम्=**अस्तकम् गृहनाम** (निघं० ३.४)। नवनिर्मित गृह है। इसे गौओं आदि को लाकर बसाया गया है।]

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ५

सूक्त २७

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ १ ॥

अर्थ—(प्राशम्) प्रकर्षरूप में भोजन[१] करनेवाले को (शत्रुः) शत्रु (नेत्) नहीं (जयाति) जीते, (सहमाना अभिभूः असि) शत्रु को सहन करनेवाली तथा उसका पराभव करनेवाली तू है। (प्राशम्)[२] प्रकर्षरूप में भोजन करने वाले को उद्दिष्ट करके (प्रतिप्राशः) प्रतिद्वन्द्वी प्राशों को (ओषधे) हे ओषधि तू (जहि) मार (अरसान् कृणु) और उन्हें रसविहीन कर। (ओषधिः=पाटा) (मन्त्र ४)।

[प्राशम्=प्र+**अश भोजने** (क्र्यादिः)।]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ २ ॥

अर्थ—(सुपर्णः) गरुड़ ने (त्वा) तुझे (अनु अविन्दत्) ढूँढा, तेरा अन्वेषण किया, (सूकरः) सूअर ने (नसा) नाक के द्वारा (त्वा) तुझे (अखनत्) खोद कर भूमि से निकाला। (प्राशम्....) अर्थ पूर्ववत्।

[पाटा ओषधि के पहिचान के साधन हैं सुपर्ण और सूअर।]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ३ ॥

अर्थ—(इन्द्रः) जीवात्मा ने (त्वा) तुझे (बाहौ) निज बाहु में (चक्रे) किया, पकड़ा, (असुरेभ्यः) असुरों के लिए, (स्तरीतवे) अर्थात् उनके विनाश के लिए (प्राशम्.....) अर्थ पूर्ववत्।

["बाहौ" पद द्वारा सशरीर जीवात्मा कहा है। **स्तृणाति वधकर्मा** (निघं० २.१९)। बाहौ=**बाहुसंलग्ने हस्ते,** यथा "गङ्गायां घोषाः"=गङ्गातटे घोषाः। मन्त्र में बाँधने अर्थ का निर्देशक कोई पद नहीं।]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पाटामिन्द्रो व्याशिनादसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ४ ॥

अर्थ—(पाटाम्) पाटा[३] को (इन्द्रः) जीवात्मा ने (वि आश्नात्) खाया (असुरेभ्यः) असुरों के लिए, (स्तरीतवे) अर्थात् उनके वध के लिए। (प्राशम्.....) अर्थ पूर्ववत्।

[इन्द्र अर्थात् जीवात्मा ने खाया। खाना धर्म शरीर का है। अतः जीवात्मा सशरीर[४] है। **प्राशम् अश भोजने** (सायण)। अतः "प्राश" शब्द प्रश्नार्थक नहीं, जैसेकि सायण ने इस सूक्त के पूर्व में मन्त्र[५] में कहा है। पाटा के स्थान में "पाठा" पाठ (सायण)।]

---

१. अथर्व० (६.१३५.१-३)।

२. **प्राशं प्रष्टारं वादिनम्, "प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्"। "क्विब्वचि"** (अष्टा० वार्तिक ३.२.१७८), इत्यादिना क्विप्। **"च्छ्वोः"** (अष्टा० ६.४.१९) इति सतुक्कस्य छकारस्य शकारः)। **प्रतिपाशः=प्रतिकूलप्रश्नकर्तॄन् प्रतिवादिनः** (सायण)।

३. पाटा=उत्पाटनशीला ओषधि, अर्थात् असुरों को उत्पादन करनेवाली ओषधि (मन्त्र २)।

४. इन्द्र जीवात्मा इन्द्रियों का प्रेरक है।

५. मन्त्र (१) की टिप्पणी।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ५॥

अर्थ—(तया अहम्) उस ओषधि द्वारा मैं (शत्रून्) आसुर शत्रुओं का (साक्षे) पराभव करता हूँ, (इव) जैसेकि सशरीर जीवात्मा ने (सालावृकान्) शरीररूपी शाला अर्थात् गृह के असुरों का पराभव किया। ओषधि=मन्त्र (२)।

[साक्षे=सह (पराभवे)+सिप् (सिब् बहुलं लेटि, अष्टा० ३.१.३४)। "**सिब् बहुलं छन्दसि णिद् वक्तव्यः**" (अष्टा० ३.१.३४) अष्टा० वार्तिक (सायण)। सालावृकान् द्वारा प्रतीत होता है कि ये शरीरवासी वृक हैं, आसुर विचार और आसुर कर्म, आध्यात्मिक देवासुर संग्राम के।]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ६॥

अर्थ—(रुद्र) हे रौद्र कर्म करनेवाले! [मध्यस्थानी इन्द्र=विद्युत्], (जलाषभेषज) हे उदक द्वारा चिकित्सा करनेवाले, (नीलशिखण्ड) हे नीली शिखा तथा नीले पुँछ सहित मोरोंवाले! (कर्मकृत्) हे कृषिकर्म के करनेवाले मेघ!।

[मन्त्र में मेघ का वर्णन प्रतीत होता है। रुद्र है मध्यस्थानी इन्द्र अर्थात् विद्युत्। इन्द्र जब मेघ में चमकता है, तब उसके वज्रपात द्वारा वृक्ष आदि जलते हैं, यह उसका रौद्रकर्म है। मेघच्युत उदक शुद्ध होता है, उस शुद्ध उदक द्वारा जलचिकित्सा करनी चाहिए। भौम उदक शुद्ध नहीं होता, उसमें भौमतत्त्व मिश्रित रहते हैं। वर्षा-काल में मोर-मोरनियाँ प्रसन्न होती हैं। मेघ की वर्षा, कृषिकर्म में सहायक होती है और प्राश अर्थात् अशन-योग्य अन्न प्राप्त होता है। **जलाषम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। यद्यपि इन्द्र पद द्वारा मुख्यतः सशरीर जीवात्मा का वर्णन हुआ है, तथापि सूक्त में इन्द्र पद द्व्यर्थक होने से प्रसङ्गवश अन्तरिक्षस्थानी इन्द्र अर्थात् विद्युत् का तथा तत्सम्बन्धी मेघ का भी वर्णन हुआ है। यथा "**वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः**" (निरुक्त० ७.२.५)। अन्तरिक्षस्थानी इन्द्र को रुद्र कहा है।]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि॥ ७॥

अर्थ—(इन्द्र) हे इन्द्रिय शक्तियोंवाले सशरीर जीवात्मन्! (तस्य) उसके (प्राशम्) प्रकृष्ट अशनीय भोजन को (त्वम्) तू (जहि) नष्ट कर, (यः) जोकि (नः) हमारा (अभिदासति) क्षय करता है या हमें अपना दास बनाता है। (शक्तिभिः) निज शक्तियों के साथ (नः) हमें (अधिब्रूहि) अधिकारपूर्वक तू कथन कर, और (प्राशि=प्राशिम्) प्राशनकर्ता (माम्) मुझको (उत्तरम्) उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ (कृधि) कर।

[अभिदासति=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। मन्त्र में आसुरकर्म का कथन हुआ है। यह हमारा क्षय करता और हमें निजदास करता है। जहि=उसके प्राशन के प्रभाव को नष्ट कर। आसुर कर्म असुरों में परिपुष्ट होते हैं, मानो असुरों के आसुर भोजनों के द्वारा। अतः उनका विनाश अभीष्ट है।]

सूक्त २८

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।

मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः॥ १ ॥

अर्थ—(जरिमन्) हे जरावस्था! (तुभ्यम् एव) तेरे लिए ही (अयम्) यह बालक (वर्धताम्) बढ़े, (इमम्) इसे (अन्ये मृत्यवः) अन्य मृत्युएँ (मा हिंसिषुः) न हिंसित करें (ये शतम्) जोकि १०० हैं। (माता इव) माता जैसे (उपस्थे) गोद में (पुत्रम्) पुत्र को [रखकर] (एनम्) इसे (अंहसः) पाप या मृत्यु से रक्षित करती है, वैसे (मित्रः) स्नेही पिता (एनम्) इस पुत्र को (प्रमनाः) प्रमुदित मनवाला हुआ (मित्रियात्) मित्रों से प्राप्त होनेवाले (अंहसः) पाप या मृत्यु से (पातु) सुरक्षित करे।

[जरिमा=**जॄ वयोहानौ** (क्र्यादिः)+इमनिच्। तुभ्यम् एव=तुझ जरावस्था की प्राप्ति के लिए ही बढ़े, [इससे पूर्व मृत्यु को प्राप्त न हो]। शतम्=सौ वर्षों की आयु में सम्भाव्यमान सौ[1] मृत्युवें। मित्रः=**मिदि स्नेहने** (चुरादिः), स्नेही पिता। मित्रियात्=मित्र भी मित्र की हिंसा कर देते हैं स्वार्थवश होकर या दुराचार में फँसाकर। मातृपद के संनिधान से तत्सम्बन्धी मित्रपद स्नेही पिता का सूचक है।]

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।

तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥ २ ॥

अर्थ—(मित्रः) स्नेही पिता (वा) अथवा (रिशादाः) हिंसक आसुर वृत्तियों का अदन करनेवाला, नष्ट करनेवाला आचार्य, (संविदानौ) परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुए, (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (जरामृत्युम्) जरावस्था में मरनेवाला (कृणुताम्) करें। (वयुनानि विद्वान्) प्रज्ञानी (अग्निः) ज्ञानाग्निसम्पन्न आचार्य (होता) ब्रह्मचारी में दिव्यगुणों का दाता बनकर, (तत्) उस दीर्घायु के सम्बन्धी ज्ञान तथा (देवानाम्) पृथिवी सूर्य आदि देवों की (विश्वा जनिमा) सब उत्पत्तियों का (विवक्ति) कथन करता है।

[रिशादाः=**रिशानां हिंसकानाम् अत्ता। रिश हिंसायाम्, इगुपधलक्षणः "कः"**+असुन् (सायण)। मित्र अर्थात् स्नेही पिता घर में जब तक पुत्र रहे तब तक और वरुण आचार्य ब्रह्मचर्याश्रम के निवासकाल में। **विश्वा जनिमा विवक्ति** (अथर्व० ११.५.८)। आचार्य है वरुण (अथर्व० १५.५.१४, १५)। विषयसम्बन्धी अधिक ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्यसूक्त पठनीय है (अथर्व० ११.५.१-२६)। "विवक्ति" द्वारा विविध प्रकार की सृष्टि के विज्ञान का कथन किया है। सायण के अनुसार विवक्ति="**वचेः पञ्चमलकारे छान्दसः शपः श्लुः। बहुलं छन्दसि** (अष्टा० ७.४.७६) **इत्यभ्यासस्य इत्त्वम्**"। "**देवानाम् जनिमा**" का सम्बन्ध भूगोल तथा ज्योतिषशास्त्र के साथ है।]

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः॥ ३ ॥

---

१. न जाने किस वर्ष मृत्यु हो जाए।

अर्थ—(त्वम्) हे अग्रणी परमेश्वर! तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी में उत्पन्न (पशूनाम्) पशुओं का (ईशिषे) अधिपति है, शासक है, (ये) जो पशु कि (जाताः) भूतकाल में पैदा हुए हैं, (उत वा) अपि च (ये जनित्राः) जो भविष्य में पैदा होंगे। (इमम्) इस ब्रह्मचारी को [तेरी कृपा से] (प्राणः) ऊर्ध्वकायस्थ प्राण (मा हासीत्) न त्यागे, (मा उ अपानः) और न अपान अर्थात् अधःकायस्थ अपान। (इमम्) इस ब्रह्मचारी का (वधिषुः) वध करें (मा मित्राः) न मित्र (मा उ) और न (अमित्राः) दुश्मन। पशूनाम्="तवेमे पञ्चपशवो विभक्ताः गावः अश्वाः पुरुषा[1] अजावयः" (अथर्व० ११.२.९)।

[मन्त्र २ में अग्नि पद द्वारा आचार्य का वर्णन किया है, और मन्त्र ३ में अग्निपद द्वारा जगदग्नि का वर्णन अभिप्रेत है, ब्रह्मचारी के दीर्घ जीवन के लिए। यहाँ से ब्रह्मचारी के लिए आशीर्वाद अभिप्रेत है। मित्राः वधिषुः (देखो "**मित्रियात् पात्वंहसः**") (मन्त्र १)।]

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने।

यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारी! (द्यौः) द्युलोक (पिता) पिता और (पृथिवी माता) पृथिवी माता, ये दोनों (संविदाने) परस्पर एकमतिवाले हुए (त्वा=त्वाम्) तुझे (जरामृत्युम्) जरावस्था में मरनेवाला (कृणुताम्) करें, (यथा) जिस प्रकार कि तू (अदितेः उपस्थे) पृथिवी की गोद में (प्राणपानाभ्याम् गुपितः) प्राण और अपान द्वारा सुरक्षित हुआ, (शतम् हिमाः) सौ शरद् ऋतु (जीवाः) जीवित रहे।

[अदितेः=**अदितिः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। जीवाः=जीवे, लेटि आडागमः (सायण)। ब्रह्मचारी से कहा है कि तू निजजन्म-दाताओं को ही अपनी माता और पिता न जान, अपितु समग्र पृथ्वी और द्यौः को माता-पिता जान। यतः तूने सबसे भिक्षा द्वारा विद्याग्रहण करना और जीवनचर्या करनी है, "**भिक्षामाजभार**" (अथर्व० ११.५.९)। इस द्वारा ब्रह्मचारी की दृष्टि को अधिक व्यापी किया है, ताकि गृहस्थ धारण कर वह समग्र समाज को माता-पिता जानकर, समाज की सेवा करने में तत्पर रहे।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्।

मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत्॥ ५॥

अर्थ—(अग्ने) हे जगदग्रणी परमेश्वर! (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (आयुषे) स्वस्थ तथा दीर्घायु के लिए, (वर्चसे) तथा तेज के लिए (नय) ले चल, मार्ग दर्शा, (राजन्) ब्रह्मचर्याश्रम के राजारूप! (मित्र वरुण) हे मित्ररूप! और वरुणरूप! आचार्य! ब्रह्मचारी के प्रति (प्रियम्, रेतः) प्रिय वीर्य (नय) तू प्राप्त करा। (अदिते) हे पृथिवी! (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिए (माता इव) माता के सदृश (शर्म यच्छ) सुख प्रदान कर, (विश्वे देवाः) हे सब देवो! (यथा) जिस प्रकार कि यह ब्रह्मचारी (जरदष्टिः असत्) जरावस्था को प्राप्त होनेवाला हो जाए।

---

१. ज्ञान तथा धर्म विहीन पुरुष पशु सदृश हैं, साक्षात् पशु हैं। यथा—

"आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत् पशुभिः नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।"

[अग्ने=**अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। प्रियम् रेतः=इससे ब्रह्मचारी युवावस्था का प्रतीत होता है जबकि वीर्यरक्षा पर विशेष चिन्ता चाहिए। वरुण है आचार्य (अथर्व० ११.५.१४, १५)। मित्र=स्नेह करनेवाला आचार्य। अदितिः पृथिवीनाम (निघं० १.१)। विश्वे देवाः=ब्रह्मचर्याश्रम के सब दिव्य अध्यापक।]

सूक्त २९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः, सूर्यः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले।

आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः॥ १॥

अर्थ—(देवाः) देवों ने (पार्थिवस्य) पार्थिव शरीर के (रसे) रस अर्थात् वीर्य में, (भगस्य तन्वः बले) भग और तनू सम्बन्धी बल में, (अग्निः सूर्यः) अग्नि और सूर्य ने (अस्मै) इस ब्रह्मचारी के लिए (आयुष्यम्) स्वस्थ तथा दीर्घायु, तथा (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी के पति परमेश्वर ने (वर्चः[1]) वेदाध्ययनसम्बन्धी तेज (आ धात्) ब्रह्मचारी में स्थापित किया है।

[ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचारी में जिन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, उनका वर्णन मन्त्र में हुआ है। ये शक्तियाँ ब्रह्मचारी में दिव्य तत्त्वों द्वारा प्राप्त हुई हैं। भग का अर्थ है आदित्य, जोकि अभी उदित नहीं हुआ, परन्तु उदीयमान है। "**अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते**" (निरुक्त १२.२.१४)। भग की उत्सृप्त रश्मियों के कारण उषा का जन्म होता है, जोकि प्रकाशमान है और अन्धकार का विनाश करती है। यह भग का ही बल है, जिसके कारण अनुदित सूर्य भी उषा को प्रकाशित कर अन्धकार का विनाश करता और जगत् को प्रकाशित करता है। यह बल अनुदित भाग में है। ब्रह्मचर्य-काल को पूर्ण कर वह गृहस्थाश्रम में आया है। सूक्त में उसके गृहस्थाश्रम का वर्णन हुआ है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जातवेदाः, त्वष्टा, सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

अर्थ—(जातवेदः) हे वेदोत्पादक परमेश्वर! (अस्मै) इसके लिए (आयुः) स्वस्थ तथा दीर्घायु (धेहि) प्रदान कर (त्वष्टः) हे रूपकृत् परमेश्वर! (अस्मै) इसके लिए (प्रजाम्) नाना रूपाकृतियोंवाली प्रजा (अधिनिधेहि) प्रदान कर। (सवितः) हे ऐश्वर्यों के उत्पादक परमेश्वर! (अस्मै) इसके लिए (रायस्पोषम्) धन की सम्पुष्टि (आसुव) प्रेरित कर, प्रदान कर (तव अयम्) ताकि तेरा हुआ यह गृहस्थी (शतं शरदः जीवाति) सौ शरद् ऋतु जीवित रहे।

[जातवेदः आदि नामों द्वारा एक परमेश्वर को ही सम्बोधित किया है, इसलिए "तव" में एकवचन का प्रयोग हुआ है। शरदः=शरद् ऋतु स्वास्थ्यकारी होती है, ग्रीष्म आदि नहीं। त्वष्टः=**त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः** (निरुक्त ८.२.१४), मानो परमेश्वर मातृगर्भ में प्रजाओं को घड़ता है, जिससे प्रजाएँ नाना रूपाकृतियों की पैदा होती हैं। सविता=षु प्रसवैश्वर्ययोः ऐश्वर्य अर्थ अभिप्रेत है। आसुव=**षू प्रेरणे** (तुदादिः)।]

१. **श्रुताध्ययनजन्यं तेजः** (सायण)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान्॥ ३॥

अर्थ—(सचेतसौ) एकचित्त हुए तुम दोनों हे माता-पिता! (नः) हमारे इस सद्गृहस्थी को (आशीः) आशीर्वाद, (ऊर्जम्) बल और प्राण से सम्पन्न अन्न, (उत) तथा (सौप्रजास्त्वम्) उत्तम प्रजा, (दक्षम्) दक्षता, (द्रविणम्) तथा धन (धत्तम्) प्रदान करो। (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (अयम्) यह सद्गृहस्थी (क्षेत्राणि) निज स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों पर, (सहसा) आसुर शत्रुपराभव द्वारा, (जयम् कृण्वानः) जय प्राप्त कर (अन्यान् सपत्नान्) अन्य शत्रुओं को (अधरान्) पराजित करे।

[मन्त्र में आशीर्वाद तथा ऊर्ज आदि को प्राप्त कर और निज त्रिविध शरीरों पर विजय प्राप्त कर, आसुर भावों और कर्मों को पराजित करने की अभिलाषा प्रकट की है। ऊर्जम्=**ऊर्ज बलप्राणनयोः**=(चुरादिः), अर्थात् बल और प्राण देनेवाला अन्न। ब्रह्मचारी के गुरुवर्ग, सद्गृहस्थी में, (नः) द्वारा निज आत्मीयता प्रकट करते हैं। सौप्रजास्त्वम्=**सुप्रजसो भावः सौप्रजास्त्वम् शोभनापत्यत्वम्, असिच् समासान्तः** (अष्टा० ५.४.१२२) (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वे देवाः, मरुतः, आपः**॥
छन्दः—**पराबृहती निचृत्प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत्॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्रेण दत्तः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की कृपा से दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण नामक आचार्य द्वारा अनुशासित हुआ, (मरुद्भिः) प्रजाओं द्वारा (उग्रः) उद्गूर्ण बलशाली हुआ, तथा गुरुओं द्वारा (प्रहितः) प्रेषित हुआ, (नः) हम माता-पिता आदि के घर (आगन्) आया है। (द्यावापृथिवी) हे द्यौ और पृथिवी (वाम्) तुम दोनों की (उपस्थे) गोद में (एषः) यह (मा क्षुधत्) न क्षुधार्त्त हो, (मा तृषत्) न तृषार्त हो।

[यह सद्गृहस्थ परमेश्वर की कृपा से ब्रह्मचर्य के दीर्घकाल के पश्चात् जीवित हुआ हम सम्बन्धियों के घर वापिस आया है। वरुण है आचार्य (अथर्व० ११.५.१४, १५)। मरुद्भिः=मरुत्, मनुष्यजातिः (उणा० १.९४, दयानन्द)। अर्थात् मानुष प्रजाजनों से भिक्षा प्राप्त कर बलशाली हुआ। माता-पिता आदि कहते हैं कि हे द्यौः-पृथिवी! अब यह तुम दोनों की व्याप्त गोद में आया है, अतः पृथिवी अन्नप्रदान द्वारा और द्यौः वर्षा द्वारा शुद्ध जल देकर, तुम दोनों इसकी क्षुधा और तृषा का निवारण करते रहो। आगन्=गमेर्लुङि "**मो नो धातोः**" (अष्टा० ८.२.६४) इति नत्वम् (सायणः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः, मरुतः, आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः॥ ५॥

अर्थ—(ऊर्जस्वती द्यावापृथिवी) हे बलशाली और प्राणप्रद द्युलोक और पृथिवीलोक! (अस्मै)

इसके लिए (ऊर्जम्) बलकारी तथा प्राणप्रद अन्न (धत्तम्) प्रदान करो, (पयस्वती) हे जलवाली द्यौः और पृथिवी! (अस्मै) इसके लिए (पयः) शुद्ध जल (धत्तम्) प्रदान करो। (द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी ने (अस्मै) इसके लिए (ऊर्जम्) बलकारी और प्राणप्रद अन्न (अधाताम्) प्रदान कर दिया है। (विश्वे देवाः) सब देवों ने, (मरुतः) मानसून वायुओं ने, (आपः) तथा अन्य जलों ने (ऊर्जम्) बलशाली और प्राणप्रद अन्न प्रदान कर दिया है।

[मरुतः=मानसून वायुएँ (अथर्व० ४.२७.४, ५), तथा समग्र सूक्त २७। आपः=कूपजल तथा उत्सजल[१] (अथर्व० ४.२७.२)। "उत्स" जल पृथिवी से चश्मे रूप में प्राप्त होता है। इन सब जलों के कारण ऊर्ज प्राप्त होता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।

सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम्॥ ६॥

अर्थ—हे सद्गृहस्थी! (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (शिवाभिः) कल्याणकारी जलों द्वारा (तर्पयामि) मैं वैद्य (मन्त्र ७) तृप्त करता हूँ। (अनमीवः) रोगरहित, (सुवर्चाः) उत्तम तेजवाला हुआ (मोदिषीष्ठाः[२]) तू प्रमुदित हो। (सवासिनौ) तुम दोनों [पति-पत्नी] सहवासी हुए (एतम् मन्थम्) इस मठे का (पिबताम्) पान किया करो, और (अश्विनोः) सूर्य-चन्द्र के (मायाम् रूपम्) मायारूप को (परिधाय) धारण कर [विचरो।]

[जल-चिकित्सा द्वारा हृदय तृप्त रहता, रोगरहित और प्रमुदित होता है। हृदय के रोग न होने पर समग्र शरीर स्वस्थ रहता है, और तेज बढ़ता है। इसके लिए मठा पीते रहना चाहिए। यह दधि का मठा है। इससे पति-पत्नी का रूप सूर्य और चन्द्र के समान चमकता है। यह रूप मायारूप है, कृत्रिम है। पत्नी चन्द्र है और पति सूर्य है। चन्द्र निज चमक सूर्य से पाता है, और पत्नी पति से।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा।

तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन्॥ ७॥

अर्थ—(विद्धः) प्रजा के दुःखों से विद्ध हुए (इन्द्रः) परमेश्वर ने (अग्रे) प्रारम्भ में (स्वधाम्) अन्नरूप, (अजराम्), जरानिवारक, (एताम्, ऊर्जाम्) इस ऊर्जा को (ससृजे) पैदा किया, (सा ते एषा) हे पति! वह यह ऊर्जा तेरे लिए है। (तया) उस ऊर्जा द्वारा (त्वम्) तू (जीव) जीवित रह (शरदः) शरद्-ऋतुओं में, (सुवर्चाः) और उत्तम तेजवाला बन। (मा ते आ सुस्रोत्) वह पी हुई ऊर्जा तेरे शरीर से स्रवित[३] न हो, (भिषजः) वैद्य (ते) तेरे लिए (अक्रन्) इसकी चिकित्सा करें।

---

१. उत्सः=उत्+**षणु (दाने)**, जोकि पृथिवी से ऊर्ध्वगतिक होकर जल प्रदान करता है।

१. मोदिषीष्ठाः=**मुद हर्षे** आशिषि लिङ् (सायण)।

१. यह ऊर्जा वीर्यरूप में परिणतरूपा है।

सूक्त ३०

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यथे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑।

ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑ः ॥ १ ॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (भूम्या अधि) भूमि के ऊपर (वातः) प्रचण्ड वायु (इदम् तृणम्) इस तृण को (मथायति) मथित करती है, अनवस्थित करती है, (एव=एवम्) इसी प्रकार [हे पत्नी!] (ते मनः) तेरे मन को (मथ्नामि) मैं [पति] मथित करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि (माम्, कामिनी) मेरी कामना करनेवाली [मुझे चाहनेवाली] (असः) तू हो जाए, (यथा) जिस प्रकार कि (मत् अपगाः न असः) मुझसे हटकर [मुझे छोड़कर] चले जानेवाली तू न हो।

[मन्त्र में पति से रुष्ट हुई पत्नी का वर्णन है, जोकि पति को त्यागकर चले जाने में प्रवृत्त है। अपगाः=अप+गम्=गमेर्विट्[1] (अष्टा० ३.२.६७)+आत्[2] (अष्टा० ६.४.४१)।]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं चेन्नया॑थो अश्विना का॒मिना॒ सं च॒ वक्ष॑थः।

सं वां॒ भगा॑सो अग्मत॒ सं चि॒त्तानि॒ समु॒ व्र॒ता ॥ २ ॥

अर्थ—(अश्विना) हे सूर्य और चन्द्रमाः के सदृश वर्तमान माता-पिता! तुम दोनों (कामिना=कामिनौ) परस्पर कामनावाले वर-वधू को (सम् च इत् नयाथः) परस्पर समीप प्राप्त करते हो, (सं च वक्षथः) और संवहन करते हो, उन्हें परस्पर मिलाते हो। (वां) तुम दोनों के (भगासः) ऐश्वर्यादि (सम् अग्मत) परस्पर संगत हो गये हैं, परस्पर मिल गये हैं, एक हो गये हैं, (चित्तानि) चित्तों के संकल्प (सम्) परस्पर मिल गये हैं, एक हो गये हैं, (व्रता उ) व्रतकर्म निश्चय से (सम्) परस्पर मिल गये हैं, एक हो गये हैं। मन्त्र में वर-वधू के प्रति कथन हुआ है।

[माता-पिता को सूर्य और चन्द्रमा कहा है। पिता है सूर्य और माता है चन्द्रमा। निरुक्त—**सूर्याचन्द्रमसावित्येके** (१२.१.१)। चन्द्रमा सूर्य से शक्ति प्राप्त कर चमकता है। पत्नी भी पति से उत्पादक शक्ति प्राप्त कर पुत्रवती नाम से प्रसिद्ध होती है।

सं नयाथः=**सम् णीञ् प्रापणे**। सं वक्षथः=सम्+वह अर्थात् परस्पर विवाहकर्म करते हो। वक्षथः= वह+सिप् (**सिब् बहुलं लेटि**) (अष्टा० ३.१.३४), वहेर्लेटि अडागमः (सायण)। वर के विवाह के लिए वर के माता-पिता अश्विनौ अर्थात् घुड़सवार होकर बरात के आगे-आगे चलते हैं, यथा "**सूर्याया अश्विना वरा** (अथर्व० १४.१.८), **अश्विनास्तामुभा वरा**" (अर्थव० १४.१.९), तथा "**यदश्विना पृच्छमाना वयातम्**" (अथर्व० १४.१.१४)। अधिक स्पष्टता के लिए देखो मत्कृत अथर्ववेदभाष्य।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

यत्सु॑प॒र्णा वि॑व॒क्षवो॑ अनमी॒वा वि॑व॒क्षव॑ः। तत्र॑ मे गच्छता॒द्धवं॑ श॒ल्य इ॑व॒ कुल्म॑लं॒ यथा॑ ॥ ३ ॥

अर्थ—(सुपर्णाः) उत्तम-पालन में समर्थ (विवक्षवः[3]) विवाह की इच्छावाले (अनमीवाः) रोगरहित

---

१. **जनसनखनक्रमगमो विट्।** २. **विड्वनोरनुनासिकस्यात्।** ३. वि+वह्+सन्+उ+ प्रथमा बहुवचन से "**सनाशंसभिक्ष उः**" (अष्टा० ३.२.१६८) विवक्षवः में 'उ' हुआ है।

अर्थात् स्वस्थ (विवक्षवः) विवाह की इच्छावाले, (यत्) जिस गृहस्थ में जाते हैं, (तत्र) उस गृहस्थ में (मे) मेरा (हवम्) आह्वान (गच्छतात्) पहुँचे, (इव) यथा (शल्यः) बाण का लोहाग्रभाग (कुल्मलम्) बाणदण्ड में पहुँचता है, [और वहाँ सुरक्षित तथा धारित हो जाता है।]

[हवम्=अर्थात् उस गृहस्थ के लिए मुझे आहूत किया जाए, गृहस्थ सम्बन्ध के लिए मुझे आमन्त्रित किया जाए। गृहस्थकर्म में मैं इस प्रकार सुरक्षित तथा धारित हूँगा, जैसेकि शल्य शल्यदण्ड में सुरक्षित और धारित हो जाता है। कुल्मलम्=कुड्मलम्=**कुडि रक्षणे** (चुरादिः)+**मल धारणे** (भ्वादिः)। कुल्मलम्= कुड्मलम्, डलयोरभेदः।]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदन्तरं तद्वाह्यं यद्वाह्यं तदन्तरम्। कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

अर्थ—कन्याओं के (अन्तरम्) मनों में (यद्) जो होता है (तद्) वह (बाह्यम्) बाहर के कर्मों में प्रकट होता है और (यद्) जो (बाह्यम्)बाहर के कर्मों में होता है (तद्) वह (अन्तरम्) उनके मनों में होता है, अर्थात् कन्याएँ छल-कपट से रहित होती हैं। (ओषधे) हे ओषधि! (विश्वरूपाणाम्) नानारूपोंवाली या (विश्वरूपाणाम् कन्यानाम्) विश्व में रूपवती कन्याओं के (मनः) मन को (गृभाय) वश में कर।

[गृभाय=गृहाण। ग्रह+शायच्। ओषधि-सेवन द्वारा मन को परवश किया जा सकता है। सात्त्विक, राजस, और तमोगुणी अन्नों के सेवन से मन की वृत्तियाँ सत्त्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी हो जाती हैं। भिन्न-भिन्न अन्न, भिन्न-भिन्न ओषधिरूप ही हैं। इसीलिए कहा है कि "**रजस्तमो मोपगा मा प्रमेष्ठाः**" (अथर्व० ८.२.१)।]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**दम्पती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(इयम्) यह वधू (पतिकामा) पति की कामनावाली (आगन्) आई है, और (अहम्) मैं वर (जनिकामः) जाया कि कामनावाला (आगमम्) आया हूँ। (कनिक्रदत्) बार-बार क्रन्दन करता हुआ (अश्वः) अश्व (यथा) जिस प्रकार (सह) [क्षुधा के] साथ [घास-चारे की ओर आता है, वैसे (भगेन सह) ऐश्वर्य और सम्पत्ति के साथ (अहम्) मैं (आगमम्) आया हूँ [विवाह के लिए]।

[गृहस्थ में ऐश्वर्य और सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, अतः वर ऐश्वर्य-सम्पत्ति के साथ विवाह के लिए आया है।]

सूक्त ३१

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**मही** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रस्य या मही दृषत्क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँ इव ॥ १ ॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (या) जो (मही दृषत्) बड़ी शिला है, (विश्वस्य क्रिमेः) सब क्रिमियों की (तर्हणी) हिंसा अर्थात् हनन करनेवाली, (तया) उस द्वारा (क्रिमीन्[1]) क्रिमियों को (सम्

१. **कृञ् हिसायाम्** (क्र्यादिः) तथा **कृ हिंसायाम्** (भ्वादिः)।

पिनष्मि) सम्यक्तया मैं पीसता हूँ, (दृषदा) पत्थर की चक्की द्वारा (इव) जैसे (खल्वान्) चणों को पीसा जाता है।

[परमेश्वर की महती शिला है, सूर्यरूपी शिला। सौरचिकित्सा का वर्णन है, सूर्य की रश्मियों के प्रयोग द्वारा क्रिमियों के नाश का विधान हुआ है। **शरीरान्तर्गतान् सर्वान् क्षुद्रजन्तून्** (सायण)। इससे प्रकट होता है कि मन्त्र में रोगजनक कीटाणुओं (germs) का वर्णन हुआ है। ये अदृष्ट कीटाणु हैं, (मन्त्र २)। अदृष्ट, जोकि अतिसूक्ष्म होने से आँख से देखे नहीं जा सकते।]

ऋषिः—**काण्वः**॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्। अल्गण्डून्त्सर्वान्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ २॥

अर्थ—(दृष्टम्, अदृष्टम्) चक्षु द्वारा देखे गये और उस द्वारा न देखे गये को (अतृहम्) मैंने हिंसित कर दिया है, (अथो) तथा (कुरूरुम्) कुरूरु को (अतृहम्) मैंने हिंसित कर दिया है। (अल्गण्डून्) निवारणीय गण्डोओं को, (सर्वान् शलुनान्) सब गतिशील (क्रिमीन्) क्रिमियों को, (वचसा) वैदिक वचन के अनुसार हम [वैद्य] (जम्भयामसि) नष्ट करते हैं।

[ये नाना नामोंवाले क्रिमि हैं, जोकि शरीरान्तर्गत हैं। अल्गण्डु, गण्डोए प्रतीत होते हैं, जोकि लम्बे होते हैं, कभी मुख से और प्रायः गुदा द्वार से निकलते हैं। शलुनान्=शल संचलने, शल गतौ (भ्वादिः)। अदृष्ट क्रिमि हैं रोग-कीटाणु (germs)। कुरूरुम्=सम्भवतः अतिक्रूर अर्थात् हननकारी?]

ऋषिः—**काण्वः**॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्**॥ छन्दः—**आर्षी त्रिष्टुप्**॥

अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै॥ ३॥

अर्थ—(अल्गण्डून्) निवारणीय गण्डोओं का (महता) महाबली (वधेन) वधकारी औषध द्वारा (हन्मि) मैं [वैद्य] हनन करता हूँ (दूनाः) परिताप देनेवाले, (अदूनाः) परिताप न देनेवाले, (अरसाः) रसरहित (अभूवन्) हो गये हैं, शुष्क हो गये हैं, शक्तिहीन हो गये हैं। (शिष्टान्) जो शेष बचे हैं शरीर में, (अशिष्टान्) और जो शेष नहीं रहे अर्थात् मार दिये गये हैं, उनको (वाचा) वेदोक्त विधि द्वारा (नि तिरामि) मैं [वैद्य] शरीर से बाहिर कर देता हूँ, (यथा) जिस प्रकार से कि (क्रिमीणाम्) क्रिमियों में (नकिः) न कोई (उच्छिषातै) शेष रहे [शरीर में।]

[उच्छिषातै="**वैतोऽन्यत्र**" (अष्टा० ३.४.९६) इति ऐत्वम्, लेटि आडागमः (सायण)।]

ऋषिः—**काण्वः**॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ ४॥

अर्थ—(अन्वान्त्र्यम्) छोटी और बड़ी आन्तों[1] के, (शीर्षण्यम्) सिर के, (अथो) और (पार्ष्टेयम्[2]) छाती अर्थात् फुफ्फुस के, (क्रिमीन्) क्रिमियों को, (अवस्कवम्) शरीर में अन्तःप्रवेश करके वर्तमान, (व्यध्वरम्) तथा शरीर के विविध मार्गों में वर्तमान (क्रिमीन्) क्रिमियों को (वचसा) वैदिक वचनों के

१. लम्बी आँतें तथा मोटी (कोलोन)।
२. पृष्टि अर्थात् पसलियों सम्बन्धी।

अनुसार (जम्भयामसि) हम [वैद्य] नष्ट करते हैं।

[**अवस्कवम्=अवाक् गमनस्वभावम्, अन्तः प्रविश्य वर्तमानम्** (सायण)। शीर्षण्यम्=सिर में वर्तमान सम्भवतः जूएँ अथवा सिर के भीतर के भाग में अर्थात् मस्तिष्क में वर्तमान।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**आर्षी त्रिष्टुप्** ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।

ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥ ५॥

अर्थ—(ये क्रिमयः) जो कृमि (पर्वतेषु) पर्वतों में हैं, (वनेषु) वनों में हैं, (ओषधीषु) ओषधियों में हैं, (पशुषु) पशुओं में हैं, (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर हैं। (ये) जो (अस्माकम् तन्वः) हमारे शरीरों में (आ विविशुः) प्रविष्ट हो गये हैं, (क्रिमीणाम् तत् सर्वं जनिम) कृमियों की उस सब उत्पत्ति का (हन्मि) मैं वैद्य हनन करता हूँ।

[**आ विविशुः=व्रणमुखेन, अन्नपानादिद्वारेण वा प्रविष्टाः** (सायण)। आ=आगत्य, पर्वत आदि से आकर प्रविष्ट हुए हैं।]

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ६

सूक्त ३२

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्भुरिग्गायत्री** ॥

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि॥ १॥

अर्थ—(उद्यन् आदित्यः) उदित होता हुआ आदित्य (क्रिमीन् हन्तु) क्रिमियों का हनन करे, (निम्रोचन् हन्तु) और अस्त होता हुआ हनन करे (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा, (ये क्रिमयः) जो क्रिमि कि (गवि अन्तः) पृथिवी में हैं।

[सूर्य उदित होता हुआ और अस्त होता हुआ लाल होता है। सूर्य की लालिमा क्रिमियों के हनन में विशेष उपयोगी है। ये क्रिमि रोगकीटाणु (germs) है; स्थूल क्रिमि नहीं। क्रिमि=**कृञ् हिंसायाम्** (क्र्यादिः), जोकि रोगोत्पादन द्वारा हिंसित करते हैं। **गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१), न कि चतुष्पाद् गौ।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥ २॥

अर्थ—(विश्वरूपम्) नानारूपों या आकृतियोंवाले, (चतुरक्षम्) चार आँखोंवाले, (सारङ्गम्) विविध रंगोंवाले, (अर्जुनम्) शुभ्रवर्णवाले, (क्रिमिम्) क्रिमि की (शृणामि) मैं हिंसा करता हूँ, (अस्य) इसकी (पृष्टीः) पसलियों को, (अपि यत् शिरः) और जो सिर है, उसे भी (वृश्चामि) मैं काटता हूँ।

[इस प्रकार के क्रिमि कौन से हैं, यह अनुसंधेय है।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ ३॥

अर्थ—(क्रिमयः) हे क्रिमियो! (वः) तुम्हारा (हन्मि) मैं हनन करता हूँ, (अत्रिवत्) अत्रि की तरह, (कण्ववत्) कण्व की तरह, (जमदग्निवत्) प्रज्वलित अग्निवाले की तरह। (अगस्त्यस्य) अगस्त्यसम्बन्धी (ब्रह्मणा) मन्त्रोक्त ब्रह्मास्त्र के द्वारा (अहम्) मैं (क्रिमीन्) क्रिमियों को (संपिनष्मि) सम्यक् पीसता हूँ।

[अत्रिः[1]=अदनकर्त्ता परमेश्वर, यथा "दिवि त्वात्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे। स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत्॥ अथर्व० (१३.२.१२)। मन्त्र में सूर्य का वर्णन है, जिसे कि अत्रि ने द्युलोक में धारित किया है। अतः अत्रि है अदनकर्त्ता परमेश्वर। परमेश्वर प्रलयकाल में सब का अदन करता है और सृष्टिकाल में भी प्राणियों के कर्मफलानुसार उनका अदन करता रहता है। इसलिए इसे "अत्ता" भी कहते हैं "अत्ता चराचर-ग्रहणात्।" वैद्य कहता है कि परमेश्वर जैसे अदन करता है, नाश करता है, वैसे मैं भी क्रिमियों को पीसता हूँ, नष्ट करता हूँ। मन्त्र में अत्रि=उद्धृत मन्त्र में अत्रिः। "अत्रि" के अदनस्वरूप का निर्देश किया है, जिससे कि दर्शाया है कि "अत्रि" अद् धातु द्वारा निष्पन्न है। कण्ववत्=कण्वः मेधाविनाम (निघं० ३.१५)। कण्व मेधावी है जोकि कणसदृश सूक्ष्म रोगकृमियों का विनाश करता है। वैद्य कहता है कि मैं भी कण्ववत् रोगकृमियों का नाश करता हूँ। जमदग्निवत्=जमदग्नि है वह व्यक्ति जो यज्ञियाग्नि को प्रज्वलित कर उसमें रोगनाशक औषधों की आहुतियाँ देता है। वैद्य कहता है कि मैं भी क्रिमिरोगी को रोगनाशक औषध खिलाकर उसके क्रिमियों का नाश करता हूँ। अगस्त्यस्य ब्रह्मणा=अगस्त्य है सूर्य, जोकि "अग" अर्थात् गतिरहित[2] है, द्युलोक में स्थिर है और "स्त्य" अर्थात् अन्तरिक्ष में मेघसंघ को स्थापित करता है। "**स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः**" (भ्वादिः) और मेघ गर्जना करता है। यह सूर्य "विश्वदृष्टः" है, सब द्वारा दृष्ट है और क्रिमियों को मारता है [प्रमृणन् क्रिमीन्], (अथर्व० ५.२३.६)। यह सूर्य उदित है, जो कि निज प्रखर रश्मियों द्वारा क्रिमिनाशक है। परन्तु (अथर्व० २.३२.१) आदित्य अभी उदित नहीं हुआ, वह उद्यन् है और निम्लोचन् है। इस अवस्था में आदित्य निज रश्मियों की लालिमा द्वारा क्रिमियों का नाश करता है। उदित सूर्य और अनुदित आदित्य के गुणों में अन्तर है, भेद है। इसलिए मन्त्र ३ (अथर्व० २.३२) में ब्रह्मणा पद द्वारा उद्यन् सूर्य के रश्मि समूह को ब्रह्मास्त्र कहा है। "उद्यन्" सूर्य की लाल रश्मियों का यह विशेष गुण है कि वे [ब्रह्मणा] ब्रह्मास्त्ररूप हैं, रोगकीटाणुओं के विनाश में।]

ऋषिः—**काण्वः**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ४॥

अर्थ—(क्रिमीणाम्) क्रिमियों का (राजा) राजा (हतः) मर गया है, (उत) तथा (एषाम्) इनका

---

१. अत्रिः=अदनकर्ता। यथा अद्+त्रिः (उणा० ४.६९) अत्रिः को मन्त्र १३.२.१२ में 'अत्रिः' कहा है। अत्रि पद यौगिकार्थक है, यह अत्रि पद का मौलिक स्वरूप है।

२. यथा, "**एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन**" (अथर्व० ११.४.२१)।
'एकं पादं नोत्खिदति' द्वारा आदित्य को गतिरहित सूचित किया है। आदित्य जो प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम की ओर जाता हुआ दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण यह है कि पृथिवी निज कक्षा पर पश्चिम से पूर्व की ओर प्रतिदिन भ्रमण करती है, जोकि पूरा भ्रमण २४ घण्टे में होता है।

(स्थपतिः[१]) कारीगर (हतः) मर गया है। (क्रिमिः) क्रिमि (हतः) मर गया है, (हतमाता, हतभ्राता, हतस्वसा) यह मृतमाता, मृतभ्राता और मृतबहिनवाला हो गया है।

[अभिप्राय यह है कि क्रिमियों के समग्र कुल को मार दिया है। **हतमातेत्यादिषु नित्यं प्राप्तस्य कपः "ऋतश्छन्दसि"** (अष्टा० ५.४.१५८) **इति प्रेतिषेधः** (सायण)। यतः क्रिमियों के राजा का वर्णन हुआ है, इसलिए जैसे कि राजा के चारों ओर उसके अनुयायी बैठते हैं, उसी प्रकार क्रिमी-राजा के चारों ओर बैठनेवाले स्थपति आदि का वर्णन मन्त्र में कवितारूप में हुआ है।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हुतासो अस्य वेशसो हुतासः परिवेशसः।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हुताः ॥ ५ ॥

अर्थ—(अस्य) इस क्रिमि-राजा के (वेशसः) गृह में प्रविष्ट, (परिवेशसः) तथा चारों ओर के घरों में प्रविष्ट [परिचर-भृत्यादि] (हतासः=हताः) मर गये हैं, या मार दिये गये हैं। (अथो) तथा (ये क्षुल्लका इव) क्षुद्रसदृश हैं (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमि मर गये हैं, या मार दिए हैं।

[क्षुल्लकाः=क्षुत् (क्षुधा)+ला (आदाने, अदादिः), जोकि क्षुधा के कारण समीप लाये गये हैं, नौकरी के लिए लाये गये हैं।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृदुष्णिक्** ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि। भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

अर्थ—(ते) तेरे (शृङ्गे) दो सींगों को (प्रशृणामि) मैं हिंसित करता हूँ, (याभ्याम्) जिन दो द्वारा (वितुदायसि) तू विशेषतया व्यथा करता है। (ते) तेरे (कुषुम्भम्) कुसुम्भ को (भिनद्मि) मैं तोड़ देता हूँ (यः) जोकि (ते) तेरा (विषधानः) विषधारक है।

[मन्त्र में विच्छु-क्रिमि का वर्णन है। कुषुम्भ=कुसुम्भ, संन्यासियों का जलपात्र, जिसे कि तुम्बा कहते हैं। इसे बिच्छु के विषधान से उपमित किया है। वितुदायसि=**तुद व्यथने** (तुदादिः)।]

विशेष विचार

Germs (क्रिमि, रोगजनक कीटाणु)

"your guide to Health" के आधार पर, सारांश, हिन्दी अनुवाद—germs मनुष्य के भयानक शत्रु हैं। ये अतिसूक्ष्म[२] हैं जोकि अतिशक्तिशाली अनुवीक्षण यन्त्र [microscope] द्वारा भी दृष्ट नहीं होते। germs इतने सूक्ष्म होते हैं कि इनकी कई हजार संख्या, एक इञ्च लम्बी line बना सकती हैं। ये पृथिवीतल पर जल में, तथा वायुमण्डल में फैले रहते हैं। हमारे भोज्य पदार्थों में, हथेली, गुदा आदि में भी विद्यमान रहते हैं। पशुओं के पैरों में, तथा मक्खियों के पैरों तथा पंखों में भी इन germs की सत्ता

---

१. सम्भवतः स्थिर मकान आदि का पति अर्थात् निर्माता, जिसे कि "राज" कहते हैं, जोकि मकानों का कारीगर है।

२. जो अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा दृष्ट होते हैं वे "परापुरः" दस्यु हैं; जो इस यन्त्र द्वारा भी, अति सूक्ष्म होने के कारण अदृष्ट हैं वे 'निपुरः' दस्यु हैं। ये germs ही हैं, जोकि हमारे शरीरों में प्रविष्ट होकर दस्युओं अर्थात् उपक्षयों को करते रहते हैं (दसु उपक्षये, दिवादिः)। ये क्रिमि "दस्यु" हैं। अथवा "परापुरः" हैं बड़े पुरों अर्थात् शरीरोंवाले तथा "मलप" तथा फीतेदार क्रिमि (Tape-worm), और "निपुरः" हैं गुदा में खारिश पैदा करनेवाले चूमने।

होती है। सूर्य की रश्मियाँ इन germs की घातिका हैं।

सूक्त ३३

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।

यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते॥ १॥

अर्थ—(अक्षीभ्याम्) दोनों आँखों से, (ते) तेरे (नासिकाभ्याम्) दोनों नासिका छिद्रों से, (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात् अधि) ओष्ठ के अधः प्रदेश अर्थात् ठोड़ी से, (मस्तिष्कात्) मस्तिष्क से, (जिह्वायाः) जिह्वा से (ते) तेरे (शीर्षण्यम्, यक्ष्मम्) सिर में स्थित यक्ष्म को (विवृहामि) मैं निकालता हूँ। यह "शीर्षण्य" यक्ष्म है। विवृहामि=उद्धरामि, उन्मूलयामि, **वृहू उद्-यमने** (तुदादिः)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।

यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते॥ २॥

अर्थ—(ते) तेरी (ग्रीवाभ्यः) गर्दन की अस्थियों से, (उष्णिहाभ्यः) ऊर्ध्व की ओर रक्त से स्निग्ध या स्नात नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हंसली और छाती की अस्थियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ की अस्थियों से, (अंसाभ्याम्) अंसों की अस्थियों से, (बाहुभ्याम्) बाहुओं से (ते) तेरे (दोषण्यं यक्ष्मम्) दोषण्य यक्ष्म को (विवृहामि) मैं निकालता हूँ। इस यक्ष्म को "दोषण्य" कहा है।

[ग्रीवाभ्यः="**१४ सूक्ष्माण्यस्थीनि। अनूक्य अस्थीनि=त्रयस्त्रिंशत्। कीकसाभ्यः जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः**" (सायण)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्।

यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि॥ ३॥

अर्थ—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (परिक्लोम्नः) क्लोम से, (हलीक्ष्णात्) हलीक्ष्ण से, (पार्श्वाभ्याम्, मतस्नाभ्याम्) पार्श्ववर्ती दो मतस्नाओं से, (प्लीह्नः) तिल्ली से, (यक्नः) यकृत् से (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को (वि वृहामसि) हम [वैद्य] निकालते हैं।

[क्लोमा=फेफड़ा। हलीक्ष्ण=सम्भवतः Duodenum, जोकि आमाशय से निकलकर लगभग १० इञ्च तक लम्बा अङ्ग होता है, इसमें पाचनक्रिया भी होती है। दो मतस्न हैं, दो वृक्क, दो गुर्दे, जोकि पीठ में कटिभाग के ऊर्ध्व प्रदेश में स्थित हैं जिनमें मूत्र-निर्माण होता है। ये मदकारी मूत्र को निकालकर शरीर का शोधन करते रहते हैं "**क्ष्णा शौचे**" (अदादिः)। यकृत् है liver (पित्तस्रावी) जोकि शरीर के दक्षिण भाग में स्थित होता है, से घिरा हुआ मैं हूँ। अतः न मुझे प्राप्त हुई हैं इषुएँ जोकि मानुषी हैं; तथा न चलाई गईं इषुएँ मुझे प्राप्त हुई हैं, जोकि देवों द्वारा चलाई गई हैं, मेरे वध के लिए।

मन्त्र में कश्यप की ज्योति तथा वर्चस् अर्थात् दीप्ति का वर्णन है। यह ही कश्यप का "वीवर्हण" है, छेदक अस्त्र है। अतः कश्यप अर्थात् सूर्य की प्रकाशमयी तथा तेजस्वी रश्मिसमूह का वर्णन मन्त्र में हुआ है। इसके सेवन से मनुष्य दैवी तथा मानुषी वधों से बचा रहता है। सायणाचार्य ने "वीवर्हण" द्वारा

''कश्यपस्य महर्षेः विवर्हं सूक्तम्'' अर्थ किया है, जोकि 'त्वचस्य यक्ष्म' की निवृत्ति कर सकता। पर सूर्य की ज्योति तथा दीप्ति डालने से ''त्वचस्य यक्ष्म'' निवृत्त हो सकता है।

दैवीः इषवः=अति सर्दी, अति गर्मी, अति वर्षा और रोग आदि।

यक्ष्म=शारीरिक रोग तथा लोमों अर्थात् सिर के बालों, मूंछ, दाढ़ी और भौंहों के शीघ्र पलित हो जाने अर्थात् सफेद हो जाने और झड़ जाने को ''यक्ष्म'' कहा है। यक्ष्म पद किसी भी प्रकार की हुई क्षीणता का निर्देशक है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदा भुरिगुष्णिक्**॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।

यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते॥ ४॥

अर्थ—(आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (ते) तेरी (गुदाभ्यः) आंतों के समीपस्थ मल-मूत्र के प्रवहन मार्गों से, (वनिष्ठोः) स्थूलान्त्र से, (उदरात् अधि) उदर से, (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) प्लाशि से, (नाभ्याः) नाभि से (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्मरोग को (वि वृहामि) हम निकाल देते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती**॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।

यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ ५॥

अर्थ—(ऊरुभ्याम्) दो पट्टों से, (ते) तेरे (अष्ठीवद्भ्याम्) दो घुटनों से, (पार्ष्णिभ्याम्) पैरों के पिछले दो भागों से, (प्रपदाभ्याम्) पैरों के दो अग्र भागों से, (श्रोणिभ्याम्) कटि के नीचे के दो भागों से, (भंससः) गुह्य प्रदेश से, (भसद्यम्) कटि में हुए, (भासदम्) तथा गुह्य प्रदेश में हुए, (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्मरोग को (विवृहामि) मैं निकाल देता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भा निचृदनुष्टुप्**॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।

यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ ६॥

अर्थ—(अस्थिभ्यः) हड्डियों से, (मज्जभ्यः) हड्डियों के भीतर के तत्त्व [marrow] से, (स्नावभ्यः) सिराओं [veins] से, (धमनिभ्यः) धम-धम करनेवाली शुद्ध रक्तवाली नाड़ियों से, (पाणिभ्याम्) दोनों हथेलियों से, (अंगुलिभ्यः) हाथों की उङ्गलियों से, (नखेभ्यः) नखों से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को (विवृहामि) मैं निकाल देता हूँ।

[मज्जा=नलिकावाली हड्डियों के भीतर तथा पेशियों में का स्निग्ध तत्त्व। स्नावा=यह है हृदय की ओर स्रवित होनेवाले अशुद्ध रक्त की वाहिनी।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।

यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि॥ ७॥

अर्थ—(अङ्गे अङ्गे) अङ्ग-अङ्ग में, (लोम्नि लोम्नि) रोम-रोम में, (पर्वणिपर्वणि) शरीर के जोड़-

जोड़ में, (ते) तेरा (यः) जो (त्वचस्यं यक्ष्म) त्वचा-सम्बन्धी यक्ष्म है, (ते) तेरे (विष्वञ्चम्) समस्त अङ्गों में व्यापी उस यक्ष्म को (कश्यपस्य) द्रष्टा के (वीबर्हेण) छेदक [रश्मिसमूह] द्वारा (वि वृहामसि) हम [वैद्य] निकाल देते हैं। यह "त्वचस्य यक्ष्म" है।

[कश्यपस्य=पश्यतीति[1] कश्यपः, सूर्य जोकि उदित होकर भूमि आदि का दर्शन करता है। यथा "**परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय**" (अथर्व० १७.१.२८) अर्थात् ब्रह्मरूपी कवच से घिरा हुआ तथा कश्यप की ज्योति तथा दीप्ति।]

सूक्त ३४

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पशुपतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्॥ १ ॥

अर्थ—(यः) जो (पशुपतिः) पशुपति (चतुष्पदाम्) चार पैरोंवाले (पशूनाम्) पशुओं का (ईशे) अधीश्वर है, (उत) तथा (यः) जो (द्विपदाम्[2]) दो पैरों वालों का अधीश्वर है। (सः) वह (निष्क्रीतः) मानो [मेरी भक्ति द्वारा] खरीदा गया (यज्ञियम्) मेरे ध्यान-यज्ञ को (भागम् एतु) भागी हो और (यजमानम्) उपासनायज्ञ-कर्त्ता मुझको (रायस्पोषाः) सम्पत्तियों की पुष्टियाँ (सचन्ताम्) प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः॥ २ ॥

अर्थ—(देवाः) हे दिव्यगुणो! (भुवनस्य) उत्पत्तिसम्बन्धी (रेतः) वीर्य का (प्रमुञ्चन्तः) परित्याग करते हुए (यजमानाय) ध्यान-यज्ञ करनेवाले मुझ ध्याता के लिए (गातुम्) जीवनमार्ग (धत्त) स्थापित करो। (उपाकृतम्) मेरे समीप संगृहीत हुआ (यत्) जो धन (अस्थात्) बचा है, (शशमानम्) जोकि प्लुतगतिवाला अर्थात् नश्वर है, वह (अपि) भी (देवानाम्) दिव्यगुणों के (प्रियम्, पाथः) प्रिय अन्न के लिए (एतु) हो।

[अभिप्राय यह कि दिव्यगुणों की प्राप्ति होती है ब्रह्मचर्य से। तभी ध्यानयज्ञ सफल होता है। संगृहीत धन का व्यय भी दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त होना चाहिए, यह संगृहीत धन दिव्यगुणों का प्रिय अन्नरूप है, इस निमित्त लगाये गये धन से दिव्यगुणों की वृद्धि होती है। मन्त्र में अध्यात्म देवासुर-संग्राम में देवों का वर्णन हुआ है। देवानां पाथः=**देवानाम् अन्नम्** (निरुक्त ८.३.१७)। शशमानम्=**शश प्लुतगतौ** (भ्वादिः)।]

---

१. विपर्यय विधि द्वारा। निर्वचन पञ्चविधिक होता है। यथा "**वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥**" इति (काशिका ६.३.१०९)

२. द्विपद पशु हैं, मनुष्य। जब तक आहार, निद्रा, भय, मैथुन से सम्पन्न मनुष्य रहते हैं, तब तक ये पशु ही हैं।
आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निर्विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।

अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥ ३॥

अर्थ—(ये) जो (बध्यमानम्) शरीर में बंधे जीवात्मा का (अनु दीध्यानाः) अनुध्यान अर्थात् निरन्तर चिन्तन करते हैं, (मनसा) मनन द्वारा (च) और (चक्षुषा) दिव्य दृष्टि द्वारा (अन्वैक्षन्त) उसका अन्वीक्षण करते हैं (तान्) उन्हें (विश्वकर्मा) विश्व का कर्त्ता, (प्रजया संरराणः) प्रजा के साथ सम्यक् रममाण हुआ (अग्निः देवः) अग्निनामक परमेश्वर-देव (अग्रे) पहिले (प्र मुमोक्तु) प्रमुक्त करे, मोक्ष प्रदान करे।

[अग्निदेव="**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः।**" (यजुः० ३२.१) के अनुसार अग्निदेव है ब्रह्म, जिसे कि विश्वकर्मा कहा है। जिन अनुध्यानियों में जीवात्म-सम्बन्धी ज्ञानाग्नि प्रकट हुई है, उन्हें प्रमुक्त करनेवाला विश्वकर्मा भी, अग्निदेव है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः, प्रजापतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।

वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः॥ ४॥

अर्थ—(ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम्य स्वभावोंवाले (पशवः) पशुरूप हैं, (विश्वरूपाः) नाना रूपाकृतियों वाले होते हुए, (विरूपाः सन्तः) अर्थात् भिन्न-भिन्न रूपाकृतियोंवाले होते हुए भी, (बहुधा) प्रायः (एकरूपाः) एकरूप हैं, ग्राम्यस्वभावोंवाले हैं, (तान्) उन्हें (अग्रे) प्रथम (वायुः) प्राणायाम वायु (प्रमुमोक्तु) प्रमुक्त करे, तत्पश्चात् (प्रजया संरराणः) प्रजा के साथ सम्यक्-रममाण हुआ (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति ब्रह्म प्रमुक्त करे।

[अभिप्राय यह कि जो मनुष्य अभी ग्राम्यवृत्तियोंवाले हैं, जिन्हें कि अभी जीवात्म-अन्वीक्षण की भावनाएँ जागरित नहीं हुई, वे पहिले प्राणायाम का अभ्यास करें और प्राणायाम के अभ्यास द्वारा मोक्ष के लिए तैयार हुओं को, वायुपति अर्थात् प्राणायाम वायु का पति परमेश्वर तत्पश्चात् उन्हें मोक्ष प्रदान करे।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**आशीः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।

दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः॥ ५॥

अर्थ—(पूर्वे) प्राणायाम के अभ्यास में पूर्ण हुए, (प्रजानन्तः) प्राणायाम की विधि को जानते हुए, (पर्याचरन्तम् प्राणम्) शरीर में सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग में विचरते हुए प्राण का (प्रति गृह्णन्तु) प्रत्याहार द्वारा निग्रह करें। हे प्राण का निग्रह करनेवाले! (दिवम् गच्छ) दिव्य ज्योति को तू प्राप्त हो, (शरीरैः) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों द्वारा (प्रति तिष्ठ) दृढ़ स्थिति को तू प्राप्त हो जा, तदनन्तर (देवयानैः पथिभिः) देवों के जानेवाले मार्गों द्वारा (स्वर्गम्) स्वर्ग को (याहि) तू जा।

[पूर्वे=**पुर्व पूरणे** (भ्वादिः), अथवा **पूरी आप्यायने** (दिवादिः)[१]।]

---

१. मन्त्र ४, ५ में अर्थ समान है। आप्यायनम्=वृद्धिः।

सूक्त ३५

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्** ॥

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तान्कृणवद्विश्वकर्मा॥ १ ॥

अर्थ—(ये) जिन्होंने (भक्षयन्तः) खाते हुए (वसूनि) धनों को (न आनृधुः) प्रवृद्ध नहीं किया; (यान्) जिन्हें (धिष्ण्याः अग्नयः) धिष्ण्य अग्नियों ने (अन्वतप्यन्त) निरन्तर तपाया है, संतप्त किया है, (तेषाम्) उनकी (या) जो (अवयाः) याग का न अनुष्ठानरूपी (दुरिष्टिः) दुरितरूपा दृष्टि हुई है, दुष्परिणामरूपा दृष्टि हुई है, (तान्) उन्हें (नः) हमारे लिए (विश्वकर्मा) विश्व का रचयिता परमेश्वर (स्विष्टिम् कृणवत्) शोभन-दृष्टिरूप करे।

[आनृधुः=ऋधु वृद्धौ लिटि, द्विर्वचने नुडागमः (सायण)। मन्त्र में "तेषाम् और नः" द्वारा दो प्रकार के याज्ञिकों का वर्णन अभिप्रेत है। "तेषाम्" द्वारा उन यज्ञिकों का वर्णन है, जिन्होंने खाते हुए धनों की वृद्धि नहीं की। इसलिए जो अवयाः हैं, यज्ञों के अनुष्ठान से विहीन हैं, धन के न होने से यज्ञ नहीं कर सकते। यज्ञ करने पर भी समुचितरूप में यज्ञ का सम्पादन नहीं कर सकते, धन की अल्पता के कारण; क्योंकि उन्होंने धन का पूर्णतया भक्षण कर लिया है, शेष नहीं बचा। (नः) द्वारा उन याज्ञिकों का वर्णन हुआ है जो दुरिष्टि नहीं चाहते, अपितु स्विष्टि चाहते हैं, उन्होंने एतदर्थ विश्वकर्मा से प्रार्थना या याचना की है। अन्वतप्यन्त द्वारा यह दर्शाया है कि धिषणा अर्थात् स्वार्थ बुद्धि द्वारा प्रेरित हुई इन्द्रियों [धिष्ण्यों] ने भक्षण करने के लिए उन्हें निरन्तर सन्तप्त कर दिया था। अवयाः=अवयजनं यागाननुष्ठानं दुरिष्टिः। धिषणा=बुद्धिर्वा० (उणा० २.८३, दयानन्दः), तथा "प्रज्ञा" (५.२७, दशपादी उणादिवृत्ति)। स्विष्टिः सु+इषु इच्छायाम्।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा॥ २ ॥

अर्थ—(ऋषयः) ऋषियों ने (यज्ञपतिम्) गृहस्थ-यज्ञ के पति को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) छुटा हुआ, पृथक् हुआ (आहुः) कहा है, (प्रजा अनु तप्यमानम्) जोकि प्रजा के सन्ताप में स्वयम् सन्तप्त होता है, प्रजा के दुःखों में दुःखित होता है। यज्ञपति ने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) बिन्दुओं को (अप रराध) गृहस्थ धर्म साधन के विरुद्ध प्रयुक्त किया है, (विश्वकर्मा) विश्वकर्त्ता परमेश्वर (नष्टेभिः) नष्ट हुए बिन्दुओं के साथ (सं सृजतु) यज्ञपति का संसर्ग कर दे।

[मथव्यान् स्तोकान्=मिथुनयोग्य वीर्य-बिन्दुओं को। अपरराध=अप+राध संसिद्धौ (स्वादिः) व्यर्थ किया है।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये॥ ३ ॥

अर्थ—(अदान्यान्) दान ग्रहण कर सकने में अयोग्यों को (सोमपान्) सोमपायी (मन्यमानः)

मानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य विद्वान्) गृहस्थ-यज्ञ सम्बन्धी कर्मों को जानता हुआ भी, (समये) गृहस्थ-काल में उपस्थित हो जाने पर, (न धीरः) जो धी-रहित अर्थात् विचाररहित हो जाता है। (एषः) इसने अर्थात् (बद्धः) शरीर में बँधे हुए जीवात्मा ने (यत्) जो (एनः चकृवान्) पाप कर्म किया है, (तम्) उस पुरुष को (विश्वकर्मन्) हे विश्व-के-कर्त्ता! (प्रमुञ्च) उस पाप कर्म से मुक्त कर दे, (स्वस्तये) उसके कल्याण के लिए।

[अभिप्राय यह कि जो पुरुष गृहस्थ-यज्ञ में किये जानेवाले पञ्चमहायज्ञों और भूतयज्ञ को जानता हुआ भी, इन महायज्ञों और भूतयज्ञ के करने में असमर्थ को गृहस्थ-यज्ञ के लिए प्रेरित करता या अनुज्ञा देता है और वह गृहस्थ में यदि प्रविष्ट हो जाता है, तो यह मानो उसने पाप कर्म किया है। पाप कर्म इसलिए कि वह गृहस्थ-यज्ञ के कर्मों को निभा नहीं सकता। यह भी समझना चाहिए कि वह गृहस्थ में रहता हुआ सोमपायी रह भी सकता है या नहीं। मनु के अनुसार पत्नी के ऋतुकाल में गमन कर, अन्य कालों में भोगरहित होता है, वह भी ब्रह्मचारी ही गिना जाता है, अर्थात् सोमपायी ही समझा जाता[१] है। सोम=वीर्य (अथर्व० १४.१.३, ५) अथर्ववेदभाष्य, संस्कृत।]

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्यस्मान्॥ ४॥

अर्थ—(ऋषयः) ऋषि लोग (घोराः) घोर तपस्वी हैं, (एभ्यः) इनके लिए (नमः) नमस्कार हो, (एषाम्) इनकी (यत् चक्षुः) जो दिव्यदृष्टि है, (च) और (मनसः) मन की दृष्टि है, (सत्यम्) वह सत्य होती है। (महिष) हे महान् प्रभो! (बृहस्पतये) बड़े ब्रह्माण्ड के पति तेरे लिए (द्युमत् नमः) द्युतिसम्पन्न नमस्कार हो, (विश्वकर्मन्) हे विश्व-के-कर्त्ता! (ते नमः) तुझे नमस्कार हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर।

[मन्त्र (२) में ऋषयः का वर्णन हुआ है और मन्त्र (४) में उनके स्वरूपों का कथन किया है। बृहस्पति परमेश्वर महा-ऋषि है [महिष], उसके लिए "द्युमत् नमः" कहा है, "द्युमत् नमः" है ज्ञानदीप्तिसम्पन्न नमस्कार, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर उसके प्रति नमस्कार। "मनसः च" में "च" द्वारा चक्षुः पद का उपसंहार हुआ है। इससे यह दर्शाया है कि ऋषियों की मानसिक-चक्षुः भी चक्षु के सदृश सत्य की ज्ञापिका है। मानसिक-चक्षु है मानसिक विचार या संकल्प।]

ऋषिः—अङ्गिराः॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥ ५॥

अर्थ—(यज्ञस्य) संसार-यज्ञ के (चक्षुः) चक्षुवत् ज्ञापक अर्थात् प्रकाशक, (प्रभृतिः) प्रकर्षेण भरण-पोषण करनेवाले, (मुखम् च) और प्रवक्ता को, (वाचा, श्रोत्रेण, मनसा) स्तुतिवचन द्वारा, श्रवण और मनन द्वारा (जुहोमि) मैं आत्मसमर्पण करता हूँ। (विश्वकर्मणा) विश्व-के-कर्त्ता द्वारा (विततम्)

१. वह ब्रह्मचर्यकाल में भी पूर्ण-ब्रह्मचर्य का पालन करता रहा है या नहीं, इसका भी ध्यान करना चाहिए। "**अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्**"।

विस्तारित (इमम् यज्ञम्) इस संसार-यज्ञ में (देवाः) देवकोटि के मुक्तात्मा (सुमनस्यमानाः) प्रसन्नमनपूर्वक (आ यन्तु[१]) आएँ, अर्थात् मोक्षकाल की समाप्ति के पश्चात् इस यज्ञ में आएँ।]

सूक्त ३६

ऋषिः—पतिवेदनः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक् त्रिष्टुप्॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न।

जुष्टा॑ व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे सर्वाग्रणी परमेश्वर! (संभलः) सम्यक्-भाषी [वर], (सुमतिम्) सुमति (इमाम् नः कुमारीम्) इस हमारी कुमारी को (आ गमेत्) प्राप्त हो (भगेन सह) सम्पत्ति के साथ। [यह कुमारी] (वरेषु) वरण करने-वालों में (जुष्टा) प्रिया, (समनेषु) सामाजिक जीवनों में (वल्गुः) रुचि रखती है, (पत्या) पति के साथ (अस्यै) इसके लिए (ओषम्) प्रत्येक उषाकाल में (सौभगम्) सौभाग्य (अस्तु) हो।

[अग्ने=**अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। संभलः=सम्+**भल परिभाषणे** (भ्वादिः)। भगेन=सम्पत्ति के साथ, न कि निर्धन। गृहस्थ सम्पत्ति के बिना चल नहीं सकता। (जुष्टा=**जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तुदादिः)। समनेषु=सम् (सामाजिक)+अन (जीवन), **अन प्राणने** (अदादिः)। ओषम्="आ उषा" काल में, अर्थात् प्रतिदिन, उषाकाल में प्रारम्भ कर।]

ऋषिः—पतिवेदनः॥ देवता—सोमः, अर्यमा, धाता॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सोम॑जुष्टं॒ ब्रह्म॑जुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म्। धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि॑ पति॒वेद॑नम्॥ २॥

अर्थ—(सोमजुष्टम्) सोम अर्थात् चन्द्रमा द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टम्) ब्राह्मण द्वारा सेवित, (अर्यम्णा) अग्नि द्वारा (संभृतम्) सम्यक्-धारित (भगम्) श्री अर्थात् शोभा को, (धातुः) जगद्धारक (देवस्य) परमेश्वर-देव के (सत्येन) सत्य-नियम से, (पतिवेदनम्) हे कुमारी! पतिप्रापक (कृणोमि) मैं तुझे करता हूँ।

[सोमः=चन्द्रमाः; चन्द्रमा सेवित भग है, शैत्यस्वभाव। ब्रह्मजुष्टम्=ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण द्वारा सेवित भग है, निःस्वार्थ परोपकार। अर्यम्णा=अर्यमा[२] अर्थात् अग्नि द्वारा सेवित भग है, पति प्राप्त कराना। सत्येन-विवाह का सत्यनियम, अर्थात् विवाह द्वारा पतिप्राप्ति। इन गुणों से सम्पन्न वर को मैं [पुरोहित]

---

१. मुक्ति से लौटकर पुनः संसार में जन्म लेना, यह वैदिक सिद्धान्त है। ऋषि दयानन्द ने इस वैदिक सिद्धान्त को माना। यथा "**कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च**" (ऋ० १.२४.१) के अनुसार ऋषि ने मुक्ति से लौटकर जीवात्मा के पुनः माता-पिता के दर्शन करने का कथन किया है।

तथा "ये मुक्तजीव मुक्ति को प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़कर संसार में आते हैं" (मुण्डकोपनिषद् ३.२.६) के आधार पर।

तथा "प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है। अनन्त आनन्द के भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीव में नहीं। जिनके साधन अनित्य उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे, तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निःशेष हो जाने चाहिये" (इत्यादि)। सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास, सन्दर्भ "मुक्ति से पुनरावृत्ति"।

२. अर्यमा=विवाहाग्नि, यथा "**अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निम् अयक्षत**" (आश्वलायन गृह्यसूत्र १.७.१३)। अग्निसाक्षिक ही विवाह होता है।

हे कुमारी! तुझे पति प्राप्त कराता हूँ, या तेरे लिए पतिरूप में निवेदित करता है। श्रौतसूत्रकार ने सूक्त का ऋषि "पतिवेदन" माना है। सूक्त का वास्तविक ऋषि अज्ञात है, अतः "पतिवेदन" को ऋषि कह दिया है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।

सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु॥ ३ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे सर्वाग्रणी परमेश्वर! (इयम् नारी) यह कन्या (पतिं विदेष्ट) पति को प्राप्त हो। (सोमो हि राजा) सौम्य स्वभाववाला राजमान हुआ वर, (सुभगाम् कृणोति) इसे सौभाग्ययुक्त करता है। (पुत्रान् सुवाना) पुत्रों का प्रसव करती हुई (महिषी) महिमायुक्ता (भवाति) यह हो (गत्वा पतिम्) पति [गृह] को जाकर (सुभगा) सौभाग्ययुक्ता हुई (वि राजतु) विराजमान हो।

[विदेष्ट=विद्लृ लाभे आशिषि लिङ्, सीयुटः सलोपः सुडागमः (सायण)।]

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।

एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती॥ ४ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (एषः) यह (आखरः) सब प्रकार से अर्थात् कठोर जङ्गल-प्रदेश, (मघवान्) मंहनीय भोग्य पदार्थों से युक्त हुआ, (मृगाणाम्) जंगल के पशुओं का (प्रियः) प्रिय हुआ, (सुषदाः) सुख से स्थिति योग्य (बभूव) होता है, (एवा) इसी प्रकार (भगस्य जुष्टा) भगों से सम्पन्न पति की प्रिया, (इयम् नारी अस्तु) यह नारी हो, (सं प्रिया) सम्यक्-प्रिया हुई, (पत्या) पति के साथ (अविराधयन्ती) विरोध न करती हुई, अपितु उसके कार्यों का विधिवत् सम्पादन करती हुई।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्। तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥ ५ ॥

हे कन्ये! (भगस्य) सौभाग्य की (नावम्) नौका पर (आरोह) आरोहण कर, (पूर्णाम्) जो कि सुखसम्पूर्ण है, (अनुपदस्वतीम्) क्षय करने-वाली नहीं। (तया) उस नौका द्वारा (उप प्रतारय) पति को गृहस्थ-समुद्र से तैरा, (यः) जो (वरः) वर, अर्थात् पति के (प्रतिकाम्यः) प्रत्येक सम्बन्धी को काम्य है, अभीष्ट है।

[नावम्=नौका है विवाह। अनुपदस्वतीम्=अ+नुट्+उप+दसु उपक्षये+मतुप्। प्रतारय=तैरा। मनु के अनुसार गृहस्थाश्रम समुद्ररूप है। यथा "**यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्**" (६.९०) में गृहस्थाश्रम को समुद्र से उपमित किया है।]

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**धनपतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः॥ ६ ॥

अर्थ—(धनपते) हे धन के पति! [कन्या के पिता!] (आ क्रन्दय) [वर का] तू आह्वान कर,

(वरम्) वर को (आमनसम्) कन्या के अभिमुख मन-वाला (कृणु) कर। (प्रदक्षिणम्) प्रवृद्धिकारक (सर्वम्) सब धन को (कृणु) तू प्रदान कर [उसे], (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) प्रत्येक सम्बन्धी को काम्य है, अभीष्ट है। क्रन्दय=**क्रदि आह्वाने** (भ्वादिः)।

[प्र दक्षिणम्=प्र+दक्ष वृद्धौ, तत्सम्बन्धी धन, जो कि कन्या के पिता ने विवाह में वर को देना है, जो कि गृहस्थ धर्मों की वृद्धि करे। गृहस्थ में पञ्चमहायज्ञ आदि गृहस्थ-धर्म करने होते हैं, यह प्रदत्त धन धर्म-कर्मों के करने में सहायक होगा।]

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**हिरण्यम्, भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।

एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे॥ ७॥

अर्थ—(इदम्) यह (हिरण्यम्) हिरण्यमय आभूषण, (गुल्गुलु) गुग्गुल, (अयम्, औक्षः) यह [सेचनसमर्थ युवा] बैल का चर्मविशेष, (अथो भगः) तथा अन्य देय ऐश्वर्य, (एते) इन सम्बन्धियों ने (त्वाम्) तुझे (अदुः) दिया है, (प्रतिकामाय) प्रत्येक सम्बन्धी के अभीष्ट वर के लिए, (वेत्तवे) उसे निवेदित करने के लिए, देने के लिए।

[विवाह में सम्बन्धी, कन्या को उपहार देते हैं, जिन्हें कि वह पति को निवेदित कर देती है, दे देती है। गुल्गुलु अर्थात् गुग्गुल सुगन्धित पदार्थ है, इसके धूपन से गृहशुद्धि होती है, रोगकीटाणु मर जाते हैं। औक्षः=यह बैल का चर्म है, जिस पर आरोहण कर पत्नी प्रसव-कर्म करती है (अथर्व० १४.२.२१-२४), यह चर्म लाल बैल का होता है (चर्मणि रोहिते, अथर्व० १४.२.२३); रोहित=लोहित अर्थात् लाल।]

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**निचृत् पुरउष्णिक्** ॥

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः। त्वमस्यै धेह्योषधे॥ ८॥

अर्थ—हे कन्ये! (ते) तेरे लिए (सविता) उत्पादक पिता (आ नयतु) ओषधि लाए, (आ नयतु) लाए (पतिः) पति (यः) जो (प्रतिकाम्यः) प्रत्येक सम्बन्धी को काम्य है, अभीष्ट है। (ओषधे) हे ओषधि! (त्वम्) तू (अस्यै) इस पत्नी के लिए (धेहि) परिपुष्ट हो जा।

[आवृत्ति द्वारा "आ" का सम्बन्ध द्वितीय "नयतु" के साथ भी है। धेहि=**डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)।]

षष्ठ अनुवाक समाप्त।

द्वितीय काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ।

तृतीय काण्ड

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अ॒ग्निर्नः॒ शत्रू॒न्प्रत्ये॑तु वि॒द्वान्प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्।

स सेनां॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणवज्जा॒तवे॑दाः॥ १ ॥

अर्थ—(विद्वान्) युद्धविद्या का जाननेवाला, (अभिशस्तिम्) संमुख होकर हिंसा करनेवाले, (अरातिम्) दानभावना से रहित, अतः शत्रुरूप को, (प्रतिदहन्) उसके प्रत्येक सैनिक को दग्ध करता हुआ (नः) हमारा (अग्निः) अग्रणी सेनाध्यक्ष, (शत्रून्) शत्रुओं के (प्रत्येतु) प्रति जाए। (सः) वह (जातवेदाः) युद्धविद्या को जाननेवाला (परेषाम् सेनाम्) शत्रुओं की सेना को (मोहयतु) मुग्ध कर दे, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित कर दे, (च) और (निर्हस्तान्) निहत्थे (कृणवत्) कर दे।

[विद्वान् तथा जातवेदाः पदों द्वारा अग्नि चेतन प्रतीत होता है, वह है हमारा सेनाध्यक्ष। निहत्थे का अभिप्राय है आयुधों से रहित कर देना, हस्तव्यापार से रहित कर देना।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भा भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

यू॒यमु॒ग्रा म॑रुत ई॒दृशे॑ स्था॒भि प्रेत॑ मृ॒णत॒ सह॑ध्वम्।

अमी॑मृण॒न्वस॑वो नाथि॒ता इ॒मे अ॒ग्निर्ह्ये॑षां दू॒तः प्र॒त्येतु॑ वि॒द्वान्॥ २ ॥

अर्थ—(उग्राः) हे उग्र तथा (मरुतः) मारने में कुशल सैनिको! (यूयम्) तुम् (ईदृशे) इस प्रकार के युद्धकर्म में (स्थ) स्थित होओ, (अभिप्रेत) शत्रुओं के अभिमुख प्रयाण करो, (मृणत) उन्हें मारो, (सहध्वम्) उनका पराभव करो। (नाथिताः) अपने-अपने स्वामियों सहित (इमे) इन (वसवः) वसुओं [रुद्रों और आदित्यों] ने (अमीमृणन्) शत्रुओं को मार दिया है। (एषाम्) इन शत्रुओं का (विद्वान्) दूतकर्म जाननेवाला (अग्निः) अग्रणी अर्थात् मुखिया (दूतः) दूत (प्रत्येतु) हमारे प्रति आए।

[मरुतः=शत्रुओं को मारने में कुशल (यजुः० १७.४०) सैनिक। राष्ट्र पर शत्रुसेना ने यदि आक्रमण किया है तो राष्ट्र के वसु आदि कोटि के विद्वान् भी, निज-निज अध्यक्षों सहित, युद्ध करते हैं। परिणाम यह होता है कि शत्रुपक्ष का दूत, समझौते के लिए, विजयी राष्ट्राधिपति की सेवा में उपस्थित होता है। **अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। अग्निः=सेनाग्निरत्र विवक्षितः (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒मि॒त्र॒सेनां॑ मघवन्न॒स्माञ्छ॑त्रूय॒तीम॒भि। यु॒वं तानि॑न्द्र वृत्रहन्न॒ग्निश्च॑ दहतं॒ प्रति॑॥ ३ ॥

अर्थ—(मघवन्) हे धनिक [इन्द्र!] (अस्मान्) हमारे साथ (शत्रूयतीम्) शत्रुता का आचरण

करनेवाली, (अमित्रसेनाम्, अभि) शत्रु की सेना के अभिमुख [तू जा]। (वृत्रहन्) हे वृत्रों अर्थात् हमारे राष्ट्र पर आवरण डालनेवाले, उसे घेरनेवाले का (इन्द्र) हनन करनेवाले सम्राट्! (च) और (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (युवम्) तुम दोनों (तान्=ताम्) उस सेना को, (प्रति) प्रतिकूल होकर, (दहतम्) दग्ध करो, भस्मीभूत करो। [इन्द्र=इन्द्रश्च सम्राट् (यजुः० ८.३७)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (प्रसूतः) प्रेरित हुआ तू (हरिभ्याम्) दो अश्वों से युक्त (प्रवता) प्रकृष्ट गतिवाले रथ द्वारा [प्रयाण कर], (ते) तेरा (वज्रः) वज्र (शत्रून् प्रमृणन्) शत्रुओं को मारता हुआ (प्र एतु) प्रगति करे। (जहि) विनष्ट कर (प्रतीचः) हमारे प्रति गमन करनेवालों को, (अनूचः) हमारा पीछा करनेवालों को, (पराचः) युद्धस्थल छोड़कर परे भाग जानेवालों को। (एषाम्) इन शत्रुओं के (विष्वक्) नानामुखी (चित्तम्) चित्त को (सत्यम्) सत्यमार्गी (कृणुहि) तू कर दे।

[प्र सूतः=प्रेरित हुआ। प्र+**षू प्रेरणे** (तुदादिः); प्रजा द्वारा या सैन्य द्वारा युद्धार्थ प्रेरित हुआ सम्राट्। सत्यम्="युद्ध न करना" यह चित्त का सत्यमार्गी होना है। विषु+अक्=विष्वक्; युद्ध करें या न करें, यह चित्तवृत्ति नानामुखी है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट् पुरउष्णिक्**॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय॥ ५॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (अमित्राणाम् सेनाम्) शत्रुओं की सेना को (मोहय) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित कर। (विषूचः) सर्वतः पलायमान (तान्) उन सैनिकों को (अग्नेः वातस्य) अग्नि के तथा वायु के (ध्राज्या) वेग द्वारा (वि नाशय) विनष्ट कर।

[मोहय=देखो अथर्व० सूक्त २। मन्त्र १-४; तथा ५, ६। अग्नेः=आग्नेय अस्त्र, तथा वातस्य=वायवीय अस्त्र।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा। चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता॥ ६॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (सेनाम्) शत्रुसेना को (मोहयतु) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित करे, (मरुतः) मारने में कुशल हमारे सैनिक (ओजसा) बल द्वारा (घ्नन्तु) सेना का हनन करें। (अग्निः) अग्नि (चक्षूंषि) शत्रुओं की दृष्टियों का (आ दत्ताम्) अपहरण करे, (पुनः) तत्पश्चात् (पराजिता) पराजित हुई अवशिष्ट-शत्रुसेना (एतु) हमारी शरण में आ जाए।

[मरुतः=सैनिकाः (यजुः० १७.४०)। अग्निः=सौराग्नि, सौर रश्मियाँ। सौर रश्मियों को यन्त्रित करके सैनिकों की चक्षुओं में डालने से चक्षुएँ चुन्धिया जाती हैं और कुछ काल तक सैनिक देख नहीं सकते और इन्द्र के वश में होकर शरणागत हो जाते हैं। मोहयतु=**मुह वैचित्ये** (दिवादिः) वैचित्यम्=चिति अर्थात् चेतना से राहित्य।]

सूक्त २

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अ॒ग्निर्नो॑ दू॒तः प्र॒त्येतु॑ वि॒द्वान्प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्।

स चि॒त्तानि॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणव॒ज्जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

अर्थ—(नः) हमारा (विद्वान्) युद्धविद्याविज्ञ (दूतः) शत्रुओं का उपतापक (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (प्रत्येतु) शत्रुओं के प्रतिमुख आए, (अभिशस्तिम्) अभिमुख होकर हिंसा करनेवाले, (अरातिम्) दानभावनारहित अतः शत्रु को (प्रतिदहन्) प्रतिकूलरूप में दग्ध करता हुआ। (सः) वह (परेषाम्) शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (मोहयतु) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित करे, (च) और (जातवेदाः) नवजात परिस्थितियों का वेत्ता अग्रणी (निर्हस्तान् कृणवत्) उन्हें निहत्थे कर दे।

[निर्हस्तान् अथर्व० ३.१.१]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒यम॒ग्निर॑मूमुह॒द्यानि॑ चि॒त्तानि॑ वो हृ॒दि। वि वो॑ धम॒त्वोक॑सः॒ प्र वो॑ धमतु स॒र्वतः॑ ॥ २ ॥

अर्थ—(अयम्) इस (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने (वः अमूमुहत्) तुम्हें मुग्ध कर दिया है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित कर दिया है, (वः) तुम्हारे (हृदि) हृदय में (यानि) जो (चित्तानि) संकल्प हैं [उनसे रहित कर दिया है।] (वः) तुम्हें (ओकसः) गृहों से (वि धमतु) अग्रणी निकाल दे, (वः) तुम्हें (सर्वतः) सब स्थानों से (प्र धमतु) प्रकर्षतया निकाल दे।

[धमतु=**ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः** (भ्वादिः), "शब्द" अर्थ अभिप्रेत है, अर्थात् निज आज्ञा द्वारा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र॑ चि॒त्तानि॑ मो॒हय॑न्न॒र्वाङाकू॑त्या चर। अ॒ग्नेर्वात॑स्य॒ ध्राज्या॒ तान्विषू॑चो॒ वि ना॑शय ॥ ३ ॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (चित्तानि) शत्रुओं के चित्तों को (मोहयन्) मुग्ध करता हुआ, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित करता हुआ तू, (आकूत्या) सफल हुए निज संकल्प के साथ, (अर्वाङ्) इधर हमारी ओर (चर) विचर [साम्राज्य में विचर], "अग्नेर्वातस्य" आदि पूर्ववत् (अथर्व० ३.१.५)।

[मन्त्र २ और ३ द्वारा प्रतीत है कि शत्रु के मोहन का अधिकार, प्रधानमन्त्री तथा सम्राट् दोनों को है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्याकू॑तय एषामि॒ताथो॑ चि॒त्तानि॑ मुह्यत। अथो॒ यद॒द्यैषां॑ हृ॒दि तदे॑षां॒ परि॒ निर्ज॑हि ॥ ४ ॥

अर्थ—(व्याकूतयः) हे परस्पर विरुद्ध संकल्पो! (एषाम्) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (इत) तुम प्राप्त होओ, (अथो) तथा (चित्तानि) हे शत्रुओं के चित्तो! (मुह्यत) तुम मोहग्रस्त हो जाओ, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित हो जाओ। (अथो) तथा (अद्य) आज (यद्) जो (एषाम्, हृदि) इन शत्रुओं के हृदय में है, (एषाम्) इन शत्रुओं के (तत्) उस संकल्प को (परि निर्जहि) सर्वथा नष्ट कर दे।

[मन्त्र में इन्द्र के प्रति कहा है "निर्जहि"।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यौः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।

अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥ ५ ॥

अर्थ—(अमीषाम्) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रति मोहयन्ती) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहितं करती हुई (अप्वे) हे अप्वा-इषु! (अङ्गानि) इनके अङ्गों को (गृहाण) जकड़ दे, (परेहि) और हम से पराङ्मुखी हुई शत्रु की ओर जा। (अभिप्रेहि) साक्षात् शत्रु की ओर प्रयाण कर और (हृत्सु शोकैः) हृदयस्थ शोकाग्नियों द्वारा (निर्दह) इन्हें दग्ध कर, (ग्राह्या) अङ्गों के जकड़नरूपी इषु द्वारा, तथा (तमसा) अन्धकार द्वारा (अमित्रान् शत्रून्) अमित्र शत्रुओं को (विध्य) बींध।

[मन्त्र में अप्वा द्वारा इषु का वर्णन हुआ है। अप्वा का अर्थ है अपगत हुई, जो शत्रु की ओर गमन करती है, अप+वा (गतौ, अदादिः)। इसके तीन काम हैं; (१) शत्रुसेना के अङ्गों को जकड़ देना, (२) शत्रुसेना में तमस् अर्थात् अन्धकार को फैला देना। (३) शत्रुसेना के चित्तों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान से रहित कर देना। यह इषु भयस्वरूपा है, भयप्रदा है, भयानक है। इसे निरुक्त में "भय" शब्द द्वारा द्योतित किया है। यथा "व्याधिर्वा भयं वा" (६.३.१२; पदसंख्या ४८) अप्वा के चलाने की आज्ञा देता है इन्द्र अर्थात् सम्राट्, परन्तु इसे फेंकते हैं "मरुतः" अर्थात् सैनिक (मन्त्र ६)। अप्वा को missile कह सकते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥ ६ ॥

अर्थ—(मरुतः)[१] मारने में कुशल हे सैनिको! (परेषाम्) शत्रुओं की (या) जो (असौ) वह (सेना) सेना (ओजसा) बलातिशय के कारण (स्पर्धमाना) स्पर्धा करती हुई (अस्मान् अभि) हमारे अभिमुख (ऐति) आती है (ताम्) उसे (अपव्रतेन) कर्महीन कर देनेवाले (तमसा) अन्धकारास्त्र द्वारा (विध्यत) बींधो, (यथा) जिस प्रकार कि (एषाम्) इन शत्रुओं के मध्य में (अन्यः) एक सैनिक (अन्यम्) दूसरे निज सैनिक को (न जानात्) न पहचान सके।

[मरुतः=मारने में कुशल हमारे सैनिक (यजुः० १७.४०)। **व्रतम् कर्मनाम** (निघं० २.१)।

सूक्त ३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।

युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम्॥ १ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (अचिक्रदत्) [इन्द्र] ने बार-बार तुझे पुकारा है, (स्वपाः) ताकि उत्तमकर्मी वह इन्द्र (इह) इस अपने राष्ट्र में (भुवत्) पुनः संचित हो जाए, एतदर्थ (उरूची) व्यापनशील, (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी में (व्यचस्व) तू विविध प्रकार की गतियाँ कर [इन्द्र के

१. म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः (उणा० १.९४; दयानन्द)।

अन्वेषण के लिए]। (विश्ववेदसः) विश्व के वेत्ता प्रज्ञाशील (मरुतः) मनुष्य (त्वा) तुझे (युञ्जन्तु) इस कार्य में नियुक्त करें, (रातहव्यम्) सब प्रजा को अदनीय-अन्न देनेवाले! (अमुम्) उस इन्द्र को (नमसा) नमस्कार के साथ नमस्कारपूर्वक (आ नय) इस साम्राज्य में वापिस ले आ।

[प्रजाजनों ने किसी कारण निज इन्द्र अर्थात् सम्राट् को साम्राज्य से पदच्युत कर दिया है। वह रुष्ट होकर कहीं चला गया है। प्रज्ञानी-पुरुष, अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री को इन्द्र को वापिस लाने के लिए नियुक्त करते हैं। अचिक्रदत्=**क्रदि आह्वाने** (भ्वादिः), चङ् आगम, लुङ् लकार। उरूची=उर्वञ्चने व्यापनशीले (सायण) उरु=अच् (अञ्चु, अच्, अचि, गतौ भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः॥ २॥

अर्थ—(अरुषासः) न-रुष्ट प्रजाएँ, (दूरे चित् सन्तम्) दूर में भी विद्यमान (विप्रम्) मेधावी (इन्द्रम्) सम्राट् को, (सख्याय) पुनः मैत्री के लिए, (आ च्यावयन्तु) रोषभावना से पूर्णतया च्युत करें, विमुक्त करें। (यद्) यतः (देवाः) साम्राज्य के दिव्य अधिकारियों ने, (अस्मै) इस सम्राट् के लिए, (सौत्रामण्या) सौत्रामणी क्रिया द्वारा, (बृहतीम्, गायत्रीम्) महती गायत्री रूप (अर्कम्) स्तुति साधना को, (दधृषन्त[1]) निर्धारित किया है; निश्चित किया है।

[सौत्रामण्या=सुत्रामा है इन्द्र अर्थात् सम्राट्, सौत्रामणी क्रिया है सम्राट् को प्रसन्न करने की क्रिया अर्थात् विधि। वह है अर्चना का साधन-भूत "महती गायत्री"। गायत्री का अभिप्राय है गुणगान, प्रकरणानुसार सम्राट् का गुणगान, उसकी प्रशंसा करना। इस विधि द्वारा सम्राट् प्रसन्न होकर साम्राज्य में वापस आ जाता है। अर्कम्=**अर्कः मन्त्रो भवति, यदनेनार्चन्ति** (निरुक्त ५.१.४; पद संख्या २४)। प्रकरणानुसार मन्त्र है गायत्री। गायत्री मन्त्र में सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना है, सद्बुद्धि से प्रेरित हुआ सम्राट् प्रजा की प्रार्थना को स्वीकार कर लेता है। **विप्रः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**चतुष्पदा भुरिक् पङ्क्तिः**॥

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः॥ ३॥

अर्थ—[हे सम्राट्! (वरुणः राजा) वरुण राजा (त्वा) तुझे (अद्भ्यः) सामुद्रिक जलों से (ह्वयतु) आह्वान करें, (सोमः) सोम (त्वा) तुझे (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से (ह्वयतु) आह्वान करे। (इन्द्र) सम्राट् (त्वा) तुझे (आभ्यः विड्भ्यः) इन प्रजाओं से (ह्वयतु) आह्वान करे, (श्येनो[2] भूत्वा) बाजपक्षी होकर तू (इमाः विशः) इन प्रजाओं में (पत आ) उड़कर आ जा।

[वरुण है राष्ट्राधिपति राजा, यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणाश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। वरुण राजा अधिपति है जलों का। वह सामुद्रिक जलों का अधिपति है, यथा "वरुणोऽपामधिपतिः" (अर्थव०

---

१. अधारयन् (सायण); अथवा धृ (यङ्लुक्)+सिप्+अट्। या धृष, धृषा [यङ्लुकि] प्रसहने प्रागल्भ्ये (चुरादिः; स्वादिः)।

२. वायुयान द्वारा। सम्भवतः उड़कर (श्येनो भूत्वा)। अश्वारोही तथा श्येनो भूत्वा दो विकल्प हैं 'आपत' में।

५.४)। सोम है सेनाध्यक्ष, सेना-प्रेरक [**षू प्रेरणे,** (तुदादिः), यह पर्वतीय युद्धों का भी अध्यक्ष है। इन्द्र है सम्राट्, जोकि सामयिक सम्राट् है, जब तक कि पदच्युत सम्राट् वापस नहीं आ जाता। सोमः=सेनाध्यक्षः (यजुः० १७.४९)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।

अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम्॥ ४॥

अर्थ—[हे पदच्युत सम्राट्!] (श्येनः) बाज़पक्षी के सदृश उड़नेवाला सामयिक सम्राट्, (हव्यम्) आह्वातव्य तुझे, (परस्मात्) परराष्ट्र से (आ नयतु) ले आए, जो तू कि (अन्यक्षेत्रे[1]) परराष्ट्र में (अपरुद्धम्) स्वेच्छापूर्वक रुका हुआ है, और (चरन्तम्) स्वेच्छया परराष्ट्र में विचर रहा है। (अश्विना) अश्वों तथा अश्वरथों के अध्यक्ष अर्थात् अश्वारोही तथा अश्वरथारोही द्विविध अध्यक्ष (ते पन्थाम्) तेरे वापस आने के मार्ग को (सुगम्) सुगम (कृणुताम्) कर दें। (सजाताः) समान जातिवाले हे प्रजाजनो! (इमम् अभि) इस आनेवाले सम्राट् के अभिमुख (संविशध्वम्) तुम परस्पर मिलकर बैठो, [सामाजिक तथा साम्राज्य के कार्यों के लिए] ''सजाताः'' द्वारा यह दर्शाया है कि तुम और आगन्तुक सम्राट् एक ही जाति के हो, अतः भेदभाव त्याग दो। **हव्यम्=ह्वातव्यम्** (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन्॥ ५॥

अर्थ—[हे सम्राट्!] (प्रतिजनाः) साम्राज्य के सब जन अर्थात् प्रत्येक जन (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें, (प्रति) प्रतिकूल हुए (मित्राः) मित्र [राजाओं] ने तेरा (अवृषत) वरण कर लिया है, तुझे स्वीकृत कर लिया है। (इन्द्राग्नी) सामयिक सम्राट् और अग्रणी प्रधानमन्त्री ने (विश्वे देवाः) तथा साम्राज्य के सब दिव्य व्यक्तियों ने (विशि) प्रजाजनों में (ते) तेरे लिए (क्षेमम्) सुरक्षा के निश्चय की (अदीधरन्) धारणा कर ली है।

[पदपाठ में ''प्रतिजनाः'' समस्त पद है, और ''प्रति, मित्राः'' असमस्त है। यह दर्शाने के लिए कि साम्राज्य का प्रति व्यक्ति तो तुझे चाहता ही है, परन्तु साम्राज्य के मित्र-राजा जो तेरा विरोध करते थे, परन्तु उन्होंने भी तेरा वरण कर लिया है, तथा साम्राज्य के सामयिक इन्द्र और अग्नि ने, तथा सब देवों ने तेरी सुरक्षा की धारणा अपना ली है। अवृषत=अट्+वृञ् (वरणे, क्र्यादिः)। छान्दस लुङ्। ये मित्र राजा साम्राज्य के राष्ट्रों के अधिपति हैं, जिन्हें कि ''वरुण'' कहा है, यथा ''इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा'' (यजुः० ८.१७)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः। अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय॥ ६॥

(यः) जो कोई (सजातः) समान जाति का, (च) और (निष्ट्यः) पर जाति का अर्थात् विदेशी

१. क्षेत्रसम्भावना कृषि के लिए, उसके जीवनार्थ परराष्ट्र में दिया गया खेत।

(ते) तेरे (हवम्) आह्वान को (विवदत्) विवादग्रस्त करता है। (इन्द्र) हे सामयिक सम्राट्! (तम्) उसे (अपाञ्चम्, कृत्वा) साम्राज्य से अपगत कर, निकालकर, (अथ) तदनन्तर (इमम्) इस निश्चित सम्राट् को (इह) इस साम्राज्य में, (अव गमय) सम्राट् रूप में अवगत कर, विज्ञापित कर।

[सूक्त का वर्णन गाथारूप है, काल्पनिक है। ऐसी परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर किस साधन का अवलम्ब करना चाहिए, केवल इसका सुझाव ही सूक्त में दिया है। वेदों में गाथारूप में प्रायः वर्णन होता है—एतदर्थ देखो (अथर्व० १५.५.११, १२) का अथर्ववेद-भाष्य। गाथारूप में वर्णन प्ररोचनार्थ होता है, रुचि बढ़ाने के लिए होता है। (अपाञ्चम् कृत्वा=अपगतं बहिष्कृतं कृत्वा (सायण)।]

सूक्त ४

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्योऽभवेह॥ १॥

अर्थ—[हे सम्राट्!] (त्वा) तुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (आ गन्) पुनः आ गया है, प्राप्त हो गया है, (वर्चसा सह) निज तेज के साथ (उदिहि) सूर्य के सदृश तू उदित हो, (प्राङ्) प्रगति करता हुआ (विशाम् पतिः) प्रजाओं का पति (त्वम्) तू (एकराट्) मुख्य या अकेला राजा होकर (विराज) विराजमान हो, दीप्यमान हो। (राजन्) हे राजन्! (सर्वा प्रदिशः) सब दिशाओं में स्थित प्रजाएँ (त्वा ह्वयन्तु) तेरा आह्वान करें। (इह) इस साम्राज्य में (उपसद्यः) सब द्वारा समीप बैठने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार योग्य (भव) तू हो।

[सूक्त ३ के अनुसार वापस आ गये सम्राट् का वर्णन सूक्त ४ में है। एतदर्थ देखो मन्त्र ५, ६, ७। मन्त्र में "उदिहि" पद द्वारा उदय होना कहकर सम्राट् को सूर्य से उपमित किया है। प्राङ् के दो अर्थ हैं—पूर्व दिशा तथा प्रगति करनेवाला। प्राङ्=प्र+अञ्चु गतौ। सूर्योदय पूर्व दिशा में ही होता है और पश्चिम की ओर गति करता है। उपसद्यः=उप+षद् (बैठना); अथवा उप+षद् (गतौ) उपगमन करना, समीप जाना, तद्योग्य। **षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु** (भ्वादिः, तुदादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ २॥

अर्थ—[हे सम्राट्! (त्वाम्) तेरा (विशः) प्रजाएँ (वृणताम्) वरण करें (राज्याय) राज्य के लिए (इमाः) ये (प्रदिशः) विस्तृत दिशाएँ, जोकि (पञ्च) पाँच हैं, और (देवीः) दिव्य प्रजाओंवाली हैं (त्वाम्) तेरा वरण करें। (वर्ष्मन्) श्रेष्ठ (राष्ट्रस्य ककुदि) राष्ट्र के उन्नत स्थान में या सिंहासन में (श्रयस्व) तू आश्रय पा, (ततः) उस उन्नत स्थान या सिंहासन से (उग्रः) उग्र हुआ तू (नः) हम प्रजाओं में (वसूनि, वि भज) सम्पत्तियों का विभाग कर। पञ्च=**पचि विस्तारे** (चुरादिः), यथा पंचास्यः=सिंहः। या ऊर्ध्वादिशा तथा शेष चार दिशाएँ।

[राष्ट्र में सम्पत्तियों का यथोचित विभाग करना चाहिए, जिससे सबका पालन-पोषण हो सके। ककुद्=बैल के कन्धों में उच्च अङ्ग, तथा पर्वतशिखिर।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः॥ ३॥

अर्थ—हे सम्राट्! (त्वा) तुझे (सजाताः) समान जाति के अर्थात् एक-वर्गीय राजा लोग (हविनः[१]) देय भेदों या राज्य करों वाले हुए (अच्छ यन्तु) आभिमुख्येन प्राप्त हों। (अजिरः) तुझ द्वारा प्रेरित (अग्निः) ज्ञानाग्निवाला (दूतः) दूत (संचरातै) स्व साम्राज्य तथा परराष्ट्र में संचार करे। (जायाः पुत्राः) साम्राज्य की पत्नियाँ और पुत्र (सुमनसः) सुप्रसन्न (भवन्तु) हों। (उग्रः) शासन में उग्र हुआ तू (बहुम्) बहुत (बलिम्) भेदों या राज्य-करों को (प्रतिपश्यासै) देख।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु।

अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ ४॥

अर्थ—[हे सम्राट्! (अग्रे) प्रथम (अश्विना) अश्वारोही तथा अश्वरथारोही (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें, (उभा मित्रावरुणा) दोनों मित्र-राजा और वरुण राजा, (विश्वे देवाः) साम्राज्य के सब दिव्य अधिकारी या जन, तथा (मरुतः) सैनिक (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें। (अधा) तदनन्तर [साम्राज्य में आकर] (वसुदेयाय) सम्पत्ति-प्रदान के लिए (मनः कृणुष्व) मन को तय्यार कर, (ततः) तदनन्तर (उग्रः) उग्र हुआ (नः) हमें (वसूनि) सम्पत्तियों का (वि भज) यथोचित विभाग कर, बाँट।

[मित्रावरुणा=मित्र राजा, और वरुण माण्डलिक राजा, यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजुः० ८.३७)। मरुतः=सैनिक (यजुः० १७.४०)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।

तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि॥ ५॥

अर्थ—[हे सम्राट्!] (आ प्रद्रव) स्व-साम्राज्य के अभिमुख, तू शीघ्रता से आ, (परमस्याः परावतः) अत्यन्त दूर देश से भी। (उभे द्यावापृथिवी) दोनों द्युलोक और पृथिवी (ते) तेरे लिए (शिवे) मङ्गलकारी (स्ताम्) हों। (तत्) इसे (अयम् राजा वरुणः) इस वरुण राजा ने भी (तथा) उस प्रकार (आह) कहा है, (सः) उस (अयम्) इस वरुण राजा ने (त्वा) तुझे (अह्वत्) बुलाया है, (सः) वह तू (इदम्) इस साम्राज्य में (उप एहि) आ।

[भावी सम्राट् परकीय राष्ट्र में विद्यमान है, परकीय राष्ट्र अति दूर है। वहाँ से आने में उसे कोई कष्ट न हो इसलिए मङ्गल की अभिलाषा प्रकट की है। मन्त्र में उत्तरार्द्ध में वरुण राजा का वर्णन है। वरुण राजा का वर्णन वरुण-सूक्त में हुआ है (अथर्व० ४.१६.१-९)। वरुण राजा परमेश्वर है। इसे "सः" द्वारा दूरस्थ तथा "अयम्" द्वारा समीपस्थ दर्शाया है, "**तद् दूरे तद्वन्तिके**" (यजुः० ४०.५)। इससे यह दर्शाया है कि सर्वव्यापक वरुण-राजा भी भावी सम्राट् के आगमन को चाहता है।]

---

१. हविनः, हु दाने (अदादिः)+इनिः (मत्वर्थे)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।

स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः॥ ६॥

अर्थ—(इन्द्रेन्द्र[1]) हे सम्राटों के भी सम्राट्! (मनुष्याः) मनुष्य! (परेहि) परेस्थित सिंहासन की ओर आ, (वरुणैः) वरण करनेवाले माण्डलिक वरुण-राजाओं के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त तू, (सम्, हि, अज्ञास्थाः) निश्चय से सम्यक् ज्ञानी हुआ है। (सः अयम्) उस वरुण-परमेश्वर ने (त्वा अह्वत्) तेरा आह्वान किया है (स्वे सधस्थे) अपने साथ बैठने के निज सिंहासन पर, (सः) वह वरुण-परमेश्वर (देवान्) साम्राज्य के दिव्य-अधिकारियों के (यक्षत्) साम्राज्य-यज्ञ को सफल करे, (सः उ) वह ही (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) सामर्थ्यसम्पन्न करे।

[मनुष्याः में "**दूराद्धूते च**" (अष्टा० ८.२.८४) के अनुसार प्लुत होकर "विसर्गान्त आकार" हुआ है। सायणाचार्य ने "मनुष्यान्" अर्थ किया है और कहा है कि "**शसो नत्वाभावः छान्दसः**"। मन्त्र के उत्तरार्ध में यह दर्शाया है कि हे भावी सम्राट्! सिंहासन पर तो वरुण-परमेश्वर स्थित है, उसने तेरा आह्वान किया है सिंहासन के अर्धासन पर, निज के साथ बैठने के लिए। तू जान कि शासन करते हुए साथ वरुण-परमेश्वर भी बैठा है तेरी शासन-व्यवस्था के निरीक्षण के लिए। अतः तू न्यायपूर्वक और धर्मपूर्वक शासन करना, तब तेरे राज्याधिकारी, तथा प्रजाएँ सामर्थ्यसम्पन्न होंगीं। कल्पयात्=**कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन्।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह॥ ७॥

अर्थ—(पथ्याः) सत्पथगामिनी, (रेवतीः) धनसम्पन्ना, (बहुधा विरूपाः) बहुत प्रकार से विविध रूपोंवाली, (सर्वाः सङ्गत्यः) सब प्रजाओं ने (ते) तेरा (वरीयः) वरण अर्थात् चुनाव (अक्रन्) किया है, (ताः सर्वाः संविदानाः) वे सब एकमत हुईं (त्वा) तेरा (ह्वयन्तु) आह्वान करें, (उग्रः) उग्र हुआ तू (दशमीम्) दसवीं अवस्था को, (सुमनाः) सुप्रसन्न मनवाला, (इह) इस सिंहासन पर रहकर (वश) सबको वश में कर।

[गौरवर्णी, कृष्णवर्णी तथा अन्यवर्णी सब प्रजाओं ने मिलकर, जिसका सम्राट्‌रूप में चुनाव किया है, उसे आयुभर सम्राट् रूप में रहने देना चाहिए। दशमी अवस्था है ९० वर्षों से ऊपर की अवस्था।]

सूक्त ५

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्** ॥

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।

ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन्॥ १॥

अर्थ—(अयम्) यह (पर्णमणिः) मणिरूप पर्ण अर्थात् पालक (आ अगन्) आया है, (बली)

१. सम्राटों के भी सम्राट्! भिन्न-भिन्न जातियों के अपने-अपने सम्राट् होते हैं। परन्तु भूमण्डल व्यापी संगठन में सम्राटों का भी एक सम्राट् होना आवश्यक है। इसे एकराट् (सूक्त ४.१) तथा जनराट् (अथर्व० २०.२१.९) कहते हैं।

बलवान् वह (बलेन) बल द्वारा (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) मारता हुआ। (देवानाम् ओजः) यह देवों का ओज रूप है, (ओषधीनां पयः) ओषधियों के सार के सदृश है, (अप्रयावन्[१]) छोड़कर न जानेवाला (मा) मुझे (वर्चसा) दीप्ति के साथ (जिन्वतु) प्रीणित करे, तृप्त करे।

(पर्णमणिः=पर्ण है पालन करनेवाला, मणि अर्थात् रत्नरूप, सेनापति। पर्ण=**पॄ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः)। यह बली है और शत्रुओं को मारता है, अतः क्षत्रिय है। देवानाम्=विजिगीषूणाम् "**दिवु क्रीडाविजिगीषा....**" (दिवादिः)। ओषधीनाम् सारः=ओषधियों के रस के सदृश राष्ट्रशरीर का रसरूप है। जिन्वतु=**जिवि प्रीणनार्थः** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ २॥

अर्थ—(पर्णमणे) हे पालक रत्न! (मयि) मुझ सम्राट्[२] में (क्षत्रम्) क्षात्र-बल, (मयि) मुझमें (रयिम्) धनसम्पत् (धारयतात्) स्थापित कर। (अहम्) मैं सम्राट् (निजः) जोकि तुम्हारा अपना हूँ, (राष्ट्रस्य अभिवर्गे) राष्ट्र के सब वर्गों में (उत्तमः) सर्वोत्तम (भूयासम्) हो जाऊँ।

[वर्गे=मनुष्यवर्ग, पौरवर्ग, क्षत्रियवर्ग, भौमवर्ग आदि]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे॥ ३॥

अर्थ—(देवाः) विजिगीषु सैनिकों ने (यम् प्रियं मणिम्) जिस प्रिय रत्न-रूप-सेनापति को (गुह्यम्) गोपनीयरूप में (निदधुः) स्थापित किया है, जैसे कि दिव्य शक्तियों ने (वनस्पतौ) वनस्पति में [रस] को, (तम्) उसे (आयुषा सह) आयु के साथ (देवाः) विजिगीषु-सैनिक (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (ददतु) दें, [हमें सौंप दें], (भर्तवे) हमारे भरण-पोषण के लिए।

[आयुषा सह=जीवित रूप में। सैनिकों को चाहिए कि निज सेनापति को सुरक्षित रखें, उसे गोपनीय रूप में रखें, उसे मरने से बचाय रखें। वनस्पतौ, देखो "**ओषधीनां पयः**" (मन्त्र १) देवः=**दिवु क्रीडा विजिगीषा** आदि (दिवादिः), विजिगीषु अर्थ अभिप्रेत है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ने [कृपापूर्वक] (दत्तः) दिया, (वरुणेन) वरुण रूप आचार्य द्वारा (शिष्टः) शिक्षित तथा अनुशासित, (सोमस्य) सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष का (पर्णः) पालक, (उग्रम् सहः) उग्रबलरूप सेनापति (आ अगन्) मुझे प्राप्त हुआ है, (तम् प्रियासम्) उसे मैं अपना प्रिय जानूँ, (बहु रोचमानः) बहुत प्रदीप्त होता हुआ, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिए, (शतशारदाय) सौ शरद्-ऋतुओं के लिए [सौ वर्षों के लिए।]

[वरुण है आचार्य। यथा "**आचार्यो वरुणो भूत्वा**" (अथर्व० ११.५.१५)। प्रियासम्=प्रिय

१. अप्रयावन्=अ+प्र+या+वनिप्=मां विहाय अनपगन्ता।
२. मन्त्र (६, ७)। यह सम्राटों का भी सम्राट् है, भूमण्डल का सम्राट्। तथा इन्द्रेन्द्र (अथर्व० ३.४.६)।

[नामधातु]+सिप्, अट्, आकार का आगम। रोचमानः प्रदीप्त हुआ "सम्राटों का सम्राट्" सेनापति की प्राप्ति के कारण प्रदीप्त हुआ, चमकता हुआ। सोमस्य=सोम है सेनाप्रेरक तथा सेनाध्यक्ष, जोकि युद्ध के लिए सेना के मुख्य भाग में आगे-आगे चलता है [**षू प्रेरणे** तुदादिः], देखो यजुः० (१७.४०)। सेनापति द्वारा सुरक्षित "सम्राटों का सम्राट्" सौ वर्षों तक जीवित रहने का अभिलाषी है। सोम और सेनापति दोनों का सम्बन्ध सेना के साथ है। सेनापति को "पर्णः" अर्थात् पालक कहा है, यह सोम का भी पालक है। सेनापति "षर्ण", गुरुकुल-आश्रम में रहकर आचार्य द्वारा शिक्षित और अनुशासित हुआ है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ मा॑रुक्षत्पर्णम॒णिर्म॒ह्या अ॑रिष्टता॑तये। यथा॒हमु॑त्त॒रोसा॒न्यर्य॒म्ण उ॒त सं॒विदः॑॥ ५॥

अर्थ—(मह्यै अरिष्टतातये) महा अहिंसा अर्थात् सुरक्षा के विस्तार के लिए, (पर्णमणिः) पालक-सेनापति रत्न[1], (मा) मुझ सम्राटों के सम्राट् पर (आ अरुक्षत्) आरूढ़ हुआ है, (यथा) जिस प्रकार कि (अहम्) मैं (अर्यम्णः) अर्यमा से (उत) तथा (संविदः) सम्यक्-वेत्ता अर्थात् सम्यक्-ज्ञानी से भी (उत्तरः) उत्कृष्टतर (असानि) हो जाऊँ।

[आ अरुक्षत्=आ+रुह्+क्सः (अष्टा० ३.१.४५), लुङ् लकार। भूमण्डल का सम्राट् सेनापति को अपने से भी ऊँचा मानता है, क्योंकि उसके कारण ही भूमण्डल की महारक्षा होती है। अर्यमा है न्यायाधीश, जोकि भूमण्डल में न्याय करता है। सम्राट् कहता है कि मैं सेनापति के कारण अर्यमा-और-सम्यक् ज्ञानियों से भी उत्कृष्टतर हो जाऊँ।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॒रा ये म॑नी॒षिणः॑।
उ॒पस्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न्॥ ६॥

अर्थ—(ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान् (रथकाराः) रथों के निर्माता हैं (ये) जो (मनीषिणः) मननशील (कर्माराः) लोहे के कर्मोंवाले हैं। (पर्ण) हे पालक सेनापति! (त्वम्) तू तथा (सर्वान् जनान्) अन्य सब जनों को (मह्यम्) मुझ भूमण्डल सम्राट् के लिए (अभितः) मेरे अभिमुख (उपस्तीन्) मेरे समीप होनेवाले, या बैठनेवाले (कृणु) कर।

[कर्माराः=अयस्कारप्रभृतयः (सायण)। कर्म+आर [ores], खनिज-ores में काम करनेवाले, कच्ची धातु में काम करनेवाले। उपस्तीन्=उप+अस् भुवि या आस उपवेशने (सायण)। भूमण्डल का सम्राट् सेनापति से कहता है कि रथकार आदि को मेरे समीप होने या बैठने के लिए प्रोत्साहित कर, प्रेरित कर, उन्हें मेरे समीप आने या आकर बैठने में निषेध न कर।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये राजा॑नो राज॒कृतः॑ सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑श्च॒ ये।
उ॒प॒स्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न्॥ ७॥

अर्थ—(ये) जो (राजानः) राजा हैं, (राजकृतः) तथा [निर्वाचन द्वारा] राजाओं को करनेवाली

१. जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते (आप्टे)।

प्रजाएँ हैं, (ये) जो (सूताः) प्रजाओं के प्रेरक नेता, (च) और (ग्रामण्यः) ग्रामों के नेता हैं, (सर्वान् तान्) आदि पूर्ववत् [मन्त्र ६]।

[राजकृतः यथा "**विशस्त्वा सर्वा वाच्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्**" (अथर्व० ६.८७.१); तथा सूक्त (८६-८८)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः**॥ छन्दः—**विराडुरोबृहती**॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया।

संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे॥ ८॥

अर्थ—(मणे) हे रत्न! [सेनापति!] (पर्णः असि) तू पालक है, (तनूपानः) साम्राज्य शरीर का पालक है, (सयोनिः) हम दोनों की समान-योनि है, प्रजा; (मया वीरेण) मुझ वीर के द्वारा (वीरः) तू वीर है। (संवत्सरस्य) संवत्सर के तेजोमय आदित्य[1] के (तेन तेजसा) उस तेज से युक्त (त्वा) तुझे (बध्नामि) मैं अपने साथ बाँधता हूँ, सुदृढ़ सम्बद्ध करता हूँ।

[तनूपानः=साम्राज्य-शरीर तथा सम्राट् का निज-शरीर। पालक-सेनापति दोनों शरीरों की रक्षा करता है। साम्राज्य भी शरीर है, यथा "यजुः० २०.५.९; तथा विशेषतया मन्त्र ८।" सयोनि=योनिः, प्रजा। अथवा सम्राट् और सेनापति की समान योनि [घर] (निघं० ३.४), है "भूमण्डल।" दोनों वीर हैं "वीरो, वीरेण मया।" बध्नामि=बन्धन केवल धागे आदि द्वारा ही नहीं होता। "**देशबन्धः चित्तस्य धारणा**" (योग ३.१) में नासिकाग्र आदि में चित्त को बाँधने का भी कथन हुआ है। धारणा योगाङ्ग है। इसी प्रकार मन्त्र में "बध्नामि" का अर्थ भी यथोचित ही करना चाहिए।]

विशेष वक्तव्य—दर्शनशास्त्र के अनुसार वैदिक वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक हुई है। यथा "**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।**" अतः सूक्त ५ में मन्त्रार्थ बुद्धिग्राह्य ही किये गये हैं। सायणाचार्य ने सूक्तार्थ सोमोषधि के पत्ते के सम्बन्ध में किये हैं, जिसमें मन्त्रार्थ संगत नहीं होते।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त ६

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः**॥ देवता—**अश्वत्थः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि।

स हन्तु शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ १॥

अर्थ—(पुंसः) अभिवर्धनशील पिता से (पुमान्) अभिवर्धनशीलपुत्र (परिजातः) पैदा होता है, जैसेकि (खदिरात् अधि) खैर से (अश्वत्थः[2]) पीपल। (सः) वह अभिवर्धनशील पुत्र (मामकान्) मेरे (शत्रून् हन्तु) शत्रुओं का हनन करे, (यान्) जिनके साथ (अहम्) मैं (द्वेष्मि) द्वेष करता हूँ, (च) और (ये) जो (माम्) मेरे साथ द्वेष करते हैं।

---

१. संवत्सरस्य तेजसा=संवत्सरस्य, एतदुपलक्षितकालभेदनियामकस्य आदित्यस्य तेजसा युक्तं त्वाम् (सायण)।

२. अश्वत्थः=Figtree (आप्टे)। Fig=सम्भवतः अञ्जीर।

[मन्त्र के प्रारम्भ में "पुमान् पुंसः" का कथन हुआ है, अतः समग्र सूक्त में "पुमान् पुंसः" का भी वर्णन अभीष्ट प्रतीत होता है। "अश्वत्थः खदिरात्" तो दृष्टान्तरूप है। तथा देखो "संस्कारविधिः पुंसवन संस्कार।" जैसे पुत्र पिता के शत्रुओं का हनन करता है, वैसे अश्वत्थ अर्थात् खदिर[1] से उत्पन्न अश्वत्थ भी रोगों का हनन करता है। मन्त्र २ से ८ तक में अश्वत्थ पद पठित है, तो भी इस दृष्टान्त पद द्वारा दार्ष्टान्त या उपमेयरूप में पुमान्-पुरुष भी अभिप्रेत है।]

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः।

इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च॥ २॥

अर्थ—(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ! (वैबाधदोधतः) बाधा डालनेवाले और कँपा देनेवाले (तान् शत्रून्) उन शत्रूओं का (निःशृणीहि) निःशेषेण विनाश कर; (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मेदी) वृत्रघाती इन्द्र के साथ, (मित्रेण) मित्र के साथ, (च) और (वरुणेन) वरुण के साथ स्नेही तू।

[मन्त्र में उपमान-अश्वत्थ और उपमेय-पुमान् दोनों का वर्णन है। अश्वत्थ रोग-शत्रुओं का विनाशक है। इस अर्थ में इन्द्र है विद्युत्, मित्र है सूर्य, वरुण है मेघ। इन तीन की सहायता द्वारा अश्वत्थ बढ़ता है, अतः वह इनके साथ स्नेह करता है। उपमेय-पुमान् राष्ट्रिय शत्रुओं का विनाश करता है। इस अर्थ में इन्द्र है सम्राट्, मित्र है मित्र राजा, तथा वरुण है माण्डलिक राजा। "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। वैबाधदोधतः=विवाध+अण् (स्वार्थे)+धूञ् कम्पने [यङ् लुक्+शतृ प्रत्यय+द्वितीया विभक्ति।]

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथाश्वत्थ निरभनोन्तर्महत्यर्णवे।

एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ ३॥

अर्थ—(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ! (महति अर्णवे अन्तः) महान्-समुद्र अर्थात् वायुमण्डल में (यथा) जिस प्रकार तू (निरभनः) नितरां शक्तिपूर्वक बढ़ा है, (एवा) इस प्रकार की शक्ति से (तान् सर्वान्) उन सबको (निर्भङ्ग्धि) निःशेषेण भग्न कर (ये माम्) जोकि मेरे साथ द्वेष करते हैं, (च) और (यान्) जिनके साथ मैं द्वेष करता हूँ।

[निरभनः=नि+**रभ राभस्ये** (भ्वादिः), रभस् पूर्वक बढ़ना। अश्वत्थ, रोगनिवारणार्थ, मानो वायुमण्डल में शक्तिपूर्वक बढ़ा है। वायुमण्डल में रोग पैदा होते हैं, उनके निवारण के लिए। अन्तरिक्ष महार्णव है, महासमुद्र है। यथा "**स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्**" (ऋ० १०.९८.५) में उत्तर समुद्र द्वारा अन्तरिक्ष समुद्र अभिप्रेत है, (निरुक्त २.३.१०, ११)। मन्त्र में अश्वत्थ को सम्बोधित किया है जोकि सूक्त में उपमानरूप है। इस द्वारा उपमेय भी अभिप्रेत है "पुमान्-पुरुष" [मन्त्र १], वह निज राष्ट्रपति के शत्रुओं को भग्न करता है, जोकि अन्तरिक्ष से वायुयानों द्वारा आक्रमण करते हैं। ऐसा आदेश राष्ट्रपति ने "पुमान्-पुरुष" को दिया है। निरभनः=नि+रभ्+युच् (औणादिक २.७५)। नकारस्य णकाराभावः छान्दसः।]

---

१. खदिर के कोटर अर्थात् गड्हे से उत्पन्न अश्वत्थ में खदिर की भी रोग निवारण-शक्ति होती है और निज की भी।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः। तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

अर्थ—(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ सदृश [पुमान्-पुरुष!] (सहमानः यः) शत्रुओं का पराभव करनेवाला जो तू, (सासहानः) पराभव करनेवाले (ऋषभः इव) ऋषभ या पुरुषर्षभ की तरह (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया) उस तुझ द्वारा (वयम्) हम (सपत्नान्) शत्रुओं का (सहिषीमहि) पराभव करें।

[मन्त्र में अश्वत्थ पद निज अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु वह निज उपमेय "पुमान्-पुरुष" का द्योतक है। इसीलिए इसे ऋषभ के सदृश स्वच्छन्द विचरनेवाला कहा है, तथा शत्रुओं का पराभव करनेवाला कहा है। सासहानः=सह यङ्लुक्+शानच्; सह=**षह मर्षणे** (चुरादिः)।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः। अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति (अमोक्यैः) न मोचन कर सकने योग्य (मृत्योः पाशैः) मृत्यु के फन्दों द्वारा (एनान् मामकान्) इन मेरे शत्रुओं को (सिनातु) बाँधे, (अश्वत्थ) हे उपमेय "पुमान्-पुरुष"! (यान् अहं द्वेष्मि) जिनके साथ मैं द्वेष करता हूँ (च) और (ये) जो (माम्) मेरे साथ द्वेष करते हैं।

[मन्त्र में अश्वत्थ पद निज उपमेय "पुमान्-पुरुष" का द्योतक है। अथवा "जहत् लक्षणा वृत्ति" द्वारा अश्वत्थ निज अर्थ का परित्याग कर "पुमान्-पुरुष" का कथन करता है, जैसेकि "गङ्गायां घोषाः" में गङ्गा पद निज अर्थ का परित्याग कर गङ्गा-तट का कथन करता है।]

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च ॥ ६ ॥

अर्थ—(अश्वत्थ) हे अश्वत्थ! (वानस्पत्यान्) वनस्पतियों के समूहों पर (आरोहन्) आरोहण करता हुआ तू (यथा) जिस प्रकार उन्हें (अधरान् कृणुषे) नीचा करता है, (एवा=एवम्) इसी तरह (मे शत्रोः मूर्धानम्) मेरे शत्रु के मुखिया को (विष्वक्) सब प्रकार से (भिन्द्धि) छिन्न-भिन्न कर, (च) और (सहस्व) पराभूत कर।

[अश्वत्थ, खदिर आदि के कोटर से उत्पन्न होकर [मन्त्र १] उन्हें अपने से नीचे कर देता है, और उन पर आरोहण कर उनसे ऊँचा हो जाता है, इसी प्रकार उपमान-अश्वत्थ द्वारा अभिप्रेत उपमेय "पुमान्-पुरुष" के प्रति कहा है कि तू मेरे शत्रु का भेदन आदि कर, (निज शक्ति द्वारा शत्रु से ऊँचा होकर, उत्कृष्ट होकर)। वानस्पत्यान्=समूहार्थे, ण्यः (सायण)। मूर्धानम्=अथवा शिरः।]

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(ते) वे शत्रु (अधराञ्चः) नीचे की ओर (प्रप्लवन्ताम्) शीघ्रता से प्रवाहित हो जाएँ, (इव) जैसे (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) कटी (नौः) नौका [शीघ्रगामिनी नदी में शीघ्रता से प्रवाहित हो जाती है।] (वैबाध=वैबाध-प्रणुत्तानाम्) विविध बाधाओं से धकेले गयों का (पुनः) फिर (निवर्तनम्)

लौट आना (न अस्ति) नहीं होता है।

[प्रजा के शत्रु, जो कि विविध बाधाओं[1] के कारण स्वराष्ट्र से प्रजा द्वारा धकेल दिए जाते हैं, उनका स्वराष्ट्र में पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि वे अधरगतिवाले होते हैं। अधराञ्चः पद द्विविधार्थक हैं। सायणाचार्य ने ''वैबाध'' का अर्थ खदिरोत्पन्न ''अश्वत्थ'' किया है, जोकि अविश्वसनीय है।]

ऋषिः—जगद्बीजं पुरुषः॥ देवता—अश्वत्थः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा। प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे॥ ८॥

अर्थ—(एनान्) इन शत्रुओं को (मनसा) संकल्प द्वारा (प्र नुदे) मैं धकेलता हूँ, (चित्तेन) सम्यक्-ज्ञान द्वारा (प्रणुदे) मैं धकेलता हूँ, (उत) तथा (ब्रह्मणा) ब्रह्म की कृपा द्वारा (प्रणुदे) मैं धकेलता हूँ; (एनान्) इन शत्रुओं को (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्ष की शाखा द्वारा (प्र णुदामहे) हम धकेलते हैं।

[शत्रु रोगरूपी नहीं प्रतीत होते, अपितु ये राष्ट्रिय शत्रु हैं मानुष। इन्हें दृढ़ संकल्पों, सम्यक्-ज्ञानों तथा ब्रह्म से शक्ति पाकर धकेला गया है। अश्वत्थ प्रकरण द्वारा वृक्ष ही है, शाखया पद द्वारा और भी निश्चय हो जाता है कि वह वृक्ष ही है। अतः वृक्षस्य पद विकल्प के लिए है, अश्वत्थ की या किसी भी वृक्ष की शाखा द्वारा। ''नुदामहे'' द्वारा ज्ञात होता है कि शत्रुओं को धकेलनेवाले बहुत हैं। ये प्रजाएँ हैं। जब समग्र प्रजा मिलकर ''राष्ट्रिय शत्रु-स्वकीय राजा'' को राष्ट्र से धकेलने के लिए तत्पर हो जाए तो वह वृक्षों की शाखाओं के प्रहारों द्वारा ही शत्रु-राजा को अपने राष्ट्र से धकेल सकती है, किसी उग्र शस्त्रास्त्र की आवश्यकता नहीं होती, इसे मन्त्र में दर्शाया है।]

सूक्त ७

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—हरिणः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

हरिणस्य रघुष्यदोधि शीर्षणि भेषजम्। स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्॥ १॥

अर्थ—(रघुष्यदः) शीघ्र स्यन्दन अर्थात् गमन करनेवाले (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) सिर पर (भेषजम्) रोगनिवर्तक औषध है। (सः) वह हरिण (विषाणया) शृङ्ग द्वारा (क्षेत्रियम्) माता-पिता के शरीर से प्राप्त (विषूचीनम्) प्रसृत रोग को (अनीनशत्) नष्ट करता है।

[विषूचीनम्=विषु (सर्वत्र)+अचि या अच (गतौ) (भ्वादिः)। क्षेत्रियम्=परक्षेत्र में चिकित्स्य रोग (अष्टा० ५.२.९२)। अथवा ''क्षेत्रियम्=वर्तमान क्षेत्र अर्थात् शरीर का रोग। क्षेत्र=शरीर (गीता १३.१)।]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—हरिणः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्॥
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि॥ २॥

अर्थ—[हे क्षेत्रिय रोग!] (वृषा) सुखवर्षी (हरिणः) हरिण ने (त्वा अनु) तेरे पीछे-पीछे चलकर (चतुर्भिः पद्भिः) चार पैरों द्वारा (अक्रमीत्) तुझपर आक्रमण किया है। (विषाणे) हे सींग! (अस्य) इस रोगी के (हृदि) हृदय में (यत्) जो (क्षेत्रियम्) क्षेत्रिय-रोग (गुष्पितम्) गुम्फित हुआ है, उसका

---

१. जो शासक प्रजा के कार्यों में बाधाएँ उपस्थित करते हैं, वे प्रजा के शत्रु हैं, अतः प्रजा द्वारा निज राष्ट्र से धकेल दिए जाते हैं।

(विष्य) अन्त कर दे।

[हरिण वृषा है, सुखवर्षी है, यतः यह रोगनिवारक है; अथवा वर्षा का अर्थ है सेचनसमर्थ पुमान्, हरिण। विष्य=वि+**षो अन्तकर्मणि** (दिवादिः)] विषाणा अर्थात् शृङ्ग की भस्म अभिप्रेत है। इसके गुण हैं—निमोनिया, इन्फ्लुएँजा, सर्दी, जुकाम, पार्श्वशूल, खाँसी और कफ का परिहार (वैद्यनाथ पञ्चाङ्ग)। मन्त्र में हृदयरोग का विशेष कथन हुआ है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**हरिणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः। तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि॥ ३॥

अर्थ—(अदः) वह दृश्यमान (यद्) जोकि (अवरोचते) नीचे पृथिवी की ओर चमकता है, (चतुष्पक्षम्) चार कोनोंवाली (छदिः) छत की (इव) तरह। (तेन) उस द्वारा (ते अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों से (सर्वम् क्षेत्रियम्) सब क्षेत्रिय रोग को (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[छदिः=अथवा "**छदिः गृहनाम**" (निघं० ३.४)। चतुष्पक्ष छत-या-गृह कौन-सा तारामण्डल अर्थात् constellation है, अनुसन्धेय है। इस काल में भी क्षेत्रिय रोग की चिकित्सा का विधान हुआ है। देखो मन्त्र ४ की व्याख्या।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विचृत तारके** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ ४॥

अर्थ—(अमू ये) वे दो जोकि (सुभगे) उत्तम भाग्यशील हैं, (विचृतौ नाम तारके) और विचृत् नामवाले दो तारा (दिवि) द्युलोक में हैं, वे (अधमम्) शरीर के अधोभाग के, (उत्तमम्) तथा ऊर्ध्वभाग के (क्षेत्रियस्य) क्षेत्रिय-रोगसम्बन्धी (पाशम्) फंदे को (वि मुञ्चताम्) विमुक्त करें।

[नाम=अथवा "प्रसिद्ध"। सुभगे=प्रकाशयुक्त होने से भाग्यशाली। विचृतौ=वि+चृत् (हिंसा), **चृती हिंसाग्रन्थनयोः**, तुदादिः)। "ये दो तारा, मूलनामक-नक्षत्र हैं" (सायण)। विचृतौ=वि+चृत्; क्विप्+द्विवचन। द्विवचन है नक्षत्र और तदधिष्ठान की अपेक्षा से (सायण) (अथर्व० २.८.१)। परन्तु मन्त्रानुसार ये दो तारा हैं, न कि मूलनक्षत्र तथा तदधिष्ठान। ये दो तारा वृश्चिक-राशि की पूँछ के डंक में हैं। क्षेत्रिय-रोग सम्भवतः शारीरिक है; क्षेत्र है शरीर "**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**" (गीता १३.१)। जिस काल में इन दो ताराओं का उदय हो, उस काल में क्षेत्रिय रोग की चिकित्सा करने का विधान हुआ है। चिकित्सा का सम्बन्ध काल के साथ भी होता है। काल का ध्यान न कर चिकित्सा करने से चिकित्सा अधिक लाभकारी नहीं होती।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्॥ ५॥

अर्थ—(आपः) जल (इत्) ही (वै उ) निश्चय से (भेषजीः) भेषज अर्थात् औषधरूप हैं, (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोगविनाशक है। (आपः) जल (विश्वस्य) समग्र प्रकार के रोग समूह की (भेषजीः) औषध हैं। (ताः) वे जल (त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्) शारीरिक रोग से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, छुड़ाएँ।

[आप: अर्थात् जलचिकित्सा को सब प्रकार के रोगों की नाशिका कहा है। अमीव=**अम रोग** (चुरादि:) आप: के लिए, देखो अथर्व० १.४.४; १.५.१-४; १.६.२-४)।]

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्द:—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

यदा॑सु॒तेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्या॒न॒शे।

वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षेत्रि॒यं ना॑शयामि॒ त्वत्॥ ६ ॥

अर्थ—(क्रियमाणाया:) की जानेवाली (आसुते:) प्रसव क्रिया के होते (यत् क्षेत्रियम्) जो शारीरिक रोग (त्वा व्यानशे) तुझे व्याप्त हो गया है, (तस्य) उसके (भेषजम्) औषध को (अहम् वेद) मैं जानता हूँ, (त्वत्) तुझ से (क्षेत्रियम्) शरीर-सम्बन्धी रोग को (नाशयामि) मैं नष्ट करता हूँ।

[चिकित्सक कहता है प्रसवासन्ना स्त्री को कि सुत या सुता की उत्पत्ति कर्म में जो रोग हो जाता है, उसकी भेषज मैं जानता हूँ, अत: मैं तेरे रोग को नष्ट करता हूँ। इस कथन द्वारा प्रसूता को आश्वासन देता है। आसुति:, सुत और सुता एक ही धातु के रूप हैं, "**षु प्रसवे**"। व्यानशे=वि+आ+नुट्+**अशूङ्, व्याप्तौ,** लिट् लकार (सायण)।]

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒प॒वा॒से नक्ष॑त्राणामपव॒ास उ॒षसा॑मु॒त। अपा॒स्मत्सर्वं॑ दुर्भू॒तमप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु॥ ७ ॥

अर्थ—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) अपगत हो जाने पर, प्रवसित हो जाने पर, (उत) तथा (उषसाम्) उषाओं के (अपवासे) अपगत अर्थात् प्रवासित हो जाने पर (अस्मत्) हमसे (सर्वम्, दुर्भूतम्) सब दुष्कृत (अप) अपगत हो जाए, (क्षेत्रियम्) शारीरिक रोग (अप उच्छतु) अपगत हो जाए।

[नक्षत्रों के प्रवास और उषाओं के प्रवास पर, सूर्य की रश्मियाँ चमकने लगती हैं, दिन का प्रकाश हो जाता है। इस काल में प्रदीप्त हुई रश्मियों के सेवन से क्षेत्रिय रोग क्षीण होता जाता है। यह "सूर्यरश्मि-चिकित्सा" है। उषसाम् में बहुवचन यह सूचित करता है कि नाना उषा कालों के पश्चात्, नाना दिनों तक, सूर्यरश्मिचिकित्सा करनी चाहिए। सूर्योदय काल में सूर्यरश्मियाँ लाल होती हैं, जोकि रोगकीटाणुओं का हनन करती हैं (अथर्व० २.३२.१)।]

सूक्त ८

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

आ या॑तु मि॒त्र ऋ॒तुभि॒: कल्प॑मानः संवे॒शय॑न्पृथि॒वीमु॒स्रिया॑भिः।

अथा॒स्मभ्यं॒ वरु॑णो वा॒युर॒ग्निर्बृ॒हद्रा॒ष्ट्रं सं॑वे॒श्यं॑ दधातु॥ १ ॥

अर्थ—(मित्र:) जैसे वर्षा द्वारा स्निग्ध करनेवाला, (ऋतुभि:) ऋतुओं के कारण (कल्पमान:) सामर्थ्य-सम्पन्न हुआ [सूर्य], (पृथिवीम्) भूमण्डल को (उस्रियाभि:) रश्मियों द्वारा (संवेशयन्) सब के लिए प्रवेशयोग्य करता है, वैसे मित्र अर्थात् सबका मित्र अधिकारी (आ यातु) भूमण्डल के शासन के

१. आसुते:=आसुति पद पञ्चम्यन्त। लौकिक संस्कृत में "आसुति" का अर्थ होता है "सुरानिर्माण"। सायण ने आसुति की व्युत्पत्ति "आ+सिच्" (सींचने) अर्थ में की है। यथा "**आसूयते आसिच्यते इत्यासुति:, द्रवीभूतमन्नम्**" द्रवीभूतमन्नम् को स्पष्ट शब्दों में सुरा सायण ने भी नहीं कहा। तथा मन्त्र में भी आसुति का अर्थ, सुरानिर्माण संगत नहीं प्रतीत होता, अपितु प्रसूति अर्थ ही सुसंगत प्रतीत होता है।

लिए आए। (अथ) तदनन्तर (वरुणः) राष्ट्रपति, (वायुः) अन्तरिक्ष का अधिपति, (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (अस्मभ्यम्) हम सब के लिए (बृहद्राष्ट्रम्) महाराष्ट्र को (संवेश्यम्) सबके लिए प्रवेशयोग्य (दधातु) विदधातु, अर्थात् करे।

[मन्त्र में सूर्य और भूमण्डल के प्रधानमन्त्री का संश्लिष्ट वर्णन है। सूर्य को और प्रधानमन्त्री को मित्र कहा है। सूर्य ऋतुओं के परिवर्तन द्वारा सामर्थ्यसम्पन्न होता रहता है, शीतऋतु से ग्रीष्म ऋतु में आते हुए सूर्य का सामर्थ्य बढ़ता जाता है। इसी प्रकार भूमण्डल के प्रधानमन्त्री की शक्ति भी दिनोदिन बढ़ती जाती है। बृहद्-राष्ट्र है भूमण्डलरूपी-राष्ट्र। जब भूमण्डल एक महान्-राष्ट्र में परिणत हो जाता है तब समग्र भूमण्डल, सब के लिए प्रवेश[१] योग्य हो जाता है (संवेश्य), कहीं भी प्रवेश के लिए permit और visa[२] की आवश्यकता नहीं रहती। उस्रियाभिः गोभिः, किरणैरित्यर्थः (सायण)। दधातु=प्रत्येकापेक्षया एकवचनम् (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि॥ २॥

अर्थ—(धाता) धारण-पोषण करनेवाला अधिकारी, (रातिः) दानाधिकारी, (सविता) जन्मों तथा कोष का अधिकारी (इदम् मे वचः) इस मेरे कथन को (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवित करें, सुनें, (इन्द्रः) सम्राट्, (त्वष्टा) तथा कारीगरी का अधिकारी [मेरे इस कथन को] (प्रतिहर्यन्तु) कामनापूर्वक सुनें। (शूरपुत्राम्) युद्धशूर, दानशूर, धर्मशूर आदि पुत्रोंवाली (अदितिम्) अदीना (देवीम्) मातृदेवी [सम्राट्-पत्नी] का भी (हुवे) मैं [शासनकार्य में] आह्वान करता हूँ, (यथा सजातानाम्) ताकि समानजाति के [राजाओं में] (मध्यमेष्ठाः) मध्यस्थ (असानि) मैं हो जाऊँ।

[सविता=**षु प्रसवे तथा ऐश्वर्ये** (भ्वादिः) सविता इन दो विभागों का अधिकारी है। त्वष्टा=**त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः** (निरुक्त ८.२.१४; त्वष्टा पद (११)। हर्यन्तु=**हर्य गतिकान्त्योः** (भ्वादिः)। असानि=असेर्लोटि आडागमः (अष्टा० ३.४.९२)। मध्यमेष्ठाः=वरुण-राजाओं में विवाद उपस्थित हो जाने पर मध्यस्थ होकर ताकि मैं निर्णय दे सकूँ। शूरपुत्राम्=सम्राट् की पत्नी मातृवत् हुई, सम्राट् के सब शूरों की माता है। वह अदीना है, सम्राट् की पत्नी होने से, किसी के प्रति दैन्यभाव में नहीं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः॥ ३॥

अर्थ—(उत्तरत्वे) ''मैं बड़ा'' या ''मैं बड़ा'' इस प्रकार के युद्ध[३] में (अहम्) मैं (नमोभिः)

१. क्योंकि एक महाराष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति समग्र पृथिवी को अपनी माता अर्थात् मातृभूमि जानने लगता है, अतः समग्र पृथिवी को वह निजगृह समझता है। यथा ''**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु**'' (अथर्व० १२.१.१२)।

२. निज देश से परदेश जाने के लिए निज सरकार द्वारा प्राप्त स्वीकृति Permit, और विदेश में प्रवेश के लिए विदेश-सरकार द्वारा प्राप्त स्वीकृति visa है।

३. मैं शक्तिशाली, इस प्रकार की स्पर्धा में दो राजा जब युद्ध करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

नमस्कारों द्वारा (सवितारम् सोमम्) सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष को, तथा (विश्वान्) सब (आदित्यान्) [वसु, रुद्र] आदि के तथा आदित्य कोटि के विद्वानों का (हुवे) आह्वान करता हूँ। (अप्रतिब्रुवद्भिः) विरोध में अर्थात् प्रतिकूल न बोलते हुए (सजातैः) समान जाति के [वरुण राजाओं द्वारा] (इद्धः) प्रदीप्त (अयम्, अग्निः) यह युद्धाग्नि (दीर्घम्, एव) दीर्घकाल तक (दीदायत्) प्रदीप्त रहे।

[सोम सविता=जात्येकवचन; सेनाओं के प्रेरक सब सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०)। मन्त्र में साम्राज्य के सेनाधिपति की उक्ति है, 'नमोभिः' का अभिप्राय है यथोचित सम्मानपूर्वक। वसु आदि विद्वानों का आह्वान हुआ है परामर्श के लिए।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**विराड् बृहतीगर्भा चतुष्पदा त्रिष्टुप्**॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत्।

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥ ४॥

अर्थ—[हे प्रजाओ!] (इह इद्) इस निज राष्ट्र में ही (असाथ) तुम बने रहो, (परः न गमाथ) राष्ट्र को छोड़कर परे न जाओ, (ईर्यः) प्रेरक, (पुष्टपतिः) पुष्टान्न का पति (गोपाः) पृथिवीपालक राजा (वः) तुम्हें (आजत्) यहीं रहने में प्रेरित करे। (अस्मै कामाय) राजा की इस कामना के लिए (उपकामिनीः) राजा के समीप रहने की कामनावाली हो जाओ। (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब दिव्यजन (वः) तुम्हारे (उप) समीप (सं यन्तु) मिलकर आएँ [तुम्हें यहीं रहने को प्रेरित करने के लिए।]

["अहमुत्तरत्व" की स्पर्धा में युद्धोपस्थित हो जाने, या इसकी सम्भावना में कई प्रजाजन निजराष्ट्र को छोड़कर परकीय किसी राष्ट्र में चले जाना चाहते हैं, इस विचार से कि उन्हें न जाने जीवनार्थ अन्न भी मिल सकेगा, या नहीं। प्रजा के कतिपय दिव्य नेता उन्हें कहते हैं कि पुष्टान्न का स्वामी राजा तुम्हें आश्वासन देता है कि राष्ट्र में प्रभूत अन्न है। इसलिए जीवनरक्षार्थ तुम राष्ट्र छोड़कर अन्यत्र न जाओ। ईर्यः=ईर गतौ, तुम्हारा प्रेरक या शत्रु को कँपा देनेवाला राजा (**ईर गतौ कम्पने च**) (अदादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥ ५॥

अर्थ—(वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम् नमामसि) हम परस्पर मिलाते हैं, (व्रता=व्रतानि) कर्मों को (सम्) परस्पर मिलाते हैं, (आकूतीः) संकल्पों को (सम्) परस्पर मिलाते हैं। (अमी) वे तुम (ये) जो (विव्रताः स्थन) परस्पर विरुद्ध कर्मोंवाले हो (तान् वः) उन तुमको (सम् नमयामसि) हम परस्पर मिलाते हैं।

[प्रजाजन दो विचारोंवाले हैं। कई तो राष्ट्र त्याग कर चले जाने के विचारवाले हैं, कई निज राष्ट्र में ही रहने के विचारवाले हैं। इस प्रकार वे परस्पर विरुद्ध विचारों तथा कर्मोंवाले हैं। राष्ट्र के दिव्यजन उन्हें एकमत करने के लिए यत्नवान् हैं। व्रतम् कर्मनाम (निघं० २.१)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मनः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥ ६॥

अर्थ—[हे प्रजाजनो!] (मनांसि) तुम्हारे मनों को (मनसा) निज मन द्वारा (अहम्) मैं सम्राट्

(गृभ्णामि) अपने अनुकूल करता हूँ, (चित्तेभिः) निज चित्तों द्वारा (मम) मेरे (चित्तम्, अनु) चित्त के, अनुकूल हुए (एत) आया करो [मुझे मिलने के लिए]। (मम) मेरी (वशेषु) इच्छाओं में (वः) तुम्हारे (हृदयानि कृणोमि) हृदयों को मैं करता हूँ, (मम) मेरे (यातम्) चलने के (अनुवर्त्मानः) अनुवर्ती हुए (एत) आया करो।

[वशेषु=**वश कान्तौ** (अदादिः), कान्ति=कामना, इच्छा।]

सूक्त ९

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कर्शफस्य विशफस्य द्यौष्पिता पृथिवी माता। यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥

अर्थ—(कर्शफस्य[1])=करशफस्य [सायण] शफ अर्थात् खुरों द्वारा काम करनेवाले या खुररूपी "कर" अर्थात् हाथोंवाले का, (विशफस्य) तथा शफों से विहीन का (पिता द्यौः) पिता है द्युलोक, (माता) तथा माता है (पृथिवी) पृथिवी। (देवाः) द्यौः और पृथिवी आदि दिव्यतत्त्वों ने (यथा) जिस प्रकार (अभि चक्रे) हमारे संमुख यह सृष्टि पैदा की है, (तथा) उसी प्रकार (पुनः) फिर (अपकृणुत) तुम इस सृष्टि को अपकृत अर्थात् अपगत करो।

[प्राणी-सृष्टि दो प्रकार की है, खुरोंवाली तथा खुरों से रहित। दोनों प्रकार की सृष्टियाँ द्युलोक तथा पृथिवी से उत्पन्न हुई हैं। जैसे ये उत्पन्न हुई हैं वैसे फिर अपगत होकर उत्पन्न होती रहेंगी। यह उत्पत्ति तथा प्रलय का चक्र अनादिकाल से चल रहा है।]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम्।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अर्थ—(अश्रेष्माणः) न दग्ध हुए तत्त्वों ने (अधारयन्) हमारा धारण-पोषण किया हुआ है, (तथा) उस प्रकार का (तत्) वह विधान (मनुना) मनस्वी परमेश्वर ने (कृतम्) किया है। (मुष्काबर्हः) मुष्कों अर्थात् अण्डकोषों का हनन (इव गवाम्) जैसे बैलों का किया जाता है, वैसे (वध्रि) बधिया तथा (विष्कन्धम्) अवशोषण (कृणोमि) मैं कर देता हूँ [जगत् का]। **बर्ह हिंसायाम्** (भ्वादिः)।

['अश्रेष्माणः' जो प्रलय में दग्ध नहीं हुए उन्होंने ही हम सबका धारण-पोषण किया है। यह परमेश्वर ने विधान कर रखा है। परमेश्वर ही संसार का विधान करता और वह ही संसार को बधिया[2] करता अर्थात् उत्पत्ति से रहित करता और अवशोषित करता है (प्रलय में); अश्रेष्माणः[3]=अ+श्रिष (दाहे, भ्वादिः)। विष्कन्धम्=विशेषेण शोषणम्, (**स्कन्दिर् शोषणे** भ्वादिः)।]

---

१. करोति कर्माणि शफैः यः, सः कर्शफः, अश्वादिः। तथा शफैः विहीनः विशफः मनुष्यादिः।
२. प्रलयकाल में जगत् शक्तिरहित हो जाता है, यह जगत् का बधियापन है।
३. अश्रेष्माणः=दग्ध न होनेवाले तत्त्व तीन हैं, परमेश्वर, जीव और प्रकृति। प्रलयाग्नि भी इन्हें दग्ध नहीं कर सकती। इन तीनों ने जगत् का धारण-पोषण किया हुआ है। परमेश्वर तो कर्तृत्वरूप में जगत् का धारण-पोषण करता है। जीव निज कर्मों के फलस्वरूप भोगापवर्ग के लिए दृश्य जगत् की उत्पत्ति में कारण हुआ जगत् का धारण-पोषण करता है। प्रकृति तो साक्षात् रूप में दृश्य जगत् में परिणत हुई उसका धारण-पोषण कर रही है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः।

श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः॥ ३॥

अर्थ—(पिशङ्गे)=नानावर्णी (सूत्रे) प्रकृतिरूपी सूत्र में, (वेधसः) विधातृतत्त्व, (तत्) उस (खृगलम्) खर वस्तुओं का आस्रावण करनेवाले आदित्य को (आबध्नन्ति) द्युलोक में बाँधे रखते हैं, उसे जोकि (श्रवस्युम्) विश्रुत हैं, (शुष्मम्) बलशाली है, (काबवम्) रूपवान् है, उसे विधातृतत्त्व (वध्रिम्) बधिया सदृश (कृण्वन्तु) करें, (बन्धुरः) जैसेकि बन्धुत्व सम्पन्न परमेश्वर, प्रलय में इसे बधिया कर देता है। "कृण्वन्तु" गर्मी के कारण व्याकुल हो जाने से यह याचना हुई है।

[प्रकृति नाना वर्णोंवाली है, लोहित, शुक्ल तथा कृष्णा है। यथा "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**" (श्वेता० उप० ४.५)। इस प्रकृतिरूपी सूत्र में आदित्य आदि पिरोए हुए हैं, जैसेकि सूत्र में मणियाँ पिरोहित होती हैं। अथर्ववेद में प्रकृति को सूत्र और परमेश्वर को "**सूत्रस्य सूत्रम्**" कहा है (१०.८.३७, ३८)। **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९)। अथवा शुष्मम्=सुखा देनेवाला, **शुष शोषणे** (दिवादिः), आदित्य की गर्मी सुखा देती है। काबवम्=रूपवान्, **कबृ वर्णे** (भ्वादिः), काबवम्=कबृ+अण्+वः (मत्वर्थीयः) खृगलम्[१]=खर वस्तु है बर्फ आदि, **गल स्रवणे** (चुरादिः), स्रवणम्=द्रवीभूत होना, बहना, गला देना।]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृद् बृहती** ॥

येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया।

शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च॥ ४॥

अर्थ—[हे प्रजाजनो!] (श्रवस्यवः) यश चाहने की इच्छावाले तुम (येन) जिस विधि से (चरथ) विचरते हो, (इव) जैसेकि (असुरमायया) आसुरी-माया से प्रेरित हुए (देवाः) देवकोटि के सज्जन विचरते हैं, (च) और (काबवस्य) रूप के (बन्धुराः) बन्धु हुए तुम विचरते हो [वे तुम दूषित हो] (इव) जैसेकि (शुनाम्) कुत्तों में से (कपिः) बन्दर (दूषणः) दूषित होता है।

[जैसे सर्वसाधारणजन यश की इच्छा से विचरते हैं, वैसे देवकोटि के सज्जन भी यदि आसुरीमाया से प्रेरित हुए विचरते हैं तो वे दूषित हो जाते हैं, क्योंकि वे रूप के बन्धु होते हैं। कुत्ते कामवासना वाले होते हैं, परन्तु बन्दर उनकी अपेक्षया भी अधिक कामवासना वाला होता है, अतः वह दूषित है। बन्धुरा में विसर्गलोप छान्दस है। दूषणः कर्तरि ल्युट् (सायण)। देवकोटि के सज्जन भी आसुरीमाया के वशीभूत होकर कुपथ में प्रवृत्त हो जाते हैं, जैसेकि कवि ने कहा है कि—"**अपथे पदमर्पयन्ति हि गुणवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः**"।]

---

१. खृगल है आदित्य। यह खर अर्थात् कठोर वस्तुओं को गला देता है, स्रवित अर्थात् द्रवीभूत कर देता है। पृथिवी के पेट में खर-पदार्थ पिघली-अवस्था में है, जोकि पृथिवी के उद्गाररूप में पृथिवीतल पर प्रकट होते रहते हैं, और जो ज्वालामुखी पर्वतों द्वारा उत्क्षिप्त होते रहते हैं। पृथिवी के पेट में गर्मी आदित्य की है। पृथिवी आग्नेय-आदित्य से ही प्रकट हुई है। अतः आदित्य को 'खृगल' कहा है। खृगल है खरगल, खर वस्तुओं को गला देनेवाला, स्रवित अर्थात् द्रवीभूत कर देनेवाला। पृथिवी पर के पर्वत उत्क्षेपरूप ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

दुष्ट्यै हि त्वां भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम्। उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ॥ ५॥

अर्थ—[हे प्रजाजन!] (दुष्ट्यै) तेरी दूषित वृत्ति के निवारण के लिए (त्वा) तुझे (भत्स्यामि) मैं कल्याणमार्गी बनाऊँगा, (काबवम्) रूपादि विषयोंवाले तुझको (दूषयिष्यामि) मैं विकृत कर दूँगा [पूर्वावस्था से विभिन्न अवस्था-वाला कर दूँगा]। (उदाशवः) उन्नति के मार्ग पर शीघ्र चलनेवाले (रथाः इव) रथों के सदृश, (शपथेभिः) मेरे शपथों के कारण, (सरिष्यथ) तुम शीघ्रता से चल सकोगे।

[दुष्ट्यै=तुमर्थे चतुर्थी। भत्स्यामि=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)। "शपथेभिः" द्वारा वक्ता ने निज दृढ़ संकल्प सूचित किया है, जिस द्वारा व्यक्ति शीघ्र कल्याणमार्ग में चल सकेगा। शपथेभिः=शपथों में दृढ़संकल्प होते हैं। यथा "**अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि**" (निरुक्त ७.१.३); तथा (अथर्व० ८.४.१५)।]

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम्॥ ६॥

अर्थ—(एकशतम्) एक सौ एक (विष्कन्धानि) शोषण (पृथिवीमनु) पृथिवी में (विष्ठिता) विविधरूप में स्थित हैं। (तेषाम्) उनके निवारण के लिए, (मणिम्[१]) तुझ पुरुष-रत्न को [देवों ने] (अग्रे) पहिले (उज्जहरुः) चुना है, (विष्कन्धदूषणम्) शोषकों के विनाशकरूप में।

[विष्ठिता=विष्ठितानि। विष्कन्ध हैं रोग, जोकि शरीर और शारीरिक शक्तियों का शोषण कर देते हैं, "**स्कन्दिर् गतिशोषणयोः**" (भ्वादिः)। ये रोग १०१ हैं। मनुष्य का जीवन है शतायुः और एक वर्ष वह मातृयोनि में निवास करता है। जीवनवर्षों की संख्यानुसार शोषक रोगों को १०१ कहा है। उज्जहरुः= उत्+**हृञ् हरणे** (भ्वादिः), ऊपर की ओर हरण करना, ऊँचा करना, चुनना।]

सूक्त १०

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अष्टका॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ १॥

अर्थ—(प्रथमा) सृष्टि के प्रारम्भ में पहली उषा ने (व्युवास) तमस् अर्थात् अन्धकार को स्थानच्युत कर दिया, [विवासित कर दिया], (सा) वह उषा (यमे) दिन-रात के जोड़े में (धेनुः अभवत्) खाद्य-अन्न प्रदान करनेवाली हो गई। (सा) वह (नः) हमारे लिए (पयस्वती) दुग्धवाली हो गई, वह (उत्तराम्, उत्तराम्, समाम्) उत्तरोत्तर वर्षों में (दुहाम्) दुग्ध आदि दोहन करे, प्रदान करे। समा=चान्द्रवर्ष (स+[चन्द्र]+मा), संवत्सर है सौरवर्ष।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—अष्टका॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ २॥

---

१. मणि=रत्न। (आप्टे)। रत्न="**जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते**" (मल्लिनाथ)। मनुष्यों में उत्कृष्ट मनुष्य को भी मणि और रत्न कह सकते हैं, यथा चन्द्रमणि आदि।

अर्थ—(उपायतीम्) समीप आती हुई (याम्) जिस (धेनुम्, रात्रिम्) धेनुरूपी रात्री को [प्राप्त कर] (देवाः) दिव्य शक्तियाँ (प्रतिनन्दन्ति) समृद्ध होती हैं, तथा (या) जो रात्री (संवत्सरस्य पत्नी) संवत्सर की पत्नी है, (सा) वह (नः) हमें (सुमङ्गली अस्तु) उत्तम-मङ्गलकारिणी हो।

[संवत्सर है सौर वर्ष। मन्त्र में समाम् द्वारा चान्द्रवर्ष का कथन हुआ है। सौर वर्ष का प्रारम्भ रात्री द्वारा कहा है। दिन, रात्री के १२ बजे की समाप्ति पर, आनेवाली रात्री के १२ बजे तक होता है। इस आनेवाली रात्री के पश्चात् दिन का प्रारम्भ होता है जोकि नववर्ष को प्रारम्भ करता है। इस नववर्ष के आते भूमण्डल की दिव्य शक्तियाँ समृद्ध होने लगती हैं। यह रात्री नववर्ष की पत्नी होती है, नववर्ष की दिव्य शक्तियों की उत्पादिका होती है। नन्दन्ति=टुनदि समृद्धौ (भ्वादिः)। इस प्रथमा रात्री को संवत्सर की पत्नी कहा है। इस प्रथमा रात्री से संवत्सर प्रारम्भ होता है, सम्भवतः यह अभिप्राय है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ३॥

अर्थ—(रात्रि) हे रात्रि! (याम् त्वा) जिस तुझको (संवत्सरस्य) सौरवर्ष की (प्रतिमाम्) प्रतिकृति रूप में, या निर्मात्रीरूप में (उपास्महे) हम उपासित[१] करते हैं, (सा) वह तू (नः प्रजाम्) हमारी पुत्र=पौत्र आदि सन्तान को (आयुष्मतीम्) प्रशंसित आयुवाली (रायस्पोषेण) तथा सम्पत्ति की पुष्टि के (सं सृज) साथ सम्बद्ध कर।

[रात्री सौरवर्ष की पत्नी है, निर्मात्री है (देखो मन्त्र २ की व्याख्या। आयुष्मतीम्=प्रशंसार्थे मतुप्। उपास्महे=आसना परमेश्वर की की जाती है, ध्यान में उसके समीप बैठा जाता है। उप (समीप)+आस (उपवेशने) बैठना। मन्त्र में रात्रि के समीपस्थ होने का निर्देश हुआ है, जोकि नववर्ष की पहली रात्री है। इस रात्री में प्रसन्नता प्रकट करना इसकी उपासना है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।

महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री॥ ४॥

अर्थ—(इयम् एव सा) यह ही वह (प्रथमा) पहली उषा है (या) जिससे कि (इतरासु प्रविष्टा) अन्य उषाओं में प्रविष्ट होकर (व्यौच्छत्) तमस् का निरसन किया है, (आसु चरति) और उनमें विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इस पहली उषा के भीतर (महान्तः महिमानः) अपरिमित महिमाएँ हैं, (जिगाय) अतः यह विजेत्री हुई है, जैसेकि (नवगत् वधूः) पतिगृह में नई-नई गई वधू, (जनित्री) सन्तानोत्पादिका बनकर, विजयवाली हो जाती है।

[सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट हुई पहली उषा ही मानो तदनन्तर प्रकट हुई उषाओं में प्रकट हो रही है। इन सब उषाओं के स्वरूपों में साम्य है। अतः इन उषाओं में प्रथमोत्पन्न उषा का प्रकट होना कहा है। नववधू सन्तानोत्पादन कर, पतिगृहवासियों को प्रसन्न कर, उनके मनों पर विजय पा लेती है, क्योंकि यह वंशपरम्परा को जारी रखने में सहायिका हुई है।]

१. अथवा रात्रीमुपाश्रित्य परमात्मानमुपास्य है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।

एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ५ ॥

अर्थ—(परिवत्सरीणम्) संवत्सर भर पैदा किये जानेवाले (हविः कृण्वन्तः) खाद्यान्न के उत्पादक, तथा (वानस्पत्याः) वनों के अधिपतियों अर्थात् महाकाय वृक्षों के उत्पादक (ग्रावाणः) मेघों ने (घोषम्) गर्जना (अक्रत) की है। (एकाष्टके) हे माघकृष्णाष्टमी! (सुप्रजसः) उत्तम सन्तानोंवाले, तथा (सुवीराः) उत्तम वीर (वयम्) हम, (रयीणाम्) सम्पत्तियों के (पतयः स्याम) स्वामी हों।

[हविः=**हु दानादनयोः** (जुहोत्यादिः), अदन अर्थ अभिप्रेत है, अर्थात् अदनीय अन्न। ग्रावाणः=**ग्रावा मेघनाम** (निघं० १.१०)। मेघ की वर्षा द्वारा वनस्पतियाँ तथा अदनीय अन्न पैदा होते हैं। माघकृष्णाष्टमी से इसकी पत्नी और पति संवत्सर का प्रारम्भ होता है [मन्त्र २, ८]। एकाष्टका=माघकृष्णाष्टमी (मन्त्र १२, सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु॥ ६ ॥

अर्थ—(इडायाः[1]) स्तुत्या [एकाष्टका की] (पदम्[2]) गति (घृतवत्[3] सरीसृपम्[4]) पिघले घृत के सदृश अति सर्पणवाली है, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ परमेश्वर! तू (हव्या=हवींषि) हमारी प्रदत्त हवियों को (प्रतिगृभाय) ग्रहण कर। (ये) जो (विश्वरूपाः) नानारूपाकृतियोंवाले (ग्राम्याः पशवः) ग्राम के पशु हैं, (तेषाम्, सप्तानाम्) उन सात का (रन्तिः) रमण (मयि अस्तु) मुझमें हो [यह प्रार्थना की गई है।]

[प्रकरण के अनुसार इडा का अर्थ एकाष्टका प्रतीत होता है (मन्त्र ५)। एकाष्टका की गति अति-सर्पणशील है। परमेश्वर के प्रति प्रकृतिजन्य हवियों को समर्पित कर, उसे ग्रहण करने की प्रार्थना की है। ग्राम के सात पशु हैं गौ, अश्व, अजा, अवि, पुरुष, गर्दभ और उष्ट्र (सायण)। फलरूप में इनका रमण चाहा है। एकाष्टका है माघकृष्णाष्टमी (सायण), (अथर्व० १०.५.१)।]

---

१. इडा=**ईड स्तुतौ,** दीर्घ ईकार का ह्रस्वत्व छान्दस है।
२. पदम्=**पद गतौ** अर्थात् गति, विचलन।
३. घृतवत्=**घृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)।
४. सरीसृपम्=उदकवत् अति सर्पणशील; यङ्लुगन्तरूप।
ज्योतिष सिद्धान्तानुसार भूमध्य रेखा तथा क्रान्तिवृत्त के मेल अर्थात् परस्पर कटाव के बिन्दुओं का जब संक्रमण होता है तो यह संक्रमण शनैः शनैः इन बिन्दुओं पर पूर्वापेक्षया कुछ शीघ्र पहुँच जाता है। इसे "Procession of equinoxes" कहते हैं। equinoxes का अर्थ है "दिन और रात का बराबर हो जाना।" यह बराबर होना राशिचक्र में पश्चिम से पूर्व की ओर होता रहता है। राशियों का क्रम है, मेष, वृष, मिथुन आदि, और इनका विपरीत क्रम है, मीन, कुम्भ, मकर आदि। Equinoxes की गति इस विपरीत क्रम में होती रहती है। इस गति का प्रभाव एकाष्टका पर भी होता है। इसे "सरीसृपम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। एकाष्टका=माघकृष्णाष्टमी (सायण)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**षट्पदा विराड्गर्भातिजगती** ॥

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम।

पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत। सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर॥ ७॥

अर्थ—(रात्रि) हे रात्रि! (मा) मुझे (पुष्टे च पोषे च) पुष्ट पदार्थों में, और [उन द्वारा प्राप्त] पुष्टि में (आ) आस्थापित कर, ताकि (देवानाम्) दिव्य व्यक्तियों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों। (दर्वे) हे दारु द्वारा निर्मित कड़छी! (पूर्णा) पूर्ण हुई तू (परा पत) अग्नि की ओर जा गिर, तदनन्तर (सुपूर्णा) और अभिमत फलों से पूर्ण हुई, भरी हुई (पुनः) फिर (आ पत) हमारी ओर आ गिर। (सर्वान् यज्ञान्) सब यज्ञों को (संभुञ्जती) सम्यक् सफल करती हुई (नः) हमारे लिए (इषम्) अभीष्ट अन्न, (च) और (ऊर्जम्) बल और प्राण (आ भर=आ हर) ला।

[रात्री है संवत्सर की प्रथमा रात्री, जिस रात्री से संवत्सर का प्रारम्भ होता है। उस रात्री में सांवत्सरिक यज्ञ करना चाहिए (मन्त्र ५)। इस यज्ञ में यज्ञकर्त्ताओं को दिव्य व्यक्तियों की सुमति के अनुसार जीवनचर्या करनी चाहिए। घृत तथा हवियों को यज्ञाग्नि में डालने के लिए दारुनिर्मित कड़छी चाहिए, ताकि आहुतियाँ प्रभूतमात्रा में दी जा सकें, कड़छी को पूर्ण भरकर आहुतियाँ दी जा सकें, उसका फल भी प्रभूत होगा। सब यज्ञों के पूर्णतया परिपालित होने पर हमें अभीष्ट अन्न और उस द्वारा बल और प्राणशक्ति प्राप्त होगी। **ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)। भुञ्जती=**भुज पालने** (रुधादिः), भोजन से पालन होता ही है। यज्ञों और यज्ञियाग्नियों को समुचित भोजन मिलने पर ये भी परिपालित होंगे।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ८॥

अर्थ—(एकाष्टके) हे एकाष्टका की रात्री! (अयम्) यह (तव पतिः) तेरा पति (संवत्सरः) सौर वर्ष (आ अगन्) आ गया है। (सा) वह तू (नः प्रजाम्) हमारी प्रजा को (आयुष्मतीम्) दीर्घायु कर और (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि के साथ (संसृज) उसका संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध कर।

[मन्त्र (२) में रात्री को संवत्सर की पत्नी कहा है, अतः संवत्सर है उसका पति। व्याख्या के लिए देखो मन्त्र (२)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतून्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे॥ ९॥

अर्थ—(ऋतून् यजे) मैं ऋतुयज्ञ करता हूँ, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के पतियों को, (आर्तवान्) ऋतुओं के समूहों या अवयवों को, (उत) तथा (हायनान्=सायनान्) अयनोंवाले आयनवर्षों को, (समाः) चान्द्रवर्षों को, (संवत्सरान्) सौरवर्षों को, (मासान्) मासों का [लक्ष्य कर] यज्ञ करता हूँ। (भूतस्य पतये) और भौतिक जगत् के पति अर्थात् परमेश्वर का (यजे) मैं यजन करता हूँ।

[संवत्सर की पहली रात्री से प्रारम्भ कर प्रत्येक ऋतु तथा मास में यज्ञ करने का विधान हुआ है। ये यज्ञ भौतिक जगत् के पति परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए हैं। दो अयनों के मेल से हायन होता है। दो अयन हैं उत्तरायण तथा दक्षिणायन। हायन है सायन, यथा सिन्धु है हिन्दु। सकार को हकार प्रायः हो जाता है। ऋतुपति हैं अग्नि, वायु, विद्युत्, मेघ, आदित्य आदि।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः। धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे॥ १०॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (ऋतुभ्यः) ऋतुओं [की पुष्टि के] लिए, (आर्तवेभ्यः) ऋतुओं के समूह या अवयवों [की पुष्टि] के लिए, (माद्भ्यः) मासों [की पुष्टि के] लिए, (संवत्सरेभ्यः) संवत्सरों [की पुष्टि] के लिए, (धात्रे) तथा धारणपोषण करनेवाले के लिए, (विधात्रे) जगत् का विधिविधान करनेवाले के लिए, (समृधे) सबकी समृद्धि के लिए, (भूतस्य पतये) भूत-भौतिक जगत् के स्वामी परमेश्वर [की प्रसन्नता] के लिए (यजे) में यज्ञ करता हूँ।

[त्वा=तुझे लक्ष्य करके, अर्थात् संवत्सर की रात्री को लक्ष्य करके, अर्थात् संवत्सर की पहली रात्री से मैं यज्ञ प्रारम्भ करता हूँ।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे। गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः॥ ११॥

अर्थ—(घृतवता इडया) घृतसम्पृक्त अन्न द्वारा (वयम्) हम (जुह्वतः) आहुतियाँ देते हुए (देवान्) अग्नि आदि देवों का [यजन करते हैं], (यजे) मैं प्रत्येक गृहस्थी भी यज्ञ करता हूँ। (अलुभ्यतः वयम्) निर्लोभी हुए हम (गोमतः) गौओंवाले (गृहान्) घरों में (उप) उपस्थित हुए (सं विशेम) मिलकर प्रवेश करें।

[नवनिर्मित गृहों में प्रवेश करने का कथन हुआ है। प्रवेश के लिए सबको अर्थात् प्रत्येक को गृहप्रवेश संस्कार करना चाहिए। गृहों में गोसम्पत्ति होनी चाहिए। गृहस्थियों को निर्लोभी होना चाहिए, ताकि भिक्षुकों और अतिथियों का वे सत्कार कर सकें। इडा=अन्न (निघं० २.७)। अन्नाहुतियाँ घृतसम्पृक्त होनी चाहिएँ। सम्भवतः मन्त्र में नवसस्येष्टि का भी विधान हुआ है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्यषहन्त शत्रून्हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः॥ १२॥

अर्थ—(एकाष्टका) एकाष्टका ने, (तपसा तप्यमाना) अर्थात् तप द्वारा प्रतप्त हुई ने, (गर्भम् जजान) गर्भ को जन्म दिया, (महिमानम् इन्द्रम्) अर्थात् महिमासम्पन्न आदित्य को। (तेन) उस आदित्य द्वारा (देवाः) दिव्यतत्त्वों ने (शत्रून् व्यषहन्त=व्यसहन्त) शत्रुओं का विशेषतया पराभव किया, अतः (शचीपतिः) शक्तियों का अधिपति आदित्य (दस्यूनाम् हन्ता अभवत्) उपक्षयकारियों का हनन करने वाला हुआ।

[एकाष्टका है माघकृष्णाष्टमी (सायण, मन्त्र १२)। पौषमास तक आदित्य दक्षिण तक जाता रहता है। माघमास से आदित्य की गति उत्तरायण की ओर हो जाती है, और क्रमशः उत्तरोत्तर गति करता हुआ अधिकाधिक गर्म होता जाता है। यह स्थिति है एकाष्टका की गर्मी को गर्भरूप में धारण करने की। तदनन्तर गर्मी के अधिक बढ़ जाने पर आदित्य को एकाष्टका जन्म देती है। एकाष्टका के "तपसा तप्यमाना जजान" का यह अभिप्राय प्रतीत होता है। इन्द्र है परमैश्वर्यवान् आदित्य। आदित्य का पूर्णरूप में प्रतप्त हो जाना उसका परम ऐश्वर्य है। ऐसे आदित्य की सहायता द्वारा दिव्य शक्तियाँ अन्धकार तथा शैत्यरूपी शत्रुओं का पराभव करती हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः॥ १३॥

अर्थ—हे एकाष्टका! तू (इन्द्रपुत्रे) इन्द्रपुत्रवाली है, (सोमपुत्रे) सोमपुत्रवाली है, (प्रजापतेः) प्रजापति परमेश्वर की (दुहिता असि) तू दुहिता है। (अस्माकम्, कामान्) हमारी कामनाओं को (पूरय) पूरी कर, सफल कर। (नः) हमारी (हविः) हवि को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर।

[एकाष्टका अर्थात् माघ कृष्णाष्टमी के दो पुत्र हैं इन्द्र अर्थात् आदित्य और सोम अर्थात् चन्द्रमा। आदित्य तो दिन में और चन्द्रमा रात्री में प्रकाश देकर हमारी कामनाओं को पूर्ण करता है, दिन और रात्री में की गई कामनाओं को ये दोनों पूर्ण करते हैं, सफल करते हैं। एकाष्टका प्रजाओं-के-पति परमेश्वर की दुहिता है, परमेश्वर की कामनाओं का दोहन करती है "**दुहिता दोग्धेर्वा**" (निरुक्त ३.१.३) परमेश्वर की कामना है प्राणियों को सृष्ट्युत्पादन द्वारा भोगापवर्ग का प्रदान। परमेश्वर की इस कामना द्वारा हम प्राणियों की कामनाएँ पूर्ण हो रही हैं, सफल हो रही हैं। हविः है माघकृष्णाष्टमी पर किये गये यज्ञ की हविः।]

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त ११

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ १॥

अर्थ—[हे रुग्ण!] (त्वा) तुझे, (कम् जीवनाय)[१] सुखी जीवन के लिए, (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकटित लक्षणोंवाले यक्ष्म रोग से, (उत) तथा (राजयक्ष्मात्) मुख्य यक्ष्म रोग से, (हविषा) यज्ञियाग्नि में हविः द्वारा, (मुञ्चामि) मैं मुक्त करता हूँ, छुड़ाता हूँ। (यदि एतत् एनम्) यदि इस यक्ष्म ने इस रुग्ण को (ग्राहिः) जकड़नेवाले रोग के रूप में (जग्राह) जकड़ा हुआ है, तो (तस्याः) उस जकड़न से (एनम्) इस रुग्ण को (इन्द्राग्नी) आदित्य और यज्ञियाग्नि (प्र मुमुक्तम्) पूर्णतया मुक्त करें।

[इन्द्र है आदित्य (अथर्व० ३.१०.१३), आदित्य की रश्मियों द्वारा यक्ष्म का निवारण। आदित्य को "सप्तरश्मि" कहा है, (अथर्व० २०.८८.४), तथा "**सप्तनामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नाम-यन्ति**" (निरुक्त ४.४.२७)। वैज्ञानिक दृष्टि में सात रश्मियाँ, यथा, Red, Yellow, Orange, Green, Blue, Indigo, Violet. इन रश्मियों द्वारा चिकित्सा करने से यक्ष्म-रोग की निवृत्ति कही है। ये सात वर्ण की पट्टियाँ वर्षाकाल में इन्द्रधनुष् में दृष्टिगोचर होती हैं। "हविषा" द्वारा यक्ष्मरोग की निवारक औषधियाँ अभिप्रेत हैं। हविः से उत्थित यज्ञधूम को श्वासों द्वारा ग्रहण करना चाहिए। इससे यज्ञधूम रक्त में मिलकर शीघ्र रोगनिवारक हो जाता है।]

---

१. कम्=सुखम्। यथा 'नाके' (निरुक्त २.४.१४)।

ऋषिः—ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च॥ देवता—इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।

तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय॥ २॥

अर्थ—(यदि क्षितायुः) यदि यह क्षीणायुः हो गया है, (यदि वा) या (परेतः) आरोग्यावस्था से परे हो गया है, (यदि मृत्योः अन्तिकम्, नीत एव) यदि मृत्यु के समीप ही प्राप्त हो गया है, तो भी (तम्) उसको (निर्ऋतेः) कृच्छ्रापत्ति की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) मैं छीन लाता हूँ, (एनम्) इसको (शतशारदाय) सौ वर्षों के जीवन के लिए (अस्पार्शम्) मैंने स्पर्श कर दिया है।

[हस्तस्पर्श द्वारा चिकित्सक रोगी में शक्तिसंचार कर उसे रोग से मुक्त कर देता है। देखो (अथर्व० २०.९६.६-१०)। निर्ऋतिः=कृच्छ्रापत्तिः (निरुक्त २.२.९)।]

ऋषिः—ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च॥ देवता—इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥ ३॥

अर्थ—(सहस्राक्षेण) हजारों रोगों का क्षय करनेवाली, (शतवीर्येण) सैकड़ों शक्तियोंवाली, (शतायुषा) सौ वर्षों की आयु करनेवाली (हविषा) हविः द्वारा (एनम्) इस रुग्ण को (आहार्षम्) मैं छीन लाया हूँ। (यथा) जिस प्रकार कि (इन्द्रः) आदित्य (एनम्) इस रुग्ण को (शरदः) सौ शरद्-ऋतुओं अर्थात् वर्षों तक (नयाति) पहुँचाए, तथा (विश्वस्य) सब (दुरितस्य) बुरे परिणामों से (पारम्) पार कर (अति नयाति) ले चले, पहुँचा दे।

[इन्द्रः अर्थात् आदित्य, निज रश्मियों द्वारा, रुग्ण के रोगों का विनाश कर सौ वर्ष की आयुवाला कर देता है, और रोगनाशक हवि भी इसे शतायुः कर देती है; देखो मन्त्र १।]

ऋषिः—ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च॥ देवता—इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्॥
छन्दः—शक्वरीगर्भा जगती॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान्।

शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्॥ ४॥

अर्थ—(शतं शरदः जीव) तू हे वरुण! सौ शरद्-ऋतु जीवित हो (वर्धमानः) बढ़ता हुआ, (शतं हेमन्तान्) सौ हेमन्त ऋतु (उ) तथा (शतम् वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतु [जीवित हो]। (इन्द्रः) आदित्य, (अग्निः) यज्ञियाग्नि, (सविता) सविता, (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ते शतम्) तेरी सौ वर्षों की आयु करें, (शतायुषा हविषा) सौ वर्षों की आयु करनेवाली रोगनाशक हवि द्वारा (एनम्) इस रुग्ण को (आ हार्षम्) मैं मृत्यु से छीन लाया हूँ।

[सविता=**"तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का आकीर्णरश्मिर्भवति"** (निरुक्त १२.२.१२); सविता पद ७। इन्द्र है परमैश्वर्यसम्पन्न आदित्य, अर्थात् चमकता सूर्य और सविता उस काल का आदित्य है जबकि द्यौ में तो प्रकाश हो, परन्तु पृथिवी पर अभी अन्धकार की सत्ता बनी रहे। बृहस्पति है ग्रह। इसका भी सम्बन्ध आयु के साथ प्रतीत होता है। अथवा बृहस्पति है परमेश्वर जोकि बृहतों का पति है।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्। व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ५॥

अर्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान! (प्र विशतम्) तुम दोनों रोगी में प्रवेश करो, (इव) जैसेकि (अनड्वाहौ) शकटवाहन में समर्थ दो बैल (व्रजम्) गोशाला में प्रविष्ट होते हैं। (अन्ये) अन्य (मृत्यवः) मृत्युएँ (वि यन्तु) विगत हो जाएँ (यान् आहुः) जिन्हें कहते हैं, (इतरान् शतम्) उससे भिन्न सौ।

[भिन्न=यक्ष्म रोग से भिन्न रोग। शतम्=सौ वर्षों की आयु में व्यापी अन्य रोग।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्। शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः॥ ६॥

अर्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान! तुम (इह एव) इसके शरीर में ही (स्तम्) रहो, (इतः) इस शरीर से (युवम्) तुम दोनों (मा अप गातम्) अपगत न होओ। (अस्य) इसके (शरीरम् अङ्गानि) शरीर और अङ्गों को (पुनः) फिर (जरसे) जरावस्था के लिए (वहतम्) प्राप्त कराओ। वहतम्=**वह प्रापणे** (भ्वादिः)।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥
छन्दः—**उष्णिग्बृहतीगर्भा पथ्यापङ्क्तिः**॥

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ७॥

अर्थ—[हे व्याधिनिर्मुक्त] (त्वा) तुझे (जरायै) जरावस्था के लिए (परिददामि) रक्षार्थ में प्रदान करता हूँ, [हे व्याधि!] (त्वा) तुझे (जरायै) इसकी जरावस्था के लिए (नि धुवामि) मैं नितरां कम्पित करता हूँ। [हे व्याधिनिर्मुक्त!] (त्वा) तुझे (भद्रा) कल्याणकारिणी तथा सुखदायिनी (जरा) जरावस्था (नेष्ट) प्राप्त हुई है। (अन्ये मृत्यवः) अन्य मृत्युएँ (वि यन्तु) विगत हो जायँ, (यान्) जिन्हें (आहुः) कहते हैं (इतरान्) तद्भिन्न (शतम्) सौ।

[धुवामि=**धूञ् कम्पने** (चुरादिः)। परि ददामि=रक्षार्थं दानं परिदानम् (सायण)। भद्रा=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)। नेष्ट=णीञ् प्रापणे (भ्वादिः) छान्दसो लुङ् (सायण)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥
छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भा जगती**॥

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः॥ ८॥

अर्थ—[हे व्याधिनिर्मुक्त!] (त्वा) तुझे (जरिमा) जरा ने (अभि अहित) बाँध लिया है, (गाम् उक्षणम्) गौ और बैल को (रज्ज्वा इव) रस्सी द्वारा जैसे [बाँधा जाता है]। (जायमानं त्वा) पैदा होते हुए तुझे (यः मृत्युः) जिस मृत्यु ने (सुपाशया) उत्तम फंदे द्वारा (अभि अधत्त) बाँधा था, (ते) तेरे

(तम्) उस मृत्युपाश को (बृहस्पतिः) वेदवाक् के पति ने (सत्यस्य हस्ताभ्याम्) सच्चाई वाले दो हाथों द्वारा (उदमुञ्चत्) उन्मुक्त कर दिया है, छुड़ा दिया है।

[अभि अहित=अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते यथा "अश्वाभिधानीमा दत्ते", दधातेर्लुङ् (सायण)। सुपाशया=पाश को सुपाशा कहा है। यह उत्तम पाश है, यतः इस नाल से बँधी सन्तान पैदा होती है। यह है नाभि-नालरूपी पाश अर्थात् रस्सी। मृत्युः=प्रत्येक प्राणी के पैदा होते ही उसके साथ मृत्यु का सम्बन्ध रहता है, जो पैदा होता है उसकी मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। बृहस्पतिः=बृहती वेदवाक्, उसका पतिः, वेदज्ञ विद्वान्। हस्ताभ्याम् यथा "**हस्ताभ्यां दशशाखाभ्याम्....ताभ्यां त्वाभि मृशामसि**" (अथर्व० ४.१३.७)। अभिमर्शन=स्पर्श करना। स्पर्शकर्त्ता के दोनों हाथ सत्यकर्मा होने चाहिएँ तभी इन द्वारा स्पर्श करने से रोगी रोगोन्मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।]

सूक्त १२

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम॥ १॥

अर्थ—(इह एव) इस भूमिप्रदेश में ही (ध्रुवाम्) स्थिर (शालाम्) शाला को (निमिनोमि) मैं आधाररूप में स्थापित करता हूँ, (घृतम् उक्षमाणा) घृत का सेंचन करती हुई (क्षेमे) हमारे क्षेम या निवास के निमित्त (तिष्ठाति) यह स्थित हो। (सर्ववीराः) सब वीर सन्तानोंवाले (सुवीराः) उत्तम सन्तानोंवाले, (अरिष्टवीराः) तथा अहिंसित सन्तानोंवाले हम (शाले) हे शाला (ताम् त्वा) उस तेरे (उप) समीप (संचरेम) मिलकर विचरें।

[क्षेमे=सुरक्षा तथा प्रसन्नता के निमित्त (आप्टे) या हमारे निवास के निमित्त "**क्षि निवासे**" (तुदादिः)। घृतम्=घी (मन्त्र २) में गोमती, घृतवती, पयस्वती के अनुसार। निमिनोमि=नि+**डुमिञ् प्रक्षेपणे** (स्वादिः), नींवरूप में रोड़ी आदि का प्रक्षेपण करता हूँ, अर्थात् नींव डालता हूँ। शाला, देखो (अथर्व० ९.३.१-३१)। क्षेम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दशपाद्युणादिवृत्ति में "**क्षि निवासगत्योः**" का भी उल्लेख किया है (७.२६), इसलिए निवासार्थ भी उपपन्न है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

अर्थ—(शाले) हे शाला! (इह एव) यहाँ ही (ध्रुवा) स्थिर हुई (प्रति तिष्ठ) स्थित हो, या प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, (अश्वावती) अश्वों और अश्वाओंवाली, (गोमती) गौओंवाली, (सूनृतावती) प्रिय और सत्य वाणियों वाली, (ऊर्जस्वती) बल और प्राणदायक अन्नवाली, (घृतवती) घृतवाली (पयस्वती) दूध वाली तू (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिए (उत् श्रयस्व) ऊपर उठ।

[सूनृतावती, जिसमें निवास करनेवाले सदा सत्य और प्रिय वाणियाँ ही बोलते हैं। ऊर्जस्वती=**ऊर्ज बल-प्राणनयोः** (चुरादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः॥ ३॥

अर्थ—(शाले) हे शाला! (धरुणी असि) तू हमारा धारण करनेवाली है, (बृहत्-छन्दाः) बहुत वैदिक छन्दोंवाली, (पूतिधान्या) पवित्रान्नवाली है। (वत्सः) बछड़ा (त्वा) तुझे (आ गमेत्) प्राप्त हो, (कुमारः) कुमार पुत्र (आ) तुझे प्राप्त हो, (आस्पन्दमानाः) उछलती-कूदती हुई (धेनवः) दुग्धवती गौएँ (सायम्) सायंकाल (आ) तुझे प्राप्त हों।

[बृहत्-छन्दाः=जिस शाला में प्रभूत वैदिक स्वाध्याय होता रहे। अथवा बड़े छत्तवाली।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।

उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु॥ ४॥

अर्थ—(इमाम् शालाम्) इस शाला को (सविता) सविता, (वायुः) वायु, (इन्द्रः) प्रकाशैश्वर्यवाला आदित्य [सुरक्षित करे], (प्रजानन्) शाला-निर्माण को जाननेवाला (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाक् का पति (निमिनोतु) निर्माण करे या निर्माण करनेवाली वस्तुओं का इसमें प्रक्षेपण करे। (मरुतः) मानसून वायुएँ (उद्ना) जल द्वारा, (घृतेन) तथा घृत द्वारा (उक्षन्तु) सिञ्चन करें, (नः) हमारा (भगः) भाग्यवान् (राजा) राष्ट्रपति (कृषिम्) कृषि का (नितनोतु) नितरां विस्तार करें।

[वायु, उदित आदित्य और "सविता अर्थात् उदीयमान आदित्य"=ये हमारी रक्षा करते हैं। अग्नि आदि की व्याख्या देखो (अथर्व० ३.११.४)। घृतेन=वर्षा द्वारा चारा मिलने पर गौओं से प्राप्त घृत। अथवा "**घृ रक्षणे**" क्षरित हुए जल द्वारा।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे।

तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥ ५॥

अर्थ—(मानस्य पत्नि) हे मान की पत्नी! (शरणा) तू शरणरूपा है, आश्रय है, (स्योना) सुखकारी है, (देवी) दिव्यरूपा या "द्योतमाना" [सायण] है, (अग्रे) गृहस्थी होने से पूर्व (देवेभिः) दिव्य बृहस्पतियों द्वारा (निमिता असि) तू निर्मित होती रही है [सायण]। (त्वम् तृणम् वसाना[1]) तू तृण का वस्त्र ओढ़ती हुई, (सुमना) हमारे मनों को प्रसन्न करनेवाली (असः) हो, (अथा) तदनन्तर (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (सहवीरम्) वीर सन्तानों सहित (रयिम् दाः) सम्पत्ति प्रदान कर।

[मन्त्र में पत्नी उपमान है, और शाला उपमेय है। उपमानवाचक पद लुप्त है। पत्नीपद सूचक है पति की सत्ता का, और शालापद सूचक है शाला के स्वामी का। पत्नी की सत्ता द्वारा पति का मान बना रहता है और शाला की सत्ता द्वारा शालाधिपति का मान बना रहता है। शाला के बिना गृहस्थी की ध्रुवा स्थिति नहीं होती, वह कभी किरायादार हुआ एक शाला का आश्रय लेता है, कभी दूसरी शाला का, जैसेकि पुरुष पत्नी के बिना सहायतार्थ भटकता रहता है, और सामाजिक जीवन में उसकी स्थिति नहीं

१. **वस आच्छादने** (अदादिः)।

बन पाती। स्थिति के बनने के पश्चात् ही वह सन्तानों सहित सम्पत्तियों को प्राप्त करने का अधिकारी बन पाता है। ''तृणं वसाना'' द्वारा सर्वसुलभशाला सूचित हुई है। ''तृणं वसाना'' द्वारा झोंपड़ी प्रतीत होती है अथवा फूस की छत्त गर्मी-सर्दी से बचाती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भा जगती** ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः॥ ६॥

अर्थ—(वंश[1]) हे वंश! (ऋतेन) विधान द्वारा (स्थूणाम्) खम्भे पर अधिरोह आरोहण कर, (उग्रः) उग्र अर्थात् न टूटता-फूटता तू (विराजन्) विराजता हुआ (शत्रून्[2]) शत्रुओं को (अप वृङ्क्ष्व) हटाकर वर्जित कर। (शाले) हे विशाल कोठी! (ते) तेरे (गृहाणाम्) घरों को (उप=उपेत्य) प्राप्त कर (सत्तारः) बैठने अर्थात् रहनेवाले (मा रिषन्) दुःखी या हिंसित न हों, (सर्ववीराः) सब वीर हुए (शतं शरदः) सौ शरद्-ऋतुओं तक (जीवेम) हम जीवित हों।

[मन्त्र ५ में तो सम्भवतः झोंपड़ी का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ६ में विशाल कोठी का। तभी शाला में ''गृहाणाम्'' द्वारा नाना गृहों या कमरों का कथन हुआ है। वंश का अर्थ है बांस। प्रत्येक गृह की छत्त में सुदृढ़ बाँस को, कड़ी रूप में स्थापित करना कहा है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्** ॥

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।

एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः॥ ७॥

अर्थ—(इमाम्) इस शाला को (कुमारः) कुमार पुत्र तथा (तरुणः) युवा पुत्र (आ) प्राप्त हुए हैं, (जगता सह) गमन करनेवाली अर्थात् चलती-फिरती गौ के साथ (वत्सः) बछड़ा (आ) आया है, प्राप्त हुआ है। (इमाम्) इस शाला को (परिस्रुतः कुम्भः) परिस्रवणशील मधु तथा घृत का घड़ा (आ) प्राप्त हुआ है, और (दध्नः) दधि के (कलशैः) कलशों के साथ ये सब (आ अगुः) आ गये हैं, प्राप्त हो गये हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्।

इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ ८॥

अर्थ—(नारि) हे नारी! अर्थात् पत्नी (अमृतेन संभृताम्) अमृत से सम्यक् भरी हुई (घृतस्य धाराम्) घृत की धारा को [प्राप्त करके], (एतम्, कुम्भम्) इस कुम्भ को (पूर्णं प्रभर) पूर्णरूप में प्रकृष्टतया भर दे (इमाम्=इमान्) इन (पातॄन्) [घृत को] पीनेवालों को (अमृतेन) अमृत से (समङ्ग्धि) सम्यक्-प्रदीप्त कर दे। (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और आपूर्तकर्म (एनाम्) इस शाला की (अभि रक्षाति) सब ओर से रक्षा करें।

---

१. वंश=बांस, ''वने शेते'' इति।

२. शाला में निवास करने से अपने शरीर तथा सन्तानों और सम्पत्ति की रक्षा हो जाती है। शत्रु उसका विनाश नहीं कर पाते। अतः शाला को शत्रुओं से वर्जित करनेवाली कहा है।

[अमृतेन संभृताम्=न मरने अर्थात् दीर्घजीवन से सम्यक्-भरी हुई। घृतपान द्वारा श्रीरहित-शरीर श्रीयुक्त हो जाता है। यथा "**अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्**" (अथर्व० ४.२१.६)। यह उद्धरण गौओं के सम्बन्ध में है, गौ के दूध, घृत आदि के सम्बन्ध में है। सु प्रतीकम्[१]=सुमुखम्, शोभन-मुखम्। इमाम्=इमान्। इष्टापूर्तम्=यज्ञ तथा आपूर्त अर्थात् रतिकर्म, यथा कूपनिर्माण, तालाब निर्माण, धर्मशाला निर्माण, अनाथसेवा आदि। इन कर्मों द्वारा शाला की रक्षा होती है। समङ्ग्धि=सम्+**अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादि:)। सुप्रतीकम्=शोभनावयवम् (सायण), (अथर्व० ४.२१.६)।]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

इमा आप: प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनी:। गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ ९ ॥

अर्थ—(अयक्ष्मा:) यक्ष्मरहित, (यक्ष्मनाशनी:) और यक्ष्म के नाशक (इमा: आप:) ये जल हैं, (इमा:) इन्हें (प्र भरामि) प्रकर्षरूप में शाला में मैं लाता हूँ। (गृहान्) घरों को (उप=उपेत्य) प्राप्त कर, (अमृतेन अग्निना सह) शीघ्र न मरने देनेवाली यज्ञियाग्नि के साथ, (प्र सीदामि) मैं प्रसन्न होता हूँ, या स्थित होता हूँ। शाला के लिए देखो (अथर्व० ९.३.१-३१)।

सूक्त १३

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**सिन्धु:, आप:, वरुण:** ॥ छन्द:—**निचृदनुष्टुप्**॥

यददः संप्रयतीरहावनदता हते।

तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥ १ ॥

अर्थ—(अहौ) मेघ के (हते) हनन हो जाने पर (यत्) जो (अद:) उस प्रदेश में (सं प्रयती:) मिलकर प्रयाण करती हुई "आप:" ने (अनदत) नाद किया, (तस्मात्) उससे (आ) आभिमुख्य रूप में (नद्य: नाम स्थ) नदीनामवाली तुम हो, (व:) [हे आप:!] तुम्हारे (ता=तानि नामानि) वे नाम हैं, (सिन्धव:) अर्थात् सिन्धु।

[अहौ=मेघे, "**अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च**" (निरुक्त २.५.१६), तथा "**अहि: अयनात् एति अन्तरिक्षे**" (निरुक्त २.५.१७)। मन्त्र में दो नामों के निर्वचन दिए हैं, नद्य: का निर्वचन नदन द्वारा और सिन्धव: का निर्वचन स्यन्दन द्वारा।]

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**सिन्धु:, आप:, वरुण:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।

तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन॥ २ ॥

अर्थ—(यत्) जो (वरुणेन) वरुण देवता या आकाश का आवरण करनेवाले मेघ द्वारा (प्रेषिता:) प्रेरित हुए या भेजे गये हे आप:! (शीभम्) शीघ्र (समवल्गत) मिलकर तुम गति करते हो, (तत्) तो (व:) तुम्हें (यती:) चलती हुई को (इन्द्र:) आदित्य (आप्नोत्) प्राप्त करता है, (तस्मात्) उस कारण से (आप:) हे जलो! (अनु) तत्पश्चात् (आप: स्तन) "आप:" तुम हो।

[वरुण है अपांपति: (अथर्व० ५.२४.४) अथवा "वरुण:" आकाश का आवरण करनेवाला मेघ

---

१. प्रतीकम्=Face (आप्टे)।

शीभम् क्षिप्रनाम (निघं० २.१५)। अवल्गत=**वल्गु गत्यर्थः** (भ्वादि)। वर्षा के पश्चात् आपः जब मिलकर गति करते हैं, प्रवाहित होते हैं, तदनन्तर आदित्य निज रश्मियों द्वारा इन्हें प्राप्त करता है, मेघरूप में परिणत करता है। "आपन" क्रिया के कारण "आपः" नाम हुआ है। मन्त्र में "आपः" का निर्वचन हुआ है।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।

इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम्॥ ३॥

अर्थ—(अपकामम्) बिना कामना (स्यन्दमानाः) प्रवाहित होती हुई (वः) तुम्हें (हि) यतः (इन्द्रः) आदित्य ने (अवीवरत) "वर" बनकर वरण कर लिया (शक्तिभिः) निज शक्तियों द्वारा। (देवीः) हे आपः देवियो! (तस्मात्) उस वरण के कारण (वः) तुम्हारा (नाम) नाम (वाः) वा अर्थात् वारि [जल] (हितम्) रखा गया है, अथवा हितकर हुआ है।

[अभिप्राय यह कि "आपः" हैं तो देवीः, अर्थात् दिव्य गुणोंवाली, परन्तु बिना कामना के इधर-उधर चलती-फिरती रहती हैं। इनके दिव्यगुणों को देखकर, इन्द्र अर्थात् आदित्य ने निज पत्नीरूप में इनका वरण कर लिया है, और आदित्य की शक्तियों द्वारा प्रभावित होकर "आपः" ने पत्नी बनना स्वीकार कर लिया है। इसलिए आपः का नाम "वाः" हुआ है, आदित्य द्वारा वरण कर लेने के कारण। वाः=वृञ् वरणे। प्ररोचनार्थ कथा द्वारा वर-वधू के परस्पर चुनाव का वर्णन हुआ है। "अवीवरत तथा वाः" दोनों में वृञ् वरणे का प्रयोग हुआ है। **हि=हेत्वपदेशे** (निरुक्त १.२.५)। **कम्=पदपूरणार्थः** (निरुक्त १.३.९)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एको वो देवोप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथावशम्।

उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥ ४॥

अर्थ—(यथावशम्) यथेच्छापूर्वक (स्यन्दमानाः) स्रवण करते हुए (वः) तुम पर [हे आपः] हे जलो! (एकः देवः) एक देव आदित्य (अपि अतिष्ठत्) अधिष्ठित हुआ है, अतः (महीः) महती तुम (उदानिषुः इति) ऊपर आकाश की ओर उत्प्राणित हुई हो, (तस्मात्) उससे (उदकम् उच्यते) तुम्हें उदक कहा जाता है।

["उदानिषुः" द्वारा उदक का निर्वाचन अभिप्रेत है। उदानिषुः=उद्+आ+अन् (प्राणने)। लुङि रूपम्।]

विशेष वक्तव्य (अथवा)—आपः और उदकम् एक ही तत्त्व है। उदानिषुः (मन्त्र ४) द्वारा आपः को ऊर्ध्व की ओर प्राणित अर्थात् उच्छ्वसित कहा है। (उद्+आ+अन् प्राणने), उदकम् का भी अभिप्राय है ऊर्ध्व की ओर गतिवाला (उद्+अकम् **अकि गतौ**) सम्भवतः इन दोनों पदों में, जोकि समानाभिप्रायक हैं, अभेद मानकर कहा है "उदानिषुः महीरिति तस्मादुदकमुच्यते, उच्यते=निरुच्यते।

दशपाद्युणादिवृत्ति में उदकम् का निर्वचन हुआ है "उद्+अञ्चु" (गतौ)। "उदानिषुः और उदकम्" में "उद्" समान है; "अन् और अञ्च्" परस्पर में विकृत स्वरूप प्रतीत होते हैं। अञ्च् का चकार

उदकम् के ककार में परिणत हुआ है। चकार और ककार परस्पर परिवर्तित हो जाते हैं, यथा "चक्रे, चक्रिरे" में, "ककार" परिवर्तित हुआ है चकार में। "उदानिषुः" द्वारा "उदकम्" का निर्वचन सन्तोषप्रद[1] नहीं। सायण ने कहा है कि "उत्पूर्वाद् अनितेरौणादिकः कप्रत्ययो नकारलोपश्च"।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः।

तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥ ५॥

अर्थ—(आपः) जल (भद्राः) कल्याणकारी तथा सुखदायी हैं, (आपः) जल (घृतम् इत् आसन्) घृत ही हैं। (आपः) जल (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम रूप (आसन्) थे, (ताः आपः इत्) वे आपः ही (बिभ्रति) इन दो अग्नि और सोम का धारण करते हैं। (मधुपृचाम्) मधुसम्पृक्त आपः का (तीव्रः रसः) तीव्र रस (अरंगमः) पर्याप्तरूप में प्राप्त होता हुआ, (प्राणेन वर्चसा सह) प्राण और वर्चस् के साथ (मा) मुझे (आ गमेत्) प्राप्त हो।

[आपः घृतम्=गौएँ जल पीती हैं तो उनका दूध भी आपः प्रधान होता है, जिसमें कि घृत प्रच्छन्नरूप में विद्यमान होता है—सम्भवतः यह अभिप्राय हो। अग्नीषोमौ बिभ्रति=आपः में अग्नि और सोम हैं। मेघों में विद्युत् चमकती है, जोकि अग्निरूप है, इसके प्रपात से वृक्ष आदि भस्मीभूत हो जाते हैं। परन्तु मेघ जब बरसता है तो उसका वर्षा-जल शीत होता है, सौम्यरूप होता है, यह आपः में सोम की सत्ता है। मधुपृचाम्=मधुरदुग्ध से सम्पृक्त गौओं का तीव्ररस है दुग्ध। इसके पर्याप्त पान करने से प्राणशक्ति बढ़ती और वर्चस् अर्थात् मुख और शरीर में दीप्ति प्राप्त होती है। यथा "**यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्**" (अथर्व० ४.२१.६)। "आपः घृतम्" में, कारण में कार्य का उपचार है। आपः है कारण और घृतम् है कार्य।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत् अनुष्टुप्** ॥

आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ्मासाम्।

मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः॥ ६॥

अर्थ—(आत् इत्) तदनन्तर (पश्यामि) मैं देखता हूँ, (उत वा) तथा (शृणोमि) सुनता हूँ, (मा) मुझे (घोषः) शब्द (आ गच्छति) प्राप्त होता है, (मा वाक्) तथा मुझे वाणी (आ गच्छति) प्राप्त होती है (आसाम्) इन आपः के [रसागमन से, मन्त्र ५]। (तर्हि) तब (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) सेवन करता हुआ (मन्ये) मैं अपने को मानता हूँ, (यदा) जबकि (हिरण्यवर्णाः) हितरमणीयवर्ण वाले हे आपः! (वः) तुम्हारे सेवन से (अतृपम्) मैं तृप्त हो जाता हूँ।

[आत् इस=मन्त्र ५ के अनुसार "तीव्र रस" के सेवन के पश्चात् श्रवण आदि में शक्ति संचार हो जाने पर। भेजानः=**भज सेवायाम्** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः। इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः॥ ७॥

---

१. उदकम् का निर्वचन उद्+अकि गतौ ठीक प्रतीत होता है। उद् अर्थात् ऊर्ध्वलोक अन्तरिक्ष की ओर आपः का गमन होता रहता है; कुछ तो वाष्पीभवन द्वारा, तथा आदित्य की रश्मियों द्वारा भी मेघ तथा कोहरे के रूप में।

अर्थ—(आपः) हे आपः! (इदम्) उदक (वः) तुम्हारा (हृदयम्) हृदय[1] है, (अयम् वत्सः) [उदक] यह तुम्हारा वत्स है (ऋतावरीः) हे उदकवाली नदियो! (इह) इस स्थान में (शक्वरीः) हे शक्तिशाली आपः! (इत्थम्) इस प्रकार तुम (एत) आओ, (यत्र) जिस स्थान में (वः) तुम्हारे (इदम्) उदक को (वेशयामि) मैं प्रविष्ट करता हूँ।

[**''इदम् उदकनाम''** (निघं० १.१२)। यह उदक **''ऋतावरीः''** ऋत अर्थात् जलवाली नदियों का हृदयरूप है। हृदय में रक्तरूपी उदक होता है, तुम में भी ऋत अर्थात् उदक विद्यमान है, **''ऋतम् उदकनाम''** (निघं० १.१२) इस उदक के कारण नदियों को ऋतावरीः कहा है। **''ऋतावर्यः नदीनाम''** (निघं० १.१३)। उदक नदियों से उत्पन्न होते हैं, अतः उदक नदियों के वत्स हैं। आपः हैं शक्वरीः, शक्तिशाली। इन द्वारा कृषि होती है तथा अन्य कार्य भी सम्पन्न होते हैं। वेशयामि द्वारा कुल्या का वर्णन हुआ है। कुल्या[2] है धारा, नहर।]

सूक्त १४

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि॥ १॥

अर्थ—[हे गौओ!] (वः) तुम्हारा (सुषदा गोष्ठेन) सुखपूर्वक बैठनेवाली गोशाला के साथ, (सम् सृजामसि) संसर्ग हम करते हैं, (रय्या सम्) आहार आदिरूप धन के साथ संसर्ग करते हैं, (सुभूत्या सम्) समृद्धि के साथ संसर्ग करते हैं। (अहर्जातस्य) प्रतिदिन पैदा अर्थात् प्रकट हुए सूर्यसम्बन्धी (यत्) जो (नाम) उदक है, (तेन) उसके साथ (वः) तुम्हारा (सं सृजामसि) हम संसर्ग करते हैं।

[**''नाम उदकनाम''** (निघं० १.१२)। अभिप्राय यह कि प्रतिदिन ताजे उदक के साथ तुम्हारा संसर्ग करते हैं, तुम्हारे पीने के लिए। यथा **''शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः''** (अथर्व० ४.२१.७)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद्वसु॥ २॥

अर्थ—[हे गौओ!] (वः) तुम्हारा (सं सृजतु) संसर्ग करे [शुद्ध उदक आदि के साथ, मन्त्र १] (अर्यमा) राष्ट्र का न्यायाधीश (सम्) तुम्हारा संसर्ग करे (पूषा) राष्ट्र के पोषण का अधिकारी, (सम्) तुम्हारा संसर्ग करे (बृहस्पतिः) बृहती-वेदवाणी का अर्थात् धर्म शिक्षा का अधिकारी। (यः) जो (धनंजयः) धनाधिपति (इन्द्रः) सम्राट् है वह (सम्) तुम्हारा संसर्ग करे [शुद्ध उदक आदि के साथ, मन्त्र १], (मयि) ताकि मुझ [प्रत्येक राष्ट्रवासी] में, (पुष्यत) हे गौओ! परिपुष्ट करो (यद्) जो कि (वसु) क्षीरघृतादि तुम्हारी सम्पत्ति है।

[जैसे राष्ट्र की मनुष्यप्रजा के खाद्य-पेय तथा सुरक्षा के लिए नियम होते हैं, वैसे राष्ट्र के अधिकारी, गौ आदि पशु प्रजा के लिए भी नियम बनाएँ—यह अभिप्राय है।]

---

१. जिस स्थान में कि उदक का प्रवेश हुआ है उसे हृदय कहा है, उदकपूर्ण स्थान हृदय-सदृश है।
२. कौ पृथिव्यां लीयते। जोकि पृथिवी में ही लीन हो जाती है, समुद्र तक नहीं पहुँचती।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन्गोष्ठे करीषिणीः। बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

अर्थ—[हे गौओ!] (संजग्मानाः) मिलकर गमन करती हुईं, (अबिभ्युषीः) चोर और व्याघ्र आदि के भय से रहित हुईं, (करीषिणीः) खाद के लिए गोबर देती हुईं (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में रहो। तथा (सोम्यम्) सोमसदृश गुणकारी (मधु) मधुर दुग्ध का (बिभ्रतीः) धारण करती हुईं, (अनमीवाः) तथा रोगरहित हुईं, (उपेतन) हमारे समीप आओ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत। इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

अर्थ—(गावः) हे गौओ! (इह एव) इस गोशाला में ही (एतन) आओ, (इह उ) इस गोशाला में ही (पुष्यत) परिपुष्ट होओ, परिपुष्टान्न का ग्रहण करो, (शका इव) शक्तिशाली हस्तिनी[१] के सदृश परिपुष्ट होओ। (इह एव) इस गोशाला में ही (प्रजायध्वम्) सन्तानें पैदा करो। (मयि) मुझ गोशालाधिपति में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) ऐकमत्य या संप्रीति (अस्तु) हो।

[ग्वाले के साथ गौएँ संचरणार्थ बाहर जाती हैं, उनके प्रति कहा है कि लौटकर तुम अपनी गोशाला में ही वापिस आओ, भ्रमवश अन्य किसी स्थान में न चली जाओ। सायणाचार्य ने "शका" का अर्थ किया है "मक्षिका", अर्थात् जैसे मक्षिकाएँ प्रभूत संख्या में पैदा हो जाती हैं, वैसे हे गौओ! तुम भी प्रभूत सन्तानों को पैदा करो।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

अर्थ—[हे गौओ!] (गोष्ठः) गोशाला (वः) तुम्हारे लिए (शिवः) सुखकारी (भवतु) हो, (शारिशाकेव[२]) मैना और [शाका] शुक अर्थात् तोते के सदृश (पुष्यत) गोशाला में परिपुष्ट होओ। (उत) तथा (इह एव) इस गोशाला में ही (प्रजायध्वम्) तुम सन्तानें उत्पन्न करो, (वः) तुम्हारा (मया) मेरे अर्थात् अपने साथ (सं सृजामसि) मैं संसर्ग करता हूँ। [मन्त्र ४ में शका पाठ है, शाका पाठ नहीं।]

[शारिः=A bird called sarika (आप्टे)। शारि अर्थात् सारिका स्त्रीलिङ्गी पद है, अतः सम्भवतः मैना-पक्षिणी है। शाका=शुकः, तोता?। इस सम्बन्ध में कहा है कि "**आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः**", सारिका पंजरस्था (आप्टे) अर्थात् अपने मुखदोष के कारण शुक और सारिका बाँधे जाते हैं। सारिका है पिञ्जरे में स्थित। मुखदोष है मनुष्य के सदृश बोलना। शुक और शारि [सारिका] दोनों मनुष्य के सदृश बोल सकते हैं। सृजामसि=सृजामि। मैना और शुक का परिपोषण गृहस्थी प्रायः प्रेम

---

१. गौएँ भी महाकाया होती हैं, और हस्तिनी भी महाकाया होती है। गौ और हस्तिनी दोनों पद स्त्रीलिङ्गी हैं। इस प्रकार दोनों में साम्य है। हस्तिनी शका है, शक्तिशालिनी है। मक्षिका शक्तिशाली नहीं।

२. शारिशाकेव=शारि है शकुनिः, अर्थात् पक्षिणी (दशपाद्युणादिवृत्तिः १.५६)। तथा शारिः पक्षी (उणा० ४.१२९, दयानन्द)। शारि के सहयोग द्वारा शाका भी पक्षिणी प्रतीत होती है, सम्भवतः मैना। "शुकशारिकम्" भी पाठ है (उणा ४.१२९, दयानन्द)। इस द्वन्द्व समास द्वारा शाका पद शुक अर्थात् तोता या तोती अर्थ सूचित करता है।

से करते हैं, इसी प्रकार गौओं का परिपोषण भी प्रेमपूर्वक करना चाहिए—यह सूचित किया है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।

रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥ ६॥

अर्थ—(गावः) हे गौओ! (मया गोपतिना) मुझ गोपति के साथ (सचध्वम्) तुम सम्बद्ध रहो, (इह) इस स्थान में (वः गोष्ठः) तुम्हारी गोशाला है, (अयम्) यह गोष्ठ अर्थात् गोशाला (वः) तुम्हारी (पोषयिष्णुः) पोषिका है। (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि द्वारा (बहुला भवन्तीः) बहुत होती हुईं, (जीवन्तीः) तथा चिरकाल तक जीवित रहती हुईं (वः) तुम्हारे (उप) समीप (जीवाः) जीवित हम (सदेम) स्थित रहें।

[रायस्पोषेण=धन की पुष्टि है, धन की समृद्धि। गौओं के घृतादि के विक्रय द्वारा धन का आधिक्य हो जाता है और धनाधिक्य से गौओं को खरीद कर गौओं का बाहुल्य हो जाता है। जीवाः=मनुष्यों का जीवन, गौओं के दुग्ध, दधि तथा घृत के सेवन से बढ़ता है और वे दीर्घायु हो जाते हैं। दुग्धादि शरीर की परिपुष्टि करते हैं। गौओं का दुग्धादि सात्त्विक होता है, सत्त्व के बढ़ने से आयु दीर्घ हो जाती है।]

सूक्त १५

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।

नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥ १॥

अर्थ—(अहम्) मैं [राष्ट्रपति राजा] (वणिजम्) वाणिज्य अर्थात् व्यापार के कर्त्ता (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशाली को (चोदयामि) प्रेरित करता हूँ, (सः) वह (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो, (नः) हमारा (पुरः एता) अग्रगामी, अग्रणी (अस्तु) हो। (अरातिम्) अदाता को, (परिपन्थिनम्) मत्प्रदर्शित पथ के विरोधी को (मृगम्) मृग सदृश कृषिविनाशक को (नुदन्) धकेलता हुआ, (सः) वह (ईशानः) धनेश्वर इन्द्र (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धनदाता (अस्तु) हो।

[राजा, व्यापारज्ञ वणिक् को, व्यापाराध्यक्ष नियत करता है। उसे कहता है कि मैंने व्यापार की जो नीति निर्धारित की है, उसके विरोधी को तू धकेल दे और वन्यमृगों को भी धकेल दे, जो कि समीपस्थ ग्रामीण-कृषि का विनाश करते हैं। मन्त्र आधिभौतिक अर्थ को परिपुष्ट करता है 'इन्द्र' को वणिक् कहकर।]

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**पन्थानः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।

ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥ २॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी अन्तरा) द्युलोक तथा पृथिवी के मध्य में अर्थात् अन्तरिक्ष के वायुमण्डल में, (देवयानाः) व्यवहारियों के (ये पन्थानः) जो मार्ग (संचरन्ति) संचरित होते हैं, (ते) वे मार्ग, (पयसा घृतेन) दुग्ध और घृत द्वारा (मा जुषन्ताम्) मेरी सेवा करें, (यथा) जिस प्रकार कि (क्रीत्वा) खरीद कर (धनम् आहराणि) धन को मैं प्राप्त करूँ।

[देवयानाः=**दीव्यन्ति व्यवहरन्तीति देवाः वणिजः। ते यत्र यान्ति ते देवयानाः** (सायण)। तथा

देवाः=**दिवु क्रीडाविजिगीषा "व्यवहार"** आदि (दिवादिः)। संचरन्ति=वे मार्ग जिनमें प्रायः वायुयानों द्वारा संचार होता है। ये मार्ग वायुयानों के आने-जाने के लिए निश्चित किये जाते हैं। दुग्ध-घृत आदि के विक्रय से प्राप्त धन द्वारा देश-देशान्तरों से वस्तुओं का क्रय करके धन के आहरण का कथन हुआ है। क्रीत वस्तुएँ लाकर निजदेश में इनके विक्रय से धन की प्राप्ति होती है।]

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इ॒ध्मेना॑ग्न इ॒च्छमा॑नो घृ॒तेन॑ जुहो॒मि ह॒व्यं तर॑से॒ बला॑य।

याव॒दीशे॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मान इ॒मां धियं॑ शत॒सेया॑य दे॒वीम्॥ ३॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (तरसे बलाय) राष्ट्र के [दुःखों से] सन्तरण के लिए और शारीरिक बल की प्राप्ति के लिए, (इध्मेन) इध्म द्वारा, (घृतेन हव्यम्) घृतसम्पृक्त हवि की (जुहोमि) मैं आहुतियाँ देता हूँ (यावत् ईशे) जितनी कि मुझमें शक्ति है; (ब्रह्मणा वन्दमानः) वेद द्वारा परमेश्वर की स्तुति करता हुआ। तो (इमाम् देवीम् धियम्) मेरी इस दिव्य बुद्धि अर्थात् संकल्प को (शतसेयाय) शत-प्रति-शत दान कर देने के लिए [स्वीकृत कर।]

[जो व्यक्ति राष्ट्र को दुःखों तथा कष्टों से तैराने के लिए, तथा प्रजाजन के शारीरिक बल की वृद्धि के लिए, यावत्-शक्य निज सम्पत्ति लगा देना चाहता है, वह चाहता है कि अवशिष्ट को भी वह प्रजार्थ प्रदान कर दे तथा अवशिष्ट और आहुत सम्पत्ति पर "कर" न लगाया जाय—ऐसी प्रार्थना अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री से करता है। शतसेयाय=शत+**षणु दाने** (स्वादिः)। तरसे=**तॄ प्लवनसंतरणयोः** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**प्रपणः विक्रयश्च**॥
छन्दः—**षट्पदा बृहतीगर्भा विराडत्यष्टिः**॥

इ॒माम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑न॒मगा॑म दू॒रम्।

शु॒नं नो॑ अस्तु प्रप॒णो वि॒क्र॒यश्च॑ प्रति॒प॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु।

इ॒दं ह॒व्यं सं॑विदा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु चरि॒तमुत्थि॑तं च॥ ४॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (यम् अध्वानम्) जिस मार्ग पर (दूरम्) दूर तक (अगाम) हम चले गये हैं, (नः) हमारी (इमाम् शरणिम्) इस आज्ञा भंग को (मीमृषः) तू सहन कर। (प्रपणः) व्यापारिक वस्तुओं का खरीदना अर्थात् क्रय करना, (विक्रयः च) और उसका बेचना (नः) हमारे लिए (शुनम् अस्तु) सुखरूप हो तथा (प्रतिपणः) प्रत्येक वस्तु का बेचना (मा) मुझ प्रत्येक को (फलिनम् कृणोतु) फल लाभ करने वाला करे। (संविदानौ) तुम दोनों एकमत हुए (इदम् हव्यम्) इस हविः का (जुषेथाम्) सेवन करो। (चरितम्) खरीद में तथा विक्रय में संचरित अर्थात् लगाया गया धन, (च) और (उत्थितम्) उससे उठा अर्थात् प्राप्त हुआ लाभ, (नः) हम प्रत्येक प्रजाजन को (शुनम् अस्तु) सुखरूप हो।

[(मीमृषः) प्रधानमन्त्री ने व्यापारार्थ जिन देशों में जाने का निर्देश दिया था, क्रय के लिए उन देशों के दूर के देशों में भी चले जाना आज्ञाभंग है, इसे सहन करने की प्रार्थना व्यापारियों ने की है। हव्य है विक्रय-प्राप्त धनलाभ [उत्थितम्], इसका सेवन व्यापारी तथा राष्ट्र को ऐकमत्य होकर करना चाहिए। "हव्य" को यज्ञिय-हव्य जानना चाहिए, अतः इसके बाँटने में व्यापारी और प्रधानमन्त्री में वैमत्य न होना

चाहिए, अपितु धर्म-भावना से इसका विभाग करना चाहिए। यह विभाग राष्ट्र की सम्पत्ति है, व्यक्तिरूप प्रधानमन्त्री की नहीं। मीमृषः=**मृष तितिक्षायाम्** (दिवादिः; चुरादिः), तितिक्षा है सहन करना। **शुनम् सुखनाम** (निघं० ३.६)।]

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**देवाः**, **अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।

तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध॥ ५॥

अर्थ—(देवाः) हे व्यवहार अर्थात् व्यापार के दिव्य अध्यक्षो! (धनम्, इच्छमानः) धन चाहता हुआ, (येन धनेन) जिस मूल धन के द्वारा (प्रपणम् चरामि) मैं व्यापारिक वस्तुओं का क्रय करता हूँ, (तत् मे) वह मेरा मूलधन (भूयः, भवतु) बढ़ता रहे, (कनीयः मा) कम न हो, (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (सातघ्नः) लाभ का हनन करनेवाले (देवान्) अन्य विजिगीषु व्यापारियों को (हविषा) हव्यांश द्वारा (निषेध) बाधा डालने से निवारित कर।

[सातघ्नः=**सातं लाभं घ्नन्तीति सातघ्नः** (सायण)। देवान्=**दिवु क्रीडाविजिगीषा....** (दिवादिः), अर्थात् प्रतिस्पर्धा में व्यापार में निजविजय चाहनेवाले व्यापारी। इन्हें हमारे व्यापारों से प्राप्त धन का हिस्सा देकर सन्तुष्ट कर प्रतिस्पर्धा से निवारित कर, यह प्रधानमन्त्री को कहा गया है।]

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**देवाः, इन्द्रः, प्रजापतिः, सविता, सोमः, अग्निः**॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।

तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः॥ ६॥

अर्थ—(येन धनेन इच्छमानः) पूर्ववत् (मन्त्र ५)। (तस्मिन्) उस व्यापार में (मे रुचिम्) मुझ व्यापारी की रुचि को (इन्द्रः आ दधातु) सम्राट् स्थापित करे, (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति, अर्थात् राजा, (सविता) प्रसवों तथा राष्ट्र के ऐश्वर्य का अध्यक्ष [Finance Minister], (सोमः) जलाध्यक्ष, (अग्निः) तथा अग्रणी प्रधानमन्त्री।

[इन्द्रः=वाणिज्य का अधिकारी (मन्त्र १), अथवा साम्राज्य का सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। सविता=**षु प्रसवैश्वर्ययोः** (भ्वादिः), यह दो विभागों का अधिकारी, अर्थात् मन्त्री है। सोमः=water (आप्टे)। छोटे व्यापारियों की व्यापार में तभी रुचि हो सकती है जबकि कथित अधिकारी, इन्हें बड़े व्यापारियों द्वारा दी गई प्रतिस्पर्धा से सुरक्षित कर दें। जलाध्यक्ष का कथन हुआ है कृषि द्वारा किये जानेवाले व्यापार में।]

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः। स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि॥ ७॥

अर्थ—(वैश्वानर) हे सब नर-नारियों के हितकारी, (होतः)[1] तथा सबके दाता परमेश्वर! (वयम्) हम (नमसा) नमस्कारपूर्वक (त्वा उप) तेरे समीप हुए (स्तुमः) तेरी स्तुति करते हैं। (सः) वह तू (नः) हमारी (प्रजासु) पुत्रादि प्रजाओं में, (आत्मसु) हमारी आत्माओं में, (गोषु) हमारी इन्द्रियों में,

१. हु दानादनयोः (जुहोत्यादिः)।

(प्राणेषु) हमारे प्राणों में (जागृहि) जागरित रह।

[राष्ट्र का प्रत्येक प्रजाजन परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि तू हमारी प्रजा आदि की रक्षा के लिए, उनमें व्याप्त हुआ, सदा जागरित रहे, हम सब नमस्कारों द्वारा तेरी स्तुति करते हैं। वैश्वानर=विश्वनरहित (सायण)। वैदिक धर्मानुसार राष्ट्र का प्रत्येक जन परमेश्वर की उपासना तथा स्तुति किया करे, इसका विधान मन्त्र में हुआ है। वैदिक राष्ट्र secular अर्थात् धर्मनिरपेक्ष नहीं, अपितु धर्मभावनाओंवाला है।]

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**जातवेदाः**॥ छन्दः—**निचृत् त्रिष्टुप्**॥

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ ८॥

अर्थ—(जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान [हे अग्नि!] (विश्वाहा) सब दिन (सदम् इत्) सदा ही (ते) तेरे लिए (भरेम) हम आहुतियाँ प्रदान करें, (तिष्ठते) अश्वशाला में स्थित (अश्वाय) अश्व के लिए (इव) जैसे [घास-चारा दिया जाता है] (रायस्पोषेण) धन की परिपुष्टि द्वारा, (इषा) तथा अन्न द्वारा (सम् मदन्तः) हृष्ट तथा प्रसन्न होते हुए, (अग्ने) हे यज्ञिय-अग्नि! (ते प्रतिवेशाः) तेरे समीपस्थ रहनेवाले हम (मा रिषाम[१]) न हिंसित हों।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अथ षष्ठः प्रपाठकः

अनुवाक ४

सूक्त १६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्नीन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षीजगती**॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।

प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे॥ १॥

अर्थ—(प्रातः) प्रातःकाल [की उपासना में] (अग्निम्) पापदाहक परमेश्वर का, (प्रातः इन्द्रम्) प्रातःकाल परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रावरुणा) सर्वस्नेही अतः वरण करने योग्य परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातःकाल (अश्विनौ) प्राणायाम द्वारा प्राणापान अर्थात् श्वास-प्रश्वास का (प्रातः) प्रातःकाल (भगम्) भर्गों से सम्पन्न भजनीय परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातःकाल (पूषणम्) पोषक परमेश्वर का, तथा (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्माण्ड तथा वेद के पति परमेश्वर का, (प्रातः) प्रातःकाल (सोमम्) सौम्य स्वभाववाले परमेश्वर का, (उत) तथा (रुद्रम्) हमारे कर्मानुसार रौद्र फलप्रद स्वभाववाले परमेश्वर का (हवामहे) हम आह्वान करते हैं।

[मन्त्रोक्त नाम परमेश्वर के हैं और परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुण-कर्मों का प्रतिपादन करते हैं। अग्नि सर्वदाहक है, परमेश्वर भी सब दुरितों का दाहक है। मित्रः=**ञिमिदा स्नेहने** (भ्वादिः); **वरुणः=व्रियते वाऽसौ वरुणः** (उणा० ३.५३, दयानन्द) (**अश्विनौ नासत्यौ, नासाप्रभवौ इति वा,** (निरुक्त ६.३.१३;

---

१. **रुष रिष हिंसायाम्** (भ्वादिः; दिवादिः)। यज्ञियाग्नि में प्रति दिन रोगनाशक ओषधियों की आहुतियों से रोगनिवारण होकर प्रजा का स्वास्थ्यसंवर्धन होता है। अतः यह भी राष्ट्रिय धर्म है (अथर्व० १.३१.१-३)।

पद ५०, ५१)। सोमम्, रुद्रम्=परमेश्वर है तो सौम्य स्वभाव वाला, परन्तु हमारे दुष्कर्मों का उग्रफल देने में वह रुद्ररूप है, रुलाता भी है, ताकि मनुष्य दुष्कर्मों से विरत हो जाए। इस प्रकार रौद्ररूप में भी वह सौम्य स्वभावाला है। भगम्=समग्रैश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—ये ६ भग हैं, तथा भग=भजनीय, **भज सेवायाम्** (भ्वादि:)। आह्वान=ध्यान में, ध्याता के चित्त में उपस्थित होना, प्रकट होना, हवामहे द्वारा परमेश्वर का आह्वान है।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**भग:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ २॥

अर्थ—(प्रातर्जितम्) प्रात:काल की उपासना में सर्वविजयी, (भगम्) ऐश्वर्यवाली तथा भजनीय, (उग्रम्) कर्मों के फल प्रदान में उग्र, (अदिते: पुत्रम्) वेदवाणी के पुत्र रूप परमेश्वर का (वयम् हवामहे) हम आह्वान करते हैं, (य:) जोकि (विधर्ता) विविध जगत् का धारण करता है, (आध्र: चित्) अतृप्त भी, (तुर: चित्) धन से प्रवृद्ध भी, (राजा चित्) राजा भी (मन्यमान:) परमेश्वर का मनन करता हुआ (यम् भगम्) जिस भजनीय के सम्बन्ध में (इति आह) यह कहता है कि (भक्षि) इसका भजन किया कर।

[अदिते: पुत्रम्=**अदिति: वाङ्नाम** (निघं० १.११), परमेश्वर अदिति अर्थात् वेदवाणी का पुत्र है, यत: वेदवाणी द्वारा वह प्रकट होता है। यथा "**स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त**" अथर्व० (१३.४(४).३८) अर्थात् वह परमेश्वर निश्चय से ऋचाओं से पैदा हुआ है, यत: उससे ऋचाएँ पैदा हुई हैं। ऋचाएँ पैदा हुईं निज उत्पादक को जताती हैं। ऋचाओं से पैदा होना, अदिति का पुत्र होना है। ऋचाएँ हैं वेदवाक् अर्थात् अदिति। आध्र:=**आधारयितव्यो दरिद्र:** (सायण)। तथा, न ध्रायति, "**ध्रै तृप्तौ**", न तृप्यति स अध्र:, नञो दीर्घश्छान्दस:, यद्वा आ समन्तात् ध्र: आध्र:। यद्वा अध्र एव आध्र: स्वार्थे तद्धित:। आध्र: अतृप्त: बुभुक्षितो दरिद्र: (महीधर)। तुर:="तु" वृद्धौ, क्विप् लोप:; (अदादि:)+र: (मत्वर्थीय:) यथा, मधुर:=मधु+र: (मत्वर्थीय:), मधुवाला।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**भग:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्न:।

भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्त: स्याम॥ ३॥

अर्थ—(भग) हे भजनीय! (प्रणेत:) हे प्रकृष्ट नेत:! (भग) हे भजनीय! (सत्यराध:) हे अनश्वर धनवाले! (भग) हे भजनीय (न:) हमें (ददत्) देता हुआ तू (इमाम् धियम्) हमारी इस बुद्धि को (उद् अव) उत्कृष्ट कर। (भग) हे भजनीय! (न:) हमें (गोभि: अश्वै:) गोओं और अश्वों के साथ-साथ (प्र जनय) प्रकृष्ट जननशक्ति प्रदान कर; (भग) हे भजनीय! (प्र नृभि:) प्रकृष्ट नर-नारियों द्वारा (नृवन्त:) नर-नारियोंवाले (स्याम) हम हों।

[भग=अथवा, हे भगवाले, ऐश्वर्यसम्पन्न! तब ही "ददत्" और "राध:" पद सार्थक होते हैं। धनवान् ही तो दे सकता है, निर्धन नहीं। उद् अव=अव धातु नानार्थक है। उत्कृष्ट बुद्धिवाला ही धन प्रदान करता है। अत: दानबुद्धि की प्राप्ति के लिए भग से प्रार्थना की है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**भुरिक् पङ्क्तिः** ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।

उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ ४॥

अर्थ—(उत) तथा (इदानीम्) इस काल में (भगवन्तः) भगवाले (स्याम) हम हों, (उत) तथा (प्रपित्वे) [सूर्य के] पश्चिम में प्रपतनकाल में, (उत) तथा (अह्नाम् मध्ये) दिनों के मध्यकाल में, (उत) तथा (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदयकाल में (मघवन्) हे धनशाली परमेश्वर! (वयम्) हम (देवानाम्) दाताओं की (सुमतौ स्याम) सुमति में हों, रहें।

[देवानाम्=**देवो दानाद् वा** (निरुक्त ७.४.१५)। इदानीम्=अब अर्थात् जब भी कोई प्रत्याशी माँगने के लिए आ जाए। मन्त्र में "मघवन्" पद द्वारा भग के धनवान् स्वरूप का कथन किया है। देवों की सुमति है दान करने की, हम दानी भी इस सुमति में रहें, ऐसी प्रार्थना या इच्छा प्रकट की गई है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम।

तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह॥ ५॥

अर्थ—(देवः) दाता (भग एव) भजनीय परमेश्वर ही (भगवान् अस्तु) ऐश्वर्यवान् हो, (तेन) उस द्वारा (वयम्) हम (भगवन्तः) ऐश्वर्यवाले (स्याम) हों। (भग) हे भजनीय! (सर्वः) मैं सर्वस्वरूप हुआ, (तम् त्वा इत्) उस तुझ का ही (जोहवीमि) पुनः पुनः आह्वान करता हूँ, (भग) हे भजनीय! (सः) वह तू (इह) इस दानकर्म में (नः) हमारा (पुरः एता) अग्रगन्ता, अगुआ (भव) हो।

[भावना यह है कि परमेश्वर ही दाता है, सब प्राणियों को दान दे रहा है, उसी के दान द्वारा सब प्राणी जीवित होते हैं। अतः हे परमेश्वर! तू ही सदा भगवान् अर्थात् ऐश्वर्यशाली हो, और तेरे दिये दान द्वारा ही हम भी ऐश्वर्यवान् हों। मनुष्यदाता की इच्छा पर है कि वह माँगनेवाले को धन दे या न दे। तू तो बिना मांगे सबको दे रहा है। अतः मैं भी सर्वरूप होकर, सबको अपना जानकर तेरा बार-बार आह्वान करता हूँ, ताकि मुझमें सर्वभावना सदा बनी रहे।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सम॑ध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।

अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु॥ ६॥

अर्थ—(अध्वराय) हिंसारहित यज्ञ के लिए (उषसः) उषाएँ (सम् नमन्त) सन्नत होती हैं, प्रह्वीभूत होती हैं, झुकती हैं, (इव) जैसेकि (शुचये पदाय) शुद्ध-पवित्र स्थान के लिए (दधिक्रावा) आदित्य झुकता है। उषाएँ (मे) मेरे लिए (वसुविदम्) वसुओं को प्राप्त करानेवाले (भगम्) भजनीय परमेश्वर को (अर्वाचीनम्) मेरी ओर (आ वहन्तु) प्राप्त कराएँ, (इव) जैसेकि (वाजिनः अश्वाः) वेगवाले अश्व (रथम्) रथ को (आ वहन्तु) हमारे अभिमुख प्राप्त कराते हैं।

[अध्वराय=**ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः** (निरुक्त १.३.८)। दधिक्रावा है आदित्यः, "**दधत् क्रामतीति वा**" (निरुक्त २.७.२७), अर्थात् जो सौरलोक का "धारण" करता हुआ "पादविक्षेप" करता है; **क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादिः)। आदित्य की रश्मियों का प्रसार है पादविक्षेप। शुचिपद है द्युलोक

आदित्य उदित हुआ द्युलोक में रश्मियों का विक्षेप करता है। निरुक्त में "दधिक्राः" पद की व्याख्या की है, और अथर्व में दधिक्रावा पद पठित है। दोनों का अर्थ समान है। अध्वर के लिए उषःकाल तथा आदित्यकाल दोनों उपयुक्त हैं, रात्रीकाल में अध्वर या यज्ञ नहीं होते।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।

घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

अर्थ—(अश्वावतीः) अश्वोंवाली, (गोमतीः) गौओंवाली, (वीरवतीः) वीरपुत्रोंवाली (भद्राः) कल्याणकारिणी तथा सुखदायिनी (उषासः) उषाएँ (नः) हमारे लिए (सदम्) सदा (उच्छन्तु) चमकती रहें। (घृतम्) घृत मिश्रित दुग्ध को (दुहानाः) देती हुईं (विश्वतः) सब ओर (प्रपीताः) प्रकर्षेण आप्यायित हुईं (यूयम्) तुम हे उषाओ! (स्वस्तिभिः) उत्तम स्थितियों द्वारा (नः) हमारी (सदा पात) सदा रक्षा करो।

[अभिप्राय यह कि प्रति प्रातःकाल की उषाओं के चमकते समय हमारे अश्व आदि यथावस्थित रहें, जैसेकि उषःकाल के पूर्व वे विद्यमान थे। उषःकालों में हम गोदोहन कर घृतमिश्रित दुग्ध को प्राप्त करें। उषाएँ हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करती हैं।]

सूक्त १७

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**सीता**॥ छन्दः—**आर्षी गायत्री**॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

अर्थ—(कवयः) बुद्धिमान् (सीराः) हलों को (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं, और (पृथक्) पृथक्-पृथक् बैलों में (युगा=युगानि) जुआओं का (वि तन्वते) विस्तार करते हैं। (धीराः) बुद्धिमान् (देवेषु) देवकार्यों के निमित्त (सुम्नयौ) सुख प्राप्त करानेवाले दो बैलों को [हल में] युक्त करते हैं।

[हलों को युक्त करना, बैलों के साथ। तथा प्रत्येक बैल पर जुआ लगाना। देवकार्य हैं यज्ञादि; तथा अतिथिदेव आदि का सत्कार। कृषि से उत्पन्न अन्न द्वारा इनका सत्कार भी देवकार्य है। कृषिकर्म बुद्धिमानों का काम है, जोकि वंशपरम्परा में जारी रहता है। नौकरी तो कुछ काल के लिए होती है, और कृषिकर्म एक स्थिर कार्य है। कवयः=**कविः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। धीराः=धी+राः (मत्वर्थीयः)। सुम्नयौ[1]=**सुम्नं सुखनाम** (निघं० ३.६)+या प्रापणे। हल के साथ दो बैलों को जोतना चाहिए, भूमिकर्षण में एक बैल का जोतना उसके लिए कष्टदायक होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**सीता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।

विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ २॥

अर्थ—[हे बुद्धिमानो!] (सीराः) हलों को (युनक्त) युगों के साथ संयुक्त करो, (युगा=युगानि) युगों को (वितनोत) बैलों के कन्धों पर विस्तारित करो। (कृते योनौ) तय्यार की गई (इह) इस भूमि में (बीजम्, आवपत) बीज बोओ। (विराजः) अन्न का (श्नुष्टिः) शीघ्र प्राप्त करानेवाला (सभराः) अन्न

१. सुम्नयौ बलीवर्दौ (सायण), याते: "आतो मनिन्०" इति विच् (सायण)।

से भरा हुआ सिट्टा अर्थात् गुच्छा (नः) हमारा (असत्) हो, तथा (पक्वम्) पका अन्न (सृण्यः) दात्री के (नेदीयः) समीप (आ यवन्) प्राप्त हो।

[आयवन्=एयात् (यजुः० १२.६८), आ इयात्।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु।

उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यम्॥ ३॥

अर्थ—(लाङ्गलम्) हल (पवीरवत्) प्रशंसित फाल से युक्त, (सुशीमम्) सुन्दर-सुखदायक, तथा (सोमसत्सरु) जलवाली भूमि में सुगमता से सरण कर सकनेवाला हो। वह (उद् इत् वपतु) निश्चय से उद्वाप अर्थात् उत्पन्न करे (गाम्, अविम्) गौ और बकरी को, (प्रस्थावत्) प्रस्थान कर सकनेवाले (रथवाहनम्) रथ के वहन करने में समर्थ बैल को (च) और (प्रफर्व्यम्) फुरतीली (पीबरीम्=पीवरीम्) स्थूल, पुष्टाङ्गी गौ और अजा को[१]। सुशीमम्=सु+शम् (सुखनाम निघं० ३.६)।

[सोमसत्सरु=पदपाठ में "सोमसत्ऽसरु" पाठ है, नकि "सोमसत्सरु"। अतः सोमसत् का अर्थ "जलवाली भूमि" किया है। अभिप्राय यह है कि हल जैसेकि गीली भूमि में सुगमता से चल सकता है वैसे वह सूखी भूमि में भी सुगमता से चल सकनेवाला होना चाहिए, ताकि भूमि के कर्षण में बैलों को कष्ट न हो। अतः हल का फाल, मुख में लगा लोहखण्ड, अति तीक्ष्ण होना चाहिए। "**कर्षणेन धान्यादिसमृद्धौ सत्याम् एतद् गवादिसमृद्धिर्भवति**" (सायण)। सोमः=water (आप्टे)। सुशीमम्[२]= कर्षकस्य सुखकरम् (सायण)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (सीताम्) कृष्टभूमि में हल की लकीर का (निगृह्णातु) निग्रह करे, नियन्त्रण करे, (पूषा) पोषण का अधिकारी (ताम्) उस सीता की (अभि रक्षतु) सर्वतः रक्षा करे। (सा) वह कृष्टभूमि अर्थात् हल की पद्धतिवाली भूमि (उत्तराम्, उत्तराम्) उत्तरोत्तर (समाम्) वर्षों में (पयस्वती) दुग्ध तथा जलवाली हुई (नः) हमें (दुहाम्) दुग्धादि देती रहे।

[इन्द्रः अर्थात् सम्राट्, निज साम्राज्य में, नियम निर्माण करे कि जिसकी भूमि है, और जिसने उसमें बीजावाप किया है, उसपर अधिकार उसी का रहे। यह है "नि गृह्णातु"। पूषा है सीता से प्राप्त पुष्टान्न का अधिकारी, वह उस भूमि की रक्षा करता रहे। पयः के दो अर्थ हैं जल तथा दुग्ध। कृष्टभूमि में बीजावाप हो जाने पर उसके सींचने का भी अधिकारी पूषा है। वह जलप्रबन्ध कर अन्नवती भूमि में जलसेचन का भी प्रबन्ध करे। "उत्तराम् उत्तराम् समाम्" उत्तरोत्तर वर्षों में भी भूमि के पूर्व स्वामी का स्थायित्व बना रहना चाहिए।]

---

१. कीदृशीम् गामविं च, प्रफर्व्यम्, प्रकर्षेण फर्वति गच्छति, युवतित्वादतिवेगवतीम्, पीवरीम् पुष्टाङ्गीम् (महीधर, यजुः० १२.७१)।

२. सुशेवम्=(यजुः० १२.७१)। अथवा "**शीभम् क्षिप्रनाम**" (निघं० २.१५)। लाङ्गलम् सुशीभम् सुक्षिप्रकारी (भूमिकर्षणे)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

अर्थ—(सुफालाः) शोभन फालोंवाले हल (शुनम्) सुखपूर्वक (भूमिम्) भूमि को (वितुदन्तु) काटें, (कीनाशाः) किसान (शुनम्) सुखपूर्वक (वाहान्) बैलों के (अनु) पीछे-पीछे (यन्तु) चलें। (शुनासीरौ) वायु और आदित्य (हविषा) जल द्वारा (तोशमानौ) किसानों को सन्तुष्ट (कर्तम्) करें और (अस्मै) इसके लिए (ओषधीः) ओषधिरूप व्रीहि-यव आदि को (सुपिप्पलाः) उत्तम फलों से युक्त (कर्तम्) करें। "कर्तम्" का अन्वय दो बार हुआ है।

[हविषा=**हविः उदकनाम** (निघं० १.१२)। शूनासीरा=**शुनो वायुः सीर आदित्यः** (निरुक्त ९.४.४०; पदसंख्या ३४), मेघ वायु में भरे हुए, वर्षा करते हैं; आदित्य तीक्ष्ण रश्मियों द्वारा भूमिष्ठ उदक को वाष्पीभूत कर वायु में मेघ को स्थापित करता है। तुदन्तु=**तुद व्यथने** (तुदादिः) व्यथा है, काटना, भूमि को।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

अर्थ—(वाहाः) बैल (शुनम्) सुखी हों, (नरः) नर-नारियाँ (शुनम्) सुखी हों, (लाङ्गलम्) हल (शुनम्) सुखकारी हुआ (कृषतु) भूमि का कर्षण करे। (वरत्राः) रस्सियाँ (शुनम्) सुखपूर्वक (बध्यन्ताम्) बैलों पर बाँधी जाएँ, (अष्ट्राम्) भयदायक कशा को (उदिङ्गय) तू ऊपर उठा, प्रेरित कर।

[हल द्वारा जब कृषि-भूमि में कर्षण हो जाए तब बैल आदि पशु और नर-नारियाँ सुखी हो जाती हैं, क्योंकि कर्षण द्वारा प्रभूत अन्न पैदा हो जायेगा। अष्ट्रा का अर्थ है कशा अर्थात् चाबुक, बैलों में त्रास पैदा करने के लिए। अष्ट्रा=**अस गतिदीप्त्यादानेषु; अष इत्येके** (भ्वादिः), अर्थात् "अष+त्रस्" (उद्वेगे, दिवादिः), त्रास पैदा करनेवाली, बैलों में भय पैदा करनेवाली कशा अर्थात् चाबुक। उदिङ्गय="उद्" ऊपर, **इगि गतौ** (भ्वादिः), उद्गत कर, ऊपर उठा।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**विराट् पुर उष्णिक्** ॥

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(इह स्म) हम इस कृष्ट क्षेत्र में विद्यमान हैं। (मे) मुझ प्रत्येक द्वारा दी गई आहुति का (जुषेथाम्) सेवन करो (शुनासीरा) हे वायु और आदित्य तुम दोनों। (दिवि) द्योतनशील अन्तरिक्ष में (यत्) जो (पयः) जल (चक्रथुः) तुम दोनों ने पैदा किया है, (तेन) उस द्वारा (इमाम्) इस कृष्टभूमि को (उप सिञ्चतम्) सींचो।

[ग्रामनिवासी कृष्टभूमि में उपस्थित होकर वर्षा निमित्त, आहुतियाँ देते हैं और प्रत्येक ग्रामवासी अपने-अपने हाथ से आहुतियाँ देता है। यह वर्षायज्ञ है।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

अर्थ—(सीते) हल द्वारा कृष्ट हे भूभाग! (त्वा वन्दामहे) तेरी हम स्तुति करते हैं, तेरे गुणों का

कथन करते हैं, (सुभगे) हे उत्तम-ऐश्वर्य देनेवाली भूमि! (अर्वाची भव) हमारे अभिमुखी तू हो। (यथा) जिस प्रकार कि (नः) हमारे (सुमनाः) मनों को प्रसन्न करनेवाली (असः) तू हो, (यथा) जिस प्रकार कि (नः) हमें (सुफला) उत्तम फल देनेवाली (भुवः) तू हो।

[वन्दामहे=**वदि अभिवादनस्तुत्योः** (भ्वादिः), स्तुति अर्थ अभिप्रेत है। सीता अन्नोत्पादन द्वारा सब प्राणियों का पालन करती है—यह उसकी स्तुति है, गुणों का कथन है। अर्वाची का अभिप्राय है हमारे प्रति फलोन्मुखी होना। उत्तम-ऐश्वर्य है अन्न और तद्द्वारा प्राप्त अन्य पदार्थ। उत्तम फल है कृषिजन्य अन्न।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना॥ ९ ॥

अर्थ—(मधुना घृतेन) मधुर जल द्वारा (सम् अक्ता) सम्यक् अभिव्यक्त हुई (सीता) कृष्टभूमि, (विश्वैः देवैः) सब देवों द्वारा, (मरुद्भिः) और मानसून वायुओं द्वारा (अनुमता) अनुकूलरूप में स्वीकृत हुई (सा) वह (सीते) हे कृष्टभूमि! (नः अभि) हमारे अभिमुख, (पयसा) दुग्ध के साथ (आववृत्स्व) तू आ, (ऊर्जस्वती) अन्नवाली तथा (घृतवत्) घृतवाले दुग्ध को (पिन्वमाना) सींचती हुई।

[**घृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। अक्ता=**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः), व्यक्ति=अभिव्यक्ति। विश्वैः देवैः=वायु, आदित्य आदि देव। मरुद्भिः=मानसून वायुएँ, जोकि जल से भरपूर होती हैं (अथर्व० ४.२७.४, ५)। घृतवत्=कृष्टभूमि से अन्न पैदा हुआ और उस अन्न के खिलाने से गौओं से घृतमिश्रित दुग्ध प्राप्त हुआ। (पिन्वमाना=**पिवि सेवने, "सेचने चेत्येके"** (भ्वादिः)।]

सूक्त १८

भूमिका

सूक्त १८ में तीन अविवाहितों का वर्णन हुआ है; एक पुरुष, तथा दो कुमारियों का। दोनों कुमारियाँ पुरुष के साथ विवाहेच्छुका हैं। वेदानुसार एक पुरुष युगपत् दो पत्नियाँ नहीं रख सकता। इसलिए दो कुमारियों में विवाह के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा हुई है। एक कुमारी आयुर्वेद की विदुषी है। वह ओषधि का खनन कर, उस द्वारा अविवाहित पुरुष को निजानुकूल बनाकर अपना पति बनाना चाहती है (मन्त्र १)। यह गुणों में भी दूसरी कुमारी से उत्तरा है, उत्कृष्टा है और दूसरी कुमारी गुणों की दृष्टि से अधरा-कुमारियों से भी अधरा है, निकृष्टा है (मन्त्र ४)। मन्त्र ४ में सपत्नी का अर्थ है सम्भाव्यमाना सपत्नी, न कि वास्तविक सपत्नी। इसी प्रकार सूक्तवर्णित सपत्नी का अभिप्राय सम्भाव्यमाना पत्नी ही है। ऐसी ओषधियाँ हैं जिनके खिला देने से पुरुष के अस्थिर विचारों में स्थिरता पैदा हो जाए। सम्भवतः खनन द्वारा प्राप्त ओषधि में ऐसा गुण है, अतः आयुर्वेद-विदुषी कुमारी इसका प्रयोग कर पुरुष के विचारों को अपनी ओर बनाये रखने में यत्नशीला है। बायोकैमिक ओषधियों में भी ऐसी औषधियाँ हैं, जो कि पुरुष के अस्थिर विचारों को स्थिर कर सकती हैं। सायण ने इस सम्बन्ध में "पाठा-वीरुध" कही है। सूक्तवर्णित प्रतिस्पर्धा वास्तविक नहीं, अपितु काल्पनिक है। ऐसी स्थिति के उपस्थित हो जाने पर क्या किया जा सकता है—केवल यही दर्शाया है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्। यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ १॥

अर्थ—(वीरुधां बलवत्तमाम्) विरोहणशील ओषधियों में अतिशय बलवाली (इमाम्) इस (ओषधिम्) ओषधि को (खनामि) खोदकर मैं निकालती हूँ, (यया) जिस द्वारा (सपत्नीम्) सपत्नी को [उत्तरा कुमारी, मन्त्र ४] (बाधते) हटाती है और (यया) जिस द्वारा वह (पतिम्) पति को (संविन्दते) सम्यक् विधि[१] से प्राप्त करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि॥ २॥

अर्थ—(उत्तानपर्णे) ऊपर की ओर फैले हुए पत्तोंवाली, (सुभगे) सौभाग्य प्रदान करनेवाली, (देवजूते) दिव्य प्राकृतिक जीवात्मा द्वारा प्रेरित हुई, (सहस्वति) पराभव करनेवाली हे ओषधि! (मे) मेरी (सपत्नीम्) सपत्नी को (पराणुद) परे धकेल और (पतिम्) पति को (मे) मेरे लिए (केवलम्) केवल (कृधि) कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि॥ ३॥

अर्थ—[हे सपत्नि!] पति (ते) तेरा (नाम) नाम भी (नहि जग्राह) नहीं लेता और (नो) न (अस्मिन् पतौ) इस पति में (रमसे) तू रमण करती है, अर्थात् इसे तू पसन्द भी नहीं। अतः (पराम् एव परावतम्) दूर से दूर (सपत्नीम्, गमयामसि) तुझ सपत्नी को हम भेज देते हैं।

[**परावतः दूरनाम** (निघं ३.२६)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भा चतुष्पादुष्णिक्**॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः॥ ४॥

अर्थ— (उत्तरे) हे उत्कृष्ट ओषधि! तेरे कारण (अहम्) मैं (उत्तरा) उत्कृष्ट हो गई हूँ, (उत्तराभ्यः) उत्कृष्टा नारियों से (इत्) भी (उत्तरा) मैं उत्कृष्टा हूँ। (अधः)[२] तदनन्तर (या मम सपत्नी) जो मेरी सपत्नी है (सा) वह (अधराभ्यः) निकृष्टाओं से भी (अधरा) निकृष्टा है।

[पति प्राप्त करनेवाली कुमारी सर्वश्रेष्ठा है, गुणों में। अतः वह पति प्राप्त करने में योग्यता रखती है और सपत्नी गुणों में निकृष्टाओं से भी निकृष्टा है, अतः वह त्याज्या है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै॥ ५॥

अर्थ—(अहम्) मैं विवाहेच्छु कुमारी (अस्मि) हूँ, (सहमाना) सपत्नी का पराभव करनेवाली, (अथो) तथा (त्वम्) हे ओषधि! तू (असि) है (सासहिः) अति पराभव करनेवाली; (उभे) हम दोनों (सहस्वती भूत्वा) पराभव करनेवाली होकर, (मे) मेरी (सपत्नीम्) सपत्नी को (सहावहै) हम दोनों

१. विवाह विधि से।
२. अधः=अध अनन्तरम् (सायण)। अथवा अधस्कृतः त्वमसि संभाव्यमानेन पत्या। अधस्कृता अपमानिता।

पराभूत करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भा पथ्या पङ्क्तिः**॥

अभि तेधां सहमानामुप तेधां सहीयसीम्।

मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु॥ ६॥

अर्थ—[हे भावी पति!] (ते अभि) तेरे अभिमुख अर्थात् संमुख (सहमानाम्) पराभव करनेवाली ओषधि को (अधाम्) मैं भाविनी पत्नी ने रख दिया है, (सहीयसीम्) अतिशय से पराभव करनेवाली ओषधि को (उप) तेरे समीप (अधाम्) मैंने रख दिया है; (माम् अनु) मेरी अनुकूलता में (ते) तेरा (मनः) मन (प्र धावतु) शीघ्रता से दौड़कर आए, (इव) जैसेकि (गौः) अर्थात् दुग्धवती गौ (वत्सम्) निज वत्स की ओर (धावतु) दौड़कर आती है, (इव) जैसेकि (वाः) वारि अर्थात् जल (पथा) निम्न मार्ग द्वारा (धावतु) दौड़कर प्रवाहित होता है।

[''अभि'' अर्थात् संमुख रखना तथा ''उप'' अर्थात् समीप रखना, इन दो भावों में अन्तर है, भेद है। ओषधि भावी-पति के मन को, भाविनी-पत्नी की ओर आकृष्ट करती है और भावी-पति का मन मानो दौड़कर भाविनी-पत्नी की ओर झुक जाता है।]

तथा—ओषधि है सात्त्विक चित्तवृत्ति। यह ओषधि है, ''**ओषद्धयन्तीति वा**'' (निरुक्त ९.३.२७), अर्थात् जो दग्ध करती हुई राजसवृत्ति का पान करती है, उसे विनष्ट करती है। यह चित्तभूमि में दबी पड़ी है। पवित्र जीवात्मा चित्तभूमि से इसे खोद निकालता है। प्रतिस्पर्धी ये दो चित्तवृत्तियाँ हैं; अथवा मन की शिवसंकल्परूपी और अशिवसंकल्परूपी दो वृत्तियाँ हैं, जिनमें आपस में प्रतिस्पर्धा होती रहती है। शिवसंकल्परूपी वृत्ति ''उत्तरा'' है, उत्कृष्टा है (मन्त्र ४) और अशिवसंकल्परूपी वृत्ति ''अधरा'' है, निकृष्टा है। पवित्र जीवात्मा मनोमयी ''उत्तरा वृत्ति'' को अपना लेता है और अधरा वृत्ति का परित्याग कर देता है। इसे अपनाकर जीवात्मा इस मनोमयी शिवसंकल्परूपी वृत्ति का पति बन जाता है (मन्त्र ३)। ''उत्तरा चित्तवृत्ति'' को ''उत्तानपर्णा'' कहा है (मन्त्र २)। यह ऊपर की ओर विस्तृत हुई पालन-पोषण करती है। ऊपर की ओर विस्तृत होने का अभिप्राय है मस्तिष्क तक फैल जाना; (उत्+तन् विस्तारे+**पॄ पालनपूरणयोः**, जुहोत्यादिः)। उत्तरा चित्तवृत्ति जब मस्तिष्क में फैल जाती है, तब यह 'मस्तिष्क द्वारा' समग्र शरीर को उत्कृष्ट कर देती है। सूक्त में व्यावहारिक विवाह के वर्णनपूर्वक अध्यात्म तत्त्वों का प्रदर्शन अभिप्रेत है।

सूक्त १९

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**विश्वे देवाः, इन्द्रः**॥ छन्दः—**पथ्या बृहती**॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ १॥

अर्थ—(मे) मेरी (इदम्) यह (ब्रह्म) ब्राह्मशक्ति (संशितम्) तीक्ष्ण हो, (वीर्यम्) वीरता तथा (बलम्) शारीरिक बल (संशितम्) तीक्ष्ण हो, अमोघ फलवाला हो। (क्षत्रम्) क्षात्रबल (अजरम्) जरारहित अर्थात् जीर्ण न होनेवाला हो, (जिष्णुः) तथा जयशील (अस्तु) हो, वह प्रजाजन (येषाम्) जिनका कि (पुरोहितः) अगुआ (अस्मि) मैं हूँ।

[(पुरोहितः) अगुआ रूप में निहित अर्थात् स्थापित, सम्भवतः प्रधानमन्त्री।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।

वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २ ॥

अर्थ—(एषाम्) इनके (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अहम्) मैं पुरोहित (सं स्यामि=सं श्यामि) सम्यक्-तीक्ष्ण करता हूँ, प्रभावशाली करता हूँ, (ओजः, वीर्यम्, बलम्) ओज, वीरता, शारीरिक बल को (सम्, स्यामि) मैं तीक्ष्ण करता हूँ। (अनेन हविषा) संग्रामयज्ञ में या राष्ट्रयज्ञ में दी गई इस हवि द्वारा (अहम्) मैं पुरोहित (मन्त्र १) (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (बाहून्) बाहुओं को (वृश्चामि) काटता हूँ। (एषाम्) इनके अर्थात् शत्रु सैनिकों के।

[हविः के दो अभिप्राय हैं, (१) "कर" रूप में धनप्रदान स्वेच्छापूर्वक, (२) युद्ध में योद्धाओं के शरीरों की हविः।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग् बृहती** ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।

क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥ ३ ॥

अर्थ—(नीचैः पद्यन्ताम्) हम से नीचे हो जाएँ, (अधरे भवन्तु) निकृष्ट अर्थात् पादाक्रान्त हो जाएँ, (ये) जो कि (नः) हमारे (मघवानम्) धनिक (सूरिम्) और प्रेरक राजा को (पृतन्यान्) पृतना अर्थात् सेना द्वारा आक्रान्त करते हैं। (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) मैं क्षीण करता हूँ और (स्वान्) अपनों को (अहम्) मैं (उन्नयामि) उन्नत करता हूँ।

[सूरिम्=**षू प्रेरणे** (तुदादिः)।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।

इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ ४॥

अर्थ—(येषाम्) जिनका (पुरोहितः) अगुआ (अस्मि) मैं हूँ, वे (परशोः) कुल्हाड़े से भी (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं, (उत अग्नेः) तथा अग्नि से भी (तीक्ष्णतराः) अधिक तीक्ष्ण हैं। (इन्द्रस्य) विद्युत् के (वज्रात्) वज्र से भी (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं।

[परशु, अग्नि, विद्युत् के वज्र, उत्तरोत्तर अधिक तीक्ष्ण हैं। पुरोहित अर्थात् अग्रणी व्यक्ति कहता है कि जिन प्रजाजनों का मैं मुखिया हूँ, वे अधिकाधिक तीक्ष्ण हैं शत्रुओं के विनाश के लिए।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेवन्तु देवाः॥ ५॥

अर्थ—(अहम्) मैं अगुआ (एषाम्) इनके (आयुधा) युद्धसाधनों को (सं स्यामि) सम्यक्-तीक्ष्ण करता हूँ, (एषाम्) इनके (सुवीरम्) उत्तम वीरों वाले (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (वर्धयामि) बुद्धियुक्त करता हूँ।

(एषाम्) इनका (क्षत्रम्) क्षात्रबल (अजरम्) जरारहित अर्थात् अजीर्ण तथा (जिष्णु) जयशील (अस्तु) हो, (एषाम्) इनके (चित्तम्) मानसिक संकल्प की (विश्वेदेवा:) राष्ट्र के सब दिव्यजन (अवन्तु) रक्षा करें।

[संकल्प है शत्रु का पराजय करना।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदा त्रिष्टुप् ककुम्मतीगर्भाऽतिजगती** ॥

उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः।

पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया॥ ६॥

अर्थ—(मघवन्) हे धनवान् सम्राट्! (वाजिनानि) हस्ति, अश्व, रथादि बल (उद्धर्षन्ताम्) उत्कृष्ट हर्षयुक्त हों, (जयताम् वीराणाम्) जय पाते हुए वीर सैनिकों का (घोषः) विजय नाद (उद् एतु) ऊँचा उठे। (केतुमन्तः) झण्डोंवाले, (उलुलयः) उरु अर्थात् महोच्च (घोषाः) विजयनाद (पृथक्) पृथक्-पृथक् सैनिक वर्ग से (उदीरताम्) उद्गत हों, ऊँचे उठें। (इन्द्रज्येष्ठाः) सर्वज्येष्ठ-सम्राट्-सहित, (देवाः) राष्ट्र के दिव्य अधिकारी, तथा (मरुतः) शत्रुओं को मारनेवाले सेनाधिकारी, (सेनया) सेना के साथ (यन्तु) चलें।

[उलुलयः=उरुलयः, ऊँचे घोषों को भी लीन कर देनेवाले महानादी घोष, विजयनाद। वाजिनानि=**वाजः बलनाम** (निघं० २.९);=हस्ती, अश्व, रथादि (सायण)। इन्द्रः=**इन्द्रश्च सम्राट्** (यजुः० ८.३७)। मरुतः=**मारयतीति वा स मरुत् मनुष्यजातिः** (उणा० १.९४; दयानन्द)।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।

तीक्ष्णेषवोबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः॥ ७॥

अर्थ—(नरः) हे नेतृरूप सैनिको! (प्रेत) प्रक्रमपूर्वक युद्धभूमि में जाओ, (जयत) और विजय प्राप्त करो, (वः) तुम्हारे (बाहवः) बाहु (उग्राः सन्तु) उग्र हों। (तीक्ष्णेषवः) तीखे इषुओंवाले, (उग्रायुधाः) उग्र आयुधोंवाले, (उग्रबाहवः) तथा उग्र बाहुओंवाले तुम, (अबलधन्वनः) अबल धनुषोंवालों, (अबलान्) निर्बल शत्रुओं को (हत) मारो, उनका हनन करो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।

जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन॥ ८॥

अर्थ—(ब्रह्मसंशिते) वेदोक्त विधि द्वारा तेज की गई (शरव्ये) हे शरसंहति! (अवसृष्टा) धनुष् से विमुक्त हुई तू (परापत) परे शत्रुसेना की ओर जा। (अमित्रान्) शत्रुओं पर (जय) विजय पा, (प्र पद्यस्व) शत्रुओं को तू प्राप्त हो, (एषाम्) इनमें के (वरंवरम्) प्रत्येक श्रेष्ठ का (जहि) हनन कर, (अमीषाम्) इनमें का (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूटने पाए।

[शरव्या=यह ऐसा यन्त्र है जिसमें नाना शर होते हैं, जोकि युगपत् शत्रु पर छोड़े जाते हैं। शरव्या= शरसंहतिः (सायण) अथर्व० १.१९.३।]

सूक्त २०

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।

तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम्॥ १ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्निनामक परमेश्वर! (अयम् ते योनिः) यह [हृदय] तेरा घर है, (ऋत्वियः) जिसेकि ऋतु अर्थात् काल प्राप्त हो गया है, (यतः जातः) जहाँ से प्रकट हुआ तू (अरोचथाः) प्रदीप्त होता है। (जानन्[1]) जानता हुआ (तम्) उस पर (आरोह) तू आरोहण[2] कर, (अध) तदनन्तर (नः रयिम्) हमारी सम्पत्ति को (वर्धय) बढ़ा।

[परमेश्वर का नाम है अग्नि, वह अग्नि के सदृश प्रकाशित होता है (यजुः० ३२.१), हृदय-गृह में। **योनिः गृहनाम** (निघं० ३.४)। प्रार्थी परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि मेरे हृदय-गृह में तेरे प्रदीप्त होने का काल हो गया है, अतः तू प्रकाशित हो, और प्रकाशित होकर हम योगियों की अध्यात्मसम्पत्तियों को बढ़ा।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।

प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम्॥ २ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि के सदृश प्रकाशमान परमेश्वर! (इह) इस जीवन में (नः अच्छ) हमारे अभिमुख होकर (वद) हमारे साथ वार्तालाप कर, (नः प्रत्यङ्) हमारे प्रति गति करता हुआ तू (सुमनाः भव) सुप्रसन्न हो। (विशांपते) हे प्रजाओं के पति! (नः प्रयच्छ) हमें प्रदान कर [धन], (त्वम्) तू (नः) हमारा (धनदाः असि) धनदाता है।

[हृदय में प्रकट हुए परमेश्वर के साथ वार्तालाप सम्भव है, जबकि हृदयस्थ जीवात्मा और उसमें प्रकट परमेश्वर, एक-दूसरे के अभिमुख होते हैं। धन प्राकृतिक नहीं, अपितु अध्यात्म है।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अर्यमा, भगः, बृहस्पतिः, देवीः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।

प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे॥ ३ ॥

अर्थ—(अर्यमा) कामादि अरियों का नियन्त्रण करनेवाला परमेश्वर! (नः प्र यच्छतु) हमें अध्यात्म सम्पत्ति प्रदान करे, (भगः) षड्विध सम्पत्तियोंवाला परमेश्वर (प्र यच्छतु) इन षड्विध सम्पत्तियों को प्रदान करे, (बृहस्पतिः प्र यच्छतु) वेदवाणी का पति बृहती वेदवाणी को प्रदान करे। (देवीः) मेरी दिव्य चित्तवृत्तियाँ (प्र यच्छन्तु) प्रदान करें मुझे दिव्यचित्तवृत्तियों को, (उत) तथा (सूनृता देवी) दिव्या-सत्य-प्रियरूपा वाणी (मे) मुझे (प्र दधातु रयिम्) प्रदान करे सत्य-प्रियरूपा वाणी को।

---

१. ''जानन्'' द्वारा अग्नि को चेतन कहा है, अतः अग्नि प्राकृतिक अर्थात् जड़ नहीं।

२. आरोहण का अर्थ है चढ़ना। वेद में चार पैरों पर खड़ी हस्तिनी के सदृश, चार स्तम्भों पर निर्मित शाला का कथन हुआ है (अथर्व० ९.३.१७), जिस पर आरोहण सीढ़ी द्वारा हो सकता है। इसलिए हृदय-गृह पर परमेश्वर का आरोहण कहा है।

[अर्यमा=**अरीन् नियच्छतीति** (निरुक्त ११.३.२३)। यद्यपि यह निर्वचन आदित्य के सम्बन्ध में है, तो भी "**अरीन् नियच्छतिमात्र**" निर्वचन का ग्रहण किया है। षड्विध सम्पत्तियाँ=**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सोमः, अग्निः, आदित्यः, विष्णुः, ब्रह्मा, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोमं राजानमवसेग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥ ४॥

अर्थ—(सोमम् राजानम्) सर्वोत्पादक अतः सबके राजा परमेश्वर का, तथा (अग्निम्) अग्नि के सदृश प्रकाशमान परमेश्वर का, (अवसे) निज रक्षार्थ, (गीर्भिः) स्तुतिरूपा वेदवाणियों द्वारा (हवामहे) हम आह्वान करते हैं। तथा (आदित्यम्, विष्णुम्, सूर्यम्, ब्रह्माणम् च बृहस्पतिम्)[१] आदित्य नामक, सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक, चतुर्वेदविद्, बृहद्-ब्रह्माण्ड के पति परमेश्वर का स्तुतिवाणियों द्वारा हम आह्वान करते हैं।

[सोम=**षु प्रसवे** (भ्वादिः)। आदित्य=परमेश्वर, यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यः** (यजुः ३२.२), तथा **आदित्यवर्णम्, तमसः परस्तात्** (यजुः० ३१.१८)। विष्णुम्=**विष्लृ व्याप्तौ** (जुहोत्यादिः)। सूर्यम्=**षू प्रेरणे** (तुदादिः), सूर्य के प्रकाश में प्राणी निज कार्यों में प्रेरित होते हैं। ब्रह्मा है चतुर्वेदविद् परमेश्वर। सूक्त में अग्नि आदि नामों (मन्त्र १) द्वारा नाना देवता अभिमत नहीं, अपितु एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणकर्मों के प्रदर्शक हैं। इन नामों द्वारा एक ही परमेश्वर का आह्वान किया है हृदय में।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय॥ ५॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि नामवाले, या अग्नि के सदृश प्रकाशवाले परमेश्वर! (त्वम्) तू (अग्निभिः) गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि आदि अग्नियों के द्वारा (नः ब्रह्म) हमारे अन्न को (च) और (यज्ञम्) यज्ञ को (वर्धय) बढ़ा। (देव) हे परमेश्वरदेव! (त्वम्) तू (नः) हमारे (दातवे) दाता के लिए (रयिम् चोदय) धन को प्रेरित कर, (दानाय) ताकि वह दान करे।

[ब्रह्म=**ब्रह्म अन्ननाम** (निघं० २.७)। अग्नियों में आहुतियों द्वारा वर्षा और तद्-द्वारा अन्न पैदा होता है। दातवे="दातु" पद का चतुर्थ्येकवचन दातु=दाता कर्तरि[२] तु-प्रत्यय। "तु" प्रत्यय औणादिक (१.७२-७५)। सायण पाठ है, दातवे; दत्तवते।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत्॥ ६॥

अर्थ—(इन्द्रवायू) सम्राट् और वायुमण्डल के अधिपति (उभौ) इन दोनों का (इह) इस यज्ञकर्म में (हवामहे) हम आह्वान करते हैं, (सुहवौ) ये दोनों सुगमता से आह्वानयोग्य हों, अतः इन दोनों को (इह) इस यज्ञकर्म में (हवामहे) हम आहूत करते हैं। (यथा) जिस प्रकार कि (नः) हमारा (सर्वः इत् जनः) सब जनसमूह, (संगत्याम्) पारस्परिक सत्सङ्ग में (सुमनाः असत्) सुप्रसन्न मनवाला हो, (च)

१. बृहस्पतिः=अथवा बृहती वेदवाणी का पतिः। यथा "**बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्**" (ऋ० १०.७१.१)।
२. दातवे में तुमुन्नर्थ मानने पर दातवे और दानाय में पुनरुक्ति दोष होता है।

और (नः) हमें (दानकामः) दान देने की कामनावाला (भुवत्) हो।

[इन्द्र=सम्राट् (यजुः० ८.३७)। वायु है वायुमण्डल का अधिपति, वायुमण्डल में यानों द्वारा धनार्जन का अधिपति (अथर्व० ३.१५.१-६)। सत्सङ्गों में दान की आवश्यकता तो होती ही है, अतः "दानकामः" कहा है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सत्सङ्गों में सहयोग दे, और दान भी करे।]

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अर्यमा, बृहस्पतिः, इन्द्रः, वातः, विष्णुः, सरस्वती, सविता, वाजी**॥
छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय। वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम्॥ ७॥

अर्थ—[हे अग्नि! मन्त्र ५], (अर्यमणम्) अरियों के नियन्ता को, (बृहस्पतिम्) राष्ट्र की बृहती-सेना के अधिपति को, (इन्द्रम्) सम्राट् को, (वातम्) वायुमण्डल के अधिपति को, (विष्णुम्) वनों तथा ओषधियों के अधिपति को, (सरस्वतीम्) ज्ञानाधिपति महिला को, (च) तथा (वाजिनम् सवितारम्) अन्न के अधिष्ठाता अन्नोत्पादन के अधिपति को (दानाय चोदय) दान देने के लिए प्रेरित कर।

[राष्ट्र के सब अधिकारियों को राष्ट्रोन्नति के लिए दान देने में प्रेरणा की प्रार्थना अग्नि नामक परमेश्वर से की गई है। अर्यमा=**अरीन् नियच्छतीति** (निरुक्त ११.३.२३), अदिति पद की व्याख्या में। अर्यमा है सेनाध्यक्ष और बृहस्पति है राष्ट्र की बृहती-सेना-का अधिपति। विष्णुः="**ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः**" (अथर्व० ३.२७.५)। सरस्वती=**सरो विज्ञानं वा विद्यतेऽस्यां सा** [वाक्] (उणा० ४.१९०; दयानन्द)। यह महिला है जो कि शिक्षा की अधिकारिणी है। वाजिनम्, सवितारम्=वाजः अन्ननाम (निघं० २.७); सविता है अन्नोत्पादन अर्थात् कृषि का अधिकारी। **षु प्रसवैश्वर्ययोः** (भ्वादिः)। अर्यमा आदि के आधिभौतिक स्वरूपों के प्रदर्शन में यथातथा प्रयत्न हुआ है। मन्त्र ७वाँ वाज के प्रसव के सम्बन्ध में है। इस प्रकार मन्त्र १ और ७ में परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है।]

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**विश्वानि भुवनानि**॥ छन्दः—**विराट् जगती**॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन्रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ॥ ८॥

अर्थ—(वाजस्य प्रसवे) अन्न की उत्पत्ति में (नु) निश्चय से (संबभूविम) हम मिलकर रहे हैं, (च), और (इमा विश्वा भुवनानि) ये सब उत्पन्न प्राणी (अन्तः) अन्न के भीतर सत्तावान् रहे हैं। (प्रजानन्) इसे जानता हुआ [सम्राट्] (उत अदित्सन्तम्) दान देने की अनिच्छा वाले को भी (दापयतु) दान देनेवाला करे। (च) और [हे सम्राट्] (नः) हमें (सर्ववीरम्) सब वीर पुत्रोंवाली (रयिम्) सम्पत्ति (नि यच्छ) नितरां प्रदान कर। वीरपुत्र=दानवीर पुत्र, दानशूर पुत्र।

[अन्तः=सब प्राणियों की सत्ता अन्नाधीन है। यथा "**अन्नाद् रेतः रेतसः पुरुषः**" (तैत्ति० उपनिषद्) अर्थात् अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष। पुरुष पद सब प्राणियों का उपलक्षक है, प्राणी वीर्यजात ही हैं।]

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**पञ्च प्रदिशः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम्। प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च॥ ९॥

अर्थ—(पञ्च प्रदिशः) पञ्च या विस्तृत सब दिशाएँ (मे) मेरे लिए (दुह्राम्) अभिमत फल का दोहन करें, (उर्वीः) तथा महती, ६ संख्या वाली द्यौ पृथिवी आदि (यथाबलम्) निज शक्त्यनुसार

(दुह्राम्) मुझे अभिमत फल का दोहन करें। ताकि (मनसा) मन द्वारा (हृदयेन च) और हृदय द्वारा (सर्वा: आकूती:) सब संकल्पों को (प्रापेयम्) मैं प्राप्त करूँ।

[पञ्च=**पचि विस्तारे** (चुरादि:)। ६ उर्वी:=**द्यौश्च पृथिवी च, अहश्च रात्री च आपश्च ओषधीश्च** (सायण)। मनसा=मन द्वारा। हृदयेन=हार्दिक भावनाओं द्वारा। दुह्राम् में दुह् धातु के प्रयोग द्वारा प्रदिश: तथा उर्वी: को गोरूप में वर्णित किया है। जैसे कि गौएँ हमें दुग्ध प्रदान करती हैं, वैसे प्रदिश: आदि अभिमत फल का प्रदान करें। द्यौ: आदि को धेनव: कहा भी हैं (अथर्व० ४.३९.१-१०)।

ऋषि:—**वसिष्ठ:** ॥ देवता—**वायु:, त्वष्टा** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि। आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

अर्थ—(गोसनिम्) गोदान[1] सम्बन्धी (वाचम्) वेद वाक् का (उदेयम्) मैं कथन अर्थात् प्रवचन करूँ, [हे वाक्!] (वर्चसा) निजज्ञानदीप्ति के साथ (मा अभि) मेरे अभिमुख (उदिहि) उदित हो। (वायु:) वायुनामक परमेश्वर (सर्वत:) सब ओर (आ रुन्धाम्) मेरा आवरण करे, (त्वष्टा) कारगर परमेश्वर (मे) मुझ में (पोषम्) पुष्टि (दधातु) स्थापित करे।

[गोसनिम्=**गौ: वाङ्नाम** (निघं० १.११)+**षणु दाने** (तनादि:)। वाक् का दान करनेवाली वाणी है वेदवाक्। वेदवाक् ही सब वाणियों की मातृरूपा है। सब वाणियों का मूलस्रोत वेदवाणी ही है। अभ्युदिहि="उदिहि" द्वारा दृष्टान्तरूप में सूर्योदय अभिप्रेत है, जोकि दीप्ति द्वारा सबको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार वेदवाक् है, जोकि निजज्ञान दीप्ति द्वारा ज्ञेयों का ज्ञान देती है। वायु से अभिप्रेत परमेश्वर है (यजु:० ३२.१)। परमेश्वर वायु अर्थात् प्राणरूप होकर सबका आवरण कर रहा है। रुन्धाम्=**रुधिर् आवरणे** (रुधादि:)। त्वष्टा="**त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मण:**" (निरुक्त ८.२.११)। "**त्वक्षू तनूकरणे**" (भ्वादि:) तनूकरण अर्थात् सूक्ष्मकरण का काम बढ़ई करता है। वह स्थूल काष्ठ से सूक्ष्म चमस, तथा कुर्सी आदि का निर्माण करता है। परमेश्वर भी बढ़ई के सदृश कारीगर है। वह महाव्यापिनी प्रकृति से अल्पकाय पृथिवी आदि और अन्न का उत्पादन कर हम में पोषण स्थापित कर रहा है। उदेयम्="**वद व्यक्तायां वाचि**" (भ्वादि:), "**लिङ्याशिष्यङ्**" (अष्टा० ३.१.८६) इत्यङ्। उदेयम्=उद्यासम्, उच्यासम् (सायण)।]

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ५

सूक्त २१

ऋषि:—**वसिष्ठ:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्** ॥

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥

अर्थ—(ये) जो (अग्नय:) अग्नियाँ (अप्सु अन्त:) जलों के भीतर हैं, (ये) जो (वृत्रे) आकाश

---

१. परमेश्वर ने गोदान अर्थात् वेदवाणी हम सबको दी है, उसका दान किया है। यथा, "**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्य:**" आदि (यजु:० २६.२)। इसे "गोसनिम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। इस वेदवाणी के सम्बन्ध में कहा है कि "वाचम् उदेयम्"।

के आवरण करनेवाले मेघ हैं, (ये) जो (पुरुषे) पुरुष में, (ये) जो (अश्मसु) नानाविध व्यापी-मेघों में, या सूर्यकान्तादिशिलाओं में हैं। (यः) जो अग्नि (ओषधीः आविवेश) ओषधियों में प्रविष्ट है, (यः) जो अग्नि (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में प्रविष्ट है (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिए (एतत्) यह हविः (हुतमस्तु) प्रदत्त हो।

[मन्त्र में "ये" "बहुवचन" द्वारा नाना अग्नियाँ प्रत्येक वस्तु में दर्शाकर, उन अग्नियों के "एकत्व" को "यः" द्वारा मन्त्र के उत्तरार्ध में दर्शाया है। एकवचन द्वारा एक-परमेश्वराग्नि को दर्शाया है, यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यः**" (यजुः० ३२.१); और बहुवचन द्वारा परमेश्वराग्नियों को परमेश्वर की इच्छा, ज्ञान और कृति रूप में दर्शाया है। परमेश्वर एकाग्निरूप में भी सब में प्रविष्ट है, और इच्छा, ज्ञान, और कृतिरूप में भी सब में प्रविष्ट है। एक-परमेश्वराग्नि के स्वरूप का स्पष्टीकरण मन्त्र (३) आदि में "देवः" आदि पदों द्वारा हुआ है। **अश्मा मेघनाम** (निघं० १.१०)। पुरुष में भी इच्छा,, ज्ञान और कृतिरूप में अग्नियाँ[१] प्रविष्ट हैं, जोकि परमेश्वर की इच्छा, ज्ञान और कृतिरूप अग्नियों द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। पुरुष की इच्छा आदि की अभिव्यक्ति शरीर के होते होती है, और शरीर का निर्माण परमेश्वर द्वारा होता है।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ २ ॥

अर्थ—(यः) जो (सोमे अन्तः) चन्द्रमा के भीतर [अग्निः] परमेश्वराग्नि है, (यः) जो (गोषु अन्तः) गमन करनेवाले नक्षत्र आदि में परमेश्वराग्नि है, (यः) जो (वयःसु) पक्षियों में, (यः) जो (मृगेषु) मृगों में (आविष्टः) सर्वत्र प्रविष्ट परमेश्वराग्नि है। (यः) जो (आविवेश) सर्वत्र प्रविष्ट है (द्विपदः) दो-पायों में, (यः) जो (चतुष्पदः) चौ-पायों में, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिए (एतत्) यह हवि (हुतम् अस्तु) प्रदत्त हो।

[परमेश्वराग्नि सर्वव्यापक होने से सबमें प्रविष्ट है। पदार्थगत है। नाना प्रवेश्यों की दृष्टि से परमेश्वराग्नि को नानारूपों में दर्शाया है। अतः अग्नयः पद का प्रयोग हुआ है। परमेश्वर के प्रत्येक अग्नि स्वरूप के प्रति आहुति समर्पित की गई है।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ३ ॥

अर्थ—(यः) जो (वैश्वानरः) समग्र नर-नारियों का हित करनेवाला, तथा (विश्वदाव्यः) समग्र जगत् के लिए दावाग्नि के सदृश (देवः) परमेश्वर-देव, (इन्द्रेण) इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा के साथ (सरथम्) एक शरीररथ में आरूढ़ हुआ (याति) गमन करता है, विचरता है। (यम्) जिस (पृतनासु) देवासुर संग्रामों में (सासहिम्) अत्यर्थ पराभव करनेवाले को (जोहवीमि) मैं बार-बार पुकारता हूँ, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन वैश्वानर आदि अग्नियों के लिए [निज सहायतार्थ] (एतत्) यह प्राकृतिक तथा

---

१. ज्ञान, इच्छा, कृति अर्थात् संकल्प विषयों का प्रकाश करते हैं, अतः ये अग्नियाँ हैं, "अग्निवत् प्रकाशिका हैं"।

आत्महवि (हुतम् अस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो।

[सरथम्="**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु**" (कठ० उप० ३.३), अर्थात् जीवात्मा है रथस्वामी और शरीर है रथ। इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीवात्मा। यह और वैश्वानर-देव—ये दोनों, शरीर-रथस्थ हृदय में विद्यमान हैं, और परस्पर सखा हैं। पृतनासु=आध्यात्मिक देवासुर-संग्राम, जोकि मनुष्य जीवन में होते रहते हैं। परमेश्वर निज ध्याताओं की आसुर-भावनाओं का पराभव करता है। अग्निभ्यः=इन्द्र और वैश्वानर-देव आदि अग्नियाँ हैं। ये आसुरी-भावनाओं को दग्ध करती हैं।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ४॥

अर्थ—(यः) जो (देवः) परमेश्वर-देव (विश्वाद्) विश्व को खा जाता है [प्रलयकाल में] (यम्, उ) जिसे ही (कामम्) कामनावाला या काम्य (आहुः) कहते हैं, (यम्) जिसे (दातारम्) दाता तथा (प्रतिगृह्णन्तम्) हमारी भक्ति-श्रद्धा को स्वीकार करनेवाला (आहुः) कहते हैं। (यः) जो (धीरः) धीमान्, (शक्रः) शक्तिशाली, (परिभूः) सर्वत्र विद्यमान, (अदाभ्यः) न खाया जा सकनेवाला है, (तेभ्यः अग्निभ्यः) परमेश्वर के उन अग्निस्वरूपों के लिए (एतत्) यह प्राकृतिक तथा आत्महविः (हुतम्, अस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो।

[परमेश्वर विश्वाद् है, विश्व+**अद भक्षणे** (अदादिः), वह विश्व का भक्षण करता है, अतः अग्निरूप है। वह कामनावाला है, अतः काम है। इसे उपनिषदों में "अकामयत" द्वारा कहा है। कामना द्वारा जगत् को वह प्रकाशित करता है, इसलिए भी वह अग्नि है। अग्नि प्रकाशक होती है। वह धीर है, बुद्धिमान् है, ज्ञानवान् है। ज्ञान ज्ञेयों को प्रकाशित करता है, इसलिए भी वह अग्निरूप है।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ५॥

अर्थ—[हे परमेश्वराग्नि!] (यम्, त्वा) जिस तुझको, (होतारम्) दाता तथा अत्तारूप में (भौवनाः) भुवनवासी (त्रयोदश) १३ मास,[१] तथा (पञ्च)[२] पाँच प्रकार के (मानवाः) मननाभ्यासी मनुष्य, (मनसा)

१. मासों में संविदुः की शक्ति नहीं, मास जड़ हैं। अतः मास का अभिप्राय है मास-निवासिनः, उपचारात्। यथा मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति।

२. पाँच प्रकार के मानव यथा, "**पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्" गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि** (निरुक्त ३.२.८)। होत्रम् का अभिप्राय है अग्निहोत्र आदि यज्ञ। पितरः और देवाः के साथ पठित "गन्धर्वाः, असुराः, रक्षांसि" पद भी श्रेष्ठार्थवाचक हैं। गन्धर्वा हैं **गानविद्याज्ञातारः, असुराः हैं प्रज्ञानवन्तः "असुः प्रज्ञानाम"** (निघं० ३.९)। रक्षांसि हैं रक्षक। परमेश्वर को भी रक्षस् कहा है, यथा "**स एव मृत्युः सोऽमृतं सोभ्व्यं स रक्षः**" (अथर्व० १३.४(३).२५)। परमेश्वर रक्षस् है, वह सबका रक्षक है। १३ मास हैं, १२ मास संवत्सर के और १ अधिमास तथा "**अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते**" (अथर्व० १३.३.८)। यह चान्द्रमास है। सौरवर्ष के दिन अधिक होते और चान्द्रवर्ष के दिन ३० कम होते हैं। उनकी पूर्ति के लिए १३वाँ अधिमास है। अधिमास=अधिक मास।
मानवाः=मननाभ्यासिनः। यह अर्थ यहाँ संगत प्रतीत होता है। यद्यपि अद्भुत है। ऐसा अद्भुत अर्थ भी है "मानुष=**मनुष्यहितोऽयमादित्यः**" (मा ते राधांसि) मन्त्र ऋ० १.८४.२० पर निरुक्त १३ (१४), ३ (२), खं० ३७ (५०)।

मन या मनन द्वारा (अभि) साक्षात् (संविदुः) सम्यक्तया जानते हैं, उस (वर्चोधसे) दीप्तिधारी के लिए, (यशसे) यशस्वी के लिए, (सूनृतावते) प्रिय तथा सत्य वेदवाणी वाले के लिए, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन सब तेरे आग्नेय स्वरूपों के लिए, (एतत्) यह प्राकृतिक तथा अध्यात्म अर्थात् आत्महविः (हुतम् अस्तु) आहुति रूप में प्रदत्त हो, समर्पित हो।

[परमेश्वर अग्निरूप है। यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यः**" (यजुः० ३२.१)। परमेश्वर के नानाविध आग्नेयस्वरूपों के प्रति प्राकृतिक तथा आत्महविः समर्पित की है। चांद, सूर्य, विद्युत्, तथा नक्षत्र तारागण परमेश्वराग्नि के ही नानारूप हैं, "**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**"।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड् बृहती** ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ६ ॥

अर्थ—(उक्षान्नाय) वर्षा द्वारा सींचनेवाला आदित्य जिसका अन्न है, उसके लिए, (वशान्नाय) तथा वशा जिसका अन्न है उसके लिए, (सोमपृष्ठाय) उत्पन्न जगत् का जो पृष्ठ अर्थात् आधार है उसके लिए, (वेधसे) जगत् का, या विधियों का विधान करनेवाले के लिए, (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) समग्र नर-नारियों का हित करनेवाला परमेश्वररूप जिनमें ज्येष्ठ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिए (एतत्) यह प्राकृतिक तथा आत्महविः (हुतम्, अस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो।

[उक्षा=**उक्ष सेचने** (भ्वादिः), "**आदित्याद् जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नम्**"। वशा="**वशेदं सर्वमभवत्, देवा मनुष्या असुराः पितर ऋषयः**" (अथर्व० १०.१०.२६) अर्थात् यह दृश्यमान जगत् तथा देव, मनुष्य, असुर, पितर और ऋषि "वशा" हैं। अर्थात् उक्षा और दृश्यमान जगत्, तथा देव आदि जिनके अन्त हैं। प्रलयकाल में आदित्य तथा वशोक्त सब परमेश्वराग्नि के अन्नरूप हो जाते हैं। परमेश्वर अन्नाद है, मन्त्राभिप्रेत अन्न का अदन करता है। यह सृष्टिकाल में भी हो रहा है, और महाप्रलय-काल में भी। परमेश्वर अन्न भी है। उपासक इसके अन्नरस अर्थात् आनन्दरस का पान करते हैं, और यह अन्नाद भी है। यथा "**अहमन्नम्, अहमन्नादः**" (तैत्ति० उप० ३.१०.६)।

सोमपृष्ठाय=सोम है उत्पन्न जगत् (**षु प्रसवे,** भ्वादिः, अदादिः)। परमेश्वर उत्पन्न जगत् की पीठ है, आधार है। जैसे अश्व की पीठ अश्वारोही का आधार होती है।

वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः=परमेश्वर है वैश्वानर, सब नर-नारियों का हितकारी। सबका हितकारी होने से यह सर्वज्येष्ठ अग्नि है। अग्निरूप होकर यह पाप-मल को भस्मीभूत कर देता है और प्रलय में जगत् को भी।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भा त्रिष्टुप्**॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ७॥

अर्थ—(ये) जो अग्नियाँ (दिवम्) द्युलोक में, (पृथिवीम्) पृथिवी में, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (अनु) अनुप्रवेश करके (सं चरन्ति) संचार करती हैं, (ये) जो (विद्युतम् अनु) विद्योतमान राशिचक्र में विचरती हैं। (ये) जो (दिक्षु अन्तः) सब दिशाओं के भीतर हैं, (ये) जो (वाते अन्तः) वायु के भीतर उल्काग्नियाँ हैं, (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियों के लिए (एतत्) यह प्राकृतिक तथा आत्महविः

(हुतमस्तु) प्रदत्त हो, अर्पित हो।

[उल्का:=(अथर्व० १९.९.८, ९)। दिक्षु=अथर्व० (१९.८.१)। ये अग्नियाँ हैं परमेश्वर का तेज:स्वरूप, जो कि इनमें भासित हो रहा है, "**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**" (मुण्डक० उप० २.२.१०)।]

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्द:—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान्देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम्॥ ८॥

अर्थ—(हिरण्यपाणिम्) हिरण्य जिसके हाथ में है (सवितारम्) उस सर्वप्रेरक या सर्वोत्पादक परमेश्वर का, (इन्द्रम्) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का, (बृहस्पतिम्) बृहती वेदवाणी के पति का, (वरुणम्) अपांपति का, (मित्रम्) स्नेहकारी [वर्षा द्वारा] मेघ का, (अग्निम्) यज्ञियाग्नि का तथा (अङ्गिरसः विश्वान् देवान्) अङ्गों तथा अङ्गी शरीर के सब रसों का (हवामहे) हम कथन करते हैं, ये सब (इमम्, क्रव्यादम्,[1] अग्निम्) इस कच्चे मांस का भक्षण करनेवाली शवाग्नि को (शमयन्तु) शान्त करें। "हिरण्यपाणिम्" द्वारा यह दर्शाया है कि परमेश्वर ही सबकी रक्षा दान द्वारा कर रहा है।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्द:—**निचृदनुष्टुप्** ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः। अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम्॥ ९॥

अर्थ—[सविता आदि के प्रभाव द्वारा, मन्त्र ८] (क्रव्याद् अग्निः शान्तः) कच्चे मांस की भक्षक अग्नि शान्त हो गई है, (पुरुषरेषणः) पुरुषहिंसक क्रव्याद् अग्नि (शान्तः) शान्त हो गई है। (अथो) तथा (यः) जो अग्नि (विश्वदाव्यः) विश्व का दहन करनेवाली दावाग्नि है (तम् क्रव्यादम्) उस क्रव्याद् अग्नि को (अशीशमम्) मैंने शान्त कर दिया है।

[विश्वदाव्य:=हृदयस्थ ताप-संतापरूपी अग्नि। यह अग्नि सब पुरुषों को दावाग्नि के सदृश दग्ध करती रहती है। "अशीशमम्" उक्ति परमेश्वर की है।]

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्॥ १०॥

अर्थ—(सोमपृष्ठाः) सोमौषधि जिनकी पीठ पर विद्यमान है, ऐसे (ये) जो (पर्वताः) पर्वत हैं, तथा (उत्तानशीवरीः) ऊपर-ताने अर्थात् विस्तृत वायु-मण्डल में शयन करनेवाले जो (आपः) जल हैं; (वातः) प्रवाही वायु, (पर्जन्यः) मेघ, (आत्) तदनन्तर (अग्निः) यज्ञियाग्नि है (ते) उन्होंने (क्रव्यादम्) कच्चे मांस का भक्षण करनेवाली शवाग्नि अर्थात् श्मशानाग्नि को (अशीशमन्) शान्त कर दिया है, प्रभावरहित कर दिया है।

[सोम है वीरुधों का अधिपति यथा "**सोमो वीरुधामधिपतिः।**" (अथर्व० ५.२४.७)। आपः हैं ऊपर अर्थात् वायुमण्डल में शयन किये हुए जल, जिनकी जागृति वर्षाकाल में होती है तथा वायु आदि, क्रव्यादग्नि को शान्त कर देते हैं। मनुष्य की आयु १०० वर्षों की कही है। १०० वर्षों से पूर्व मृत्यु अन्नादि

---

१. **क्रव्यम्=कृवि हिंसाकरणयोश्च** (भ्वादि:)। हिंसा द्वारा प्राप्त मांस अर्थात् शरीर।

के दोषादि द्वारा होती है। इस मृत्यु में शरीर कच्चे मांस-वाला होता है, पूर्णतया परिपक्व मांसवाला नहीं होता, यह "क्रव्य" होता है, इसे भक्षण करनेवाली श्मशानाग्नि क्रव्यादग्नि है। क्रव्यम्=**कृवि हिंसाकरणयोश्च**। सोम आदि के सेवन में क्रव्यादग्नि शान्त हो जाती है।]

सूक्त २२

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदित्या यत्तन्वः संबभूव।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥ १॥

अर्थ—(हस्तिवर्चसम्) हाथी के तेज जैसा तेज (प्रथताम्) राष्ट्र में फैले, (बृहद् यशः) यह तेज महायशरूप है [यश का उत्पादक है], (यत्) जो तेज कि (अदित्याः) अदीना अर्थात् न क्षीण होनेवाली प्रकृति की (तन्वः) तनू[1] से (सं बभूव) सम्पन्न हुआ है। (विश्वे देवाः) प्रकृतिजन्य सब प्राकृतिक दिव्य शक्तियों ने तथा (सजोषाः अदितिः) प्रेमवाली प्रकृति ने, (सर्वे) इन सबने, (तत् एतत्) प्रसिद्ध इस तेज को (मह्यम्) मुझे (सम्, अदुः) परस्पर मिल कर दिया है।

[हस्तिवर्चस है महाबलरूपी तेज। सजोषाः=प्रकृति प्रेममयी माता रूप है, जिसने कि हमें शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि तथा खाद्य-पेय अन्न प्रदान किया है और हमारी रक्षा के लिए पृथ्वी, वायु तथा आदित्य आदि प्रदान किये हैं।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततुः। देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा॥ २॥

अर्थ—(मित्रः च) मित्रों को बढ़ानेवाला मन्त्री, (वरुणः च) और निज प्रत्येक राष्ट्र का अधिपति, (इन्द्रः) सम्राट्, (रुद्रः च) और रौद्रकर्मा युद्धमन्त्री, (चेततुः=चेततु) इनमें से प्रत्येक [राष्ट्र में] सचेत रहे, सावधान रहे। (विश्वधायसः देवासः) सब प्रजाजनों का धारण-पोषण करनेवाले अन्य अधिकारी-वर्ग (ते) वे (मा) मुझ साम्राज्य के स्वामी को, (वर्चसा) वर्चस् द्वारा (अञ्जन्तु) कान्तियुक्त करें। "च" पद समुच्चयार्थक हैं।

[मित्रः=**मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व** (अथर्व० २.६.४), अर्थात् हे अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री! तू मित्र अर्थात् स्नेही "मित्र" नामक मन्त्री द्वारा मित्रधा होकर, मित्र राजाओं को धारण करने में यत्न किया कर। अग्निः=**अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। वरुणः=**"इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा"** (यजुः० ८.३७)। विश्वधायसः=विश्व+धा (युक्)+असुन्, प्रथमा विभक्ति बहुवचन। अञ्जन्तु=**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः)।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥
छन्दः—**पञ्चपदा परानुष्टुप् विराडतिजगती**॥

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः।
येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु॥ ३॥

१. हाथी महाकाय है, उसकी उत्पादक-माता भी महाकाया होनी चाहिए। प्रकृति विस्तार में महाकाया है। इसे द्योतित करने के लिए "तनू" का प्रयोग हुआ है, **तनु विस्तारे** (तनादिः)।

अर्थ—(येन वर्चसा) जिस वर्चस् के साथ (हस्ती संबभूव) हाथी पैदा हुआ है, (येन) जिस वर्चस् के साथ (राजा मनुष्येषु) राजा मनुष्यों में हुआ है, [जिस वर्चस् के साथ] (अप्सु अन्तः) मेघीय जलों में विद्युत् पैदा होती है, (येन) जिस वर्चस् के साथ (अग्रे) पूर्वकाल से (देवाः) दिव्यजन (देवताम् आयन्) देवत्व को प्राप्त हुए हैं, (तेन वर्चसा) उस वर्चस् के साथ (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (माम्) मुझको (अद्य) आज (वर्चस्विनम् कृणु) वर्चस्वी कर।

[वर्चस्=**वर्च दीप्तौ** (भ्वादिः)। हस्ती आदि में दीप्ति अर्थात् तेज पृथक्-पृथक् रूपवाला है। हस्ती का तेज है बल, शारीरिक बल। राजा आदि में भी तेज अपने-अपने ढंग का है। व्यक्ति जोकि प्रजाओं द्वारा "राजा" निर्वाचित हुआ है, वह प्रधानमन्त्री से कहता है कि आज जबकि मैं राजासनस्थ हुआ हूँ, तू मुझे वर्चस्वी कर, राज्य में मेरे वर्चस् को बढ़ा। निर्वाचन काल में राज्याधिकारी अधिकार से वञ्चित कर दिए जाने चाहिएँ, केवल प्रधानमन्त्री ही निर्वाचन का प्रबन्ध करे—यह भाव प्रतीत होता है।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः। यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा॥ ४॥

अर्थ—(जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान हे अग्नि! (आहुतेः) आहुति से (यत्) जो (ते) तेरा (बृहत् वर्चः) महावर्चस् (भवति) हो जाता है, (यावत्) जितना बड़ा (सूर्यस्य वर्चः) सूर्य का वर्चस् है, (च) और जितना बड़ा (आसुरस्य) प्राणवान् (हस्तिनः) हाथी का वर्चस् है, (पुष्करस्रजा) पद्ममाला धारण करनेवाले (अश्विना) हे दो अश्वियो! (तावत्) उतना बड़ा वर्चस् (मे) मुझमें (आ धत्ताम्) तुम स्थापित करो।

[जातवेदः=**जाते-जाते विद्यते वा** (निरुक्त ७.५.१९) आसुरस्य=असुर एव आसुरः, स्वार्थेऽण्। असुरः=प्राणवान्, यथा **असुरत्वम्=प्राणवत्वम्** (निरुक्त १०.३.३४)। मे=मह्यम्। अश्विना=रथाश्वों और अश्वारोहियों के अश्व; दो प्रकार के अश्वों के नियन्ता दो सेनापति। पुष्करस्रजा=दोनों सेनापतियों के सत्कारार्थ पद्मपुष्पमालाएँ। मे वर्चः आधत्ताम्=मुझ निर्वाचित राजा में दोनों सेनापति वर्चस् का आधान करें।]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते। तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम्॥ ५॥

अर्थ—(चतस्रः प्रदिशः) चार प्रकृष्ट-दिशाएँ (यावत्) जितने प्रदेश में व्याप्त हैं तथा (चक्षुः) रूपग्राहक आँख (यावत्) जितने प्रदेश को (समश्नुते) सम्यक् व्याप्त करती है, जितने प्रदेश तक देख सकती है, (तावत्) उतना (इन्द्रियम्) ऐन्द्रियिक बल (समैतु) मुझे प्राप्त हो, (मयि) और मुझमें (तद्) वह अर्थात् उत्तम (हस्तिवर्चसम्) हाथी का वर्चस् (ऐतु) प्राप्त हो। हस्तिवर्चस् है, बल का अतिशय।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम्॥ ६॥

अर्थ—(सुषदाम्) सुख से स्थित हुए। (मृगाणाम्) मृगों के मध्य, (हस्ती) हाथी, (हि) निश्चय

से (अतिष्ठावान्) बल में सबको अतिक्रान्त करके स्थित हुआ है; (तस्य) उस हाथी के (भगेन) यश द्वारा (वर्चसा) तथा तेज द्वारा, (अहम्) मैं (माम्) अपने-आपका (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूँ।

[भगेन=यशसा, यथा "**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।**" नवनिर्वाचित राजा, जल द्वारा अभिषिक्त न होकर, अपने-आपको यश और तेज द्वारा अभिषिक्त होने का अभिलाषी है। वह चाहता है कि राज्य में उसका यश और तेज बढ़े।]

सूक्त २३

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत्। इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥

अर्थ—[हे नारी!] (येन) जिस कारण से (वेहत्) गर्भघातिनी (बभूविथ) तू हुई है, (तत्) उसे (त्वत्) तुझसे (नाशयामसि) हम [वैद्य] नष्ट करते हैं। (इदम् तत्) इस प्रसिद्ध कारण को (त्वत् अप) तुझसे अपगत कर, (अन्यत्र दूरे) अन्यत्र दूर (निदध्मसि) हम स्थापित करते हैं [फैंक देते हैं, सायण।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्बाण इवेषुधिम्। आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

अर्थ—(ते योनिम्) तेरी योनि में (पुमान् गर्भः) पुमान् गर्भ (आ एतु) आए (इव) जैसे कि (बाणः) बाण (इषुधिम्[1]) इषुओं को धारण करनेवाले निषङ्ग में स्वभावतः प्राप्त हो जाता है। (अत्र) इस प्रसूतिकाल में या इस तेरे घर में (दशमास्यः) दसवें मास में पैदा होनेवाला (ते वीरः पुत्रः) तेरा वीर पुत्र (आ जायताम्) आजाए या उत्पन्न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥ ३ ॥

अर्थ—[हे नारी!] (पुमांसम्) पुमान् (पुत्रम्) पुत्र को (जनय) तू जन्म दे, (तम् अनु) उसके अनन्तर (पुमान्) पुमान् पुत्र (जायताम्) पैदा हो। (भवासि) तू हो (जातानां पुत्राणाम्) उत्पन्न हुए पुत्रों की, (च) और (यान्) जिन्हें तू (जनयाः) पैदा करेगी, उनकी (माता) माता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च। तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

अर्थ—(यानि) जिन (भद्राणि बीजानि) भद्र बीजों को (ऋषभाः) ऋषभगण की ओषधियाँ (जनयन्ति) पैदा करती हैं, (तैः) उन बीजों [के सेवन] द्वारा (त्वम्) तू (पुत्रम् विन्दस्व) पुत्र प्राप्त कर, (सा) वह तू [हे नारी!] (प्रसूः) प्रसव करनेवाली होकर, (धेनुका) अल्पकाया, दूध देनेवाली गौ (भव) बन।

[बीजानि पद द्वारा प्रतीत होता है कि "ऋषभाः" ओषधियाँ हैं, जिनके भद्रबीजों के सेवन से नारी पुत्र प्रसव कर नवजात शिशुओं को दुग्ध पिला सकती है। बीज भद्र होने चाहिएँ, दूषितावस्था के नहीं।

१. इषुधिः=इषुओं को रखने की थैली। युद्धकाल में यह योद्धाओं की पीठ पर बंधी रहती है। इसे निषङ्ग तुणीर तथा तर्कश भी कहते हैं।

ऋषभा: को मन्त्र ६ में वीरुध् कहा है, और ओषधयः भी, तथा "मूलम्" द्वारा इनकी जड़ों को भी सूचित किया है।]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—योनिः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद् भुरिग् बृहती ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव॥ ५॥

अर्थ—(ते) तेरे लिए (प्राजापत्यम्) प्रजोत्पादक यज्ञ (कृणोमि) मैं पति करता हूँ, [अभिप्राय है गर्भाधान संस्कार], (गर्भः) गर्भ (ते योनिम्) तेरी योनि को (आ एतु) प्राप्त हो। (नारि) हे नारि! (त्वम्) तू (पुत्रम् विन्दस्व) पुत्र को प्राप्त कर, (यः) जो पुत्र कि (तुभ्यम्) तेरे लिए (शम् असत्) सुखदायी हो, (शम् उ) और सुख देनेवाली ही (तस्मै) उस पुत्र के लिए (त्वम्) तू (भव) हो।

["आ योनिं गर्भ एतु ते" द्वारा स्पष्ट है कि मन्त्र में गर्भाधान का वर्णन है। इस निमित्त किये जानेवाले यज्ञ को "प्राजापत्य" कहा है। प्रजापति है परमेश्वर। वह समग्र प्राणियों का पति है, रक्षक है। पति भी सन्तानोत्पत्ति कर, सन्तानों का पति अर्थात् रक्षक बनना चाहता है। अतः गर्भाधानसम्बन्धी यज्ञ अर्थात् संस्कार करता है। ताकि गर्भाधान के समय पति-पत्नी की भावनाएँ यज्ञमयी हों।]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—योनिः ॥ छन्दः—स्कन्धोग्रीवी बृहती ॥

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः॥ ६॥

अर्थ—(यासाम् वीरुधाम्) जिन विरोहणशील ओषधियों का (पिता) पिता (द्यौः) द्युलोक है, (माता पृथिवी) और माता पृथिवी है, (समुद्रः) समुद्र (मूलम्) मूल कारण (बभूव) है; (ताः दैवीः ओषधयः) वे दिव्य ओषधियाँ, (पुत्रविद्याय) पुत्र प्राप्ति के लिए, (त्वा प्रावन्तु) तुझे सुरक्षित करें।

[द्यौः पिता है, वर्षारूपी वीर्यप्रदाता। पृथिवी माता है, ओषधियाँ पृथिवी से प्राप्त होती हैं। समुद्र है "मूलम्" अर्थात् मूलकारण, ये सामुद्रिक ओषधियाँ हैं, जो आसन्न समुद्र-तट[१] पर पैदा होती हैं।]

सूक्त २४

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः। अथो पयस्वतीनामा भरेहं सहस्रशः॥ १॥

अर्थ—(पयस्वतीः) सारवाली हैं (ओषधयः) ओषधियाँ, (पयस्वत्) सारवाला है (मामकम् वचः) मेरा वचन। (अथो) तथा (पयस्वतीनाम्) सारवाली (सहस्रशः) हजारों ओषधियों को (अहम्) मैं (आ भरे) प्राप्त करूँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—वनस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत् पथ्या पङ्क्तिः ॥

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे॥ २॥

अर्थ—(अहम्) मैं (वेद) जानता हूँ (पयस्वन्तम्) जलवाले को, जिसने कि (बहु धान्यम्) बहुत

१. यथा "गङ्गायां घोषाः"=गङ्गातटे घोषाः, उपचारात्।

धान्य (चकार) पैदा किया है। (संभृत्वा नाम यः देवः) संभरण-पोषण करने में जो प्रसिद्ध व्यवहारकुशल दिव्य व्यक्ति है, (तं वयम् हवामहे) उसका हम आह्वान करते हैं, (यः यः) और जो-जो [संभरण-पोषण करनेवाला व्यवहार कुशल] (अयज्वनः) राष्ट्र-यज्ञ न करने वाले के (गृहे) घर में नियत है उस-उसका भी आह्वान करते हैं।

[पयस्वान् है मेघ। मेघ है जलवाला। इस द्वारा वर्षा से धान्य बहुत पैदा होता है। संभृत्वा=संपूर्वात् भृञः[1] क्वनिप् (अष्टा० ३.२.७५), तुक् (अष्टा० ६.१.७१), (सायण), (यः यः) जो जो "संभृत्वा"। देवः=**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार** आदि (दिवादिः) अर्थात् व्यवहारकुशल "राज्यकर" का अधिकारी (यः यः) जो-जो भी "राज्यकर" के संग्रह करने में, राष्ट्रयज्ञ के न करनेवालों के घर-घर में नियुक्त हैं, उनका आह्वान है, उन द्वारा संगृहीत "राज्यकर" की राशि के परिज्ञानार्थ। "अयज्वनः गृहे" जात्येकवचन है, अभिप्राय है "अयज्वनां गृहेषु"। "राज्यकर" स्वेच्छापूर्वक देना, यह प्रत्येक भूमिपति का कर्त्तव्य है, तो भी उनकी सुविधा के लिए संग्रह करनेवाले नियुक्त किये गये हैं।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्॥ ३ ॥

अर्थ—(इमाः याः) ये जो (पञ्च) विस्तृत (प्रदिशः) प्रकृष्ट दिशाएँ हैं, और (पञ्च) विस्तृत (मानवीः) मानुष (कृष्टयः) कृषि करनेवाली प्रजाएँ हैं, ये (इह) इस राज्य में (स्फातिम्) समृद्धि को (समावहान्) हम परस्पर मिलकर प्राप्त करें, प्रवाहित करें, (इव) जैसेकि (नदीः) नदियाँ (वृष्टे) वर्षा में (शापम्) शापरूप मल को प्रवाहित कर देती हैं।

[पञ्च=**पचि विस्तारवचने** (चुरादिः)। **कृष्टयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३), सम्भवतः कृषि करनेवाले मनुष्य।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम्। एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम्॥ ४॥

अर्थ—(उत्सम्) जैसेकि चश्मा, (शतधारम् सहस्रधारम्) सौ धाराओं वाला तथा हजार धाराओंवाला (उत्) उद्धृत हुआ (अक्षितम्) क्षीण नहीं होता, (एव) इसी प्रकार (अस्माक=अस्माकम्) हमारा (इदम् धान्यम्) यह धान्य (अक्षितम्) क्षीण नहीं होता, (सहस्रधारम्) और हजारों का धारण-पोषण करता है। उत्=उद्भूतम् (सायण)।

[मन्त्र २ में बहुधान्यम्, तथा मन्त्र ३ में स्फातिम् के कारण हमारा धान्य अक्षित है।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥ ५॥

अर्थ—[हे कृषि करनेवाले! मन्त्र ३] (शतहस्त) सौ हाथोंवाला होकर (समाहर) धान्य आदि का संग्रह कर, और (सहस्रहस्त) हजार हाथोंवाला होकर (संकिर) सम्यक् दान कर। (इह) इस राज्य में (कृतस्य) किये दान की, (च) और (कार्यस्य) भावी काल में किये जाने वाले योग्य दान की (स्फातिम्)

१. भृञ् धारणपोषणयोः, तथा भृञ् भरणे।

वृद्धि को (सम् आवह) संप्राप्त कर।

[कृषक के लिए कहा है कि तू जितना धान्य प्राप्त करता है, उससे अधिक दान देने के लिए प्रयत्न कर। संकिर=सम्+**कॄ विक्षेपे** (तुदादिः)। विक्षेप है फेंकना। इस द्वारा सम्पत्ति में मोह त्याग सूचित किया है।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ति॒स्रो मात्रा॑ गन्ध॒र्वाणां॒ चत॑स्रो गृ॒हप॑त्न्याः।

तासां॒ या स्फा॑ति॒मत्त॑मा॒ तया॑ त्वा॒भि मृ॑शामसि॥ ६॥

अर्थ—(गन्धर्वाणाम्) पृथिवी के धारण करनेवाले पतियों का (मात्रा) हिस्सा है (तिस्रः) तीन और (गृहपत्न्याः) गृहपत्नी की मात्राएँ हैं, हिस्से में चार (तासाम्) उन मात्राओं में (या) जो (स्फातिमत्तमा) अतिसमृद्धियुक्त मात्रा है, (तया) उस मात्रा के साथ (त्वा) हे गृहपत्नी! (अभिमृशामसि) हम तेरा स्पर्श करते हैं।

[अभिमृशामसि द्वारा राज्याधिकारी गृहपत्नी को आश्वासन देते हैं। गृहपत्नी जब प्राप्त सम्पत्ति की अधिकारिणी हो, तो वह गृहजीवन में स्वतन्त्रता अनुभव कर सकती है। और पति-पत्नी परस्पर के सहयोगपूर्वक अधिक सुखी रह सकते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उ॒पो॒हश्च॑ समू॒हश्च॑ क्ष॒त्तारौ॑ ते प्रजापते।

तावि॒हा व॑हतां स्फा॒तिं ब॒हुं भू॒मान॒मक्षि॑तम्॥ ७॥

अर्थ—(प्रजापते) उत्पन्न सन्तानों के रक्षक! [हे सद्गृहस्थ] (उपोहः) धन की प्राप्ति (च) और (समूहः) उसका समूहीकरण अर्थात् बढ़ाना, (ते) तेरे लिए, (क्षत्तारौ) क्षतिनद से तैरानेवाले हैं; (तौ) वे दोनों (इह) इस गृहस्थ में (स्फातिम्) समृद्धि को, (अक्षितम्) तथा न क्षीण होनेवाले (बहुम्) बहुत प्रकार की (भूमानम्) बहुतायत को (आ वहताम्) प्राप्त कराएँ, [**वह प्रापणे**]।

[उपोहः=उप+**वह प्राप्तौ** (भ्वादिः)। समूहः=सम्+वह प्राप्तौ। क्षत्तारौ=क्षत्+**तॄ संतरणे** (भ्वादिः)।]

सूक्त २५

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः**, **मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उ॒त्तु॒दस्त्वोत्तु॑दतु॒ मा धृ॑था॒ः शय॑ने॒ स्वे।

इषु॒ः काम॑स्य॒ या भी॒मा तया॑ विध्यामि त्वा हृ॒दि॥ १॥

अर्थ—(उत्तुदः) अति व्यथाकारी काम (उत् तुदतु) हे पत्नी! तुझे व्यथित करे, (स्वे शयने) निज शय्या पर (मा धृथाः) तू धारित न हो। (कामस्य) कामवासना की (या भीमा इषुः) जो भयानक इषु है (तया) उस द्वारा (त्वा) तुझे (हृदि) हृदय में (विध्यामि) मैं बींधता हूँ।

[रुष्ट हुई पत्नी के प्रति उसका पति कहता है कि तुझे काम के बाण द्वारा बींधता हूँ, इससे तू शय्या पर सुख से शयन न कर सकेगी।]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कामेषुः, मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम्।

तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

अर्थ—(आधीपर्णाम्) मानसिक चिन्तारूपी पंखोंवाली, (कामशल्याम्) अभिलाशारूपी लोहाग्रवाली, (संकल्पकुल्मलाम्) संकल्परूपी फूलती हुई कलीवाली, (ताम्) उस कामेषु को (सुसंनतां कृत्वा) उत्तम प्रकार से तेरी ओर नत करके, झुकाकर, (कामः) काम (त्वा) तुझे (हृदि विध्यतु) हृदय में बींधे।

[पर्ण को पुंख भी कहते हैं अर्थात् खिलती हुई कली (उणा० ४.१८८; दयानन्द)। खिले फूल, मेघगर्जना, वसन्त ऋतु आदि कामोत्तेजक हैं—ऐसा कामविज्ञ कहते हैं।]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कामेषुः, मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता।

प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

अर्थ—(सु संनता) उत्तम प्रकार से झुकी हुई, (प्राचीनपक्षा) प्रगति देनेवाले पंखवाली (व्योषाः) विविध प्रकार से जलानेवाली (कामस्य इषुः) काम की इषु (या) जोकि (प्लीहानम्) तिल्ली को (शोषयति) सूखा[1] कर देती है, (तया) उस द्वारा (त्वा) तुझे (हृदि विध्यामि) हृदय में मैं पति बींधता हूँ।

[व्योषाः=वि+**उष दोहे** (भ्वादिः)। सम्भवतः असफल कामवासना चिन्ता तिल्ली (Spleen) को सुखा देती हो।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कामेषुः, मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा।

मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

अर्थ—(व्योषया शुचा) विदाहयुक्त शोक द्वारा (विद्धा) बींधी हुई, (शुष्कास्या) दाह के कारण रुद्ध गलेवाली तू (मा अभि) मेरी ओर (सर्प) आ। और तू (मृदुः) मृदुभाषिणी, (निमन्युः) मन्युरहित, (प्रियवादिनी) प्रिय बोलनेवाली, (अनुव्रता) मेरे अनुकूल कर्मोंवाली हुई, (केवली) केवल मेरी हो जा।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कामेषुः, मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः। यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

अर्थ—(परि मातुः) माता के पास से, (अथो) मा (परि पितुः) पिता के पास से, (त्वा) तुझे (अजन्या) निज प्रेरणा द्वारा (आ अजामि) पूर्णतया मैं प्रेरित करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि (मम क्रतौ असः) मेरे कर्मों में सहयोगिनी तू हो जाए और (मम चित्तम् उप) मेरे चित्त के समीप (अयसि) तू आ जाए।

[विवाहित पत्नियाँ रुष्ट होकर माता-पिता की शरण में चली जाती हैं, वे ही उनके स्वाभाविक आश्रय होते हैं।]

---

१. प्लीहा अर्थात् तिल्ली रक्त का निर्माण करती है। चिन्ता रक्त को सुखा देती है। यह है प्लीहा का शोषण। Spleen=a blood forming organ (your guide to Health) पूना, इण्डिया।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्य॑स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्य॑स्यतम्। अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे॑ ॥ ६ ॥

अर्थ—(मित्रावरुणौ) हे स्नेही तथा वरणीय परमेश्वर! (अस्यै) इसके (हृदः) हृदय से (चित्तानि) संकल्पों या विचारों को (व्यस्यतम्) फैंक दे, निकाल दे। (अथ) तदनन्तर (एनाम्) इसे (अक्रतुम् कृत्वा) कर्म तथा प्रज्ञा से रहित कर, (मम एव) मेरे ही (वशे) वश में (कृणुतम्) कर दे।

[मित्रावरुणौ=एक ही परमेश्वर के गुण-कर्म के भेद से दो नाम हैं। मित्रपद द्वारा परमेश्वर के स्नेह का कथन किया है और वरुणपद द्वारा परमेश्वर की वरणीयता का। निरुक्तकार की दृष्टि में केवल तीन देव हैं, अग्नि, इन्द्र, [वायु] और आदित्य। प्रत्येक के गुणकर्म के भेद से प्रत्येक के नाना दैवत नाम हैं। यथा—"**तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्म-पृथक्त्वाद् यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः**" (निरुक्त ७.२.५)। "**तथा तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः।**" (निरुक्त ७.२.५)।

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ६

सूक्त २६

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**साग्नयो हेतयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप् (पञ्चपदा विपरीतपादलक्षा)** ॥

ये॒३॑स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम॑ देवास्तेषां॑ वो अग्निरिष॑वः।
ते नो॑ मृडत ते नोऽधि॑ ब्रूत तेभ्यो॑ वो नम॒स्तेभ्यो॑ वः स्वाहा॑ ॥ १ ॥

अर्थ—(अस्याम् प्राच्यां दिशि) [हमारे राष्ट्र की] इस पूर्व की दिशा में (ये) जो तुम (हेतयः) हननकर्त्ता (नाम) नामवाले (देवाः) विजिगीषु सैनिक (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु (अग्निः) आग्नेय हैं। (ते) वे तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमें (अधिब्रूत) राष्ट्र-रक्षा के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान का कथन करो, (तेभ्यः वः) उन तुम के लिए (नमः) नमस्कार हो, (तेभ्यः वः) उन तुम के लिए (स्वाहा) हमारी सम्पत्तियों की आहुति हो, प्रदान हो।

[देवाः=दिवु **क्रीडाविजिगीषा** आदि (दिवादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सकामा अविष्यवः** ॥ छन्दः—**जगती (पञ्चपदा विपरीतपादलक्षा)** ॥

ये॒३॑स्यां स्थ दक्षि॑णायां दिश्य॑विष्यवो नाम॑ देवास्तेषां॑ वः काम॒ इष॑वः।
ते नो॑ मृडत ते नोऽधि॑ ब्रूत तेभ्यो॑ वो नम॒स्तेभ्यो॑ वः स्वाहा॑ ॥ २ ॥

अर्थ—(अस्याम् दक्षिणायाम् दिशि) [हमारे राष्ट्र की] इस दक्षिण दिशा में (ये) जो तुम (अविष्यवः) "स्वेच्छापूर्वक रक्षा करनेवाले" (नाम) अर्थात् इस नामवाले (देवाः) विजिगीषु सैनिक हो, (तेषाम् वः) उन तुम की (कामः) कामना अर्थात् इच्छा ही (इषवः) इषु हैं। (ते नो......) पूर्ववत्।

[कामः=राष्ट्र-रक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक कामना। अविष्यवः=अव (रक्षणे, भ्वादिः)+असुन्+क्यच् (इच्छा)+उः। स्वेच्छापूर्वक राष्ट्र-रक्षा करना, न कि भृति के कारण। स्वेच्छापूर्वक राष्ट्र-रक्षा की कामना राष्ट्रिय-शत्रुओं के विनाश में सर्वोत्तम इषुरूप है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अव्युक्ता वैराजः** ॥
छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप् (पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा)** ॥

येऽ३स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां वः आप इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ३॥

अर्थ—(ये) जो (अस्याम् प्रतीच्याम् दिशि) इस पश्चिम दिशा में (वैराजाः नाम) अन्नस्वामी, अर्थात् इस नामवाले, (देवाः) व्यवहारी अर्थात् व्यापारी (स्थ) तुम हो (तेषां वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु (आपः) जल हैं। (ते नो....) पूर्ववत।

[मन्त्रोक्त देव वैश्य हैं, जोकि अन्नस्वामी हैं। विराट्=अन्नम् (सायण)। इषु है आपः अर्थात् जल। जल के द्वारा अन्नोत्पत्ति होती है। इसलिए सूक्त २७, मन्त्र ३ में प्रतीची दिशा का अधिपति वरुण कहा है, "**वरुण अपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४)। राष्ट्र-रक्षा के लिए अन्न पर्याप्त चाहिए, ताकि अन्न द्वारा परिपुष्ट सैनिक और प्रजाजन राष्ट्र-रक्षा कर सकें। स्वाहा=सूक्तियाँ, प्रशंसाएँ। वैश्यों से अन्न प्राप्त कर राष्ट्राधिकारी उनकी प्रशंसा करते हैं। स्वाहा=**सु आह** (निरुक्त ८.३.२०; पदसंख्या १३)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवाताः प्रविध्यन्तः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्,**
(पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा) ॥

येऽ३स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ४॥

अर्थ—(ये) जो (अस्याम् उदीच्यां दिशि) इस उत्तर की दिशा में (प्रविध्यन्तः) प्रकर्षेण बींधनेवाले, (नाम) अर्थात् इस नामवाले (देवाः) विजिगीषु सैनिक (स्थ) हो, (तेषां वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु (वातः) वायु हैं, या वायव्यास्त्र हैं। (ते नो....) पूर्ववत्।

[वातः=निरुक्तकार ने "अप्वा" का कथन किया है (६.३.१२; पदसंख्या ४८)। अप्वा=यह अस्त्र है शत्रु पर फैंकने के लिए। यह प्रक्षेप्ता से अपगत हुआ, वा=वायुरूप होकर, या गतिवाला होकर शत्रु की ओर जाता है। अप्वा[१]=अप्+वा (गतौ, अदादिः)। निरुक्तकार ने इसे "**व्याधिर्वा भयं वा**" कहा है और निर्वचन दिया है "**यदनया विद्धोऽपवीयते**"[१] (६.३.१२)। यह वायुरूप हुआ शत्रु की ओर जाता है। देखो (अथर्व० ३.१.३,५,६, तथा ३.२.१,५,६)। अप्वा वस्तुतः भयरूप है शत्रुओं के लिए।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सौषधिका निलिम्पाः** ॥ छन्दः—**जगती (पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा)** ॥

येऽ३स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ५॥

अर्थ—(ये) जो (अस्याम् ध्रुवायां दिशि) इस स्थिर भूमिरूपा दिशा में (निलिम्पाः) नितरां लिप्त, (नाम) अर्थात् इस नामवाले (देवाः) मोद-प्रमोद में रत रहते (स्थ) हो (तेषाम् वः) उन तुम्हारे (इषवः) इषु हैं (ओषधीः) ओषधियाँ। (ते नो.....) पूर्ववत्।

[ध्रुवा दिशा है पृथिवी, अतः पार्थिव जीवनों में लिप्त मनुष्य। दिवु=मोद-प्रमोदरूप जीवनोंवाले (दिवादिः)। ये ओषधियाँ उत्पन्न कर राष्ट्र की सेवा करते हैं। अन्नरूपी ओषधियों का वर्णन मन्त्र ३ में

---

१. अप्वा और अपवीयते में शब्दसाम्य भी है और अर्थसाम्य भी। अप्वा=अप्+वा (गतौ); अपवीयते=अप+वी (गतौ; अदादिः)।

हुआ है। अत: ओषधी: पद रोगनिवारक ओषधियों के लिए है, युद्ध में आहत सैनिकों के लिए तथा सब प्रजा के लिए रोगोपचार में ओषधियाँ चाहिएँ। स्वाहा=प्रशंसावचन हो उनके लिए।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**बृहस्पतियुक्ता अवस्वन्तः**॥ छन्द:—**जगती (पञ्चपदा विपरीतपादलक्ष्मा)**॥

ये३ऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।

ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ६॥

अर्थ—(ये) जो (अस्याम् ऊर्ध्वायाम् दिशि) इस ऊर्ध्व दिशा में (अवस्वन्त:) रक्षा करनेवाले, (नाम) अर्थात् इस नामवाले, (देवा: स्थ) विजिगीषु सैनिक तुम हो, (तेषाम् व:) उन तुम्हारे (इषव:) इषु (बृहस्पति:) बृहद्-ब्रह्माण्ड-का-पति परमेश्वर है। (ते नो.....) अर्थ पूर्ववत्। (स्वाहा) उनकी रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण हो।

[ऊर्ध्वादिशा द्युलोक की ओर अपरिमित परिमाण में विस्तृत है, अत: उसका पति बृहस्पति कहा है, जोकि "बृहतामपि पति" है। वह ही इषुरूप होकर सबकी रक्षा कर रहा है। अवस्वन्त:=**अवनं रक्षणं तद्वन्तः** (सायण)।]

सूक्त २७

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**प्राची, अग्नि:, असित:, आदित्या:**॥ छन्द:—**अष्टि: (पञ्चपदा)**॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।

यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

अर्थ—(प्राची दिक्) पूर्व की दिशा है, (अग्नि: अधिपति:) अग्नि अधिपति है। (असित:) यह सीमाबद्ध नहीं, (रक्षिता) रक्षण करता है, (आदित्या:) आदित्य की रश्मियाँ (इषव:) इषुरूप हैं। (तेभ्य:) उनके प्रति (नम:) हमारा प्रह्वीभाव हो, (अधिपतिभ्य: नम:) उन अधिपतियों के प्रति प्रह्वीभाव हो, (रक्षितृभ्य: नम:) उन रक्षकों के प्रति प्रह्वीभाव हो, (इषुभ्य: नम:) इषुरूप उनके प्रति प्रह्वीभाव हो, (एभ्य:) इन सबके प्रति (नम:) प्रह्वीभाव (अस्तु) हो। (य:) जो (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, (यम् वयम् द्विष्म:) और जिसके साथ प्रतिक्रियारूप हम द्वेष करते हैं (तम्) उसे (व: जम्भे) तुम्हारी दाढ़ में (दध्म:) हम स्थापित करते हैं।

[अभिप्राय है द्वेष्टा को आदित्य रश्मियों के प्रति सुपुर्द करते हैं। यन्त्र द्वारा आदित्य रश्मियों को एकत्रित कर उन द्वारा उसे जला देते हैं। नम:=**णम प्रह्वत्वे शब्दे च**। प्रह्वीभाव है उनके प्रति झुकना, उन्हें स्वोपरि शक्ति मानकर उनका प्रयोग करना।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**दक्षिणा, इन्द्र:, तिरश्चिराजि:, पितर:**॥ छन्द:—**अत्यष्टि: (पञ्चपदा)**।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।

यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २॥

अर्थ—(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा है, (तिरश्चिराजी) टेढ़ी रेखा वाला (इन्द्रः) इन्द्र[१] [विद्युत्] (रक्षिता) रक्षा करता है, (पितरः) पालक वायुएँ (इषवः) इषु हैं। (तेभ्यो नमः आदि) पूर्ववत्।

[दक्षिण समुद्र से जब मानसून वायु चलती है, तब यह मेघ भरी होती है और इसमें इन्द्र अर्थात् विद्युत् टेढ़ी रेखा में चलती हुई चलती है, जोकि मेघ को ताड़ित कर वर्षा करती है[२]।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्रतीची, वरुणः, पृदाकूः, अन्नम्**॥ छन्दः—**भुरिगष्टिः (पञ्चपदा)**॥

प्रतीची दिग्वरुणोधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ३॥

अर्थ—(प्रतीची दिक्) पश्चिम की दिशा है, (वरुणः अधिपतिः) वरुण अधिपति है, (पृदाकुः) वह पालनप्रदान करता है, (रक्षिता) अतः रक्षा करता है, (अन्नम् इषवः) अन्न उसके इषु हैं। (तेभ्यः नमः आदि) पूर्ववत्।

[वरुणः=**अपामधिपतिः** (अथर्व० ५.२४.४)। अतः वरुण भी वर्षा द्वारा अन्नप्रदान करता है अन्न इषु हैं। अन्न खाने से शरीर में शक्ति बढ़ती है। और शक्ति के बढ़ने से रोगकीटाणु शरीर पर प्रहार नहीं कर पाते, अतः अन्न इषु हैं। पृदाकुः=पृदाकु सर्प भी सम्भव है। वर्षाऋतु में मेघ अन्तरिक्ष में नाना आकृतियाँ धारण करते हैं, उनमें पृदाकु की भी आकृति सम्भावित है। कवि ने एक-मेघाकृति को गज अर्थात् हाथी रूप भी कहा है। यथा मेघ के सम्बन्ध में कहा है, "**वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श**"। पृदाकुः=पृ (पालनम्)+दा (दानम्) कुः (करोतीति)। मन्त्र में पृदाकु मेघ की एक आकृतिविशेष है, यह वर्षा द्वारा अन्न प्रदान करती है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उदीची, सोमः, स्वजः, अशनिः,**॥ छन्दः—**अष्टिः (पञ्चपदा)**॥

उदीची दिक्सोमोधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ४॥

अर्थ—(उदीची दिक्) उत्तर की दिशा है, (सोमः अधिपतिः) सौम्य स्वभाव वाला अधिपति है, (स्वजः) स्वयम् अर्थात् स्वभावतः उत्पन्न हुआ है, (रक्षिता) रक्षा करता है, (अशनिः इषवः) व्याप्त प्रकाश इषुरूप हैं। (तेभ्यः नमः....आदि) पूर्ववत्। अशनिः=**अशूङ् व्याप्तौ** (भ्वादिः)। अशनि उत्तरध्रुव में व्याप्त होकर वहाँ के अन्धकार के विनाश के लिए इषुरूप है।

[सोमः=सौम्यस्वभाव वाला है उत्तरदिशास्थ Aurora (औरोरा) यथा "A luminous meteroric Phenomenon of electrical charactor seen in and towards the Polar regions with a tremulous

---

१. इन्द्र मध्यस्थानी देवता है।

२. वर्षा प्रथम पश्चिम दिशा से प्रारम्भ होती है। तत्पश्चात् प्रधानवर्षा दक्षिण समुद्र से मानसून वायुओं में प्रकट होती है। इन्हें पितरः कहा है, ये पितृवत् हमारी रक्षा करती हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि प्रथम वर्षा का प्रारम्भ पश्चिम से, और तत्पश्चात् प्रधानवर्षा का दक्षिण समुद्र से आगमन होना।

motion and giving forth streams of light. Aurora Borealis, northern lights." (चेम्बरज, २०वीं शतक, कोश)। "औरोरा" यह प्रकाशमान घटना है, जोकि वैद्युत है, और उत्तरदिशा सम्बन्धी है, जोकि उत्तरध्रुव में दृष्टिगोचर होती है, चञ्चलगतिवाली है, और प्रकाशमयी धाराओंरूपी है, इसे उत्तरीय प्रकाश कहते हैं। ये धाराएँ प्रकाशमयी हैं, और शीतल हैं। अतः सौम्यस्वभाव वाली हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ध्रुवा, विष्णुः, कल्माषग्रीवः, वीरुधः**॥ छन्दः—**ककुम्मतिगर्भा भुरिगष्टिः (पञ्चपदा)**॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

अर्थ—(ध्रुवा दिक्) ध्रुवा अर्थात् स्थिरा, पृथिवीरूपा, दिशा है, (विष्णुः) रश्मियों से व्याप्त आदित्य (अधिपतिः) अधिपति है। (कल्माषग्रीवः) यह कृष्णवर्णवाली लताओं को मालारूप में ग्रीवा में धारण किये हुआ है, (रक्षिता) हमारा रक्षक है, (वीरुधः) विविधरूप में आरोहण करनेवाली लताएँ और वृक्ष आदि इसके (इषवः) इषु हैं। (तेभ्यः नमः) आदि पूर्ववत्।

[विष्णुः=**व्यश्नोतेर्वा** (निरुक्त १२.२.१८), विष्णु अर्थात् आदित्य रश्मियों द्वारा व्याप्त होता है। रश्मियों द्वारा व्याप्त आदित्य को "अवि" भी कहा है (अथर्व० १०.८.३१), अवि है रक्षक, इसके सम्बन्ध में कहा है कि "**यस्या रूपेणेमे वृक्षा हरितस्रजः**"। विष्णु अर्थात् आदित्य के ताप और प्रकाश द्वारा वीरुधें प्राप्त होती हैं, ये इषुरूप हैं, रोगों की विनाशिका हैं। अवशिष्ट मन्त्र के अर्थों तथा भावार्थों के लिए देखो मन्त्र (१)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ऊर्ध्वा, बृहस्पतिः, श्वित्रः, वर्षम्**॥ छन्दः—**अष्टिः (पञ्चपदा)**॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ६॥

अर्थ—(ऊर्ध्वा दिक्) ऊपर की दिशा है, (बृहस्पतिः) बृहत् अर्थात् महाविस्तारी द्युलोक,[1] (अधिपतिः) अधिपति है, (श्वित्रः) यह श्वित्र है, (रक्षिता) रक्षक है। (वर्षम् इषवः) वर्षा इसके इषु हैं।

[बृहस्पतिः="**बृहत् चासौ पतिः,**" अथवा "**बृहताम् अधिपतिः,**" **द्युलोके। श्वित्रः=श्वेतते वर्णविशिष्टो भवतीति। कुष्ठभेदो वा** (उणा० २.१३; दयानन्द)। द्युलोक चमकते ताराओं द्वारा श्वेतवर्णवाला है, तथा श्वेतवर्णी ताराओं के मध्यवर्ती स्थानों में आकाश की नीलिमा के कारण कुष्ठरोगरूपी भी है। द्युलोक की ओर से वर्षा आती है। यह वर्षा इषुरूप है; गर्मी, सोखा, अन्नादि के अभाव की विनाशिका है। अवशिष्ट मन्त्रार्थ तथा भावार्थ के लिए देखो मन्त्र (१)।]

---

१. ऊर्ध्वादिक में ही ग्रह, उपग्रह, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारागण निवास करते, तथा विचर रहे हैं, अतः ऊर्ध्वादिक् ही वस्तुतः संसार या ब्रह्माण्ड है। शेष दिशाएँ तो लगभग शून्यसदृश हैं।

सूक्त २८

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदातिजगती** ॥

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून्क्षिणाति रिफती रुशती॥ १ ॥

अर्थ—(एषा) यह सृष्टि (एकैकया) एक-एक से (सृष्ट्या) सर्जन द्वारा अर्थात् क्रमशः (सम्बभूव) निर्मित हुई है, (यत्र) जिस सृष्टि में (भूतकृतः) भूतसृष्टि के सदृश उत्पन्न करनेवालों ने (विश्वरूपाः) विश्व का निरूपण करनेवाली (गाः) वेदवाणियों का (असृजन्त) सर्जन किया। (यत्र) जहाँ (यमिनी) यम-नियमों का उपदेश करनेवाली वेदवाणी (अपर्तुः[१]) ऋतु अर्थात् समय को अपगत करके (विजायते) विधिविरुद्ध रूप में प्रकट की जाती है, तो (सा) वह वेदवाणी मानो (रिफती[२], रुशती) हिंसित होती हुई तथा विनष्ट होती हुई (पशून्) पञ्चविध पशुओं का (क्षिणाति) क्षय कर देती है। [वेदोक्त कर्मों से रहित पुरुष भी पशुसदृश हैं।]

[गाः=**गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। गाः बहुवचन में है। वेदवाणियाँ चार हैं, ऋक्, यजुः, साम, अथर्व। भूतकृतः=भूतकाल की सृष्टियों के सदृश वेदवाणियों को आविर्भूत करनेवाले अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा हैं चार ऋषि। विश्वरूपाः=वेदवाणियाँ विश्व के घटकों का निरूपण करती हैं, यतः उनमें सब विद्याएँ मूलरूप में विद्यमान हैं। एकैकया=एक-एक करके, अर्थात् क्रमशः सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, युगपत् नहीं। पहिले विराट् पैदा हुआ, उसके अतिविरेचन से तारा-नक्षत्र पैदा हुए, तदनन्तर आदित्य, आदित्य परिवार, पृथिवी, और प्राणिजगत् पैदा हुआ। पशून्=**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः** (अथर्व० १०.२.९)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद्भूत्वा व्यद्वरी।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात्॥ २ ॥

अर्थ—(एषा) यह [यमनियमोंवाली वेदवाणी] (क्रव्याद्) मांस खाने वाली, तथा (व्यद्वरी) विविध रूप में खानेवाली (भूत्वा) होकर (पशून्) पञ्चविध पशुओं [मन्त्र १] का (संक्षिणाति) सम्यक् क्षय कर देती है। (उत) इसलिए (एनाम्) इस वेदवाणी को (ब्रह्मणे) वेदवाणी के अधिकारी को (दद्यात्) दे, (तथा) इस प्रकार (स्योना) यमिनी वेदवाणी सुखकारी, (शिवा) तथा कल्याणकारी (स्यात्) हो जाए।

[वेदवाणी का तो सर्वत्र प्रचार होना चाहिए, "**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः**" (यजुः०

---

१. अपर्तुः=ऋतु अर्थात् शिष्यों के आयुः-काल अर्थात् योग्यताकाल का विचार न करके दी गई यमिनी अर्थात् आध्यात्मिक वेदवाणी स्वयं भी विनष्ट होती है, निष्फला होती है, और ग्रहण करनेवालों और उनकी सम्पत्तियों को भी नष्ट कर देती है। यथा—**विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।** (निरुक्त २.१.४)॥ इस उद्धरण में कहा है कि विद्या ब्राह्मण की निधि है, इसका प्रदान ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता और ब्रह्मवेत्ता उसे प्रदान न करे जो कि निन्दक है, कुटिल है, और संयमी नहीं है।

२. **रिफ हिंसायाम्** (तुदादिः) **रुश हिंसायाम्** (तुदादिः)। अपात्रों और कुपात्रों को दी गई यमिनी वेदवाणी उनके लिए क्रव्याद् हो जाती है (मन्त्र २)।

२६.२) तथापि यमनियमों का प्रतिपादक वेदभाग ब्राह्मी प्रकृति के व्यक्ति को ही देना चाहिए। क्रव्याद्=क्रव्य+**अद् भक्षणे**।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यमिनी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ ३॥

अर्थ—[हे आध्यात्मिका वेदवाणी!] (पुरुषेभ्यः) हम गृहस्थ-पुरुषों के लिए (शिवा भव) कल्याणकारी हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः) हमारी गौओं और अश्वों के लिए (शिवा) कल्याणकारी हो। (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब कृषिक्षेत्र के लिए (शिवा) कल्याणकारी हो। (इह) इस गृहस्थजीवन में (नः) हम सब के लिए (शिवा) कल्याणकारी (एधि) हो।

[आध्यात्मिका वेदवाणी का प्रसार उन गृहस्थों में भी होना चाहिए, जिनका जीवन आध्यात्मिक हो, ताकि उस आध्यात्मिकता में वे गृह्यप्रबन्ध किया करें।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यमिनी**॥ छन्दः—**यवमध्या विराट् ककुप्**॥

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव। पशून्यमिनि पोषय॥ ४॥

अर्थ—(इह) इस गृहस्थ में (पुष्टिः) पोषण हो, (इह) इसमें (रसः) दुग्धघृत आदि रस हो, (इह) इसमें (सहस्रसातमा) हजारों सुखों की अतिशयदान करनेवाली (भव) तू हो। (यमिनि) हे यमनियमोंवाली वेदवाणी! (पशून्) पञ्चविध पशुओं को (पोषय) परिपुष्ट कर।

[सहस्रसातमा=सहस्र+षणु (दाने, तनादिः)+तमप्। मन्त्र में गृहस्थजीवन को आध्यात्मिक बनाने का निर्देश हुआ है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यमिनी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्व१ः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च॥ ५॥

अर्थ—(यत्र) जिस गृहस्थ में (सुहार्दः) उत्तम हार्दिक भावनाओंवाले, (सुकृतः) तथा उत्तम कर्मोंवाले, (स्वायाः) निज (तन्वः) तनू के (रोगम् विहाय) रोग को त्याग कर, (मदन्ति) मोद-प्रमोद करते हैं, (तम् लोकम्) उस गृहस्थ लोक में, (यमिनि) हे यमनियमोंवाली वेदवाणी! (अभि) साक्षात् (सम्बभूव) तू सम्यक् प्रकार से सत्तावाली हुई है। (सा) वह वेदवाणी (नः) हमारे (पुरुषान्) पुरुषों की (च) और (पशून्) पशुओं की (मा हिंसीत्) हिंसा न करे।

[जिस गृहस्थ में आध्यात्मिक वेदवाणी की सम्यक्-सत्ता होती है, उस गृहस्थ में, असामयिक मृत्यु नहीं होती, क्योंकि गृहस्थी वेदवाणी में कथित जीवन-चर्या करते हैं। ''लोकम्'' का अभिप्राय पदलोक नहीं, अपितु गृहस्थलोक है। यथा ''**पितृलोकात् पतिं यतीः**'' (अथर्व० १४.२.५२; विवाह प्रकरण)। इस प्रकरण में कहा है कि ''**उशती-कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः**''। इससे स्पष्ट है कि ''लोक'' पद पितृगृह का भी वाचक है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भा प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहो॒त्रहु॒तां॒ यत्र॑ लो॒कः।

तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त्पुरु॑षान्प॒शूंश्च॑ ॥ ६ ॥

अर्थ—(यत्र) जिस गृहस्थ में (सुहार्दाम्) उत्तम हार्दिक भावनाओंवालों का तथा (सुकृताम्) सुकर्मियों का (लोकः) स्थान है, या दर्शन होता है, (यत्र) जिस गृहस्थ में (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र करनेवालों का (लोकः) स्थान है, या दर्शन होता है, (तं लोकम्....) आदि, पूर्ववत्।

[लोकम्=**लोकृ दर्शने** (भ्वादिः)। मनु ने गृहस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है, उनमें अग्निहोत्र भी एक महायज्ञ है।]

सूक्त २९

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यद्राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑।

अवि॒स्तस्मा॒त्प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑ति॒पात्स्व॒धा ॥ १ ॥

अर्थ—(इष्टापूर्तस्य षोडशम्) यज्ञों और सामाजिक उपकारों के (यत्) जिस १६वें भाग को भी (राजानः) राजा लोग (विभजन्ते) राष्ट्र-कर रूप में विभक्त कर लेते हैं, (अमी) तो ये राजा लोग (यमस्य) नियन्ता मृत्यु के (सभासदः) सभासद् होते हैं। (तस्मात्) उस पाप से, (अविः दत्तः) राष्ट्र के प्रति समर्पित किया गया प्रत्येक [राजा] का आत्मा, जोकि शरीर-रक्षक है, वह (प्रमुञ्चति) दण्ड से प्रमुक्त कर देता है, जबकि वह राजा (शितिपात्) शुभ्रगतिक अर्थात् शुभ्राचारी हुआ (स्वधा[१]) अपने राष्ट्र का धारण-पोषण करनेवाला हो जाता है।

[यज्ञ और सामाजिक उपकार के काम राष्ट्र की रक्षा करते हैं। उन पर राष्ट्र-कर लगाना वैदिक प्रथा के विरुद्ध है। जो राजा इन रक्षा के कामों पर राष्ट्र-कर लगाते हैं, वे पापकर्म करते हैं। परन्तु जो-जो राजा निज आत्मा को राष्ट्ररक्षा के निमित्त सुपुर्द कर देता है, वह राष्ट्र का अवि अर्थात् रक्षक होकर शुद्धाचारी हो जाता है, वह राष्ट्रदण्ड से प्रमुक्त कर दिया जाता है। वेद में वेदवक्ता—ब्रह्मज्ञ पर शुल्क लगाना निषिद्ध है (अथर्व० ५.१९.३), क्योंकि इसका धन सोम आदि यज्ञों के निमित्त होता है, सोम आदि यज्ञ ही इसके दायाद अर्थात् सम्पत्ति के खानेवाले, उत्तराधिकारी होते हैं (अथर्व० ५.१८.६)। प्रजोपकारी कर्मों पर तथा यज्ञकर्मों पर व्यय किये गये धन पर "राज्य-कर" लगाना पापकर्म है। स्वधा [छान्दस प्रयोग]=स्व+धाः; **डुधाञ्=धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। शितिपात् या शितिपाद् की विशेष व्याख्या के लिए देखो (मन्त्र २) की व्याख्या। अथवा स्वधा अन्ननाम है, (निघं० २.७) अर्थात् इष्टापूर्त के १६वें विभाग को राज्यकर में विभक्त करनेवाला राजा यम अर्थात् मृत्यु का अन्नरूप हो जाता है, प्रजा द्वारा मार दिया जाता है।]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वा॒न्कामा॑न्पूरयत्या॒भव॑न्प्र॒भव॒न्भव॑न्। आ॒कू॒ति॒प्रोऽवि॑र्द॒त्तः शि॑ति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ २ ॥

अर्थ—(आ भवन्) समग्र [राष्ट्र] में सत्तावाला, (प्रभवन्) प्रभाववाला अर्थात् प्रभु हुआ, (भवन्)

---

१. इष्टापूर्त पर राज्यकर लगाना, तथा राजा के स्वोपभोग के लिए 'राजकर' लगाना वेद-निषिद्ध है। केवल राष्ट्रोन्नति के लिए "राष्ट्रकर" या साम्राज्य-कर लगाना वेदानुमोदित है।

तथा विद्यमान हुआ, (आकूतिप्रः) संकल्पों को पूर्ण करनेवाला, (शितिपात्) शुष्क अर्थात् निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाला [राजा], (अविः) प्रजारक्षक हुआ, (दत्तः) प्रजा द्वारा निर्वाचित अर्थात् समर्पित किया, (न उपदस्यति) नहीं क्षीण होता।

[मन्त्र (१) में धार्मिक तथा प्रजोपकारी कार्यों में लगाए धन पर भी राज्य-कर लगानेवाले राजाओं में, प्रत्येक राजा के लिए प्रायश्चित्त विधान किया है। उसी राजा का वर्णन मन्त्र (२) में हुआ है। जो राजा प्रायश्चित्त कर लेता है, राष्ट्र में वह (अविः) प्रजारक्षक हुआ, [न कि अनुचित राज्य-कर लगाकर प्रजारक्षक हुआ], (शितिपात्) शारीरिक पाद आदि अङ्गों में निर्मल हुआ, संकल्पों को पूर्ण कर लेता है, और प्रजा का प्रभु बनकर रहता है, तथा प्रजा द्वारा दण्डित नहीं होता। ऐसा राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित हुआ शासन के लिए समर्पित किया जाता है। शितिपात्="**जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः**" (यजुः० २०.९) में, सम्राट् कहता है कि "मैं जङ्घाओं और पादों द्वारा धर्मरूप हूँ, धार्मिक कार्यों का सम्पादन करता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरी प्रतिष्ठा, दीर्घस्थिति या ख्याति प्रजा पर निर्भर है। सम्राट् की यह धार्मिक भावना "शितिपात् या शितिपाद्" में निहित है। आकूतिप्रः=आकूतिः (संकल्प)+प्रः (**प्रा पूरणे,** अदादिः)। दस्यति (**दसु उपक्षये,** दिवादिः)।]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो प्रजावर्ग (लोकेन संमितम्) लोक द्वारा सम्यक्—मापे गये, जाँचे गये, (शितिपादम्) निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाले, (अविम्) रक्षा करनेवाले व्यक्ति को (ददाति) राष्ट्र के लिए देता है; (सः) वह प्रजावर्ग (नाकम्) सुखविशेष को [स्वर्गीय या मोक्षसम्बन्धी सुख को] (अभि) लक्ष्य कर, (अरोहति) आरोहण करता है, बढ़ता है, (यत्र) जहाँ (अबलेन) बलहीन द्वारा (बलीयसे) अधिक बलवान् के लिए (शुल्कः[1]) "राज-कर" (न क्रियते) नहीं किया जाता, दिया जाता। "राज-कर" भिन्न है "राज्य-कर" से।

[यः=प्रजावर्ग। प्रजावर्ग, लोकसम्मत व्यक्ति को निर्वाचित कर राष्ट्र के लिए समर्पित करता है, ताकि वह "अवि" अर्थात् राष्ट्र-रक्षक होकर शासन करे, और राजवर्ग अनुचित स्वभोगार्थ "राज-कर" बलात्कार न ले सके। इससे प्रजावर्ग सुखविशेष को प्राप्त करता है। मन्त्र में "अध्यारोहति" पाठ नहीं, अपितु "अभ्यारोहति" पाठ है। मन्त्र (१) में "राजानः विभजन्ते" की ओर निर्देश है। इसे "अबलेन बलीयसे" द्वारा निर्दिष्ट किया है।]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्। प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेक्षितम्॥ ४॥

अर्थ—(पञ्चापूपम्) पाँच इन्द्रियों की अपवित्रता से निज को सुरक्षित करनेवाले, (शितिपादम्) निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाले, (लोकेन संमितम्) प्रजावर्ग द्वारा सम्यक् प्रकार से माप लिये गये, जाँच लिये गये (अविम्) रक्षा करनेवाले व्यक्ति को (प्रदाता) प्रदान करनेवाला (उप जीवति)

१. **शुल्कः=अधिकबलस्य राज्ञो न्यूनबलेन परिसरवर्त्तिना राज्ञा देयः "कर" विशेषः** (सायण)।

जीवित करता है, (पितृणां लोके) पितरों की लोकसभा में (अक्षितम्) न क्षीणकाल तक।

[पञ्च=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। अपूपम्=अ+**पूञ् पवने** (क्र्यादिः)+पा (रक्षणे) पितृणाम् लोके=यथा **"सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदामि पितरः सङ्गतेषु।"** (अथर्व० ७.१२.१)। उपजीवति=इन पितरों के लोक में प्रदाता का नाम सदा विश्रुत रहता है।]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्। प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम्॥ ५ ॥

अर्थ—मन्त्र में तीन पादों का अर्थ, पूर्ववत्, मन्त्र (४) में। "सूर्यामासयोः" सप्तमी विभक्ति द्विवचन। "मास" शब्द चन्द्रमस् पद का उत्तरांश है। यथा देवदत्तः दत्तः। अभिप्राय यह है—सूर्य और चन्द्र में, अर्थात् दिन और रात्री में। सूर्य का काल है दिन, और चन्द्रमा का काल है रात्री। अर्थात् दिन-रात प्रदाता का नाम अक्षीण रूप में विश्रुत रहता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इरेव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत्। देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति॥ ६ ॥

अर्थ—(शितिपात्) निर्मल शारीरिक पाद आदि अवयवोंवाला [रक्षक राजा, मन्त्र ४] (इरा इव) भूमि की तरह (न उपदस्यति) नहीं क्षीण होता, (समुद्रः इव पयो महत्) समुद्र जैसे महा जलराशि द्वारा क्षीण नहीं होता, तथा (इव) जैसे (सवासिनौ देवौ) सहवासी दो देव अश्विनौ क्षीण नहीं होते वैसे शितिपात् (नोप दस्यति) नहीं क्षीण होता।

[**इरा=पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। शितिपात्—राजा, यतः अवि है, प्रजारक्षक है, अतः वह राजपद से क्षीण नहीं होता, प्रजा द्वारा पदच्युत नहीं किया जाता।]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**षट्पदा उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककुम्मतीगर्भा विराड् जगती** ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते॥ ७ ॥

अर्थ—(कः) किसने (इदम्) यह राजपद (अदात्) दिया है, (कस्मै) किसके लिए दिया है। (कामः) कामना ने (कामाय अदात्) कामना के लिए दिया है। (कामः दाता) कामना देनेवाली है, (कामः प्रतिग्रहीता) कामना ग्रहण करनेवाली अर्थात् स्वीकार करनेवाली है, (कामः) कामना (समुद्रम् आविवेश) हृदय-समुद्र में प्रविष्ट हुई है। (कामेन) कामना द्वारा (त्वा) तुझ राजपद को (प्रतिगृह्णामि) मैं राजा स्वीकार करता हूँ। (काम) हे कामना! (एतत्) यह राजपद (ते) तेरे लिए या तेरा है।

[अभिप्राय यह कि प्रजा ने यदि राजा को राजपद दिया, तो अपनी कामना की पूर्ति के लिए दिया, ताकि उसकी सुरक्षा हो सके, और राजा ने जो राजपद ग्रहण किया, वह इसलिए की प्रजा में उसका मान और यश हो सके। इस प्रकार प्रदान-और-प्रतिग्रह परस्पर की स्वार्थपूर्ति के लिए हैं। इस प्रदान और प्रतिग्रह की कामना का स्रोत हृदय-समुद्र है। **हृदयात्समुद्रात्** (यजुः० १७.९३) तथा (अथर्व० १६.३.६)।

इस प्रकार सांसारिक व्यवहार "प्रदान-प्रतिग्रह," स्वार्थपूर्ति के अधीन हैं। कामना के सम्बन्ध में तत्त्वदर्शन की व्याख्या के लिए देखो याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद (अध्याय ४। ब्राह्मण ५। सन्दर्भ ६ बृहदारण्यक उपनिषद्)।]

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत्।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

अर्थ—[हे राजपद!] (त्वा) तुझे (भूमिः) राष्ट्रभूमि (प्रतिगृह्णातु) स्वीकार करे, तथा (इदम्) यह (महत् अन्तरिक्षम्) राष्ट्र का महा अन्तरिक्ष स्वीकार करे। (प्रतिगृह्य) तुझे हे राजपद! स्वीकार करके (अहम्) मैं राजा (मा प्राणेन) न प्राण से, (मा आत्मना) न शरीररथ जीवात्मा से, (मा प्रजया) न प्रजा से (वि राधिषि) कहीं वर्जित हो जाऊँ।

[विराधिषि=वि+राध (संसिद्धौ, स्वादिः), संसिद्धि से विमुक्त होना। मा विराधिषि=मैं कहीं संसिद्धि से विमुक्त हो जाऊँ। अभिप्राय यह कि राजपद का ग्रहण करना विपत्ति से रहित नहीं। विरोधी प्रजा के उत्थान हो जाने से राजा स्वयम् और उसका परिवार विपत्तिग्रस्त हो सकता है। अतः मानों राजपद मैंने स्वीकार नहीं किया, अपितु राष्ट्रभूमि ने और राष्ट्र के अन्तरिक्ष ने स्वीकार किया है। मैं तो इनका प्रतिनिधि होकर राजपद को स्वीकार कर रहा हूँ। प्रजा जब भी चाहे मैं प्रतिनिधित्व का परित्याग कर दूँगा।

जितने भूखण्ड पर जिसका राज्य होता है, उतने भूखण्ड के ऊपर का महत् अन्तरिक्ष भी उसी का होता है, यह दर्शाने के लिए भूमि के साथ अन्तरिक्ष का भी कथन हुआ है। अन्तरिक्ष वहीं तक होता है, जितनी ऊँचाई तक कि वायुमण्डल होता है, यतः अन्तरिक्ष का देवता वायु है।]

सूक्त ३०

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

अर्थ—[हे सद्गृहस्थो!] (वः) तुम्हारे लिए (सहृदयम्) समानहृदय, (सांमनस्यम्) समान मन, (अविद्वेषम्) द्वेष का अभाव (कृणोमि) मैं परमेश्वर नियत करता हूँ, (अन्यो अन्यम्) परस्पर एक-दूसरे की (अभिहर्यत) कामना किया करो, एक-दूसरे को चाहा करो। (अघ्न्या जातं वत्समिव) गौ जैसे नवजात वत्स को चाहती है।

[हृदयों की समानता है भावनाओं की समानता, परस्पर प्रेम। मनों की समानता है विचारों की समानता। दो प्रकार की समानता हो जाने पर पारस्परिक द्वेष का अभाव हो जाता है। तथा परस्पर के साथ मिलने की कामना अर्थात् इच्छा किया करो, जैसेकि गौ नवजात निज वत्स को चाहती है, उसके साथ प्रेम करती है। अघ्न्या का अर्थ है, न-हन्तव्या, जिसका कि हनन न करना चाहिए।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अर्थ—(पुत्रः) पुत्र (पितुः अनुव्रतः) पिता के अनुकूल कर्मों को करनेवाला हो, (मात्रा संमनाः भवतु) और माता के साथ समान मनवाला हो। (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के लिए (मधुमतीम्) मधुर

अर्थात् मीठी, (शन्तिवाम्) तथा शान्तिप्रद (वाचम्) वाणी को (वदतु) बोला करे। **व्रतम् कर्मनाम** (निघं० २.१)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

अर्थ—(मा) न (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (द्विक्षत्) द्वेष करे, (मा) न (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन के साथ द्वेष करे। (सम्यञ्चः) सम्यक् व्यवहारोंवाले, (सव्रताः) तथा समान कर्मोंवाले (भूत्वा) होकर, (भद्रया) सुखदायक तरीके के साथ (वाचम् वदत) वाणी बोला करो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

अर्थ—(येन) जिस द्वारा (देवाः) माता-पिता आदि देव (न वियन्ति) न विरुद्ध-विरुद्ध मार्ग पर चलते हैं, (नो च) और न (मिथः) परस्पर (विद्विषते) विद्वेष करते हैं, (तत्) उस (ब्रह्म) अर्थात् वेद को (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) हम नियम करते हैं, जोकि (पुरुषेभ्यः) गृहस्थ पुरुषों के लिए (संज्ञानम्) गृहजीवन सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान देता है। देवाः=**मातृदेवो भव, पितृदेवोभव, आचार्यदेवो भव** (तैत्तिरीय उपनिषद् अनुवाक ११, संदर्भ २)। गृहस्थ पुरुषों के लिए वेदस्वाध्याय नियत किया है, ताकि उन्हें गृहस्थधर्मों का सम्यक्-ज्ञान हो सके।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।

अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥

अर्थ—(ज्यायस्वन्तः) बुजुर्गों की सत्तावाले, (चित्तिनः) निज-निज कर्त्तव्यों में सचेत, (संराधयन्तः) मिलकर गृह्यकार्यों को सिद्ध करते हुए, (सधुराः) गृहशकट की समान धुरा में (चरन्तः) मिलकर चलते हुए (मा वि यौष्ट) परस्पर वियुक्त अर्थात् पृथक् न होओ। (अन्यो अन्यस्मै) एक-दूसरे के लिए (वल्गुः) शोभन अर्थात् प्रियवचन (वदन्तः) बोलते हुए (एत) घर में आया करो, (सध्रीचीनान् वः) साथ-साथ गृहकार्यों में चलते हुए तुम्हें (संमनसः) एक-विचारोंवाले (कृणोमि) मैं परमेश्वर करता हूँ।

[सधुराः=शकट की एक-धुरा में लगे बैल जैसे परस्पर मिलकर चलते हैं, वैसे गृहस्थ-शकट की धुरा में लगकर तुम सब परस्पर मिलकर चला करो। एत=बाहर के कामों से निवृत्त होकर जब घर आया करो, तो एक-दूसरे के प्रति प्रियभाषण किया करो।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ ६॥

अर्थ—(समानी प्रपा) एक-पानीयशाला हो, (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) अन्न का सेवन (सह)

साथ-साथ हो। (समाने योक्त्रे) एक-जुए में (वः) तुमको (सह) साथ-साथ (युनज्मि) मैं जोतता हूँ; (सम्यञ्चः) परस्पर संगत हुए अर्थात् मिलकर (अग्निम्) अग्निहोत्र की अग्नि की (सपर्यत) पूजा किया करो, (इव) जैसे कि (नाभिम् अभितः) रथचक्र की नाभि अर्थात् केन्द्र के चारों ओर (अराः) अरा लगे होते हैं

[अभिप्राय यह, गृहवासियों का खाना-पीना एक-सा और साथ-साथ बैठकर होना चाहिए। अन्नभागः=**भज सेवायाम्**। समाने योक्त्रै=सधुराः चरन्तः (मन्त्र ५)। सपर्यत=**सपर पूजायाम्** (कण्ड्वादिः)। अराः=जैसे रथचक्र के केन्द्र के चारों ओर अरा लगे रहते हैं, वैसे अग्निहोत्र में अग्नि-कुण्ड के चारों ओर बैठकर अग्निहोत्र किया करो। अराः=spokes.]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स॒ध्रीची॒नान्वः॒ संम॑नसस्कृणो॒म्येक॑श्नुष्टीन्त्सं॒वन॑नेन॒ सर्वा॑न्।
दे॒वा इ॒वामृ॑तं॒ रक्ष॑माणाः सा॒यंप्रा॑तः सौमन॒सो वो॑ अस्तु॥ ७॥

अर्थ—गृहकार्यों के सम्पादन में (वः) तुम्हें, (सध्रीचीनान्) साथ-साथ चलनेवालों अर्थात् सहोद्योगियों को (संमनसः) एकमनवाले, एकविचारवाले (कृणोमि) मैं परमेश्वर करता हूँ, (संवननेन) तथा पारस्परिक मेल, सहमति द्वारा (सर्वान्) सबको (एकश्नुष्टीन्) एकविध अन्न का भोजन करनेवाला करता हूँ। (देवाः) मातृदेव तथा पितृदेव या अन्य दिव्यगुणी (इव) जैसे (अमृतम्) निज अमरपन की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सौमनसः) प्रसन्नचित्त होते हैं, वैसे (सायम् प्रातः) सायम् तथा प्रातःकाल (वः) तुम्हारे (सौमनसः) चित्त की प्रसन्नता (अस्तु) हो।

देवाः अमृतम्=गृहस्थ में रहते मातृदेव तथा पितृदेव, गृह्यकार्यों में व्यापृत रहते हुए भी, निज अमरपन को न भूलें, उसकी सदा रक्षा करते रहें। श्नुष्टीन्=**अश भोजने** (क्र्यादिः)। एकश्नुष्टिम्=**एकविधस्य अन्नस्य भुक्तिम्** (सायण)।]

सूक्त ३१

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि दे॒वा ज॒रसा॑वृत॒न्वि त्वम॑ग्ने॒ अरा॑त्या।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ १॥

अर्थ—(देवाः) सूर्य, चन्द्र आदि देव (जरसा) जीर्णावस्था से (वि अवृतन्) वियुक्त हैं, पृथक् हैं, (अग्ने) हे यज्ञियाग्नि! (त्वम्) तू (अरात्याः) अदान से (वि) वियुक्त है, पृथक् है। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप से (वि) वियुक्त हो जाऊँ (यक्ष्मेण वि) और यक्ष्मरोग से वियुक्त हो जाऊँ, (आयुषा सम्) स्वस्थ तथा दीर्घायु से सम्पन्न हो जाऊँ।

[सूर्य, चन्द्र आदि दिव्य तत्त्व जब से पैदा हुए हैं, निज शक्तियों द्वारा तरुणावस्था में है। यज्ञियाग्नि में भी जो हवि डाली जाती है, वह सुसंस्कृत होकर वायुमण्डल में फैल जाती है। अतः यज्ञियाग्नि अदानी नहीं। मैं रोगी भी सब पापों से और यक्ष्मरोग से वियुक्त होकर स्वस्थ आयु से संयुक्त हो जाऊँ, ऐसी अभिलाषा या प्रार्थना है। पापों से वियुक्त हो जाने पर, रोगों से वियुक्त होकर, स्वस्थ आयु प्राप्त होती है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

व्यात्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ २॥

अर्थ—(पवमानः) पवित्र व्यक्ति (आर्त्या) पीड़ा से (वि) वियुक्त होता है, (शक्रः) धर्म में शक्तिशाली (पापकृत्यया) पापकर्म से (वि) वियुक्त होता है; इसी प्रकार (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (आयुषा) और स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन्।

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ३॥

अर्थ—(ग्राम्याः पशवः) ग्राम के पशु (आरण्यैः) अरण्य के पशुओं से (वि) वियुक्त हैं, (आपः) जल (तृष्णया) पिपासा से (वि असरन्) वियुक्त हैं; इसी प्रकार (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ और (आयुषा) स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम्।

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ४॥

अर्थ—(इमे) ये (द्यावापृथिवी) द्यौ-और-पृथिवी (वि इतः) विगत हैं, परस्पर वियुक्त हैं, (पन्थानः) मार्ग (दिशंदिशम्) प्रतिदिशा में (वि) विगत होते हैं, अर्थात् केन्द्र स्थान से भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते हैं; इसी प्रकार (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ और (आयुषा) स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ५॥

अर्थ—(त्वष्टा) सूर्य (दुहित्रे) निज दुहिता के लिए (वहतुम्)[१] विवाह की (युनक्ति) योजना करता है, (इति) इस हेतु (विश्वम् भुवनम्) समग्र भूतजात (वियाति) विगत हो जाता है; (अहम्) मैं भी (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (आयुषा) और स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त हो जाऊँ।

[त्वष्टा=सूर्य, यथा—"**त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः**" (निरुक्त ८.२.१४)। सूर्य की दुहिता है सौररश्मि। इसकी एकरश्मि चन्द्रमा में जाकर चन्द्रमा के गृह को प्रकाशित करती है, यह है सौरदुहिता का चन्द्रमा के साथ विवाह। "**अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति**"

१. वहतुम्=विवाह (अथर्व० १४.१.१४)।

(निरुक्त २.२.६)। तथा "**सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः**" (यजुः० १८.४०), अर्थात् सूर्य की रश्मि उत्तम सुखदायी है, और चन्द्रमा उस गो-नामक रश्मि को धारण करता है। तथा "**अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥**" (ऋ० १.८४.१५), पद ५४ (निरुक्त ४.४.२५), अर्थात् सूर्य की रश्मियों ने सूर्य से पृथक् होकर चन्द्रमा के घर में जाना मान लिया, स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सूर्य की दुहिता का विवाह चन्द्रमा के साथ होता है। इस विवाहकाल में "वि याति" की भावना निम्नलिखित है—

वेदानुसार बाल-विवाह निषिद्ध है और युवा-विवाह अनुमोदित है। शुक्लपक्ष में चन्द्रमा का युवापन पूर्णिमा के दिन होता है। इस दिन आदित्य भी अस्तंगत हुआ होता है और द्युलोक के नक्षत्र और तारागण भी चन्द्रमा के पूर्ण प्रकाश में दृष्टिगोचर नहीं होते और छिप जाते हैं। यह है "विश्वं भुवनं वियाति"।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ६॥

अर्थ—(अग्निः) जाठराग्नि (प्राणान्) प्राणों को (सं दधाति) शरीर के साथ सम्बद्ध करती है, (चन्द्रः) चन्द्रमा (प्राणेन) प्राण के साथ (संहितः) सम्बद्ध है। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो जाऊँ और (आयुषा) स्वस्थ आयु से (सम्) सम्बद्ध हो जाऊँ।

[चन्द्र ओषधियों में रसाधान करता है, ओषधियों के सेवन से हमें प्राणशक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार चन्द्र का प्राणों के साथ सम्बन्ध है। मन्त्र के पूर्वार्ध में "वि" द्वारा "वियोग" न कहकर, "सम्" द्वारा सम्बन्ध अर्थात् संयोग कहा है। इससे "समायुषा" के भाव को परिपुष्ट किया है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ७॥

अर्थ—(देवाः) परमेश्वर की दिव्य शक्तियों ने (विश्वतोवीर्यम्) समग्रवीर्यों वाले (सूर्यम्) सूर्य को (प्राणेन) प्राण द्वारा (समैरयन्) सम्यक्-प्रेरित किया है। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) और स्वस्थ आयु से (सम्) संयुक्त होऊँ।

[देवाः=दिव्य शक्तियाँ हैं, कामना अर्थात् इच्छा; सर्वज्ञता, तथा कृति शक्ति। परमेश्वर ने सूर्य में प्राण प्रदान किया है, जिस द्वारा वह उत्पत्तिकाल से चमकता और चमका रहा है। सौर परिवार में सूर्य सर्वाधिक वीर्यवान् है, शक्तिसम्पन्न है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ८॥

अर्थ—(आयुष्मताम्) दीर्घ आयुवालों तथा (आयुष्कृताम्) दीर्घ और स्वस्थ आयु करनेवालों के

(प्राणेन) प्राण द्वारा (जीव) तू जीवित रह, (मा मृथाः) और न मृत्यु को प्राप्त हो। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) अब पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) स्वस्थ आयु से (सम्) सम्पन्न होऊँ।

[प्राणने=प्राणवायुना (सायण)। पृथिवी, चन्द्रमा, आदित्य, स्वयम् दीर्घ आयुवाले, और प्राणियों को आयु प्रदान करते हैं। पृथिवी जीवन के लिए अन्नरूपी प्राण प्रदान करती, चन्द्रमा ओषधियों में रस प्रदान कर जीवन के लिए रसरूपी प्राण प्रदान करता है, और आदित्य ताप-प्रकाशरूपी प्राण प्रदान करता है। पृथिवी "**अन्नं वै प्राणिनां प्राणः**"।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ९ ॥

अर्थ—[हे जीव!] (प्राणताम्) प्राण लेनेवाले प्राणियों के (प्राणेन) प्राण धारण करने के सामर्थ्य से ही तू भी (प्राण) यहाँ प्राण ले और (इह एव भव) यहाँ ही विद्यमान रह और (मा मृथाः) मृत्यु का ग्रास मत बन। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु से (सम्) सम्बद्ध होऊँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ १० ॥

अर्थ—(आयुषा) आयु द्वारा (उत्) उत्थान करूँ, (आयुषा) आयु द्वारा (सम्) समुन्नत होऊँ, (ओषधीनाम् रसेन) ओषधियों के रस द्वारा (उत्) उत्थान करूँ। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त होऊँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त होऊँ, (आयुषा) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु से (सम्) सम्बद्ध होऊँ।

[ओषधियों के रसों के सेवन द्वारा आयु स्वस्थ होती और समुन्नत होती है। इससे पापों के करने से सेवक बचा रहता, तथा यक्ष्म आदि रोगों से छुटकारा पा लेता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम्।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ११ ॥

अर्थ—(आ) सब ओर अर्थात् सर्वत्र (पर्जन्यस्य वृष्ट्या) मेघ की वर्षा के कारण, (वयम्) हम (उदस्थाम) स्वास्थ्य में उन्नत तथा खड़े हो गये हैं, (अमृताः) और मृत्यु से रहित हो गये हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त हो गया हूँ, (यक्ष्मेण) यक्ष्मरोग से (वि) वियुक्त हो गया हूँ, और (समायुषा) स्वस्थ तथा दीर्घायु से (सम्) सम्पन्न हो गया हूँ।

[मेघ की सर्वत्र वर्षा से वायु का सूखापन तथा गर्मी शान्त हो जाती है, और रोगी अपने को सुखी अनुभव करने लगते हैं। यह अनुभूति शीघ्र मृत्यु से बचाती है। इसे अमृत कहा है।]

षष्ठ अनुवाक समाप्त॥

तृतीय काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण॥

चतुर्थ काण्ड

अथ सप्तमः प्रपाठकः

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः॥ १॥

अर्थ—(पुरस्तात्) पूर्वकाल अर्थात् सृष्ट्यारम्भ काल में (ब्रह्म) ब्रह्म (प्रथमम्) पहिले (जज्ञानम्) ज्ञानवान् या प्रकट हुआ, (वेनः) प्रजापतिरूप में (सीमतः) जगत् की सीमा में, (सुरुचः) उत्तम-रोचमान नक्षत्र-ताराओं को (आ वः) उसने विवृत किया, प्रकट किया। (सः) वह वेन अर्थात् प्रजापति, तथा (बुध्न्याः) मूल प्रकृति से उत्पन्न नक्षत्रतारा (अस्य) इस ब्रह्म के (उपमा) उपमारूप हैं, (विष्ठाः) और इसके विशेष स्थिति के स्थान हैं, (सतः च) अभिव्यक्त की, तथा (असतः च) अनभिव्यक्त की (योनिम्) योनिरूप प्रकृति को (वि वः) ब्रह्म ने विवृत कर दिया, खोल दिया।

[जज्ञानम्=सबका उत्पादक और ज्ञाता (यजुः० १३.३, दयानन्द); तथा "**जज्ञे=जनी प्रादुर्भावे, यद्वा जानातेर्लिट्**" (अथर्व० ४.१.३, सायण।) सृष्ट्यारम्भ में ब्रह्म ज्ञानवान् होता है कि मैं जगत् की रचना करूँ। इसे उपनिषदों में "अकामयत" द्वारा कहा है (उपनिषद्[1])। कामना से पूर्व काम्य वस्तु का ज्ञान होता है। इस ज्ञान को "जज्ञानम्" द्वारा सूचित किया है। प्रलयावस्था में ब्रह्म सृष्टिरचना-विषयक ज्ञानवान् नहीं होता।

वेनः=**कमनीयः प्रजापतिः** (उणा० ३.६; दयानन्द)। सृष्टि पैदा करते समय ब्रह्म ही प्रजापति होता है, क्योंकि उसने प्रजाओं को पैदा करना है। उस समय वह कान्तिमान् होता है; **वेनति कान्तिकर्मा** (निघं० २.६)। कान्ति का अभिप्राय है प्रकट रूप, क्योंकि प्रजापति ने "सुरुचः" को प्रकट किया है।

बुध्न्या=**बुध्नः मूलम्** (उणा० ३.५; दयानन्द)। जगत् का मूल है "प्रकृति", जिससे कि जगत् पैदा हुआ है। प्रकृति उपादानकारण रूप में मूल[2] है। उपमाः=प्रकाशमान रूप में "सुरुचः" प्रजापति की उपमारूप हैं। यथा "**नक्षत्राणि रूपम्**" (यजुः० ३१.२२); तथा "**आदित्यवर्णम्**" (यजुः० ३१.१८)। योनिं विवः=सन्तानोत्पत्ति के समय, माता की योनि विवृत हो जाती है, अतः योनिरूप प्रकृति के सम्बन्ध में भी "विवः" का प्रयोग हुआ है।]

---

१. अकामयत (बृहदा० उप० अध्याय १, ब्राह्मण ४, सन्दर्भ १७। "ईक्षांचक्रे" भी ब्रह्म को ज्ञानवान् कहता है, तथा "ऐच्छत्" पद भी (बृहदा० उप० अध्याय १, ब्राह्मण ४, सन्दर्भ २, ३)।

२. मूले मूलाभावादमूलं मूलम् (सां० १.६७)।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्**॥

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः।

तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे॥ २॥

अर्थ—(पित्र्या) पितृरूप ब्रह्मरूपिणी (इयम्) यह प्रजापतिरूप-माता, (राष्ट्री) जोकि ब्रह्माण्ड-राष्ट्र की स्वामिनी है, (भुवनेष्ठाः) पृथिवी-रूपी भुवन में भी स्थित है, (प्रथमाय जनुषे) विस्तृत उत्पत्ति के लिए (अग्रे एतु) आगे आए, उत्पादनार्थ आगे बढ़े। (धास्यवे) जगद्धारण की इच्छावाले (तस्मै प्रथमाय) उस प्राथमिक प्रजापति के लिए (ह्वारम्) अदनयोग्य, (सुरुचम्) उत्तम रुचि के उत्पादक, (अह्यम्) प्रतिदिन के ताज़े (एतम् घर्मम्) इस धारोष्ण दुग्ध को (श्रीणन्तु) ऋत्विक् या गृहस्थी अग्नि-परिपक्व करें।

पित्र्या=प्रजापतिरूपिणी माता, पितृरूप ब्रह्म की ही द्वितीय रूप है। जैसे ब्रह्म का वर्णन वेदों में पिता और माता के रूप में होता है, वैसे मन्त्र (२) में प्रजापति का वर्णन भी पिता और माता के रूप में हुआ है। इसलिए इसे "राष्ट्री"[१] द्वारा स्त्रीलिङ्ग में, और "तस्मै, प्रथमाय, धास्यवे" आदि द्वारा पुंलिङ्ग में वर्णित किया है। धास्यवे=धा+असुन्+क्यच्+उ (**क्याच्छन्दसि**)+चतुर्थ्येकवचन। घर्मम्=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः), दोहा गया ताज़ा दूध दीप्तिमान तो होता ही है, वह शुक्लरूप भी होता है। ह्वारम्=**ह्वरतिर् अत्तिकर्मा** (निघं० २.८)। प्रजापति के लिए अग्निपरिपक्व दुग्ध की आहुतियों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। श्रीणन्तु=**श्रीञ् पाके,** पचन्तु, तपन्तु (सायण)।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो प्रजापति परमेश्वर (प्रजज्ञे) प्रज्ञावान् या प्रथम प्रकट हुआ, (अस्य) इसका (बन्धुः) बन्धु (विद्वान्) वैदिक विद्वान् (देवानाम्) सूर्यादि देवों के (विश्वा=विश्वानि) सब, (जनिमा=जनिमानि) जन्मों, उत्पत्तियों का, (विवक्ति) विवेकपूर्ण कथन करता है। (ब्रह्म) महाब्रह्माण्ड, (ब्रह्मणः) परब्रह्म के, (मध्यात्) मध्य से, (उज्जभार) उद्धृत हुआ, (नीचैः उच्चैः) नीचे और उच्च स्थान में (स्वधा) इसके निजस्वरूप में धारित हुई प्रकृति ने (अभि) इसके सम्मुख (प्रतस्थौ) जगद्रचना के लिए प्रस्थान किया।

[प्र जज्ञे=जज्ञानम् (मन्त्र १)]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्।

महान्मही अस्कभायद्वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः॥ ४॥

अर्थ—(सः) वह प्रजापति=परमेश्वर, (हि) निश्चय से, (दिवः) द्युलोक के, (सः) वह, (पृथिव्याः) पृथिवी के, (ऋतस्थाः) नियम-व्यवस्था में स्थित है, और (मही रोदसी) महती द्यौः और महती पृथिवी

१. "राष्ट्री" (अथर्व० ४.३०.२)। अथर्व० ४.३०.१-८ में मातृरूप में प्रजापति का वर्णन द्रष्टव्य है।

को, (क्षेमम्) सुरक्षापूर्वक, (अस्कभायत्) थामे हुए है। (जातः) प्रकट हुए (महान्) महान् प्रजापति—परमेश्वर ने (मही) महान्, (द्यां सद्म) द्युलोकरूपी सदन को, (च) और (पार्थिवम् रजः) महान् पार्थिव रञ्जक लोक को (वि अस्कभायत्) पृथक्-पृथक् थामा हुआ है।

[ऋतस्थाः=ऋत और सत्य पृथक्-पृथक् दो तत्त्व हैं। यथा "**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत**" (ऋ० १०.१९०.१)। ऋत है नियम-व्यवस्था, और सत्य है यथार्थज्ञान। अस्कभायत्=स्कभि प्रतिबन्धे (भ्वादिः)+शायच् आदेश "**शायच् छन्दसि सर्वत्र**" (अष्टा० ३.१.८४, वा), (सायण)।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्**॥

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट्।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः॥ ५॥

अर्थ—(सः) वह प्रजापति=परमेश्वर (जनुषः) जन्मोंवाले (बुध्न्यात्) मूलभूत लोक अर्थात् पृथिवी से आरम्भ करके (अग्रम्, अभि) ऊपर के लोक को लक्ष्य करके (आष्ट्र) व्याप्त है। (बृहस्पतिः देवता) बृहत्-जगत्-का-पति, अर्थात् सूर्य-देवता (तस्य) उस जगत् का (सम्राट्) सम्राट् है, (ज्योतिषः) उस ज्योतिर्मय सूर्य से (यत्) जो (शुक्रम्, अहः) शुक्र, अर्थात् शुचिमान् दिन (जनिष्ट) उत्पन्न हुआ है, (अथ) तदनन्तर (द्युमन्तः) ज्ञान-प्रकाश से सम्पन्न, (विप्राः) मेधावी उपासक, (वि वसन्तु) प्रजापति-परमेश्वर की परिचर्या करें, उपासना करें।

[**विवासतिः परिचरणकर्मा** (निघं० ३.५)। **विप्रः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। मन्त्र में प्रातःकाल की उपासना का वर्णन हुआ है। समग्र जगत् में कोई देव, जो बहु प्रकाशमान दृष्टिगोचर होता है, वह सूर्य ही है, अतः उसे जगत् का सम्राट् कहा है।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु॥ ६॥

अर्थ—(काव्यः) प्रजापति-परमेश्वर-कवि-रचित संसार (नूनम्) निश्चय से (पूर्व्यस्य) सब देवों से प्रथमोत्पन्न (अस्य महः देवस्य) इस महादेव प्रजापति-परमेश्वर के (तत् धाम) उस प्रसिद्ध तेजःस्वरूप का (हिनोति) बढ़कर निर्देश करता है। (एषः) यह संसार (बहुभिः साकम्) बहुत लोकों के साथ (जज्ञे) पैदा हुआ है, (इत्था) यह सत्य है, जोकि (विषिते) बन्धनरहित (पूर्वे अर्धे) आकाश के पूर्व-के-समृद्ध भाग में, या पूर्वार्धभाग में (ससन्) सोया हुआ है। **नु वितर्के।**

[प्रजापति परमेश्वर-कवि द्वारा रचित दो काव्य हैं; (१) **काव्यम् वेदः** (२) **काव्यः संसारः**। वेद काव्य संसार के स्वरूप का कथन करता है, और संसार काव्य वैदिक कथनों को परिपुष्ट करता है। हिनोति=[**हि गतौ वृद्धौ च**] (स्वादिः)। **धाम=स्थानम्, तेजो वा** (उणा० ४.१५२, बाहुलकात् दयानन्द)। **इत्था सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। विषिते=वि+**षिञ् बन्धने**+क्त=बन्धन से विगत, रहित, विस्तृत। अर्धे=**ऋधु वृद्धौ**। ससन्=**षस स्वप्ने** (अदादिः)+शतृ (प्रत्ययः), तथा "**सस्ति स्वपितिकर्मा**" (निघं० ३.२२)। द्युलोक की स्थिति पूर्ववत् है जब से यह पैदा हुआ, मानो यह स्वप्नावस्था में सुप्त है, हिलता-डुलता नहीं, यह "नु" अर्थात् वितर्क है।]

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—बृहस्पतिः, आदित्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

योथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।

त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत्स्वधावान्॥ ७॥

अर्थ—(यः) जो उपासक, (अथर्वाणम्), अचल कूटस्थ, (पितरम्) सबके पिता, (देवबन्धुम्) उपासक-देवों के बन्धु, (बृहस्पतिम्) बृहद्-ब्रह्माण्ड के स्वामी को (नमसा) नमस्कार द्वारा (च) और सेवापूर्वक (अवगच्छात्) प्राप्त होता और, अवगत करता, अर्थात् जाने, [और कहे] कि "(त्वम्) तू (विश्वेषाम्) सबका (जनिता) उत्पादक, (कविः) वेद और संसार का कर्त्ता, (देवः) सबका दाता, (स्वधावान्) स्वनिष्ठ प्रकृतिवाला (यथा असः) जैसे कि तू है, वह (न दभायत्) तू किसी की हिंसा नहीं करता।"

[अथर्वाणम्=**थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः** (निरुक्त ११.२.१९)। न दभायत्=प्रजापति-परमेश्वर किसी की हिंसा नहीं करता, अपितु वह न्यायानुसार दुःख, कष्ट और मृत्यु प्रदान कर, और नव जन्म प्रदान कर सबको उन्नतिपथानुगामी करता रहता, तथा मोक्ष-सुख प्रदान करता है।

देवबन्धुम्="**स नो बन्धुर्जनिता स विधाता**" (यजुः० ३२.१०)।]

सूक्त २

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

अर्थ—(यः) जो (आत्मदाः) [शरीरों में] आत्मा का प्रदान करता है [जन्म देता है], (बलदाः) तथा बल प्रदान करता है, (विश्वे) सब (यस्य) जिसके (प्रशिषम्) उत्तम शासन की (उपासते) उपासना करते हैं, (यस्य देवाः) देव जिसके अधीन हैं। (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दो-पाये मनुष्य-पक्षी आदि का (ईशे) अधीश्वर है, (यः) जो (चतुष्पदः) चौपाये गौ आदि का अधीश्वर है, उस (कस्मै देवाय) सुखस्वरूप देव के लिए, (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) हम परिचर्या अर्थात् सेवा भेंट करें। विधेम=परिचरणकर्मा (निघं० ३.५), परिचरणम्=सेवा।

[उपासना=उप (समीप)+आसना (बैठना), अर्थात् ध्यान में उसके समीप बैठना। (कस्मै) उपासक, रचना को देखकर देव की सत्ता को तो स्वीकार करता है, परन्तु उसकी प्रत्यक्षानुभूति को प्राप्त नहीं हो रहा है, इसलिए वह स्वयं से प्रश्न करता है कि वह देव कौन-सा है, और कैसा है।]

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव।

यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (प्राणतः) श्वासोच्छ्वास करते हुए, (निमिषतः) निमेषोन्मेष करते हुए (जगतः) जङ्गम जगत् का (महित्वा) निज महिमा द्वारा (एकः) एक (राजा) राजा (बभूव) हुआ है। (यस्य) जिसका (छाया) आश्रय (अमृतम्) मरणाभावरूप मोक्ष है, (यस्य मृत्युः) जिसके अधीन मृत्यु है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम), अर्थ पूर्ववत् मन्त्र (१)।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्।

यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३ ॥

अर्थ—(क्रन्दसी) जिनमें आक्रन्दन अर्थात् शोर हो रहा है, (चस्कभाने) सबका धारण करनेवाली, (भियसाने) तथा भय करती हुई (रोदसी) द्यावापृथिवी (यम्) जिसे (अवतः) रक्षणार्थ प्राप्त होती हैं, और (अह्वयेथाम्) जिसका आह्वान करती हैं; (यस्य) जिसका (असौ पन्थाः) वह मार्ग है, (रजसः विमानः) रञ्जक लोकसमूह का निर्माण करना, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र (१)।

[चस्कभाने=**स्कभि प्रतिबन्धे** (भ्वादिः)+कानच् लिटि। भियसाने=**भी भये**+असानच् (उणा० २.८७)। भय इसलिए कि हम निराधार आकाश में गिर न जाएँ। रोदसी=**रोधसी, द्यावापृथिवी** (निघं० ३.३०)। रोधः=नदी का किनारा। ये दो होते हैं जिनके मध्य में नदी प्रवाह होता है। द्यौः और पृथिवी संसाररूपी नदी के दो किनारे हैं, जिनमें कि "अश्मन्वती" संसाररूपी नदी प्रवाहित हो रही है (यजुः० ३५.१०)। रोदसी=**रोधसी** (निरुक्त ६.१.१)।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्।

यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४ ॥

अर्थ—(यस्य) जिसकी है (उर्वी) विस्तृत (द्यौः) द्यौ, (च) तथा (मही पृथिवी) महती पृथिवी, (यस्य) जिसका है (अदः) वह (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्ष। (यस्य महित्वा) जिसकी महिमा से (असौ सूरः) वह सूर्य (विततः) विस्तीर्ण हुआ है, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) अर्थ पूर्ववत्, (मन्त्र१)।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः।

इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५ ॥

अर्थ—(यस्य महित्वा) जिसकी महिमा से (विश्वे) सब (हिमवन्तः) हिमवाले [पर्वत उत्पन्न हुए हैं], (यस्य) जिसकी महिमा से (रसाम् इत्) नदियों को (समुद्रे) समुद्र में प्रविष्ट (आहुः) कहते हैं। (च) और (इमाः प्रदिशः) ये विस्तृत दिशाएँ (यस्य) जिसकी (बाहू) दो बाहुएँ हैं, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[**"रसा" नदी भवति रसतेः शब्दकर्मणः** (निरुक्त ११.३.२५)। "रसा" जात्येकवचन। अतः रसा=नद्यः। अतः रसाम्=नदीः। अथवा रसाम्=रसवतीं पृथिवीम्। किसी समय समग्र पृथिवी समुद्र में, जल में प्रविष्ट थी। यथा—**"यामन्वैच्छद् हविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्"** (अथर्व० १२.१.६०), अर्थात् पृथिवी को विश्वकर्मा ने ढूँढ़ा, जोकि समुद्र के भीतर, जल में प्रविष्ट थी। रसातल शब्द में रसा है रसवती पृथिवी। बाहु=प्रदिशाएँ चार हैं, इसलिए बाहू भी चार चाहिएँ। दो बाहुओं के चार अवयव हैं। प्रत्येक कोहनी के, ऊपर और नीचे के, दो-दो अवयव। महित्वा=महित्वम्, आहुः वेदविदः।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्** ॥

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।

यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

अर्थ—(अग्रे) प्रारम्भ में (आपः) जल (विश्वम्) विश्व में (आवन्) प्राप्त हुए, (गर्भम् दधानाः) जोकि परमेश्वर के कामनारूपी गर्भ को धारण किये हुए थे, (अमृताः) जोकि मृत्यु से रक्षा करनेवाले थे, और (ऋतज्ञाः) मानो नियमव्यवस्था को जानते थे। (यासु देवीषु) जिन दिव्य आपः [जल] में (अधि) अधिष्ठातृरूप (देवः) परमेश्वर (आसीत्) था, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) अर्थ पूर्ववत्, मन्त्र (१)।

[आपः शब्द स्त्रीलिङ्गी है, अतः इनमें गर्भधारण का कथन हुआ है। आपः का अर्थ है व्याप्त जल, विश्व में व्याप्त जल।]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिः त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

अर्थ—(अग्रे) प्रारम्भ में (हिरण्यगर्भः) हिरण्य सदृश चमकीले सूर्य, तारा आदि जिसमें गर्भीभूत अवस्था में थे वह परमेश्वर (समवर्तत) प्रकट हुआ, (जातः) और अधिक प्रकट हुआ परमेश्वर (भूतस्य) भूत भौतिक जगत् का (एकः पतिः) वह एक पति (आसीत्) था। (सः) उसने (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत) तथा (द्याम्) द्यौ को (दाधार) धारित तथा पोषित किया, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) अर्थ पूर्ववत्, (मन्त्र १)।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।

तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ८॥

अर्थ—(आपः) विश्वव्यापी अप्=तत्त्व ने (वत्सम्) विराट्रूपी या सूर्यरूपी पुत्र को (जनयन्तीः) पैदा करते हुए, (अग्रे) प्रारम्भ में, (गर्भम्) गर्भीभूत [विराट् या सूर्य को] (समैरयन्) सम्यक्तया प्रेरित किया। (उत) तथा (तस्य जायमानस्य) उसके पैदा होते हुए (उल्बः) प्रदीप्यमान गर्भवेष्टन (आसीत्) था (हिरण्ययः) हिरण्यसदृश चमकीला, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) अर्थ पूर्ववत्, (मन्त्र १)।

[वत्स=विराट्; यथा "**ततो विराडजायत विराजोऽअधि पूरुषः। स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः**" (यजुः ३१.५)। विराट् है 'वि+**राजृ (दीप्तौ)**', यह विराट् अत्युष्ण और जाज्वल्यमान होता है। जिसके चारों ओर फैले प्रकाश को "उल्ब" कहा है, और हिरण्यवत् यह चमकता है। इसे ही गर्भवेष्टन द्वारा मन्त्रार्थ में दर्शाया है। इसे Photo-sphere कहते हैं, अर्थात् प्रकाशीय घेरा। गर्भाशयस्थ डिम्ब भी आवेष्टन से घिरा रहता है, जिसे जरायु या जेर कहते हैं। यही भावना सूर्य के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। मनुस्मृति में "विराट्" को "हेमाण्ड" कहा है।]

सूक्त ३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

उदितस्त्रयो अक्रमन्व्याघ्रः पुरुषो वृकः।

हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग्देवो वनस्पतिर्हिरुङ्नमन्तु शत्रवः॥ १॥

अर्थ—(इतः) यहाँ से (त्रयः) तीन (उद् अक्रमन्) उत्क्रान्त हो गये हैं, पलायित हो गये हैं, (व्याघ्रः) बाघ अर्थात् बघेला, (पुरुषः) चोर, (वृकः) भेड़िया। (हिरुक् हि) अन्तर्हित हुईं ही (सिन्धवः) स्यन्दनशील नदियाँ (यन्ति) प्रवाहित होती हैं, (वनस्पतिः देवः) वनस्पति-देव (हिरुक्) अन्तर्हित हुआ है, (शत्रवः) मानुष-शत्रु (हिरुक्) अन्तर्हित हो जाएँ, (नमन्तु) हमारे प्रति नत हो जाएँ, प्रह्वीभूत हो जाएँ, झुक जाएँ।

[**हिरुक्=निर्णीतान्तर्हितनाम** (निघं० ३.२५) स्यन्दनशील नदियाँ अन्तर्हित हो गई हैं। यह प्रत्यक्षदृष्ट के विरुद्ध है, नदियाँ तो भूपृष्ठ पर यथापूर्व प्रवाहित हो रही हैं। ये आध्यात्मिक नदियाँ हैं। यथा "**सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव**"। (ऋ० ८.६९.१२), तथा निरुक्त ५.४.२७ । अर्थात् हे वरुण! उपासकों द्वारा वरण किये गये परमेश्वर! तू उत्तम-देव है, जिसकी ७ स्यन्दनशील ७ छन्दोमयी वैदिक-ऋचाएँ, काकुद[1] अर्थात् तालु में क्षरित होती हैं, जैसे कि उत्तम ऊर्मिवाला स्रोत सच्छिद्रा भूमि में क्षरित हो जाता है। ७ छन्दोमयी ऋचाएँ जपकाल में मुख में ही अन्तर्हित होती हैं, बाह्यरूप में प्रकट नहीं होतीं।

वनस्पतिः="**तत्को वनस्पतिः, अग्निरिति शाकपूणिः**" (निरुक्त ८.३.१८) शाकपूणि के अनुसार वनस्पति है, अग्नि। सूर्य की अग्नि वनों की रक्षा करती तथा पालन करती है। "**वनस्पतिः वनानां पाता वा पालयिता वा**" (निरुक्त ८.१.३)। वनों में स्थित अग्नि वनों की रक्षा करती, तथा इनका पालन करती है, परन्तु ज्वलन-काल में यह अग्नि उद्भूत होकर वनों को भस्मीभूत कर देती है। यह अग्नि वनों में प्रविष्ट हुई वनों में हिरुक् रहती है, अन्तर्हित रहती है, छिपी रहती है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः। परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु॥ २॥

अर्थ—(परेण पथा) अन्य मार्ग से (वृकः एतु) भेड़िया गमन करे, (उत) तथा (तस्करः) चोर-पुरुष (परमेण) दूरतर मार्ग से गमन करे। (परेण) अन्य मार्ग से (दत्वती रज्जुः) दाँतोंवाली रस्सी अर्थात् साँप गमन करे, (परेण) अन्य मार्ग से (अघायुः) हत्यारा शत्रु (अर्षतु) गमन करे।

[अन्यमार्ग=हमारे जाने के मार्ग से भिन्न मार्ग से। अघायुः=हत्यारा मानुष-शत्रु (मन्त्र १)। अर्षतु=**ऋषी गतौ** (तुदादिः)। मन्त्र १, और सूक्त के अन्य मन्त्रों में "हिरुक्" भावना समान है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि। आत्सर्वान्विंशतिं नखान्॥ ३॥

---

१. **कोकुवा जिह्वा, कोकूयतेः वा स्यात् शब्दकर्मणः।**
साऽस्मिन् धीयते इति=तालु (निरुक्त ५.४.२७), पद ७६।

अर्थ—(व्याघ्र) हे बाघ! (ते अक्ष्यौ) तेरी दोनों आँखों को, (ते च) और तेरे (मुखं च) मुख को (जम्भयामसि) हम हिंसित करते हैं। (आत्) तत्पश्चात् (सर्वान् विंशतिम् नखान्) सब २० नखों को तोड़ देते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्याघ्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि। आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम्॥ ४॥

अर्थ—(दत्वताम्) दाँतोंवालों में (प्रथमम्) पहिले (वयम्) हम (व्याघ्रम्) बाघ को (जम्भयामसि) नष्ट करते हैं। (आत् उ) तदनन्तर ही (स्तेनम्) चोर-पुरुष को, (अथो) तत्पश्चात् (अहिम्) साँप को, (यातुधानम्) यातना देनेवाले को, (अथो) तदनन्तर (वृकम्) भेड़िये को नष्ट करते हैं।

[यातुधानम्=यातनाओं का निधिभूत, पर-राष्ट्र का राजा।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्याघ्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति।
पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम्॥ ५॥

अर्थ—(अद्य) आज (यः स्तेनः) जो चोर (आयति) आता है (सः) वह (संपिष्टः) सम्यक्—पिसा हुआ (अपायति) वापस जाता है। (पथाम्) मार्गों में से (अपध्वंसेन) टूटे-फूटे अलग मार्ग द्वारा (एतु) वह आया-जाया करे (इन्द्रः) सम्राट् या राजा (तम्) उसे (वज्रेण) न्याय-वज्र द्वारा (हन्तु) मार दे, शक्तिविहीन कर दे।

[यदि किसी दिन चोर, चोरी के लिए, किसी घर में घुस आये, तो घर के लोग उसे खूब मारें कि वह पिसा-सदृश होकर वापस जाए। तदनन्तर उसे न्यायालय में पेश कर, राज्यव्यवस्थानुसार दण्डित करना चाहिए, और उसे आज्ञा देनी चाहिए कि वह राजमार्गों से न चलकर अलग टूटे-फूटे मार्ग द्वारा आया-जाया करे, ताकि प्रजाजनों को ज्ञापित हो जाए कि वह चोर है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्याघ्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः।
निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः॥ ६॥

अर्थ—(मृगस्य) शिकार का अन्वेषण करनेवाले जङ्गली-पशु के (दन्ताः) दाँत, (शीर्ष्णाः अपि) सिर के अवयव भी (पृष्टयः उ) और पसलियाँ (मूर्णाः) तोड़ दी जाएँ। [हे पान्थ, पथिक्!] (गोधा) गोह (ते) तेरे लिए (निम्रुक् भवतु) नितरां अपगत हो जाए, तेरे लिए दृष्टिगोचर न हो, (शशयुः) सोया हुआ (मृगः) शिकारी जङ्गली-पशु (नीचा) हमारे नीचे अर्थात् अधीनता में (अयत्) आ जाए।

[मृगः=**मृग अन्वेषणे** (चुरादिः)। निम्रुक=**नि+म्रुचु गतौ** (भ्वादिः) नितरां अपगत हुआ (भवतु) हो जाए। अयत्=अय्+अट् लेट् लकार।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**व्याघ्रः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद् बृहती**॥

यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः॥
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम्॥ ७॥

अर्थ—(यत्) यदि (संयमः) गिरफ्तार किया है, (न वियमः) तो उसे गिरफ्तारी से विमुक्त न करना चाहिए, (यत्) यदि (वियमः) गिरफ्तार नहीं किया (न संयमः) तो उसे गिरफ्तार न करना चाहिए। (इन्द्रजाः सोमजाः) संयम और वियम सम्राट् और सेनाध्यक्ष द्वारा होते हैं, [हे संयम और वियम तू] (आथर्वणम्) अथर्ववेद द्वारा कथित (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्रनाशक (असि) है।

[इन्द्र="**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)। सोम=सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०)। व्याघ्र है, व्याघ्रवत् पराक्रमवाला, शत्रु। यथा "**व्याघ्रवच्च पराक्रमेत**" (मनु तथा सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६)।

व्याघ्र शक्तिशाली शत्रु है, इसकी गिरफ्तारी, या विमुक्ति इन्द्र और सोम से संयुक्त आदेश द्वारा होनी चाहिए। इन्द्र और सोम न्यायपूर्वक इसे यथोचित दण्ड दिलाते हैं।]

सूक्त ४

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे। तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम्॥ १॥

अर्थ—(याम् त्वा) जिस तुझको (मृतभ्रजे[1]) मृत तेजवाले (वरुणाय) वरुण के लिए (गन्धर्वः) वेदवाणी-धारण करनेवाले वैदिक-विद्वान् ने (अखनद्) खोदा, (ताम् त्वा शेपहर्षणीम्) पुरुषेन्द्रिय को हर्षित करनेवाली उस तुझ (ओषधिम्) ओषधि को (वयम् खनामसि) हम खोदते हैं।

[गन्धर्वः=**गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)+**धृञ् धारणे**। अथवा **गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.११)+ **धृञ् धारणे**=कृषक। वरुणाय=**वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः** (उणा० ३.५३, दयानन्द), जो विवाहार्थ वधू का वरण करता है, और वधू द्वारा वरण किया जाता है, वह है पति, जिसे कि (मन्त्र २ में) प्रजापति, अर्थात् गृहस्थी कहा है। वरुण पद यौगिकार्थक है। मृतभ्रजे=नष्टवीर्याय (सायण)। शेपः=पुरुषेन्द्रिय।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः। उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना॥ २॥

अर्थ—(उषाः) उषा (उद् उ एजतु) उत्तम-प्रदीप्त हुई है, (उद् उ सूर्यः) सूर्य उत्तम-प्रदीप्त हुआ है, (मामकम् वचः) मेरा कथन उत्तम-प्रदीप्त हुआ है। (वाजिना शुष्मेण) वाजीकरण विधि द्वारा प्राप्त बल से, (प्रजापतिः) उत्पन्न सन्तानोंवाला गृहस्थी (वृषा) वीर्यवर्षी हुआ (उद् एजतु) उत्तम-प्रदीप्त हो।

[एजतु=**एजृ दीप्तौ** (भ्वादिः)। मेरा कथन="शेपहर्षणीम् ओषधिम् खनामसि" यह मेरा कथन सफल होकर चमक उठा है। प्रजापति भी प्राप्त हुए वीर्यबल द्वारा उत्तम दीप्तिवाला हो गया है। **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९)। विवाहानन्तर पति "प्रजापति" बना है। तदनन्तर कारणवश वह मृतभ्रज् (मन्त्र १) हो गया है। अतः उसे ओषधि द्वारा पुनः उद्दीप्त किया है, दीप्तिमान् मुखवाला किया है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा स्म ते विरोहतोभितप्तमिवानति। ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः॥ ३॥

अर्थ—(यथा स्म) जिस प्रकार कि (ते) तेरा (विरोहतः) पुत्रादि का जन्म देनेवाला अङ्ग (आनति) प्राणवान् होता है [मृतभ्रज् नहीं रहता], (इव) जैसेकि (अभितप्तम्) खूब तपा जल "अनति" प्राणवान्

---

१. मृतभ्रजे=चतुर्थ्येकवचन। भ्रज्=**भ्रस्ज पाके** (तुदादिः) उदराग्नि द्वारा परिपक्व अन्न से उत्पन्न तेज अर्थात् वृष्ण्य, वीर्य।

हुआ उछलता है (ततः) तदनन्तर (इयम् ओषधिः) यह ओषधि (ते) तेरी इन्द्रिय को (शुष्मवत्तरम्) अधिक बल-सम्पन्न (कृणोतु) करे।

[विरोहतः=वि+**रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च** (भ्वादिः)। अनति=**अन् प्राणने** (अदादिः)। ओषधिः=कपित्थक (सायण, मन्त्र १)। **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९।)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**भुरिक् पुरउष्णिक्**॥

उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम्। सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन्॥ ४॥

अर्थ—(तनूवशिन्) तनू को वश में करनेवाले (इन्द्र) हे जीवात्मन्! (अस्मिन्) इस मृतभ्रज् [मन्त्र १] पुरुष में (वृष्ण्यम्) वर्षुक वीर्य को (धेहि) स्थापित कर, जो वृष्ण्य कि (ओषधीनाम्) ओषधियों के (उत् शुष्मा=शुष्माणि) उत्तम-बलरूप हैं, (ऋषभाणाम्) और ऋषभजातीय ओषधियों का (सारः) साररूप है, (पुंसाम्) और अभिवर्धक ओषधियों का (सम्) सम्यक् साररूप है। इन्द्र=जीवात्मा "**इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्०**" (अष्टा० ५.२.९३)।

[मनुष्य या पुरुष में जब जीवात्मा की निजशक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है, तब तनू आत्मा के वश में हो जाती है, कामवासना के वश में नहीं रहती, और न वृष्ण्यवीर्य से वंचित होती है। ऋषभ ओषधियाँ विशेषरूप में सारवाली हैं। यथा "**यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च। तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव**" (अथर्व० ३.२३.४)। अर्थात् जिन भद्र बीजों को ऋषभ-ओषधियाँ पैदा करती हैं, उन बीजों द्वारा हे स्त्री! तू पुत्र को प्राप्त कर, सुखपूर्वक पुत्र-प्रसव करनेवाली (भव) हो तथा अल्पधेनुरूपा हो, दुग्ध का प्रदान करनेवाली हो। पुंसाम्=**पुंस अभिवर्धने** (चुरादिः)। **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्। उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम्॥ ५॥

अर्थ—[वृष्ण्यम् अर्थात् वीर्य] (अपां रसः) जलों का रस है, (प्रथमजः) सर्वप्रथम परमेश्वर द्वारा प्रकट हुआ है, (अथो) तथा (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (रसः) रस है। (उत) तथा (सोमस्य) सोम-ओषधि का रस है, (भ्राता असि) हे वृष्ण्य! तू शरीर का भरण-पोषण करता है और (आर्शम्) "आ" अर्थात् गुदा के सब ओर फैले हुए खूनी मस्सों की तरह (वृष्ण्यम्) [खून की तरह] वीर्यवर्षुक है।

[बवासीर के खूनी मस्से रक्त की वर्षा करते हैं, तद्वत् वीर्य की वर्षा होती है, सन्तानोत्पन्न करते समय। आर्शम्=आ+अर्शस् (औणादिक "डः" प्रत्यय। डित्वात् टिलोपः)। जलों के पीने, वनस्पतियों के खाने, और सोम-ओषधि के सेवन से जो रस उत्पन्न होता है वह है वृष्ण्य अर्थात् वीर्य।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः, सविता, सरस्वती, ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति। अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः॥ ६॥

अर्थ—(अद्य) आज (अग्ने) हे यज्ञियाग्नि! (अद्य) आज (सवितः) हे सर्वोत्पादक परमेश्वर! (अद्य) आज (देवि सरस्वति) हे दिव्य गुणोंवाली, ज्ञानवाली वैद्या! (अद्य) आज (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के विद्वन्! (अस्य) इसके (पसः) लिङ्ग को (धनुः इव) धनुष की तरह (आ तानय) पूर्णतया ताने दे।

[अद्य=आज, गर्भाधान के दिन, अर्थात् काल में, न कि अन्य काल में। अग्नि=गर्भाधान निमित्त

किये गये यज्ञ की यज्ञियाग्नि। सविता=गर्भाधान से पूर्व, सर्वोत्पादक, उपासित परमेश्वर। देवी सरस्वती=दिव्य गुणोंवाली, गर्भाधान-विधि की ज्ञानी वैद्या। ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञ, जोकि यज्ञकर्म कराता है। इस निमित्त देखें "गर्भाधान संस्कार" (संस्कारविधि, दयानन्द।)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।

क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा॥ ७॥

अर्थ—(धन्वनि अधि) धनुष में, अधिरोपित (ज्याम् इव) डोरी के सदृश (ते पसः) तेरी प्रजनन-इन्द्रिय को (अहम्) मैं (आ तनोमि) पूर्णतया तान देती हूँ। (अर्शः) मृग (इव) जैसे (रोहितम्=रोहित्+अम्) [द्वितीया विभक्ति का एकवचन] प्रजाविरोहण करनेवाली मृगी की ओर पग बढ़ाता है, वैसे तू (सदा) सदा (अनवग्लायता) ग्लानि-रहित अर्थात् हृष्ट मन के साथ (क्रमस्व) पत्नी की ओर पग बढ़ा।

[रोहित्=मृगी, स्त्रीलिङ्गी पद। अनवग्लायता=अन्+अव+**ग्लै हर्षक्षये** (भ्वादिः) मन्त्र में "देवी सरस्वती" का कथन हुआ है, जोकि औषध द्वारा पुरुषेन्द्रिय को तान देती है। इस निमित्त होम्योपेथिक औषधि है "योहिविनम"।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च।

अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन्॥ ८॥

अर्थ—(अश्वस्य) अश्वसम्बन्धी, (अश्वतरस्य) खच्चर-सम्बन्धी, (अजस्य) बकरे सम्बन्धी, (च) और (पेत्वस्य) मेष सम्बन्धी, (अथ) तथा (ऋषभस्य) बैल सम्बन्धी (ये वाजाः) जो बल हैं, (तान्) उन्हें (अस्मिन्) इस गृहस्थी में (धेहि) स्थापित कर (तनूवशिन्) हे तनू को वश में करनेवाले जीवात्मन्!

[अभिप्राय यह कि अश्व आदि में जैसे निज जाति की अश्विनी आदि में गर्भाधान कर सकने का बल विद्यमान है, उसी प्रकार हे तनूवशिन्! शरीर को वश में रखनेवाले जीवात्मन्! तू इस गृहस्थी पुरुष को, आत्मिक शक्ति प्रदान द्वारा, निज तनू को निजवश में रखकर गर्भाधान करने का बल दे। **वाजः बलनाम** (निघं० २.९)। तनूवशिन्=इन्द्र, जीवात्मा (मन्त्र ४)। समग्र सूक्त में गृहस्थ को सफल बना सकने की विधियों का कथन हुआ है। वर्णन में अश्लीलता का लेशमात्र भी प्रतीत नहीं होता।]

सूक्त ५

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि॥ १॥

अर्थ—(सहस्रशृङ्गः) हजार रश्मियोंवाला, (वृषभः) वर्षा करनेवाला (यः) जो सूर्य (समुद्रात्) समुद्र या अन्तरिक्ष से (उदाचरत्) उदित हुआ है, (तेन) उस (सहस्येन[1]) 'पौषमास-सम्बन्धी' सूर्य द्वारा

१. सहस्यः=पौषमासः (उणा० ४.१९०; दयानन्द)। सहस्यमास अतिशीतमास होता है, अतः शीघ्रस्वापन हो जाता है। मन्त्र ४ में "रात्रीणामतिशर्वरे" द्वारा भी शयन-सम्बन्धी रात्रिकालों का कथन हुआ है, अतः सूक्त में रात्रि-काल का ही वर्णन है।

(वयम्) हम (जनान्) गृहजनों को (नि) नितरां (आ स्वापयामसि) गृह में सर्वत्र सुला देते हैं। [सहस्येन=सहस्यमासोपलक्षितेन सूर्येण।]

[समुद्रात्=जलीय समुद्र से। अर्थात् द्वीपस्थों को सूर्य, समुद्र से उदित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। तथा "**समुद्र अन्तरिक्षनाम**" (निघं० १.३), भूमिवासियों को सूर्य अन्तरिक्ष से उदित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। सूर्य के अस्त हो जाने पर स्वापन का कथन हुआ है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन।

स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन्॥ २॥

अर्थ—(वातः) वायु (भमिम्) भूमि पर (न) नहीं (अति) उग्रता से (वाति) बह रही है, (न) न (कश्चन) कोई भी (अति पश्यति) दूर तक देखता है, (सर्वाः स्त्रियः च) सब स्त्रियों को, (शुनः च) और कुत्तों को (स्वापय) तू सुलाये रख, (इन्द्रसखा) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का सखा (चरन्) ताकि परमेश्वर में विचरता रहे।

[मन्त्र में प्रभात-काल का वर्णन हुआ है, जबकि भूमि पर वायु मन्द-मन्द बहती है। भूमि पर अभी अन्धकार है, इसलिए कोई भी प्राणी अभी दूर तक देख नहीं सकता। यह सविता का काल है जबकि द्यौः में तो प्रकाश होता है, और भूमि पर अभी अन्धकार होता है। तथा "**तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का, आकीर्णरश्मिर्भवति**" (नि० १२.२.१२)। इस सवितृकाल में सूर्य, अभी उदित नहीं होता। अन्धकार के कारण गृहस्त्रियाँ अभी सोयी हुई होती हैं और कुत्ते भी। प्रभात-वेला में परमेश्वर का सखा केवल परमेश्वर में विचरता रहता है। परमेश्वर और जीवात्मा परस्पर सखा हैं। "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" (अथर्व० ९.९.२०)। स्वापय=प्रभातकाल की शीतल और मन्द-मन्द प्रवाहित वायु स्वापनकारी होती है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः।

स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥ ३॥

अर्थ—(प्रोष्ठेशयाः) प्राङ्गण में या बैंच पर सोयी हुईं (तल्पेशयाः) पलङ्ग में सोयी हुईं (वह्यशीवरीः) पंगूड़े में सोयी हुईं (याः नारीः) जो नारियाँ हैं; (याः स्त्रियः) और जो स्त्रियाँ (पुण्यगन्धयः) पुण्यकर्मों के कारण पुण्यगन्धवाली हैं, (ताः सर्वाः) उन सबको (स्वापयामसि) प्रभातवेला तक हम सुलाये रखते हैं। [पुण्यगन्धयः के लिए अपवाद है (मन्त्र ६)।]

[प्रोष्ठ=Bench (आप्टे), बैंच। प्रोष्ठ=प्राङ्कण=सम्भवतः प्राङ्गण (सायण)। ये स्त्रियाँ पुण्यकर्मा हैं, धर्मपरायणा हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम्। अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे॥ ४॥

अर्थ—(एजत् एजत्) प्रत्येक चेष्टावान् व्यक्ति को (अजग्रभम्) मैंने [स्वापन द्वारा] जकड़ दिया है, (चक्षुः) आदि ज्ञानेन्द्रियों को, (प्राणम्) और प्राण को (अजग्रभम्) मैंने जकड़ दिया है, (सर्वा अङ्गानि) सब अङ्गों को (अजग्रभम्) मैंने जकड़ दिया है, (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरे) अतिशर्वरकाल

तक।

[अतिशर्वरे=अतिक्रान्ते शर्वरे, अतिक्रान्ते तमसि काले तक। शर्वरः=तमः "दशपाद्युणादिवृत्तिः (८.४७)। इस काल को "आब्युषम्" "प्रोत्सूर्यम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है (मन्त्र ७) अजग्रभम्=**ग्रह उपादाने** ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् (सायण)।]

[सूक्त ५ में, रात्रि के काल में स्वापनविध से सबको सुलाकर ध्यानाभ्यासी रात्रि के १२ बजे से उदीयमान सूर्य और उषाकाल तक ध्यानाभ्यास करता है। इस काल को निरुक्त में "अश्विनोः कालः" कहा है। यह अहोरात्र काल है जिसमें रात्री और दिन का संगम होता है। रात्रि के १२ बजे से अहोरात्र का काल प्रारम्भ हो जाता है। अहोरात्र दो अश्विनौ हैं (निरुक्त १२.१.१)। नये दिन का प्रारम्भ रात्री १२ बजे से हो जाता है। यतः इस समय रात्री के तमस् में दिन के प्रकाश का सूक्ष्म प्रवेश होने लगता है। "**तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम्। अनुत्तमो भागो हि मध्यमः [मध्यरात्रिः] ज्योतिर्भाग आदित्यः**"। तथा "**तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः**" निरुक्त (१२.१.१)]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति। तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा॥ ५॥

(**अर्थ**—(यः) जो (आस्ते) बैठा है, (यः) जो (चरति) चलता है, (यः च) और जो (तिष्ठन्) खड़ा हुआ (विपश्यति) विविध पदार्थों को देखता है (तेषाम्) उनकी (अक्षीणि) आँखों को (सं दध्मः) हम [अभ्यासी] निमीलित करते हैं, (यथा) जैसेकि (इदम् हर्म्यम्) यह घर निमीलित होता है (तथा) उसी प्रकार।

संदध्मः=संहितानि निमीलितानि कुर्मः (सायण)। अभ्यासीजन सहवासी इन जनों की आँखों को, अभ्यास के लिए रात्रिकाल में निमीलित कर देते हैं, जोकि उनके सम्पर्क में होते हैं। यह अभ्यासियों के अध्यात्मबल के कारण सम्भव है। जैसे निवासगृह निश्चेष्ट होता है, वैसे वे प्रत्येक को निज अभ्यासार्थ, निश्चेष्टवत् कर देते हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः॥ ६॥

अर्थ—(स्वप्तु) सोई रहे (माता) माता, (स्वप्तु पिता) सोया रहे पिता, (स्वप्तु श्वा) सोया रहे कुत्ता, (स्वप्तु) सोया रहे (विश्पतिः) निवेशगृह का स्वामी। (अस्यै) इस स्त्री के लिए (ज्ञातयः) ज्ञाति के लोग (स्वपन्तु) सोये रहें, (अयम्) यह (अभितः) सब ओर (जनः) जो जनवर्ग है, (स्वप्तु) वह भी सोया रहे।

[जो अभ्यासमार्गी नहीं हैं, उन्हें सोये रहने देना चाहिए, परन्तु जो स्त्री अभ्यासमार्ग चाहती है उसे अभ्यासमण्डल में प्रविष्ट कर लेना चाहिए। "अस्यै" का अभिप्राय है, इसकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए। मन्त्र ३ में "पुण्यगन्धाः" स्त्रियों का वर्णन हुआ है। पुण्यगन्धाः का अभिप्राय है पुण्य अर्थात् पवित्रकर्मों के सुगन्धवाली अर्थात् धर्मपरायणा स्त्रियाँ। "अस्यै" द्वारा कथित स्त्री इनमें से अपवादरूपा है, जोकि अभ्यास चाहनेवाली धर्मपरायणा है। सायणाचार्य ने "अस्यै" पद को अस्याः में परिवर्तित कर "अस्याः स्त्रियः ये ज्ञातयः" अर्थ किया है।]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वृषभः, स्वापनम् ॥ छन्दः—पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्।

ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

अर्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न! (स्वप्नाभिकरणेन) स्वप्न के साधन द्वारा (सर्वम् जनम्) सब जनसमुदाय को (निः स्वापय) गाढ़ निद्रा में सुला दे। तथा (अन्यान्) अन्यों को भी, (स्वापय) सुला दे; और (आ+उत्+सूर्यम्) सूर्य के उदय होने तक, (आव्युषम्) और उषा के विगत हो जाने तक (अहम्) मैं [जागता रहूँ] (अक्षितः) शक्ति से न क्षीण हुआ, (इव) जैसेकि (अरिष्टः) शक्ति से न हिंसित हुआ, न क्षीण हुआ (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सूर्य (जागृतात्) सदा जागता रहता है।

[सूक्त में योगाभ्यासी का वर्णन है जोकि गृहवासियों को स्वापनसाधन द्वारा सुलाकर, रात्रि के मध्यकाल से लेकर प्रातःकाल तक ध्यानाभ्यास में रत रहने का अभिलाषी है। स्वापन का साधन है "हिप्नोटिज्म", तथा "हस्तस्पर्श विधि" (अथर्व० ४.१३.५-७)। मन्त्र में "श्वा" है गृहरक्षक पालतू कुत्ता। "हिप्नोटिज्म" यह शब्द "स्वप्न" का विकृतरूप प्रतीत होता है। प्रथम उषा का विगमन होता है, तत्पश्चात् सूर्योदय होता है।]

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक २

सूक्त ६

ऋषिः—गरुत्मान् ॥ देवता—तक्षकः, ब्राह्मणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषम् ॥ १ ॥

अर्थ—(दशशीर्षः) दस सिरोंवाला, और (दशास्यः) दस मुखोंवाला (प्रथमः) प्रख्यात (ब्राह्मणः) वेदज्ञ (जज्ञे) पैदा हुआ। (सः प्रथमः) उस प्रख्यात ने (सोमम् पपौ) सोमरस पिया, (सः) उसने (विषम्) विष को (अरसम्) रस-रहित अर्थात् नीरस (चकार) कर दिया।[1]

[प्रतीत होता है कि सोमौषध के पान द्वारा विष का विषपन दूर हो जाता है। ब्राह्मण=ब्रह्म है वेद, उसका ज्ञाता। दशशीर्षः=चार वेद और चार वेदों में वर्णित ६ प्रकार के विज्ञान, ये दस शिरोभूत विज्ञान हैं। इनमें से प्रत्येक के प्रवचन के लिए दस आस्य अर्थात् मुख कहे हैं। ६ प्रकार के विज्ञान हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु-निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्। ये ६ विज्ञान अर्वाक्-काल में उत्पन्न साहित्य नहीं, अपितु वेदों में ही वर्णित ६ विज्ञान हैं। शिक्षा है उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति और प्रचय तथा प्लुत आदि का विज्ञान। कल्प है, यथा—"**तोता कल्पेषु संमिता**" (अथर्व० २०.१२८.६-११ तथा समग्र सूक्त १२८)। कल्प द्विविध हैं, गृह्य तथा श्रौत। गृह्यकल्प में विवाह आदि संस्कार तथा अन्य गृह्य कर्त्तव्य

१. अथवा, दशशीर्ष=ऋग्वेद के १० मण्डलों का ज्ञाता है दशशीर्षः, प्रत्येक मण्डल का ज्ञान सम्बन्धी एक-एक सिर। दशास्यः=प्रत्येक ज्ञान के प्रवचन के लिए १० आस्य अर्थात् १० मुख। यह है ब्राह्मण अर्थात् बृहद्-ऋग्वेद का ज्ञाता। इसने प्रथम सोमपान किया, अर्थात् सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक तथा सर्वैश्वर्य सम्पन्न.ब्राह्म-रस का प्रथम पान किया। यथा "**यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋ० १.१६४.३९)। सोमपान के कारण उसने सांसारिक विषयविष को अरस कर दिया, नीरस कर दिया, सांसारिक जीवनोपायभूत अन्नादि का तथा गृहस्थ सम्बन्धी भोग का भोग करते हुए भी इसके विषैलेपन से वह बचा रहा। इसका भोग त्याग तथा निरीहपन से उसने किया।

कथित होते हैं, जोकि वेदों के ही अङ्गभूत हैं। श्रौतकल्प में याज्ञिक कर्म कथित होते हैं, जिनकी व्याख्या विशेषरूप में ब्राह्मण-ग्रन्थों में हुई है। वेदों में भी यत्र-तत्र इनका कथन हुआ है। व्याकरण है शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक व्याख्यान। निघण्टु और निरुक्त का विषय एक ही है। निघण्टु है व्याख्येय और निरुक्त है उसकी व्याख्या। निघण्टु के सम्बन्ध में कहा है कि "**निगामा इमे भवन्ति**", अर्थात् ये हैं केवल "वैदिक पद" इनका संग्रह है 'समाम्नाय', अर्थात् निघण्टु=ग्रन्थ। यथा "**वारिदं वारयातै**" (अथर्व० ४.७.१) में 'वा:' है निघण्टुपद, और "वारयातै" है उसका निर्वचन अर्थात् निरुक्ति, नैरुक्त। "वा:" की निरुक्ति है, "वारयातै", निवारण करना। तथा "**अवीवरत वो हि कम्। इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम्**" (अथर्व० ३.१३.३) में 'वा' पद है निघण्टु और 'अवीवरत' है निर्वचन अर्थात् निरुक्ति, नैरुक्त। इस स्थल में 'वा:' का अर्थ है आप: अर्थात् जल, और 'अवीवरत' है वरणार्थक, स्वीकरणार्थक। 'छन्द:' यथा "**सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि**" (अथर्व० ८.९.१८), अर्थात् छन्द हैं सात, चार-चार अक्षरों की वृद्धिवाले, और एक-दूसरे में समाश्रित। ज्योतिष्=यथा २८ नक्षत्र, आदि (देखें अथर्व० का० १९.७-२४ सूक्त), अथर्ववेद में अन्यत्र स्थलों में भी ज्योतिष् का वर्णन है।]

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**तक्षक:, द्यावापृथिवी, सप्त सिन्धव:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।

वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम्॥ २॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (वरिम्णा) विस्तार में (यावती) जितने परिमाणवाले हैं, (सप्तसिन्धव:) सात स्यन्दनशील नदियाँ, या सात समुद्र (यावत्) जितने स्थान में (वितष्ठिरे) विशेषतया स्थित हैं, (इत:) इन स्थानों से (विषस्य दूषणीम्) विष को दूषित कर देनेवाली (ताम्) उस (वाचम्) वेदवाणी को (निरवादिषम्) निश्चित रूप में मैंने कह दिया है।

[ब्राह्मण अर्थात् वेदज्ञ विद्वान् (मन्त्र १) अपने किसी शिष्य के प्रति कहता है कि पृथिवी के जलभूयिष्ठ प्रदेश के किसी भी निवासी को, या द्युलोकस्थ किसी लोकलोकान्तर के निवासी को यदि सर्प ने काट लिया है, तो विष के प्रतीकार के लिए, वेदों में वर्णित प्रयोगों और विधियों का प्रवचन मैंने तुझे कह दिया है। सूक्त का देवता यत: तक्षक सर्प है, अत: सूक्त में मुख्यरूप में सर्पविषों का कथन ठीक प्रतीत होता है। सात समुद्रों का अभिप्राय है इन द्वीपों के निवासी जन।]

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**तक्षक:, सुपर्ण:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत्। नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभव: पितु:॥ ३॥

अर्थ—(विष) हे विष! (सुपर्ण: गुरुत्मान्) सुन्दर पंखोंवाले गरुड़ ने (प्रथमम्) पहिले (त्वा) तुझे (आवयत्) खाया, (न अमीमद:) वह न मद[1] से उन्मत्त हुआ, (न अरूरुप:) न मोहग्रस्त हुआ, (उत) अपितु (अस्मै) इसके लिए विष (पितु:) अन्नरूप (अभव:) हो गया।

[गरुड़ पक्षी पर विष का परीक्षण किया गया है। उसे विष खिलाया गया, परन्तु विष के कारण न तो वह मदोन्मत्त हुआ, न विमूढ़ हुआ, अपितु विष उसके लिए, अन्नसदृश बल का प्रदाता हो गया। वर्तमान में भी औषधों का प्रयोग चूहों आदि पर प्रथम किया जाता है, तत्पश्चात् वह व्यवहार-योग्य होता

---

१. अथवा "**मदि स्वप्ने**" (भ्वादि:) वह स्वप्नावस्था अर्थात् मूर्च्छावस्था में न हुआ।

है। होम्योपैथी में कई प्रकार के सर्वविषों तथा अन्य विषों का प्रयोग, उचित शक्ति में किया जाता है। **पितुः, अन्ननाम** (निघं० २.७)। अरूरुपः=**रूप विमोहने** (दिवादिः), विमोहनम्=मूर्च्छा। आवयत् **आवयति अत्तिकर्मा** (निघं० २.८), तथा आ+**वी (गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन-''खादनेषु'')** (अदादिः)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**तक्षकः, विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः।

अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम्॥ ४॥

अर्थ—(यः पञ्चाङ्गुरिः) जिस पाँच अँगुलियोंवाले हाथ ने (वक्रात् चित्) धनुष-डोरी द्वारा वक्र हुए (धन्वनः अधि) धनुष से [तेरे शरीर] में (आस्यत्) बाण फेंका है, उस (अपस्कम्भस्य) बाण के (शल्यात्) लोहमय मुखाग्र से (विषम्) विष को, (अहम्) मैंने, (निर् अवोचम्) निकाल देने की विधि को कह दिया है।

[अपस्कम्भस्य=शल्य को थामनेवाले बाण-दण्ड के (शल्य से)। ''**अपस्कम्भयते धनुषि धार्यत इति अपस्कम्भो बाणः।**'' (सायण)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**तक्षकः, विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।

अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्॥ ५॥

अर्थ—(शल्यात्) बाण के लोहमय मुखाग्र से, (प्राञ्जनात्) बाण में विष के प्रलेप से, (उत) तथा (पर्णधेः) पुंखधारी बाण-दण्ड से (विषम्) विष को (निर् अवोचम्) निकाल देना मैंने कह दिया है। (अपाष्ठात्) आस्था-रहित अर्थात् टूटे-फूटे (शृङ्गात्) बाणाग्र में लगे सींग से, (कुल्मलात्) या किसी पाप से उत्पन्न (विषम्) विष को (निर् अवोचम्, अहम्) निकाल देना मैंने कह दिया है।

[कुल्मलम्=पापम् (उणा० ४.१८९, दयानन्द)। अथवा कुलस्य परिवारस्य मलम् अस्वच्छता, मलिनता।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**तक्षकः, विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अरसस्त इषो शल्योथो ते अरसं विषम्। उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम्॥ ६॥

अर्थ—(इषो) हे बाण! (ते) तेरा (शल्यः) बाण में लगा लोहमय मुखाग्र (अरसः) रसविहीन हो जाए, (अथो) तथा (ते विषम्) तेरा विष (अरसम्) रसविहीन हो जाए, नीरस हो जाए, (उत) तथा (अरसस्य) रसविहीन अर्थात् नीरस (वृक्षस्य) वृक्ष के काष्ठ से निर्मित (ते) तेरा (धनुः) धनुष् (अरसारसम्) नीरस से भी अधिक नीरस हो जाए [सायण]।

[अथवा ''अरस'' हे नीरस शल्य! ''अरसम्'' तेरा विष नीरस हो जाए (पदपाठानुसार)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**तक्षकः, विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन्।

सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः॥ ७॥

अर्थ—(ये) जिन्होंने (अपीषन्) इसे पीसा है, (ये) जिन्होंने (अदिहन्) बाण के मुखाग्र को विष

से लिप्त किया है। (ये) जिन्होंने (आस्यन्) विषसम्पृक्त बाण को फेंका है, चलाया है, (ये) जिन्होंने (अवासृजन्) विष का सर्जन किया है, (ते सर्वे) वे सब (वध्रयः कृताः) शक्तिरहित कर दिए हैं, (विषगिरिः) विषपर्वत (वध्रिः) विषोत्पादन में निःशक्त (कृतः) कर दिया है।

[विषगिरिः=विष का समूह; अथवा गिरि को विषैले सर्पों से रहित कर दिया है, उन सबको मार दिया है।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**तक्षकः, विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे। वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्॥ ८॥

अर्थ—[हे खनिज विष] (ते) तेरे (खनितारः) खोदनेवाले (वध्रयः) निःशक्त कर दिए हैं, (ओषधे) हे विषैली ओषधि! (त्वम्) तू (वध्रिः असि) निःशक्त हो गई है। (सः) वह (पर्वतः) बड़ा पर्वत तथा (गिरिः) छोटा पर्वत विषोत्पादन में (वध्रिः) निःशक्त कर दिया है, (यतः) जिससे कि (इदम् विषम्) यह विष (जातम्) उत्पन्न हुआ है, या उत्पन्न होता है।

[अभिप्राय यह कि राजनियम द्वारा खनिज विषों का खोदना, तथा विषैली ओषधियों का विनाश कर दिया है, तथा पर्वत और गिरि के विषैले सर्पों का भी विनाश कर दिया है। इस प्रकार खोदनेवाले तथा पर्वत और गिरि विषोत्पादन में निःशक्त हो गये हैं। सूक्त का देवता है 'तक्षक' सर्प, अतः सूक्त में विषैले सर्पों का भी वर्णन अभिप्रेत है तथा सूक्त का ऋषि 'गरुत्मा' अर्थात् गरुड़ है, जोकि सर्पों का शत्रु है। वध्रयः=बधिया।]

सूक्त ७

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि। तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्॥ १॥

अर्थ—(वरणावत्याम् अधि) जलवाली नदी में (इदम् वाः) यह जल (वारयातै) निवारित करे (विषम्) विष को। (तत्र) उस जल में (अमृतस्य) न मरने का तत्त्व (आसिक्तम्) खींचा हुआ है, (तेन) उस द्वारा (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) मैं निवारित करता हूँ।

[**वाः=उदकनाम** (निघं० १.१२)। वरणावत्याम् उदकवत्याम्; वरणः=उदकम् (उणा० २.७५ दयानन्द)। अमृतस्य=भेषजस्य, अग्नेर्वा (अथर्व० १.६.२), यथा "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्**", अर्थात् जलों में सब औषध विद्यमान हैं, और अग्नि है जोकि सब रोगों को शान्त करती है। इस प्रकार जलों में विष-निवारण की भी शक्ति है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम्। अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते॥ २॥

अर्थ—(प्राच्यम् विषम्) पूर्व दिशा में उत्पन्न विष (अरसम्) नीरस हुआ है, (यत्) जो (उदीच्यम्) उत्तरदिशा का है वह (अरसम्) नीरस हुआ है, (अथ) तथा (इदम् अधराच्यम्) यह दक्षिण दिशा का जो है, वह (करम्भेण) करम्भ[1] द्वारा (वि कल्पते[2]) सामर्थ्य से विहीन हुआ है।

---

१. करम्भः=करम्बम्=दधिसक्तवः (दशपाद्युणादिवृत्तिः, ७.१७)। अथवा करम्भः=क्रियते अम्भसा, जलेन इति=जलमिश्रित सक्तु।

२. विगतसामर्थ्यं भवति (सायण)।

[करम्भ द्वारा सर्वदिशोत्पन्न विष को शक्तिविहीन करने का निर्देश हुआ है। करम्भ=meal mixed with curd (आप्टे)। **मन्थं संयुतं करम्भ इत्याचक्षते** (आप० श्रौ०, १२.४.१३)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क॒र॒म्भं कृ॒त्वा ति॒र्यं॑ पीबस्पा॒कमु॑दा॒र॒थिम्।

क्षु॒धा किल॑ त्वा दुष्टनो ज॒क्षि॒वान्त्स न रू॑रुपः॥ ३॥

अर्थ—(तिर्यम्) विष को तिरोहित करनेवाले, (पीबस्पाकम्) जल में पकाये गये, (उदारथिम्=उदारथिम्) युद्धार्थ उठे रथी-योद्धा के सदृश शक्तिशाली (करम्भम् कृत्वा) सत्तु को तय्यार करके (दुष्टनो) हे तनू को दूषित करनेवाले विष! (त्वा) तुझे (क्षुधा) भूख से (जक्षिवान्) जिसने खाया है (सः) वह (न रूरुपः) नहीं विमोहित हुआ, मूर्च्छित हुआ [विष के प्रभाव से]।

[विष है तो तनू को दूषित करनेवाला, परन्तु क्षुधा के कारण यदि विष, प्रभूतमात्रा में भी, खा लिया है, तो उक्त विधि द्वारा तय्यार किया करम्भ विषप्रभाव को निवारित कर देता है। तिर्यम्="**तिरः अन्तर्धौ**" (अष्टा० १.४.७०), तिरोहित-निवारित करनेवाला करम्भ। पीवा= Water (आप्टे)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**।

वि ते॒ मदं॑ मदावति श॒रमि॑व पातयामसि।

प्र त्वा॑ च॒रुमि॑व॒ येष॑न्तं॒ वच॑सा स्थापयामसि॥ ४॥

अर्थ—(मदावति) हे मद अर्थात् मूर्च्छा पैदा करनेवाली ओषधि! (ते मदम्) तेरे मद को, मस्ती को (शरम्, इव) हिंसाकारी बाण के सदृश (विपातयामसि) हम विगत कर देते हैं, दूर फेंक देते हैं, और (येषन्तम्) हिंसाकारी अर्थात् उबलते हुए, खौलते हुए (चरुम् इव) परिपक्व तण्डुलों के सदृश (त्वा) तुझे (वचसा) वेदोक्त वचन द्वारा (प्र) प्रकर्षेण (स्थापयामसि) अलग स्थापित कर देते हैं [शीतावस्था का होने के लिए।]

[येषन्तम्=**यूष हिंसायाम्** (भ्वादिः) अति प्रतप्त चरु हिंसा करता है, हाथ को झुलसा देता है। चरुः=परिपक्व तण्डुल (श्रौतपदार्थ-निर्वचन)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परि॑ ग्राम॑मि॒वाचि॑तं॒ वच॑सा स्थापयामसि। तिष्ठा॑ वृ॒क्ष इ॑व॒ स्थाम्न्यभ्रि॑खाते॒ न रू॑रुपः॥ ५॥

अर्थ—(परि ग्रामम्[१]) प्रति ग्राम के सब ओर (आचितम्) पूर्णतया चिने गये [गृहसमूह] को (इव) जैसे (वचसा) राजाज्ञा द्वारा (स्थापयामसि) हम स्थापित करते हैं, स्थिर करते हैं, (इव) इसी प्रकार (अभ्रिखाते) कुदाली द्वारा खोदी गई हे ओषधि! (वृक्ष इव) वृक्ष के सदृश तू (स्थाम्नि) नियत स्थान में (तिष्ठ) स्थित हो जा, (न रूरुपः) [अनजाने] खानेवाले को तू मूर्च्छित न कर, [अर्थात् खानेवाले के उदर में ही तू स्थिर रह, उसके शरीर में न फैल। परिपक्व करम्भ के सेवन से तू खानेवाले के उदर में ही विलीन हो जा। जल तथा करम्भ ये दोनों, इस औषध के विघातक हैं, इसके प्रभाव को नष्ट कर देते हैं।]

---

१. परिग्रामम्=ग्रामं ग्रामं परि। वीप्सा अभिप्रेत है। यथा वृक्षं वृक्षं परिसिंचति।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत। प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः॥ ६॥

अर्थ—(अभ्रिखाते) कुदाली द्वारा [जड़ समेत] खोदी गई (ओषधे) हे ओषधि! (त्वा) तुझे (पवस्तैः) रक्षा के वस्त्रों द्वारा, (दूर्शेभिः)[1] दूर्शों द्वारा (उत) तथा (अजिनैः) मृगछालों द्वारा (पर्यक्रीणन्)उन्होंने खरीदा है, अतः (प्रक्रीः असि) खरीदी [दासीवत्] (त्वम्) तू है, अतः (न रूरुपः) तूने मूर्च्छित नहीं किया।

[खरीदी दासी मालिक को नुकशान नहीं पहुँचाती, अपितु उसकी सेविका होती है, अतः तूने मूर्च्छित नहीं किया। पवस्तैः=पा (रक्षणे) वस्तैः (वस्त्रैः) अर्थात् शरीर की रक्षा करनेवाले वस्त्रों द्वारा।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे॥ ७॥

अर्थ—(अनाप्ताः) जिनसे बढ़कर कोई आप्त नहीं, ऐसे (ये) जिन (प्रथमाः) प्रथमकोटि के पुरुषों ने (यानि) जिन (कर्माणि) कर्मों को (चक्रिरे) किया है, (तत् एतत्) उस कर्मकलाप को (वः) तुम्हारे (पुरः) सामने (दधे) मैं रखता हूँ, ताकि बुरे कर्म (अत्र) इस जीवन में (नः वीरान्) हमारे पुत्रों या वीरों की (मा दभन्) हिंसा न करें। [अभिप्राय यह कि तुम ऐसे कर्म करो ताकि तुम्हें न रोग हो, न ओषधि की आवश्यकता हो।]

सूक्त ८

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)**॥
छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ १॥

अर्थ—(भूतः) सत्तासम्पन्न राजा (भूतेषु) सत्तासम्पन्न प्रजाजनों में (पयः) पेय-जल को (आ दधाति) सर्वत्र स्थापित करता है। (सः) वह राजा (भूतानाम्) सत्तासम्पन्न प्रजाजनों का (अधिपतिः बभूव) अधिष्ठाता या मुख्य रक्षक हुआ है। (तस्य) उस राजा के (राजसूयम्) राजोत्पादक यज्ञ में (मृत्युः) मृत्यु भी अधीनस्थ हुई (चरति) विचरती है, (सः राजा) वह राजा (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनुमन्यताम्) अनुमत करे, स्वीकृत करे।

[भूतः=**भू सत्तायाम्**+क्तः; सत्तासम्पन्न, शक्तिसम्पन्न, सत्त्वसम्पन्न। पयः=पेयजल; पेयपद में धात्वर्थ अविवक्षित है, अभिप्रेत है जल-सामान्य। "जल" पान, स्नान, कृषि तथा उद्योग कर्मों के लिए प्रजाजनों में स्थापित करना अभिप्रेत है। मृत्युः=राजा के राज्य में मानो राजा की अधीनता में हुई मृत्यु विचरती है। अनुमन्यताम्=अनुमति अर्थात् स्वीकृति अभिप्रेत है राज्याधिपति बनने के लिए।]

---

१. दूर्शेभिः=सम्भवतः दुशालों द्वारा। पवस्त और अजिन के सहयोग के कारण 'दूर्श' भी बहुमूल्य वस्तु प्रतीत होती है। दूर्श=दुशाले।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा। आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन्॥ २ ॥

अर्थ—[हे राजन्!] (अभि) राजसिंहासन की ओर (प्रेहि) गमन कर, (मा) न (अप वेनः) राजकान्ति अर्थात् शोभा से अपगत हो, विहीन हो, (उग्रः) शासन में उग्ररूप, (चेत्ता) सचेत और (सपत्नहा) राज्यनिष्ठ तथा अन्य शत्रुओं का हनन करनेवाला बन। (मित्रवर्धन) राज्य में मित्रों की संख्या का वर्धन करनेवाले! तथा मित्रराष्ट्रों के राजाओं का वर्धन करनेवाले हे राजन्! (आ तिष्ठ) राजसिंहासन पर आ बैठ। (देवाः) राज्य के दिव्य विद्वान् (तुभ्यम्) तेरे लिए (अधि) स्वाधिकारकपूर्वक (ब्रुवन्) शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी कथन करते रहें।

[सपत्न=एकपति के अधीन रहनेवाले, राज्यान्तर्गत शत्रु; तथा परराष्ट्र शत्रु। वेनः=**वेनति कान्तिकर्मा** (निघं० २.६) तथा **गतिकर्मा** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषं छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥ ३ ॥

अर्थ—(आ तिष्ठन्तम्) सिंहासन पर आ स्थित हुए को, (विश्वे) सब प्रजाजन, (अभूषन्) अलंकृत करते हैं, (श्रियम्, वसानः) शोभायुक्त वस्त्रों को पहनता हुआ [राजा], (स्वरोचिः) निज स्वाभाविक दीप्तिवाला हुआ (चरति) राज्य में विचरता है। (वृष्णः) सुखवर्षा करनेवाले, (असुरस्य) प्रज्ञावान् परमेश्वर का (तत् नाम) वह नाम (महत्) महान् है, (विश्वरूपः) अर्थात् वह "जोकि विश्व को रूप देता" है, और (अमृतानि) अमृत-तत्त्वों पर (आतस्थौ) सर्वत्र अधिष्ठातृ रूप में स्थित है।

[मन्त्र के उत्तरार्ध में परमेश्वर का वर्णन हुआ है। इस वर्णन द्वारा राजा को सूचित किया है कि तू परमेश्वरीय सिंहासन पर स्थित हुआ है, अतः प्रजा पर सदा सुख की वर्षा करते रहना, और प्रज्ञावान् हुआ, राज्य को समग्र रूपोंवाला करना, तथा अमृत होने के साधनों पर सदा आस्था करना। राजा परमेश्वरीय सिंहासन पर स्थित हुआ है। यथा—

"**स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः।**" (अथर्व० ३.४.६)। अर्थात् उस परमेश्वर ने तेरा आह्वान किया है, साथ[१] बैठने के सिंहासन पर, (सः) वह (देवान्) देवों को (मन्त्र २) (यक्षत्) राष्ट्रयज्ञ के लिए संगत करे, वही प्रजाओं को सामर्थ्यवान् करे। इस कथन द्वारा यह सुझाया है कि तेरे राष्ट्रयज्ञ में सामर्थ्य प्रदान करनेवाला परमेश्वर तेरा सहायक है, तू परमेश्वर के सदृश राज्य को सामर्थ्यवाला कर। कल्पयात्=कल्पयतेर्लेटि आडागमः।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ ४॥

अर्थ—(वैयाघ्रे अधि) व्याघ्र के चर्म पर उपविष्ट हुआ, (व्याघ्रः) व्याघ्रवत् दुष्प्रधर्ष तू राजा

१. अथवा यह अभिप्राय है कि राज्य का राजा तो परमेश्वर है, जोकि राजसिंहासन पर बैठा है, उसने तुझे ऐजेण्ट बनाकर राजासन पर अपने साथ बिठाया है, अतः परमेश्वरीय इच्छानुसार राज्य का शासन करना।

(महीः) महती (दिशः) दिशाओं पर (वि क्रमस्व) पराक्रम कर, उन्हें विजित कर। (त्वा) तुझे (सर्वाः विशः) सर्वदिक्स्थ प्रजाएँ (वाञ्छन्तु) चाहें, और [उन दिशाओं के] (पयस्वतीः) सारिष्ठ (दिव्याः आपः) दिव्यजल [अभिषेक के लिए] तुझे चाहें।

[पयस्वतीः=पयः है सार। यथा "**पयस्वत् मामकं वचः**" (अथर्व० ३.२४.१)। अभिषेक=असिञ्चन् (मन्त्र ६) तथा "अभिषिञ्चामि" (मन्त्र ५)।]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)**॥
छन्दः—**विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

या आपो॑ दि॒व्याः पय॑सा॒ मद॑न्त्य॒न्तरि॑क्ष उ॒त वा॑ पृथि॒व्याम्।
तासां॑ त्वा॒ सर्वा॑साम॒पाम॒भि षि॑ञ्चामि॒ वर्च॑सा॥ ५॥

अर्थ—(याः दिव्याः आपः) जो दिव्य जल (पयसा) सारभूत रस द्वारा (मदन्ति) प्राणियों को तृप्त करते हैं, (अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में स्थित (उत) तथा (पृथिव्याम्) पृथिवी में स्थित हैं, (तासाम् सर्वासाम्, अपाम्) उन सब जलों के (वर्चसा) वर्चस् द्वारा (त्वा) हे राजन्! तुझे (अभिषिञ्चामि) मैं अभिषिक्त करता हूँ, तेरा राज्याभिषेक करता हूँ।

[मदन्ति=तर्पयन्ति, **मद तृप्तियोगे** (चुरादिः)। राज्याभिषेक के लिए देखें, यजुर्वेद (१०.१-४)।]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒भि त्वा॒ वर्च॑सासिच॒न्नापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः।
यथासो॑ मि॒त्रवर्ध॑न॒स्तथा॑ त्वा सवि॒ता क॑रत्॥ ६॥

अर्थ—[हे राजन्] (दिव्याः पयस्वतीः आपः) सारिष्ठ, द्युलोक से वर्षा के जल, (त्वा) तुझे (वर्चसा) वर्चस् द्वारा (अभि असिञ्चन्) अभिषिक्त करें; (यथा) जिस प्रकार कि (मित्रवर्धनः असः) तू पर-राष्ट्र में मित्रसंख्या को तथा अन्ताराष्ट्रिय मित्रों की संख्या को बढ़ानेवाला हो, (तथा) उस प्रकार (सविता) सर्वोत्पादक परमेश्वर (त्वा) तुझे (करत्) करे।

[द्युलोक से प्राप्त वर्षा-जल स्वच्छ होता है, भूमिष्ठ जल भी वर्षा द्वारा ही प्राप्त होता है, परन्तु भूमि के पदार्थों में मिलकर पूर्णतया स्वच्छ नहीं रहता। अन्ताराष्ट्रिय=अन्तर्राष्ट्रिय।]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)**॥
छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

ए॒ना व्या॒घ्रं प॑रिषस्वजा॒नाः सिं॒हं हि॑न्वन्ति मह॒ते सौभ॑गाय।
स॒मु॒द्रं न सु॒भुव॑स्तस्थि॒वांसं॑ मर्मृ॒ज्यन्ते॑ द्वी॒पिन॑म॒प्स्व१॒॑न्तः॥ ७॥

अर्थ—(व्याघ्रम्) व्याघ्रवत् पराक्रम करनेवाले राजा का (परिषस्वजानाः) सब ओर आलिङ्गन करते हुए (एनाः) ये आपः अर्थात् जल, (सिंहम्) सिंह-तुल्य पराक्रमी राजा को (महते सौभगाय) महान् उत्तमैश्वर्य तथा महाशोभा के लिए (हिन्वन्ति) प्रीणित या प्रेरित करते हैं। (सुभुवः) उत्तम स्थितिवाले प्रजाजन, (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (तस्थिवांसम्) स्थित हुए (द्वीपिनम्) चीते को (मर्मृज्यन्ते) बार-बार जल द्वारा शुद्ध-पवित्र करते हैं, (न) जैसे कि (सुभुवः) उत्तम भूमि के जल (समुद्रम्) समुद्र को पवित्र करते हैं।

[पराक्रम की उग्रता के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को दर्शाने के लिए व्याघ्र, सिंह तथा द्वीपी का कथन किया है। परिषस्वजानाः=परि+**ष्वञ्ज सङ्गे**+लिटि कानच्। हिन्वन्ति=**हिवि प्रीणनार्थः**। मर्मृज्यन्ते=**मृजूष् शुद्धौ** (अदादिः) अभ्यासस्य रुक्-आगमः। एना=इमाः।]

सूक्त ९

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्। विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम्॥ १॥

अर्थ—[हे आञ्जन!] (जीवम्) जीवित मनुष्य की ओर (एहि) आ, उसे तू प्राप्त हो, (पर्वतस्य) तू पर्वत-सम्बन्धी है, (अक्ष्यम्) अक्षिरोग के लिए हितकर है, (त्रायमाणम्) तू अक्षि का त्राण करता है, (विश्वेभिः देवैः[1]) विविध प्राकृतिक दिव्य तत्त्वों द्वारा (दत्तम्) तू दिया गया है, (जीवनाय) जीवन के लिए तू (कम्) सुखदायक (परिधिः[2]) परिधि है, चारों ओर स्थित घेरारूप है, प्राकार है।

[मन्त्र ७ में आञ्जन को 'पूरुष' शब्द द्वारा सम्बोधित किया है, अतः सूक्त के मन्त्रों में चेतना-तत्त्व का भी वर्णन प्रतीत होता है। वह है ब्रह्म-पूरुष। ब्रह्म-पूरुष आञ्जन है, संसार की अभिव्यक्ति करता है, और अक्षिगत रोग अर्थात् दृष्टिरोग को शान्त करता है, दृष्टि को अवाञ्छनीय विषयों की ओर जाने से रोकता है। अञ्जन है, सुरमा। आँख में लगाया जाता है।]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि। अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे॥ २॥

अर्थ—(पुरुषाणाम्) पुरुषों का (परिपाणम्) परिरक्षक, परिपालक, (गवाम्) गौओं का (परिपाणम्) परिरक्षक, परिपालक (असि) तू है। (अर्वताम्) वेगवाले (अश्वानाम्) अश्वों के (परिपाणाय) परिरक्षण, परिपालन के लिए (तस्थिषे) तू स्थित हुआ है।

[अर्वताम्=**अर्व गतौ**+शतृ प्रत्यय। मन्त्र में अञ्जनम् अर्थात् सुरमे और ब्रह्म दोनों का वर्णन है। दोनों ही परिरक्षक हैं, परिपालक हैं। सुरमा यद्यपि आँखों की ज्योति के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु इसके खाने का भी विधान हुआ है। मन्त्र ३ में आञ्जन को 'जीवभोजनम्' कहा है। जीव-भोजनम् अर्थात् "जीवानां जीवतां प्राणिनां भोगसाधनम् असि" (सायण)। खाद्य होने से सुरमा का अभिप्राय है, सुरमा की भस्म, आञ्जनभस्म। ब्रह्म तो पुरुषों, गौओं अश्वों आदि प्राणियों के परिरक्षण के लिए ही जगत् में स्थित है। यथा "**स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न**" (अथर्व० १३.४(१).११); अर्थात् वह प्रजाओं की रक्षा के लिए जगत् को देख रहा है जोकि प्राणधारी है और जो प्राणधारी नहीं—जड़ है।]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम्॥ ३॥

---

१. देवकोटि के योगियों द्वारा ही ब्राह्मीरुचिः अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी साक्षात्काररूपी ज्योतिः प्रदत्त होती है। यथा "**पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये**"; "**रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन्**" (यजुः० ३१.२०,२१)।

२. वह ब्रह्म ही जीवन के लिए सुखदायक परिधिरूप है। यथा "**यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्**" (अथर्व० ८.२.२५)।

अर्थ—(उत) तथा (परिपाणम्) परिरक्षक, परिपालक (असि) तू है, (यातु-जम्भनम्) यातनाओं का विनाशक (आञ्जन) हे आञ्जन! (उत) तथा (त्वम्) तू (अमृतस्य) शीघ्र न मरने या अमृत होने के साधन को (वेत्थ) जानता है, (अथो) तथा (जीवभोजनम्) जीवित प्राणियों का तू भोजन है, (अथो) तथा (हरितभेषजम्) शरीर के हरेपन रोग की, तथा विषयों द्वारा हरे गये, विषयोन्मुख हुए आत्मा की औषध है।

[मन्त्र में आञ्जन अर्थात् अञ्जनभस्म[१], तथा सर्वत्र अभिव्यक्ति करनेवाले ब्रह्म का वर्णन हुआ है। आञ्जन=आ (सर्वत्र)+अञ्जू "**अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु**" (रुधादिः); अर्थात् सर्वत्र जगत् की व्यक्ति अर्थात् अभिव्यक्ति करनेवाला ब्रह्म। यातवः=यातनाः (सायण)। यातनाएँ=कष्ट, पीड़ाएँ। इनके निवारण के लिए आञ्जन अर्थात् अञ्जन-भस्म का प्रयोग अभिप्रेत है। शरीर का हरापन पित्त के विकृत हो जाने से होता है। इसके निवारण के लिए भी अञ्जनभस्म का प्रयोग करना चाहिए। मन्त्र में मुख्यरूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है, इसलिए वेत्थ शब्द का प्रयोग हुआ है, और अमृतस्य द्वारा मोक्ष का कथन किया है। अमृत का मुख्य अर्थ मोक्ष है, जिसकी प्राप्ति ब्रह्मोपासना, ब्रह्म के प्रति आत्म-समर्पण द्वारा होती है। ब्रह्म भी जीवित प्राणियों अर्थात् ब्रह्मोपासकों का भोजन है, इसलिए ब्रह्म को अन्न कहा है, "**अहमन्नम्, अहमन्नादः**" (तैत्ति० उप० ३.१०.६)। योगी ब्राह्म-आनन्दरस का पान करते हैं। यह आनन्दरस है 'अन्नम्' यथा "**रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति**" तैत्ति० उप० २.७। ब्रह्म 'अन्नाद' भी है, प्रलय-काल में वह जगद्रूपी अन्न का अदन करता है।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव॥ ४॥

अर्थ—(आञ्जन) हे अञ्जनभस्म! तथा सर्वत्र अभिव्यक्ति करनेवाले ब्रह्म! (यस्य) जिसके (अङ्गम् अङ्गम्) अङ्ग-अङ्ग में (परुः-परुः) तथा जोड़-जोड़ में (प्र सर्पसि) तू फैल जाता है, तो (ततः) उस पुरुष के शरीर से (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को (वि बाधसे) तू बाधित कर देता है, (इव) जैसे कि (मध्यमशीः) मध्यलोक में शयन करनेवाली वायु (उग्रः)[२] रोगोन्मूलन में उग्ररूप हुई [यक्ष्म को उन्मूलित कर देती है।]

[ब्रह्मपक्ष में, सर्वव्यापक ब्रह्म निज कृपा से उपासक के यक्ष्म आदि रोगों को भी शान्त कर देता है। 'व्याधि' आदि उपासना में अन्तरायरूप होते हैं, जिन्हें कि 'चित्तविक्षेप' कहा है। ये परमेश्वर की कृपा से हट जाते हैं, (योग० समाधिपाद, सूत्र २७,३०)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन॥ ५॥

अर्थ—(आञ्जन) हे सर्वत्र अभिव्यक्ति करनेवाले ब्रह्म-पुरुष! [मन्त्र ७] (यः) जो उपासक

---

१. **अनक्ति कान्तिमन्तं करोति शरीरम् इति**। अञ्जनभस्म द्वारा शरीर की कान्ति बढ़ती है।
२. मध्यलोक अर्थात् अन्तरिक्ष की वायु में आक्सीजन की मात्रा अधिक होती है, और वह शुद्ध होती है, अतः यक्ष्म को निवारित कर देती है।

(त्वा) तुझे (बिभर्त्ति) निज जीवन में धारित तथा सम्पोषित करता है, (एनम्) इसको (न शपथः) न शपथ, (न कृत्या) न हिंसा करने की भावना, (न अभि शोचनम्) न शोक (प्राप्नोति) प्राप्त होता है। (एनम्) इसको (विष्कन्धम्) गति-प्रतिबन्धक विघ्न अर्थात् अन्तराय (न अश्नुते) नहीं व्याप्त करते।

[मन्त्र में ब्रह्म-पूरुष का मुख्य वर्णन है। ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर को "**पुरुषविशेष ईश्वरः**" कहा है, (योग० समाधिपाद, सूत्र २४)। यजुर्वेद में ब्रह्मप्रतिपादक 'पुरुषसूक्त' भी है (यजुः० ३१), अतः ब्रह्म, पुरुष है। शपथः=यह परकृत शाप नहीं है। शपथ स्वयं ली जाती है, और शाप अन्य व्यक्ति द्वारा दिया जाता है। इसलिए 'शपथाभिशापौ' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है, (निरुक्त ७.१.३), यथा "**अथापि शपथाभिशापौ**"। कृत्या=**कृती छेदने** (तुदादिः), दूसरे की हिंसा की भावना। ब्रह्मोपासक यह समझता है कि जो दुःख-कष्ट मिलते हैं वे अपने कर्मों के अनुसार न्यायपूर्वक और व्यक्ति के सुधार के लिए, उसे सचेत कराने के लिए ही मिलते हैं, अतः वह दुःख-कष्ट मिलने पर भी शोक नहीं करता। यथा "**तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः**" (यजुः० ४०.७)। अन्तराय (मन्त्र ४)। विष्कन्धम्=वि+**स्कन्दिर् गतिशोषणयोः** (स्वादिः), 'गति' अर्थ अभिप्रेत है। वि+गतिः=विष्कन्धम्="**गतिप्रतिबन्धकम् विघ्नजातम्**" (सायण)। गौणार्थ में—जो अञ्जनभस्म का सेवन करता है उसका मानसिक परिवर्तन हो जाने से, वह मानसिक रोगों से मुक्त हो जाता है। मानसिक रोग हैं, शपथ=स्वयं शाप लेना, हिंस्र भावनाएँ, तथा अतिशोक आदि तथा मानसिक गति में विघ्नों का विनाश।]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

असन्मन्त्राद्दुष्वप्न्याद्दुष्कृताच्छमलादुत। दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात्तस्मान्नः पाह्याञ्जन॥ ६॥

अर्थ—(आञ्जन) हे सर्वत्र अभिव्यक्ति करनेवाले ब्रह्म-पुरुष! (असत्-मन्त्रात्) बुरी मन्त्रणा अर्थात् गुप्त मन्त्रणा से (दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नों से प्राप्त विकलता से, (दुष्कृतात्) दुष्कर्म से, (उत) तथा (शमलात्) पाप से, (दुर्हार्दः) हृदय की दुर्भावना से, (घोरात् चक्षुषः) चक्षु के घोरपन से, (तस्मात्) उस कथित प्रत्येक से (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कर।

[मन्त्र-भावनाओं से स्पष्ट है कि मन्त्र में ब्रह्म-पूरुष का वर्णन है, अञ्जन-भस्म का नहीं। असन्मन्त्र="**द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः**" (अथर्व० ४.१६.२) अर्थात् दो बैठकर जो मन्त्रणा करते हैं, उसे वरुण-राजा जानता है, तीसरा हुआ। इससे प्रतीत होता है कि यह मन्त्रणा है गुप्तमन्त्रणा, बुरी मन्त्रणा, षड्यन्त्र। शमल है 'पाप', जोकि 'शम्' अर्थात् चित्त की शान्ति को 'अलम्' अर्थात् समाप्त कर देता है। घोरात् चक्षुषः=आँख का घोरपन, अर्थात् क्रूरता।]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्। सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष॥ ७॥

अर्थ—(आञ्जन) सर्वत्र अभिव्यक्ति करनेवाले, (पूरुष) हे ब्रह्म-पुरुष! (इदम्) इसे [कि तू हमारी रक्षा करता है "नः पाहि" (मन्त्र ६)] (विद्वान्) जानता हुआ (सत्यम् वक्ष्यामि) मैं सत्य का ही कथन करूँगा, (न, अनृतम्) अनृत अर्थात् असत्य का नहीं। [इसके प्रतिफल में] (अश्वम्) अश्व, (गाम्) गौ, (तव आत्मानम्) तथा तेरे आत्मस्वरूप को (अहम् सनेयम्) मैं प्राप्त करूँ, या इन सबका भागी बनूँ।

[इदम्=यह पद सर्वनामपद है। सर्वनामपद पूर्व परामर्शी होते हैं। पूर्व के मन्त्र ६ में "असन्मन्त्र" आदि से रक्षा की प्रार्थना ब्रह्म से की गई है, अत: 'इदम्' द्वारा उसी का परामर्श मन्त्र ७ में अभिप्रेत है। साथ ही उपासक ब्रह्म-पुरुष से उसके 'आत्मस्वरूप' की प्राप्ति की याचना भी करता है।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

त्रयो॑ दा॒सा आञ्ज॑नस्य त॒क्मा ब॒लास॒ आदहि॑ः।

वर्षि॑ष्ठः पर्व॑तानां त्रिक॒कुन्नाम॑ ते पि॒ता॥ ८॥

अर्थ—(आञ्जनस्य) सर्वत्र अभिव्यक्ति करनेवाले ब्रह्म-पूरुष के (त्रयः) तीन (दासाः) दासवत् वशवर्ती हैं [सायण], या उपक्षयनीय हैं, (तक्मा) कृच्छ्र जीवन अर्थात् कष्टमय जीवन, (बलासः) बल का क्षेपण अर्थात् बल का अभाव, (आत्) तदनन्तर (अहिः[1]) सर्पवत् परछिद्र-प्रवेशी पुरुष। (पर्वतानाम्) पर्वतों में (वर्षिष्ठः) सबसे वृद्ध अर्थात् पुरातन या सुखवर्षी (त्रिककुद् नाम) तीन ककुदोंवाला पर्वत (ते) हे ब्रह्म-पुरुष! तेरा (पिता) पिता है।

[दासाः=**दसु उपक्षये** (दिवादिः) ब्रह्म-पूरुष के 'आत्मस्वरूप' [मन्त्र ७] की प्राप्ति हो जाने पर कृच्छ्र जीवन, बलक्षय, तथा सर्पवत् परछिद्र में प्रवेश, ये तीनों उपक्षीण हो जाते हैं। 'पर्वतानाम्' तथा 'त्रिककुद्'—ये दो पद विचारणीय है। पर्वत पद अनेकार्थक है। निघण्टु १.१० में पर्वत, मेघवाची है, परन्तु इस आञ्जन-प्रकरण में पर्वत का अर्थ है पर्ववान् अर्थात् जोड़वाला। यथा—"**पर्ववान् पर्वतः। तत्प्रकृतीतरत् सन्धिसामान्यात्**" (निरुक्त १.६.२०)। मन्त्र में 'पर्वत' पद सन्धिवाचक है, अर्थात् वर्णों की सन्धि द्वारा निर्मित 'पद', शब्दात्मक-पद। वह है ओम्, जोकि "अ, उ, म्" इन तीन वर्णों की सन्धि द्वारा निष्पन्न है। इसलिए ओम् की व्याख्या में "अ, उ, म्" इन तीन वर्णों की व्याख्या माण्डूक्य उपनिषद् में हुई है। माण्डूक्य उपनिषद् में, प्रथमः पादः, द्वितीयः पादः तथा तृतीय पादः द्वारा। इन तीन पादों को "अकारः, उकारः, मकारः" कहा है (माण्डूक्य उप० खण्ड ८)।

त्रिककुत्=इसके परिज्ञान के लिए निम्नलिखित मन्त्र विचारणीय है, यथा—

सु॒दे॒वो अ॑सि वरुण॒ यस्य॑ ते स॒प्त सिन्ध॑वः। अ॒नु॒क्षर॑न्ति का॒कुद॑ं सू॒र्म्यं॑ सुषि॒रामि॑व॥

ऋ० ८.६९.१२; तथा निरुक्त ५.४.२७

हे वरुण! (सुदेवः) उत्तमदेव (असि) तू है, (यस्य ते) जिस तेरे (सप्तसिन्धवः) सात स्यन्दन करनेवाले मन्त्र (काकुदम्) काकुद के अनुकूल क्षरण करते हैं, (इव) जैसेकि (सूर्म्यम्) उत्तम ऊर्मियोंवाला स्रोत (सुषिराम्) सुछिद्रा भूमि में क्षरण करता है। मन्त्र में 'काकुदम्' की व्याख्या में निरुक्त में कहा है कि "**काकुदं ताल्वित्याचक्षते, जिह्वा कोकुवा सास्मिन् धीयते**" (५.४.२७; पदसंख्या ७६)। अर्थात् काकुद है 'तालु' मुखस्थ प्रदेश, और कोकुवा है जिह्वा जोकि इस तालु में धारित होती है।

काकुदम्="कोकुवा+धा"। इस निष्पत्ति में वर्णविकार, वर्णनाश आदि नाना परिवर्तन करने होते हैं, जोकि क्लिष्ट कल्पना है। काकुदम् में ककुद् या ककुत् पद स्पष्ट प्रतीत होता है। बैल की गर्दन के समीप एक उच्च प्रदेश उभरा हुआ होता है जिसे कि ककुद् कहते हैं। 'तालु' भी उच्च प्रदेश है। इस अर्थ में भी ककुद् का अभिप्राय 'तालु' सम्भव है। सूक्त के मन्त्र ८ में 'त्रिककुत्' पद पठित है, अतः इसका

१. अथवा, सर्पवत् कुटिल गति, अर्थात् चाल, व्यवहार।

अर्थ 'तीन ककुदोंवाला प्रदेश' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। ब्रह्म-पूरुष का जप "ओम्" द्वारा या ओम् सम्बन्धी तीन अवयवों, "अ, उ, म्" द्वारा होता है। ये ही "त्रिककुत्" हैं।

ते पिता=ये "त्रिककुत्" हे ब्रह्म-पूरुष! तेरे पिता हैं। इन तीनों के समूहरूप ओम् द्वारा ब्रह्म-पूरुष की अभिव्यक्ति होती है, अतः इसे पिता कहा है। अथर्व (४.३९.९) में अग्नि में विचरनेवाले अग्नि नामक परमेश्वर को 'ऋषीणां पुत्रः' कहा है, और इस द्वारा ऋषियों को पिता कहा है, क्योंकि ऋषियों में आर्ष दृष्टि के उत्पन्न होने पर परमेश्वर का साक्षात्कार उन्हें होता है। इस प्रकार वेद की वस्तुवर्णन-शैली अद्भुत है।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ९ ॥

अर्थ—(यत्) जो (आञ्जनम्) सर्वत्र संसार की अभिव्यक्ति करनेवाला ब्रह्म, (त्रैककुदम्) तीन ककुदों से आविर्भूत होता है, और (हिमवतः परि) हिमवान् शीत पर्वत या स्थान से अभिव्यक्त होता है, वह (सर्वान् यातून्=यातुधानान्) सब यातनाओं की निधिभूत इन्द्रियों को तथा (सर्वाः च) सब (यातुधान्यः) यातनाओं की निधिभूत चित्तवृत्तियों को (जम्भयत्) नष्ट करता है।

[त्रैककुदम्=तीन ककुद् स्थान हैं, कण्ठ तथा ओष्ठद्वय। (मन्त्र ८) की व्याख्या में त्रिककुद् का स्वरूप स्पष्ट किया है। हिमवान् है हिमयुक्त पर्वत या स्थान। योगाभ्यास के लिए शीतप्रदेश अधिक सहायक होता है। यातुधान हैं यातनाओं की निधिभूत राजसिक तथा तामसिक इन्द्रियाँ, तथा यातुधानी हैं यातनाओं की निधिभूत राजसिक तथा तामसिक चित्तवृत्तियाँ। यथा—"**रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः**" (अथर्व० ८.२.१)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन॥ १० ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे सर्वत्र संसार की अभिव्यक्ति करनेवाले ब्रह्म-पूरुष! (यदि वा) चाहे तू (त्रैककुदम् असि) तीन ककुद-स्थलों से आविर्भूत हुआ है, (यदि वा) अथवा (यामुनम्) उपराम विधि से प्रकट हुआ (उच्यसे) कहा जाता है, (ते) तेरे (उभे नाम्नी) दोनों नाम (भद्रे) सुखदायक और कल्याण करनेवाले हैं, (ताभ्याम्) उन दोनों नामों द्वारा (नः) हमारी (पाहि)रक्षा कर।

[मन्त्र में पुंल्लिङ्ग (आञ्जन) तथा नपुंसक (त्रैककुदम्) दोनों पदों का प्रयोग हुआ है, जोकि ब्रह्म-पूरुष और ब्रह्म दोनों का निर्देश करता है। 'त्रैककुदम्' नाम की व्याख्या पूर्वोक्त मन्त्रों में की जा चुकी है। यामुनम्=**यम उपरमे** (भ्वादिः) सांसारिक भोगों से उपरति, विश्राम, उन भोगों का परित्याग। भद्रे=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)।]

सूक्त १०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि।

स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः॥ १॥

अर्थ—(वातात्) मानसून वायु से, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (विद्युतः) विद्युत् से, (ज्योतिषस्परि) ज्योति से (जातः) उत्पन्न हुआ, (सः) वह (कृशनः) तनूकृत, (हिरण्यजाः) सुवर्णोत्पन्न (शङ्खः) शङ्ख (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे (अंहसः) हनन से।

[शङ्ख की उत्पत्ति होती है समुद्र से तथा नदियोंवाले प्रदेशों से, और इनमें जल की सत्ता मानसून वायु से होती है, जिसका निर्देश वातात् द्वारा हुआ है। अन्तरिक्षात्=अन्तरिक्षस्थ मेघों से भी जल प्रदान होता है। विद्युतः=मेघीया-विद्युत् भी वर्षा द्वारा जल प्रदान करती है। ज्योतिषस्परि=सूर्य-ज्योति से भी जल प्रदान होता है। सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन होने से भी वर्षा होती है। शङ्खः यतः जलप्राय प्रदेशों से प्राप्त होता है, अतः मन्त्र के पूर्वार्ध में उन स्थानों का निर्देश किया है जोकि जलप्रदान में कारण हैं।

हिरण्यजाः=जैसे जलीय प्रदेशों से कपर्दिकाएँ श्वेत तथा पीतवर्ण की, उभयविध, प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार शङ्ख भी सम्भवतः श्वेत और पीत भी प्राप्त होते हों। हिरण्य पीतवर्णी होता है, पीतवर्णी होने से पीत शंख को हिरण्यजाः[1] कहा है। कृशनः=**कृश तनूकरणे** (दिवादिः), पीतवर्णी शङ्ख तनूकृत अवस्था में, अल्प परिमाण में, प्राप्त होता है। अंहसः=**आहन्तीति अंहः**, (निरुक्त ४.४.२५; तूतावपद (५७)। शङ्खः=**शाम्यतीति** (उणादि १.१०२, दयानन्द); शङ्ख रोगों को शान्त करता है, अतः शङ्ख-पद शङ्खभस्म का निर्देश करता है। कार्य में कारण का उपचार हुआ है। वैद्यनाथ पञ्चाङ्ग में शङ्ख-भस्म के सम्बन्ध में कहा है कि "यह यकृत्, तिल्ली उदर के विकार, आमांशु तथा संग्रहणी, पेट-दर्द, अम्लपित्त, गुल्म, अजीर्ण आदि में विशेष उपयोगी है। यह पित्ताधिक्य को कम करती है (वैद्यनाथपञ्चाङ्ग संवत् २०३०)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे। शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि षहामहे॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (रोचनानाम्) चमकते पदार्थों में (अग्रतः) मुखिया है, श्रेष्ठ पदार्थ है, (समुद्रात् अधि) वह तू समुद्र से (जज्ञिषे) पैदा हुआ है। (शङ्खेन) उस शङ्ख द्वारा (रक्षांसि) रोग-कीटाणु—राक्षसों का (हत्वा) हनन करके (अत्रिणः) रक्त, मांसादि को खा जानेवाले रोग कीटाणुओं का (वि षहामहे) हम विशेष पराभव करते हैं।

[शङ्ख के नाद द्वारा राक्षसों और अत्रियों का हनन तथा पराभव नहीं होता। ये गुण शङ्ख की भस्म में हैं, जैसाकि मन्त्र १ की व्याख्या में दर्शा दिया है। समुद्रोत्पन्न पदार्थों में शङ्ख[2] अधिक रोचन है, चमकता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः। शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः॥ ३॥

अर्थ—(शङ्खेन) शङ्ख द्वारा (अमीवाम्) रोग को, (अमतिम्) अज्ञान को, (उत) तथा (शङ्खेन)

---

१. अथवा 'हिरण्यजाः शङ्खः' का अभिप्राय है, 'हिरण्यभस्म-मिश्रित शङ्खभस्म।'

२. **शङ्खः=शाम्यतीति वा "शम् खेभ्यः" इन्द्रियेभ्यो वा।**

शङ्ख द्वारा (सदान्वाः) सदा सशब्द पीड़ाओं, चिल्लाहट पैदा करनेवाली पीड़ाओं को [विषहामहे, मन्त्र २] हम पराभूत करते हैं, (शङ्खः) शङ्ख (नः) हमारे लिए (विश्व-भेषजः) सब रोगों का औषध है। (कृशनः[१]) हिरण्य सदृश पीतवर्णी शङ्ख (अंहसः) हनन से (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे।

[**कृशनः हिरण्यनामैतत्** (सायण)। शङ्ख अस्थि-रूप है [मन्त्र ७]। यह "विश्वभेषज" नहीं हो सकता। शङ्खभस्म को विश्व-भेषज कहा जा सकता है। शङ्ख-भस्म नाना रोगों का शामक है, (देखो मन्त्र १ की व्याख्या)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः। स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः॥ ४॥

अर्थ—(दिवि) द्युलोक [के जलों] में (जातः) प्रकट हुआ, (समुद्रजः) समुद्र से पैदा हुआ, (सिन्धुतः परि आभृतः) स्यन्दनशील नदियों से आहृत होता है। (शङ्खः) शङ्ख (हिरण्यजाः) हिरण्य से पैदा हुआ (सः) वह (नः) हमारी (आयुष्-प्रतरणः) आयु का बढ़ानेवाला (मणिः) बहुमूल्य पाषाण के सदृश बहुमूल्य है। [हिरण्यजाः=सुवर्णभस्म-मिश्रित शङ्खभस्म।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः। सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः॥ ५॥

अर्थ—(समुद्रात्) समुद्र से (जातः) पैदा हुआ, (मणिः) बहुमूल्य पाषाण के सदृश बहुमूल्यवान् शङ्ख है। (वृत्रात्) अन्तरिक्ष का आवरण करनेवाले मेघ से (जातः) पैदा हुआ, (दिवाकरः) दिन के करनेवाले सूर्य के सदृश पीतवर्णी है। (सः) वह शङ्ख (सर्वतः) सब ओर से (अस्मान् पातु) हमारी रक्षा करे वह (हेत्या) अपने शस्त्र से (देवासुरेभ्यः) देवों और असुरों से रक्षा करे।

[वृत्र है मेघ, जोकि अन्तरिक्ष का आवरण करता है। मेघ के जल से शङ्ख पैदा होता है। यद्यपि शङ्ख समुद्र से पैदा होता है तो भी इसे मेघोत्पन्न कहा है, समुद्र में जल की सत्ता मेघवृष्ट जल द्वारा ही होती है। जैसे शङ्ख मेघीय जल से पैदा होता है, इसी प्रकार मेघ द्वारा आवृत सूर्य भी मेघावरण के हट जाने पर मानो पैदा होता है। उस समय पीतवर्णी सूर्य के सदृश, पीतवर्णी शङ्ख चमकता है। देवासुरेभ्यः पातु=दिव्य तत्त्व हैं—अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि और आसुर तत्त्व हैं, अन्धकारोत्पन्न मच्छर, सर्पादि। इन द्विविध तत्त्वों से उत्पन्न रोगों से शङ्खभस्म, विशेषतया हिरण्यपरिपाक के साथ परिपक्व शङ्खभस्म रक्षा करती है। सायण ने 'सः' द्वारा 'शङ्ख-विकारो मणिः' का ग्रहण किया है। यहाँ विकार से सम्भवतः शङ्खविकृत कोई औषधविशेष अभिप्रेत हो।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६॥

अर्थ—[हे शङ्ख!] (हिरण्यानाम्) हिरण्य-सदृश चमकीले पदार्थों में (एकः असि) तू भी एक चमकीला पदार्थ है, (त्वम्) तू (सोमात् अधि) जल से या मानो चन्द्रमा से (जज्ञिषे) पैदा हुआ है। (रथे) योद्धा के रथ में (त्वम्) तू (दर्शतः) दर्शनीय (असि) होता है, (इषुधौ) इषुओं को धारण

१. कृश अर्थात् अल्पमात्रा में उत्पन्न हिरण्य-सदृश पीतवर्णी शङ्ख।

करनेवाले निषङ्ग में, तूणीर में (त्वम्) तू (रोचनः) चमकता है। (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्र तारिषत्) वह बढ़ाये।

[सोम=जल (आप्टे)। अथवा सोम=चन्द्रमा। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है, पृथिवी की परिक्रमा करता और पृथिवी से कटकर अलग हुआ है। पृथिवी से शङ्ख पैदा होता है। सम्भवतः चन्द्रमा में भी किसी समय समुद्र की स्थिति हो और उसमें भी किसी समय शङ्ख उत्पन्न हुए हों। सम्भवतः इसीलिए 'शङ्खप्रस्थः' नामक एक स्थान-विशेष चन्द्रमा में है (आप्टे) योद्धाओं के रथ में शङ्ख की स्थिति कही है। युद्ध-काल में यह शत्रु की स्थिति तथा उसकी चाल-ढाल को सूचित कर सकने के लिए है। इसी प्रकार योद्धा के निषङ्ग में भी उसकी स्थिति कही है। रथ में स्थिति तो रथ-योद्धा के लिए है, और निषङ्ग में स्थिति पदाति-योद्धा के लिए कही है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा परानुष्टुप् शक्वरी**॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः। तत्ते बध्नाम्यायुषे

वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु॥ ७॥

अर्थ—(देवानाम्) देवों सम्बन्धी (अस्थि) शङ्खरूपी-हड्डी (कृशनम्) हिरण्य-सदृश चमकीली (बभूव) हुई है। (तत्) वह हड्डी (आत्मन्वत्) जीवात्मा से सम्पन्न हुई, आत्मावाली हुई, (अप्सु, अन्तः) जलों के भीतर (चरति) विचरती है। (तत्) उसे (ते) तेरी (आयुषे) स्वस्थ आयु के लिए, (वर्चसे) तेज के लिए, (बलाय) शारीरिक बल के लिए, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु के लिए, (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं सम्बन्धी सौ वर्षों तक के जीवन के लिए (बध्नामि) मैं बाँधता हूँ। (कार्शनः) कृशन अर्थात् हिरण्य से उत्पन्न पीत-शङ्ख (त्वा) तुझे (अभि रक्षतु) सब ओर से सुरक्षित करे।

[देवानाम्=वात आदि दिव्यतत्त्वों से उत्पन्न शङ्ख (मन्त्र १)। आत्मन्वत्=मन्त्र में सजीव शङ्ख का वर्णन किया है जोकि समुद्रादि के जलों में विचरता है। अस्थिमय-शङ्ख आयु-वृद्धि आदि का कारण नहीं हो सकता, अतः शङ्ख द्वारा शङ्ख-भस्म प्रतीत होती है। यह अर्थ समग्र सूक्त के अभिप्राय के अनुकूल भी है। बध्नामि=इस पद में 'हस्ते' बध्नामि का कथन नहीं हुआ। इसका यह भी अभिप्राय सम्भव है कि "सेवित शङ्खभस्म" को तेरे शरीर में, अनुपान की सहायता से, मैं दृढ़बद्ध कर देता हूँ जिससे कि वह तेरी सब प्रकार से रोगों से रक्षा करे।]

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त ११

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्व१न्तरिक्षम्।

अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश॥ १॥

अर्थ—(अनड्वान्) संसार-रूप शकट का वहन करनेवाले परमेश्वर[1] ने (दाधार) धारित तथा

१. मन्त्र ११ में अनड्वान को 'ब्रह्म' कहा है।

पोषित किया है (पृथिवीम्, उत, द्याम्) पृथिवी को तथा द्युलोक को, (अनड्वान्) अनड्वान् ने (दाधार) धारित तथा पोषित किया है (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को। (अनड्वान् दाधार) अनड्वान् ने धारित तथा पोषित किया है (प्रदिशः) विस्तृत दिशाओं को, तथा (षट् उर्वीः) ६ उर्वियों को, (अनड्वान्) अनड्वान् (विश्वम्, भुवनम्) समग्र भुवनों में (आ विवेश) सर्वत्र प्रविष्ट है।

[अनड्वान्=**अनो वहतीति** (दशपाद्युणादिवृत्ति, ९.१०७), इस अभिप्राय का द्योतक मन्त्र, यथा "**पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति। अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः**" देखें, अथर्ववेदभाष्य (१०.८.८); मन्त्र में परमेश्वर को संसार-शकट का वहन करनेवाला कहा है। षडुर्वी="**द्यौश्च पृथिवी च अहश्च रात्रिश्च आपचौषधयश्च**" (सायण)। वस्तुतः 'षडुर्वीः' पद प्रदिशः का विशेषण है। उर्वीः=**ऊर्णुञ् आच्छादने** (अदादिः)। ये ६ हैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाएँ। विश्वम्, भुवनम्=जात्येकवचन, भुवन १४ होते हैं।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

अर्थ—(अनड्वान् इन्द्रः) अनड्वान् है इन्द्र, परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, (सः) वह (पशुभ्यः) पशुओं [की रक्षा] के लिए (वि चष्टे) विशेषतया देख रहा है, (शक्रः) शक्तिमान् परमेश्वर (त्रयान् अध्वनः) जीवन के तीन मार्गों का (विमिमीते) निर्माण करता है। (भूतम्, भविष्यद्, भुवना=भुवनानि) भूत, भविष्यद् [तथा वर्तमान] तीनों भुवनों को दोहता हुआ परमेश्वर (देवानाम्) देवों के (सर्वा=सर्वाणि, व्रतानि) सब कर्मों को (चरति) करता है।

[इन्द्रः=**इदि परमैश्वर्ये** (भ्वादिः)। त्रयान् अध्वनः=आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक मार्ग, जीवन के। भूतम् आदि दुहानः=परमेश्वर तीनों कालों के जगत् से, प्रजा के लिए, दुग्ध आदि पदार्थों का दोहन कर रहा है तथा वह सूर्यादि देवों के कर्मों को भी स्वयमेव सम्पादित कर रहा है। **व्रतम् कर्मनाम** (निघं० २.१)। पशुभ्यः="**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (अथर्व० ११.२.९)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः।
सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद्यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥

अर्थ—(मनुष्येषु अन्तः) मनुष्यों के हृदयों के भीतर (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (जातः) प्रकट होता है, (घर्मः) प्रदीप्त हुआ, (तप्तः) ज्ञान से चमकता हुआ वह (शोशुचानः) अत्यन्त प्रदीप्त हुआ (चरति) हृदयों में विचरता है। (यः) जो (अनडुहः विजानन्) संसार-शकट के वहन करनेवाले को प्रत्यक्ष जानता हुआ (उदारे) उदार जगत् में (न अश्नीयात्) भोगों का भोग न करे, (सः) वह (सुप्रजाः) उत्तम-प्रजनवाला (सन्) होता हुआ (न सर्षत्) संसार में पुनः सरण नहीं करता, जन्म नहीं लेता।

[घर्मः=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः), दीप्त्यर्थ अभिप्रेत है। तप्तः="**यस्य ज्ञानमयं तपः**" (मुण्डक १.१.९)। सुप्रजाः=**असिच् समासान्तः** (अष्टा० ५.४.१२२)। सर्षत्=सृ गतौ+अट्+सिप्। उदारे=संसार,

परमेश्वर के उदार दानों से, भरपूर है; परन्तु ब्रह्मज्ञानी इस उदार संसार में प्रदत्त भोगों का भोग नहीं करता, अतः वह संसार से मुक्त हो जाता है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्यायति पवमानः पुरस्तात्।
पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य॥ ४॥

अर्थ—(सुकृतस्य लोके) सुकर्म के लोक में (अनड्वान्) संसार-शकट का वहन करनेवाला परमेश्वर (दुहे) भोग्यों का दोहन करता है, प्रदान करता है, (पवमानः) पवित्र करनेवाला सूर्य (पुरस्तात्) पूर्व में विद्यमान हुआ (एनम्) इस अनड्वान् को (आप्याययति) बढ़ाता है, इसके गुण-कर्मों का कथन करता है। (पर्जन्यः) मेघ, (धाराः) मेघोत्पन्न वर्षाधाराएँ, (मरुतः) मानसून वायुएँ (अस्य) इस अनड्वान् का (ऊधः) दुग्धाशय है, (यज्ञः) अनड्वान् के प्रसाद के लिए किया गया यज्ञकर्म (पयः) तत्फलरूप दुग्ध है, दुग्ध-सदृश पुष्टिकारक है, (दक्षिणा) यज्ञकर्म में प्राप्त दक्षिणा भी (अस्य) इस अनड्वान् का (दोहः) दोहरूप[1] है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात्॥ ५॥

अर्थ—(यस्य) जिस अनड्वान् का, (यज्ञपतिः) यज्ञ का स्वामी=यजमान (न ईशे) अधीश्वर नहीं, (न यज्ञः) न यज्ञ अधीश्वर है, (न अस्य दाता ईशे) न इसके ज्ञान का दानी अधीश्वर है, (न प्रतिग्रहीता) और न दान ग्रहण करनेवाला अधीश्वर है। (यः) जो परमेश्वर (विश्वजित्) विश्व का जेता, (विश्वभृत्) विश्व का भर्त्ता, (विश्वकर्मा) तथा विश्व का कर्त्ता है, (घर्मम्) उस दीप्यमान का (नः) हमारे प्रति (ब्रूत) कथन करो, (यतमः) जीव, प्रकृति और परमेश्वर में जो कोई कि (चतुष्पात्) चतुष्पाद् ब्रह्म है।

[अनड्वान् है संसार-शकट का वहन करनेवाला चतुष्पाद् ब्रह्म। संसार का कोई व्यक्ति या कोई कर्म, चतुष्पाद्-ब्रह्म का अधीश्वर नहीं। ब्रह्मविद्या का प्रदाता तथा प्रतिग्रह करनेवाला भी इसका अधीश्वर नहीं। चतुष्पाद् ब्रह्म का वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् में हुआ है।]

---

१. मन्त्र में ७ दोहों का कथन हुआ है। (१) सुकर्म के लोक में अनड्वान् द्वारा प्रदत्त भोग। (२) पर्जन्य अर्थात् मेघरूपा दोह। (३) मेघीय वर्षा-धाराओं-रूपी दोह। (४) मरुतः अर्थात् मानसून वायुओं-रूपी दोह। (५) परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए किये गये अकाम्य यज्ञकर्म, जिनमें प्रवृत्ति अनड्वान् की ही प्रेरणा द्वारा होती है, यह भी दोहरूप है। (६) पयः अर्थात् दुग्धरूप में प्राप्त आत्मशुद्धि-रूप दोह। (७) दक्षिणारूपी दोह, अर्थात् परमेश्वरीय यज्ञकर्म को ऋत्विक् रूप में करने से परमेश्वररूपी यजमान द्वारा प्राप्त दक्षिणा, अर्थात् वृद्धि; दक्षिणा=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)। **विशेष**—अनड्वान् है संसार-शकट का वहन करनेवाला परमेश्वर, प्रजापति, जोकि प्रजाओं में रम रहा है। यह दोह है चतुष्पाद्-ब्रह्म का। चतुष्पाद्-ब्रह्म ही कर्म-भेद से अनड्वान्-परमेश्वर कहलाता है। शेष पर्जन्य, आदि दोह अनड्वान्-परमेश्वरकृत हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—अनड्वान् इन्द्ररूपः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

येन॑ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्।

तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

अर्थ—(येन) जिस अनड्वान्, अर्थात् संसार-शकट का वहन करनेवाले की कृपा से (देवाः) देवकोटि के लोग (अमृतस्य नाभिम्) मोक्ष के बन्धक अर्थात् मोक्ष के द्वारभूत (शरीरम् हित्वा) शरीर का त्याग कर (स्वः) सुखविशेष के स्थान पर (आरुरुहुः) आरूढ़ हुए, (तेन) उस अनड्वान् की कृपा से (घर्मस्य व्रतेन) दीप्यमान अनड्वान्-सम्बन्धी व्रत द्वारा, (तपसा) तथा तप द्वारा (यशस्यवः) यशस्वी हुए हम, (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मों के लोक को (गेष्म) प्राप्त हों।

[शरीर अमृत की नाभि है। शरीर के रहते ही व्रतों, तपश्चर्या आदि द्वारा सुकर्मियों के लोक को प्राप्त किया जा सकता है। नाभिम्=**णह बन्धने** (दिवादिः)। व्रतेन=अनड्वान्-सम्बन्धी व्रत (मन्त्र ११)।]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—अनड्वान् इन्द्ररूपः ॥ छन्दः—षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भोपरिष्टाज्जगती निचृच्छक्वरी ॥

इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः पर॒मे॒ष्ठी वि॒राट्।

विश्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमताऩडु॒ह्य॑क्रमत। सो॑ऽदृंहयत॒ सो॑ऽधारयत ॥ ७ ॥

अर्थ—[चतुष्पाद् ब्रह्म, मन्त्र ५] चतुष्पाद्—ब्रह्म (इन्द्रः) सूर्य है (रूपेण) रूप द्वारा; (अग्निः) अग्नि है (वहेन)जगद् के वहन द्वारा; (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति है; (परमेष्ठी) परमस्थान में स्थित है, (विराट्) तथा विराट्रूप है। (विश्वानरे) विश्वानर में (अक्रमत) वह प्रविष्ट है, (वैश्वानरे)[1] वैश्वानर में (अक्रमत) प्रविष्ट है, (अनडुहि) अनड्वान् में (अक्रमत) प्रविष्ट है। (सः) उसने (अदृंहयत) जगत् को दृढ़ किया है, (सः) उसने जगत् का (अधारयत) धारण किया है।

[अनडुहि अक्रमत=अनड्वान् है संसार-शकट का वहन करनेवाला परमेश्वर, उसमें प्रविष्ट उससे भिन्न ही होना चाहिए, वह प्रकरण-प्राप्त चतुष्पाद्-ब्रह्म ही है। यद्यपि परमेश्वर और चतुष्पाद्-ब्रह्म एक ही है, तो भी कार्यभेद से ये दो रूप एक ही चतुष्पाद ब्रह्म के हैं। ब्रह्म है बृहत् शक्तिमान् और वह ही परमेश्वर है, जबकि एक ऐश्वर्यवान् जगत् का उत्पादक और धारक होता है। इस प्रकार गुण-कर्म के भेदरूपी उपाधियों द्वारा एक ही ब्रह्म के नाना नाम होते हैं, यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः सः प्रजापतिः।**" (यजुः० ३२.१)।

वह सूर्य है, रूप द्वारा। जैसे सूर्य प्रकाशमान है वैसे ब्रह्म भी प्रकाशमान है। इसलिए इसे '**आदित्यवर्णम्**' कहा है (यजुः० ३१.१८)। वहन द्वारा वह अग्नि है। अग्नि द्वारा अग्निरथों, रेलगाड़ियों तथा मिलों में वहन क्रिया होती है, विद्युत भी अग्नि ही है। ब्रह्म प्रजाओं का अधिपति है, अतः प्रजापति है। वह परमेष्ठी है, दूर से दूर के स्थानों में तथा सर्वश्रेष्ठ स्थान जीवात्मा में स्थित है। वह विराट् रूप है, विशेषतया प्रदीप्त है। "**आदित्यवर्णम्**" है (यजुः० ३१.१८)। विश्वानर हैं सूर्य और विद्युत्, तथा वैश्वानर है अग्नि, (वैश्वानर-प्रकरण, निरुक्त, अध्याय ७, पद ६, २३)। ब्रह्म विश्वानर तथा वैश्वानर में प्रविष्ट है।]

---

१. "**अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः। विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी** [सूर्य तथा विद्युत्] **वैश्वानरोऽयम्** [भूमिष्ठ-अग्निः] **यत् ताभ्यां जायते**" (निरुक्त ७.६.२३)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः। एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

अर्थ—(अनडुहः) संसार-शकट का वहन करनेवाले परमेश्वर का (एतत्) यह (मध्यम्) मध्य प्रदेश है, (यत्र) जहाँ कि (एषः वहः) यह वहन करनेवाला परमेश्वर (आहितः) स्थित है। (एतावत्) इतना ही (अस्य) इस अनड्वान्-परमेश्वर का (प्राचीनम्) पूर्व का भाग है, (यावान्=यावत्) जितना कि (प्रत्यङ्) पश्चिम में (समाहितः) सम्यक् स्थित है।

[कर्क और मकर राशि को परस्पर मिलानेवाली रेखा राशिचक्र को दो भागों में विभक्त करती है, पूर्वभाग में और पश्चिम भाग में। ये दोनों भाग परिमाण में सम हैं, बराबर-बराबर हैं। वहनकर्त्ता अनड्वान्-परमेश्वर, इन दो विभागों के मध्य में स्थित हुआ, दोनों भागों का यथावत् वहन करता है, शासन करता है।

सौर जगत् में सूर्य कर्क व मकर रेखा को दो बराबर-बराबर भागों में बाँटता है। जनवरी से जून तक ६ महीनों में सूर्य इस रेखा के पूर्व में रहता है, और जुलाई से दिसम्बर तक ६ मासों में पश्चिम में रहता है। इसे ही, मन्त्र में 'प्राचीनम्' तथा 'प्रत्यङ्' द्वारा निर्दिष्ट किया है। 'वहः' का अर्थ है सौर परिवार का वहन करनेवाला सूर्य। आहितः=सूर्य स्थापित किया गया है 'चतुष्पात् ब्रह्म' द्वारा।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो वेदानडुहो दोहान्त्सप्तानुपदस्वतः।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥

अर्थ—(यः) जो (अनडुहः) अनड्वान्-परमेश्वर के (अनुपदस्वतः)न उपक्षीण होनेवाले (सप्त दोहान्) सात दोहों को (वेद) जानता है, वह (प्रजाम् च) उत्तम या प्रकृष्ट जन्म को, (लोकम् च) और लोक को (आप्नोति) प्राप्त होता है, (तथा) उस प्रकार (सप्त ऋषयः) सात ऋषि (विदुः) जानते हैं।

[सप्त दोहाः (मन्त्र ४ की टिप्पणी में कथित)। ये सप्त दोह यावत्काल सृष्टि की स्थित है, तावत्-काल तक विद्यमान रहते हैं, अतः उपक्षीण नहीं होते। ऐसे ज्ञानी को प्रकृष्ट-जन्म प्राप्त होता है, तथा प्रकृष्ट लोक। सप्त ऋषयः=अध्यात्मपक्ष में सप्त ऋषि हैं शरीरस्थ। यथा—"**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजुः० ३४.५५)। "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी आत्मनि" (निरुक्त १२.४.३८; पद सप्त ऋषयः) (२५)।

आधिदैविक पक्ष में सप्त ऋषि हैं, सप्तर्षिमण्डल। ये द्युलोक की उत्तर दिशा में स्थित हैं। इसे ऋक्ष-मण्डल[1] भी कहते हैं। पाश्चात्य ज्योतिः शास्त्र में इसे "Great-Bear" कहते हैं, अर्थात् बड़ा रीछ। ऋक्ष पद का अपभ्रंश है 'रीछ'। इसके सम्बन्ध में 'विदुः' का प्रयोग, कविता रूप में इन्हें चेतन ऋषि मानकर किया गया है। विदुः में बहुवचन ऋक्ष के ताराओं के बाहुल्य के कारण है।]

१. यथा "**अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः। अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति**" (ऋ० १.२४.१०)। द्युलोक में इन्हें रीछ की आकृति में दर्शाया जाता है। निरुक्त में ऋक्षाः का अर्थ नक्षत्र है। ऋक्षः=भल्लूकः (उणा० ३.६७; दयानन्द)। तथा "भल्लूकः" (दशपाद्युणादिवृत्ति; ९.२१; उज्ज्वलदत्त)। "अमी य ऋक्षाः" मन्त्र में 'ऋक्षाः' पद द्युलोक के समग्र ताराओं सम्बन्धी है, जोकि रात्रि में तो दृष्टिगोचर होते हैं, और दिन में नहीं। यह प्रश्न केवल भल्लूकाकृति-सम्बन्धी तारागणों के लिए नहीं है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—अनड्वान् इन्द्ररूपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।

श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः॥ १० ॥

अर्थ—(पद्भिः) पैरों द्वारा (सेदिम्) विनाश को (अवक्रामन्) कुचला हुआ, और (इराम्) जल को (जङ्घाभिः) जङ्घाओं द्वारा (उत्खिदन्) ऊपर की ओर खदेड़ता हुआ, (अनड्वान्) प्राणवान् सूर्य, (कीनाशः च) और किसान [ये दोनों] (श्रमेण) श्रम द्वारा (कीलालम्) अन्न के (अभि) अभिमुख (गच्छतः) जाते हैं, अन्न प्राप्त करते हैं।

['पद्भिः' द्वारा ६ दिशाओं में सूर्य के पादों का वर्णन हुआ है और 'जङ्घाभिः' द्वारा गति और वेग सूचित किया गया है। तथा "**जङ्घयोर्जवः**" (अथर्व० १९.६०.२)। अतः 'जङ्घा' पद 'हन्' धातु से व्युत्पन्न प्रतीत होता है, **हन हिंसागत्योः** (अदादिः)। 'जङ्घा' पद में गत्यर्थ सूचित हुआ है। पाद तो शरीर की स्थिति के साधन हैं "पादयोः प्रतिष्ठा" [स्थितिः] (अथर्व० १९.६०.२)। सूर्य की रश्मियों के अग्र भागों को भी "पादाः" कहते हैं, यथा "**बालस्यापि रवेः पादाः पतन्ति शिरसि भूभृताम्**" (पञ्चतन्त्र[1] १.३१८)। ये पादाग्र जब पृथिवी के जलप्रधान देशों पर पड़ते हैं, तब जल वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्ष की ओर उड़कर मेघ निर्माण करता है, और वर्षा द्वारा कृषि से अन्न पैदा होता है, और कृषक अर्थात् किसानों को अन्नलाभ होता है। कृषक खेत को तैयार कर, अन्न बोते हैं, अतः कृषकों और सूर्य के सहयोग से कीलाल पैदा होता है, "**कीलालम् अन्ननाम**" (निघं० २.७)। इरा=जल, यथा "**इरावत्यः नदीनाम**" (निघं० २.७)। मन्त्रपठित 'अनड्वान्' पद भी भिन्नार्थक है। **अनतः प्राणनाम (अन प्राणने; श्वस प्राणने, अन च** (अदादिः)। अन्+असुन्=अनस् अनः। सूर्य प्राणवान् है, और प्राणप्रदाता है। अनड्वान्=अनस्+मतुप्। मन्त्र-पठित 'श्रमेण' का अन्वय कीनाश के साथ है, किसान का परिश्रम अभिप्रेत है।]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—अनड्वान् इन्द्ररूपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः।

तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम्॥ ११ ॥

अर्थ—(एताः) इन (द्वादश रात्रीः) १२ रात्रियों को (वै) निश्चय से (प्रजापतेः) प्रजाओं के पति के सम्बन्ध में (व्रत्याः) व्रतधारणयोग्या (आहुः) कहते हैं। (तत्र) उन १२ रात्रियों में (उप) उपगत हुए (ब्रह्म) चतुष्पाद्-ब्रह्म को (यः) जो (वेद) जान लेता है, (वै) निश्चय से (तत्) वह है (अनडुहः व्रतम्) अनड्वान्-सम्बन्धी व्रत।

[मन्त्र ७ में अनड्वान्, अर्थात् संसार-शकट का वहन करनेवाले परमेश्वर का कथन हुआ है, इसे ही ब्रह्म भी कहा है (मन्त्र ११)। प्रजापति अर्थात् प्रजाओं का रक्षक भी इसे कहा है। इसकी प्राप्ति के लिए 'द्वादश रात्री व्रत' का विधान है। ये द्वादश रात्रियाँ हैं संवत्सर के १२ मासों की आरम्भिक १२ रात्रियाँ।[2] रात्रि का अभिप्राय है एक अहोरात्र, रात्रि के १२ बजे से आरम्भ करके आगामी रात्रि के १२

१. "शिशुपालवध" (९.३४।) तथा 'रघुवंश' (१६.५३) में भी अभिप्राय पूर्ववत् है। (आप्टे)।

२. "**द्वादश रात्रीर्दीक्षितः स्यात्। द्वादशमासाः संवत्सरः। संवत्सरो विराट्, विराजमाप्नोति**" (तै०सं० ५.६.७.१)।

बजे का काल। रात्रि का काल शान्त-काल होता है, जो कि ध्यान के लिए अधिक उपयोगी है। १२ मासों के अहोरात्रों में अर्थात् १२ मासों के रात्रिकालों में ब्रह्म के ध्यान द्वारा, ब्रह्म उपगत हो जाता है, प्रत्यक्ष हो जाता है। इसे सांवत्सरिक व्रत-काल भी कहा जा सकता है। इसे मन्त्र में 'अनडुहो व्रतम्' कहा है। रात्रिकाल शान्त होते हैं, अतः ब्रह्मध्यान के लिए उपयोगी हैं।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि। दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

अर्थ—(सायम्) सायंकाल में (दुहे) मैं, अनड्वान्-परमेश्वर को दोहता हूँ, (प्रातः) प्रातःकाल में (दुहे) दोहता हूँ, (मध्यंदिनम् परि) मध्याह्न में (दुहे) दोहता हूँ। (अस्य) अनड्वान्-परमेश्वर के (ये दोहाः) जो दोह (संयन्ति) मिलकर हमें प्राप्त होते हैं (तान्) उन्हें (अनुपदस्वतः) अनुपक्षीण (विद्म) हम जानते हैं।

[रात्रियों में (अश्विनोः काल में) तो ब्रह्म का ध्यान करना ही चाहिए, परन्तु दिन के तीन कालों में भी अनड्वान्-परमेश्वर से यथासम्भव शक्तिरूपी दोहों की प्रार्थनाएँ करनी चाहिएँ। ये प्रार्थनाएँ दैनिक अन्य कर्त्तव्यों में बाधक न होकर सहायक हो जाती हैं। ये प्रार्थनाएँ दो कालों के सन्धिकालों में की गई सन्ध्याओं से पृथक् हैं। ब्रह्म का जब भी ध्यान करो, लाभप्रद ही है।]

सूक्त ९२

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहिणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा गायत्री** ॥

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

अर्थ—(रोहणि) लोहित वर्णवाली हे लाक्षा! [अथर्व० ५.५.७] (रोहणी असि) तू क्षतों को प्ररोहित करती है, भर देती है, (छिन्नस्य) टूटी (अस्थ्नः) हड्डी को (रोहणी) तू प्ररोहित करती है, जोड़ देती है। (अरुन्धति) हे घावों का निरोध करनेवाली! (इदम्) इस कटे अङ्ग को (रोहय) तू रोहित कर, भर दे, ठीक कर दे। [अरुन्धती=अरूंषि धयति इति; कटे भाग के पीप, और रक्त को पी जानेवाली। अरुन्धती पद में "अरुः" पद है (देखें, अथर्व० ५.५.४)। अरुः=घाव।]

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहिणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥

अर्थ—(यत्) जो (ते) तेरा अङ्ग (रिष्टम्) हिंसित हुआ है, (यत्) जो (ते) तेरा अङ्ग (द्युत्तम् अस्ति) अग्नि द्वारा द्योतित हुआ है, जला है, (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पेष्ट्रम्) जो अङ्ग पिस गया है, कुचला गया है (तत्) उसे (धाता) विधाता (भद्रया) कल्याणकारिणी और सुखदायी लाक्षा द्वारा (पुनः) फिर (संदधत्) सन्धि-सम्पन्न करे, (परुषा परुः) जोड़ के साथ जोड़ की सन्धि कर दे।

[धाता=वेदानुसार रोगनिवारण में ओषधि के साथ-साथ परमेश्वर की भी कृपा चाहिए, अतः ओषधि-सेवन के साथ-साथ परमेश्वर से भी रोग-निवारण के लिए प्रार्थनाएँ करते रहना आवश्यक है। द्युत्तम्=**द्युत दीप्तौ** (भ्वादिः)। भद्रया=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)। सम्भवतः मन्त्र में 'भद्रा' पद लाक्षावाचक हो।]

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहिणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑ । सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॒स्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

अर्थ—(ते) तेरी (मज्जा) अस्थिसार [उणा० १.१५९, दयानन्द] (मज्ज्ञा) अस्थिसार के (सं भवतु) साथ मिल जाए, (ते) तेरी (परुः) हड्डी का जोड़ (परुषा) हड्डी के जोड़ के (सम्, उ) संभवतु, साथ मिल जाए। (ते) तेरे (मांसस्य) मांस का (वि स्रस्तम्) ध्वंसित भाग (सम्) संभवतु, परस्पर मिल जाए, (अस्थि अपि) हड्डी भी (सम् रोहतु) सम्यक् प्ररोहित हो जाए।

[मज्जा=marrow of the bones and flesh] (आप्टे)। विस्रस्तम्=वि+**स्रंसु अवस्रंसने**।]

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहिणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा सं धी॑यतां॒ चर्म॑णा॒ चर्म॑ रोहतु ।

असृ॑क्ते॒ अस्थि॑ रोहतु मां॒सं मां॒सेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥

अर्थ—(मज्जा) अस्थिसार (मज्ज्ञा) अस्थिसार के साथ (सं धीयताम्) सन्धि को प्राप्त हो जाए, (चर्म) त्वचा (चर्मणा) त्वचा के साथ (रोहतु) रोहित हो जाए। (ते) तेरा (असृक्) रक्त, खून और (अस्थि) तेरी हड्डी (रोहतु) प्ररोहित हो जाए, (मांसम्) मांस (मांसेन) मांस के साथ (रोहतु) प्ररोहित हो जाए, मिल जाए।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहिणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

लोम॒ लोम्ना॒ सं क॑ल्पया त्व॒चा सं क॑ल्पया॒ त्वच॑म् ।

असृ॑क्ते॒ अस्थि॑ रोहतु छि॒न्नं सं धे॑ह्योषधे ॥ ५ ॥

अर्थ—(लोम) लोम को (लोम्ना) लोम के साथ (संकल्पया) समर्थित कर दे, स्वस्थानगत कर दे [हे लाक्षा!] (त्वचम्) त्वचा को (त्वचा) त्वचा के साथ (संकल्पया) समर्थित कर दे। (ते) तेरा (असृक्) रक्त अर्थात् खून तथा तेरी (अस्थि) हड्डी (रोहतु) प्ररोहित हो जाए, (ओषधे) हे ओषधि! (छिन्नम्) भग्न अङ्ग को (सं धेहि) सन्धियुक्त कर दे।

[कल्पय=**कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः)। **'कृपो रो लः'** (अष्टा० ८.१.१८) इति रेफस्य लकारः।]

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहिणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा यवमध्या भुरिग्गायत्री** ॥

स उत्ति॑ष्ठ॒ प्रेहि॒ प्र द्र॑व॒ रथः॑ सुच॒क्रः सु॑प॒विः सु॒नाभिः॑ । प्रति॑ तिष्ठो॒र्ध्वः ॥ ६ ॥

अर्थ—(सुचक्रः) उत्तम चक्रोंवाला, (सुपविः) उत्तम पवि अर्थात् रथनेमिवाला, (सुनाभिः) उत्तमनाभिवाला (रथः) रथ जैसे वेग से द्रुत होता है, चलता है, वैसे हे रोगी! (प्र द्रव) द्रुतगति अर्थात् वेग से चल; एतदर्थ (सः) वह तू (उत् तिष्ठ) [शय्या से] उत्थान कर, उठ, (प्रेहि) आगे बढ़ और (ऊर्ध्वः) उत्थित हुआ (प्रतितिष्ठ) पैरों पर प्रतिष्ठित अर्थात् दृढ़रूप में स्थित हो जा।

[**पविः=रथनेमिर्भवति** (निरुक्त ५.१.५; पद पविः (२५)। रथनेमि है लोहचक्र जिसे कि पहिये की परिधि पर चढ़ाया जाता है, पहिये की सुदृढ़ता के लिए। नाभिः=यह है पहिये के केन्द्र में स्थित अङ्ग, जिसमें पहिये के अरे लगे रहते हैं, बँधे रहते हैं। नाभिः=**णह बन्धने** (दिवादिः)। प्रतितिष्ठ=**पादयोः प्रतिष्ठा** (अथर्व० १९.६०.२)।]

ऋषिः—ऋभुः ॥ देवता—**रोहिणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।

ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥ ७ ॥

अर्थ—(यदि) यदि (कर्तम्) छेदक आयुध ने (पतित्वा) शरीर पर गिरकर (संशश्रे) शरीर को हिंसित किया है, चोट पहुँचाई है, (यदि वा) अथवा (प्रहृतः) शत्रु द्वारा प्रहाररूप में फेंके गये (अश्मा) पत्थर ने (जघान) तेरे किसी अङ्ग का हनन किया है, तो (ऋभुः) तर्खान (इव) जैसे (रथस्य अङ्गानि) रथ के अङ्गों को (संदधत्) जोड़ देता है [इसी प्रकार रोहणी अर्थात् लाक्षा] (परुषाः परुः) तेरे जोड़ के साथ जोड़ की सन्धि कर दे।

[कर्तम्=**कृती छेदने** (तुदादिः), **छेदकम् आयुधम्** (सायण), अथवा कर्तम्=गर्तम्, वर्णविकारः। संशश्रे=शॄ हिंसायाम्; लिटि। कर्तम् पतित्वा=कर्ते गर्ते पतित्वा।]

सूक्त १३

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

अर्थ—(उत) तथा (अवहितम्) अधोगति-प्राप्त हुए को (देवाः) हे दिव्य महात्माओ! (उन्नयथ) समुन्नत करो, (देवाः) हे दिव्य महात्माओ! (पुनः) बार-बार समुन्नत करो। (उत) तथा (आगः) पापकर्म (चक्रुषम्) किये हुए को (देवाः) हे दिव्य महात्माओ! (जीवयथ) नया जीवन प्रदान करो, (देवाः) हे दिव्य महात्माओ! (पुनः) बार-बार नया जीवन प्रदान करो।

[अवहितम्=अव (अधः)+हितम् (हि गतौ)+क्तः।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।

दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

अर्थ—(द्वौ) दो (इमौ) ये (वातौ) वायुएँ (वातः) गति करती हैं, (आ सिन्धोः) एक हृदय-समुद्र से, दूसरी (आ परावतः) परे के प्रदेश से। (अन्यः) एक (ते) तेरे लिए (दक्षम्) बल (आ वातु) बहा लाये, (अन्यः) और उससे भिन्न (वि वातु) पृथक् बहा ले जाए, (यद् रपः) जोकि पापरूप है, अशुद्ध है।

[मन्त्र में श्वास-प्रश्वासरूप दो वातों का कथन हुआ है। सिन्धु है हृदयसिन्धु, जिसमें से पापरूप अशुद्ध वायु (कार्बन डाईऑक्साइड) प्रश्वास द्वारा विवात होती रहती है, पृथक् होकर प्रवाहित होती रहती है; सिन्धोः यथा "**सिन्धुसृत्याय='हृदयाय' जाताः**" (अथर्व० १०.२.११), देखें अथर्ववेदभाष्य। तथा दूसरी वात या वायु है शुद्धवायु, श्वासवायु, जोकि परे के प्रदेश से श्वासरूप में हृदय-समुद्र में आती है, इसमें 'आक्सीजन' वायु का निवेश होता है जो कि श्वासरूप में फेफड़ों में प्रविष्ट होकर अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर दक्ष अर्थात् बल प्रदान करती है। **दक्षः बलनाम** (निघं० २.९)। **परावतः दूरनाम** (निघं० ३.२६)।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः। त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

अर्थ—(वात) हे वायु! (भेषजम्) औषध को (आ वाहि) हमारी ओर प्रवाहित कर, (यत्) जो (रपः) पापरूप अशुद्धि है उसे (वि वाहि) हमसे पृथक् बहा ले-जा। (त्वम्) तू (हि) निश्चय से (विश्वभेषज) हे सब रोगों की औषध! (देवानाम्) इन्द्रियों का (दूतः) उपतापी हुआ (ईयसे) गति करता है।

[भेषजम्=आक्सीजन (मन्त्र २)। देवानाम्=इन्द्रियाणाम् (सायण), कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों का। दूतः=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)। ताप द्वारा जैसे धातुओं का मल क्षीण हो जाता है वैसे उपतापी प्रश्वासों द्वारा शरीरगत मल शुद्ध होता रहता है।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।

त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ ४॥

अर्थ—(देवाः) इन्द्रियदेव (इमम्) इस रोगी की (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, (मरुताम्) प्राणापान-व्यान-समानादि शरीरगत वायुओं के (गणाः) समूह (त्रायन्ताम्) रक्षा करें। (विश्वा=विश्वानि, भूतानि) सब भूत भौतिक तत्त्व (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, (यथा) जिस प्रकार कि (अयम्) यह रोगी (अरपाः) पापरूपी अशुद्धियों से रहित (असत्) हो जाए।

[इन्द्रियदेव उपताप द्वारा (मन्त्र ३); प्राणापान आदि प्राणायाम द्वारा; पृथिव्यादि पञ्चभूत तथा भौतिक तत्त्व अन्य साधनों द्वारा, शुद्ध होकर, इसकी रक्षा तथा पालना करें। अरपाः=रप्+असुन्।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।

दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥ ५॥

अर्थ—हे रोगी! (त्वा) तेरे प्रति (आ अगमम्) मैं आ गया हूँ, (शंतातिभिः) रोगशामक साधनों के विस्तार के साथ, (अथो) तथा (अरिष्टतातिभिः) अहिंसा-विस्तारक साधनों के विस्तार के साथ। (ते) तेरे लिए (उग्रम्, दक्षम्) उग्र वृद्धिकारक बलों को (आ भारिषम्) मैं लाया हूँ। (ते) तेरे (यक्ष्मम्) यक्ष्मा को (परा सुवामि) मैं पराङ्मुख प्रेरित करता हूँ, हटा देता हूँ।

[तातिभिः=**तनु विस्तारे**, अथवा "तातिल्" प्रत्ययः "**शिवशमरिष्टस्य करे**" (अष्टा० ४.४.१४३)। साधनों का वर्णन मन्त्र ६,७ में हुआ है।]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोयं शिवाभिमर्शनः॥ ६॥

अर्थ—(अयम् मे, हस्तः) यह मेरा हाथ (भगवान्) भाग्यशाली; (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा दूसरा हाथ अधिक भाग्यशाली है। (अयम् मे) यह मेरा हाथ (विश्वभेषजः) सब रोगों का औषधरूप है, (अयम्) यह दूसरा हाथ (शिवाभिमर्शनः) छूनेमात्र से कल्याणकारी तथा सुखदायक है।

[मन्त्र में उपचारक ने रोगी को विश्वास दिलाया है कि तेरे रोग का शमन हो जाएगा तथा उपचारक, निज मनोबल के साथ रोगी को स्पर्श कर उसके स्नायुमण्डल में शक्ति का संचार करता है।]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।

अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥ ७॥

अर्थ—(दश शाखाभ्याम्) दस शाखाओंवाले (हस्ताभ्याम्) दो हाथों के साथ-साथ (वाचः जिह्वा) वाणी-सम्बन्धी जिह्वा (पुरोगवी) पहले गमन करती है। (अनामयित्नुभ्याम्[१]) रोगनिवारक (ताभ्याम्) उन दोनों (हस्ताभ्याम्) हाथों द्वारा हम (त्वा) तेरा (अभि मृशामसि) साक्षात् स्पर्श करते हैं।

[दस शाखाएँ हैं, दोनों हाथों की खुली हुई १० अंगुलियाँ। इन अंगुलियों के अग्रभागों द्वारा शक्ति का संचार किया गया है। शक्तिसंचार करने से पूर्व जिह्वा द्वारा उच्चारणपूर्वक रोगी को विश्वास दिलाकर उसे शक्तिग्रहण के लिए स्वाभिमुख किया गया है। चिकित्सक नाना हैं, तभी 'मृशामसि' में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। सभी मनोबलपूर्वक निज हस्तशाखाओं के अग्रभागों द्वारा शक्ति-संचार करते हैं। इस विधि से अधिक मात्रा में शक्ति-संचार किया जाता है।]

सूक्त १४

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, आज्यम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।

तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः॥ १॥

अर्थ—(अजः) जन्म से रहित (हि) निश्चय से, [जीवात्मा], (अग्नेः) अग्निनामक परमेश्वर के (शोकात्) प्रकाश से (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ, उसने शरीर धारण किया, (सः) उसने (अग्रे) पहले (जनितारम्) जन्मदाता अग्निनामक परमेश्वर को (अपश्यत्) देखा, उसका साक्षात्कार किया। (तेन) उस द्वारा या उस साक्षात्कार द्वारा (देवाः) अन्य दिव्यगुणी भी (अग्रे) पहले (देवताम्) देवत्व को (आयन्) प्राप्त हुए, (तेन) उस द्वारा (मेध्यासः) पवित्र हुए (रोहान्) ऊँचाइयों पर (रुरुहुः) चढ़े।

[जीवात्मा अज है, स्वरूप से अनुत्पन्न है, नित्य है। वह शरीर धारण कर परमेश्वर के प्रकाश को देखता है और पवित्र होकर ऊँचाइयों पर चढ़ जाता है [मन्त्र ३]। इसी प्रकार अन्य दिव्यगुणी देवत्व को प्राप्त कर, पवित्र होकर, ऊँचाइयों पर आरोहण करते हैं। शोकात्=शोक, शोचिः, प्रकाश। अग्नेः="**तदेवाग्निस्तदादित्यः**" आदि (यजुः० ३२.१)।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, आज्यम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः। दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥ २॥

---

१. अनामयित्नुभ्याम्=चीन में ऐसी आरोग्य-संस्थाएँ हैं जिनमें प्राकृतिक ओषधियों के बिना रोगचिकित्सा की जाती है। इन संस्थाओं को Oigong कहते हैं। 'Oi' का अर्थ है शक्ति, Power। इन संस्थाओं में हाथ की अंगुलियों के अग्रभागों द्वारा रोगी में शक्ति का संचार किया जाता है, और इस द्वारा नाना रोगों की चिकित्सा की जाती है, यथा "हृदय रोग, समृद्ध रक्त-दबाव [High Blood Pressure], जिगर [Liver] की सूजन, दृष्टिशक्ति की कमजोरी अर्थात् निर्बलता, उदरविकृति तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति भी।" चिकित्सा के समय मन की शान्ति, ध्यान को रोगी पर स्थिर करना, तथा दीर्घश्वास लेना—इन तीन सिद्धान्तों पर रोगी में शक्तिसंचार किया जाता है। यह उद्धरण हिन्दुस्तान टाइम्ज, शनिवार, नवम्बर १५,१९८६ से लिया गया है। लेख आंग्ल भाषा में है, जिसका हिन्दी अनुवाद किया है।

अर्थ—(अग्निना) अग्निनामक परमेश्वर द्वारा (नाकम्) नाकलोक की ओर (क्रमध्वम्) पग बढ़ाओ, (उख्यान्) ऊर्ध्वक्रिया[१] के पश्चात् प्राप्त फलों को (हस्तेषु) मानो निज हाथों में (बिभ्रत:) धारण करते हुए। (दिवस्पृष्ठम्) द्युलोक की पीठरूप (स्व:) स्वर्गलोक को (गत्वा) जाकर, [तत्पश्चात्] (देवेभि:) देवों के साथ (मिश्रा:) मिश्रित होकर, (आध्वम्) बैठो।

[क्रमध्वम्=**क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादि:)। उख्यान्=उखा (ऊर्ध्वक्रिया, दशपाद्युणादिवृत्ति: ३.५७), अत: उख्यान्=ऊर्ध्वक्रिया द्वारा प्राप्त फल। आध्वम्=**आस उपवेशने** (सायण)। देवेभि: मिश्रा=देखो) (यजु:० ३१.१६)।]

ऋषि:—**भृगु:**॥ देवता—**अग्नि:, आज्यम्**॥ छन्द:—**प्रस्तारपङ्क्ति:**॥

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।

दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम्॥ ३॥

अर्थ—(पृथिव्या: पृष्ठात्) पृथिवी की पीठ से [योग के अङ्गों के अनुष्ठान समय सिद्ध अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि में परिपूर्ण; (दयानन्द:, यजुर्वेद १७.६७) (अहम्) मैं, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षम में (आ अरुहम्) आरूढ़ हो गया हूँ, (अन्तरिक्षात्) और अन्तरिक्ष से (दिवम्) द्युलोक को (आ अरुहम्) मैं आरूढ़ हो गया हूँ। (नाकस्य) सुखदायक (दिव: पृष्ठात्) द्युलोक की पीठ से (स्व:) सुखविशेषरूपी (ज्योति:) ज्योति पर (अहम्) मैं (अगाम्) पहुँच गया हूँ।

[ज्योति:=सम्भवत: परमेश्वरीय ज्योति। "**जब मनुष्य अपनी आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। उनके पीछे कहीं भी न रुकनेवाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं**" (यजु:० १७.९७, दयानन्द)।]

मन्त्र ३ में 'आरोहण' का वर्णन, परमेश्वर-साक्षात्कारी, अज नामक व्यक्ति द्वारा हुआ है, जोकि योगसिद्धि को प्राप्त कर, सशरीर, आकाश-गमन (योग० ३.४२) करता है, या शारीरिक अङ्गरूपी पृथिवी अर्थात् पाद आदि से, सुषुम्णा नाड़ी द्वारा, आरोहण कर, हृदयस्थ तथा ब्रह्मरन्ध्र से पार शिरस्थ परमेश्वरीय ज्योति को प्राप्त कर चुका है।]

ऋषि:—**भृगु:**॥ देवता—**अग्नि:, आज्यम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।

यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥ ४॥

अर्थ—(स्व:, यन्त:) [स्व: अर्थात् सुखविशेष के लिए] स्वर्गलोक को जाते हुए (न अपेक्षन्ते) पार्थिव भोगों की अपेक्षा नहीं करते, उन्हें नहीं चाहते, अपितु वे (द्याम्) द्युलोक की ओर (आ रोहन्ति) आरोहण करते हैं, तथा (रोदसी) तत्पश्चात् दो अन्य लोकों की ओर आरोहण करते हैं। (ये) जो

---

१. उखा=ऊर्ध्वक्रिया (दशपाद्युणादिवृत्ति:, ३.५७)। उख्यान्=ऊर्ध्वक्रिया के पश्चात् प्राप्त फल=देवेभि: आध्वम् ऊर्ध्वक्रिया=और्ध्वदैहिक क्रिया, मरणोत्तर क्रिया, अन्त्येष्टि किया,। हस्तेषु बिभ्रत:=निज हस्तरेखाओं में अङ्कित रूप में धारण करते हुए; अथवा निज हाथों में धारण करते हुए, समीपवर्ती अर्थात् अवश्यंभावी मानते हुए, यथा "At hand" (near), समीप। देवेभि: आध्वम्=साध्य देवों के साथ, मिलकर उपविष्ट होओ (यजु:० ३१.१६)। आध्वम्=**आस उपवेशने** (सायण)।

(सुविद्वांसः) उत्तम विद्वान् कि (विश्वतोधारम्) सबके धारण-पोषण करनेवाले (यज्ञम्) यजनीय-परमेश्वररूपी यज्ञ[१] का (वितेनिरे) विशेष विस्तार करते हैं, प्रसार तथा प्रचार करते हैं, सायण ने 'द्याम्' का अर्थ 'अन्तरिक्ष' किया है, जोकि ठीक नहीं।

[रोदसी का अर्थ मन्त्र में 'द्यावापृथिवी' प्रतीत नहीं होता, यद्यपि निघण्टु में द्यावापृथिवी अर्थ दिया है (निघं० ३.३०)। क्योंकि 'नापेक्षन्ते' (मन्त्र ४) द्वारा पृथिवी की तो उन्हें चाह नहीं रही। इसलिए अन्तरिक्ष पर आरोहण कर पृथिवी पर पुनः लौटना निष्प्रयोजन है। 'आ अरुहम्' (मन्त्र ३) में 'अरुहम्' पद लुङ्कार (सायण) भूतक्रिया का सूचक है। तथा (मन्त्र ४) में 'द्यां रोहन्ति' द्वारा द्युलोक पर आरोहण का पृथक् वर्णन भी है, अतः 'रोदसी' का द्यावापृथिवी अर्थ व्यर्थ हो जाता है। तब रोदसी पद का अर्थ द्यावापृथिवी से भिन्न होना चाहिए। द्यावापृथिवी से भिन्न अन्य दो लोक रोदसी द्वारा जानने चाहिए। निरुक्त के अनुसार '**इमे चिदिन्द्र रोदसी**' (ऋ० ३.३०.५) में रोदसी का अर्थ ''रोधसी'' है, और 'रोधः' का अर्थ है 'कूल', जोकि बहते स्रोत का इधर-उधर फैलने से निरोध करता है (निरुक्त ६.१.१; पद 'कशिः' ३) '**रोधसी विरोधनात्**' (निरुक्त)। अतः 'रोधसी' वे दो लोक हैं, जोकि सबको वहाँ तक जाने में रोधक हैं, रोकते हैं। यज्ञ आदि सुकर्मों द्वारा फल रूप में सुकर्मी 'स्वः' या 'स्वर्ग' तक तो पहुँच सकते हैं, परन्तु 'स्वः' से ऊपर के दो लोकों तक नहीं पहुँच सकते। वे दो लोक हैं, 'प्राजापत्यलोक', और 'त्रिभूमिक-ब्राह्मलोक'। यथा ''**ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा**''। ''**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**'' (योग व्यास०, विभूतिपाद, सूत्र २६)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥ ५॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि नामक परमेश्वर, या सर्वाग्रणी[२] परमेश्वर! (प्रेहि) तू आगे बढ़, तू (देवतानाम् प्रथमः) देवों में प्रथम देव है, तू (देवानाम्) देवों की (उत) तथा (मानुषाणाम्) मनुष्यों की (चक्षुः) आँख है, उन्हें मार्ग दर्शाता है। (इयक्षमाणाः) यज्ञ करने की इच्छावाले (यजमानाः) यजमान, (भृगुभिः, सजोषाः) परिपक्वज्ञानवालों के साथ समान प्रीतिवाले हुए (स्वः) सुखविशेष या स्वर्ग को (स्वस्ति यन्तु) क्षेमपूर्वक जाएँ, या प्राप्त हों।

[सूर्य आदि देवों के चक्षु[३] हैं, उनका मार्गदर्शी है परमेश्वर। अग्नि के अभाव में अन्धकार होता है, और मार्ग नहीं दीखता, अतः मार्ग दर्शाने के कारण परमेश्वर को अग्नि कहा है। मनुष्यों का भी वह चक्षु है, यतः वेदज्ञानाग्नि द्वारा परमेश्वर उन्हें ज्ञान-चक्षु प्रदान करता है। भृगुभिः=**भ्रस्ज पाके** (तुदादिः)। सजोषाः=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्॥ ६॥

---

१. यजुर्वेद ३१.९ में परमेश्वर को 'यज्ञं पुरुषम्' द्वारा यज्ञ कहा है।
२. अग्निः=''**अग्रणीर्भवति**'' (निरुक्त ७.४.१४)।
३. ''**चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः**'' (अथर्व० १३.२.३५)।

अर्थ—(दिव्यम्) द्युलोक में भी विद्यमान, (सुपर्णम्) सुपालक, (पयसम्) दुग्धवत् पालक या जलवत् शान्तिप्रद, (बृहन्तम्) महतोमहान्, (अजम्) अकाय, नित्य, परमेश्वर को (पयसा) दुग्धाहुति द्वारा, तथा (घृतेन) घृताहुति द्वारा (अनज्मि) मैं अभिव्यक्त करता हूँ। (तेन) उस द्वारा (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मी के लोक को (गेष्म) हम जाएँ, पहुँचे (स्वः) स्वः पर (आरोहन्तः) आरोहण करते हुए, (उत्तमम्) तत्पश्चात् सर्वोपरि वर्तमान (नाकम् अभि) दुःख-संस्पर्श से रहित 'नाकलोक' को लक्ष्य करके, अभिमुख करके, संमुख करके। उत् है स्वर्लोक, उत्-तर है प्राजापत्यलोक, उत्-तम है त्रिभूमिक ब्राह्मलोक, अर्थात् 'नाक' नाकम्=कम् (सुखम्)+अकम् (सुखाभाव)+नाकम् (अकम् का निषेध) (निरुक्त २.४.१४)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्॥ ७॥

अर्थ—(दर्व्या) दर्वी [कड़छी] द्वारा जैसे हविष्यान्न को उद्धृत किया जाता है वैसे (पञ्चभिः अङ्गुलिभिः) पाँच अङ्गुलियों सहित प्रत्येक बाहु द्वारा, (पञ्चौदनम्) पाँच भोगोंवाले, (पञ्चधा) पंचविध (ओदनम्[१]) भोग साधनोंवाले (एतम्) अज-सम्बन्धी इस मृतशरीर को (उद्धर) तू उद्धृत कर, उठा, और (प्राच्यां दिशि) पूर्वदिशा में (अजस्य) अज के (शिरः) सिर को (धेहि)[चिता पर] स्थापित कर तथा (दक्षिणायाम् दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणम् पार्श्वम्) दाहिने पार्श्व को (धेहि) स्थापित कर।

[अज अर्थात् जो स्वरूप से उत्पन्न नहीं होता, परन्तु कर्मवश होकर जन्म ग्रहण करता है, वह जीवात्मा मुक्त होकर जब शरीर त्याग कर देता है, तब अन्त्येष्टि के लिए उस शरीर की स्थापना चिता पर किस प्रकार करनी चाहिए, इसकी विधि मन्त्र ७, ८ में दर्शाई है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी** ॥

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्। ऊर्ध्वायां
दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्य१मन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य॥ ८॥

अर्थ—(अस्य) इस अज के (भसदम्[२]) गुदा भाग को (प्रतीच्याम्, दिशि) पश्चिम दिशा में (धेहि) स्थापित कर, (उत्तरम्, पार्श्वम्) उत्तर पार्श्व को (उत्तरस्याम्, दिशि) उत्तर दिशा में (धेहि) स्थापित कर। (अजस्य) अज के (अनूकम्) पृष्ठभाग को (ऊर्ध्वायाम्, दिशि) ऊर्ध्व दिशा में (धेहि) स्थापित कर, (ध्रुवायाम् दिशि) ध्रुवा दिशा में (पाजस्यम्) पेट को (धेहि) स्थापित कर, (अन्तरिक्षे)

---

१. ओदन है कारण और मृतशरीर है कार्य। ओदन वैदिक अन्न है। इसके भक्षण से शरीर निर्मित होता है, अतः कार्य में कारण-पद प्रयुक्त हुआ है। यथा—"**पृथिव्याः शरीरम्**", तथा "**पृथिवी शरीरम्**" (अथर्व० ५.१०.८; ५.९.७) में शरीरूपी कार्य में पृथिवी पद का प्रयोग हुआ है। पृथिवी है कारण और शरीर है कार्य। आंग्ल भाषा में भी कहा है कि "Dust thou Art" तुम मिट्टी हो।

२. **आमाशयस्थानम्** (दशपाद्युणादिवृत्तिः ६.४२)। भसत्=जघनं वा (उणादि १.१३०; दयानन्द)। भस् धातु का अर्थ भक्षण भी है। यथा "**भसथः=अश्नीथः** (निरुक्त ५.४.२२)। सम्भवतः भक्षणार्थ की दृष्टि से भसत् का अर्थ 'आमाशय' किया है (उणादिवृत्ति में)।

अन्तरिक्ष में अर्थात् (मध्यतः) अन्तरिक्ष के मध्य में (मध्यम्) शरीर के मध्य भाग को (धेहि) स्थापित कर।

[अज के निर्जीव शरीर की चिता पर स्थापन-विधि से यह स्पष्ट है कि शरीर के पृष्ठभाग को तो ऊर्ध्वा दिक् में अर्थात् आकाश की ओर, तथा पेट को ध्रुवा दिक् में अर्थात् पृथिवी पर स्थापित किया है। यह विधि सर्वसाधारण शवस्थापन विधि के विपरीत है। कारण यह है कि यह 'अज' मृत्यु के पश्चात् मुक्त होकर ऊर्ध्वा दिक् की ओर ही प्रयाण करता है। पृष्ठवंश में एक सुषुम्णा नाड़ी होती है जिसमें आठ चक्र होते हैं **''अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या''** (अथर्व० १०.२.३१)। आठ चक्र हैः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, ललना, आज्ञा, सहस्रार। अनाहत चक्र का स्थान हृदय के समीप है। एक 'निम्न मानस चक्र' (lower minus चक्र plexes) भी है। इसमें से अनाहतचक्र हृदय को नियन्त्रित करता है जोकि जीवात्मा और परमात्मा का निवास-स्थान है। इस निवास-स्थान में जीवात्मा परमात्मा की उपासना द्वारा, मोक्ष प्राप्त कर शरीर त्यागता है और पृष्ठवंशस्थ सुषुम्णा नाड़ी के इस अनाहत स्थान से जीवात्मा ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है। अनाहत चक्र बद्ध आत्माओं को, निज अनखिली अर्थात् अविकसित अवस्था में घेरे रहता है, और मुक्त आत्माओं के लिए ऊर्ध्वमुखरूप में खिल जाता है, और मुक्तात्मा इस खिले कमल द्वारा ऊर्ध्वगतिक हो जाते हैं। इसलिए मुक्तात्मा के शव के पृष्ठभाग को ऊर्ध्वा दिक् की ओर स्थापित किया जाता है (देखो, ''पातञ्जल योगप्रदीप'' द्वारा, स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ, आर्यसाहित्य मण्डल लि०, अजमेर)। यथा अनाहतचक्र कमल के सदृश है, खिलकर वह १२ पंखड़ियों वाला हो जाता है। हृदय है जीवात्मा और परमात्मा का निवास-स्थान। यथा—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥

अथर्व० १०.२.३१-३३

(यक्षमात्मन्वत्=यक्ष अर्थात् यजनीय तथा पूजनीय (चुरादिः) ब्रह्म जोकि आत्मन्वत् है, आत्मा अर्थात् जीवात्मावाला है, जीवात्मा में प्रविष्ट है, या जीवात्मा जिसमें प्रविष्ट है। इस प्रकार 'हृदयपूः' में जीवात्मा और ब्रह्म दोनों की स्थिति दर्शाई है। यजुर्वेद में भी कहा है कि **''उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश''** (यजु० ३२.११) अर्थात् जीवात्मा का प्रवेश ब्रह्मात्मा में हो जाता है।]

चिता पर स्थित और अग्निदग्ध हो जाने पर शेष अस्थियों के सम्बन्ध में मन्त्र ९ में कहा है।] यथा—

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**अग्निः आज्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु॥ ९॥

अर्थ—(सर्वैः अङ्गैः) सब अङ्गों से (सम्भृतम्) संयुक्त, (विश्वरूपम्) सम्पूर्ण आकृतिवाले (शृतम्) परिपक्वं अर्थात् अतिदग्ध (अजम्) अज के शरीर को (शृतया त्वचा) अतिदग्ध-त्वक् द्वारा (प्रोर्णुहि) पूर्णतया आच्छादित कर। (सः) वह तू हे जीवात्मन्! (इतः उत् तिष्ठ) इस शरीर से उठ, और (उत्तमम्) सर्वोत्तम (नाकम्) दुःखासंस्पृष्ट नाकलोक के (अभि) संमुख (चतुर्भिः पद्भिः) धर्म, अर्थ, काम,

मोक्षरूपी चार पादों सहित (दिक्षु) नाना दिशाओं में (प्रतितिष्ठ) दृढ़ स्थित हो जा।

[शरीर तो अग्नि द्वारा शृत (पक्व) हो गया, [**श्रा पाके, अदादि**]+क्त। शरीर की त्वचा भी शृत हो गई, अग्निदग्ध हो गई (शृतया त्वचा)। अब बची है शरीर की भस्म। यह है त्वक् या त्वचारूप। इस द्वारा अवशिष्ट अग्निदग्ध अस्थियों को आच्छादित करना है (प्रोर्णुहि), प्र+ऊर्णुञ् आच्छादने (अदादिः)। भस्म द्वारा अस्थियों को आच्छादित कर उन्हें पृथिवी में गाड़ देना है, (यजुः० ३५.२१) में निर्दिष्ट विधि द्वारा।]

विशेष वक्तव्य—(१) सायणाचार्य ने समग्र सूक्त में चार पैरोंवाले बकरे का वर्णन माना है। समग्र सूक्त के वर्णन और अभिप्राय सायणाचार्य के मत के विपरीत हैं। मन्त्र ९ में "**पद्भिः चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु**" (मन्त्र ९) में चार पादों का कथन देखकर चार पैरोंवाले बकरे की कल्पना सम्भव है। परन्तु पाद या चार पाद निश्चयरूप में बकरे के चार पैरों के निर्देशक नहीं हैं। अष्टाध्यायी में प्रत्येक अध्याय को चार पादों में विभक्त किया है। माण्डूक्य उपनिषद् में "**सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्**" (कण्डिका २) में ब्रह्म को 'चतुष्पात्' अर्थात् चार पादोंवाला वर्णित किया है। 'चतुष्पात्' वर्णन से क्या ब्रह्म को पशु समझा जाए?

(२) सूक्त में 'अज' पद भी पठित है। अज का अर्थ बकरा भी होता है। परन्तु 'अजा' तथा 'अजद्वय' का अभिप्राय अजन्मा प्रकृति तथा जीवात्मा और ब्रह्म भी होता है। यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेताश्वतर० ४-५॥

अज है प्रकृति; लोहित है रजोभाग, शुक्ल है सत्त्वभाग, कृष्ण है तमस् भाग। अनुशेते है जीवात्मा, और जहाति द्वारा परमेश्वर कथित हुआ है। भुक्तभोगाम् प्रकृति है जोकि जीवात्मा द्वारा भुक्त हुई है। जीवात्मा अज्ञानवश प्रकृति के भोग के लिए, प्रकृति के साथ सोया रहता है।

(३) मन्त्र ३, अध्यात्मपक्ष में—पृथिवी है पाद; अन्तरिक्ष है वायु-प्रधान छाती अर्थात् फेफड़े और हृदय; दिवम् है मस्तिष्क, स्वः है ब्रह्मरन्ध्र से परे ब्रह्मज्योति, जोकि सुखस्वरूप हैं।

सूक्त १५

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दिशः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥ १॥

अर्थ—(नभस्वतीः) मेघवाली (प्रदिशः) विस्तृत दिशाएँ (सम् उत्पतन्तु) मिलकर उत्पात करें [मेघध्वनियों द्वारा शोर करें] (वातजूतानि) वायु द्वारा प्रेरित (अभ्राणि) जलभरे मेघ (सम् यन्तु) इकट्ठे होकर गतियाँ करें। (नदतः) गर्जते (महः ऋषभस्य) महाकाय वृषभ के सदृश [उपमावाचक लुप्त] (नभस्वतः) मेघवाले अर्थात् मेघाच्छादित वायुमण्डल के (वाश्राः) शब्दायमान (आपः) जल (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें।

[वाश्राः=**वाशृ शब्दे** (दिवादिः)। समुत्पतन्तु=अथवा, मानसून वायुएँ मिलकर ऊर्ध्व अन्तरिक्ष की ओर उड़ें, ताकि विस्तृत दिशाएँ, नभस्वतीः अर्थात् मेघवाली हों, मेघाच्छादित हों।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वीरुधः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः॥ २॥

अर्थ—(सुदानवः) उत्तम जल-प्रदाता, (तविषाः) प्रवृद्ध, मानसून वायुएँ (समीक्षयन्तु) हमें वृष्टि दर्शाएँ, (अपां रसाः) वर्षाजल सम्बन्धी रस (ओषधीभिः) ओषधियों के साथ (सचन्ताम्) सम्पृक्त हों। (वर्षस्य) वर्षा की (सर्गाः) धाराएँ (भूमिम्, महयन्तु) भूमि को महिमायुक्त करें, तथा (विश्वरूपाः) नानारूपोंवाली (ओषधयः) ओषधियाँ (पृथक्) भिन्न-भिन्न स्थानों में (जायन्ताम्) पैदा हों।

[**तविषः महन्नाम** (निघण्टु ३.३)। '**तु' वृद्धौ,** सौत्रो धातुः (अदादिः)। मन्त्र में मरुतः का वर्णन हुआ है; मरुतः हैं मानसून वायुएँ (अथर्व० ४.२७.४, ५)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वीरुधः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः॥ ३॥

अर्थ—[हे मरुद्गण!] (गायतः) प्रसन्नता में गाते हुए हमें (नभांसि) मेघों को (समीक्षयस्व) दर्शा; (अपाम्, वेगासः) जलों के वेग (पृथक्) भिन्न-भिन्न नदी-नालों में (उद् विजन्ताम्) उछल-उछलकर चलें, प्रवाहित हों। 'वर्षस्य' आदि पूर्ववत् (मन्त्र २)। [वीरुधः=विविधरूप में प्ररोहण करनेवाली ओषधियाँ। (गायतः=वर्षा-ऋतु में प्रसन्नता से गाते हुए) विजन्ताम्=**ओविजी भयचलनयोः** (रुधादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मारुतपर्जन्यौ** ॥ छन्दः—**विराड् पुरस्ताद् बृहती** ॥

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक्।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु॥ ४॥

अर्थ—(पर्जन्यघोषिणः) मेघ को गर्जनेवाले, (मारुताः गणाः) मानसून वायु के समूह (त्वा) हे भूमे! तेरे (उप) समीप हुए (गायन्तु) तेरा गान करें। (वर्षतः) वर्षा करते हुए (वर्षस्य) मेध की (सर्गाः) उत्पन्न वर्षा धाराएँ (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर अनुकूल रूप में (वर्षन्तु) बरसें; (पृथक्) पृथक्-पृथक् स्थानों में।

[पर्जन्यः, घोषिणः=पदपाठ में ये दो पद पृथक्-पृथक् पठित हैं। परन्तु अर्थदृष्टि से ये दोनों 'समस्तपद' प्रतीत होते हैं। मारुतगण पर्जन्य में घोषोत्पादक होते ही हैं। मन्त्र ३ से 'भूमि' पद का अन्वय अभिप्रेत है। मानो मारुतगण भूमि के समीप होकर भूमि की महिमा का गान[1] करते हैं, निज गर्जनाओं द्वारा गान। सर्गाः=**सृज विसर्गे**—उत्पन्न वर्षाधाराएँ।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती** ॥

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥ ५॥

---

१. मानसून-मरुतें समुद्र के जलरूपी वीर्य से, तथा भूमि माता के गर्भ से उत्पन्न हैं, अतः वे निज माता की महिमा का मानो निज गर्जनाओं द्वारा गान करते हैं।

अर्थ—(मरुतः) हे मानसून वायुओ! (समुद्रतः) समुद्र से (उदीरयत) ऊपर की ओर प्रेरित करो, (नभः) मेघ को उसे (उत् पातयाथ) ऊर्ध्व की ओर प्रगत करो, प्रेषित करो, जैसेकि (त्वेषः) प्रतप्त (अर्कः) सूर्य इन कार्यों को करता है। (नदतः) गर्जते हुए। (महः ऋषभस्य) महाकाय वृषभ के सदृश (नभस्वतः) मेघवाले अर्थात् मेघाच्छादित वायुमण्डल के (वाश्राः) शब्दायमान (आपः) जल (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें।

[त्वेषः अर्कः=उपमावाचक पद लुप्त है। पातयाथ=**पत्लृ गतौ** (भ्वादिः), **पत गतौ** (चुरादिः)। मन्त्र का उत्तरार्ध देखो, मन्त्र १।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्॥ ६॥

अर्थ—(पर्जन्य) हे मेघ! (अभिक्रन्द) हमारी ओर आक्रन्दन कर, (स्तनय) गर्ज, (उदधिम्) समुद्र को (अर्दय) पीड़ित कर, (भूमिम्) भूमि को (पयसा) जल द्वारा (समङ्ग्धि) संसिक्त कर। (त्वया) तुझ द्वारा (सृष्टम्) प्रेरित (बहुलम्) प्रभूत (वर्षम्) वर्षाजल (ऐतु आ एतु) हमें प्राप्त हो, (आशारैषी) आशाओं अर्थात् दिशाओं [के भेदों] को पूर्णतया नष्ट करता हुआ, (कृशगुः) क्षीणरश्मि हुआ सूर्य (अस्तम् एतु) अस्त हो।

[वर्षाऋतु में यद्यपि जल अर्थात् मेघ, समुद्र से उठते हैं, परन्तु वे बरसते हैं पृथिवी पर, नकि समुद्र पर, अतः वर्षाभाव से समुद्र मानो पीड़ित[२] होता है। आशारैषी=सूर्य मानो बहुल वर्षा के कारण, पर्जन्यों द्वारा, दिशाओं को पूर्णतया आच्छादित कर, दिग्भेद को नष्ट कर देता है और स्वयं भी पर्जन्याच्छादित रहने के कारण क्षीणरश्मि हुआ, अस्त होता है। कृशगुः=कृश+गुः (गौओं, रश्मियोंवाला। गावः=रश्मयः। **गावः रश्मिनाम** (निघं० १.५)। रैषी=**रिष हिंसायाम्** (दिवादिः)। आशारैषी=आशा+आ+रिष्+घञ्+इनिः।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु॥ ७॥

अर्थ—(सुदानवः) उत्तम जलप्रदाता मानसून वायुएँ (वः) तुम्हारी (अवन्तु) रक्षा करें, (उत) तथा (अजगराः) अजगर-साँप के सदृश (उत्साः) प्रवाहित होते हुए जलप्रवाह तुम्हारी रक्षा करें। (मरुद्भिः) मानसून वायुओं द्वारा (प्रच्युताः) गिरे (मेघाः) मेघ (पृथिवीमनु) पृथिवी के अनुकूल (वर्षन्तु) बरसें।

[अजगराः=नदियों में जल, टेढ़े मार्गों में प्रवाहित होते हुए, अजगर के सदृश गति करते हुए प्रतीत होते हैं। अनु=अनुकूल, न कम, न अत्यधिक, अपितु आवश्यकतानुसार बरसें।]

---

१. मानसून-मारुतें समुद्र के जलरूपी वीर्य से, तथा भूमि माता के गर्भ से उत्पन्न हैं, अतः वे निज माता की महिमा का मानो निज गर्जनाओं द्वारा गान करते हैं।

२. अथवा वर्षा ऋतु में सूर्य की प्रखर रश्मियों द्वारा पीड़ित होकर समुद्र उछलता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥ ८ ॥

अर्थ—(आशाम् आशाम्) प्रत्येक व्यापक दिशा में (वि द्योतताम्) विद्युत् चमके, (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा में (वाताः) मेघसंपृक्त (वान्तु) संचार करें। (मरुद्भिः) मानसून वायुओं द्वारा (प्रच्युताः) गिरे (मेघाः) मेघ (पृथिवीमनु) पृथिवी के अनुकूल होकर (संयन्तु) मिलकर गति करें, मँडलाएँ।

[आशामाशाम्="**आशा दिशो भवन्ति, आसदनात्**" (निरुक्त ६.१.१); आशाभ्यः, पद (२)। आशाः=सर्वत्र स्थिति होने से। 'आशारैषी' (मन्त्र ६) में आशा पद भी व्यापक दिशावाचक है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥ ९ ॥

अर्थ—(सुदानवः) उत्तम जल प्रदान करने वाली मानसून वायुएँ, (आपः) जल (विद्युत्) मेघस्थ विद्युत् (अभ्रम्) जलभरे मेघ, (उत) तथा (अजगराः उत्साः) अजगर समान आकारवाले चश्मे या नदी-नाले (सम्) मिलकर (वः) तुम्हारी (अवन्तु) रक्षा करें। (मरुद्भिः) मानसून वायुओं द्वारा (प्रच्युताः) गिरे (मेघाः) मेघ (पृथिवीम्, अनु) पृथिवी की अनुकूलता में (प्रावन्तु) तुम्हारी प्रकर्षरूप में रक्षा करें, अथवा पृथिवी को संतृप्त करें।

[अवन्तु="**अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्ति०**" आदि (भ्वादिः)। उत्साः="**उत्सरणाद्वोत्सदनाद्वोत्स्यन्दनाद्वोनत्तेर्वा**" (निरुक्त १०.१.९)। 'प्रच्युताः' द्वारा यह सूचित किया है कि मेघ जल से भरे होने से भारी होते हैं, अतः वे गिर पड़ते हैं, अन्तरिक्षस्थ वायुएँ उनके थामने में असमर्थ हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव।

स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥ १० ॥

अर्थ—(यः) जो (अपाम्, अग्निः) जलों की अग्नि, अर्थात् मेघीया विद्युत् (तनूभिः) मेघरूपी तनुओं के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हुई, (ओषधीनाम्) ओषधियों की (अधिपाः) अधिष्ठातृरूप में रक्षक हुई, (सः) वह (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्नि (नः) हमें (वर्षम्) वर्षाजल, (प्रजाभ्यः) उत्पन्न ओषधियों या प्रजाजनों के लिए, (प्राणम्) प्राण तथा (दिवः परि) द्युलोक से (अमृतम्) मृत्यु से रक्षक जल (वनुताम्) प्रदान करे।

[जल और अग्नि परस्पर में प्रतिद्वन्द्वी हैं, विरोधी हैं, परन्तु मेघस्थ अग्नि अर्थात् विद्युत् मेघ के जलों के साथ ऐकमत्य को प्राप्त है, अतः वह मेघीय जल प्रदान कर, ओषधियों की 'अधिपाः' हुई है। विद्युद्-अग्नि सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान है, और उनके साथ भी ऐकमत्य को प्राप्त है। वह हमें वर्षाजल देती, उत्पन्न ओषधियों तथा प्रजाजनों के लिए प्राणभूत तथा द्युलोक से जल प्रदान करती है जोकि अमृतरूप है, अत्यन्त शुद्ध होने से शीघ्र मृत्यु का कारण नहीं बनता। द्युलोक से अमृत-जल देनेवाली अग्नि है सूर्य। **अमृतम् उदकनाम** (निघण्टु १.१२) पार्थिव जल भारी होने से कम अमृत है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः, स्तनयित्नुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि॥ ११ ॥

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक सूर्य, (सलिलात् आ समुद्रात्) समग्र जलमय समुद्र से (अपः आ, ईरयन्) जल को प्रेरित करता हुआ, (उदधिम्) जलाधार समुद्र को (अर्दयाति) पीड़ित करे। (वृष्णः) वर्षा करनेवाले (अश्वस्य) आदित्य का (रेतः) जलरूपी वीर्य (प्र प्यायताम्) प्रवृद्ध हो, बढ़े, (स्तनयित्नुना) गर्जते मेघ के साथ (एतेन) तथा इस प्रवृद्ध रेतस् के साथ (अर्वाङ्) हमारी ओर हे सूर्य! (एहि) तू आ।

[सलिलात् समुद्रात्=जलवाला समुद्र, प्रसिद्ध; तथा "**समुद्रः अन्तरिक्षनाम**" (निघण्टु १.३)। मन्त्र में जलमय समुद्र अभिप्रेत है। आपः=आ+अपः। अर्दयाति=लेटि आट्। सलिल तो समुद्र की सम्पत्ति है। प्रजापति आदित्य वर्षा ऋतु में इसकी सम्पत्ति का हरण[१] करता है। मानो इस कारण प्रजापति, समुद्र को पीड़ित करता है। वृष्णस्य अश्वस्य="**एको अश्वो वहति सप्तनामा आदित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसानभि सन्नामयन्ति**" (निरुक्त ४.४.२७), अतः वृषा=अश्व है आदित्य, अर्थात् प्रजापति सूर्य। रेतः=उदक, जल, "**रेतः उदकनाम**" (निघण्टु १.१२)। स्तनयित्नुः=**स्तन, गदी देवशब्दे** (चुरादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भा भूरिक् त्रिष्टुप्** ॥

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज।
वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु॥ १२ ॥

अर्थ—(असुरः) प्राण-प्रदाता (नः पिता) हमारा रक्षक, प्रजापति-आदित्य, (अपः) जलों को (निषिञ्चन्) [भवतु] नितरां सींचता रहे, अथवा निचली भूमि को सींचता रहे, (अपाम्) मेघस्थ जलों के (गर्गराः) गड़गड़ाते शब्द (श्वसन्तु) प्राणवान् हों, प्रबल हों; (वरुण) हे उदकाधिपति! (अपः) जलों को (नीचीः) नीचे की ओर (अवसृज) प्रेरित कर। (पृश्निबाहवः) शुभ्र बाहुओंवाले अथवा नानावर्णोंवाली बाहुओंवाले (मण्डूकाः) मण्डूक (इरिणा=इरिणानि अनु) जलमय प्रदेशों को प्राप्त हुए (वदन्तु) बोलें।

[असुरः =असुः प्राणः, तद्वान् अथवा तद्-दाता (रा दाने, अदादिः)। **असुरिति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः** "[असुराः]" (निरुक्त ३.२.८)। असुरः=असु+रः (वाला) मत्वर्थीयः, अथवा '**रा दाने**' (अदादिः)। श्वसन्तु=**श्वस प्राणने** (अदादिः)। वरुण="**वरुणः अपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४)। इरिणा=इरा=जल, यथा "**इरावत्यः नद्यः**" (निघण्टु १.१३) तथा इरा=water (आप्टे)। अथवा "**इरिणशब्दो निस्तृणभूवचनः। इरिणानि अनुप्राप्य वृष्टिजलेन लब्धप्राणाः सन्तः वदन्तु शब्दं कुर्वन्तु**" (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ १३ ॥

---

१. वेदों में जड़ पदार्थों का भी वर्णन प्रायः ऐसा होता है मानो कि वे चेतन हैं। इसलिए वेदों के वर्णन चेतन की भावनाओं द्वारा मिश्रित होते हैं। इस भावना को सायणाचार्य ने "**जलधिम् उदकादानेन पीडय**" द्वारा अभिव्यक्त किया है (मन्त्र ६,११)। अथवा वर्षर्तु में प्रजापति-आदित्य निज प्रखर रश्मियों के प्रहारों द्वारा समुद्र-जल में उछल-कूद पैदा करता तथा उसे तरङ्गित करता रहता है। यह समुद्र का अर्दन है, पीड़ित होना है।

अर्थ—(संवत्सरम्) वर्षभर (शशयानाः) सोये रहते (मण्डूकाः) मण्डूकों ने (पर्जन्यजिन्विताम्) मेघ द्वारा प्रसारित (वाचम्, प्र अवादिषुः) वाणी का उच्चारण किया, जैसेकि वर्षर्तु में, (ब्राह्मणाः) वेदाध्यायी, (व्रतचारिणः) ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करनेवाले ब्रह्मचारी, वेदोच्चारण करते हैं।

[ब्राह्मणाः=ब्रह्म वेदः, तदध्ययनशीलाः।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मण्डूकाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि।
मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ १४॥

अर्थ—(मण्डूकि) हे मण्डूकि! (उप) हमारे समीप (प्रवद) तू प्रकृष्ट रूप में बोले, उच्चैः शब्दोच्चारण कर, (तादुरि) हे तानपूर्वक उच्चारण करनेवाली! (वर्षम्) वर्षा का (आवद) सर्वत्र कथन कर। (चतुरः पदः) चार पैरों को (विगृह्य) अलग-अलग करके, (ह्रदस्य मध्ये) कच्चे तालाब में (प्लवस्व) तैर, या गति कर।

[तादुरि=**तनु विस्तारे** (तनोतीति)। अथवा, तद्=नामधातुः (कर्तरि क्विप्, तस्य लोपः ततः औणादिकः 'उण्' (१.१)+रः (मत्वर्थीयः+ङीप्, तत्सम्बुद्धौ। तद्=तनोतीति (दशपाद्युणादिः, पाद ६। सूत्र ४३)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मण्डूकाः पितरः**॥ छन्दः—**शङ्कुमत्यनुष्टुप्**॥

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत॥ १५॥

अर्थ—(मध्ये) ह्रद के मध्य में (खण्वखे, खैमखे, तदुरि) हे खण्वखा, खैमखा तथा तदुरी! (वर्षम्) वर्षा की (वनुध्वम्) तुम याचना करो। (पितरः) हे पितरो! (मरुताम्) मानसून वायुओं के (मनः) मन को [स्वानुकूल करना] (इच्छत) चाहो।

[खण्वखा='खनियो' अर्थात् खुदे ह्रदों में 'वखा' गति करनेवाली [**वखि गत्यर्थः** (भ्वादिः)] खण्=खन=**खनु अवदारणे** (भ्वादिः)। खैमखा=**खै खदने** (भ्वादिः); खदनम्=खद स्थैर्ये (भ्वादिः)+ मखि (गतौ, भ्वादिः) ह्रद में स्थिरता से गति करनेवाली मण्डूकी। तदुरी=तादुरी (मन्त्र १४)। ये तीनों="**मण्डूकस्त्रीजातेः संज्ञाविशेषाः**" (सायण)। जैसे जड़ आदित्य को 'पिता' कहा है (मन्त्र १२), वैसे इन मण्डूकियों को 'पितरः' कहा है, रक्षा करने से, **पा रक्षणे**। मण्डूकियाँ निज तान-स्वरों द्वारा, मेघागमन और वर्षा की सूचनाएँ देती हैं, जिससे कि वर्षा द्वारा अन्नोत्पादन से हमारी रक्षा होती है, अतः परम्परया मण्डूकियों को पितरः कहा है। "मनः, इच्छत"—ये पद कविता में प्रयुक्त हुए हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वातः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु॥ १६॥

अर्थ—(महान्तम्) महान् (कोशम्) जल के निधिरूप मेघ को (उद् अच) समुद्र से तू उद्-गत कर, उद्धृत कर, (अभिषिञ्च) और भूमि के अभिमुख उसे सिंचित कर। (सविद्युतम्[1], भवतु) यह

१. समासान्तः 'टच्।'

कोश अर्थात् मेघ या अन्तरिक्ष विद्युत्-सहित हो, (वातः वातु) वायु [वृष्टि के अनुकूल] बहे। (बहुधा) बहुत प्रकार से (विसृष्टाः) मेघ से पैदा हुए जल (यज्ञम्) यज्ञ का (तन्वताम्) विस्तार करें, यज्ञों के विस्तार के हेतु बनें, (ओषधयः) और ओषधियाँ (आनन्दिनीः) आनन्दयुक्त[१] (भवन्तु) हो जाएँ [फूलें, फलें और वृद्धि को प्राप्त हों।]

[कोशम्=**कोशः मेघनाम** (निघण्टु १.१०)। मन्त्र में सूर्य सम्बोधित हुआ है।]

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ४

सुक्त १६

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः॥ १॥

अर्थ—(एषाम्) इनका (बृहन्) महान् (अधिष्ठाता) नियन्ता, (अन्तिकात् इव) अति समीप से मानो (पश्यति) देखता है। (यः) जो व्यक्ति (चरन्) चलता-फिरता (तायन्) अपने को परिपालित (मन्यते) मानता है, (इदं सर्वम्) इस सबको (देवाः) वरुण के पाशहस्त देव (विदुः) जानते हैं।

[एषाम्=इन प्रजाजनों का अधिष्ठाता। तायत्=तायन् परिपालित; चरन्=चलता-फिरता हुआ कोई जो दुष्कर्म करता है और फिर भी अपने-आपको वह परिपालित अर्थात् सुरक्षित मानता है, इस सबको वरुण के देव (मन्त्र ४, ६) जानते हैं। तायत्=**तायृ सन्तानपालनयोः** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥ २॥

अर्थ—(यः) जो कोई (तिष्ठति) खड़ा है, (चरति) या चल रहा है, (यः च) और जो (वञ्चति) धोखा देता है, (यः) जो (निलायम् चरति) छिप-छिपकर चलता है, (यः प्रतङ्कम्) जो दूसरे को कष्ट पहुँचाकर छिपे-छिपे विचरता है, (द्वौ) दो (सम् निषद्य) परस्पर मिल-बैठकर, (यत्) जो, (मन्त्रयेते) गुप्त परिभाषण करते हैं, (वरुणः राजा) जगत् का राजा वरुण, (तृतीयः) उनमें तीसरा हुआ, (तत् वेद) उसे जानता है।

[मन्त्रयेते=**मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे** (चुरादिः)। प्रतङ्कम्=**तकि कृच्छ्रजीवने,** यथा "**तङ्कति कृच्छ्रेण जीवति**" (उणा० १.५७; दयानन्दः), तथा तकि कृच्छ्रजीवने (सायण)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥ ३॥

अर्थ—(उत) तथा (इयम्, भूमिः) यह भूमि (वरुणस्य, राज्ञः) वरुण राजा की है, (उत) तथा

१. अथवा **टुनदि समृद्धौ** (भ्वादिः), समृद्धि को प्राप्त हों।

(असौ) वह (बृहती द्यौः) बड़ा द्युलोक [वरुण राजा का है], (दूरे अन्ता) दूर और समीप में विद्यमान द्यौः और पृथिवी [वरुण राजा के हैं]। (उतो) तथा (समुद्रौ) दो समुद्र (वरुणस्य) वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं, (उत) तथा (अस्मिन् अल्पे, उदके) इस अल्प उदक में (निलीनः) वह नितरां लीन हुआ-हुआ है।

[दूरे=दूर में द्यौः, अन्ते, अन्तिके, समीप में पृथिवी। "**दूरे-अन्ते द्यावापृथिवीनाम**" (निघं० ३.३०)। समुद्रौ=पूर्व और पश्चिम के समुद्र। अल्पे उदके=उदक बिन्दु में। लीनः=**ली श्लेषणे** (क्र्यादिः) **लीङ् श्लेषणे**-(दिवादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।

दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥ ४॥

अर्थ—(उत) तथा (यः) जो (द्याम् अतिसर्पात् परस्तात्) द्युलोक का अतिक्रमण करके उससे भी परे चला जाए, (सः) वह (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा के [फंदे से] (न मुच्यातै) नहीं मुक्त हो सकता। (अस्य) इस वरुण के (सहस्राक्षाः) हजारों आँखोंवाले (स्पशः) गुप्तचर (दिवः) द्युलोक से (इदम्) इस पार्थिक स्थान में (प्र चरन्ति) संचार करते हैं और (भूमिम्, अति) भूमि का भी अतिक्रमण करके (पश्यन्ति) देखते हैं।

[मुच्यातै=मुच्+लेटि, आट्+ऐकारः (**वैतोन्यत्र**, अष्टा० ३.४.९६)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।

संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि॥ ५॥

अर्थ—(वरुणः राजा) वरुण राजा (तद् सर्वम्) उस सबको (वि चष्टे) विवेकपूर्वक देखता है, (यत्) जोकि (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी के (अन्तरा) अन्तराल में है, (यत्) और जो (परस्तात्) उससे परे है। (जनानाम्) जनों के (निमिषः) निमेष-उन्मेष (अस्य) इस वरुण के (संख्याताः) गिने हुए हैं, (तानि) उन गिने निमेष-उन्मेषों को अर्थात् अक्षिस्पन्दों को, वह वरुण ही (निमिनोति) प्रक्षिप्त प्रेरित करता है, (इव) जैसेकि (श्वघ्नी) अपने भविष्य का हनन करनेवाला जूआ-खिलाड़ी, (अक्षान्) पासों को [आस्फार में] (नि मिनोति) फेंकता है [स्वविजय की भावना से।]

[आस्फार=क्रीड़ाफलक। **श्वः उपाशंसनीयः कालः** (निरुक्त १.३.६) श्वघ्नी=श्वः घ्नी। निमिनोति=डुमिञ् निक्षेपणे (स्वादिः)। "**श्वघ्नी=स्वम् आत्मानम्, स्वकीयं धनं च हन्तीति कितवः श्वघ्नी**" (सायण), "**श्वघ्नी कितवो भवति। स्वं हन्ति**" (निरुक्त ५.४.२२)। निमिनोति=**डुमिञ् प्रक्षेपणे** (स्वादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।

छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥ ६॥

अर्थ—(वरुण) हे वरुण! (ते ये पाशाः) तेरे जो फंदे, (सप्त सप्त) सात-सात, (त्रेधा) त्रिविध

प्रकार से (तिष्ठन्ति) स्थित हैं, (विषिताः) शरीर में विशेषतया जो बँधे हुए हैं, और जोकि (रुशन्तः) शरीर को हिंसित कर रहे हैं; (सर्वे) वे सब (अनृतम्, वदन्तम्) असत्य बोलनेवाले को (छिनन्तु=छिन्दन्तु) काट दें, और (यः सत्यवादी) जो सत्यवक्ता है, (तम्) उसे (अति सृजन्तु) छोड़ दें।

[सप्त सप्त="**मूलप्रकृतिरविकृतिः, महदादयः प्रकृतिवकृतयः सप्त**" (सांख्यकारिका)। ये सप्त हैं—महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ। इनसे अतिरिक्त प्रकृतिजन्य १६ और पदार्थ हैं जो केवल विकृतिरूप हैं। उनका कथन अनभिप्रेत है। शरीर त्रिविध हैं—स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणरूप। इन में से स्थूल और सूक्ष्म शरीर में महदादि सप्तक चेष्टावान् हैं। जोकि ज्ञान और कर्म के हेतुभूत हैं। तथा जो मृत्यु हो जाने पर भी जीवात्मा के साथ वर्तमान रहते हैं, और पुनर्जन्मों के बीजरूप होते हैं। सत्यमय-जीवन में ये, सत्यवादी को पुनर्जन्मों से मुक्त कर देते हैं, उसका संग-त्याग कर देते हैं, तब जीवात्मा आत्मस्वरूप से परमात्मा में प्रवेश पा जाता है, यथा "**उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश**" (यजुः० ३२।११)।

विषिताः=वि+**षिञ् बन्धने** (स्वादिः क्र्यादिः)+क्त। रुशन्तः=**रुश हिंसायाम्** (तुदादिः)+शतृ। छिनन्तु=छिन्दन्तु, **छिदिर् द्वैधीकरणे** (रुधादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।

आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः॥ ७॥

अर्थ—(वरुण) हे वरुण! (एनम्) इसे (शतेन पाशैः) सौ फंदों द्वारा (अभि धेहि) तू बाँध, (नृचक्षः) हे नर-नारियों पर दृष्टि रखनेवाले! (अनृतवाक्) असत्यवक्ता (ते) तेरे फंदों से (मा मोचि) न छुटा रहे। (जाल्मः) असत्य बोलकर जाल बिछानेवाला (उदरम्) निज पेट को (श्रंसयित्वा=स्रंसयित्वा) अवस्रस्त करके (आस्ताम्) रहे, (इव) जैसेकि (अबन्धः) बन्धरहित (कोशः) पुष्पकोश (परिकृत्यमानः) सब ओर से कटा हुआ होकर रहता है।

[वरुण है "**अपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४), अतः मन्त्र में उदर का रोग अभिप्रेत है, जलोदर [Dropsy]। इससे पेट फूल जाता और नीचे की ओर अवलम्बित हो जाता है, इसे अवस्रस्त द्वारा निर्दिष्ट किया है। जलोदर रोग मुख्य है, इसके अवान्तर दुष्परिणामों को "शतेन पाशैः" द्वारा निर्दिष्ट किया है। पुष्प के मूलभाग अर्थात् जड़ के चारों ओर एक गोलाकृतिक बन्ध[१] होता है, जिसे कि 'वृन्त' कहते हैं, पुष्प के आभ्यन्तर की ओर निचले हिस्से में गोलाकृतिक एक अल्पगर्त होता है, इसे 'कोश' कहा है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**त्रिपान्महाबृहती**॥

यः समाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः सन्देश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः।

यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः॥ ८॥

अर्थ—(यः) जो (समाम्यः) एक व्यक्ति के जलोदर-आमय अर्थात् रोग से उत्पन्न (वरुणः) वारुण्य परिणाम है, (यः) जो (व्याम्यः) विविध व्यक्तियों के जलोदर-आमय अर्थात् रोग से उत्पन्न (वरुणः) वारुण्य परिणाम है, (यः) जो (संदेश्यः) एकदेश में जलोदर-आमय अर्थात् रोग से उत्पन्न (वरुणः) वारुण्य परिणाम है, (यः) जो (विदेश्यः) विविध देशों के जलोदर-आमय अर्थात् रोग से

१. बन्ध के कट जाने से पुष्प की पंखड़ियाँ कटकर बिखर जाती हैं, अलग-अलग होकर गिर जाती हैं। जाल्मः=ज़ालिम?

उत्पन्न (वरुणः) वारुण्य परिणाम है; (यः) जो (दैवः) दिव्यतत्त्वों के विकार से उत्पन्न तथा (मानुषः) मानुष विकारों से उत्पन्न वारुण्य परिणाम है उन [**शतेन पाशैः अभि धेहि एनम्,** मन्त्र ७; अथवा "तैस्त्वा" (मन्त्र ९)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**विराड् त्रिपाद् गायत्री**॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि॥ ९॥

अर्थ—(असौ आमुष्यायण) वह हे अमुक गोत्रवाले[1]! (अमुष्याः) तथा उस माता के (पुत्र) पुत्र! (तान्) उन (उ) निश्चय से (सर्वान्) सब पाशों को (अनु) तुझे लक्ष्य करके (सं दिशामि) मैं संदिष्ट करता हूँ, निर्दिष्ट करता हूँ। तथा (तैः सर्वैः पाशैः) उन सब पाशों द्वारा (त्वा) तुझे (अभिष्यामि) मैं बाँधता हूँ।

[पुत्र का परिचय माता के नाम द्वारा भी होना चाहिए—यह सूचित किया है।]

सूक्त १७

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा॥ १॥

अर्थ—(उज्जेषे) रोगों पर विजय पाने के लिए (त्वा) तुझ (ईशानाम्, भेषजानाम्) ऐश्वर्यशाली भेषजों में से सर्वोत्तम भेषज को (आरभामहे) हम प्राप्त करते हैं। (ओषधे) हे ओषधि! दोषों का दहन करनेवाली! (सर्वस्मै) सब रोगों की निवृत्ति के लिए (त्वा) तुझे (सहस्रवीर्यम्) हज़ार शक्तियों वाले भेषजरूप में (चक्रे) मैं करता हूँ, या मैंने किया है, माना है।

[उज्जेषे="**तुमर्थे सेसेन०**" (अष्टा० ३.४.९) द्वारा 'से' प्रत्यय। आरभामहे=आ+रभ् (लभ् प्राप्तौ); **डुलभष् प्राप्तौ** (भ्वादिः)। यह भेषज 'अपामार्ग' (मन्त्र ६, ७, ८) सहदेवी (सायण, मन्त्र १)।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम्।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति॥ २॥

अर्थ—(सत्यजितम्) यथार्थरूप में विजय पानेवाली, (शपथयावनीम्) शपथ [लेने की आदत] को पृथक् करनेवाली, हटानेवाली, (पुनःसराम्) [व्याधि की निवृत्ति के लिए] बार-बार सरण्य करनेवाली, प्रवृत्त होनेवाली, (सहमानाम्) व्याधि को पराभूत करनेवाली 'सहदेवी' ओषधि का (समह्वि) मैंने आह्वान किया है, इस ओषधि के साथ (सर्वाः ओषधीः) सब ओषधियों को भी ताकि (नः) हमें, (इतः) इस व्याधि से, (पारयात्) प्रयोक्ता पार करे, (इति) इसलिए।

[शपथ स्वयं ली जाती है, और शाप दूसरे को दिया जाता है। यावनी=**यु मिश्रणामिश्रणयोः** (अदादिः), अमिश्रण अर्थ अभिप्रेत है। शपथ झूठी भी होती है। इस झूठ—आदत को सहदेवी, अन्य ओषधियों के साथ मिलकर पृथक् करती है, हटाती है।]

---

१. **अपत्यं पौत्रप्रभृति गौत्रम्**। (अष्टा० ४.१.१६२)।

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—अपामार्गो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा॥ ३॥

अर्थ—(या) जिस राक्षस-स्वभाववाली स्त्री ने (शपनेन) शाप द्वारा (शशाप) शाप दिया है, (या) तथा जिसने (मूरम्) मूर्च्छोत्पादक कर्मरूपी (अघम्) पाप को (आदधे) धारण किया है, या अवलम्बित किया है, (या) जिसने कि (रसस्य हरणाय) रक्तादिरस के हरण करनेवाले के लिए (जातम्) उत्पन्न हमारे पुत्र को (आरेभे) बलात्कार से हथिया लिया है, (सा) वह (तोकम्) निज पुत्र को (अत्तु) खाये।

[मन्त्र में शाप के स्वरूप को दर्शाया है शपथ को नहीं। मन्त्र में दो शापों का वर्णन हुआ है 'शशाप' पद द्वारा तथा 'तोकम् अत्तु सा' द्वारा। [आरेभे=आलेभे, रलयोरभेदः] ये दोनों शाप गाली के रूप में हैं।]

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—अपामार्गो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि॥ ४॥

अर्थ—(ते) तेरे (आमे पात्रे) गृह्यपात्र में (याम्, कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को, (नीललोहिते) धूमोत्थान द्वारा नील और ज्वाला द्वारा लोहित, अग्नि में (चक्रुः) द्वेषियों ने किया है; (आमे मांसे) तथा घर के किसी प्राणी के मांस में (याम्, कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है, (तया) तादृश हिंस्रक्रिया द्वारा (कृत्याकृतः) हिंस्रक्रिया करनेवालों को (जहि) तू मार।

[मन्त्र में विष-प्रयोग तथा उसके करनेवालों का वर्णन हुआ है। आमे=**अमा गृहनाम** (निघं० ३.४); आमे=गृह्ये। मांसे=घर के किसी प्राणी के शरीर के मांस में विष-प्रयोग। तया=प्रतिक्रिया में शत्रु के प्रति तादृश कृत्या के प्रयोग करने का निर्देश किया है।]

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—अपामार्गो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥ ५॥

अर्थ—(दौष्वप्न्यम्) दुःस्वप्न और उसमें अवाञ्छनीय दृश्य, यथा (दौर्जीवित्यम्) जीवन सम्बन्धी दुर्गति, (रक्षः) जिससे अपनी रक्षा अभीष्ट है ऐसे 'क्रूर मनुष्य का दर्शन' (अभ्वम्) निज सत्ता का अभाव अर्थात् निज मृत्यु का दर्शन, (अराय्यः) निज सम्पत्तियों का अभाव अर्थात् विनाश—इन दृश्यों को (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं; तथा (दुर्णाम्नीः, दुर्वाचः, सर्वाः) बदनाम कुवचन बोलनेवाली सब स्त्रियों को (अस्मत्) अपने मध्य में से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[दुःस्वप्न आदि का विनाश तो निज मनोबल द्वारा या सूक्तोक्त ओषधियों द्वारा, सम्भव है और बदनाम स्त्रियों की दुष्प्रवृत्तियों का विनाश भी औषध-चिकित्सा द्वारा सम्भव है। अथवा राजव्यवस्थानुसार[१] इन्हें मृत्युदण्ड देकर इनके विनाश को सूचित किया है।]

---

१. यथा "**धर्माय सभाचरम्**" (यजुः० ३०.६), धर्म के लिए सभा अर्थात् न्यायसभा और न्यायसभा के मुख्य न्यायाधीश को राजा प्राप्त करे [आलभते मन्त्र] धर्म का अभिप्राय (३०.२२) व्यवस्था, राजव्यवस्था तथा प्रजाव्यवस्था। न्यायसभा दोनों व्यवस्थाओं को व्यवस्थित करती है। दण्ड देना भी न्यायसभा के निर्णयानुसार होता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ६॥

अर्थ—(क्षुधामारम्) अति क्षुधा द्वारा होनेवाली मृत्यु को, (तृष्णामारम्) अति प्यास द्वारा होनेवाली मृत्यु को, (अगोताम्) वाणी की क्षति को, (अनपत्यताम्) अपत्य के न होने को, अभाव को, (अपामार्ग) हे अपामार्ग ओषधि! (वयम्) हम (त्वया) तेरे द्वारा (तत् सर्वम्) उस सबको (अप मृज्महे) हटाकर शोधन करते हैं, अपने आपका शोधन करते हैं।

[अगोताम्=**गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११), अगोता है वाणी का पक्षाघात। अपामार्ग ओषधि है। इसके या इसके किसी योग का वर्णन मन्त्र में हुआ है, जोकि मन्त्रोक्त व्याधियों का निराकरण करने में हेतु है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ७॥

अर्थ—(क्षुधामारम्, तृष्णामारम्) व्याख्या पूर्ववत् मन्त्र ६, (अथो) तथा (अक्षपराजयम्) इन्द्रियों द्वारा पराजय को प्राप्त होना, (अपामार्ग) हे अपामार्ग ओषधि! (त्वया) तेरे द्वारा (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सबको (अप मृज्महे) हटाकर, पृथक् कर आत्म-शोधन करते हैं।

[अक्षपराजयम्=अक्ष [इन्द्रियाँ], उन द्वारा पराजय को प्राप्त होना, इन्द्रियों को स्ववश न कर, उनके वशीभूत हो जाना। अपामार्ग या उसके योग सम्भवतः इस निमित्त सहायक हों।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी। तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥ ८॥

अर्थ—(अपामार्ग) हे व्याधियों को अपगत कर, पृथक् कर, शुद्ध करनेवाले अपामार्ग औषध! तू (सर्वासाम् ओषधीनाम्) सब ओषधियों में से (एकः इत्) एक ही (वशी) व्याधियों का वशीकर्त्ता है। (तेन) उस द्वारा, हे रुग्ण! (ते) तेरे (आस्थितम्) सर्वत्र स्थित हुए रोग को (मृज्मः) हम शुद्ध करते हैं, (अथ) तदनन्तर (त्वम्) तू (अगदः) रोगरहित हुआ (चर) विचर।

[यौगिकार्थ में अपामार्ग द्वारा, सर्वरोगापहारी, शोधक परमेश्वर भी अभिप्रेत हो सकता है। परमेश्वर भेषज है, यथा "**भेषजमसि भेषजं गवे अश्वाय पुरुषाय भेषजम्**" (यजु:० ३.५९)। मृज्मः=मृजूष् शुद्धौ (अदादिः)। अपामार्ग=अप+आ+मार्ग (मृजूष् शुद्धौ)।]

सूक्त १८

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती। कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः॥ १॥

अर्थ—(सूर्येण) सूर्य के (समम्) समान (ज्योतिः) ज्योति [तेरे लिए] हो, (रात्री) रात्रि (अह्ना) दिन के (सम्) साथ मिलकर (आवती[1]) सब प्रकार से तेरी रक्षिका हो। (ऊतये) रक्षा के लिए (सत्यम्) सत्यकर्म (कृणोमि) मैं तेरे लिए निर्दिष्ट करता हूँ, (कृत्वरीः) इससे नाशकारिणी प्रवृत्तियाँ (अरसा सन्तु) रसरहित हो जाएँ, अर्थात् सूख जाएँ, असमर्थ हो जाएँ।

१. आवती=आ+अवती=अव् (रक्षणे+शतृ प्रत्यय+ङीप्)।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम्। वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम्॥ २ ॥

अर्थ—(देवाः) दिव्यगुणोंवाले हे राज्याधिकारियो! (यः) जो (कृत्याम्) हिंस्रक्रिया को (कृत्वा) करके (अविदुषः) अज्ञानी पुरुष के (गृहम्) घर को (हरात्[1]) हर ले, छीन ले (तम् प्रत्यक्) उसके प्रति, मानो लौटकर वह हिंस्रक्रिया (उपपद्यताम्) उसे प्राप्त हो, अर्थात् उसकी हिंसा करके उसके घर को छीन लिया जाए (इव) जैसेकि (धारुः) दुग्धपायी (वत्सः) बछड़ा (मातरम्) अपनी गौ माता की (प्रत्यक्) ओर ही उसके (उप) समीपवर्ती हुआ उसके पीछे-पीछे (पद्यताम्) जाए या जाता है।

[धारुः=**धेट् पाने** 'दाधेत्' (अष्टा० ३.२.१५९), द्वारा 'रु' प्रत्यय (सायण)।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति॥
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट्करिक्रति॥ ३ ॥

अर्थ—(अमा) घर में घुसकर, (पाप्मानम्) पापकर्म अर्थात् हिंस्रकर्म (कृत्वा) करके, (यः) जो [पापी] (तेन) उस कर्म द्वारा (अन्यम्) अन्य की (जिघांसति) हत्या करना चाहता है, (तस्याम् दग्धायाम्) उसकी दग्ध हुई चिता में, (बहुलाः, अश्मानः) बहुत पत्थर [अर्थात् उनकी बौछाड़] (फट्) फट्-फट् (करिक्रति) बार-बार आवाजें करें।

[ऐसे पापी को मारकर, उसे चिता पर रखकर दग्ध करने का विधान मन्त्र में हुआ है। साथ ही जलती चिता पर घृणाप्रदर्शनार्थ, पत्थरों की बौछाड़ का भी कथन किया है, जिससे कि पत्थरों के परस्पर टकराने से बार-बार फट्-फट् नाना आवाजें उठें। उग्र पापकर्म के लिए यह दण्ड है। करिक्रति= "**करोतेर्यङ्लुगन्तात् पञ्चमलकारे 'रुग्रिकौ च लुकि'** (अष्टा० ७.४.९१) **इति अभ्यासस्य रिगागमः**" (सायण)।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्रधामन्विशिखान्विग्रीवां छायया त्वम्। प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर॥ ४ ॥

अर्थ—(सहस्रधामन्) हे सहस्रविध तेजोंवाले राजन्! (त्वम्) तू (विशिखान्) शिखाविहीन अर्थात् मुण्डित सिरवाले करके (विग्रीवान्) तथा उन्हें ग्रीवाविहीन करके (छायया) काट दे। तथा (कृत्याम् चक्रुषे) कटे शरीरों को हिंस्रक्रिया में प्रोत्साहित करनेवाले के लिए, (प्रति हर स्म) हे राजन्! तू वापस कर दे, जैसेकि (प्रियाम्) विवाहित प्रिया पत्नी को (प्रियावते) प्रिया-पत्नी के स्वामी के लिए वापस प्रेषित कर दिया जाता है।

[छायय=**छो छेदने** (दिवादिः)। चक्रुषे=करोतेर्लिटः क्वसुः, चतुर्थ्येकवचनम्।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्। यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥ ५ ॥

अर्थ—(अनया ओषध्या) इस ओषधि द्वारा (अहम्) मैंने (सर्वाः कृत्याः) सब हिंस्रक्रियाओं को

---

१. हृ+लेटि आट् आगम।

(अदूदुषम्) दूषित कर दिया है [उन्हें विकृत कर दिया है, कार्यासमर्थ कर दिया है।] (याम्) जिसेकि (चक्रुः) उन्होंने किया है (क्षेत्रे) खेत में, (याम्) जिसे कि (गोषु) गौओं [की गौशाला] में, (वा) या (याम्) जिसे (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में, पुरुषसमाज में किया है।

[इस मन्त्र में राजा के प्रति चिकित्सक का कथन है।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भोऽनुष्टुप्**॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।

चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः॥ ६॥

अर्थ—(यः) जिसने (चकार) हिंस्रकर्म किया है, परन्तु (कर्तुम्) हिंस्रकर्म करने में पूर्णतया (न शशाक) नहीं समर्थ हुआ, सफल हुआ, अपितु उसने (पादम् अङ्गुरिम्) अपने पैर और अङ्गुलि को (शश्रे) हिंसित कर लिया है, उसने (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (भद्रम्, चकार) भद्रकर्म किया है और (आत्मने) अपने लिए (सः तु) उसने तो (तपनम्) सन्ताप पैदा कर लिया है।

[हिंस्रकर्म करने वाला हमारी हिंसा तो करने में समर्थ नहीं हुआ, अपितु उसने अपने-आपको क्षतविक्षत कर लिया है। यह हमारे प्रति भद्रकर्म हुआ है, और उसके प्रति सन्तापरूप हुआ है। वह भविष्य में हमारे प्रति हिंस्रकर्म करने में असमर्थ हो गया है, यह हमारे प्रति उस द्वारा भद्रकर्म हुआ है।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपामार्गोप माष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः। अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः॥ ७॥

अर्थ—(अपामार्गः) अपामार्ग [ओषधि] (अप माष्टुं) रोग को अपगत कर शुद्ध करे, (क्षेत्रियम्) वंशपरम्परा से आगत रोग को, (च) और (यः) जो (शपथः) शपथग्रहण की आदत है उसे (अप) पृथक् करे। (यातुधानीः) दूसरों को यातना [कष्ट] पहुँचाने की प्रवृत्तियों को, (अह) तथा (अप) पृथक् करे (सर्वाः) सब (अराय्यः) अराति-प्रवृत्तियों को।

[अपामार्गः=**अपमृज्यते रोगादिनिराकरणेन पुरुषः शोध्यते अनेनेति अपामार्गः, मृजूष् शुद्धौ** (सायण)।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ८॥

अर्थ—(यातुधानान्) यातना देने के विचारों को (अपमृज्य) पृथक् कर, और पुरुष को विशुद्ध करके, तथा (सर्वाः) सब (अराय्यः) अराति-प्रवृत्तियों को (अप) पृथक् कर और पुरुष को विशुद्ध करके, (अपामार्ग) हे अपामार्ग [ओषधि]! (वयम्) हम (त्वया) तेरे द्वारा (तत् सर्वम्) उस सब रोग-समूह को (अप) पृथक् करके (मृज्महे) अपने को शुद्ध करते हैं।

[सूक्त में राजा और अपामार्ग ओषधि का मिश्रित वर्णन हुआ है।]

सूक्त १९

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत्।

उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम्॥

अर्थ—(उतो) चाहे (असि) तू है (अबन्धुकृत्) असम्बन्धी द्वारा की गई, (उतो) चाहे (असि) तू है (नु) निश्चय से (जामिकृत्) जन्म से सम्बन्धी द्वारा की गई, (उतो) चाहे [अन्य किसी द्वारा की गई] तू (कृत्याकृत:) हिंस्रक्रिया करनेवाले की (प्रजाम्) प्रजा को (आच्छिन्धि) काट दे, (इव) जैसे (वार्षिकम्) वर्षाकालोद्भव (नडम्) नड को आसानी से काट दिया जाता है।

[वर्षाकालोद्भूत नड यत: गीला होता है अत: आसानी से काटा जा सकता है। जामि पद जन्म से सम्बन्धी का वाचक है। यथा "**जामये भगिन्यै**" (निरुक्त ३.१.६)। मन्त्र में कृत्या को सम्बोधित किया है, कृत्या है हिंस्रक्रिया। शत्रु द्वारा की गई हिंस्रक्रिया के परिशोध में तत्सदृश हिंस्रक्रिया करने का अनुमोदन किया है।]

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पति:** ॥ छन्द:—**पथ्या पङ्क्ति:** ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे॥ २॥

अर्थ—(नार्षदेन) नृषद् है परमेश्वर, नर-नारियों में स्थित; नार्षद है, नृषद् का पुत्र, सम्भवत: अथर्वा ऋषि, जिस द्वारा कि अथर्ववेद का आविर्भाव हुआ है; वह कण्व है, मेधावी है; (ब्राह्मणेन) उस ब्रह्मविद्या के जाननेवाले अथर्वा द्वारा (परि) सर्वत्र अर्थात् समग्र अथर्ववेद में[1] (उक्ता असि) हे ओषधि! तू प्रोक्त[2] हुई है। (त्विषीमती) दीप्तिमती (सेना इव) सेना के सदृश तू (एषि) गति करती है [रक्षार्थ]; (तत्र) उस मनुष्य में (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं होता (यत्र) जिसमें (ओषधे) हे ओषधि! (प्राप्नोषि)! तू प्राप्त होती है।

[वेदादिशास्त्रों के चारों ऋषियों के नाम पठित हैं जिनके द्वारा चारों वेदों का आविर्भाव हुआ है। ये चारों ऋषि परमेश्वर के मानस-पुत्र हैं, अमैथुनी-सृष्टि के हैं। प्रतिसर्ग में इन नामवाले चार ऋषियों द्वारा चारों वेदों का आविर्भाव होता है। चारों ऋषियों और चारों वेदों का नित्य सम्बन्ध है, अत: वर्णन ऐतिहासिक नहीं।]

नार्षदेन=परमेश्वर को "ध्रुवसदं, 'नृषदं'[3], मन-सदम्; अप्सुसदं, घृतसदं, व्योमसदम्; पृथिवीसदं, अन्तरिक्षसदं, दिविषदं; देवसदं, नाकसदम्" कहा है (यजु:० ९.२), अत: नार्षद है अथर्वा ऋषि। नृषद् का पुत्र। कण्वेन=**कण्व: मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)।]

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्। उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षस:॥ ३॥

अर्थ—(ओषधीनाम्) ओषधियों में (अग्रम्, एषि) अग्रगण्य तू है, (इव) जैसेकि (ज्योतिषा) निज

१. कहीं साक्षात् कहीं परम्परया।
२. यह ओषधि है परमेश्वर। इसलिए परमेश्वर को "भेषजम्" कहा है। यथा "**भेषजमसि**" (यजु:० ३.५९), देखो महीधरभाष्य, तथा ऋषि दयानन्दभाष्य।
३. परमेश्वर को (यजु:० १०.२४) में भी "नृषद्" कहा है। इसकी व्याख्या में उव्वट ने कहा है कि "**स प्रपञ्च ब्रह्माभिधायिनी अतिच्छन्दा अतिजगती**" अर्थात् इस मन्त्र में प्रपञ्चसहित ब्रह्म का वर्णन हुआ है। यही अभिप्राय महीधर का भी है। इससे भी स्पष्ट होता है कि "नृषद्" है ब्रह्म, अत: नार्षद है नृषद् का पुत्र सम्भवत: अथर्वा ऋषि, अथर्ववेद का वक्ता, जिसके द्वारा परमेश्वर ने अथर्ववेद प्रकट किया है।

ज्योति द्वारा (अभि) साक्षात् (दीपयन्) हिंस्रक्रिया को दग्ध करती हुई तू है। (उत) तथा (पाकस्य) दुग्धपायी शिशु का (त्राता) पालक (असि) तू है। (अथो) तथा (रक्षसः) राक्षस-प्रवृत्ति तथा रोगजीवाणु का (हन्ता असि) हनन करनेवाला तू है।

[मन्त्र में अपामार्ग-ओषधि, तथा परमेश्वर-भेषज, दोनों का, गौण-मुख्य भाव में वर्णन हुआ है। पाकः=पिबतीति, दुग्धपायी बालकः, शिशुः।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्दो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत। ततस्त्वमध्योषधेपामार्गो अजायथाः॥ ४॥

अर्थ—(यत्) जो (अदः) उस पूर्वकाल में (देवाः) देवों ने (त्वया) तेरे द्वारा (अग्रे) प्रथम (असुरान्) असुरों का (निः अकुर्वत) निराकरण किया, (ततः) तब से (ओषधे) हे ओषधि! (त्वम्) तू (अधि) अन्य ओषधियों की अधिष्ठात्री रूप में (अपामार्गः) अपामार्ग नाम से (अजायथाः) प्रकट हुई है।

[अपामार्गः=अपमार्जनात् अपामार्गः। अप+**मृजूष् शुद्धौ** (अदादिः)। अपामार्ग पद, धात्वर्थ से, ओषधि तथा परमेश्वरभेषज का वाचक है। मन्त्र ४ में प्रसिद्ध देवासुर-संग्राम का कथन हुआ है। मन्त्र ३ में 'रक्षसः' द्वारा असुर अभिप्रेत हैं।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता।
प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति॥ ५॥

अर्थ—(शतशाखा) हे ओषधि! तू सौ शाखाओंवाली है। (विभिन्दती) तू विविध असुरों तथा राक्षसों [मन्त्र ४,३] का भेदन करती है, (ते पिता) तेरा पिता अर्थात् उत्पादक बीज भी (विभिन्दन् नाम) विभेदक प्रसिद्ध है, विविध असुरों तथा राक्षसों का भेदन करता है, हनन करता है। (यः) जो असुर तथा राक्षस (अस्मान् अभिदासति) हमारा उपक्षय करता है (तम्) उसे (त्वम्) तू (प्रत्यक्) उसके प्रति गमन करके (वि भिन्धि) विविध रूप में छिन्न-भिन्न कर।

[अभि दासति=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। मन्त्र में अपामार्ग ओषधि का वर्णन हुआ है (सायण)। परमेश्वर-भेषज[१] पक्ष में सात्त्विक चित्तवृत्तियाँ हैं शतशाखारूपा, प्रतिदिन नानारूपों में प्रकटित अथवा सौ वर्षों की आयु तक फैली हुईं सात्त्विक वृत्तियाँ, ये विभिन्दती रूपा हैं। काम-क्रोधादि असुरों की विभेदिका हैं। पिता है "**तज्जपस्तदर्थभावनम्**" (योग० १.२८), अर्थात् प्रणव का जप तथा तदर्थ का भावन, चित्त में पुनः-पुनः उसका प्रवेश। इस द्वारा परमेश्वर-भेषज प्रकट होता है। प्रकट होकर वह असुरों और राक्षसों का छेदन-भेदन कर देता है, जोकि हमारा उपक्षय करते हैं।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद् व्यचः। तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु॥ ६॥

अर्थ—(असत्) असुरतत्त्व और राक्षसतत्त्व अविद्यमान था, (भूम्याः) भूमि से (समभवत्) वह

१. यजुः० ३.५९। मन्त्रोक्त असुर-राक्षस मानसिक विकाररूप हैं, विकृतियाँ हैं।

सम्भूत हुआ, पैदा हुआ, (तत्) वह तत्त्व (महत् व्यच:) महाविस्तृत रूप होकर (याम् एति) जिस भूमि को प्राप्त होता है, (तत्) उस तत्त्व को (तत:) उस प्रदेश से (विधूपायत्) विधूपित किया, (प्रत्यक्) वह प्रतिमुख हुआ (कर्तारम्) कर्त्ता को (ऋच्छतु) पीड़ित करे या प्राप्त हो।

[विधूपायत्=यथा "**अश्वस्य त्वा वृष्ण: शक्ना 'धूपयामि' देवयजने पृथिव्या:**" (यजु:० ३७.९)। धूपन=धुआँ देना या सन्तप्त करना "**धूप सन्तापे**" (भ्वादि:)। धूपित करने से असुर तत्त्व और राक्षसतत्त्व अर्थात् विनाशीतत्त्व का विनाश होता है। यज्ञादि शुभ कर्मों में अब भी धूपबत्ती द्वारा धूपन करने की प्रथा विद्यमान है। ऋच्छतु=**ऋछ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु** (तुदादि:)। आसुर-राक्षस भावना पैदा होकर भावनोत्पादक को पीड़ित करती रहे तो उत्पादक किसी भी समय उस भावना से विरक्त हो सकता है।]

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम्।

सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम्॥ ७॥

अर्थ—[हे अपामार्ग!] (त्वम्) तू (प्रतीचीनफल:) प्रतीपमुखी फलों वाला, (हि) ही (प्रत्यङ्) प्रतीपमुखी (संबभूविथ) उत्पन्न हुआ है। (सर्वान् शपथान्) सब शपथों को (मत् अधि) मुझसे (यावय) पृथक् कर, तथा (वधम्) वध को (वरीय:) बहुत दूर (यावय) अलग कर।

[मन्त्र में शपथ और तद्-द्वारा उत्पन्न वध को दूर या पृथक् करने का निर्देश हुआ है। जैसे अपामार्ग के फलों के मुख प्रतीपमुखी होते हैं, वैसे शपथों और तज्जन्य दु:खरूपी फल को भी प्रतीपमुखी करने की प्रार्थना हुई है, न शपथें हों और न उनका दु:खरूपी फल ही मुझे प्राप्त हो। शपथ और अभिशाप भिन्न-भिन्न हैं। शपथें स्वयं ली जाती हैं, और अभिशाप दूसरे द्वारा प्राप्त होता है। शपथें झूठी भी होती हैं, अत: झूठ का फल मिलता है—वध, दु:ख।

परमेश्वर-भेषज पक्ष में फलदायक परमेश्वर है। वह झूठी शपथ आदि दुष्कर्मों का फल देता है, दु:ख और कष्ट। इसे जानकर व्यक्ति दुष्कर्मों के करने से प्रतीपमुखी हो जाता है, और दु:ख तथा कष्टरूपी वध को प्राप्त नहीं करता।]

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा। इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत्॥ ८॥

अर्थ—(शतेन) सौ रक्षोपायों द्वारा (मा) मेरी (परि) सब ओर से (पाहि) रक्षा कर, (सहस्रेण) तथा निज हजार शक्तियों द्वारा (अभि) साक्षात् (मा रक्ष) मेरी रक्षा कर। (वीरुधांपते) हे विरोहण करनेवाली लताओं या ओषधियों के पति! अपामार्ग! (उग्र: इन्द्र:) बलशाली इन्द्र (ते) तेरे लिए (ओज्मानम्) ओज का (आ दधत्) तुझमें आधान करे, स्थापन करे।

[इन्द्र:=परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, अपामार्ग में, रक्षा प्रदान के ओज को स्थापित करे। परमेश्वर-भेषज का वर्णन मन्त्र में नहीं हुआ। उस सर्वशक्तिमान् ओजस्वी को ओज प्रदान की शक्ति किसी में नहीं। वह स्वयं निज स्वाभाविक शक्ति द्वारा 'अपामार्ग' है, बुराइयों को 'अप' अर्थात् पृथक् कर, 'मार्ग' शुद्ध करनेवाला है '**मृजूष् शुद्धौ**', वह परशक्ति की अपेक्षा नहीं करता।]

सूक्त २०

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधिः**॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**॥

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति।

दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति॥ १॥

अर्थ—(आ पश्यति) सबको एक दृष्टिपात में देखता है, (प्रति पश्यति) प्रतिवस्तु को पृथक्-पृथक् रूप में भी देखता है, (परा पश्यति) दूर की वस्तु को भी देखता है, (पश्यति) समीप की वस्तु को भी देखता है, (देवि)[१] हे देवी! (दिवम्, अन्तरिक्षम्, आत्, भूमिम्) द्यौः को, अन्तरिक्ष को, तथा भूमि को (तत् सर्वम्) उस सबको (पश्यति) वह देखता है।

[देवी है दिव्यगुणवती 'सदंपुष्पा' (सायण)। सदंपुष्पा का अर्थ है, "सदा जिसके फूल खिले रहते हैं", इसी प्रकार द्रष्टा-योगी का चक्षुः सदा फूल के सदृश विकसित रहती है, देखने के लिए।]

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक्।

त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे॥ २॥

अर्थ—(देवि ओषधे!) दिव्यगुणवती हे ओषधि! (तिस्रः दिवः) तीन द्यौ को, (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों को, (च) और (पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में (इमाः षट् प्रदिशः) इन ६ विस्तृत दिशाओं को; (सर्वा=सर्वाणि, भूतानि) तथा सब भूतों को, (त्वया) तुझ द्वारा (अहम्) मैं (पश्यानि) देखूँ। ["मैं" अर्थात् दिव्यदृष्टि-सम्पन्न योगी।]

[तिस्रः पृथिवीः तिस्रः दिवः="इस जगत् में उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार की भूमि और अग्नि है" (ऋ० २.२७.८; दयानन्द)। तिस्रः दिवः=द्युलोक, तदुपरि माहेन्द्रलोक, तदुपरि प्राजापत्यलोक (देखो योगदर्शन "**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**" (यो०द० ३.२६) पर व्यासभाष्य। अथवा द्युलोक की विषुवत् रेखा (Equinotical line), जिसपर सूर्य के आते दिन-रात बराबर काल के हो जाते हैं; तथा इस रेखा से उत्तर का भाग और दक्षिण का भाग। इस प्रकार की द्युलोक तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

तिस्रः पृथिवीः=जल, स्थल तथा पर्वतीय तीन विभाग। अथवा उष्ण पट्टी, शीतोष्ण पट्टी तथा शीत पट्टी में तीन विभाग।

षट् प्रदिशः=पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा दिशाएँ। इन्हें पृथक्-पृथक् रूप में देखना। ये दिशाएँ परस्पर में मिलीजुली हैं, इन्हें पृथक्-पृथक् सीमाओं में विभक्त कर पहिचानना।

भूतानि=पञ्चभूत तथा भौतिक जगत्।]

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका।

सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव॥ ३॥

अर्थ—(दिव्यस्य) द्युलोकस्थ (तस्य सुपर्णस्य) उस सुपतनशील सूर्य का (ह) निश्चय से

---

१. यह देवी है "योगजन्या दिव्यदृष्टि" अर्थात् प्रातिभ दृष्टि (देखो सूक्तान्त में विशेष वक्तव्य।)

(कनीनिका) दीप्तिवाला चक्षु में स्थित 'कृष्णमण्डल' तू है। (सा) वह तू कनीनिका (भूमिम्) भूमि पर (आ रुरोहिथ) आरूढ़ हुई है। (इव) जैसेकि (श्रान्ता वधूः) थकी वधू (वह्यम्) वहन साधनरूपी रथ में आरूढ़ होती है।

[सुपर्णस्य="**सुपर्णा आदित्यरश्मयः**" (निरुक्त ३.२.१२); तद्वान् है सुपर्ण अर्थात् सूर्य। कनीनिका=कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भ्वादिः)। कनीनिका=eye-pupil। वेदों में सूर्य को चक्षुः कहा है, अतः सूर्य की कनीनिका[1] का भी कथन किया है। यथा "**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्**" (यजुः० ३६.२४) में सूर्य को चक्षुः कहा है।]

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।

तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः॥ ४॥

अर्थ—(सहस्राक्षः देवः) हज़ारों आँखोंवाले देव ने (ताम्) उस ओषधि को (मे) मेरे (दक्षिणे[2] हस्ते) दाहिने हाथ में (आ दधत्) स्थापित किया है। (तया) उस ओषधि द्वारा (अहम्) मैं [द्रष्टा] (पश्यामि) देखता हूँ, (यः च) जो (शूद्रः) शूद्र है, (उत) तथा (आर्यः) आर्य है।

[सहस्राक्षः देवः=परमेश्वर-पुरुषः, यथा "**सहस्रशीर्षा पुरुषः 'सहस्राक्षः' 'सहस्रपात्**'" (यजुः० पुरुषसूक्त ३१.१)। ओषधि द्वारा, सर्वद्रष्टा के सदृश हो जाने से द्रष्टा, [योगी] परमेश्वर-पुरुष के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। दक्षिणे हस्ते=दक्षिण हस्त द्वारा वृद्धि कार्य सम्पन्न होते हैं, अतः दक्षिण हस्त में ओषधि के आधान अर्थात् स्थापन का कथन हुआ है; "**दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च**" (भ्वादिः) मन्त्र में मणिबन्धन का वर्णन नहीं, मणिबन्धन कलाई में होता है, या बाहु में, हाथ में नहीं। इसलिए मन्त्र में आधान का कथन हुआ है, बन्धन का नहीं।

शूद्रः, उतार्यः=आर्य और शूद्र के सम्बन्ध में ऋषि दयायन्द के विचार, यथा—(१) '**उत शूद्र उतार्ये**' यह अथर्ववेद का वचन है। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम आर्य, और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ (स०प्र० समु० ८)।

(२) तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात् अनाड़ी है, (स०प्र०, समु० ८; पृ० ३५२; रामलाल कपूर ट्रस्ट)।

(३) जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है (स०प्र०, समु० ३, पृ० १२६; रामलाल कपूर ट्रस्ट)।]

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः।

अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः॥ ५॥

---

१. वेदों में सूर्य को चक्षुः कहा है, अतः, सूर्य में चक्षुर्निष्ठ कनीनिका का वर्णन हुआ है। कनीनिका द्वारा वस्तुदर्शन होता है। इस द्वारा सूर्य मानो सबको देखता है। दिव्य दृष्टि वाला योगी कहता है कि वह कनीनिका मानो भूमि पर आरूढ़ हुई मेरी चक्षु में प्रविष्ट हुई है जिस द्वारा कि मैं भी सबको देख रहा हूँ (मन्त्र १)।

२. दक्षिणे हस्ते, यथा "**अयं मे हस्तो भगवान्**" (अथर्व० ४.१३.६), यह मेरा दाहिना हाथ भाग्यशाली है, अधिक शक्तिशाली है।

अर्थ—[हे सहस्रचक्षुरूप परमेश्वर!] (रूपाणि) अपने स्वरूपों को (आविष्कृणुष्व) प्रकट कर, (आत्मानम्) निज स्वरूप को (मा) न (अपगूहथाः) ढके रख, छिपाये रख। (अथो) अपि च (सहस्रचक्षो[1]) हज़ार आँखों वाले हे परमेश्वर! (त्वम्) तू (किमीदिनः) भेद लेनेवालों में से (प्रतिपश्याः) प्रत्येक को दृष्टि में रख।

[किमीदिनः="किम् इदानीम्, किम् इदानीम्", इस प्रकार से प्रश्न करके भेद लेने वाले। पश्याः=दृशेः लेटि अडागमः।]

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः।
पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे[2]॥ ६॥

अर्थ—(मा) मुझे (यातुधानान्) यातनाएँ धारण करनेवालों को (दर्शय) दिखा, (यातुधान्यः) यातना धारण करने वालियों को (दर्शय) दिखा। (सर्वान् पिशाचान्) सब मांसभक्षकों को (दर्शय) दिखा, (इति) इसलिए (ओषधे) हे ओषधिरूप परमेश्वर! (त्वा आ रभे) मैं तेरा अवलम्बन करता हूँ। तुझे प्राप्त करता हूँ।

[आरभे=आलभे, "**डुलभष् प्राप्तौ**" (भ्वादिः), रलयोरभेदः।]

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः॥ ७॥

अर्थ—[हे ओषधिरूप परमेश्वर!] (कश्यपस्य) कश्यप[3] की (चक्षुः) आँख (असि) तू है, (च) और (चतुरक्ष्याः[4] शुन्याः) चार आँखोंवाली कुतिया की भी [तू आँख है] अतः (वीध्रे) अन्तरिक्ष में (सर्पन्तम्) सर्पण करते हुए (सूर्यम् इव) सूर्य के सदृश, (पिशाचम्) मांसभक्षक को (मा) मत (तिरस्करः)

---

१. सहस्रचक्षुः परमेश्वर को मन्त्र ४ में सहस्राक्ष कहा है। परमेश्वर की कृपा से दिव्यदृष्टि से सम्पन्न हुआ योगी परमेश्वर के स्वरूप का दर्शन चाहता है, अतः वह कहता है कि "**मा आत्मानम् अपगूहथाः**"।

२. द्रष्टा योगी परमेश्वर को ओषधि कहता है। ओषधि का अर्थ है "**ओषत् धयति**" (निरुक्त ९.३.२७), जो कि दाह का पान करती है, ताप-सन्ताप को विनष्ट करती है। परमेश्वर योगी के ताप-सन्ताप को नष्ट करता है, अतः वह ओषधि रूप है। योगी परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि तू ही निजकृपा से उन यातुधान आदि पिशाचों को, जोकि मुझमें छिपे रहकर मुझे यातनाएँ दे रहे हैं, मुझे भी दर्शा। वे हैं काम, क्रोध, लोभ आदि।

३. सूर्य आकाश में निर्बाधरूप में चलता है, नियमपूर्वक। ऐसा चलना बिना चक्षु के सम्भव नहीं, अतः हे परमेश्वर! तू ही उसका चक्षु बनकर उसे चला रहा है।

४. इसी प्रकार चार चारु आँखों वाली शुनी अर्थात् कुतिया की भी तू चक्षु है। यह शुनी द्युलोकस्थ है, रात्रि में दृष्टिगोचर होती है, दिन में सौर प्रकाश के कारण छिपी रहती है। मानो रात्रिकाल में तुझ चक्षु के द्वारा रात्रि के दृश्यों को वह देखती है। परमेश्वर तो सब जड़ अर्थात् आधिदैविक पृथिव्यादि तत्त्वों का चक्षु बनकर उन्हें नियमपूर्वक चला रहा है, परन्तु सूर्य जो दिन में चलता है, और चतुरक्षी शुनी जो रात्रि में देखती है, ये दो केवल दृष्टान्तरूप में कथित किये हैं। अथर्व० १८.२.११ में दो श्वानों का वर्णन हुआ है जिन्हें कि "सारमेयौ 'चतुरक्षी' शबलौ" कहा है। सम्भवतः इन दो 'श्वानौ' को 'शुनीमण्डल' कहा है, जिसेकि "शुन्याश्च चतुरक्ष्याः" कहा है। दो 'श्वानौ' की चार आँखें होती हैं।

अन्तर्हित कर, छुपने न दे।

[कश्यप=पश्यतीति कश्यप; उदित हुआ सूर्य, जोकि सबको देखता है, यह रश्मियों से आविष्ट सूर्य है। जैसे इस सूर्य का अन्तर्धान नहीं होता, यह सर्वदृष्टिगोचर है, इसी प्रकार हे ओषधि! तू पिशाच को भी अन्तर्हित न होने दे, छिपने न दे। तिर:=**तिरोऽन्तर्धौ** (अष्टा० १.४.७९)। कर:=करोतेर्माङि लुङि च्लेरङ् (सायण)। पिशाच है मांसभक्षण करनेवाला, उसे क्षीण कर देने वाला रोगकीटाणु [germ]। ये शरीर में प्रविष्ट होकर शारीरिक रुधिर-मांस को क्षीण कर देते हैं। पिशाच=पिशितं मांसम् अचति याचते इति (भ्वादि:)। ये पिशाच, वायुमण्डल तथा जल और खाद्य पदार्थों में विद्यमान रहते हैं, और वहाँ से हमारे शरीरों में प्रविष्ट हो जाते हैं।]

ऋषि:—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधि:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम्। तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्॥ ८॥

अर्थ—(परिपाणात्) सब प्रकार के पेय से (यातुधानम्) यातनाएँ धारण करनेवाले, या प्रदान करनेवाले [पिचाश] को (उदग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है, (किमीदिनम्) जैसेकि "किम् इदानीम्, किम् इदानीम्" द्वारा प्रश्नपूर्वक भेद लेनेवाले को पकड़ लिया जाता है। (तेन[१]) उस पकड़ के कारण (अहम्) मैं (सर्वम् पश्यामि) सबको देखता हूँ, (उत) चाहे (शूद्रम्) शूद्र को, (उत) चाहे (आर्यम्) आर्य को।

[परिपाणात्=सब प्रकार के पेय तथा खाद्य पदार्थों से। पिशाच अर्थात् रोग-कीटाणु, पेय तथा खाद्य पदार्थों में प्रविष्ट होकर, तद्-द्वारा आक्रमण करते हैं, और नेत्रों में प्रविष्ट होकर दृष्टिविघात कर देते हैं, उनके पकड़ लेने से दृष्टि पूर्ववत् देखने में सक्षम हो जाती है। शूद्र और आर्य (देखो मन्त्र ४ की व्याख्या)।

तेन=अथवा परमेश्वररूपी ओषधि द्वारा।]

ऋषि:—**मातृनामा**॥ देवता—**ओषधि:**॥ छन्द:—**भुरिगनुष्टुप्**॥

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय॥ ९॥

अर्थ—(य:) जो (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष द्वारा (पतति) उड़ता या संचार करता है, (च य:) और जो (दिवम्, अति, सर्पति) द्युलोक और उसको लाँघकर भी (सर्पति) सर्पण करता है। (य:) जो (भूमिम्) भूमि को (नाथम् मन्यते) अपना स्वामी या आश्रय मानता है, (तम् पिशाचम्) उस मांसभक्षक को [हे ओषधि!] (प्रदर्शय) तू मुझे दर्शा। [ओषधि=ताप सन्ताप-नाशक—परमेश्वर-ओषधि।]

विशेष वक्तव्य—(१) कौशिकसूत्रानुसार तथा सायणाचार्य की व्याख्यानुसार सूक्त में "सदंपुष्पा" नामक ओषधि का वर्णन है, परन्तु सूक्त में इस ओषधि का नाम नहीं है।

---

१. ये मांसभक्षी पिशाच अर्थात् रोग-कीटाणु [germ] हैं जो कि पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में भी विचर रहे हैं। ये तत्रस्थ मनुष्यादि प्राणियों पर भी आक्रमण कर उन्हें रुग्ण करते हैं। ऋषि दयानन्द के अनुसार, लोकलोकान्तरों में भी मनुष्यादि सृष्टि है (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८)। तथा अध्यात्मदृष्टि में अन्तरिक्ष है वक्ष:स्थल, जिसमें कि फेफड़ों में वायु का तथा हृदय में रक्तरूपी आप: का संचार होता है; दिव् है मस्तिष्क; तथा मस्तिष्क से भी परे है मस्तिष्कावरण जिसे कि 'Dura mater' कहते हैं। इन शारीरिक अवयवों में रोग-कीटाणुओं द्वारा जनित रोग तो प्रसिद्ध ही हैं।

अथवा अन्तरिक्ष है उदर (अथर्व० १०.७.३२) और भूमि है पाद (टाँगों समेत)।

(२) सूक्त में वस्तुतः पत्र-पुष्पवाली ओषधि का वर्णन प्रतीत नहीं होता, अपितु यह 'अध्यात्म-ओषधि' है। यथा—

(३) **प्रातिभाद्वा सर्वम्** (यो०द० २.३३), "**प्रातिभं नाम तारकं, तेन वा सर्वमेव जानाति योगी**" (व्यासभाष्य)।

(४) तथा "प्रातिभ-आदर्श (योग० विभूतिपाद, सूत्र ३६), अर्थात् प्रतिभोत्पन्न-दृष्टि द्वारा, योगी सूक्ष्म, व्यवहित, तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का परिज्ञान प्राप्त करता है (योग० विभूतिपाद सूत्र २५, और व्यासभाष्य।) इन्हें मन्त्र १ में "**आ पश्यति प्रति पश्यति तथा पश्यति**" आदि द्वारा निर्दिष्ट किया है।

(४) यह अध्यात्म-ओषधि है जिसे सहस्राक्ष (मन्त्र ४), परमेश्वर ने प्रयोक्ता के दक्षिण हाथ में स्थापित कर दिया है। सहस्राक्ष को (मन्त्र ५) में सहस्रचक्षुः भी कहा है। परमेश्वर सहस्राक्ष है। यथा "**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**" (यजुः० ३१.१)।

(५) २० वे सूक्त के भाष्य में सायणाचार्य ने 'सदंपुष्पा' का कथन किया है, जिसेकि सूक्त में देवी ओषधि, अर्थात् दिव्य गुणोंवाली ओषधि कहा है। योगदर्शन में भी "**जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः**" (योग० ४.१) द्वारा ओषधियों को भी सिद्धिजनक कहा है। इस सम्बन्ध में योगभाष्यकार व्यासमुनि ने कहा है कि "**ओषधिभिः असुर[१]-भवनेषु रसायनेनेत्येवमादि**"। ये असुर-भवन कौन से हैं, तथा रसायन कौन से हैं जिन द्वारा सिद्धि प्राप्त हो जाती है—यह गवेषणीय[१] है।

सम्भवतः किसी ओषधि के सेवन से दृष्टिशक्ति में तीव्रता आ जाती हो जिस द्वारा कि व्यक्ति सूक्ष्म, दूर, व्यवहित पदार्थों को भी देख सकता है, जैसे कि योगशक्ति द्वारा योगी इनका दर्शन कर सकता है। वर्तमान समय में भी तो ऐनक आदि के प्रयोग द्वारा दृष्टिशक्ति में तीव्रता हो जाती है। दूरबीन रूपी कृत्रिम यन्त्र द्वारा भी दूर-दूर की वस्तुओं का दर्शन होता है तथा खुर्दबीन द्वारा सूक्ष्म वस्तुओं का भी दर्शन किया जाता है।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

अथाष्टमः प्रपाठकः

अनुवाक ५

सूक्त २१

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गावः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे।
प्र॒जाव॑तीः पु॒रु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः॥ १॥

१. सम्भवतः यह अभिप्राय है कि आर्यजाति में दो प्रकार के विचारक रहे हैं, देव और असुर। इनके विचारों और कर्त्तव्यों में भेद रहा है। देवकोटि के विचारक तो मन्त्र, तपश्चर्या तथा समाधि द्वारा सिद्धियों की प्राप्ति के पक्षपाती रहे हैं, और असुरकोटि के विचारक वैज्ञानिक है, जोकि प्राकृतिक ओषधियों और रसायनों द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करने में यत्नवान् रहे हैं। वे इस निमित्त रसायनों और भस्मों का निर्माण करते हैं, और इनकी प्रयोगशालाओं को सम्भवतः "असुरभवन" कहा है। उदाहरणार्थ योगी तो योगप्रकियानुसार सशरीर आकाश-गमन के लिए यत्न करते हैं, और वर्तमान में वैज्ञानिक, विज्ञान साधनों द्वारा, वायुयानों द्वारा आकाशगमन कर रहे हैं तथा चन्द्रमा तक भी सशरीर यात्रा हो चुकी है।

अर्थ—(गावः) गौएँ (आ अग्मन्) आ गई हैं, (उत) तथा (भद्रम्) कल्याण और सुख (अक्रन्) इन्होंने किया है, (गोष्ठे) गोशाला में (सीदन्तु) वे स्थित हों, (अस्मे) हमें वे (रणयन्तु) प्रसन्न करें। (इह) इस गोशाला में, (प्रजावतीः) प्रजावाली तथा (पुरुरूपाः) नाना रूपों अर्थात् श्वेत, कृष्ण, लाल, चितकबरी आदि रूपों वाली (स्युः) हों, और (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (पूर्वीः उषसः) उषाकाल के प्रारम्भ होते (दुहानाः) दोही जाएँ।

[इन्द्राय=परमैश्वर्यवान् राजा के लिए। ये गोशालाएँ राजकीय हैं। राज्यधन द्वारा और राज्यप्रबन्ध द्वारा चलाई जा रही हैं। इन्द्राय="**इन्द्रश्च सम्राट्** (यजुः० ८.३७) राजा"]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गावः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद्ददाति न स्वं मुषायति।

भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्॥ २॥

अर्थ—(इन्द्रः)ऐश्वर्यवान् राजा (यज्वने) यज्ञ भावनावाले और (गृणते) गोदाता राजा की इस निमित्त प्रशंसा करनेवाले के लिए (इत्) ही (उप ददाति) गौएँ उपदानरूप में (ददाति) देता है, (स्वम्) इसके गोधन को (न मुषायति) इससे छीन नहीं लेता, अपितु (अस्य) इस प्रबन्धक की (रयिम्) गोसम्पत्ति को (भूयोभूयः) अधिकाधिक (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ (देवयुम्) देवस्वरूप राजा की अभ्युन्नति चाहनेवाले को, (अभिन्ने) अटूट (खिल्ये) खिल प्रदेश में (नि दधाति) स्थिररूप में स्थापित करता है।

[खिल्ये "**खिले व्रजे विष्ठिता विशेषेण संभूय स्थिताः, एकत्रप्रदेशेऽवस्थिता गाः**" (सायण ७.१२०.४)। खिल्य=खिल अर्थात् व्रज सम्बन्धी स्थान, गोशाला। यह अभिन्न होनी चाहिए, अटूट अर्थात् मजबूत होनी चाहिए, ताकि टूट कर गौओं पर इसका इसका प्रहार न हो।

शिक्षते=**शिक्षति दानकर्मा** (निघं० ३.२०)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गावः**॥ छन्दः—**जगती**॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।

देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥ ३॥

अर्थ—(ताः न नशन्ति) वे गौएँ नष्ट नहीं होतीं, (न तस्करः दभाति) न चोर, न डाकू दम्भपूर्वक इनका चौर्य कर पाता है, (आमित्र=अमित्रः) दुश्मन (व्यथिः) पीड़ादायक होकर (आसाम्) इन गौओं का (न आ दधर्षति) धर्षण नहीं करता। (याभिः) जिन गौओं द्वारा (गोपतिः) गोरक्षक (देवान् यजते) देवयज्ञ करता है। (ददाति च) और इनके दूध का दान करता है, वह (गोपतिः) गौ-रक्षक या गोस्वामी (ताभिः सह) उन गौओं के साथ (ज्योक्) चिरकाल तक (सचते) सम्बद्ध रहता है।

[गोशाला राजकीय है, अतः इन गौओं का पालन-पोषण तथा औषधोपचार ठीक प्रकार से होता है, अतः ये नष्ट नहीं होतीं, पूर्ण आयु वाली होती हैं। इनकी रक्षाक का प्रबन्ध भी यथोचित होता है और चोर या डाकू इनका चौर्य नहीं कर सकते। गोपति इनके दूध, दधि तथा घृत द्वारा देवयज्ञ करता रहता है, नियमपूर्वक अग्निहोत्रादि करता रहता है। तथा प्रजाजनों की सेवा भी गौओं के दूध द्वारा करता रहता है ऐसा गोपति अर्थात् राज्य द्वारा नियुक्त प्रबन्धक, चिरकाल तक, गोपति रूप में बना रहता है।] [दभाति=लेट् लकार, आट् आगम।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः॥ ४॥

अर्थ—(रेणुककाटः) मृत्कणवत् चञ्चल अर्थात् तद्वत् शक्तिविहीन (अर्वा) हिंस्र व्यक्ति, (ताः) उन गौओं को (न अश्नुते) नहीं प्राप्त होता, (न) न (संस्कृतत्रम्) बूचड़खाने में, (अभि) अभिलक्ष्य कर (ताः) वे गौएँ (उपयन्ति) गमन करती हैं। (तस्य, यज्वनः मर्तस्य) उस यज्ञ करने वाले मनुष्य की (ताः गावः) वे गौएँ (अनु) निरन्तर (अभयम्) भय-रहित (उरुगायम्) विस्तृत घर अर्थात् गोशाला या यज्ञशाला में (वि चरन्ति) विचरती हैं।

[रेणुककाटः=रेणु (मृत्कण)+**कक** (**लौल्ये,** भ्वादिः)+ **अट गतौ** (भ्वादिः), मृत्कण के सदृश चञ्चल, तद्वत् कार्य करने में निःशक्त। अर्वा=**अर्व हिंसायाम्** (भ्वादिः)। संस्कृतत्रम्=**स्रंसु** (**अवस्रंसने,** भ्वादिः)+ कृत (**कृती**) **छेदने,** काटना, (तुदादिः, रुधादिः)+त्र+त्रल्, (सप्तम्येकवचन), अर्थात् अवस्रंसित हुई गौओं के काटने के स्थान में, वध-स्थान में, बूचड़खाने में। उरुगायम्=उरु (विस्तृत)+गायम्=गयम्, गृहम्। "**गयः गृहनाम**" (निघं० ३.४)। अथवा गायम्=गाने का स्थान, वेदमन्त्रों के गाने का स्थान, यज्ञशाला, "**गायति अर्चतिकर्मा**" (निघं० ३.१४)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥ ५॥

अर्थ—(गावः) गौएँ (भगः) ऐश्वर्यरूप हैं, (इन्द्रः) ऐश्वर्यसम्पन्न राजा (मे) मेरे लिए (गावः इच्छात्) गौएँ चाहे, (गावः) गौएँ अर्थात् उनका दूध (प्रथमस्य) प्रथमावस्थावाले (सोमस्य) सौम्यस्वभाववाले बच्चे का (भक्षः) भक्षणीय है। (जनासः=जनाः) हे लोगो! (इमाः याः गावः) ये जो गौएँ हैं मानो (सः इन्द्रः) वे ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा के ही रूप हैं, अतः (हृदा) हृदय द्वारा, (मनसा) और मन द्वारा, (चित्) भी (इन्द्रम्) ऐश्वर्यसम्पन्न राजा को (इच्छामि) मैं चाहता हूँ।

[गावः भक्षः=गावः अर्थात् गोदुग्ध, यथा "**अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवत् निगमा भवन्ति,** "**गोभिः श्रीणीत मत्सरम्**" (ऋ० ९.४६.४) इति "पयसः" (निरुक्त २.२.५)। गावः भक्षः सोमस्य=अथवा "**अभिषुतो हि सोमः गव्येन पयसा दध्ना च श्रीयते**" (सायण)। गावः इन्द्रः= **उपजीव्योपजीवकभावेन इन्द्रात्मना गवां स्तुतिः** (सायण)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥ ६॥

अर्थ—(गावः) हे गौओ! (यूयम्) तुम (कृशम् चित्) कमज़ोर को भी (मेदयथा) मोटा कर देती हो, (अश्रीरम्, चित्) शोभा से रहित को भी (सुप्रतीकम्) उत्तम शोभायुक्त अवयवोंवाला (कृणुथ) कर देती हो। (भद्रवाचः) कल्याणकारिणी तथा सुखप्रद आवाजों [रम्भा रव] वाली हे गौओ! तुम (गृहम्) घर को (भद्रम्) कल्याणकारी तथा सुखप्रद (कृणुथ) कर देती हो, (वः वयः) तुम्हारा अन्न

(सभासु) सभाओं में (बृहत्) महत्त्वशाली या वृद्धिकारक (उच्यते) कहा जाता है।

[भद्रम्=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)। **वयः अन्ननाम** (निघं० २.७); दूध, दधि, घृत, आदि। मेदयथ=मिदि स्नेहने (चुरादिः)। बृहत्=**बृह, वृद्धौ** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गावः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।

मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ ७॥

अर्थ—(प्रजावतीः) बछड़े-बछड़ियोंवाली, (सूयवसे) उत्तम घासवाले प्रदेश में (रुशन्तीः) चमकती या शोभावाली, (सु प्रपाणे) उत्तम पेयस्थलों में (शुद्धाः अपः) शुद्ध जल को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुम्हें (स्तेनः) चोर (मा ईशत) चुराने में अधिकारयुक्त न हो, (मा अघशंसः) न हत्यारा तुम्हारा अधीश्वर बने, (रुद्रस्य) रौद्रकर्मवाले मनुष्य का (हेतिः) अस्त्र (वः) तुम्हारा (परि वृणक्तु) परिवर्जन करे, तुम पर न गिरे।

[स्तेनः (मन्त्र ३; तस्करः)।]

सूक्त २२

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।

निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥ १॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्![1] (इमम् क्षत्रियम्) क्षतों से त्राण करनेवाले इस क्षत्रिय को (वर्धय) तू बढ़ा, (त्वम्) तू (मे इमम्) मेरे इस प्रत्याशी अर्थात् उम्मीदवार को (विशाम्) प्रजाओं में से (एकवृषम्) एकमात्र या मुख्य सुखों की वर्षा करनेवाला (कृणु) कर। (अस्य अमित्रान्) और इनके विरोधियों का तू (निर् अक्ष्णुहि) निरास करके साम्राज्य में व्याप्त हो, (तान् सर्वान्) उन सब विरोधियों को (अस्मै) इसके लिए (रन्धय) निज वश में कर, (अहमुत्तरेषु) गुणों में मैं तुझ से उत्कृष्ट हूँ या तू, इस प्रकार के कथनों में, पारस्परिक स्पर्धाओं में।

[मन्त्र में "मे" द्वारा, दल के मुखिया ने अपने उम्मीदवार को चुनाव के लिए प्रस्तुत किया है, जैसे कि वर्तमान में राजनैतिक चुनावों में प्रथा चालू है। क्षत्रिय पद द्वारा उम्मीदवार के गुणों का कथन किया है कि यह प्रजा का त्राण कर सकता है, उनके क्षतों से। यथा "**क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः**" (कालिदास)। चुनाव सम्राट् ने करना है निज साम्राज्य के एक राष्ट्र के अधिपति 'वरुण-राजा' का। यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। "अहमुत्तरेषु" द्वारा चुनाव में प्रतिस्पर्धाओं का कथन हुआ है। निरक्ष्णुहि=निर्+**अक्षू व्याप्तौ**+श्नुः (स्वादिः)।]

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।

वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै॥ २॥

---

१. सूक्त २२ के मन्त्रों में प्रजा के किसी नेता द्वारा सम्राट् के प्रति कथन हुआ है।

अर्थ—[हे सम्राट्] (इमम्) इस निर्वाचित क्षत्रिय (मन्त्र १) को (ग्रामे) ग्राम में, (अश्वेषु, गोषु) अश्वों और गौओं में (आ भज) सर्वत्र सेवक रूप में नियुक्त कर, और (तम्) उसे (नि भज) सेवक रूप से पृथक् कर, (यः) जोकि [चुनाव में] (अस्य) इसका (अमित्रः) प्रतिद्वन्द्वी था, (अयम्) यह जोकि (क्षत्राणाम्) क्षतों से त्राण करनेवालों में (वर्ष्म) श्रेष्ठ या अतिसुखवर्षी है (राजा अस्तु) राजा हो, (इन्द्र) हे सम्राट्! (अस्मै) इसके लिए (सर्वम्) सब (शत्रुम्) प्रतिद्वन्द्वियों को (रन्धय) अपने वश में कर।

[ग्रामे=राष्ट्र में प्रत्येक ग्राम में इसे सेवकरूप में नियुक्त कर। यह केवल नगरवासियों की ही सेवा करनेवाला न हो, अपितु राष्ट्र के प्रत्येक ग्राम में प्रजाओं की सेवा करने वाला हो। आभज=आ+**भज सेवायाम्** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥ ३॥

अर्थ—(अयम् राजा) यह राजा अर्थात् राष्ट्रपति (धनानाम्) राष्ट्र के धनों का (धनपतिः) धनरक्षक या धनस्वामी (अस्तु) हो, (अयम्) यह (विशाम्) सब प्रजाओं का (विश्पतिः) स्वामी (अस्तु) हो। (इन्द्र) हे सम्राट्! (अस्मिन्) इस राजा में (महि=महान्ति, वर्चांसि) महातेजों को (धेहि) स्थापित कर, और (अस्य) इसके (शत्रुम्) प्रतिद्वन्द्वी को (अवर्चसम् कृणुहि) तू तेजोरहित कर।

[धनपतिः='दान' तथा 'कर' द्वारा प्राप्त राष्ट्रधनों का स्वामी। वर्चांसि=सैन्यवर्चस्=सैन्यबल; कोशवर्चस्; अधिकारवर्चस् आदि।]

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम्॥ ४॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) हे द्यौ तथा पृथिवी! तुम दोनों (अस्मै) इस राजा के लिए (भूरि) प्रभूत तथा (वामम्) संभजनीय या याचनीय धन का (दुहाथाम्) दोहन करो, प्रदान करो, (इव) जैसेकि (घर्मदुघे) धारोष्ण दुग्ध का दोहन करने वाली (धेनू) दो दुधार-गौएँ दूध का दोहन अर्थात् प्रदान करती हैं। (अयम्, राजा) यह राजा (इन्द्रस्य) सम्राट् का (प्रियः भूयात्) प्रिय हो, तथा (गवाम् ओषधीनाम्, पशूनाम्) गौओं, ओषधियों, और अन्य पशुओं का भी (प्रियः) प्रिय यह हो।

[अभिप्राय यह कि जैसे जड़ द्यौ तथा पृथिवी स्वयं, इस राजा के प्रति, धन प्रदान करती हैं, वैसे गौएँ, ओषधियाँ और अन्य पशु, इस राजा के साथ प्रेमबद्ध हुए इसके प्रति स्वयमेव उपस्थित होते रहें। पृथिवी तो है ही वसुन्धरा, वह राजा के लिए नानाविध वस्तुओं को प्रदान कर रही है, द्यौ भी ताप, प्रकाश, शुद्ध वायु तथा वर्षारूपी धन का प्रदान स्वयमेव इसके प्रति कर रही है। वामम्=**वन षण संभक्तौ** (भ्वादिः) तथा **वनु याचने** (तनादिः)।]

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम्॥ ५॥

अर्थ—[हे राजन्!] (उत्तरावन्तम्) अतिशय उत्कर्षवाले (इन्द्रम्) सम्राट् को (ते) तेरे लिए (युनज्मि) सहयोगी रूप में नियुक्त करता हूँ, (येन) जिसके सहयोग द्वारा (जयन्ति) तेरे सैनिक विजयी होते हैं, (न पराजयन्ते) और पराजित नहीं होते। (यः) जो सम्राट् कि (त्वा) तुझे (जनानाम्) प्रजाजनों में, (उत) तथा (मानवानाम्, राज्ञाम्) मानुष—राजाओं में, (उत्तमम्) सर्वोत्तम (एकवृषम्) तथा अकेला या मुख्य सुखवर्षी (करत्) कर देता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्त॑रस्त्वमध॑रे ते स॒पत्ना॒ ये के च॑ राज॒न्प्रति॑शत्रवस्ते।

ए॒क॒वृ॒ष इन्द्र॑सखा जिगी॒वां छ॑त्रूय॒तामा भ॑रा भोज॑नानि॥ ६॥

अर्थ—(राजन्) हे राजन्! (त्वम्) तू (उत्तरः) सर्वोत्कृष्टतर हुआ है, (ते) तेरे (सपत्नाः) शत्रु (अधरे) तेरे नीचे हुए हैं, (ये के च) जो कोई कि (ते) तेरे (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूल शत्रु हैं। (एकवृषः) अकेला या मुख्य सुखवर्षी, (इन्द्र-सखा) सम्राट् रूपी मित्रवाला, तू (जिगीवान्) विजयी हुआ है, (शत्रूयताम्) शत्रुता चाहने—करनेवालों की (भोजनानि) भोजन-सामग्रियों को (आभर) आहरण कर ले, छीन ले।

[जिगीवान्=**जि (जये)**+क्वसुः (लिट्)+, अभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम्, "**सन्लिटोर्जेः**" (अष्टा० ३.१.८)]

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सि॒ंहप्र॑तीको॒ विशो॑ अ॒द्धि सर्वा॑ व्या॒घ्रप्र॑ती॒कोव॑ बाधस्व॒ शत्रू॑न्।

ए॒क॒वृ॒ष इन्द्र॑सखा जिगी॒वां छ॑त्रूय॒तामा खि॑दा॒ भोज॑नानि॥ ७॥

अर्थ—(सिंहप्रतीकः) शेर के सदृश (सर्वाः विशः) शत्रु की सब प्रजाओं को (अद्धि) तू खा, अर्थात् उनकी सम्पत्तियों का भोग कर, (व्याघ्रप्रतीकः) भेड़िये के सदृश (शत्रून्) शत्रुओं को (अव बाधस्व) तू विलोडित कर। (एकवृषः, आदि, पूर्ववत् [मन्त्र ६], (आखिद) पूर्णतया दैन्यावस्था[1] में कर दे, या पूर्णतया नष्ट कर दे।

[आखिद=आ+**खिद (दैन्ये,** दिवादिः, रुधादिः); **खिद परिघातने** (तुदादिः)।]

सूक्त २३

ऋषिः—**मृगारः**[2]॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ॒ग्नेर्म॑न्वे प्रथ॒मस्य॒ प्रचे॑तसः॒ पाञ्च॑जन्यस्य बहु॒धा यमि॒न्धते॑।

विशो॑विशः प्रवि॒शि॒वांस॑मीमहे॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः॥ १॥

अर्थ—(प्रथमस्य) मुखिया या प्रथमकाल से विद्यमान, अर्थात् अनादि, (प्रचेतसः) प्रज्ञावान्, (पाञ्चजन्यस्य) अपत्यरूप पञ्चपञ्चकविध प्राणियों में वर्तमान, (अग्नेः) सर्वाग्रणी परमेश्वर का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ, (यम्) जिसेकि (बहुधा) बहुत प्रकार से (इन्धते) उपासक [निज हृदयों में] प्रदीप्त करते हैं। (विशोविशः) सब प्रजाओं में (प्रविशिवांसम्) प्रविष्ट हुए को (ईमहे) हम प्राप्त होते हैं, (सः)

१. अर्थात् उसपर प्रतिबन्ध लगा देना, शत्रु तक पहुँचने न देना।

२. **मृग अन्वेषणे** (चुरादिः) मृगारः=मृग+रः (मत्वर्थीयः) सत्यान्वेषी ऋषि।

वह अग्नि (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[अग्नेः=**अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४); तथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः**" (यजुः० ३२.१), द्वारा अग्नि है परमेश्वर। पाञ्चजन्यस्य=**पञ्चजनाः अपत्यनाम** (निघं० २.२); तेषु भवः पाञ्चजन्यः। सब प्राणी परमेश्वर के अपत्यरूप हैं। इन्हें पञ्चजनाः इसलिए कहा है कि ये पांच पंचकों से उत्पन्न हुए हैं, (१) प्रकृति तथा अन्तःकरण चतुष्टय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। (२) दूसरा पंचक है तन्मात्रापंचक। (३) तीसरा पंचक है, पञ्चभूत। (४) चौथा पंचक है पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ। (५) पाँचवाँ पञ्चक है पञ्च कर्मेन्द्रियाँ। ये पाँच पंचक चेतन-प्राणियों में विद्यमान हैं, जिन्हें कि अपत्य कहा है। प्रविशिवांसम्='क्वसु' प्रत्यय। ईमहे=**ईङ् गतौ,** दैवादिकः, प्राप्नुमः (सायणः)। अंहसः=परमेश्वर की उपासना से पाप से मोचन होता है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन्।
एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः॥ २॥

अर्थ—(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ! (यथा) जिस प्रकार (हव्यम्) हमारे भक्ति हव्य को (वहसि) तू प्राप्त करता है, (यथा) जिस प्रकार (प्रजानन्) जानता हुआ (यज्ञम्) हमारे उपासना यज्ञ को (कल्पयसि) तू सामर्थ्ययुक्त करता है, (एवा) इसी प्रकार (देवेभ्यः) दिव्यगुणी आचार्य आदि देवों से (नः) हमें (सुमतिम्) सुमति को (आ वह) प्राप्त करा, (सः) वह अग्नि (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

['जातवेदः' तथा 'प्रजानन्' पद द्वारा अग्नि है प्रज्ञावान् परमेश्वर, न कि भौतिक जड़ अग्नि। कल्पयसि=**कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः)। वहसि=**वह प्रापणे** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्**॥

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम्।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ३॥

अर्थ—(यामन्-यामन्) दिन और रात के प्रत्येक काल में (उपयुक्तम्) उपयोगी[1], (वहिष्ठम्) हमारे भक्तिहव्य का वहन करनेवाले, (कर्मन् कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (आ भगम्) सर्वथा भजनीय, (रक्षोहणम्) तामसिक भावों का हनन करनेवाले, (यज्ञवृधम्) यज्ञकर्म को बढ़ानेवाले, (घृताहुतम्) घृताहुति को प्राप्त करनेवाले (अग्निम्) परमेश्वराग्नि की (ईडे) मैं स्तुति करता हूँ, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पास से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[यामन्=तीन घण्टों का काल, परन्तु मन्त्र में यामन् पद केवल भिन्न-भिन्न काल का ही सूचक है। 'घृताहुतम्' पद द्वारा याज्ञिकाग्नि अभिप्रेत है। याज्ञिकाग्नि में दी गई आहुतियाँ भी परमेश्वराग्नि में ही दी गई जाननी चाहिएँ। याज्ञिकाग्नि में प्रविष्ट परमेश्वराग्नि के प्रति ही आहुतियाँ दी जाती हैं। यथा "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ**" (अथर्व० ४.३९.९)। परमेश्वराग्नि ही

१. दिन और रात के प्रत्येक काल में तथा प्रत्येक कर्म में, परमेश्वर, का विचार रखना अत्युपयोगी है। इससे पाप-कर्म करने में प्रवृत्ति नहीं होती और व्यक्ति पाप से विमुक्त हो जाता है।

पाप करने से छुड़ा सकती है, जड़ याज्ञिकाग्नि नहीं। सायणाचार्य आदि भी याज्ञिक पद्धति में, अग्नि आदि को चेतनाधिष्ठित ही मानते हैं।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्। हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ—(सुजातम्) शोभनरूप में प्रकट हुए, (जातवेदसम्) जातप्रज्ञ या उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान, (वैश्वानरम्) सब नर-नारियों के हितकारी, (विभुम्) सर्वव्यापक, (हव्यवाहम्) हमारे भक्तिहव्यों का वहन करने वाले, (अग्निम्) सर्वाग्रणी=अग्नि नामक परमेश्वर का (हवामहे) निज हृदयों में हम आह्वान करते हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[(सुजातम्) परमेश्वराग्नि जब हृदय में प्रकट होती है तब उसका स्वरूप शोभायमान होता है, अति शोभायुक्त होता है; वह विभु है, सर्वव्यापक है; अतः मन्त्र में परमेश्वराग्नि का वर्णन है।

जातवेदसम्=**"जातवेदाः, जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जातेजाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः"** (निरुक्त ७.५.१९)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ—(येन युजा) जिसके सहयोग द्वारा (ऋषयः) ऋषियों ने (बलम्) निजबल को (अद्योतयन्) चमकाया, (येन) जिसके सहयोग द्वारा (असुराणाम्) देवासुर-संग्राम में आसुरभावों की (मायाः) छल-कपट की प्रवृत्तियों को उन्होंने (अयुवन्त) निज जीवनों से पृथक् किया, (येन अग्निना) जिस अग्नि द्वारा (इन्द्रः) विशुद्धावस्था में जीवात्मा ने (पणीन्) निज दुर्व्यवहारों को (जिगाय) जीता, (सः) वह परमेश्वराग्नि (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[अयुवन्त=**यु अमिश्रणे** (अदादिः)। पणीन्=**पण व्यवहारे** (भ्वादिः); दुर्व्यवहार मन्त्र में अभिप्रेत हैं।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

येन देवा अमृतमन्वविन्दन्येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन्।
येन देवाः स्व१राभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ—(येन) जिसके सहयोग द्वारा, (देवाः) साध्यों-तथा-ऋषियों ने, (अमृतम्), अमर-परमेश्वर को (अनु अविन्दन्) सहयोग के पश्चात् प्राप्त किया, (येन) जिसके सहयोग द्वारा (देवाः) व्यवहार-कुशल व्यक्तियों ने (ओषधीः) ओषधियों को (मधुमतीः) मधुर रसवाली (अकृण्वन्) किया; (येन) जिसके सहयोग द्वारा (देवाः) दिव्य गुणियों ने (स्वः) सुखविशेष या स्वर्गलोक को (आभरन्=आहरन्) प्राप्त किया, (सः) वह परमेश्वराग्नि (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[मन्त्र ५ से 'युजा' का सम्बन्ध अभिप्रेत है। देवाः=**"साध्याः ऋषयश्च"** (यजुः० ३१.९)। परमेश्वर के सहयोग द्वारा ही व्यवहारीकृषक जल सेचन कर यव-व्रीहि आदि ओषधियों को मधुर रसवती करते हैं। अभिप्राय यह कि अध्यात्म और व्यावहारिक कार्यों में सफलता, परमेश्वर के सहयोग द्वारा ही

प्राप्त होती है। स्वः=**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः''** (यजुः० ३२.६) में अन्य लोकों के समवाय में 'स्वः' का कथन हुआ है, अतः 'स्वः' भी एक लोक ही प्रतीत होता है। ऋषि दयानन्द 'स्वः' द्वारा 'सुखविशेष' अर्थ मानते हैं। मधुमतीः=**मधु उदकनाम** (निघं० १.१२), मधुर उदक सेचन कर, ओषधियों को मधुर रसवाली करते हैं।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम्।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ—(इदम्) यह (यत्) जो (विरोचते) विविधरूपों में चमकता है, (यत् जातम्) जो [भूतकाल में] हुआ है, (च) और (जनितव्यम्) [भविष्यत् काल में] पैदा होगा, वह (यस्य) जिसके (प्रदिशि) प्रकृष्टनिर्देश में प्रकृष्ट शासन में (केवलम्) केवल है, उस (अग्निम्) परमेश्वराग्नि की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूँ, (नाथितः) उस स्वामीवाला हुआ मैं (जोहवीमि) बार-बार उसका आह्वान करता हूँ, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

सूक्त २४

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भा पुरःशक्वरी** ॥

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र का (मन्महे) हम मनन करते हैं, (शश्वत्) सदा (इत्) ही (अस्य) इसका (मन्महे) हम मनन करते हैं, (वृत्रघ्नः) वृत्रघाती [इन्द्र] के (इमे स्तोमाः) ये स्तुतिमन्त्र (मा) मुझे (उप आगुः) प्राप्त हुए हैं, (यः) जो इन्द्र (दाशुषः) दाता के (सुकृतः) सुकर्मा के, (हवम्) आह्वान को लक्ष्य करके (एति) आता है, प्रकट होता है (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[सूक्त २३ से २९ तक के सूक्तों में पाप-मोचन का वर्णन हुआ है। वृत्रघ्नः=पापघाती, इन्द्रस्य=परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के; स्तोमाः—स्तुतिमन्त्र। मा=मुझ स्तोता को। स्तोता कहता है कि ये स्तुतिमन्त्र मुझे प्राप्त हुए हैं। यद्यपि समग्र अथर्ववेद और उनके सब मन्त्र अथर्वा या अथर्वाङ्गिरस ऋषि द्वारा प्रकट हुए हैं, तो भी तद्भिन्न ऋषियों को भी काल-काल में भिन्न-भिन्न स्तुतिमन्त्र प्राप्त होते हैं, जिस कारण वे ऋषिपदवी को प्राप्त होते हैं, यह ''उप मा इमे आ अगुः'' द्वारा सूचित होता है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

अर्थ—(यः) जो [इन्द्र] (उग्रबाहुः) उग्रबाहु हुआ (उग्रीणाम्) उग्र दानव सेनाओं को (ययुः) हमसे पृथक् करता है, (यः) जिसने (दानवानाम्) दानवों के (बलम्) बल को (आरुरोज) पूर्णतया भग्न किया है, (येन) जिसने (सिन्धवः) सिन्धुओं तथा (गावः) गौओं को (जिताः) जीत लिया है, (सः) वह [इन्द्र] (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[ययुः=**''यो द्वे च''** (उणा० १.२१) द्वारा 'डुः' प्रत्ययः (सायण)। **यु अमिश्रणे** (अदादिः),

अमिश्रण=पृथक्करण। दानवानाम्=**दान खण्डने+वः** (उणा० १.१५५), नाशक काम-क्रोध आदि। (सिन्धवः=स्यन्दन करनेवाले मेघस्थ जल। **स्यन्दनशीला मेघस्थाः आपः यद्वा नद्यः समुद्रः वा** (सायण)। गावः=आपः [जल] (उणा० २.६८; दयानन्द)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।

यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो [इन्द्र] (चर्षणिप्रः) मनुष्यों की अभिलाषाओं को पूर्ण करता है, (वृषभः) सुखवर्षी, (स्वर्विद्) और स्वः [सुखविशेष] को प्राप्त हुआ है, (यस्मै) जिसके लिए (ग्रावाणः) ग्रावा (नृम्णम्) धन का (प्रवदन्ति) कथन करते हैं; (यस्य) जिसका (अध्वरः) हिंसारहित भक्तियज्ञ (सप्तहोता) सात होताओं द्वारा निष्पन्न होता है, जो (मदिष्ठः) अति हर्षकारी है (सः) वह इन्द्र (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

[चर्षणिप्रः=**चर्षणयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३),+**प्रा पूरणे** (अदादिः)। स्वः=सुखविशेष (दयानन्द)। ग्रावाणः=**गृणातेर्वा** (निरुक्त ९.१.७-८); "**विद्वांसो हि ग्रावाणः**" (शत० ३.९.३.४)। **नृम्णम्=धननाम** (निघं० २.१०); **बलनाम** (निघं० २.९)। सप्तहोतारः=सात 'होता' ऋत्विक्[१] ।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यस्य वशास ऋषभास उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वर्विदे।

यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ४॥

अर्थ—(वशासः) गौएँ, (ऋषभासः) बैल, (उक्षणः) सेचन समर्थ अर्थात् युवा बैल (यस्य) जिसके हैं, (स्वर्विदे) सुखविशेष को प्राप्त, या स्वर्लोक में विद्यमान (यस्मै) जिस इन्द्र को उद्दिष्ट करके (स्वरवः) वज्र[२] [युद्ध में] (मीयन्ते) फैंके जाते हैं [दुष्कर्मियों के विनाश के लिए], (यस्मै) जिसकी [प्राप्ति] के लिए, (ब्रह्मशुम्भितः) ब्रह्मद्वारा सुशोभित या प्रदीप्त (शुक्रः) शुक्ल चन्द्रमा (पवते) गति करता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ाए।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ।

यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ५॥

अर्थ—(सोमिनः) सोमयज्ञ करनेवाले (यस्य जुष्टिम्) जिसकी प्रीति की (कामयन्ते) कामना करते हैं, (गविष्टौ) जल प्राप्ति की इच्छा में, (इषुमन्तम्) वज्रधारी (यम्) जिस इन्द्र अर्थात् अन्तरिक्षीय विद्युत् का (हवन्ते) आह्वान करते हैं; (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) अर्चना का साधनभूत मन्त्रसमूह तथा सूर्य (शिश्रिये) आश्रय पाये हुए हैं, (यस्मिन्) जिसमें (ओजः) सब ओज आश्रय पाये हुए हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः मुञ्चतु) पाप से छुड़ाए।

---

१. भक्तियज्ञ के ७ होता=पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा जीवात्मा।

२. "**स्वर्यन्ते, उपतप्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति, स्वरुः-वज्रम्**" (उणा० १.१०। दयानन्द) तथा "**स्वरति इति स्वरुः—वज्रम्**" (दशपाद्युणादिवृत्तिः (१.९४)।

[मन्त्र ४ में 'ब्रह्म' का वर्णन हुआ है। उसी का वर्णन मन्त्र ५ में हुआ है। सोमयाजी सोमयज्ञ द्वारा उसकी प्रीति की ही कामना करते हैं। इषुमन्तम्=इन्द्र अर्थात् विद्युत् का वज्रपात तथा परमेश्वरीय न्याय द्वारा कष्टों आदि की प्राप्ति का वज्रपात। अर्कः=मन्त्रसमूह **"अर्कः मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति"** (निरुक्त ५.१.४) तथा अर्कः=सूर्यः। मन्त्र में परमेश्वर से साक्षात् पाप-मोचन की प्रार्थना की गई है। गविष्टौ=गौः=जलम् वा (उणा० २.६८; दयानन्द)+इष्टौ, **इषु इच्छायाम्** (तुदादिः); कृष्यादि की इच्छा से जल की याचना।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यः प्र॒थ॒मः कर्म॒कृत्या॑य ज॒ज्ञे यस्य॑ वी॒र्यं॑ प्रथ॒मस्या॑नु॒बुद्ध॑म्।
येनोद्य॑तो॒ वज्रो॒ऽभ्याय॑ता॒हिं॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ६ ॥

अर्थ—(यः) जो (प्रथमः) प्रथमकाल से विद्यमान अर्थात् अनादि परमेश्वर (कर्मकृत्याय) सृष्ट्युत्पत्ति आदि कर्मों के करने के लिए (जज्ञे) प्रकट हुआ, (यस्य प्रथमस्य वीर्यम्) जिस प्रथम अर्थात् आदि के बल को (अनुबुद्धम्) सृष्टि आदि की उत्पत्ति के पश्चात् जाना जाता है; (येन) जिस द्वारा (उद्यतः वज्रः) उठाया हुआ वज्र (अहिम्) मेघ या पाप-सर्प की (अभ्यायत[१]) साक्षात् हिंसा करता है, (स नो मुञ्चतु अंहसः) वह हमें पाप-सर्प से छुड़ाए।

[जज्ञे=परमेश्वर के सम्बन्ध में प्रयुक्त "जन्" पद प्रकटार्थक होता है, उत्पत्त्यर्थक नहीं, देखो (अथर्व० १३.४ (४)। ३०-३९)।]....

[अहिः=**"मेघः अहिः अयनात् एत्यन्तरिक्षे। अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च"** (निरुक्त २.५.१६)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यः सं॑ग्रा॒मान्नय॑ति॒ सं यु॒धे व॒शी यः पु॒ष्टानि॑ संसृ॒जति॑ द्व॒यानि॑।
स्तौमीन्द्रं॑ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

अर्थ—(वशी) सबको वश में रखनेवाला (यः) जो इन्द्र अर्थात् परमेश्वर (युधे) देवासुर युद्ध के लिए (संग्रामान्) देवासुर संग्रामों में (सम्) सम्यक् रूप में (नयति) हमारा नेता बनता है, (यः) और जो (द्वयानि) दोनों अर्थात् देवों और असुरों के (पुष्टानि) परिपुष्ट बलों में (संसृजति) संसर्ग पैदा करता है, उन्हें परस्पर भिड़ाता है, (नाथितः) उस स्वामीवाला मैं [देव] (इन्द्रम् स्तौमि) परमेश्वर की स्तुति करता हूँ, (जोहवीमि) और उसे बार-बार पुकारता हूँ [सहायतार्थ], (स नो मुञ्चतु अंहसः) वह हमें पापासुर से मुक्त करे।

[स्तौमि, जोहवीमि द्वारा, स्तोता और आह्वाता एक ही, सबके लिए मङ्गल कामना करता है।]

सूक्त २५

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वा॒योः स॑वि॒तुर्वि॒दथा॑नि मन्महे॒ यावा॑त्म॒न्वद्वि॒शथो॒ यौ च॒ रक्ष॑थः।
यौ विश्व॑स्य परि॒भू ब॑भू॒वथु॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ १ ॥

---

१. **अभ्यायत="अभितः सर्वतः अहिंसीत्। आङ् पूर्वात् यमेः लुङि च्लेः सिच्, अनुनासिकलोपः तथा सिच् लोपः"** (सायण)।

अर्थ—(वायोः, सवितुः) वायु-सम्बन्धी तथा सवितृ-सम्बन्धी (विदथानि) ज्ञानों का (मन्महे) हम मनन करते हैं, (यौ) जोकि तुम दो (आत्मन्वत्) सात्मक अर्थात् परमात्मावाले जगत् में (विशथः) प्रविष्ट हुए हो, (च) और (यौ) जो कि तुम दो (रक्षथः) उस जगत् की रक्षा करते हो। (यौ) जोकि तुम दो (विश्वस्य) समग्र पार्थिव जगत् के (परिभू) सब ओर (बभूवथुः) विद्यमान हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप-जन्य कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ।

[अंहसः=सामूहिक पाप तथा तज्जन्य कष्ट से। कष्ट को यक्ष्म कहा है "**अयक्ष्मतातिम्**" (मन्त्र ५)। शुद्ध वायु तथा सविता अर्थात् उदित हुए सूर्य का प्रकाश, यक्ष्मरोग के निवर्तक हैं। आत्मन्वत्[१] द्वारा दर्शाया है कि जगत् में परमात्मा व्यापक है, और उसकी सत्ता या प्रेरणा द्वारा ये दो, 'अंहः' से छुड़ाते हैं। यक्ष्मरोग पृथिवीस्थ मनुष्यों को होता है, अतः 'विश्वस्य' द्वारा समग्र पार्थिव जगत् ही अभिप्रेत है।

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**वायुसवितारौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यर्योः संख्या॑ता वरि॑मा पार्थि॑वानि॒ याभ्यां॒ रजो॑ युपि॒तम॒न्तरि॑क्षे।

ययोः॑ प्रा॒यं नान्वा॑न॒शे कश्च॒न तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥ २॥

अर्थ—(ययोः) जिन दो के (पार्थिवानि) पृथिवी सम्बन्धी (वरिमा=वरिमाणि) आच्छादक परिमाण (संख्याता=संख्यातानि) सम्यक्तया प्रकथित अर्थात् जाने गये हैं, (याभ्याम्) जिन दो द्वारा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (रजः) उदक (युपितम्) विमोहित अर्थात् मूर्च्छित अवस्था में विद्यमान रहता है; (ययोः) जिन दो के (प्रायम्) प्रकृष्ट-गमन को (कश्चन) कोई भी (न अन्वानशे) नहीं प्राप्त हुआ, (तौ) वे दो (नः) हमें (अंहसः) पापजन्य कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाएँ।

[वरिमा=उरुन्वानि, (**ऊर्णुञ् आच्छादने** (अदादिः)। **रजः=उदकम्** (निरुक्तः ४.३.१९; पद 'रजः' ३९)। संख्याता=सम्+**ख्या प्रकथने** (अदादिः)। युपितम्=**युप विमोहने** (दिवादिः)। प्रायम्=प्र+**अय गतौ** (भ्वादिः)। वायु=शुद्धवायु तथा "सविता" अर्थात् उदित सूर्य की रश्मियाँ, पवित्र करके, पापजन्य कष्टों से छुड़ाती हैं।]

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**वायुसवितारौ**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी गर्भाजगती**॥

तव॑ व्र॒ते नि वि॑शन्ते॒ जना॑स॒स्त्वय्यु॑दि॑ते॒ प्रेर॑ते चित्रभानो।

यु॒वं वा॑यो सवि॒ता च॒ भुव॑नानि रक्षथ॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥ ३॥

अर्थ—[हे सवितः!] (तव) तेरे (व्रते) नियमपूर्वक उदय होने के व्रत में (जनासः) प्रजाजन (नि विशन्ते) निजकार्यों में नियमपूर्वक प्रवेश करते हैं, प्रवृत्त होते हैं, (चित्रभानो) हे चित्र-विचित्र दीप्तिवाले! (त्वयि उदिते) तेरे उदय होने पर (प्रेरते) वे निजकार्यों में प्रेरित होते हैं; (वायो) हे वायु! तू (च) और (सविता) सविता (युवम्) तुम दोनों (भुवनानि) उत्पन्न प्राणियों की (रक्षथः) रक्षा करते हो, (तौ) वे

---

१. आत्मन्वत्=**सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्** (सायण)। इस द्वारा यह सूचित किया है कि जड़ जगत् और परमेश्वर में शरीरात्मभाव है। जगत् परमेश्वर का शरीर है, और परमेश्वर इस शरीर में आत्मरूप है। जैसे शरीर द्वारा किये काम आत्मा द्वारा किये समझे जाते हैं, और आत्मा द्वारा किये काम शरीर द्वारा किये समझे जाते हैं, वैसे इस 'अंहसः मोचन' प्रकरण में भी 'वायु-सविता' आदि द्वारा किये गये 'अंहसः मोचन' भी परमेश्वर द्वारा ही किये गये समझने चाहिएँ।

तुम दोनों (नः अंहसः मञ्चतम्) अर्थ, पूर्ववत्।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम्।

सं ह्यू३र्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ४॥

अर्थ—(वायो) हे वायु (च) और (सविता) सविता [तुम दोनों] (इतः) इस [पृथिवी] से [दुष्कृतम्] दुष्कर्म को, अप [सेधतम्] अपगत करो, दूर करो, हटाओ, (रक्षांसि) दुष्कर्मरूपी राक्षसी भावों को, (च) और (शिमिदाम्) शान्तिप्रद कर्मों के अभाव को (अप सेधतम्) अपगत करो, (हि) निश्चय से (ऊर्जया) बल और प्राणदायक ऊर्जा के साथ (सं सृजथः) हमारा संसर्ग करते हो; (बलेन) और बल के साथ (सम्) हमारा संसर्ग करते हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः अंहसः मुञ्चतम्) हमें पापजन्य कष्टों से छुड़ाओं—मुक्त करो।

[दुष्कृतम्=दुः=कृ+तम् (क्तः)। शिमिदाम्=**शिमी कर्मनाम** (निघं० २.१), तथा **शम् सुखनाम** (निघं० ३.६)। ऊर्जया=**ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७), तथा **ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)।

जब दुष्कर्म और राक्षसी भाव और शिमिदा अपगत हो गये, तो पापों से छुटकारा स्वयमेव हो गया। शिमिदा=शिमि+दाप् लवने (अदादिः), शान्ति तथा सुखप्रद कर्मों का विनाश अर्थात् अभाव। **शिमी कर्मनाम** (निघं० २.१)+दाप् लवनम्। लवनम्=छेदनम्, **लूञ् छेदने** (क्र्यादिः)।]

ऋषिः—मृगारः ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम्।

अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ५॥

अर्थ—(सविता उत वायुः) सविता तथा वायु (मे) मेरे लिए (रयिम्) धन, (पोषम्) पुष्टि, (तनू दक्षम्) शारीरिक बल, (सुशेवम्) उत्तम सुख (आ सुवताम्) प्रेरित करें; (अयक्ष्मतातिम्) यक्ष का विनाश, (महः) तेज (इह) इस शरीर में (धत्तम्) स्थापित करें, (तौ नो मुञ्चतम्, अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[आ सुवताम्=**षू प्रेरणे** (तुदादिः)। अयक्ष्मतातिम्='तातिल्' प्रत्यय, अथवा '**तनु**' **विस्तारे**।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।

अर्वाग्वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ६॥

अर्थ—(सवितः वायो) हे सविता! हे वायु! (ऊतये) रक्षा के लिए (सुमतिम्) उत्तम मति (प्र "यच्छतम्") प्रदान करो, तथा (महस्वन्तम्) ज्ञानदीप्ति प्रदान करनेवाले (मत्सरम्) तृप्तिकारक सोम [का प्रदान करके] (मादयाथः) तुम हमें हर्ष प्रदान करो, अथवा तृप्त करो। (वामस्य) वननीय तथा (प्रवतः) प्रकृष्ट धन का प्रवाह (अर्वाक्) हमारी ओर (नि यच्छतम्) नितरां प्रदान करो, (तौ नो मुञ्चतम् अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[सुमति की प्राप्ति हो जाने से पाप-कर्म नहीं होते, और पाप करने से छुटकारा हो जाता है। मत्सर

है सोम, जोकि तृप्ति करता है न कि मद। यथा "**मत्सरः सोमो मदन्तेस्तृप्तिकर्मणः**" (निरुक्त २.२.५), गौः पद की व्याख्या में। शुद्ध वायु के सेवन, तथा सविता द्वारा सुप्रकाशित गृहों में निवास से मन प्रसन्न रहता और सुमति प्राप्त होती है। सोम है वनस्पति; वनस्पतियाँ वायु से भोजन, तथा सविता द्वारा प्रकाश-ताप और जल प्राप्त कर बढ़ती हैं।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ—(देवयोः) दिव्यगुणोंवाले सविता और वायु के (धामन्) अपने-अपने स्थान में (नः) हमारे (श्रेष्ठा आशिषः) श्रेष्ठ अभीष्ट (उप अस्थिरन्) स्थिररूप में उपस्थित हैं; अतः (देवम्) दिव्यगुणी (सवितारम्, वायुम्, च) सविता और वायु की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूँ, उनके गुणों का कथन करता हूँ। (तौ नो मुञ्चतम् अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[आशिषः "**आङः शासु इच्छायाम्**" (अदादिः), अभीष्ट; अथवा आशाएँ तथा आशीर्वाद। वायु का 'धाम' अर्थात् स्थान है, अन्तरिक्ष; तथा सविता का स्थान है द्युलोक। वायु के स्थान से शुद्ध वायु हमारे श्वास-प्रश्वास का हेतु है, तथा जल और मेघ का भी। सविता के स्थान से ताप और प्रकाश, और तद्-द्वारा मेघ की प्राप्ति अन्तरिक्ष में होती, और तद्-द्वारा उदक की प्राप्ति होती है। ये हमारे अभीष्ट हैं। श्रेष्ठ अभीष्टों की प्राप्ति से पापों से छुटकारा प्राप्त होता है, यतः वे श्रेष्ठ हैं, अश्रेष्ठ अभीष्टों द्वारा पाप प्राप्त होते हैं।]

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ६

सूक्त २६

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**पुरोऽष्टिर्जगती** ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) हे द्यौ और पृथिवी! (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ, [तुम दोनों की महत्ता को मैं जानता हूँ] तुम दोनों (सचेतसौ) एकचित्त हुए (सुभोजसौ)[१] उत्तम पालक तथा उत्तम भोजन देते हो, (ये अमिता=अमितानि, योजनानि) जो तुम अपरिमित परिमाणी योजनों में (अप्रथेथाम्) फैले हुए हो, (वसूनाम्) सम्पत्तियों के (प्रतिष्ठे) प्रकर्षरूप में स्थितिस्थान (हि) ही (अभवतम्) हुए हो, (ते नो मुञ्चतम्, अंहसः) अर्थ पूर्ववत्। [भोजसौ=**भुज पालनाभ्यवहारयोः**] (रुधादिः)। मन्वे=**मनु अवबोधने**। योजनानि=योजन ४ क्रोशः; ८,९ मील (आप्टे)।]

---

१. उत्तम भोजन है सात्त्विक भोजन, इससे पापकर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। राजस और तामस भोजनों से सदा पापकर्म में प्रवृत्ति होती है। इसीलिए कहा है कि "**रजस्तमो मोपगा मा प्रमेष्ठाः।**" अथर्व० (८.२.१), अर्थात् रजस् और तमस् के समीप भी न जा और न हिंसित हो। सर्वोत्तम सात्त्विक भोजन है "दूध और ओषधियों के रस"। यथा, अथर्व० (४.२७.३; १९.३१.५)।

ऋषिः—मृगारः ॥ देवता—द्यावापृथिवी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

अर्थ—(हि) निश्चय से (वसूनाम्) सम्पत्तियों के (प्रतिष्ठे) प्रकर्षरूप में स्थिति-स्थान, (प्रवृद्धे) परिमाणों में बहुत बढ़ी हुई, (देवी) दान देनेवाली [वसुओं का दान], (सुभगे) सौभाग्यप्रद, (उरूची) सदा विस्तारवाली (अभवतम्) तुम दोनों हुईं (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, (मे) मेरे लिए (स्योने) सुखस्वरूप (भवतम्) होवें, (ते नो मुञ्चतम् अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[देवी=**देवो दानाद्वा, द्वीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा** (निरुक्त ७.४.१५)। **स्योनम् सुखनाम** (निघं० ३.६)।]

ऋषिः—मृगारः ॥ देवता—द्यावापृथिवी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

असन्तापे सुतपसौ हुवेहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ—(असन्तापे) [क्षुधा तथा पिपासा-जन्य] सन्ताप से रहित करने वाले, (सुतपसौ) उत्तम तापप्रद, तथा (उर्वी) विस्तारयुक्त, (गम्भीरे) समुद्रवत् गम्भीर या दुर्ज्ञेय, (कविभिः) कवियों द्वारा (नमस्ये) नमस्कार-योग्य, (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी का, (अहम्) मैं, (हुवे) आह्वान करता हूँ। (द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने) द्यौ और पृथिवी मेरे लिए सुख रूप हों, (ते नो अंहसः मुञ्चतम्) अर्थ, पूर्ववत्।

[नमस्ये=कवि, जड़ तत्त्वों को भी भावनावश होकर, उन्हें नमस्कार करते हैं, द्यावापृथिवी में मातृ तथा पितृ-बुद्धि से प्रेरित होकर; जैसे कि राष्ट्रिय जड़-झंडे को, राष्ट्र का प्रतीक जानकर, राष्ट्रवादी झंडे को नमस्कार करते हैं। अथवा वैदिक दृष्टि में द्यावापृथिवी, सौर जगत् तथा ब्रह्माण्ड सात्मक हैं, अतः इन प्रतीकों द्वारा इनके आत्मभूत परमेश्वर को ही नमस्कार समझना चाहिए। द्यावापृथिवी आदि महान् आत्मा परमेश्वर के शरीरवत् हैं और उसी द्वारा प्रेरित तथा चेष्टावाले हो रहे हैं, जैसेकि जीवित शरीर जीवात्मा द्वारा प्रेरित होता है। तभी कहा है कि "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७), जो आदित्य में पुरुष है वह ही मैं हूँ, अर्थात् ओ३म् खम् और ब्रह्म। वैदिक विद्वान् आदित्य में विद्यमान परमेश्वर को ही, तथा द्यावापृथिवी में विद्यमान परमेश्वर को ही नमस्कार करता है, न कि जड़ द्यावापृथिवी आदि को। कविभिः—**कविः मेधाविनाम** (निघं ३.१५)।]

ऋषिः—मृगारः ॥ देवता—द्यावापृथिवी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे द्यावापृथिवी! (ये) जो तुम दो (अमृतम्) अमृत को (बिभृथः) धारण[१] करती हो, (ये) जो तुम दो (हवींषि) हविष्यान्नों को (ये) जो तुम दो (स्रोत्याः) स्रवण करती नदियों को, (ये) जो तुम

१. जैसेकि आदित्य, परमेश्वर को धारण करता है (यजुः० ४०.१७)।

दो (मनुष्यान्) मनुष्यों को (बिभृथः) धारण करती, और पोषित करती हो, वे तुम दो (मे) मेरे लिए (स्योने) सुखप्रद (भवतम्) होओ, (ते नो मुञ्चतम्, अंहसः), अर्थ, पूर्ववत्।

[अमृतम्=अविनाशी परमेश्वर को, मोक्ष को, या जल को। **अमृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। अमृतम्=अविनाशी परमेश्वर को। इस द्वारा द्यावापृथिवी को सात्मक दर्शाया है। तथा अमृतम्=मोक्ष; जन्म-मरण से मुक्त हो जाना। हविष्यान्नों के सेवन से पाप से भी छुटकारा हो जाता है। जल-चिकित्सा भी पापजन्य रोगों से छुटकारा देती है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ये द्यावापृथिवी) जो तुम हे द्यौ और पृथिवी! (उस्रियाः) रश्मिवालों [चन्द्र, नक्षत्र-ताराओं] को, तथा (ये वनस्पतीन्) जो वनस्पतियों को (बिभृथः) धारित-पोषित करती हो, अथवा (ययोः, वां, अन्तः) जिन दो के भीतर (विश्वा भुवनानि) सब भुवन हैं; वे तुम (मे) मेरे लिए (स्योने) सुखप्रद (भवतम्) होओ, (ते नो मुञ्चतम्, अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[उस्राः=रश्मियाँ, उस्रियाः=रश्मिवाले। अंहसः=अन्धकार और क्षुधारूपी पाप से। वनस्पतियों और रश्मियों का परस्पर सम्बन्ध है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ—(ये) जो तुम दो (कीलालेन) अन्न द्वारा (तर्पयथः) तृप्त करते हो, (ये) जो (घृतेन) घृत द्वारा तृप्त करते हो, (याभ्याम्, ऋते) जिन दो के बिना (किम् चन) कुछ भी (न शक्नुवन्ति) नहीं कर सकते, वे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (मे) मेरे लिए (स्योने भवतम्) सुखप्रद होवें। (ते, नो, मुञ्चतम् अंहसः) अर्थ पूर्ववत्।

[**कीलालम् अन्ननाम** (निघं० २.७)। **कील बन्धने** (भ्वादिः)+**अलम् पर्याप्तम्** (भ्वादिः), जो शरीर और शरीरावयवों को जीवात्मा के साथ बाँधे रखने में पर्याप्त हो, वह अन्न। घृतम्=जल भी; "**घृतम् उदकनाम**" (निघं० १.१२)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भा मध्येज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात्।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ—(यत्, इदम्) जो यह पाप (मा) मुझे (अभिशोचति) साक्षात् शोकाविष्ट करता है, (येन येन वा) अथवा जिस-जिस भी पाप द्वारा मैं शोकाविष्ट होता हूँ, जो पाप कि (पौरुषेयात्) पुरुष की शक्ति से, (न) इसी प्रकार, (दैवात्) दिव्यतत्त्व की शक्ति से प्रेरित हुआ (कृतम्) किया गया है; तदपनोदार्थ (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूँ। इनके सद्गुणों का कथन करता हूँ और (नाथितः) परमेश्वर को निज स्वामी मानता हुआ (जोहवीमि) उसका बार-बार आह्वान करता हूँ, (ते

नो मुञ्चतम् अंहसः)—अर्थ, पूर्ववत्।

[व्यक्ति, किये पाप द्वारा जब वस्तुतः शोकाविष्ट होता है, और मानुषसुलभ निर्बलता से या किसी प्रबल शक्ति से प्रेरित हुआ यदि बार-बार पाप करता है, तो वह बार-बार निज स्वामी परमेश्वर से बल की प्रार्थना करे जिसने कि द्यौ और पृथिवी को निष्पाप रचा है, जिसके रचे इन दोनों में पाप का लेश भी नहीं, जिनके वासी पुरुष ही पापकर्मों द्वारा इनके साथ पाप का सम्पर्क करते रहते हैं। ऐसी भावनाएँ पाप को मिटा देती हैं, और फिर पाप में प्रेरित नहीं होने देतीं। वस्तुतः अभिप्राय यह है कि "स्वभावतः पापरहित द्यौ-पृथिवी में रहता हुआ मैं भी, आप नाथ की कृपा से, पापरहित हो जाऊँ"। न=उपमार्थे[१]।]

सूक्त २७

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १॥

अर्थ—(मरुताम्) मानसून वायुओं का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ, या उनके माहात्म्य को मैं जानता हूँ, (मे) मुझे (अधि ब्रुवन्तु) वे निज सत्ता या विद्यमानता का कथन करें, उसे सूचित करें, (इमम्) इस (वाजम्) अन्न को (वाजसाते) अन्न प्रदान के काल अर्थात् वर्षर्तु में (प्रावन्तु) वे सुरक्षित करें, या अन्नदान करें; (ऊतये) निज रक्षार्थ (आशून्, इव, सुयमान्) शीघ्रगामी अश्वों की तरह मानसून वायुओं का (अह्वे) मैं आह्वान करता हूँ, या मैंने आह्वान किया है, (ते, नो, मुञ्चन्तु, अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[**वाजः अन्ननाम** (निघं० २.७)। अवन्तु=अव रक्षा, तथा दान (भ्वादिः)। अधिब्रुवन्तु=मानसून वायुओं के तेज-प्रवाहों, तथा मेघगर्जनों को अधिब्रुवन्तु कहा है। ये वर्षा ऋतु के सूचक हैं। मन्त्रवर्णन द्वारा यह भी स्पष्ट है कि जैसे अश्वों की गतियों को यथेष्ट नियन्त्रित किया जा सकता है वैसे मानसून वायुओं की गतियों को भी यथेष्ट नियन्त्रित किया जो सकता है। पाप से मोचन का अभिप्राय है अत्यधिक या कम वर्षा द्वारा=अन्न-क्षतिरूप पाप-फल से मोचन। अति तथा कम वर्षा प्रजा के पापों के ही परिणाम हैं।]

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २॥

अर्थ—(ये) जो मानसून वायुएँ (सदा) सर्वदा (अक्षितम्) अक्षीण (उत्सम्) जल-स्रोत का (व्यचन्ति) विस्तार करती हैं, (ये) जो (ओषधीषु) ओषधियों में (रसम्) रस को (आ सिञ्चन्ति) सर्वत्र सींचती हैं, (पृश्निमातॄन्) नाना वर्णों वाली पृथिवी की जो मातृरूप हैं, उन (मरुतः) मानसून वायुओं को (पुरोदधे) मैं अपने संमुख, सामने, लक्ष्यरूप में धारण करता हूँ, स्थापित करता हूँ, (ते, नो, मुञ्चन्तु, अंहसः) अर्थ, पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[उत्सम्=**उन्दतीति उत्सः** (उणा० दशपादिवृत्तिः ९.२८), अर्थात् जल-प्रस्रवण स्थान। ये हैं नदियाँ, तथा सदा स्रावी स्रोत। पृश्निः=भूमिः; सायण, (ऋ० भाष्य १.२३.१०) मानसून वायुएँ पृथिवी के लिए, मातृरूप में उसे उदक-दुग्ध पिलाती हैं, जिससे पृथिवी की नदियाँ तथा स्रोत प्रस्रवित होते रहते हैं, अथवा

१. अथवा "पौरुषेयात्, न कि दैवात्"।

''पृश्नि'', अर्थात् भूमि मानसून वायुओं की मातृरूप है। मानसून वायुओं की उत्पत्ति पार्थिव जल-समुद्रों से ही होती है। 'मुञ्चन्तु' अभिप्राय मन्त्र १वत्। पुरोदधे=मैं वैज्ञानिक सदा ध्यान में रखता हूँ कि मानसून वायुएँ अत्यधिक या अत्यल्प न हों, अपितु यथोचित मात्रा में ही हों। देखो मन्त्र १ की व्याख्या।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ३॥

अर्थ—हे मानसून वायुओ! (ये) जो (कवयः) शब्दायमान तुम (धेनूनाम्, पयः) दुधार गौओं के दूध को, (ओषधीनाम्, रसम्) ओषधियों के रस को, (अर्वताम्, जवम्) अश्वों के वेग को (इन्वथ) उनमें व्याप्त करते हो; (मरुतः) वे मानसून वायुएँ (नः) हमें (शग्माः) शान्ति पहुँचाने वाली तथा (स्योनाः) सुखकारी (भवन्तु) हों, (ते, नः, मुञ्चन्तु, अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[कवयः=**कुङ् शब्दे** (भ्वादिः) शीघ्र प्रवाही मानसून वायुएँ स्वयं भी शब्द करतीं, तथा मेघरूप में स्थित हुईं गर्जनाएँ भी करती हैं; और वर्षा द्वारा घास-चारा के सेवन से गौओं में दूध, ओषधियों में रस, तथा अश्वों में वेग भी पैदा होते हैं। इन्वथ=इवि व्याप्तौ (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ४॥

अर्थ—(समुद्रात्) समुद्र से (अपः) जल को (दिवम्) द्युलोक की ओर (उद् वहन्ति) ऊपर को प्रवाहित करती हैं, (दिवः) और द्युलोक से (पृथिवीम्, अभि) पृथिवी की ओर (ये) जो (सृजन्ति) जल को विसर्जित करती हैं; (ये अद्भिः) जो जल द्वारा (ईशानाः) ऐश्वर्ययुक्त हुईं (मरुतः) मानसून वायुएँ (चरन्ति) गतियाँ करती हैं, (ते, नो मुञ्चन्तु, अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[मन्त्र में मरुतः मानसून वायुएँ अभिप्रेत हैं, यह स्पष्ट है। मरुतों द्वारा अन्न उत्पन्न होता, और तद्-द्वारा पापजन्य क्षुधा का मोचन होता है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ५॥

अर्थ—(ये) जो मानसून वायुएँ (कीलालेन) अन्न द्वारा (तर्पयन्ति) तृप्त करती हैं, (ये) जो (घृतेन) घृत या जल द्वारा [तृप्त करती हैं], (वा) अथवा (ये) जो (वयः) अन्न को (मेदसा) स्नेहनतत्त्व के साथ (संसृजन्ति) सम्पृक्त करती हैं; (ये) जो (अद्भिः) जल द्वारा (ईशानाः) ऐश्वर्ययुक्त हुईं (मरुतः) मानसून वायुएँ (वर्षयन्ति) वर्षा करती हैं, (ते, नो, मुञ्चन्तु अंहसः) अर्थ, पूर्ववत्।

[**कीलालम्=अन्ननाम** (निघं० २.७) **घृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२); घृतम्=आज्य, घी, (प्रसिद्ध) **वयः अन्ननाम** (निघं० २.७)। मेदसा=मेदस् अर्थात् स्नेहनतत्त्व, यथा तिलों में तैल, सरसों के बीजों में तैल आदि। ईशानाः=**ईश ऐश्वर्ये** (अदादिः)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार।

यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ—(मरुतः) हे मानसून वायुओ! (यदि) यदि (इदम्) यह अनुभूयमान दुःख (मारुतेन, इत्) मरुतों-जन्य ही है, (देवाः) हे अन्य देवो! (यदि) यदि (ईदृक्) इस प्रकार का दुःख (दैव्येन) आप देवों द्वारा (आर) प्राप्त हुआ है, तो (यूयम्) हे मरुतो और देवो! तुम ही (वसवः) हे बसाने वालो! (तस्य) उस दुःख के (निष्कृते) परिहार के (ईशिध्वे) अधीश्वर हो। शेष पूर्ववत्।

[आर=प्राप, **ऋ गतौ** लिट् (सायण)। मरुतों द्वारा दुःख प्राप्त होता है अतिवर्षा द्वारा तथा वर्षा के अभाव द्वारा। अन्य देव हैं वायु, विद्युत्, सूर्य आदि। प्रचण्ड वायु, मलिन वायु, विद्युत्प्रपात, सूर्य की अति गर्मी, भूचाल आदि अन्य देवों के प्रकोप के परिणाम हैं। इन्हीं को विज्ञान द्वारा व्यवस्थित करने से एतज्जन्य दुःखों से छुटकारा प्राप्त होता है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम्।

स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ—(पृतनासु) संग्रामों में (विदितम्) प्रख्यात (अनीकम्[1]) सैन्य (शर्धः) बल के सदृश, (मारुतम्) मानसून वायुओं का (शर्धः) बल (तिग्मम्) तीक्ष्ण (सहस्वत्) पराभववाला, (उग्रम्) तथा उग्र होता है; (नाथितः) परमेश्वररूपी स्वामीवाला मैं (मरुतः) मानसून वायुओं की (स्तौमि) स्तुति करता हूँ, उनके गुणों का कथन करता हूँ, (जोहवीमि) और परमेश्वर का बार-बार आह्वान करता हूँ [ताकि उसकी कृपा से], (ते) वे मरुतः (नः) हमें (अंहसः) पापजन्य दुःखों और कष्टों से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें। दुःख, कष्ट (देखो मन्त्र ६ की व्याख्या)।

सूक्त २८

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भाभुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते।

यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

अर्थ—(भवाशर्वौ) हे सृष्टिकर्त्तः! तथा प्रलयकर्तः! (वाम् मन्वे) तुम दोनों का मैं मनन करता हूँ, (तस्य वित्तम्) उसे तुम दोनों जानो, (ययोः वाम्) जिन तुम दोनों के (प्रदिशि) प्रकृष्ट निर्देश में, प्रशासन में है (इदम्) यह, (यत्) जोकि (विरोचते) विविध रूपों में चमकता है। (यौ) जो तुम दो (अस्य द्विपदः) इस दो-पाये जगत् के (ईशाथे) अधीश्वर हो, (यौ) जो तुम दो (चतुष्पदः) चौ-पाये जगत् के अधीश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[भवाशर्वौ=ये दोनों नाम एक ही परमेश्वर के हैं। वह सृष्टि का उत्पादक है, अतः भव है, "**भवति उत्पद्यते अस्मात् सर्व जगत् इति भवः**" (सायण)। वह प्रलय का कर्त्ता है, अतः शर्व है, "**शृणाति**

---

१. **सैन्यम् वा** (उणा० ४.१८); दयानन्द।

हिनस्ति सर्वम् अन्तकाले इति शर्वः'' (सायण)। वस्तुतः समग्र प्राकृतिक जगत् में क्षण-क्षण में उत्पत्ति और विनाशरूपी परिणाम हो रहे हैं, इसीलिए भी परमेश्वर भव और शर्व है। उत्पत्ति और विनाश, इन दो गुणोंवाला एक ही परमेश्वर है। भवाशर्वौ में द्विवचन दो गुणों की दृष्टि से है। भव और शर्वनामी परमेश्वर, साक्षात्, पाप से मुक्त कर सकता है, इसके लिए सदा उसका मनन करना चाहिए।]

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**भवाशर्वौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यर्योरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदितार्विषुभृतामसिष्ठौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ २॥

अर्थ—(अभ्यध्वे) अभिमुख के मार्ग में, अर्थात् समीप में, (उत) तथा (यद्, दूरे, चित्) जो दूर में भी है वह, (ययोः) जिन दो भव और शर्व का है, (यौ) जो दो (इषुभृताम्) इषुधारियों में (असिष्ठौ) इषुओं के फैंकने अर्थात् चलाने में सर्वश्रेष्ठ (विदितौ[1]) जाने गये हैं। (यौ) तथा जो तुम दोनों (अस्य द्विपदः) इस दो-पाए जगत् के, (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौ-पाए जगत् के (ईशाथे) अधीश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[भव और शर्व, दो गुणों से विशिष्ट एक ही है, परमेश्वर। असिष्ठौ=**असु क्षेपणे** (दिवादिः)+इष्ठन्।]

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**भवाशर्वौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ३॥

अर्थ—(सहस्राक्षौ) हजारों आँखोंवाले अर्थात् सर्वद्रष्टा, (वृत्रहणा) पापवृत्रों का हनन करनेवाले, (दूरे) दूर तक (गव्यूती) ऐन्द्रियिक विषयों तथा इन्द्रियों की गतियों का विस्तार करनेवाले, (उग्रौ) कर्मफल प्रदान में उग्ररूप, [भव और शर्व] का (अहम्) मैं (हुवे) आह्वान करता हूँ, और (स्तुवन्) भव तथा शर्व की स्तुति करता हुआ (एमि) आता-जाता हूँ,। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये, (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौ-पाये जगत् के (ईशाथे) अधीश्वर हो, इनका शासन करते हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[गव्यूती=प्रथमा विभक्ति का द्विवचनान्त रूप। अन्यत्र ''गव्यूतिः'' पद पठित है (अथर्व० १६.३.६; १८.१.५०)। गव्यूतिः=गो [गावः इन्द्रियाणि]+ऊतिः [**वेञ्[2] तन्तुसन्ताने,** भ्वादिः] सन्तान अर्थात् विस्तार अर्थ अभिप्रेत है। अतः गव्यूतिः=ऐन्द्रियिक विषयों का विस्तार; गव्यूती=ऐन्द्रियिक विषयों का विस्तार करनेवाले भव और शर्व। ऐन्द्रियिक विषयों का विस्तार किया है हमारे जीवनों के लिए, नकि उनमें लिप्त होकर पाप-कर्म करने के लिए।]

---

१. परमेश्वर का इषु तो सर्वसंहारी है, यह विदित है, यह जाना गया है।

२. ऊतिः=weaving, sewing (आप्टे) अतः ''**वेञ् तन्तुसन्ताने**''। अथवा गतिः ''**अव रक्षण-गतिकान्ति०**'' आदि (भ्वादिः)। 'गव्यूती' में 'वेञ्-और-अव' दोनों के अर्थ दिए हैं। गव्यूतिः का प्रसिद्धार्थ है ''एक क्रोश अर्थात् दो मील'' (आप्टे), इस अर्थ में प्रवृत्ति निमित्त है सम्भवतः हृष्ट-पुष्ट बैल के गर्जन के श्रवण की अवधि। गो+अव (श्रवणे) भ्वादिः।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यावा॑रे॒भाथे॑ ब॒हु सा॒कमग्रे॒ प्र चेदस्त्रा॒ष्ट्रम॒भि॒भां जने॑षु।

याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे भव और शर्व! (यौ) जिन तुम दो ने, (अग्रे) सृष्ट्यारम्भ में, (साकम्) एक साथ (बहु) बहुतों का (आरेभाथे) प्रारम्भ किया, निर्माण किया, (च) और (जनेषु) प्रजाजनों में (अभिभाम्) ज्ञानदीप्ति का (इत्) भी (प्र अस्राष्ट्रम्) प्रकर्षरूप में सर्जन किया, (यौ) जो तुम दो (अस्य) इस (द्विपदः) दो-पाये जगत् के (यौ) जो तुम दो (चतुष्पदः) चौ-पाये जगत् के (ईशाथे) अधीश्वर हो, इनका शासन करते हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पापों से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[सृष्टि के प्रारम्भ में बहुत पदार्थ एक साथ पैदा हुए, और मानुष प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर उन्हें वेदरूपी ज्ञान प्रकाश भी दिया गया। प्रारम्भ में प्रकृति की साम्यावस्था का विनाश तो 'शर्व' द्वारा हुआ, तत्पश्चात् सृष्टि का प्रारम्भ 'भव' द्वारा हुआ। भव और शर्व एक ही परमेश्वर के दो स्वरूप हैं। दो स्वरूपों को दर्शाने के लिए 'भवशर्वौ' में द्विवचनान्त का प्रयोग हुआ है। दोनों स्वरूपों द्वारा अभिधेय एक परमेश्वर ही है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ययो॑र्व॒धान्नाप॒पद्य॑ते कश्च॒नान्तर्दे॒वेषू॒त मानु॑षेषु।

याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ययोः) जिन दो के (वधात्) वध से (देवेषु अन्तः) देवों के मध्य में (उत) तथा (मानुषेषु) मनुष्यों के मध्य में (कः च) कोई भी (न) नहीं (अपपद्यते) अपगत होता, (यौ) जो दो कि (अस्य द्विपदः) इस दो-पाये जगत् के, (यौ) जो दो कि (चतुष्पदः) चौ-पाये जगत् के (ईशाथे) तुम अधीश्वर हो, इनका शासन करते हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) पापों से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[अपपद्यते=अप+**पद गतौ** (दिवादिः), अपगत होना, छूटना। वधात्=पापकर्मों का दण्डरूप वध, मृत्यु। 'देव' का अभिप्राय है "विद्यादि गुणों से सम्पन्न", तथा 'मनुष्य' से अभिप्रेत है 'मनु के अपत्य' तथा केवल 'मननशील'। पशुओं में मनन नहीं होता। यह मनुष्यों तथा पशुओं में भेद है।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यः कृ॒त्या॒कृन्मू॑ल॒कृद्या॑तु॒धानो॒ नि तस्मि॑न्धत्तं॒ वज्र॑मुग्रौ।

याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ६ ॥

अर्थ—(यः यातुधानः) जो यातनाओं का धारण-पोषण करनेवाला शत्रु, (कृत्याकृत्) हिंस्रसेना[1]

१. अथवा 'शत्रु' हैं, कामादि तथा उस-उसका वर्ग। काम, क्रोध आदि के अलग-अलग अर्थात् तत्तज्जन्य आसुर-भाव हैं, जोकि उस-उस वर्ग के अङ्गरूप हैं। इन वर्गीय आसुर भावों को सम्भवतः सेनारूप में वर्णित किया है, जोकि मनुष्यों का कर्तन करता है, उन्हें सदा काटता रहता है। यह वर्ग आबालवृद्धों और युवाओं का समान शत्रु है। इसके निवारणार्थ भव और शर्व रूपों वाले परमेश्वर का स्तवन कहा है। वह ही व्यक्ति एतदर्थ स्तवन कर सकता है जोकि परमेश्वर को निज स्वामी मानता है, और उस द्वारा दर्शाए जीवन-मार्ग को अपना लेता है। काम का वर्ग=काम के सहकारियों तथा उद्दीपकों का वर्ग। यथा "**इषुःकामस्य या भीमा तथा विध्यामि त्वा हृदि**" आदि (मन्त्र १);

द्वारा हमारा कर्तन करता है, (मूलकृत्) वंश के मूलभूत, जड़रूप, हमारे पुत्रों का कर्तन करता है, (तस्मिन्)। [उसके वध के लिए] उसमें (उग्रौ) उग्र तुम दोनों [भव और शर्व], (वज्रम्) वज्र (निधत्ताम्) नितरां स्थापित करो, या उस पर फेंको। ('यावस्य' आदि) अर्थ, पूर्ववत्।

ऋषिः—मृगारः॥ देवता—भवाशर्वौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ७॥

अर्थ—(पृतनासु) देवासुर संग्रामों में (उग्रौ) उग्ररूप [भव और शर्व], (नः) हमें (अधिब्रूतम्) कहें अर्थात् जतलाएँ (यः) जोकि (किमीदी) किमीदी-असुर है, [अब क्या पाप करूँ—जो निज से पूछता है] (वज्रेण) वज्र के साथ (सं सृजतम्) उसका संसर्ग करो। (नाथितः) तुझ परमेश्वर को अपना स्वामी मानता हुआ, (भवाशर्वौ) तेरे भव और शर्वरूपों की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूँ, (जोहवीमि) और बार-बार उनका आह्वान करता हूँ, (तौ) वे दोनों रूप (नः) हम सबको (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करें, छुड़ाएँ।

[अधिब्रूतम्=परमेश्वर का स्तोता स्वयं नहीं जान रहा कि देवासुर संग्राम में किस समय, किस पापी असुर ने, उसे आ घेरना है, इसलिए परमेश्वर से उसका पूर्व ज्ञान वह चाहता है, ताकि उसके साथ संघर्ष के लिए सन्नद्ध हो सके। संग्राम दो प्रकार के होते हैं आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। मन्त्र ६ में तो आधिभौतिक शत्रुओं का कथन हुआ है, और मन्त्र ७ में आध्यात्मिक शत्रुओं का।]

सूक्त २९

ऋषिः—मृगारः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

अर्थ—(ऋतावृधौ) सत्य के वर्धक, (सचेतसौ) सचेत अर्थात् सावधान रहनेवाले, अथवा एक चित्तवाले (मित्रावरुणौ) हे स्नेही-तथा-शत्रुनिवारक! (वाम्) तुम दोनों को (मन्वे) मैं राजा जानता हूँ, (यौ) जो तुम दो कि (द्रुह्वणः) राष्ट्र-द्रोही को (नुदेथे) राष्ट्र से धकेल देते हो; तथा (सत्यावानम्) सत्याचरणवाले की (प्र अवथः) प्रकर्ष रूप में रक्षा करते हो। (भरेषु) युद्धों में अथवा भरण-पोषण में, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हम सबको (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, या छुड़ाओ।

[मित्रावरुणौ=राष्ट्र के साथ स्नेह करनेवाला प्रधानमन्त्री "**ञिमिदा स्नेहने** (भ्वादिः, दिवादिः), **मिदि स्नेहने** (चुरादिः); तथा शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष।" वरुणः=निवारकः। राजा इन दोनों को कहता है कि तुम दोनों को मैं जानता हूँ कि तुम दोनों प्रजाजनों के साथ स्नेह करनेवाले हो, और शत्रु के निवारण में कुशल हो। राष्ट्रद्रोही को राष्ट्र से निकाल देना चाहिए, और सत्याचारी की सर्वदा रक्षा करनी चाहिए। शासन का मुख्य उद्देश्य है राष्ट्रिय प्रजाजन को पापों से मुक्त करना। मन्वे=**मनु अवबोधने** (तनादिः)। सत्यावानम्=सत्यवन्तम् (सायण)।]

(अथर्व० ३.२५.१-६)। "वर्ग" यथा "**दश काम-समुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च। व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्।**" [सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ६; मनु० ७.४५]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

अर्थ—(यौ) जो दो तुम (सचेतसौ) सचेत अर्थात् सावधान रहनेवाले [राष्ट्रकार्यों में], अथवा एकचित्तवाले अर्थात् परस्पर मिलकर, (द्रुह्वणः) राष्ट्रद्रोही को (नुदेथे) राष्ट्र से धकेल देते हो, निकाल देते हो, और (भरेषु) युद्धों में, या भरण-पोषण में, अथवा परस्पर के विवादों में (सत्यावानम्) सत्याचारी की (प्र अवथः) प्रकर्षरूप में रक्षा करते हो; तथा (नृचक्षसौ) राष्ट्र के प्रजाजनों पर सदा दृष्टि रखते हो, और (बभ्रुणा) राष्ट्र का भरण-पोषण करनेवाले के द्वारा (सुतम्) अभिषुत सोमयज्ञ में, अथवा नवोत्पादित उद्योग में (गच्छथः) जाते हो, शामिल होते हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हम सबको (अंहसः) पापकर्म से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, या छुड़ाओ।

[अंहसः मुञ्चतम्=पाप करने से मुक्त करो।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम्।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ—(मित्रावरुणा) हे मित्र! [प्रधानमन्त्री, मन्त्र १] तथा हे वरुण! [शत्रुनिवारक सेनाध्यक्ष] (यौ) जो तुम दो (अङ्गिरसम्) राष्ट्र के लिए प्राणरूप व्यक्ति की (अवथः) रक्षा करते हो, (यौ) जो तुम दो (अगस्तिम्) पाप का निरसन करनेवाले की, (जमदग्निम्) प्रज्वलित यज्ञाग्निवाले की, (अत्रिम्[1]) खा-पीकर निज त्राण अर्थात् पालन करनेवाले की [रक्षा करते हो], (यौ) जो तुम दो (कश्यपम्) सत्यद्रष्टा की (अवथः) रक्षा करते हो, (यौ) जो तुम दो (वसिष्ठम्) वसुसम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्ति की [रक्षा करते हो], (तौ) वे तुम दो (नः) हम सबको (अंहसः) पापकर्म से [मुञ्चतम्] मुक्त करो, छुड़ाओ।

[अङ्गिरसम्=**अङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः** (बृहद् उप० १.३.१९), राष्ट्र के लिए प्राणभूत व्यक्ति। अगस्तिम्=अग (आगः, पापम्) अस्यति, प्रक्षिपति अर्थात् पाप को निरस्त करनेवाला, अथवा "**अगं वृक्षमस्यत्युत्पाटयतीति**" (उणा० ४.१८१; दयानन्द) अर्थात् शूरवीर। जमदग्निम्=जमदग्नयः प्रज्वलिताग्नयः (निरुक्त ७.७.२४)। अत्रिम्[1]=**अद भक्षणे** (अदादिः)+**त्रैङ् पालने,** (भ्वादिः)। कश्यपम्=पश्यतीति (सायण,) "**कश्यपः पश्यको भवति**" (तै० आ० १.८.८)। वसिष्ठम्=**वसुमत्तमम्** (सायण)।]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम्।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ—(मित्रावरुणा) हे मित्र! और हे वरुण! (यौ) जो तुम दो (श्यावाश्वम्) श्यावाश्व को, (वध्र्यश्वम्) क्लीबाश्व को, (पुरुमीढम्) बहुधनी को, (अत्रिम्) अत्रि को [मन्त्र ३] (अवथः) सुरक्षित करते हो; (यौ) जो तुम दो (विमदम्) मादकद्रव्यों के सेवन से रहित को, (सप्तवध्रिम्) सातों

१. अर्थात् सामान्य प्रजाजन, जो कि अन्न खाकर आत्मरक्षा करता है और शासन-विरोधी आचरण नहीं करता।

शक्तियों से क्लीब को (अवथः) सुरक्षित करते हो, (तौ) वे तुम दो (नः) हम सबको (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[श्यावाश्वम्=श्यामल अथवा शीघ्रगतिक अश्वोंवाला सैन्यवर्ग। श्यामल अर्थात् नातिकृष्ण वर्णवाला, अथवा "**श्यैङ् गतौ**" (अदादिः), अतिवेगी अश्वोंवाला सैन्यवर्ग। वध्रि=क्लीब। अश्व=इन्द्रियाँ, यथा "**इन्द्रियाणि हयानाहुः**" (कठ० ३.४)। पुरुमीढम्+पुरु अर्थात् अधिक, बहुत+"**मीढम् धननाम**" (निघं० २.१०)। अथवा पुरुम् ईडते इति; बहुधनी परमेश्वर का स्तोता। विमदम्=विगतमदम्। सप्तवध्रिम्=साम शक्तियों से क्लीब। सात शक्तियाँ, यथा "**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्; सप्त खानि शीर्षणि**" (अथर्व० १०.२.६)। वध्रि होना पाप का परिणाम है, अंहः का परिणाम है। 'श्यावाश्व' आदि की रक्षा के साथ-साथ, क्लीबों[1] की रक्षा करना भी राष्ट्र का कर्त्तव्य है—यह दर्शाया है।]

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम्।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ५॥

अर्थ—(यौ) जो तुम दो (वरुण मित्र) हे वरुण! और हे मित्र! (भरद्वाजम्) भरण-पोषणकारी अन्न या बलवाले की, (यौ) जो तुम दो (गविष्ठिरम्) वेदात्मिका वाक् में स्थिरमतिवाले की, (विश्वामित्रम्) सबके मित्रभूत की, (कुत्सम्) कुत्स या कुत्सित व्यक्ति की, (अवथः) रक्षा करते हो; (यौ) जो तुम दो (कक्षीवन्तम्) बाहुमूल बलवाले की, अथवा जिसने अपनी कमर कसी हुई है उसकी, (उत) तथा (कण्वम्) मेधावी की (प्र अवथः) प्रकर्ष रूप में रक्षा करते हो, (तौ) वे तुम दो, (नः) हम सबको (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[भरद्वाजम्=भरत् (**डुभृञ् धारणपोषणयोः**) जुहोत्यादिः; **भृञ् भरणे** (भ्वादिः)+**वाजः अन्नम्, बलं वा** (निघं० २.७; २.९)। गविष्ठिरम्=**गवि वाचि वेदात्मिकायां स्थिरः** (सायण)। कुत्सम्=कुत्स अथवा कुत्सित व्यक्ति। कक्षीवन्तम्=**कक्षः बाहुमूलम्** (उणा० ३.६२, दयानन्द); अथवा "**कक्ष्या रज्जुरश्वस्य**" (निरुक्त २.१.२), **कक्षयोर्भवा। कण्वः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। कुत्सम्=राष्ट्र में कुत्सित व्यक्ति की भी रक्षा करना वरुण और मित्र का कर्त्तव्य है, यह राष्ट्र-धर्म है।

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ ६॥

अर्थ—(मित्रावरुणौ) हे मित्र! और हे वरुण! (यौ) जो तुम दो (मेधातिथिम्) मेधावी-अतिथियोंवाले की, (यौ) जो तुम दो (त्रिशोकम्) त्रिविध शोकवाले की, (उशनाम्) कान्तिमती महिला की, (यौ) जो तुम दो (काव्यम्) वेदकाव्य के विद्वान्[2] की (अवथः) रक्षा करते हो, (यौ) जो तुम दो (गोतमम्)

---

१. क्लीबः (यजुः० ३०.२२)। क्लीब प्राजापत्य हैं, प्रजापति द्वारा रक्षणीय हैं।

२. विद्वान् अर्थात् द्रष्टा। यथा "**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**" (अथर्व० १०.८.३२)। वेद में काव्य के द्रष्टा को 'काव्य' कहा है। इस द्रष्टा को 'पश्य' द्वारा निर्दिष्ट किया है। यह द्रष्टा है ऋषि; वेद काव्य है। इसका द्रष्टा ऋषि होकर न मरता है, न बूढ़ा होता है। मुक्त हो जाने से पुनर्जन्म नहीं प्राप्त होता। जब शरीर ही न मिला तो उसका मरना और जीर्ण होना सम्भव ही नहीं हो सकता।

पृथिवी में सर्वश्रेष्ठ की, (उत) तथा (मुद्‌गलम्) सांसारिक मोदप्रमोद को खा जानेवाले, नष्ट कर देनेवाले की (प्र अवथ:) प्रकर्षरूप में रक्षा करते हो (तौ) वे तुम दो (न:) हम सबको (अंहस:) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[त्रिशोकम्=सांसारिक जीवन में दु:ख त्रिविध हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक; जो इन त्रिविध दु:खों से दु:खित हुआ, शोकग्रस्त होकर, सांसारिक जीवन से उपरत हो गया है वह है 'त्रिशोक'। उशनाम्=**वश कान्तौ** (अदादि:), कान्तिमती कमनीया कन्या। काव्यम्=वेदकाव्य का स्वाध्यायी विद्वान्; '**अर्शआदिभ्योऽच्**' (अष्टा० ५.२.१२७)। गोतमम्=**गौ: पृथिवीनाम** (निघं० १.१)+तमप्। मुद्‌गलम्= सांसारिक मोदप्रमोदों को विवेक=ज्ञानपूर्वक त्याग देनेवाला। उशनाम्=राष्ट्र की कन्याओं की भी रक्षा करना मित्र और वरुण का कर्त्तव्य है, यह राष्ट्र-धर्म है।]

ऋषि:—**मृगार:**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्द:—**शक्वरीगर्भाऽतिजगती**॥

ययो॒ रथ॑: स॒त्यव॑र्त्म॒र्जुर॑श्मिर्मिथु॒या चर॑न्तमभि॒याति॑ दू॒षय॑न्।
स्तौमि॑ मि॒त्रावरु॑णौ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑स:॥ ७॥

अर्थ—(ययो:) जिन दो का (रथ:) रथ (सत्यवर्त्मा) सचाई के मार्गवाला है, (ऋजुरश्मि:) और [जिस रथ के अश्व को] लगाम ऋजु अर्थात् सीधे तथा सरल मार्ग पर चलाती है, जो रथ (मिथुया चरन्तम्) मिथ्याचारी को (दूषयन्) दूषित अर्थात् अपराधी घोषित करता हुआ (अभियाति) अभियान करता है, उसपर आक्रमण करता है, दण्ड देने के लिए; (नाथित:) परमेश्वर को निज स्वामी जानता हुआ मैं राजा (जोहवीमि) परमेश्वर का बार-बार आह्वान करता हूँ, और (मित्रावरुणौ) मित्र तथा वरुण की (स्तौमि) मैं प्रशंसा करता हूँ, उनके सद्‌गुणों का कथन करता हूँ, (तौ) वे दो (न:) हमें (अंहस:) पापजन्य कष्टों से (मुञ्चतम्) मुक्त करें, छुड़ावें।

विशेष वक्तव्य—सूक्त स्पष्ट आधिभौतिकार्थवाला है, अर्थात् राष्ट्रपरक है मित्र[1] और वरुण, राष्ट्र को स्नेहपूर्वक चलानेवाले प्रधानमन्त्री, और राष्ट्र के शत्रुओं का निवारण करनेवाले सेनाध्यक्ष रूप हैं। इन दो शासकों के अतिरिक्त, राष्ट्र का एक और भी शासक है जिसे 'नाथित:' पद द्वारा सूचित किया है, जोकि राष्ट्र का राजा है। वह परमेश्वर को अपना स्वामी मानता है, उनके आज्ञानुवर्ती हुआ वह राष्ट्र का शासन करता है, वह भी निरंकुश नहीं। जैसे मित्र और वरुण पर राजा का अंकुश है, वैसे राजा पर परमेश्वर का अंकुश है। इसलिए राजा, मित्र और वरुण को बार-बार बुलाता है, ताकि शासन में उन्हें सत्परामर्श देता रहे। राजा का चुनाव प्रजा द्वारा 'साक्षात्' होता है। इसलिए उसपर दो अंकुश है, प्रजा का अंकुश और परमेश्वर का अंकुश।

उशना=उणादिकोशों में 'उशना:' के दो अर्थ दिए हैं, शुक्राचार्य तथा शुक्रवार। देखें (उणादि: ४.२४०, दयानन्द, तथा दशपाद्युणादिवृत्ति:, ९.९६)। परन्तु अथर्ववेद में 'उशनाम्' पाठ है (४.२९.६)। अथर्व० के पदपाठ में भी 'उशनाम्' पाठ है, जिसका प्रातिपदिक स्वरूप होता है 'उशना', प्रथमा विभक्ति एकवचनान्त, स्त्रीलिङ्ग। इसलिए इसका मत्कृत अर्थ ही उचित प्रतीत होता है। सायणाचार्य ने 'उशना' पद को 'उशनसम्' में परिवर्तित कर अर्थ किया है, जो परिवर्तन कि वेदपाठ और पदपाठ के अनुकूल नहीं।

---

१. **क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व**॥ (अथर्व० २.६.४)

सूक्त ३०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥

अर्थ—(अहम्) मैं वाक्—पारमेश्वरी माता (वसुभिः) वसुओं के संग (चरामि) चलती हूँ, (अहम्) मैं (आदित्यैः) आदित्यों के संग, (उत) तथा (विश्वदेवैः) अन्य सब देवों के संग [चलती हूँ] (अहम्) मैं (मित्रावरुणा उभा) मित्र और वरुण, दोनों का (बिभर्मि) भरण-पोषण करती हूँ, (अहम्) मैं (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि का (अहम्) मैं (अश्विना उभा) दोनों अश्वियों का [भरण-पोषण करती हूँ]।

[मानुषी—माता शिशुओं को लेकर उन्हें चलाने के लिए उनके संग-संग चलती है। वसु आदि पारमेश्वरी माता के शिशुरूप हैं, यह मन्त्र का अभिप्राय है। वसवः आदि, यथा—

वसवः=**अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च, चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद् वसव इति॥ ३॥**

रुद्राः=**दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः, ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद् यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति॥ ४॥**

आदित्याः=**द्वादश वै मासाः [संवत्सरः] आदित्याः, एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति, ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥ ५॥** (बृहदा० उप० ३.९.३-५)।

विश्वदेवाः=**वसुरुद्रादित्यव्यतिरिक्ता गणशा [तारामण्डल] वर्तमाना विश्वदेवाख्याः** (सायण)।

मित्रावरुणा=मित्रावरुणौ=मित्र 'सूर्यः' वरुण 'चन्द्रमा'। इन्द्राग्नी=विद्युत् तथा पार्थिवाग्नि। अश्विना=अश्विनौ 'अहोरात्रौ' (निरुक्त १२.१.१)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः॥ २॥

अर्थ—(अहम्) मैं (राष्ट्री) ब्रह्माण्ड-राष्ट्र की अधीश्वरी हूँ, (वसूनाम्, संगमनी) सम्पत्तियों का मुझ में संगम है [मैं सम्पत्तियों की स्वामिनी हूँ], (चिकितुषी) सम्यक्-ज्ञानवाली हूँ, (प्रथमा यज्ञियानाम्) यजनीयों में मुख्य यजनीया हूँ; (भूरिस्थात्राम्) बहुरूपों में स्थित हुई तथा उनका त्राण करने वाली (ताम्, मा) उस मुझको—(भूरि आवेशयन्तः) निज बहुरूपों में प्रविष्ट करते हुए (देवाः) सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वायु आदि देवों ने, (पुरुत्रा) विविध रूपों में (व्यदधुः) विविध प्रकार से—धारण किया हुआ है।

[पारमेश्वरी माता सूर्यादि में, सूर्यादि विविध नामों से प्रविष्ट है, सूर्य में सूर्य नाम से, चन्द्र में चन्द्र नाम से, अग्नि में अग्नि नाम से प्रविष्ट है। कहा भी है "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः" (अथर्व० ४.३९.९), अर्थात् परमेश्वर अग्नि में अग्नि नाम से प्रविष्ट है। इस प्रकार जो दैवत नाम हैं, वे सब, अध्यात्म में, परमेश्वर के भी नाम हैं। यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१)।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ३॥

अर्थ—(अहम्, एव, स्वयम्) मैं ही अपने-आप (इदम्) इसे (वदामि) कहती हूँ, जोकि (देवानाम्, उत, मानुषाणाम्) देवों के लिए तथा मनुष्यों के लिए (जुष्टम्) प्रीतिपूर्वक सेवनीय है; (यम्) जिसे (कामये) मैं चाहती हूँ, (तम् तम्) उस-उसको (उग्रम्) उग्ररूप या उग्रकर्मा, (तम्) उसे (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा, (तम् ऋषिम्) उसे ऋषि, (तम् सुमेधाम्) उसे उत्तम-मेधावाला (कृणोमि) करती हूँ।

[वदामि=वेद द्वारा। वेद पारमेश्वरी माता द्वारा रचित है। जुषम्=**जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)**। **ब्रह्मा**="**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्**" (ऋ० १०.७१.११), "**ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः**" (निरुक्त १.३.८)। देवानाम्=विद्वानों को, मानुषाणाम्=सर्वसाधारण मनुष्यों को। ऋषि=वेदवक्ता या वेदार्थ वक्ता। पारमेश्वरी माता उग्र आदि को उन-उनके कर्मानुसार, तदनुरूप फल देती है, स्वेच्छाचारिता द्वारा नहीं। वह कर्मफल प्रदात्री है।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्।

अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि॥ ४॥

अर्थ—(श्रुत) हे श्रवण-शक्तिवाले! (श्रुधि) तू सुन, (ते) तेरे लिए (श्रद्धेयम्) श्रद्धायोग्य वस्तु (वदामि) मैं कहती हूँ—(सः) वह (यः) जो (वि पश्यति) विविध दृश्यों को देखता है, (यः) जो (प्राणति) प्राण धारण करता है, श्वासोच्छ्‌वास लेता है, (यः) जो (ईम्) इस (उक्तम्) कथन को (शृणोति) सुनता है वह (मया) मुझ पारमेश्वरी माता द्वारा दिए (अन्नम्, अत्ति) अन्न को ही खाता है; और (ते) वे (मां उप) मेरे आश्रय में ही (क्षियन्ति) निवास करते हैं, तो भी वे (अमन्तवः) मेरी सत्ता को, विद्यमानता को, नहीं मानते। [वे अमन्तवः मननशील नहीं हैं,—यह अभीप्सित अर्थ भी अभिप्रेत है], अमन्तवः=अ+मन्+तु (औणादिकः 'तु' प्रत्ययः)। मया=गृहजीवन में माता ही अन्न-परिपाक कर सबको अन्न देती है। क्षियन्ति=**क्षि निवासगत्योः** (तुदादिः)।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।

अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ५॥

अर्थ—(अहम्) मैं पारमेश्वरी माता (रुद्राय) रौद्रकर्मा क्षत्रिय के लिए (धनुः आतनोमि) धनुष् की डोरी को विस्तृत करती हूँ, धनुष् पर चढ़ाती हूँ, (ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म तथा वेदद्वेषी के (शरवे) हिंसन के लिए, तथा (हन्तवै उ) और हनन के लिए। (अहम्) मैं (जनाय) जनसमूह के लिए (समदम्) संग्राम (कृणोमि) तैयार करती हूँ, (अहम्) मैं (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी में (आ विवेश) सर्वत्र प्रविष्ट हुई हूँ। [शरवे=**शॄ हिंसायाम्** (क्र्यादिः)। समदम्=**समत्सु संग्रामनाम** (निघं० २.१७)। पार्थिव जीवन में छोटे-बड़े संग्राम होते रहे हैं, हो भी रहे हैं। पृथिवीवासी जब दुष्कर्मा हो जाते हैं, तत्फलरूप में उनके संहार के लिए, पारमेश्वरी माता के नियमानुसार संग्राम होने लगते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्दः—**जगती**॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।

अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते॥ ६॥

अर्थ—(अहम्) मैं पारमेश्वरी माता (आहनसम्) गतिशील [अथवा, रात्रि में अन्धकार का] हनन करनेवाले (सोमम्) चन्द्रमा का (बिभर्मि) भरण-पोषण करती हूँ, (अहम्) मैं (त्वष्टारम्) त्वष्टा का (उत) तथा (पूषणम्) पूषा का, और (भगम्) भग का [बिभर्मि] भरण-पोषण करती हूँ, (अहम्) मैं (हविष्मते) हविःवाले, (सुन्वते यजमानाय) सोमयाजी यजमान के लिए (सु प्राव्या) शोभन प्रकार से रक्षा करनेवाले (द्रविणा) धनों को (दधामि) धारण करती हूँ।

[आहनसम्=आ+**हन हिंसागत्योः** (अदादिः), चन्द्रमा रात्रि में उदित होता है और अन्धकार का हनन करता है, तथा पश्चिम में उदित होकर प्रतितिथि पूर्व की ओर गति करता रहता है। त्वष्टारम्=सूर्य, विद्युत्, वायु, अग्नि (निरुक्त त्वष्टा शब्द; ८.२.११)। पूषणम्=आदित्यः (निरुक्त ७.३.९), "**अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तद् पूषा भवति**" (निरुक्त १२.२.१६, पद १०) **भगम्=तस्य प्रागुत्सर्पणात्** (निरुक्त १२.२.१३ (८)। 'सुप्राव्या' पाठ है (प्रातिशाख्य में ४.११); न कि 'सुप्राव्ये' चतुर्थ्येकवचन; यथा "सुप्रावी+ङे (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।

ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

अर्थ—(अस्य) इस भूमण्डल के (पितरम्) पिता को (मूर्धन्) मूर्धा-स्थान में (अहम्) मैं पारमेश्वरी माता (सुवे) प्रसूत करती हूँ, उत्पन्न करती हूँ, (मम योनिः) मेरा घर है (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर, (समुद्रे) तथा अन्तरिक्ष में; (ततः) वहाँ से (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों में (वि तिष्ठे) विविध रूपों में मैं स्थित होती हूँ, (उत) तथा (वर्ष्मणा) ऊँचाई द्वारा (अमूम् द्याम्) उस द्युलोक को (उप) समीप होकर (स्पृशामि) स्पर्श करती हूँ।

[पितरम्=सूर्य को। सूर्य सब ग्रहों का पिता है, भूमण्डल का भी पिता है। भूमण्डल आदि ग्रह सूर्य से फटकर पृथक् हुए हैं, जैसे कि सन्तानें, पिता के शरीर से वीर्यरूप में फटकर उत्पन्न होती हैं। मूर्धा है शिरः-स्थानीय द्युलोक का अधोभाग। द्युलोक के इस भाग से ऊपर द्युलोक है। योनि का अर्थ है गृह। यथा **योनिः गृहनाम** (निघं० ३.४)। अप्सु अन्तः=जलों में रहनेवाले जलचरों में, तथा जलों में। समुद्रे=**समुद्रः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३) वर्ष्मणा=वर्ष्म=ऊँचाई;[१] वर्ष्म=Height (आप्टे)। उप=प्रेमपूर्वक स्पर्श, आलिङ्गन शरीरों की अति समीपता से ही हो सकता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।

परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव॥ ८॥

---

१. परमेश्वर सर्वव्यापक है, अतः वह सब ऊँचाइयों को निज ऊँचाई द्वारा स्पर्श किये हुए है।

अर्थ—(अहम् एव) मैं पारमेश्वरी माता ही (वात इव) झंझा वायु के सदृश (प्रवामि) प्रवाहित हो रही हूँ, (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (आरभमाणा) प्रारम्भ करती हुई। (दिवा परः) द्युलोक से परे, (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी से परे मैं हूँ, (एतावती) इतनी बड़ी (महिम्ना) निज स्वाभाविक महिमा द्वारा (सं बभूव) मैं हुई हूँ।

[वैदिक दृष्टि में द्यौ और पृथिवी, समग्र ब्रह्माण्ड के अन्तिम किनारे हैं, परन्तु परमेश्वर इन किनारों को लाँघकर, अतीत कर, बस रहा है, यतः वह सर्वव्यापक है। ''वात इव'' द्वारा सृष्ट्यारम्भण में अति शीघ्रता दर्शाई है, उसकी इच्छामात्र द्वारा ही यतः सृष्टि उत्पन्न होने लगती है, ''**इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः**''। परमेश्वर की कामनामात्र से ही प्रकृति से सृष्टि पैदा होने लगती है, इसे उपनिषदों में 'अकामयत' द्वारा निर्दिष्ट किया है (बृहद्-उपनिषद्, अध्या० १। ब्रा० २। सन्दर्भ ४, ६, ७)। तथा 'ऐच्छत्' द्वारा (बृहदा=उप० अध्या० १। ब्रा० ४। सन्दर्भ ३)।]

षष्ठ अनुवाक समाप्त॥

अथ नवमः प्रपाठकः

अनुवाक ७

सूक्त ३१

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।

तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः॥ १॥

अर्थ—(मरुत्वन्) मारु-सैनिकोंवाले (मन्यो) हे बोधयुक्त[१] क्रोध! (त्वया) तुझ सहायक के साथ, (सरथम्) रथोंवाले शत्रु को-(हर्षमाणाः) प्रसन्न होते हुए, (हृषितासः) और प्रजाजन को प्रसन्न करते हुए—हम सैनिक (आरुजन्तः) पूर्णतया भग्न करते हुए, (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण इषुओंवाले, तथा (आयुधा) अन्य युद्धसाधनों को (संशिशानाः) सम्यक् तेज करते हुए हों, और [राजा के] (अग्निरूपाः) अग्निरूप हुए (नरः) सैनिक नर (उप) शत्रुदल के समीप (प्र यन्तु) प्रयाण करें।

(मरुत्वन्=**मारयतीति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः** (उणा० १.९४; दयानन्द), मरुतोंवाला मन्युः; तथा मरुतः=सैनिकाः (यजुः० १७.४०), यथा ''**देवसेनानामभि भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**''। मन्यु=**मनु अवबोधने** (तनादिः) बोधपूर्वक, ज्ञान तथा विवेकपूर्वक क्रोध है मन्युः; तदतिरिक्त है क्रोध। सैनिक जब मन्युवाले होते हैं, तब वे शत्रुदल को भग्न कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।

हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व॥ २॥

अर्थ—(मन्यो) हे बोधयुक्त क्रोध! (अग्निः इव) अग्निः की तरह (त्विषितः) प्रदीप्त हुआ (सहस्व) शत्रुसेना का पराभव कर, (सहुरे) हे पराभव करनेवाले! (नः सेनानीः) हमारी सेना का नायक

१. स्वपक्ष और शत्रुपक्ष के बलाबल का विचार करके किया गया क्रोध। मन्यु=**मनु अवबोधने** (तनादिः), तथा **मन ज्ञाने** (दिवादिः)।

हो, हुआ तू (हूतः) आहूत हुआ (एधि) हो। (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओं का हनन करके (वेदः) उनके धन को (विभजस्व) हममें विभक्त कर दे, बाँट दे, (ओजः) निज ओज को (मिमानः) मापता हुआ (मृधः) संग्रामकारियों को (वि नुदस्व) धकेल दे।

[शत्रुविजयार्थ अग्नि की तरह, आग्नेय शस्त्रास्त्रों द्वारा, हमारी सेना में दहन-शक्ति भी होनी चाहिए। इस शक्ति को "नरः अग्निरूपाः" द्वारा भी कथित किया है (मन्त्र १)। **वेदः धननाम** (निघं० २.१०)।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम्॥ ३ ॥

अर्थ—(मन्यो) हे बोधयुक्त क्रोध! (अस्मै) इस राजा के लिए (अभिमातिम्) अभिमानी शत्रु को (सहस्व) पराभूत कर, (रुजन्) शत्रुदल का भग्न करता हुआ, (मृणन्) मारता हुआ, (प्र मृणन्) कुचलता हुआ तू (शत्रून्) शत्रुओं की ओर (प्रेहि) जा। हे मन्यु! (ते) तेरा (पाजः) बल (उग्रम्) उग्र है। (न, नु) निश्चय से नहीं (ररुध्रे) अवरुद्ध किया जाता, तू (वशी) शत्रुओं को वश में करनेवाला है, (एकज) हे अकेला उत्पन्न! (त्वम्) तू (वशम् नयासा) शत्रुओं को वश में ला।

[एकज=सम्बोधन में है। अकेले मन्यु की उग्र शक्ति का कथन हुआ है। निःसहाय, अकेला—मन्यु भी शत्रु की पराजय कर सकता है—यह दर्शाया है। मन्यु के बिना सेना भी निःशक्त है। पाजः बलनाम (निघं० २.९); पा+अजः=जोकि निज पक्ष का पालक है, और शत्रु का प्रक्षेपक है (**अज गतिक्षेपणयोः**) (भ्वादिः)। नयासा=नयासै, लेट्, आट्।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि॥ ४ ॥

अर्थ—(मन्यो) हे बोधयुक्त क्रोध! (एकः) अकेला तू (बहूनाम्) बहुत सेनाओं का (ईडिता) प्रेरक (असि) है, (विशं विशम्) प्रत्येक प्रजाजन को (युद्धाय) युद्ध के लिए (सं शिशाधि) तू सम्यक् सुशिक्षित कर; (अकृत्तरुक्) तू अच्छिन्न दीप्तिवाला है, (त्वया युजा) तुझ सहयोगी की सहायता द्वारा (वयम्) हम (विजयाय) विजय के लिए (द्युमन्तम्) दीप्तिवाले [सर्वविज्ञात] (घोषम्) सिंहनाद (कृण्मसि) करते हैं।

[एकः=देखो "एकज" (मन्त्र ३)। ईडिता=ईरिता, प्रेरयिता; रलयोरभेदः, डलयोरभेदः। अकृत्तरुक्=अ+**कृती छेदने**+**रुच् दीप्तौ**।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥ ५ ॥

अर्थ—(विजेषकृत्) विजयकारी (इन्द्रः इव) सम्राट् के सदृश, (अनवब्रवः) विरोध में अवचनीय (मन्यो) हे बोधयुक्त क्रोध! तू (इह) इस संग्राम में (अस्माकम्) हमारा (अधिपाः) अधिपालक अर्थात् रक्षक-नेता (भव) हो; (सहुरे) हे पराभव करनेवाले! (ते) तेरे (प्रियं नाम) प्रियनाम [मन्यु] का

(गृणीमसि) हम उच्चारण करते हैं, स्तवन करते हैं। (तम्, उत्सम्) उस स्रोत को (विद्म) हम जानते हैं, (यत:) जहाँ से तू (आबभूथ) आ प्रकट हुआ है।

[इन्द्र:=सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजु:० ८.३७)। अनवब्रव:=अ+न्+अव+**ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि** (अदादि:)। अभिप्राय यह कि जैसे विजय द्वारा प्राप्त अधिकार के विरोध में सम्राट् अवचनीय अनिन्दनीय होता है, वैसे हे मन्यु! तुझ द्वारा विजय प्राप्त अधिकार के विरोध में तू भी व्यक्त वाणी में, अवचनीय होता है, अर्थात् निन्दनीय नहीं होता। प्रियं नाम=मन्यु का नाम अर्थात् बोधयुक्त क्रोध प्रिय नाम है, बोध से रहित क्रोध प्रिय नहीं, यह हानिकारक है। उत्सम्=हृदयस्रोत: हृदय, रक्तरूपी आप:, का स्रोत है=जहाँ से मन्यु की उत्पत्ति होती है। हृदय रक्तरूपी आप: का स्रोत है, यथा (अथर्व० १०.२.११)।]

ऋषि:—**ब्रह्मास्कन्द:** ॥ देवता—**मन्यु:** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि॥ ६॥

अर्थ—(वज्र) हे वज्ररूप! (सायक) हे शत्रुओं के लिए अन्तकारिन्! (सहभूते) हे पराभव-शक्ति के साथ उत्पत्तिवाले! [मन्यु!] (आ भूत्या सहजा:) तू व्यापक विभूति, अर्थात् शौर्य के साथ उत्पन्न हुआ है, (उत्तरम्, सह:) उत्कृष्ट बल को (बिभर्षि) तू धारण करता है; (मन्यो) हे बोधयुक्त क्रोध! (क्रत्वो सह) निज कर्म के साथ, (न:) हमारा (मेदी) स्नेह करनेवाला (एधि) तू हो जा, (पुरुहूत) हे बहुत सैनिकों द्वारा आहूत! (महाधनस्य) जिसमें महाधन की उपलब्धि होती है उस संग्राम के (संसृजि) सर्जन में अर्थात् उसकी उपस्थिति हो जाने पर।

[सायक=साय: अन्तकारी कर्म, "**षो**" **अन्तकर्मणि** (दिवादि:)+कृ करोतीति (ड: प्रत्यय:)। **सह: बलनाम** (निघं० २.९)।]

ऋषि:—**ब्रह्मास्कन्द:** ॥ देवता—**मन्यु:** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्यु:।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रव: पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥ ७॥

अर्थ—(संसृष्टम्) शत्रु के साथ संसर्ग में अर्थात् युद्ध में प्राप्त धन [संसृजि, मन्त्र ६], (समाकृतम्) तथा उसके राष्ट्र में पूर्वत: एकत्रित किया धन, (उभयम्) यह द्विविध धन, (वरुण: च मन्यु:) वरुण राजा और बोधयुक्त क्रोध, (अस्मभ्यम्) हम प्रजाजनों को या हम अधिकारियों को, (धत्ताम्) प्रदान कर दें; (पराजितास:, शत्रव:) पराजित हुए शत्रु (हृदयेषु) हृदयों में (भिय:) भयों को (दधाना:) धारण करते हुए (अप) संग्रामभूमि से अपगत होकर (निलयन्ताम्) निलीन हो जाएँ, छिप जाएँ।

[युद्ध में प्राप्त धन प्रजाजनों में बाँट देना चाहिए, या राजकोष में जमा करना चाहिए। वरुण:=प्रजा द्वारा वरा हुआ, चुना हुआ, राष्ट्र का राजा, "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजु:० ८.३७)।]

सूक्त ३२

ऋषि:—**ब्रह्मास्कन्द:** ॥ देवता—**मन्यु:** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

यस्ते मन्योविधद्वज्र सायक सह ओज: पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ १॥

अर्थ—(मन्यो) हे बोधयुक्त क्रोध! (यः) जो पुरुष (ते) तेरी (अविधत्) सेवा करता है (वज्र! सायक!) हे वज्ररूप! तथा शत्रुओं के लिए अन्तकारी! वह (विश्वम् सहः) शत्रुपराभवकारी सब बल को, और (ओजः) ओज को (आनुषक्) निरन्तर (पुष्यति) परिपुष्ट करता है। (सहस्कृतेन) साहसपूर्वक उत्पादित (सहस्वता) पराभव शक्तिवाले (सहसा) बल द्वारा, (त्वया युजा) हे मन्यु! तुझ साथी के साथ (वयम्) हम (दासम्, आर्यम्) दास और आर्य का (साह्याम) पराभव करें।

[दासम्=**दसु उपक्षये** (दिवादिः) जो हमारा उपक्षय अर्थात् विनाश करता है; आर्यम्=जो आर्य अर्थात् श्रेष्ठ होता हुआ भी, भ्रमवश, हमपर आक्रमण करता है, यह जानकर कि अमुक आर्य राजा मेरे राष्ट्र को हथियाना चाहता है। अविधत्=**विधेम परिचरणकर्मा** (निघं० ३.५)।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।
मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः॥ २॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (मन्युः) मन्यु है, (देवः) मन्युदेव (मन्युः एव आस) तो मन्यु ही है, (होता) आह्वाता अग्नि (मन्युः) मन्यु है, (जातवेदाः[१], वरुणः) ज्ञानी तथा धनी वरुण राजा, अर्थात् शत्रुनिवारक राजा मन्यु है; (याः) जो (मानुषीः विशः) मानुष प्रजाएँ हैं वे (मन्युः=मन्युम्, ईडते) मन्यु की ही स्तुति करती हैं, उसका गुणगान करती हैं, (तपसा) ताप अर्थात् जोश के साथ (सजोषाः) प्रीतिवाले (मन्यो) हे मन्यु! (नः पाहि) हमारी पालना कर, रक्षा कर।

[होता=देवानाम् आह्वाता अग्निः। सजोषाः=**जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तुदादिः)। मन्त्र में इन्द्रादि के स्वरूपों का अपह्नव अर्थात् अपलाप कर, उन्हें केवल मन्युरूप कहने से युद्ध में मन्यु के अतिशय की आवश्यकता को सूचित किया है। सैनिकों और अधिकारियों के मनों में यदि मन्यु की उग्रता न हो तो युद्ध में सफलता नहीं हो सकती। इस प्रकार युद्ध में मन्यु ही पालक तथा रक्षक होता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः॥ ३॥

अर्थ—(मन्यो) हे मन्यु! (अभीहि) अभिमुख जा; (तवसः तवीयान्) तू प्रवृद्ध शत्रुशक्ति से भी प्रवृद्ध शक्तिमान् है, (तपसा युजा) तप और जोशरूपी सहयोगी के साथ (शत्रून् वि जहि) शत्रुओं का तू विहनन कर, विनाश कर; (अमित्रहा) अमित्रों का हनन करनेवाला, (वृत्रहा) हमारे राष्ट्र पर घेरा डालनेवाले का हनन करनेवाला, (च दस्युहा) और उपक्षयकारी का हनन करनेवाला तू है, (विश्वा वसूनि) शत्रु के सब धनों का (आभर) आहरण कर (त्वम्) तू (नः) हमारे लिए।

[मन्त्र २ में मन्यु को इन्द्रादिरूप में सर्वरूप कहा है। मन्त्र ३ में सर्वरूप मन्यु को विजेता कहा है। युद्ध में इन्द्रादि का अपलाप किया है, निरसन किया है। इस प्रकार युद्ध में मन्यु को प्रधानता दी है। तवसः=**तु वृद्धौ** (अदादिः)।]

१. जात+वेदस् (**विद् ज्ञाने**); जातवेदस्=(**वेदः धनम्**) "**वेदः धननाम**" (निघं० २.१०)। तथा जातवेदाः="**जातवित्तो वा जातधनः। जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः**" (निरुक्त ७.५.१९)।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।

विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि॥ ४॥

अर्थ—(मन्यो) हे बोधयुक्त क्रोध! (हि) निश्चय से (त्वम्) तू (अभिभूत्योजाः) पराभवकारी ओजवाला, (स्वयम्भूः) स्वयं सत्तावाला[1]; (भामः) क्रोधरूप, (अभिमातिषाहः) अभिमानियों का पराभव करनेवाला; (विश्वचर्षणिः) सब मनुष्यों का स्वामी, (सहुरिः) शत्रु द्वारा किये गये आक्रमण को सहनेवाला, (सहीयान्) अति सहनशील है, (अस्मासु) हम अधिकारियों या प्रजाजनों में, तथा (पृतनासु) हमारी सेनाओं में (ओजः) ओज (धेहि) तू स्थापित कर।

[भामः=**भाम क्रोधे** (भ्वादिः)। षाहः=साहः; **षह मर्षणे** (भ्वादिः, चुरादिः)। विश्वचर्षणिः= "**चर्षणयः मनुष्यनाम**" (निघं० २.३), **विश्वे चर्षणयो मनुष्या यस्य वशे वर्तन्ते सः** (सायण)। ओजः=**उब्ज आर्जवे** (तुदादिः); यह वह शक्ति है जिसे जानकर शत्रु ऋजुमार्गगामी होकर आक्रमण का साहस नहीं करता। ऋजुमार्ग सत्यमार्ग होता है "**तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयः**" (अथर्व० ८.४.१२)। शत्रु को ऋजुमार्गी, अर्थात् सत्यमार्गी बनाने के लिए मन्यु का प्रयोग करना चाहिए, स्वार्थसाधन के लिए नहीं। यथा "**विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्**" (अथर्व० ३.१.४)।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।

तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि॥ ५॥

अर्थ—(प्रचेतः[2]) चेतनाप्रद [मन्यो] हे मन्यु! (तव तविषस्य) तुझ वृद्धिकारक के (क्रत्वा) कर्म से (अभागः सन्=भागरहितः सन्) भागरहित हुआ (अप) युद्ध से अपगत होकर (परेतः) परागत (अस्मि) मैं हुआ हूँ; (मन्यो) हे मन्यु! (अक्रतुः) कर्मरहित होकर (तं त्वा) उस तुझको (अहम्) मैंने (जिहीड) क्रुद्ध या अनादृत किया है, (बलदावा) तू बलदाता है, (स्वा तनूः) तेरी अपनी तनू, तेरा जो निज स्वरूप है (नः एहि) [उस निजस्वरूप द्वारा] हमें तू प्राप्त हो जा।

[मन्यु द्वारा युद्ध में प्रवृत्त होना है, चेतना। अन्यथा राजा राष्ट्ररक्षा में अचेतन हुआ राष्ट्रवञ्चित हो जाता है। परेतः=परागतः, पराजितः। तविषस्य=**तु वृद्धौ** (अदादिः)। जिहीड=**हेडः, हेडते क्रोधनाम**; तथा **क्रुध्यतिकर्मा** (निघं० २.१३; २.१२); **हेड़ अनादरे** (भ्वादिः)। बलदावा=बल+दा+वनिप् (अष्टा० ३.२.७४)।]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।

मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः॥ ६॥

अर्थ—(सहुरे) हे सहनशील या पराभवकारी! (विश्वदावन्) तथा हे समग्र शक्ति प्रदान करनेवाले

१. अन्यानपेक्ष सतावाला।

२. अथवा "प्रचेता=Fore knowing, अर्थात् युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व ही शत्रु की कृतियों को जाननेवाला, या जनानेवाला। अचेतन मन्यु को चेतनासम्पन्न मानकर वर्णन हुआ है, यथा— "**अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधि-पर्यन्तानि।**" (निरुक्त ७.२.७)।

मन्यु! (अयम्) यह मैं (ते) तेरा-अपना (अस्मि) हूँ, (प्रतीचीनः) शत्रुओं के प्रति जाता हुआ तू (अर्वाङ्) हमारी ओर हुआ (नः उप) हमारे समीप (एहि) आया कर; (वज्रिन्) हे शत्रुवर्जक आयुध या बल को धारण करनेवाले (मन्यो) मन्यु! (नः अभि) हमारे अभिमुख (आववृत्स्व) लौट आया कर, (दस्यून् हनाव) ताकि हम दोनों मिलकर [भविष्य में भी] उपक्षयकारियों का हनन कर पाएँ, (उत) तथा (आपेः) मुझे अपना बन्धु (बोधि) तू जान।

[आपेः=आपिम्, आप्तम्, बन्धुभूतम्, मां बोधि (सायण); अथवा "अपना जान। मैं तेरा अपना हूँ, यह जान।"]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

अर्थ—[हे मन्यु!] (अभि प्रेहि) हमारे अभिमुख गमन कर, आ, (नः) हमारे (दक्षिणतः) दाहिनी ओर (भव) हो, (अधा) तदनन्तर (भूरि) प्रभूत (वृत्राणि) राष्ट्र का आवरण करनेवाले, घेरा डालने वाले शत्रुओं का (जङ्घनाव) हम दोनों हनन करें; (ते) हे मन्यु! तेरे लिए (धरुणम्) पोषक, (मध्वः) मधुर रस के (अग्रम्) श्रेष्ठ भाग की (जुहोमि) मैं आहुतियाँ देता हूँ, (उभौ) हम दोनों (प्रथमौ) युद्धारम्भ से पूर्व (उपांशु) अप्रकट रूप में (पिबाव) सोमपान करें।

[दक्षिणतः=युद्ध में दाहिना हाथ कार्यकारी होता है। मन्यु को सेनापति ने अपना दाहिना हाथ माना है। मान्य व्यक्ति को दाहिनी ओर रखना, यह शिष्टाचार भी है—यह भी उपदिष्ट किया है। युद्ध से पूर्व सोमरस का सेवन करना और शुभकार्यारम्भ में यज्ञ करना, इसकी सूचना भी मन्त्र द्वारा मिलती है। सोमरस का पान शक्तिवर्धक है। इसका उपांशुरूप में पान करना इसलिए कहा है कि इसकी पूर्वसूचना शत्रु को प्राप्त न हो सके कि हम शक्ति प्राप्त कर उसके साथ युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। जङ्घनाव=हन्+यङ् लुक्+आट् आगम।]

सूक्त ३३

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम् ॥ १ ॥

अर्थ—(नः) हमारा (अघम्) पाप (अग्ने) हे अग्निस्वरूप परमेश्वर! (अप शोशुचत्) तेरी कृपा से अपगत हो जाए, और तेरी शोचि हमें पवित्र करे। हे अग्नि! (रयिम्) हमारी सम्पत्ति को (आ शुशुग्धि) तू सर्वतः पवित्र कर। (अघम्) पाप को (अप) अपगत करके (नः शोशुचत्) तुझ अग्नि की शोचि हमें पवित्र करे।

[शोशुचत्=शुच्, यङ् लुक्, अट् का आगम। रयिम् आ शुशुग्धि=यथा "**अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्**" (यजुः० ४०.१६); सुपथ अर्थात् पापरहित मार्ग द्वारा रयि का उपार्जन करना उसकी पवित्रता है। शोशुचत्=**ईशुचिर् पूतिभावे** (दिवादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप नः शोशुचदघम् ॥ २ ॥

अर्थ—(सुक्षेत्रिया) उत्तम क्षेत्र द्वारा, (सुगातुया) उत्तम मार्ग द्वारा, (च) और (वसूया) धनेच्छा द्वारा (यजामहे) तुझ अग्नि का हम यजन अर्थात् पूजन, सत्संग तथा उसके प्रति दान या आत्मसमर्पण करते हैं, ताकि (अघम्, अप) पाप को अपगत करके (नः शोशुचत्) तुझ अग्नि की शोचि हमें पवित्र करे।

[सुक्षेत्रिया=डियाजादेश, (पा०वा० अष्टा० ७.१.३९), (सायण)। क्षेत्र है शरीर—"**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**" (गीता १३.१)। शरीर में कर्म-बीज बोये जाते हैं, अतः शरीर क्षेत्र है। इसमें उत्तम कर्मबीज बोये जाने चाहिएँ, तब यह शरीर-क्षेत्र सुक्षेत्र होता है। यजामहे=**यज देवपूजा-संगतीकरणदानेषु** (भ्वादिः)। सुक्षेत्र अर्थात् उत्तम कर्मोंवाले शरीर द्वारा परमेश्वर का यजन करना चाहिए।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः। अप नः शोशुचदघम्॥ ३॥

अर्थ—(एषाम्) इनमें से (यद्) जो मैं (प्र) प्रकृष्ट (भन्दिष्ठः) कल्याणकारी हूँ, (च) और (अस्माकासः) हमारे (सूरयः) प्रेरक विद्वान् भी (प्र) प्रकृष्ट हैं, [इसलिए] (अघम्) पाप को (अप) अपगत करके (नः शोशुचत्) मुझ अग्नि की शोचि या तू अग्नि-परमेश्वर हमें पवित्र करता है।

[पवित्रता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को भी प्रकृष्ट कल्याण-मार्गी होना चाहिए, और समाज के प्रेरक विद्वानों को भी कल्याणमार्गी होना चाहिए, तब हम सबको परमेश्वर पवित्र कर देता है। परमेश्वर अग्नि है, अग्निवत् दाहक गुणवाला है। वह हम सबके पापों को दग्ध कर हमें पवित्र कर देता है। भन्दिष्ठः=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)। सूरयः=**षू प्रेरणे** (तुदादिः), प्रेरक विद्वान्। प्रेरक विद्वान् जब कल्याणमार्गी हो जाते हैं, तब प्रजाजन भी कल्याणमार्गी हो जाते हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्। अप नः शोशुचदघम्॥ ४॥

अर्थ—(यत्=यदा) जब हे अग्निरूप परमेश्वर! (सूरयः) प्रेरक विद्वान् (वयम्) हम (ते) तेरी (प्रजायेमहि) प्रजा बन जाते हैं, (प्र) प्रकर्षरूप में (ते) तेरी प्रजा बन जाते हैं तब (अप नः शोशुचत् अघम्) पाप को अपगत करके तुझ अग्नि की शोचि या तू अग्नि-परमेश्वर हमें पवित्र करता है।

[प्रेरक विद्वान् जब परमेश्वर की प्रजाएँ बन जाते हैं, परमेश्वर को निज स्वामी या राजा मानकर, उसकी प्रेरणानुसार जीवनचर्या करते हैं, तब वस्तुतः परमेश्वराग्नि उनके अघों को दग्ध कर उनको पवित्र कर देता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः। अप नः शोशुचदघम्॥ ५॥

अर्थ—(यत्) जोकि (सहस्वतः) पराभव करनेवाले, (अग्नेः) परमेश्वराग्नि की (भानवः) प्रभाएँ (विश्वतः) संसार के सब ओर (प्रयन्ति) प्रयाण करती हैं, अतः (अप नः शोशुचत् अघम्) परमेश्वराग्नि पापों को अपगत करके, दग्ध करके, उसकी शोचि या स्वयं परमेश्वराग्नि हमें पवित्र कर देती है।

[व्यक्ति समग्र संसार में परमेश्वराग्नि की प्रभाओं को देखता है, अनुभव करता है, अतः वह समग्र संसार में प्रभावान् परमेश्वर की सत्ता को जानकर, कहीं भी पाप नहीं करता, और पाप से अपगत होकर पवित्र हो जाता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम्॥ ६॥

अर्थ—(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुखोंवाले परमेश्वराग्नि! (त्वम्) तू (हि) निश्चय से (विश्वतः) विश्व में (परिभूः) सब ओर सत्तावाला (असि) है। (अप नः शोशुचत् अघम्) परमेश्वराग्नि पापों को अपगत करके, दग्ध करके, उसकी शोचि या परमेश्वराग्नि हमें पवित्र कर देती है।

[विश्वतः=सार्वविभक्तिकः तसिः, अतः विश्वतः है विश्वस्मिन्। परमेश्वर विश्वतोमुख है, परमेश्वर की सत्ता को पवित्र जानकर, उसकी प्रत्येक रचना द्वारा उपासक, उसके सदुपदेशों को मानो सुनता है, अतः प्रत्येक रचना को मुख कहा है। इन सदुपदेशों को सुननेवालों के पाप दग्ध हो जाते हैं, और पवित्र हो जाते हैं। परिभूः=परि+**भू सत्तायाम्** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय। अप नः शोशुचदघम्॥ ७॥

अर्थ—(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुखोंवाले परमेश्वराग्नि! (नः) हमें (द्विषः) द्वेष-नद से (अति पारय) पार कर, (नावा इव) जैसेकि नौका द्वारा [नदी या समुद्र को] पार किया जाता है। (अप नः शोशुचत् अघम्) अर्थ, पूर्ववत्।

[द्वेष आदि दुर्भावनाएँ हैं। इन्हें त्याग देने से मनुष्य विविध पापों के करने से छूट जाता है, और पवित्र विचारोंवाला हो जाता है। एतदर्थ विश्वतोमुख परमेश्वर के सदुपदेशों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये। अप नः शोशुचदघम्॥ ८॥

(**अर्थ**—(सः) वह तू [हे परमेश्वराग्नि!] (नः) हमें (नावा) नौका द्वारा (सिन्धुम् इव) जैसे सिन्धु अर्थात् समुद्र को, वैसे (अतिपर्ष) द्वेषनद से पार कर (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिए। (अपः न शोशुचत् अघम्) अर्थ, पूर्ववत्।

[पर्ष=लेट् लकार, सिप्। "**सिब् बहुलं लेटि**" (अष्टा० ३.१.३४)।]

सूक्त ३४

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोधि यज्ञः॥ १॥

अर्थ—(अस्य ओदनस्य) इस ओदनसाध्य गृहस्थयज्ञ का (शीर्षम्) शिरः-स्थानीय है (ब्रह्म) ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद, (पृष्ठम्) पीठ स्थानीय है (बृहत्) परिमाण में बड़ा ऋग्वेद, (उदरम्) पेटस्थानीय है (वामदेव्यम्) वननीय या सुन्दरस्वरूप परमेश्वर का वर्णन करनेवाला सामवेद, (पक्षौ) दो पंखों के सदृश हैं (छन्दांसि) वैदिक छन्दोमय मन्त्र, (अस्य) इस गृहस्थयज्ञ का (मुखम्) मुख है (सत्यम्) सत्य व्यवहार या सत्य ब्रह्म, (विष्टारी यज्ञः) यह विस्तार करनेवाला गृहस्थयज्ञ (तपसः अधि) ब्रह्मचर्यरूपी तप से (जातः) प्रादुर्भूत हुआ है, या होता है।

[सूक्त के अवशिष्ट मन्त्रों में गृहस्थयज्ञ का ही वर्णन प्रतीत होता है। ब्रह्मवेद गृहस्थयज्ञ का

शिर:स्थानीय है, सिर निष्ठ ज्ञान द्वारा ही गृहस्थ-यज्ञ का परिज्ञान होता है। गृहस्थयज्ञ व्यावहारिक यज्ञ है, और अथर्ववेद मुख्य रूप में व्यवहारों का वर्णन करता है। पृष्ठ में स्थित सुषुम्णा नाड़ी सिर में स्थित मस्तिष्क की ही विस्ताररूपा है, जो नाना ज्ञानग्रन्थियों वाली है, अत: यह परिमाण में बड़े ऋग्वेदरूपा है। ऋग्वेद ज्ञानप्रधान वेद है, यजुर्वेद क्रियाप्रधान है, साम उपासनाप्रधान है, अथर्व व्यवहारप्रधान है। ओदन सात्त्विक अन्न है, और अन्न का स्थान है उदर अर्थात् पेट। गृहस्थ यज्ञरूप है, इसे यज्ञरूप बनाए रखने में सात्त्विक अन्न सहायक है, इससे सन्तानें सात्त्विक प्रकृतिवाली उत्पन्न होती हैं। पक्षौ=पंखों द्वारा पक्षी को सूचित किया है। यथा "**पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति**" (मन्त्र ४); गृहस्थी वैदिक छन्दों के सदुपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करता हुआ योग साधनों द्वारा पक्षी के सदृश द्युलोक को भी अतिक्रान्त कर संचार कर सकता है। यह संचार आकाशगमन रूपी विभूति है (योग० विभूतिपाद ४२) गृहस्थयज्ञ विष्टारी है, सन्तानोत्पत्ति द्वारा विस्तार को प्राप्त करता है। गृहस्थयज्ञ का सेवन ब्रह्मचर्याश्रम में तपोमय जीवन के पश्चात् करना चाहिए "तपसोऽधिजातः"। समग्र सूक्त में गृहस्थयज्ञ का वर्णन है, यह अवशिष्ट मन्त्रों की व्याख्या में और स्पष्ट हो जाएगा।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ॒न॒स्थाः पू॒ताः पव॑नेन शु॒द्धाः शुच॑यः॒ शुचि॒मपि॑ यन्ति लो॒कम्।
नैषां॑ शि॒श्नं प्र द॑हति जा॒तवे॑दाः स्व॒र्गे लो॒के ब॒हु स्त्रैण॑मेषाम्॥ २॥

अर्थ—(अनस्थाः) जो अस्थिपञ्जर नहीं हैं [अपितु मांसल हैं, हृष्ट-पुष्ट हैं] (पूताः) आचार से पवित्र हैं, (पवनेन) प्रवाहित तथा पवित्र वायु द्वारा (शुद्धाः) [शरीर से] शुद्ध हैं। (शुचयः) विचारों द्वारा शुचि हैं, वे ही (शुचिम् लोकम्) शुचि-गृहस्थलोक में (अपि यन्ति) जाते हैं, प्रविष्ट होते हैं। (जातवेदाः) प्रज्ञानी परमेश्वर (एषाम्) इनकी (शिश्नम्) प्रजनन-इन्द्रिय को (न प्र दहति) प्रदग्ध नहीं करता, (स्वर्गे लोके) स्वर्गरूप गृहस्थ लोके में (एषाम्) इनके (बहु स्त्रैणम्) बहुत स्त्रीसमूह के होते हुए भी।

[पवनेन=पूञ् पवने (क्र्यादिः), पूङ् पवने (भ्वादिः)। लोकम्=गृहस्थलोक यथा "**अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे**" (अथर्व० १४.२.४०)। यह मन्त्र विवाह-प्रकरण का है। विवाह के पश्चात् पत्नी पतिलोक अर्थात् पतिगृह में जाती है, न कि मृतपति के मृतलोक में। बहु स्त्रैणम्=गृहस्थ जीवन में नाना स्त्रियाँ होती हैं, माता, भगिनी, चाची, ताई, बेटी, बहुएँ आदि। इन सबके होते हुए, तप से प्रादुर्भूत (मन्त्र १) ब्रह्मचारी, सद्गृहस्थी हुआ, सदाचारपूर्वक निज विवाहित पत्नी के साथ ही गृहस्थ धर्म का व्यवहार करता है, और दुराचारी नहीं होता। कर्मफल-प्रदाता, ज्ञानी परमेश्वर ऐसों को शिश्नप्रदाहरूपी दुष्फल प्रदान नहीं करता, शिश्न का निर्वीर्य हो जाना, तथा अन्य घृणित रोगों द्वारा रुग्ण होना 'शिश्न-प्रदाह' है। ऐसा गृहस्थलोक ही स्वर्गलोक है। स्वर्ग के अन्य स्वरूपों के परिज्ञान के लिए देखें (अथर्व० ६.१२२.२), "**दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव**"। तथा (अथर्व० १०.२.३१) "**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः**"। अयोध्या=शरीर; कोशः=हृदय। हृदय है स्वर्ग, जिसमें कि ब्रह्म का निवास है, स्थिति है (मन्त्र अथर्व १०.२.३२)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये प॒च॑न्ति॒ नैना॒नव॑र्तिः सचते क॒दा च॒न।
आस्ते॑ य॒म उप॑ याति दे॒वान्त्सं ग॑न्ध॒र्वैर्म॑दते सो॒म्येभिः॥ ३॥

अर्थ—(ये) जो (विष्टारिणम्) विस्तारवाले (ओदनम्) ओदन को (पचन्ति) पकाते हैं, (एनान्) इनको (कदा चन) कभी भी (अवर्तिः) वृत्ति का अभाव अर्थात् दारिद्र्य (न सचते) नहीं प्राप्त होता, [वह प्रत्येक ओदन परिपाकी] (यमे) यम-नियमों में (आस्ते) वास करता है, (देवान्) दिव्यगुणों वाले सत्पुरुषों के (उप) समीप (याति) जाता है, उनका सत्संग करता है, तथा (सोम्येभिः) सौम्यस्वभाववाले (गन्धर्वैः) वेदवाणी के धारण करनेवालों के (सम्) साथ (मदते) मोद-प्रमोद प्राप्त करता है।

[सचते=**षच समवाये** (भ्वादिः), समवायः, सम्बन्धः। गन्धर्वैः=**गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)+**धृञ् धारणे** (भ्वादिः)। गौः अर्थात् वाक् है वेदवाक् वेदवाणी। विष्टारी ओदान, यथा—

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन्करुणेऽधि जाया।

कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत्॥ अथर्व० १२.३.४७॥

"मैं पकाता हूँ, मैं देता हूँ, मेरे ही करुणामय कर्म में मेरी जाया है। लोकः अर्थात् भूलोक, कौमार-पुत्र मेरे लिए हो गया है, इस अधिक-उत्कृष्ट (वयः) जीवन को (अन्वारभेथाम्) तुम पति-पत्नी आरम्भ करो!" यह है विस्तारवाला ओदन, जिस द्वारा कि समग्र भूलोक को निज कौमार-पुत्र जानकर पति-पत्नी पालते हैं।

इसी प्रकार गृहस्थी को पञ्चमहायज्ञ भी करने होते हैं, जो "ऋषियज्ञ[1], देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ" हैं। ये पाँच यज्ञ भी "विष्टारी ओदन" रूप हैं। तथा

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥ मनु० ३.९२

"कुत्तों, पतितों, श्वपाकियों पापरोगियों, कौओं, कृमियों को पका अन्न देना—यह भी 'विष्टारी ओदन' है, अर्थात् विस्तृत या विविध प्राणियों को दिया गया पक्व अन्न।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान्यमः परि मुष्णाति रेतः।

रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति॥ ४॥

अर्थ—(ये) जो गृहस्थी (विष्टारिणम्, ओदनम्) विस्तृत प्राणियों के प्रति प्रदेय ओदन को (पचन्ति) पाकविधि द्वारा पक्व करते हैं, (यमः) नियन्ता परमेश्वर (एनान्) इनको (रेतः न परिमुष्णाति) वीर्य से वञ्चित नहीं करता, [ऐसा वीर्यवान् गृहस्थी] (ह) निश्चय से (रथी भूत्वा) रथस्वामी होकर (रथयाने) रथ द्वारा जाने योग्य भूलोक में (ईयते) संचार करता है, और (ह) निश्चय से (पक्षी भूत्वा) पक्षी होकर (दिवः अति) अन्तरिक्ष प्रभृति ऊपर के लोकों को अतिक्रान्त करके (समेति) तत्रस्थ निवासियों के संग को प्राप्त करता है।

[मन्त्र ३ और मन्त्र ४ परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः इन दोनों के नियमों में भी परस्पर सम्बन्ध है। मन्त्र

---

१. ऋषियज्ञ=देवादिशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, योगाभ्यास। देवयज्ञ=विद्वानों का संग, सेवा, दिव्यगुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति और [अग्निहोत्र] करना है। ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करने होते हैं। भूतयज्ञ=दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः [अन्न], नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः [अन्न]। नृयज्ञ=अतिथिसेवा अर्थात् अतिथियज्ञ। पितृयज्ञ=देव जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ानेवाले, पितर माता-पिता आदि, वृद्धज्ञानी और परमयोगियों की सेवा। (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास से उद्धृत)।

३ के उत्तरार्ध में ''आस्ते यम उपयाति'' द्वारा गृहस्थी के सद्‌गुणों का कथन हुआ है। उन सद्‌गुणोंवाला गृहस्थी मन्त्र ४ में अभिप्रेत है। यम अर्थात् नियन्ता परमेश्वर इन सद्‌गुणों वाले व्यक्ति को वीर्यहीन नहीं करता, वह गृहस्थ में वीर्य का प्रयोग भोग-तृष्णा के निमित्त नहीं करता, अपितु सन्तानोत्पत्ति की दृष्टि से करता है, अतः वह वीर्यवान् ही बना रहता है।

रथयाने ईयते=इसकी व्याख्या में 'भूलोके' (सायण)। इस द्वारा ज्ञात होता है कि सूक्तवर्णित स्वर्गलोक [मन्त्र २] भूलोक ही अभिप्रेत है, न कि मृत्यु के पश्चात् द्युलोक में। दिवः समेति=योगी व्यक्ति, योग द्वारा 'आकाशगमन' विभूति प्राप्त कर (विभूतिपाद, ४२), द्युलोक और उससे भी परे के लोकों में निवास करनेवालों के साथ सशरीर संगति प्राप्त करता है, इसमें उसे कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, जैसेकि अन्तरिक्ष में उड़ने वाले पक्षियों को बाधा नहीं होती। एतदर्थ देखें यजुर्वेद (१७.६७) ''**पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षम्**'' आदि मन्त्र पर ऋषि दयानन्द की व्याख्या। ऋषि दयानन्द पृथिवी से अतिरिक्त लोक-लोकान्तरों में भी मनुष्यों का निवास मानते हैं (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८)।

उव्वट तथा महीधर भाष्य भी इस विचार को अपने ढंग से परिपुष्ट करते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**सप्तपदा कृतिः**॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥ ५॥

अर्थ—(यज्ञानाम्) यज्ञों के मध्य में (एषः) यह (विततः) विष्टारी अर्थात् विस्तार करनेवाला गृहस्थयज्ञ (वहिष्ठः) सर्वश्रेष्ठ वाहक है [द्युलोक के प्रति (मन्त्र ४) ले जानेवाला है] (विष्टारिणम्) विस्तार करनेवाले [ओदन] को (पक्त्वा) पकाकर, (दिवम्) द्युलोक में, [पाक करनेवाला गृहस्थी], (आ विवेश) आ प्रविष्ट होता है। गृहस्थयज्ञ (आण्डीकम्) अण्डाकृतिवाले गोल (कुमुदम्) कमल डोडे का (सं तनोति) सम्यक्-विस्तार करता है, (शफकः) वृक्षों की जड़ों को पैदा करनेवाला, और (मुलाली) कन्दमूल का आदान करनेवाला हुआ (बिसम्) बिस अर्थात् भें [खाद्य कमलजड़] को, (शालूकम्) जिसका कि सम्बन्ध गृहस्थशाला के साथ है, उसका (सं तनोति) सम्यक् विस्तार करता है। (एताः) ये वक्ष्यमाण घृतादि [मन्त्र ६,७] की (सर्वाः धाराः) सब धाराएँ (त्वा) तुझे (उप यन्तु) प्राप्त हों (स्वर्गे लोके) स्वर्गलोक, अर्थात् गृहस्थलोक में; तथा (मधुमत्) मधुर मधु को (पिन्वमानाः) सींचती हुईं (पुष्करिणीः) पुष्करों अर्थात् कमलोंवाली भूमियाँ (समन्ताः) जोकि पर्यन्तवर्ती हैं, वे (त्वा उपतिष्ठन्तु) तुझे उपस्थित हों, तेरे समीप स्थित हों।

[विततः=वि+**तनु विस्तारे**+**क्तः**। बहिष्ठः=वह प्रापणे+इष्ठन्, वोढृतमः (कुमुदम्=श्वेत जलकमल, जोकि चन्द्रोदय काल में खिलता है (आप्टे)। शालूकम्=शाला+**उच समवाये,** चकार को ककार, वर्ण-विकार द्वारा। शफकः=शफ (वृक्षों की जड़ें; आप्टे)+कृ+'डः' प्रत्यय। मुलाली=मूला, मूलानि, कन्दमूलानि **ला+आदाने+इनिः**। पिन्वमानाः=**पिवि सेचने च** (भ्वादिः)। पुष्करिणी=कमलह्रद तथा कमल पौधा (आप्टे)। पुष्करम्=नीलकमल (आप्टे)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥ ६॥

अर्थ—(घृतह्रदाः) घृत के तालाब-सदृश महाकाय मटके[1], (मधुकूलाः) मधु द्वारा कूलों अर्थात् किनारों तक भरे मटके, (सुरोदकाः) आयुर्वैदिक अरिष्टों तथा आसवोंवाले महाकाय मटके, तथा (क्षीरेण) दूध द्वारा, (उदकेन) उदक द्वारा, (दध्ना) दधि द्वारा (पूर्णाः) भरपूर मटके, (एताः) ये (सर्वाः धाराः) सब धारक धाराएँ (त्वा) तुझे (उप यन्तु) प्राप्त हों (स्वर्गे लोके) गृहस्थ लोकरूपी स्वर्गलोक में; तथा (मधुमत्) मधुर मधु को (पिन्वमानाः) सींचती हुई (पुष्करिणीः) पुष्करों अर्थात् कमलोंवाली भूमियाँ, (समन्ताः) जोकि पर्यन्तवर्ती हैं, वे (त्वा) तुझे (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित हों, तेरे समीप स्थित हों।

[सुरोदकाः=**सुरा उदकनाम** (निघं० १.१२), अर्थात् सन्धान-विधि द्वारा शुद्ध किया जल—यह अभिप्राय निघण्टु द्वारा प्रतीत होता है। आयुर्वेद की दृष्टि में 'सुरोदकाः' का अभिप्राय है अरिष्टों और द्राक्षासवों आदिवाला उदक। 'पुष्करिणी' हैं कमलोंवाली भूमियाँ। मधुमक्खियाँ कमलों के फूलों से मधु अर्थात् शहद का संग्रह करती हैं, कमलों के फूलों से संगृहीत मधु अधिक गुणकारी प्रतीत होता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**पञ्चपदा भुरिक् शक्वरी**॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥ ७॥

अर्थ—(चतुर्धा) चतुर्विध विद्यमान (चतुरः कुम्भान्) ४ कुम्भों को (ददामि) मैं परमेश्वर देता हूँ [हे गृहस्थी! तुझे] (क्षीरेण) दूध द्वारा, (उदकेन) उदक द्वारा (दध्ना) दधि द्वारा (पूर्णान्) पूर्ण [कुम्भों] को। ये कुम्भ ३ हैं। चौथा कुम्भ है "घृतह्रदाः, मधुकूलाः, सुरोदकाः" (मन्त्र ६)। बहुवचनान्त इन तीनों को, एकविध मानकर, इन्हें चतुर्थ कुम्भ कहा है। (एताः त्वा), अर्थ, पूर्ववत् (मन्त्र ६)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥ ८॥

अर्थ—(विष्टारिणम्) जगत् का विस्तार करनेवाले, (लोकजितम्) लोक-विजयी, (स्वर्गम्) सुखप्राप्त अर्थात् आनन्दस्वरूप (इमम्) इस (ओदनम्) ओदन नामक परमेश्वर को (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मवेत्ताओं तथा वेदवेत्ताओं में (नि दधे) मैं निधिरूप में स्थापित करता हूँ; (स्वधया) निज धारणशक्ति द्वारा (पिन्वमानः) सबका धारण करनेवाला, (सः) वह ओदन-नामक परमेश्वर (मे) मेरे लिए (मा क्षेष्ट) निजप्रकाश से क्षीण न हो, अर्थात् सदा मुझे निजप्रकाश प्रदान करता रहे। (विश्वरूपा) विश्व को रूप देनेवाली, (कामदुघा) कामनाओं का दोहन करनेवाली परमेश्वर-माता (धेनुः) दुधार-गौ के सदृश (मे अस्तु) मेरे लिए हो।

[मन्त्र में ओदन-पद द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है। सूक्त ३४, मन्त्र ८ में ओदन नामक परमेश्वर का वर्णन कर, सूक्त ३५ के साथ सूक्त ३४ की एकविषयता का प्रदर्शन किया है। सूक्त ३५ में ओदन

१. इन्हें मन्त्र ७ में कुम्भ कहा है। ये छोटे कुम्भ नहीं, अपितु महाकाय हैं, मटके हैं।

द्वारा परमेश्वर ही अभिप्रेत है, उसके लिए सूक्त ३५ की व्याख्या देखो, और विशेषरूप में सूक्त ३५ के मन्त्र ६ की व्याख्या। ब्राह्मण अर्थात् वेद तथा ब्रह्म के वेत्ता ही ब्राह्मनिधि को सुरक्षित रख सकते हैं, इस भाव क़ो दर्शाने के लिए 'ब्राह्मणेषु' पद पठित हुआ है। मन्त्र में वेद और ब्रह्म के वेत्ता का परमयोगी द्वारा कथन हुआ है।]

विशेष वक्तव्य—यद्यपि सूक्त ३४ में गृह-परिपक्व ओदन का वर्णन हुआ है, और सूक्त ३५ में तपश्चर्या द्वारा परिपक्व परमेश्वर का वर्णन है (मन्त्र १, तपसाऽपचत्), तथापि ओदन पद के समान होने से ओदनत्वरूप में समानविषयता दोनों सूक्तों में विद्यमान है।

स्वर्गम्=अथवा इस पद द्वारा यह दर्शाया है कि परमेश्वररूप ओदन की प्राप्ति ही स्वर्ग है, स्वर्गलोक की प्राप्ति है।

सूक्त ३५

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ १॥

अर्थ—(ऋतस्य) सत्य के (प्रथमजाः) प्रथमोत्पादक अर्थात् प्रथमाश्रम, ब्रह्मचर्याश्रम में उत्पादक और (प्रजापतिः) प्रजाओं अर्थात् सन्तानों के पालक तथा रक्षक गृहस्थी ने, (ब्रह्मणे) ब्रह्म की प्राप्ति के लिए, (यम्, ओदनम्) जिस ओदन-परमेश्वर को, (तपसा) तपस्या द्वारा (अपचत्[1]) निज जीवन में परिपक्व किया, तथा (यः) जो ओदन (लोकानाम्) लोकलोकान्तरों का (विधृतिः) विशेषेण धारक है, (न अभिरेषात्) वह [मेरे लिए] नष्ट न हो, (तेन ओदनेन) उस ओदन द्वारा (मृत्युम् अति) मृत्यु का अतिक्रमण कर, (तराणि) मैं तैर जाऊँ [भवसागर को]।

(विधृतिः=अथवा जो पृथक्-पृथक् वर्तमान लोकों का धारक है। अभिरेषात्=अभि+रिष् (हिंसायाम्) +आट्, लेटि। गृह-परिपक्व ओदन तो हिंसित हो जाता है, विकृत हो जाता है, परन्तु तपश्चर्या द्वारा परिपक्व किया परमेश्वरौदन नष्ट नहीं होता। अथवा प्रार्थना की गई है कि तपश्चर्या द्वारा प्रत्यक्षीकृत परमेश्वर, हमारी असावधानता द्वारा, कहीं पुनः अप्रत्यक्ष न हो जाए। यद्यपि गृह-परिपक्व ओदन भी मृत्यु से बचाता है, दीर्घ जीवन कर देता है, तो भी सूक्त ३५ के मन्त्रों में मृत्यु का अतिक्रमण करना, स्पष्ट रूप में, मोक्षाभिधायक है।]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

येनातरन्भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ २॥

अर्थ—(भूतकृतः) यथार्थकर्मा व्यक्ति (येन) जिस ओदन द्वारा (मृत्युम्) मृत्यु को (अति अतरन्) तैर जाते हैं, (यम्) जिस ओदन को (तपसा) तपश्चर्या द्वारा तथा (श्रमेण) परिश्रम द्वारा (अन्वविन्दन्) प्राप्त करते हैं; (पूर्वम्) अग्रजन्मा (ब्रह्म) ब्राह्मण (ब्रह्मणे) ब्रह्म की प्राप्ति के लिए (यम्) जिस ओदन को (पपाच) जीवन में परिपक्व करता है, (तेन ओदनेन) उस ओदन द्वारा (मृत्युम्) मृत्यु को (अति

१. 'पच्' का प्रयोग अन्न के पकाने से अन्यत्र भी होता है, यथा कर्मविपाक, ध्यानाभ्यास का परिपाक आदि।

तराणि) मैं तैर जाऊँ।

[तैरने के कारण, मृत्यु है भवसागर।]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ ३॥

अर्थ—(विश्वभोजसम्, पृथिवीम्) सबको भोजन देनेवाली, या सबका पालन करनेवाली पृथिवी को (यः) जिस ओदन ने (दाधार) धारण किया हुआ है, (यः) जिस ओदन ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रसेन) रसीले उदक द्वारा (आपृणात्) सर्वत्र भरपूर किया है; (यः) जिस ओदन ने (ऊर्ध्वः) उर्ध्वदिशा में स्थित होकर, (महिम्ना) निज महिमा द्वारा (दिवम्) द्युलोक को (अस्तभ्नात्) थामा हुआ है, (तेन ओदनेन) उस ओदन द्वारा (मृत्युम्, अतितराणि) में मृत्यु को तैर जाऊँ।

[भोजसम्=**भुज पालनाभ्यवहारयोः** (रुधादिः)। रसेन=**रसः उदकनाम** (निघं० १.१२)]।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ ४॥

अर्थ—(यस्मात्) जिस ओदन से (त्रिंशत् अराः) तीस अरोंवाले (मासाः निर्मिताः) मास निर्मित हुए हैं, (यस्मात्) जिस ओदन से (द्वादशारः) १२ अरोंवाला (संवत्सरः निर्मितः) संवत्सर निर्मित हुआ है; (परियन्तः) ओदन की परिक्रमा करते हुए (अहोरात्राः) दिन और रात (यम्) जिस ओदन को (न आपुः) नहीं प्राप्त हुईं, (तेन ओदनेन अति तराणि मृत्युम्) उस ओदन द्वारा मृत्यु को मैं तैर जाऊँ।

[अराः='अराः' तथा 'परियन्तः' द्वारा कालचक्र को सूचित किया है। प्रत्येक मास को ३० अरों अर्थात् दिन-रात में बाँटा है। द्वादशारः द्वारा संवत्सर के १२ मास दर्शाये हैं। राशिचक्र में १२ राशियाँ होती हैं, प्रत्येक राशि में सूर्य के एक-एक मास वास द्वारा १२ मास होते हैं।]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ ५॥

अर्थ—(यः) जो ओदन-परमेश्वर (प्राणदवान्) प्राणप्रदों का स्वामी हुआ (प्राणदः) प्राणप्रदाता (बभूव) हुआ है, (यस्मै) जिसके लिए (लोकाः) पृथिवी आदि लोक (घृतवन्तः) घृतवाले हुए (क्षरन्ति) क्षरित होते हैं; (यस्य) जिसकी (सर्वाः प्रदिशः) सब दिशाएँ (ज्योतिष्मतीः) ज्योतिः-सम्पन्न हैं, (तेन ओदनेन अति तराणि मृत्युम्) उस ओदन द्वारा मृत्यु को मैं तैर जाऊँ।

[प्राणदवान्=प्राणद अर्थात् प्राणप्रदा हैं, अग्नि, वायु, सूर्यादि; ओदन इन प्राणप्रदों का स्वामी है, प्राणद+मतुप् और इन द्वारा प्राणप्रदाता हुआ है। घृतवन्तः=इन लोकों से जो शक्तियाँ हमें प्राप्त हो रही हैं वे मानो घृत हैं, घृत के सदृश पुष्टिदायिका हैं। सब प्रदिशाएँ, द्युलोक के तारामण्डलों और सूर्य-चन्द्र द्वारा मानो जगमगा रही हैं; रात्रि में तारामण्डलों और चन्द्र द्वारा और दिन में सूर्य द्वारा।]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।

यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ ६ ॥

अर्थ—(यस्मात् पक्वात्) जिसके परिपक्व होने से (अमृतम् संबभूव) मोक्ष हुआ, (यः) जो (गायत्र्याः) गायत्री[1] [मन्त्र] का (अधिपतिः बभूव), अधिदेवता हुआ है; (यस्मिन्) जिसमें (विश्वरूपाः) विश्व का निरूपण करनेवाले (वेदाः निहिताः) वेद निहित हैं, (तेन ओदनेन अति तराणि मृत्युम्) उस ओदन द्वारा मैं मृत्यु को [भवसागर को] तैर जाऊँ।

मन्त्र में स्पष्ट रूप में ओदन द्वारा परमेश्वर अभिहित है। प्रश्न स्वाभाविक है कि परमेश्वर को ओदन क्यों कहा? उत्तर यह है कि परमेश्वर स्वलीन ध्यानियों के लिए अन्नरूप है, परमेश्वर में लीन हुए ध्यानी परमेश्वरीय आनन्दरस का पान करके तृप्त रहते हैं, इसलिए परमेश्वर को अन्न कहा है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेप ते भवन्तु।

ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः॥ ७ ॥

अर्थ—(देवपीयुम्) दिव्य भावनाओं के हिंसक, (द्विषन्तम्) द्वेषी असुर का (अव बाधे) मैं ध्यानी हनन करता हूँ, (मे) मुझ ध्यानी के (सपत्नाः) शत्रु जो असुर हैं (ते) वे (अप भवन्तु)अपगत हो जाएँ; (विश्वजितम्) विश्वविजयी (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्मरूपी ओदन का (पचामि) मैं परिपाक करता हूँ, (देवाः) देव अर्थात् श्रेष्ठ लोग (श्रद्दधानस्य) श्रद्धा-सम्पन्न (मे) मेरे [वचन] (शृण्वन्तु) सुनें।

[देवासुर-संग्राम का वर्णन है। श्रद्धा है सत्य का धारण करना। **श्रत् सत्यनाम** (निघं० ३.१०)+धा (धारणे)।]

सप्तम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ८

सूक्त ३६

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।

यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात्॥ १ ॥

अर्थ—(सत्यौजाः) सत्य के स्थापन में ओजवाला, (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी, (वृषा) तथा उनपर सुखवर्षा करनेवाला (अग्निः) सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री (तान्) उन्हें (प्र दहतु) पूर्णतया दग्ध करे (यः) जो (नः) हमें (दुरस्यात्) दुष्ट जानकर हमारे साथ व्यवहार करे, (दिप्सात्) दम्भ अर्थात् छल-कपट का व्यवहार करे (च अथो) और तथा (यः) जो (नः) हमें (अरातियात्) शत्रु जानकर हमारे

---

१. 'गायत्री' पद द्वारा किसी भी गायत्री-छन्दोबद्ध मन्त्र का निर्देश नहीं हुआ, अपितु प्रसिद्ध जप्य गायत्री-मन्त्र का निर्देश हुआ है। यथा "**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्**" (यजुः० ३.३५; २२.९; ३०.२)। इस द्वारा जप्य गायत्री की विशेष महिमा सूचित होती है।

साथ शत्रु का-सा व्यवहार करे।

[प्रधानमन्त्री तो सर्वोपकारी है, सबका सुख चाहता है, परन्तु फिर भी जो अन्यदेशीय राजा उसकी प्रजा के साथ बुरा व्यवहार करे, तो राजा उसे प्रदग्ध कर देने की स्वीकृति प्रदान करे। राजा स्वयं प्रदहन नहीं करता, अपितु वह प्रदहन करने की स्वीकृति प्रदान करता है, प्रदहन तो सेनापति ही करेगा। सत्यौजाः—यथा **"सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्"** (अथर्व० ३.१.४)। सेनापति की उक्ति अगले मन्त्रों में हुई है। दुरस्यात्=आदि यथा दुर्व्यवहार करे, दम्भ करे, शत्रुता करे (लेटि आड् आगम)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो नो दिप्सदिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।

वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम्॥ २ ॥

अर्थ—(यः) जो शत्रु, (अदिप्सतः नः) दम्भ न करना चाहते हुए या करते हुए हमारे साथ (दिप्सत्) दम्भ करना चाहे, (यः च) और जो (दिप्सतः) प्रतीकार में दम्भ करना चाहते हुए या करते हुए हमारे साथ (दिप्सति) फिर भी दम्भ करना चाहता है या करे, (तम्) उन दोनों को (वैश्वानरस्य) सब नर-नारियों का हित करनेवाले (अग्नेः) राष्ट्राग्रणी प्रधानमन्त्री की (दंष्ट्रयोः) दो दंष्ट्राओं में (अपि दधामि) मैं पिहित करता हूँ, बन्द करता हूँ।

[दंष्ट्रयोः=दो दंष्ट्राएँ हैं, शस्त्र और अस्त्र। अपिधान=पिधान, बन्द करना।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेमावास्ये।

क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे॥ ३ ॥

अर्थ—(अमावास्ये) अमावास्या[१] के रात्रि काल में, (प्रतिक्रोशे) प्रतिद्वन्द्विता में किये आक्रोश में, नादों या नारों में, (ये) जो (आगरे=आगारे) हमारे राष्ट्र-गृह में [घुसकर] (मृगयन्ते) हमारी खोज करते हैं, तथा (अन्यान्) हम अधिकारियों से भिन्न अन्य प्रजाजनों को (दिप्सतः) दम्भ से हिंसित करना चाहते हैं, (तान् सर्वान्) उन सब (क्रव्यादः) मांस-भक्षकों का (सहसा) साहसपूर्वक या बल द्वारा (सहे) मैं सेनापति पराभव करता हूँ।

[**सहः बलनाम** (निघं० २.९)। सहे=अभिभवामि (सायण), पराभव करता हूँ। क्रव्यादः=शत्रुसैनिक। युद्ध में हत्या करना, मानुषमांस को खाना ही है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे। सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम्॥ ४॥

अर्थ—(पिशाचान्) मांसभक्षकों का (सहसा सहे) मैं बल द्वारा पराभव करता हूँ, (एषाम्, द्रविणम् [आ]ददे) इनका धन मैं छीन लेता हूँ। (सर्वान् दुरस्यतः) सबसे दुर्व्यवहार करना चाहते हुए को (हन्मि) मैं मार देता हूँ। (मे) मेरा (आकूतिः) यह संकल्प (सम् ऋध्यताम्) समृद्ध हो, खूब बढ़े।

---

१. अमावास्या के रात्रिकाल में अँधेरा होने से, शत्रुदल को, छिपे-छिपे खोज का स्ववसर मिल जाता है। मृगयन्ते=**मृग अन्वेषणे** (चुरादिः), अन्वेषण खोज करना, ढूँढना।

[पिशाचान्=पिश, पिशित मांस+अच् या अञ्च (याचने, भ्वादिः) क्रव्यादः (मन्त्र ३)। पिशाच या क्रव्याद् मांस-भक्षक हैं। मांस-भक्षण वैदिक अपराध है, इसमें पशुहिंसा पाई जाती है, सर्वभूतमैत्रीसिद्धान्त की क्षति होती है। अथवा युद्ध में सैनिक हिंसकों को पिशाच और क्रव्याद कहा है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम्। नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

अर्थ—(ये) जो [हमारे] (देवाः) विजिगीषु सैनिक तथा सेनाधिकारी (सूर्येण) सूर्य के साथ (जवम्) निज वेग को (मिमते) मापते हैं, तुलना करते हैं (ये) जो महात्माजन (नदीषु) नदियों के तटों पर या नदियों के संगमों पर, (पर्वतेषु) और पर्वतों में [निवास करते] हैं, उन्हें; (तेन) उस हमारे सेनापति के साथ-साथ [मन्त्र ४], (हासन्ते) शत्रु द्वारा कारित दुष्कृत्य अर्थात् 'प्रतिक्रोश' और मृगयण अर्थात् 'खोज' कर्म हैं, [मन्त्र ३] जोकि इन्हें उपहास कराने में प्रयोजक बने हैं, उनके होते भी मैं राष्ट्राग्रणी कहता हूँ कि मैं तो (तैः पशुभिः) उन नर-पशुओं के साथ (सं विदे) संवेदन अर्थात् संज्ञान ऐकमत्य करता हूँ।

[जनम् मिमते=जो पदाति अतिशीघ्र वेगवाले हैं, या सूर्य के अथवा सूर्य की रश्मियों के समान अतिवेगवाले हैं, शीघ्रगामी विमानों द्वारा। नदीषु पर्वतेषु=यथा "**उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत**" (यजुः० २६.१५)। संविदे=यथा "**संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः। संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्**" (अथर्व० ७.५२.१) संज्ञानम्=संवेदनम्, ऐकमत्यम्। अरणेभिः=शत्रुभिः। अश्विनौ=उभयपक्ष के प्रधानमन्त्री तथा सेनापति; प्रकरणानुसार। अरणेभिः जिनके साथ हमारी बोलचाल नहीं, अ+**रण (शब्दे,** भ्वादिः)। हासन्ते=हासयन्ति[१]=उपहासयन्ति, उपहास कराने के कारण बनते हैं। शत्रु राजा के दुष्कृत्य हैं "अमावास्याकाल की रात्रि के घने अन्धकार में 'प्रतिक्रोश' तथा 'खोज' कराना। प्रतिक्रोश है प्रतिद्वन्द्विता-प्रदर्शक आक्रोश या नारे। देवाः="**दिवुक्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार०**" आदि (दिवादिः)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।

श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(पिशाचानाम्) पिशाचों का (तपनः) सन्तापक (अस्मि) मैं सेनाध्यक्ष हूँ, (इव) जैसेकि (गोमताम्) गोस्वामियों का सन्तापक (व्याघ्रः) व्याघ्र होता है, (इव) जैसे (सिंहं दृष्ट्वा) सिंह को देखकर (श्वानः) कुत्ते [छिपने का समय नहीं पाते वैसे] (ते) वे पिशाच [मुझे देखकर] (न्यञ्चनम्) छिपने के स्थान को (न विन्दन्ते) नहीं पाते।

[पिशाचाः=पिशाच अमानुष-जाति के नहीं, अपितु वे मांस-भक्षक मनुष्य ही हैं। व्याघ्र गौओं को मारकर खा जाता है, अतः गोस्वामियों का वह सन्तापक है। कुत्ते सिंह को देखकर छिपने का अवसर नहीं पा सकते, सिंह उनपर झपटकर उन्हें पकड़ लेता है।]

१. शत्रुपक्ष निर्बल है, और अस्मत्पक्ष प्रबल है। इसलिए शत्रु विजयाभिलाषा के निमित्त जो चालें चलता है उसके कृत्यों पर हमारे सैनिक आदि तथा महात्मा भी उपहास करते हैं, मखौल करते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे॥ ७॥

अर्थ—(न) न (पिशाचैः) मांस-भक्षकों के साथ (सम् शक्नोमि) मैं सन्धि कर सकता हूँ, (न स्तेनैः) न चोरों के साथ, (न वनर्गुभिः) न वन में छिपे डाकुओं के साथ (यम् ग्रामम्) जिस ग्राम में (अहम्) मैं सेनाध्यक्ष (आविशे) प्रवेश पाता हूँ (तस्मात्) उस ग्राम से (पिशाचाः) पिशाच आदि (नश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं।

[वनर्गुभिः=**वनर्गू वनगामिनौ** (निरुक्त ३.३.१४)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम। पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते॥ ८॥

अर्थ—(यम् ग्रामम्) जिस ग्राम में (मम) मेरा (इदम्) यह (उग्रम्, सहः) उग्र बल (आविशते) प्रविष्ट हो जाता है, (तस्मात्) उस ग्राम से (पिशाचाः) मांसभक्षक आदि (नश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं, (पापम्) पाप को (न उप जानते) जानते तक नहीं [पापकर्म का करना तो सम्भव ही नहीं]।

[प्रत्येक ग्राम को पाप तथा पापियों से रहित कर देना, वैदिक सदाचार का उद्देश्य है, केवल नागरिक सदाचार पर्याप्त नहीं।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव।

तानहं मन्ये दुर्हिताञ्जने अल्पशयूनिव॥ ९॥

अर्थ—(ये) जो (लपिताः) बकवासी (मा) मुझ सेनाध्यक्ष को (क्रोधयन्ति) [निज व्यवहारों द्वारा] क्रुद्ध करते हैं, (इव) जैसेकि (मशकाः) मच्छर (हस्तिनम्) हाथी को, (तान् दुर्हितान्) उन अहितकारियों को (अहम्) मैं सेनाध्यक्ष (मन्ये) मानता हूँ, (जने) जन-समुदाय में (अल्पशयून् इव) सड़क पर सोये हुए क्षुद्र कीड़ों की तरह।

[लपिताः=**रप लप व्यक्तायां वाचि** (भ्वादिः)। मच्छर भी ''लपिताः'' हैं, वे घुं-घुं की आवाजें कानों में करते हैं।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या।

मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते॥ १०॥

अर्थ—(तम्) उसे (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति (अभि धत्ताम्) निजपाशों द्वारा बाँध दे, (इव) जैसेकि (अश्वम्) अश्व को (अभिधान्या) रस्सी द्वारा बाँधा जाता है, (यः) जो (मल्वः) मलिक अर्थात् पापी (मह्यम् क्रुध्यति) मुझ सेनाध्यक्ष को क्रुद्ध करता है, (सः) वह (उ) निश्चय से (पाशात्) पाश से (न मुच्यते) नहीं मुक्त होता, रस्सियों से बाँध दिया जाता है।

[रस्सियाँ हैं हथकड़ियाँ।]

सूक्त ३७

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः॥ १ ॥

अर्थ—(ओषधे) हे ओषधि! (पूर्वम्) पूर्वकाल से, अर्थात् अनादिकाल से (अथर्वाणः) अथर्ववेद के विज्ञों ने (त्वया) तुझ द्वारा (रक्षांसि) राक्षसी रोग-कीटाणुओं [germs] का (जघ्नुः) हनन किया, (त्वया) तुझ द्वारा (कश्यपः) रोगपरीक्षक ने (जघान) उनका हनन किया, (त्वया) तुझ द्वारा (कण्वः) कण समान क्षुद्र रोग-कीटाणुओं को जाननेवाले मेधावी ने, (अगस्त्यः) तथा प्रगति अर्थात् जड़ता को परास्त करनेवाले ने [उनका हनन किया]।

[कश्यपः=पश्यतीति, वर्णविपर्ययः (अथर्व० ४.२९.३)। **कण्वः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। अगस्त्यः=रोग-कीटाणु के कारण शरीर में जड़ता; अ+ग+अस् (क्षेपणम्)+त्यप् (छान्दस)।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय॥ २ ॥

अर्थ—(त्वया) तुझ द्वारा (वयम्) हम (अप्सरसः) जल में सरण करनेवाले मादा रोग-कीटाणुओं का, तथा (गन्धर्वान्) गन्ध द्वारा हिंसनीय नर-रोग कीटाणुओं का (चातयामहे) नाश करते हैं; (अजशृङ्गि) हे अजशृङ्गी ओषधि! तू (रक्षः) राक्षसी-रोगकीटाणु को (अज) प्रक्षिप्त कर, इस स्थान से प्रच्युत कर, (सर्वान्) और सब रोग कीटाणुओं को (गन्धेन) गन्ध से (नाशय) नष्ट कर।

[अप्सरसः=अप्सु सारिण्यः; मादा रोग-कीटाणु। जलों में सरण करनेवाले मलेरिया तथा हैजे के मादा रोग कीटाणु। गन्धर्वान्=गन्ध+अर्वा (**अर्व हिंसायाम्,** भ्वादिः) नर रोग-कीटाणु। गन्धेन नाशय=अजशृङ्गी को हवन द्वारा जलाकर उसके गन्ध द्वारा नाश करना। सर्वान्=अथवा नर-मादा दोनों प्रकार के रोग-कीटाणुओं को नष्ट करना।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सरसः** ॥ छन्दः—**षट्पदा त्रिष्टुप्** ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोपां तारमवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥ ३ ॥

अर्थ—(अप्सरसः) अप् अर्थात् जलों में सरण करनेवाले मादा-रोगकीटाणु (नदीम्, यन्तु) नदी [के जल] को प्राप्त हों, (अव=अवस्तात्, श्वसम्) नीचे की ओर, प्राणवान् अर्थात् शक्तिवाले अर्थात् प्रवाही (तारम्) सन्तरणीय (अपाम्) जलों के प्रपात को [प्राप्त हों]। (गुल्गुलूः) गुग्गुल, (पीला) पीला, (नलदी) नलदी, (औक्षगन्धिः) उक्षा अर्थात् बैल के सदृश गन्धवाली, (प्रमन्दनी) प्रमोद देनेवाली, ये तुम्हारी नाशक ओषधियाँ हैं। (अप्सरसः) हे अप् अर्थात् जलों में सरण करनेवाले मादा-कीटाणुओ! (तत्) उस जलप्राय[1] स्थान को (परेत) हमसे पराङ्मुख होकर तुम चले जाओ, (प्रतिबुद्धाः अभूतन) तुम जाने-पहिचाने हो गये हो।

[अवश्वसम्=अवस्तात्+**श्वस प्राणने** (अदादिः)। गुल्गुलू[2]=गुग्गुल ओषधि। यथा "**न तं यक्ष्मा**

---

१. जलप्राय स्थानों में मलेरिया और हैजे के रोग-कीटाणु पनपते हैं।
२. "**गुल्गुल्वादीनि पञ्च होमद्रव्याणि**" (सायण)।

अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते। यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते" (अथर्व० १९.३८.१)। गुग्गुल का सुरभि गन्ध रोग-कीटाणुओं का विनाशक है। प्रतिबुद्धा अभूतन=तुम जाने-पहिचाने हो गये हो, अतः तुम्हारा विनाश समीप है—यह अभिप्राय है। पीला आदि ओषधियाँ सुगन्धवाली हैं। परेत=परा+इत।]

ऋषिः—**बादरायणिः**॥ देवता—**अप्सरसः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥ ४॥

अर्थ—(यत्र) जिस स्थान में (अश्वत्थ, न्यग्रोधाः, महावृक्षाः, शिखण्डिनः) अश्वत्थ आदि महाकाय वृक्ष तथा मयूर हैं (तत्) उस स्थान में (परा इत) हमसे पराङ्मुख होकर तुम चले जाओ (अप्सरसः) हे अप् अर्थात् जल में सरण करनेवाले मादा-कीटाणुओ! (प्रतिबुद्धाः अभूतन) तुम जाने-पहिचाने हो गये हो।

[अश्वत्थ=पीपल। न्यग्रोध=गूलर। ये वनवृक्ष हैं, जहाँ पत्ते आदि गिरकर, तथा मृत्यु के पश्चात् प्राणियों के शरीर गल-सड़कर रोगकीटाणुओं को पैदा करते रहते हैं, अतः मादा-कीटाणुओं के स्थान हैं। मादा इसलिए कि मादा-कीटाणु ही मादा और नर दोनों प्रकार के कीटाणुओं को पैदा करते हैं। अभूतन=तनप् प्रत्यय।]

ऋषिः—**बादरायणिः**॥ देवता—**अप्सरसः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥ ५॥

(**अर्थ**—[हे अप्सरसः] (यत्र) जिस स्थान में (वः) तुम्हारे (हरिताः, अर्जुनाः उत) हरे और श्वेत वर्णोंवाले (प्रेङ्खाः) झूले हैं, (यत्र) जिस स्थान में (आघाटाः) संघट्ट में वर्तमान (कर्कर्यः) कड़कड़ शब्द करनेवाले झींगुर[1] (सम् वदन्ति) परस्पर मिलकर संवाद या शोर-गुल करते हैं, (तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन) अर्थ, पूर्ववत् (मन्त्र ४)।

[मन्त्र में वन या अरण्यानी अर्थात् महदरण्य-स्थल का वर्णन है। महावृक्षों की शाखाओं के प्रलम्बों द्वारा तथा लताओं द्वारा उत्पन्न झूले। आघाटाः='**घट संघाते**' (चुरादिः), अथवा '**घटि भाषार्थः**' (चुरादिः), मानो परस्पर भाषण करते हुए झींगुर, "संवदन्ति"।]

ऋषिः—**बादरायणिः**॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती। अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु॥ ६॥

अर्थ—(वीरुधाम्, ओषधीनाम्) विरोहणशील ओषधियों में (वीर्यावती) बलवती, (अजशृङ्गी) बकरे के सदृश सींगोंवाली, अर्थात् (तीक्ष्णशृङ्गी) तीक्ष्ण सींगोंवाली (इयम्) यह (अराटकी) अराटी (आ अगन्) आ गई है, वह (व्यृषतु) रोग के कीटाणुओं का हिंसन करे।

[अराटिका नाम है ओषधि का। शेष दो नाम, अराटिका के विशेषण हैं। अराटी ('वनौषधि-

---

१. सम्भवतः ये झींगुर ऋग्वेदोक्त 'चिच्चिक' हैं। यथा '**वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः। आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते**'" (ऋ० १०.१४६.२; अरण्यानी सूक्त) वृषारव है वर्षा करनेवाले मेघ का "आ रव" अर्थात् चारों दिशाओं में व्यापी गर्जन। इस गर्जन को उपलक्ष्य करके मानो जल-याचन के लिए 'चिच्चिक' चि-चि आवाजें करता है। अवति=**अव याचने** (भ्वादिः)। चि-चि आवाजें सम्भवतः झींगुरों का संवदन है, संवाद करना है।

चन्द्रोदय', लेखक श्री चन्द्रराज भण्डारी, विशारद; (ज्ञानमन्दिर-भानपुरा)। व्यृषतु=वि+**ऋषी गतौ** (तुदादिः); विगत करे, नष्ट करे।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः। भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥

अर्थ—(आनृत्यतः) घूम-घूमकर नाचते हुए (शिखण्डिनः) मयूरों के सदृश नाचते हुए, (अप्सरापतेः[१]) जल में सरण करनेवाले मादा रोग-कीटाणु के पति, (गन्धर्वस्य) गन्ध द्वारा हिंसनीय नर-कीटाणु के (मुष्कौ) अण्डकोषों में छिपे दो अण्डों को (भिनद्मि) मैं तोड़ देता हूँ, और (शेपः) प्रजननेन्द्रिय पर (अपि[२] यामि) आक्रमण करता हूँ [अभिप्राय है "काट देता हूँ"।]

[सूक्ष्म प्रदर्शक अर्थात् माइक्रोस्कोप द्वारा देखने पर रोग-कीटाणु [germs] अतिशय हिलते-डुलते दीखते हैं, जिनकी इस क्रिया को नाचना कहा है। मयूर नाचता है, मोरनी को अपनी ओर कामार्थ आकर्षित करने के लिए। गन्धर्व अर्थात् गन्ध द्वारा हिंसनीय नर रोग-कीटाणु के नाच को भी, मादा रोग-कीटाणु का आकर्षक वर्णित किया है। नर-रोग कीटाणु, मादा-रोग कीटाणु में जब निज प्रजननेन्द्रिय द्वारा वीर्य सदृश शारीरिक तरलांश का आधार करता है तभी रोग-कीटाणुओं की वंशपरम्परा चालू होती है। इस परम्परा का उच्छेद तभी सम्भव है जबकि नर रोग-कीटाणु के अण्डों[३] का भेदन कर दिया जाए, और उसकी प्रजननेन्द्रिय को काट दिया जाए। इसके लिए निष्णात वैज्ञानिक डाक्टर अपेक्षित हैं। भेदन और काटने के लिए अस्त्र-शस्त्र का वर्णन मन्त्र ८,९ में देखें। अजशृङ्गी ओषधि (मन्त्र २) द्वारा रोग-कीटाणुओं को मार देने का निर्देश भी किया है। इससे भेदन और काटने की आवश्यकता नहीं होती। ओषधि के प्रयोक्ताओं का वर्णन (मन्त्र २) में है।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः। ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषितु ॥ ८ ॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र के (हेतयः) अस्त्र-शस्त्र (भीमाः) भयानक हैं, (शतमृष्टीः) जोकि सौ धाराओंवाले हैं, और (अयस्मयीः) लौहनिर्मित हैं, (ताभिः) उन द्वारा (हविः अदान्) हवि के खानेवाले, और (अवकादान्) अवका अर्थात् जलोपरिस्थित शैवाल के खानेवाले (गन्धर्वान्) गन्धर्वों को (व्यृषतु) इन्द्र हिंसित कर दे।

[इन्द्र है सम्राट् (**"इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा"** (यजुः० ८.३७)। गन्धर्व हैं नर रोग-कीटाणु, जोकि गन्ध द्वारा हिंसित होते हैं। ये हवियों अर्थात् खाद्य और यज्ञिय पदार्थों को खाने के लिए उनपर आ बैठते हैं और उनमें निजविष का संचार कर देते हैं। इसी प्रकार अवकों को खाते हुए जल को विकृत कर देते हैं, और रोगों को फैलाते हैं। इनका विनाश सम्राट् के प्रबन्ध द्वारा किये जाने का निर्देश मन्त्र में हुआ है।]

---

१. अप्सरा, अप्सराः दोनों पर्यायवाची हैं। अप्सरा=अप्+सर+टाप्। अप्सराः=अप्+सृ (गतौ) असुन्।

२. अपि यामि=अभियामि, अभियान है आक्रमण करना।

३. मुष्कौ, शेपः=ये दो अङ्ग कल्पित किये हैं वीर्याधान की दृष्टि से, अथवा ये दो अङ्ग सम्भवतः सूक्ष्मरूप में इनमें विद्यमान हों। यथा मन्त्र ११ के अनुसार गन्धर्व पुरुष है जोकि श्वा और कपि के सदृश भोगी होकर, कुमार का रूप धारण कर, स्त्रियों का संभोग करता है, जिसे कि विनाश का दण्ड दिया है, राजव्यवस्थानुसार।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः।

ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषितु॥ ९ ॥

अर्थ—मन्त्रार्थ, पूर्ववत् है। इस मन्त्र में 'हेतयः' को सुवर्ण-निर्मित कहा है। लोहनिर्मित अस्त्र-शस्त्रों में जङ्ग लग जाता है, सुवर्णनिर्मितों को जङ्ग नहीं लगता, अतः सूक्ष्मछेदन अर्थात् शस्त्रक्रिया के लिए ये उपकारी हैं। हेति का अर्थ होता है—अस्त्र, हेति-पद शस्त्रों का भी उपलक्षक है।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान्।

पिशाचान्त्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च॥ १० ॥

अर्थ—(मामकान्) मत्सम्बन्धी, (अभिशोचान्) शोक प्राप्त करानेवाले, (अवकादान्) अवकाभक्षकों को (अप्सु) जलों में ही (ज्योतय) [विद्युत् या सूर्य की ज्योति द्वारा] जला दे; (ओषधे) हे ओषधि! (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांसभक्षकों को (प्र मृणीहि) मार डाल, (च) और (सहस्व) उनका पराभव कर।

[मन्त्र में दो विकल्प हैं। (१) विद्युत् या सूर्य की ज्योति द्वारा, जलस्थ ही रोग-कीटाणुओं को समाप्त कर देना। (२) ओषधि के प्रयोग द्वारा या उसके सुगन्धित धूम द्वारा उन्हें मार देना। रोग-कीटाणु, रोग पैदा कर रोगी के मांस को सुखा देते हैं, उसे कमजोर कर देते हैं, इसलिए वे पिशाच हैं; पिश=पिशित, मांस+**अञ्चु, अचु, अचि** (याचने, भ्वादिः); मांसयाचक, अतः मांसभक्षक; मांसयाचना भक्षण के लिए ही होती है।[1]]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः।

प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता॥११ ॥

अर्थ—(श्वा इव) कुत्ते के सदृश (एकः) एक, (कपिः इव) कपि के सदृश (एकः) एक, (कुमारः) कुत्सित कामवाला युवा-कुमार, (सर्वकेशकः) जो सबके लिए क्लेशवाला है, क्लेशप्रद है, वह (दृशः) दृष्टि को (प्रिय इव) प्रिय लगनेवाला (भूत्वा) होकर, (गन्धर्वः) और गीतियों को धारण कर, (स्त्रियः) नाना स्त्रियों के साथ (सचते) सम्बन्ध करता है, (तम्) उसको (वीर्यावता ब्रह्मणा) शक्ति-प्रदाता परमेश्वर की सहायता द्वारा (इतः नाशयामसि) इस पृथिवी से हम परस्पर मिलकर नष्ट करते हैं।

[यद्यपि प्रकरण में गन्धर्व का अर्थ "गन्ध द्वारा हिंसनीय नर-कीटाणु है", तो भी नर-कीटाणु के सदृश युवा-कुमार का भी प्रसङ्गवश वर्णन हुआ है। यह 'कुमार' है "कुत्सित कामवासनावाला, तथा 'मारः'=मार देनेवाले अतिकामवाला युवा कुमार। सर्वकेशकः=सर्वेभ्यः केशं क्लेशं करोतीति। सर्व+केश+कृ (डः प्रत्ययः, डित्वात् टिलोपः। केशः=क्लेशः; "केशः-क्लिश्नाति" (दशपाद्युणादिवृत्ति ९.२)। गन्धर्वः= **गीतिरूपा वाचो गा धारयतीति** (सायण; ४.३७.७)। श्वा और कपि अतिकामी होते हैं।]

---

१. मन्त्र ८,९ में इन्द्र के तीन अर्थ अभिप्रेत हैं—(१) सम्राट्, (२) अन्तरिक्षस्थ विद्युत्, (३) सूर्य।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्। अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वम्॥ १२॥

अर्थ—(गन्धर्वाः) हे गन्ध द्वारा हिंसनीय नर-कीटाणुओ! (अप्सरसः) जलों में सरण करनेवाले मातृ-कीटाणु (वः) तुम्हारी (जायाः इत्) जाया ही हैं, पत्नियाँ ही हैं, (यूयम्) तुम (पतयः) उनके पति हो। (अमर्त्याः) हे अमनुष्यो! (मर्त्यान्) मनुष्यों के साथ (मा सचध्वम्) तुम सम्बन्ध न करो, (अप धावत) उनसे अपगत होकर दौड़ जाओ, भाग जाओ।

[नर-रोग कीटाणुओं के प्रति उपचार-कर्त्ता द्वारा कथन हुआ है, कविता में। नर रोग-कीटाणु हैं गन्धर्वाः, गन्ध द्वारा हिंसनीय। गन्ध+**अर्व हिंसायाम्** (भ्वादिः)। अमर्त्य हैं नर रोग-कीटाणु, ये अमनुष्य हैं, मनुष्य की आकृति के नहीं हैं। मर्त्य हैं मनुष्य जाति के। धावत=दौड़ जाओ, अन्यथा उपचार-कर्त्ता तुम्हारा विनाश कर देगा। नर-रोग कीटाणुओं के न रहने से, मादा रोग-कीटाणुओं में वीर्याधान के न होने से, रोग कीटाणु-वंश स्वयं समाप्त हो जायेगा। सब वर्णन कविता में हुआ है।]

विशेष वक्तव्य—(१) मन्त्र ६ में सम्भवतः अजशृङ्गी, तीक्ष्णशृङ्गी और अराटकी ये तीन ओषधियाँ पृथक्-पृथक् हों। (२) मन्त्र ७ में अप्सरा के पति गन्धर्व का वर्णन हुआ है, और इसके दो मुष्कों और शेप के भेदन का कथन हुआ है। क्या यह गन्धर्व व्यभिचारी हैं, जिन्हें यह दण्ड दिया गया है? सायण आदि पौराणिक भाष्यकारों के अनुसार अप्सराएँ और गन्धर्व, देवजाति के चेतन और अमनुष्यरूप व्यक्तियाँ हैं। क्या देवजाति के गन्धर्व के इन तीन अङ्गों के भेदन के लिए देव जाति का ही कोई सर्जन है?

सूक्त ३८

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे॥ १॥

अर्थ—असत्-कर्मों का (उद्भिन्दतीम्) उद्भेदन करती हुई [उसे जड़ से उखाड़कर नष्ट करती हुई], और (सं जयन्तीम्) असत्कर्मों पर सम्यक् विजय प्राप्त करती हुई, (साधुदेविनीम्) और साधु-व्यवहारोंवाली, (अप्सराम्) रूपवती, तथा (ग्लहे) गृहीत अर्थात् स्वीकृत गृहस्थ जीवन में (कृतानि) सुकृत कर्मों को (कृण्वानाम्) करती हुई (ताम्) उस महिला को (इह हुवे) यहाँ मैं आमन्त्रित करता हूँ।

[अप्सराम्=**अप्स इति रूप**[1] **नाम**+रा (तद्वती) (निरुक्त ५.३.१३; पद ४७; उर्वशी;) साधु देविनीम्= **दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार** आदि (दिवादिः), व्यवहार अर्थ, अभिप्रेत है, साधु व्यवहारोंवाली। ग्लहे=**गृहू ग्रहणे, ग्लह च** (भ्वादिः)। हुवे=आह्वान करता हूँ, आमन्त्रित करता हूँ।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्। ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे॥ २॥

अर्थ—(विचिन्वतीम्) सत्कर्मों का संचय करती हुई, और (आकिरन्तीम्) असत्कर्मों को सब प्रकार से विक्षिप्त करती हुई, परे फेंकती हुई, (साधुदेवीनीम्) और साधु-व्यवहारोंवाली (अप्सराम्)

---

१. **अप्सः रूपनाम** (निघं० ३.७)। समग्र सूक्त ३८वें में 'अप्सरा' यह आकारान्त है, सकारान्त नहीं। इस द्वारा ३८ वें सूक्त में, पूर्व के विषय से, भिन्न विषयार्थकता सूचित की गई है।

रूपवती को, तथा (ग्लहे) गृहीत अर्थात् स्वीकृत गृहस्थ जीवन में (कृतानि) सत्कर्मों का (गृह्णानाम्) ग्रहण करती हुई (ताम्) उस महिला को (इह) यहाँ (हुवे) मैं आमन्त्रित करता हूँ।

[(विचिन्वतीम्)=वि+**चिञ् चयने** (स्वादिः)+शतृ, स्त्रियाम्। आकिरन्तीम्=आ+**कृ विक्षेपे** (तुदादिः)। मन्त्र १ में 'कृण्वानाम्' पाठ है, और मन्त्र २ में 'गृह्णानाम्' पाठ है। दोनों का अभिप्राय एक ही है।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यायैः परिनृत्यत्यादादाना कृतं ग्लहात्। सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम्॥ ३॥

अर्थ—(या) जो [अप्सरा अर्थात् रूपवती महिला], (अयैः) पादगतियों द्वारा (परिनृत्यति) घूम-घूमकर सब ओर [प्रसन्नता में] नाचती हुई, और (ग्लहात्) स्वीकृत गृहस्थ से (कृतम्) सुकृत-कर्मों का (आददाना) आदान करती है, (सा) वह (नः) हमें (कृतानि) सुकृत-कर्मों का उपदेश (सीषती) देती हुई, (मायया) निज प्रज्ञा द्वारा (प्रहाम्) असत्-कर्मों के पूर्णतया त्याग को (आप्नोतु) प्राप्त हो। (सा) वह (नः) हमें (पयस्वती) दुग्धवाली हुई (आ एतु) आये, (नः) हमारे (इदम्, धनम्) इस धन पर (मा जैषुः) घातक शक्तियाँ विजय न पाएँ।

[अयैः=**अय गतौ** (भ्वादिः)। परिनृत्यति द्वारा अप्सरा के घूम-घूमकर चारों ओर नाचने का निर्देश हुआ है। इस निमित्त भिन्न-भिन्न पादगतियाँ करनी होती हैं, इसलिए 'अयैः' में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में नृत्यकला को उपादेय माना है। यथा "**को नृतो दधौ**" (१०.२.१७)। "**नृतये हसाय**" (१२.२.२२)। इस प्रकार अथर्व में अन्यत्र भी नृत्यकला का कथन हुआ है। सीषती=**षणु दाने** (तनादिः)। प्रहाम्=प्र+**ओहाक् त्यागे** (जुहोत्यादिः) मायया=**माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। पयस्वती=दुग्धवती। इस द्वारा अप्सरा को गृहस्थवती निर्दिष्ट किया है। सन्तानोत्पन्न होने पर ही, उनके दुग्धपान के लिए माता की छाती में दुग्ध का अवतरण होता है। धनम्=सन्तानरूपी धन। इस धन पर घातक रोग आदि विजय न पाएँ, यह अभिप्राय है।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती। आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे॥ ४॥

अर्थ—(याः) जो अप्सराएँ अर्थात् रूपवती महिलाएँ (अक्षेषु) ऐन्द्रियिक विषयों में (प्रमोदन्ते) मोद-प्रमोद तथा हर्ष अनुभव करती हैं, तथा जो अप्सरा (शुचम्, क्रोधं च) गृहस्थ जीवन में शोक और क्रोध को (बिभ्रती) धारण करती हैं। (आनन्दिनीम्) हृदय में आनन्दवाली, (प्रमोदिनीम्) तथा सामाजिक जीवन में मोद-प्रमोद तथा हर्ष अनुभव करनेवाली (ताम्) उस (अप्सराम्) अप्सरा को (इह) यहाँ (हुवे) मैं आमन्त्रित करता हूँ।

[गृहस्थिन महिलाएँ भिन्न-भिन्न प्रकृति और स्वभाव की होती हैं। कोई तो गृहस्थ की विषम परिस्थिति में भी आनन्द, मोद-प्रमोद, तथा हर्ष में रहती है और कोई शोक और क्रोध को धारण किये रहती है। अक्षेषु=अक्षाणि इन्द्रियाणि; तेषां विषयेषु। इन्द्रियों में मोद-प्रमोद=इन्द्रियों के विषयों में मोद-प्रमोद।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः** ॥

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वांल्लोकान्पर्यैति रक्षन्।
स न ऐतु होममिमं जुषाणो३ऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान्॥ ५ ॥

अर्थ—(याः) जो [अप्सराएँ, रूपवती महिलाएँ] (रश्मीन् अनु) रश्मियों के पश्चात् (सञ्चरन्ति) गृहस्थ के कार्यों में सञ्चार करती हैं, (वा) तथा (याः) जो अप्सराएँ (मरीचीः अनु) मृत हुईं रश्मियों के पश्चात् (सञ्चरन्ति) गृहस्थ के कार्यों में सञ्चार करती हैं, (यासाम्) जिन अप्सराओं में से प्रत्येक अप्सरा का (ऋषभः) श्रेष्ठ (वाजिनीवान्) अन्नसम्पन्ना अप्सरावाला अर्थात् उसका पति (सद्यः) शीघ्र (सर्वान् लोकान्)सब लौकिक व्यवहारों को सम्पूर्ण कर, (रक्षन्[1]) परिवार की रक्षा के हेतु, (दूरतः) दूर से (पर्यैति) वापस आ जाता है। (सः) वह (वाजिनीवान्) पति (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक (नः) हमारे पारिवारिक जनों के (इमम् होमम्) इस अग्निहोत्र में (आ एतु) आया करे, शामिल हुआ करे, (अन्तरिक्षेण सह) अन्तरिक्षस्थ सूर्य के साथ।

[मरीचिः=**म्रियतेऽसौ; दीप्तिः** (उणा० ४.७१ दयानन्द); **"म्रियते इति मरीचिः"** (दशपाद्युणादिवृत्तिः १.३८)। इन व्युत्पत्तियों द्वारा यह ज्ञात होता है कि मरीचि है तो दीप्तिः अर्थात् रश्मिप्रभा, परन्तु है वह मृतावस्था की, अर्थात् सूर्य के अस्त होने के साथ अस्त हुई। यह अस्तगमन अवस्था मृतावस्था है। इस मृतावस्था के 'अनु' पश्चात् अप्सरा अर्थात् रूपवती गृहिणी पुनः गृहकार्यों में सञ्चार करती है। 'अनु' अर्थात् पश्चात्, न कि अनुलक्ष्य। 'पश्चात्' इसलिए कि "प्रातः सन्ध्याकाल" और "सायं सन्ध्याकाल" में धार्मिक कर्त्तव्यों के करने के पश्चात्। अन्तरिक्षेण=अन्तरिक्षस्थ[2] सूर्य के साथ, जबकि सूर्य की उज्ज्वल रश्मियाँ अन्तरिक्ष को प्रकाशित करें, तब, अतः यह होम प्रातःकालीन होम है। 'वा' समुच्चयार्थे (निरुक्त १.२.५)। वाजिनीवान्=**वाजः अन्ननाम** (निघं० २.७), वाजिनी=अन्नसम्पना पत्नी, तद्वान् अन्नसम्पन्नवान्= तस्या अन्नसम्पन्नायाः पतिः=वाजिनीवान्।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन्।
इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वाङियं ते कर्कीह ते मनोऽस्तु॥ ६ ॥

अर्थ—(वाजिनीवन्) हे अन्नसम्पना पत्नीवाले! (अन्तरिक्षेण सह) अन्तरिक्षस्थ सूर्य के साथ (कर्कीम्) क्रियाशीला (वत्साम्) बछड़ी की (इह) इस गोशाला में (रक्ष) रक्षा कर, (वाजिन्) हे अन्नवाले पति! ताकि (ते) तेरे लिए (इमे) ये (स्तोकाः) अल्प दुग्ध बिन्दु (बहुलाः) बहुत हो जाएँ। (अर्वाक्) इधर अर्थात् स्तोक-बिन्दुओं को बहुल करने के लिए (एहि) आ, (इयम्) यह (कर्की) क्रियाशीला वत्सा (ते) तेरी है, अतः (इह) इस गोशाला में (ते) तेरा (मनः अस्तु) मन हो, रुचि हो।

[पत्नी अन्नसम्पन्ना है, और तू अन्नसम्पन्ना पत्नी का पति भी अन्नसम्पन्न है [वाजिन्!] अतः अन्न द्वारा—उत्पन्न हुई बछड़ियों की—रक्षा करने में, तुम दोनों, समर्थ हो। अन्तरिक्षस्थ सूर्य के उदय होने के

१. हेतौ शतृप्रत्ययः। पालनाद्धेतोः (सायण)।
२. यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति"=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति तथा अन्तरिक्षेण=अन्तरिक्षस्थेन सूर्येण।

साथ अर्थात् प्रातःकाल में तुम दोनों गोसेवा के लिए तैयार हुआ करो, और इस निमित्त तुम्हारा मन हो। ताकि स्तोकबिन्दु अर्थात् अल्प दुग्धधाराएँ बहुत परिमाण में हो जाएँ। मन्त्र में वत्सा की रक्षा का कथन हुआ है। यह ही सुशिक्षित हुई गौ बनकर दुग्ध के परिमाण को बढ़ा देगी।

कर्की=**कृ (करणे)**, यङ्लुकि, 'डः' औणादिकः ''स्त्रियाम्''। कर्की=**कर्कवर्णा शुभ्रा गौः** (सायण)। कर्कः=दर्भः (दशपाद्युणादिवृत्ति, ३.१८), अतः कर्की है सम्भवतः दर्भ खानेवाली वत्सा। दर्भ को मन्त्र ७ में 'घासः' कहा है, वत्सा के खाने के लिए।]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा पुरउपरिष्टाज्ज्योतिष्मती जगती** ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन्।
अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः। यथानाम व ईश्महे स्वाहा॥ ७॥

अर्थ—(वाजिनीवन्) हे अन्नसम्पन्ना पत्नीवाले पति! (वाजिन्) हे स्वयं भी अन्नवाले पति! (अन्तरिक्षेण सह) अन्तरिक्षस्थ सूर्य के साथ; [अर्थात् अन्तरिक्ष में जब सूर्य का प्रकाश छा जाए, उस प्रातःकाल के समय] (कर्कीम्) क्रियाशीला (वत्साम्) बछड़ी की (इह) इस गोशाला में (रक्ष) रक्षा कर [अन्न प्रदान द्वारा]। (अयम् घासः) यह घास है, (अयं व्रजः) यह गोष्ठ है, गोशाला है, (इह) इस स्थान में (वत्साम्) प्रत्येक बछड़ी को (निबध्नीमः) हम बाँधते हैं, (यथानाम) जैसे तुम्हारे नाम हैं तदनुसार नाम ले-लेकर (वः) तुम्हारे हम (ईश्महे) अधीश्वर बनते हैं, स्वामी बनते हैं।

सूक्त ३९

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**पृथिव्यग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिपदा महाबृहती** ॥

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ १॥

अर्थ—(पृथिव्याम्) पृथिवी में (अग्नये) अग्नि के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए, झुके, (सः) वह अग्नि (आर्ध्नोत्) ऋद्धि अर्थात् समृद्धि को प्राप्त हुई; (यथा) जिस प्रकार (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अग्नये) अग्नि के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए (एव) इसी प्रकार (मह्यम्) मेरे लिए (संनमः) अभिलषित पदार्थों के झुकाव (संनमन्तु) संनत हों, झुकें, अर्थात् मुझे प्राप्त हों।

[अग्नि देवता है, अधिपति है, पृथिवी में। इसलिए पृथिवीस्थ सब पदार्थ इस अधिपति के लिए झुकते हैं, इसे प्राप्त होते हैं। जो भी पदार्थ अग्नि[१] में आहुत होते या इसे प्राप्त होते हैं अग्नि उसे निज मुख में लेकर खा जाती है। इसी प्रकार अभिलाषी चाहता है कि उसे अभिलषित सब पदार्थ प्राप्त हों, ताकि वह उनका उपभोग कर सके।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**पृथिव्यग्नी** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ २॥

---

१. अग्नि विशेषतया वनस्पतियों का अधिपति है। वनस्पतियों द्वारा अग्नि ऋद्धि को प्राप्त होता है, अतः कहा है कि ''**अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः**'' (अथर्व० ५.२४.२)।

अर्थ—(पृथिवी) पृथिवी है (धेनुः) दुग्ध देनेवाली गौ; (तस्याः) उसका (वत्सः) वत्स है (अग्निः) अग्नि, (सा) वह पृथिवी (मे) मुझे (अग्निना वत्सेन) अग्निरूपी वत्स द्वारा (इषम्) अभीष्ट अन्न, (ऊर्जम्) अन्नरस, (कामम्) काम्यमान अन्य वस्तुरूपी दुग्ध (दुहाम्) दे। अन्य वस्तु हैं (प्रथमम् आयुः) पहली या प्रथित अर्थात् विस्तृत आयुः, (प्रजाम्) प्रजा अर्थात् सन्तान, (पोषम्) इन सबकी पुष्टि अर्थात् अभिवृद्धि, (रयिम्) धन। (स्वाहा) इन सबकी प्राप्ति के लिए यज्ञ किये जाएँ।

[गौ से दुग्ध की प्राप्ति के लिए उसका वत्स अपेक्षित होता है, इसी प्रकार पृथिवी से अभीष्टों की प्राप्ति के लिए अग्नि अपेक्षित होती है, अग्निसाध्य उद्योगों के लिए, तथा यज्ञों के लिए।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**वाय्वन्तरिक्षे** ॥ छन्दः—**त्रिपदा महाबृहती** ॥

अ॒न्तरि॑क्षे वा॒यवे॑ सम॑नम॒न्त्स आर्ध्नोत्।

यथा॒न्तरि॑क्षे वा॒यवे॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ सं॒नम॒ः सं न॑मन्तु॥ ३॥

अर्थ—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (वायवे) वायु के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए, झुके, (सः) वह वायु (आर्ध्नोत्) ऋद्धि अर्थात् समृद्धि को प्राप्त हुई; (यथा) जिस प्रकार (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (वायवे) वायु के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए, (एव) इसी प्रकार (मह्यम्) मेरे लिए (संनमः) अभिलषित पदार्थों के झुकाव (सं नमन्तु) संनत हों, झुकें अर्थात् मुझे प्राप्त हों।

[वायु देवता है, अधिपति है, अन्तरिक्ष में। इसलिए अन्तरिक्षस्थ सब पदार्थ इस अधिपति के लिए झुकते हैं, इसे प्राप्त होते हैं। वे पदार्थ हैं अन्तरिक्षस्थ जल, मेघ तथा विद्युत् आदि; विद्युत् जोकि अन्तरिक्ष में व्याप्त है, और जो वर्षा-ऋतु में मेघों मे चमकती है।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**वाय्वन्तरिक्षे** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

अ॒न्तरि॑क्षं धे॒नुस्तस्या॑ वा॒युर्व॒त्सः। सा मे॑ वा॒युना॑ व॒त्सेने॒षमू॒र्जं कामं॑ दुहाम्।

आयु॑ः प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑॥ ४॥

अर्थ—(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है (धेनुः) दुग्ध देनेवाली गौ, (तस्याः) उसका (वत्सः) वत्स है (वायुः) वायु। (सा) वह धेनु (मे) मुझे (वायुना वत्सेन) वायुरूपी वत्स द्वारा (इषम्) अभीष्ट अन्न, (ऊर्जम्) अन्नरस, (कामम्) तथा काम्यमान अन्यवस्तुरूपी दुग्ध (दुहाम्) दे। (आयुः प्रथमम्) पहले या प्रथित अर्थात् विस्तृत, लम्बी आयुः, (प्रजाम्) प्रजा अर्थात् सन्तान, (पोषम्) इन सबकी पुष्टि अर्थात् अभिवृद्धि, (रयिम्) धन। (स्वाहा) इन सबकी प्राप्ति के लिए यज्ञ किये जाएँ।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**दिवादित्यौ** ॥ छन्दः—**त्रिपदा महाबृहती** ॥

दि॒व्या॑दि॒त्याय॒ सम॑नम॒न्त्स आर्ध्नोत्।

यथा॑ दि॒व्या॑दि॒त्याय॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ सं॒नम॒ः सं न॑मन्तु॥ ५॥

अर्थ—(दिवि) द्युलोक में (आदित्याय) आदित्य के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए, झुके, (सः) वह आदित्य (आर्ध्नोत्) ऋद्धि अर्थात् समृद्धि को प्राप्त हुआ। (यथा) जिस प्रकार (दिवि) द्युलोक में (आदित्याय) आदित्य के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए (एव=एवम्) इसी प्रकार (मह्यम्) मेरे लिए (संनमः) अभिलषित पदार्थों के झुकाव (सं नमन्तु) संनत हों, झुकें, अर्थात् मुझे प्राप्त हों।

[मन्त्र में द्युलोक को राष्ट्र-भूमि माना है, आदित्य को राजा, और प्रह्वीभूत वस्तुओं को प्रजाएँ। यही भावना मन्त्र १, ३ में भी जाननी चाहिए। संनमः=सम्+णम प्रह्वत्वे शब्दे च (भ्वादिः)। आदित्य के लिए प्रह्वीभूत हैं, आदित्य से उत्पन्न ग्रह, उपग्रह तथा धूमकेतु आदि। यह सब सौरपरिवार, आदित्य का है, अतः उसके प्रति प्रह्वीभूत है; उसी द्वारा चलाया चल रहा है]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**दिवादित्यौ** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः। सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ६॥

अर्थ—(द्यौः) द्युलोक है (धेनुः) दुग्ध देनेवाली गौ, (तस्याः आदित्यः वत्सः) उसका वत्स है आदित्य। (सा) वह द्यौ अर्थात् द्युलोक (मे) मुझे (आदित्येन वत्सेन) आदित्यरूपी वत्स द्वारा (इषम्) अभीष्ट अन्न, (ऊर्जम्) अन्नरस, तथा (कामम्) काम्यमान अन्य वस्तुरूपी दुग्ध (दुहाम्) दोहन करे, प्रदान करे तथा (आयुः प्रथमम्) पहले या प्रथित अर्थात् विस्तृत आयु, लम्बी आयु, (प्रजाम्) प्रजा अर्थात् सन्तान, (पोषम्) इन सबकी पुष्टि अर्थात् अभिवृद्धि, (रयिम्) और धन। (स्वाहा) इन सबकी प्राप्ति के लिए यज्ञ किये जाएँ, [अभिप्राय यह है कि यज्ञों द्वारा वृष्टि हो, और वृष्टि द्वारा इनकी उत्पत्ति होकर, ये मुझे प्राप्त हों।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**दिक्चन्द्रमसः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा महाबृहती** ॥

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ ७॥

अर्थ—(दिक्षु) दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्र के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए, झुके; (सः) वह चन्द्र (आर्ध्नोत्) ऋद्धि अर्थात् समृद्धि को प्राप्त हुआ। (यथा) जिस प्रकार (दिक्षु) दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्र के लिए (समनमन्) सब प्रह्वीभूत हुए (एव=एवम्) इसी प्रकार (मह्यम्) मेरे लिए (संनमः) अभिलषित पदार्थों के प्रह्वीभवन अर्थात् झुकाव (सं नमन्तु) संनत हों, झुकें, अर्थात् मुझे प्राप्त हों।

[दिशाओं को राष्ट्रभूमि और चन्द्र को राष्ट्राधिपति कहा है, राजा कहा है। जैसे राजा के लिए प्रजाएँ झुकती हैं, इसी प्रकार चन्द्र के लिए प्रह्वीभूत वस्तुओं को चन्द्र की प्रजाएँ कहा है। चन्द्र दिशाओं का अधिपति है। अमावास्या के पश्चात् चन्द्र का उदय प्रथम पश्चिम दिशा में होता है। इस दिशा की ओर मुख करने से दाहिनी ओर उत्तर, पीठ की ओर पूर्व, और बाईं ओर दक्षिण दिशा होती है। इस प्रकार रात्रि-काल में दिशाओं के परिज्ञान में चन्द्र कारण होता है, अतः चन्द्र को दिशाओं का अधिपति कहा है। रात्रि के काल में चन्द्र का सहचारी होता है द्युलोक, अर्थात् द्युलोकस्थ नक्षत्र और तारामण्डल। ये सब प्रजाएँ हैं चन्द्र की, ये मानो चन्द्र के प्रति प्रह्वीभूत हो रही होती हैं। यथा "**चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.१०)। नक्षत्रपद उपलक्षक है द्युलोक के अन्य तारामण्डलों का भी।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**दिक्चन्द्रमसः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः। ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ८॥

अर्थ—(दिशः) दिशाएँ हैं (धेनवः) दुग्ध देनेवाली गौएँ, (तासाम्) उन दिशाओं का (वत्सः) वत्स है (चन्द्रः) चाँद। (ताः) वे दिशाएँ (मे) मुझे (चन्द्रेण वत्सेन) चाँदरूपी वत्स द्वारा (इषम्) अभीष्ट अन्न, (ऊर्जम्) बल और प्राण के प्रदाता अन्नरस, (कामम्) तथा काम्यमान अन्य वस्तुरूपी दुग्ध (दुहाम्) दोहन करें, प्रदान करें। (आयु....) आयु आदि पूर्ववत्।

[भिन्न-भिन्न दिशाओं में जो अन्न आदि पैदा हो रहे हैं, उनका सम्बन्ध चन्द्र के साथ क्या है, यह विचारणीय है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**जातवेदसोऽग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ।

नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम्॥ ९॥

अर्थ—(अग्नौ) याज्ञिक अग्नि में (अग्निः) परमेश्वराग्नि (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ (चरति) विचरता है, (ऋषीणाम् पुत्रः) ऋषियों को वह पुत्र के सदृश प्रिय है। (उ) निश्चय से (अभि शस्तिपाः) हिंसा से वह रक्षा करता है [ऋषियों तथा अन्यों की]। (नमस्कारेण) नमस्कार द्वारा (नमसा) और यज्ञिय-अन्न द्वारा, (ते) तेरे लिए (जुहोमि) मैं आहुतियाँ देता हूँ, (देवानाम्, भागम्) ताकि देवों के भाग को (मिथुया) मिथ्या (मा कर्म) मैं न करूँ।

[परमेश्वर का वाचक अग्नि पद भी है (देखा यजुः० ३२.१), यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यः**" आदि। यज्ञ द्वारा, वायु आदि देवों के प्रति यज्ञधूम जाकर, शुद्धिकार्य करता है। जीवन में इस दिव्य कर्त्तव्य से मैं विमुख न होऊँ—यह अभिप्राय है। अग्नि में परमेश्वर अग्नि नाम से, वायु में वायु नाम से, आदित्य में आदित्य नाम से प्रविष्ट है, इत्यादि। इस द्वारा मन्त्रों में आधिदैविक और आध्यात्मिक उभयविध अर्थ अनुस्यूत हैं, यह दर्शाया है। नमसा=**नमः अन्ननाम** (निघं० २.७)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**जातवेदसोऽग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम्॥ १०॥

अर्थ—(जातवेदः) हे सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान! तथा उनके ज्ञाता परमेश्वर (देव) देव! तू (विश्वानि) सब (वयुनानि) प्रज्ञानों को (विद्वान्) जानता है, (हृदा, मनसा) हमारी हार्दिक भावना द्वारा तथा मानसिक विचार द्वारा (पूतम्) पवित्र किये (हव्यम्) आहुति-योग्य पदार्थ को (सः) वह तू (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवित कर। (जातवेदः) हे सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान! तथा उनके ज्ञाता! (तव) तेरे (सप्त आस्यानि) सात मुख हैं, (तेभ्यः) उनके लिए (जुहोमि) मैं आहुतियाँ देता हूँ।

[आहुतियाँ अग्नि में दी जाती हैं। अग्नि के मुख सात हैं। यथा—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।

स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥ मुण्डक उप० १.२.४॥

अग्नि की ये सात जिह्वाएँ हैं, एक-एक जिह्वा एक-एक मुख में, अतः अग्नि के सात आस्य हैं, सात मुख हैं। उन सात आस्यों में दी गई आहुतियाँ परमेश्वर के सात आस्यों में दी गई जाननी चाहिएँ। परमेश्वर ही सप्तजिह्व या सप्तास्य अग्नि में विद्यमान हुआ आहुतियों को ग्रहण करता है। मन्त्र ९ में कहा है कि

"अग्नावग्निः चरति प्रविष्टः" कि यज्ञिय अग्नि में परमेश्वराग्नि ही प्रविष्ट है, अतः वस्तुतः परमेश्वराग्नि में ही आहुतियाँ जाननी चाहिएँ। **वयुनानि=प्रज्ञानानि** (निरुक्त ८.३.२०)। मन्त्र ९ और १० का सम्बन्ध सूक्त ३९ के अवशिष्ट मन्त्रों के साथ क्या है—यह विचारणीय है। अथवा सूक्त के मन्त्र १ और २ में अग्नि का वर्णन होने से, उस अग्नि में विचरनेवाले परमेश्वराग्नि को सूचित कर समग्र सूक्त में आध्यात्मिकता निर्दिष्ट की है। इसी प्रकार वायु में वायुनाम से तथा आदित्य में आदित्य नाम से और चन्द्र में चन्द्र नाम से परमेश्वर का प्रवेश सूचित किया है। इसलिए कहा है कि **"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः"** (यजुः ३२.१)।]

सूक्त ४०

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥

अर्थ—(जातवेदः) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान हे यज्ञिय अग्नि! (ये) जो [रोगकीटाणु, germs] (पुरस्तात्) पूर्व से (जुह्वति) हमें खाते हैं, (प्राच्याः दिशः) पूर्व की दिशा से (अस्मान्) हमें (अभि दासन्ति) साक्षात् उपक्षीण करते हैं, हमें शक्तिहीन करते हैं (ते) वे (अग्निम्) यज्ञियाग्नि को (ऋत्वा) प्राप्त होकर (पराञ्चः) पराङ्मुख हुए (व्यथन्ताम्) व्यथा को प्राप्त हों, (एनान्) इन रोग कीटाणुओं को (प्रत्यक्) प्रतिमुख अर्थात् प्रतीपमुख करके, (प्रतिसरेण) प्रतिसारक साधनों द्वारा (हन्मि) मैं मार देता हूँ।

[दासन्ति=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। जुह्वति=**'हु' दानादनयोः** (जुहोत्यादिः), अदन अर्थात् खा जाना, मार देना। रोगकीटाणुओं के दो काम हैं, या तो रोगी को मार देना, या उसे शक्तिहीन अर्थात् निर्बल कर देना। प्रतिसर है निवारण करने का साधन, वह है यज्ञियाग्नि। यज्ञियाग्नि में रोगनिवारक ओषधियों का होम करके, तदुत्थ धूम द्वारा, रोगकीटाणुओं का हनन-अभिप्रेत है, और स्वास्थ्यवर्धक ओषधियों के होम द्वारा निर्बलता को दूर करने का भी कथन किया है। प्रतिसर=प्रतीपमुखं कृत्वा सार्यते अनेनेति।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः, यमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि ॥ २ ॥

अर्थ—हे प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान तथा प्रज्ञावाले परमेश्वर! जो रोगकीटाणु, दक्षिण दिशा में हमें खाते हैं, और दक्षिण दिशा से हमें साक्षात् उपक्षीण करते हैं, हमें शक्तिहीन करते हैं, वे यम को प्राप्त होकर, पराङ्मुख हुए, व्यथा को प्राप्त हों, इन रोगकीटाणुओं को, प्रतिमुख अर्थात् प्रतीपमुख करके, प्रतिसारक साधन द्वारा मैं मार देता हूँ।

[प्रतिसारक साधन है यम अर्थात् मृत्यु। पृथिवी की भूमध्यरेखा के उत्तर में तो मनुष्यादि सृष्टि विद्यमान है, परन्तु इस रेखा के दक्षिण में इस मनुष्यादि सृष्टि का प्रायः अभाव है, मानो वह यम अर्थात् मृत्यु के कारण है। दक्षिण में समुद्र का विस्तार है, पृथिवी का प्रायः अभाव है, जिसपर कि मनुष्यादि सृष्टि की सम्भावना हो सके। मन्त्र १ में 'जातवेदः' द्वारा प्राकृतिक अग्नि अर्थात् यज्ञियाग्नि अभिप्रेत है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः, वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ३॥

अर्थ—हे प्रतिपदार्थ में विद्यमान तथा प्रज्ञावाले परमेश्वर! जो रोगकीटाणु, पश्चिम दिशा से हमें खाते हैं, और पश्चिम दिशा से हमें साक्षात् उपक्षीण करते हैं, शक्तिहीन करते हैं, वे वरुण को प्राप्त होकर, पराङ्मुख हुए, व्यथा को प्राप्त हों। इन रोगकीटाणुओं को प्रतिमुख अर्थात् प्रतीपमुख करके, प्रतिसारक साधन द्वारा मैं मार देता हूँ।

[प्रतिसारक साधन हैं 'वरुण' अर्थात् जलाधिपति। यथा "**वरुणोऽपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४)। वर्षा द्वारा अति गर्मी का अभाव हो जाने पर, ग्रीष्म ऋतु में प्रादुर्भूत रोगकीटाणुओं का विनाश हो जाता है। वरुण का सम्बन्ध पश्चिम दिशा के साथ दर्शाया है। कारण यह कि प्रथम-वर्षा पश्चिमी समुद्र के वाष्पीभूत जल द्वारा होती है, कालान्तर में वर्षा दक्षिणस्थ समुद्र के वाष्पीभूत जल द्वारा होती है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः, सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ४॥

अर्थ—हे प्रतिपदार्थ में विद्यमान तथा प्रज्ञावाले परमेश्वर! जो रोगकीटाणु उत्तरदिशा से हमें खाते हैं, और उत्तरदिशा से हमें साक्षात् उपक्षीण करते हैं, शक्तिहीन करते हैं, वे सोम को प्राप्त होकर पराङ्मुख हुए, व्यथा को प्राप्त हों। इन रोगकीटाणुओं को प्रतिमुख करके, प्रतीपमुख करके, प्रतिसारक साधन द्वारा मैं मार देता हूँ।

[सोम है, सोम-ओषधि। यह वीरुधों का अधिपति है, यथा "**सोमो वीरुधामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.७)। वेदों में सोम-ओषधि की अद्भुत शक्तियों का वर्णन हुआ है। ऋग्वेद (मण्डल ८) में इस सोम का विस्तृत वर्णन हुआ है, अतः यह सोम अन्य आषधियों का अधिपति है, मुखिया है। इसके सेवन से रोग-कीटाणुओं का नाश होता है। यह सोम ही प्रतिसारक साधन है। यह उत्तर दिशा में उत्पन्न होता है, अतः उत्तरदिशा के साथ सोम का सम्बन्ध कहा है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः, भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ये३ऽधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ५॥

अर्थ—हे प्रतिपदार्थ में विद्यमान तथा प्रज्ञावाले परमेश्वर! जो रोग-कीटाणु नीचे की दिशा से हमें खाते हैं, और नीचे की दिशा में हमें साक्षात् उपक्षीण करते हैं, शक्तिहीन करते हैं, वे भूमि को प्राप्त होकर पराङ्मुख हुए, व्यथा को प्राप्त हों। इन रोगकीटाणुओं को प्रतिमुख करके, प्रतीपमुख करके, प्रतिसारक साधन द्वारा मैं मार देता हूँ।

[रोगकीटाणु भूमि में पैदा होकर वायुमण्डल में फैलते हैं। अतः इनका विनाश भी भूमि में होना चाहिए। पशुओं और मनुष्यों द्वारा उत्पन्न गन्ध इन्हें पैदा करता है, और भूमि की स्वच्छता इनके विनाश का साधन है। तथा भूमिगत ओषधियाँ आदि भी इनके प्रतिसारण में अर्थात् निवारण में साधक हैं।]

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—जातवेदः, वायुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ये३ऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ६॥

अर्थ—हे प्रतिपदार्थ में विद्यमान तथा प्रज्ञावाले परमेश्वर! जो रोगकीटाणु हमें अन्तरिक्ष से खाते हैं, और मार्गहीन दिशा में हमें साक्षात् उपक्षीण करते हैं, शक्तिहीन करते हैं, वे वायु को प्राप्त होकर, पराङ्मुख हुए व्यथा को प्राप्त हों। इन रोगकीटाणुओं को प्रतिमुख करके, प्रतीपमुख करके प्रतिसारक साधन द्वारा मैं मार देता हूँ।

[अन्तरिक्षस्थ वायु की अस्वच्छता के होते वायुगत रोगकीटाणु हमें खाते हैं, और वायु से ही हमें शक्तिविहीन करते रहते हैं, परन्तु भूमि की शुद्धि तथा यज्ञियाग्नि से उत्थित रोगनाशक ओषधियों के धूम द्वारा जब रोगकीटाणु नष्ट हो जाते हैं तब ये वायु को प्राप्त हुए ही व्यथा को प्राप्त कर नष्ट हो जाते हैं, और वायु ही इनके प्रतिसारण अर्थात् निवारण का साधन बन जाती है। व्यध्वायाः=अन्तरिक्ष में मनुष्यकृत् अध्वा अर्थात् मार्ग नहीं, परमेश्वर-कृत् मार्ग तो हैं, जिन मार्गों द्वारा पक्षी, चन्द्र, पृथिवी तथा अन्य ग्रह-उपग्रह आदि विचर रहे हैं।[1]]

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—जातवेदः, सूर्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ७॥

अर्थ—हे प्रतिपदार्थ में विद्यमान तथा प्रज्ञावाले परमेश्वर! जो रोगकीटाणु हमें ऊपर की दिशा से खाते हैं, और ऊर्ध्वा दिशा से हमें साक्षात् उपक्षीण करते हैं, शक्तिहीन करते हैं, वे सूर्य को प्राप्त होकर, पराङ्मुख हुए व्यथा को प्राप्त हों। उन रोगकीटाणुओं को प्रतिमुख करके, प्रतीपमुख करके, प्रतिसारक साधन द्वारा मैं मार देता हूँ।

[पराङ्मुख तथा प्रतीपमुख का अभिप्राय है कि इन रोगकीटाणुओं का मुख हमारी ओर न हो, हमारी ओर इनका आगमन न हो, अपितु ये हमारी ओर पीठ करके हमसे विपरीत दिशा की ओर चले जाएँ, उधर ही इनका गमन हो। मन्त्र १ से मन्त्र ७ तक सौर-लोक, अर्थात् सौर-परिवार का वर्णन हुआ है। सूर्य रोग-कीटाणुओं को पराङ्मुख करता है। यथा **"उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः"** (अथर्व० २.३२.१)। अर्थात् उदय को प्राप्त होता हुआ आदित्य क्रिमियों का हनन करे, तथा अस्त होता हुआ भी हनन करे, रश्मियों द्वारा। इन दोनों समयों की आदित्य-रश्मियाँ रक्त अर्थात् लाल या ताम्र[2] के वर्णवाली होती हैं। इन रश्मियों में क्रिमियों के विनाश की शक्ति अधिक प्रतीत होती है। क्रिमि हैं, हिंस्र क्रिमि (**कृञ् हिंसायाम्**, क्र्यादिः)।]

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—जातवेदः, ब्रह्म ॥ छन्दः—पुरोऽतिशक्वरीपाद्युग् जगती ॥

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान्।
ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ८॥

---

१. अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक में तो परमेश्वरकृत् असंख्य मार्ग हैं, जिनमें असंख्य तारे निज-निज मार्गों में विचर रहे हैं।
२. **"उदेति सविता ताम्रः, ताम्र एवास्तमेति च।"**

अर्थ—हे प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान तथा प्रज्ञावाले परमेश्वर! जो रोगकीटाणु, दिशाओं के अन्तराल-प्रदेशों से हमें खाते हैं, और सब दिशाओं से हमें उपक्षीण करते हैं, शक्तिहीन करते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होकर पराङ्मुख हुए व्यथा को प्राप्त हों। इन रोग-कीटाणुओं को प्रतिमुख अर्थात् प्रतीपमुख करके प्रतिसारक साधन द्वारा मैं मार देता हूँ।

[ब्रह्म=अन्न। यथा "**ब्रह्म अन्ननाम**" (निघं० २.७)। मन्त्र १ से ७ तक के मन्त्रों में अग्नि आदि प्राकृतिक तत्त्वों द्वारा रोग-कीटाणुओं को व्यथित, तथा इनका प्रतिसारण किया है। प्रकरण की एकता की दृष्टि से मन्त्र ८ में भी प्रतिसारण प्राकृतिक तत्त्व ही होना चाहिए, वह है अन्न। निघण्टु के अनुसार 'ब्रह्म' पद का अर्थ अन्न भी है। मित, सुपाच्य तथा रोग-निवारक और पुष्टिदायक अन्न के सेवन से रोग-कीटाणु शरीर पर आक्रमण करने की शक्ति नहीं रखते, शरीर में Immunity अर्थात् रोग-प्रतिरोधक शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे रोग-कीटाणु शरीर पर आक्रमण नहीं कर पाते।]

तथा

ब्रह्म पद यदि मुख्यार्थक ही माना जाए, अर्थात् परमेश्वरार्थक, तो मन्त्र १ से ८ तक में अग्नि, यम, वरुण, सोम, भूमि, वायु और सूर्य पद भी परमेश्वरार्थक ही जानने चाहिएँ, और रोगकीटाणुओं के साथ-साथ, आसुरी तथा राक्षसी भावनाएँ, आसुरी विचार तथा आसुर कर्म भी जानने चाहिएँ, जिनका कि प्रतिसारण करना है।[1] परमेश्वर अग्निवत् दाहक है। यम अर्थात् नियन्ता है। वरुण अर्थात् वरण करने योग्य और उपासकों का वरण करनेवाला है। सोम अर्थात् सर्वोत्पादक, तथा ऐश्वर्यशाली है। भूमि अर्थात् सर्वाधार रूप है। वायु अर्थात् प्राणप्रद है। सूर्य अर्थात् सबका प्रकाशक है, "**तस्य भासा सर्वमिदं बिभाति**"[2]। "सर्वाभ्यः दिग्भ्यः" द्वारा सब दिशाओं का कथन हुआ है। "सब दिशाएँ" शब्द किसी एक स्थान की सब दिशाओं का सूचक नहीं, अपितु ब्रह्माण्ड की सब दिशाओं का सूचक है। ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर ही इन सब दिशाओं में व्यापक है, अतः मन्त्रपठित ब्रह्मपद, मुख्य रूप में, परमेश्वरार्थक भी सम्भव हो सकता है, न कि अन्न-वाचक। परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह सृष्टि की सत्ता के काल में सब रोग-कीटाणुओं तथा आसुरभावों आदि का विनाश कर देने की शक्ति रखता है।[3]

अष्टम अनुवाक समाप्त॥

चतुर्थ काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

---

१. ऋषि दयानन्द के विचारानुसार पृथिवी से भिन्न लोकलोकान्तरों में भी मनुष्यसृष्टि है (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ८)। अतः इनके विचारों और कर्मों का प्रभाव भी पृथिवीवासियों पर हो सकना सम्भव है।

२. परमेश्वर के नाना नाम हैं यथा "**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**" (ऋक्० १.१६४.४६)। १०० नाम तो सत्यार्थप्रकाश समुल्लास १ में भी दर्शाये हैं।

३. सूक्त ४० में वस्तुतः आधिभौतिक मानुष युद्ध का वर्णन है, जिसमें कि शत्रु द्वारा छह दिशाओं से आक्रमण हो सकते हैं। ऊर्ध्वा दिशा से विमानों द्वारा। प्रतिसर हैं आग्नेयास्त्र, याम्यास्त्र, वारुणास्त्र, सौम्यास्त्र अर्थात् विषैली औषधियों द्वारा शत्रु के खाद्य-पेय को विषाक्त कर देना, तथा भौमास्त्र यथा तामसास्त्र (अथर्व० ३.२.५,६) तथा बाण आदि। ब्रह्म है ब्रह्मास्त्र, सर्वापहारी अस्त्र।

पञ्चम काण्ड

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पराबृहती त्रिष्टुप्** ॥

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा।

अदब्धासुर्भ्राजमानोहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥ १ ॥

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (ऋधङ्मन्त्रः[1]) वृद्धिकारक वेदमन्त्रोंवाला, (योनिम्) प्रकृतिरूपी योनि में (आबभूव) प्रकट हुआ (अमृतासुः) अमृत-प्राणवायुवाला, (वर्धमानः) अभ्यास द्वारा हृदय में बढ़ते प्रकाशवाला, (सुजन्मा) और हृदय में उत्तमरूप से प्रादुर्भूत होता है। (अदब्धासुः) वह अहिंसित अर्थात् अमर प्रज्ञावाला है, (अहा=अहानि, इव) दिनों के सदृश (भ्राजमानः) प्रदीप्त है, (त्रितः) तीन स्थानों, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक में व्याप्त है, (धर्ता) सबका धारणकर्त्ता है, (त्रीणि) तीन लोकों को (दाधार) उसने धारण किया हुआ है।

[**असुः=प्राण** (निरुक्त ३.२.८)। **प्रज्ञा** (निघं० ३.९)। त्रितः=त्रि+**तनु** (**विस्तारे**, तनादिः)+डः (औणादिकः), टिलोपः।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।

धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥ २ ॥

अर्थ—(प्रथमः) प्राथमिक (यः) जो परमेश्वर (धर्माणि) धारक सूर्यादि में (आ ससाद) सर्वत्र, अधिष्ठातृरूप में स्थित हुआ है, (ततः) तत्पश्चात् हे परमेश्वर! तू (पुरूणि) बहुत (वपूंषि) प्राणिशरीरों को (कृणुषे) पैदा करता है। (धास्युः) सबका धारण करनेवाला (प्रथमः) प्राथमिक परमेश्वर (योनिम्) प्रकृतिरूपी योनि में (आविवेश) प्रविष्ट है, (यः) जो (अनुदिताम्, वाचम्) अनुच्चारित वाणी को (चिकेत) सम्यक्तया जानता है।

[अनुदिताम्, वाचम्=अमुक व्यक्ति क्या कहेगा, इसे न कहे भी जो जानता है, अर्थात् उसके मन में क्या विचार है, उसे न कहे तो भी वह जानता है।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोनु स्वाः।

अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम्॥ ३ ॥

अर्थ—(यः) जो व्यक्ति (ते शोकाय) तेरी शोचिः अर्थात् प्रकाश के लिए (तन्वम् रिरेच) तनु को

---

१. ऋधङ् मन्त्रः=ऋधक्=**ऋधु वृद्धौ** (स्वादिः)। ऋधक् वृद्धिकरो मन्त्रो यस्य सः।

विरेचन द्वारा शुद्ध करता है, (क्षरद् हिरण्यम्[१]) जैसेकि मल से विशुद्ध हुआ हिरण्य शुद्ध हो जाता है, तथा (अनु) तत्पश्चात् (स्वाः) जिसकी निज चित्तवृत्तियाँ भी (शुचयः) पवित्र हो जाती हैं, (अत्र) इस अवस्था में वे दोनों अर्थात् शुद्ध शरीर और शुद्ध चित्तवृत्तियाँ (अमृतानि, नाम=नामानि), अमृत[२] नामों को (दधेते) धारण करते हैं, उन नामों का जप तथा नामार्थों का ध्यान करते हैं। (अस्मे) हमारे उस व्यक्ति के लिए (विशः) प्रजाएँ (वस्त्राणि) वस्त्र आदि (एरयन्ताम्) प्रेरित करें, प्रदान करें।

अथवा

(तन्वम् रिरेच) तनू को प्रच्छर्दन विधि द्वारा शुद्ध करता है। प्रच्छर्दन[३] है प्राण को बल से, शरीर से बाहर फेंकना। इसके द्वारा शरीर की शुद्धि हो जाती है, और चित्तवृत्तियों का निरोध तथा पवित्रता होकर, वे स्थिर हो जाती हैं। प्रच्छर्दन (योगसूत्र १.३४)।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम्।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम्॥ ४॥

अर्थ—(एते) ये प्रजाजन (यद्) जब (सदः सदः) प्रत्येक निवास-स्थान में (आतिष्ठन्तः) स्थित होते हुए (अजुर्यम्, प्रतरं पूर्व्यम्) सदा युवा, अति पूर्व-काल के परमेश्वर की ओर (प्रगुः) प्रगति करते हैं, उस परमेश्वर की ओर जोकि (शुषस्य कविः) सुख का उपदेष्टा है, तब (रिहाणे) दुग्ध देनेवाली (मातरा=मातरौ) हे दो माताओ! (जाम्यै) उत्पन्न प्रजा के लिए (धुर्यम्) संसार-रथ की धुरा का वहन करनेवाले (पतिम्) सर्वरक्षक पति को (एरयेथाम्) तुम भी प्रेरित करती हो, या प्रेरित करो।

[दो माताएँ हैं द्यौः और पृथिवी। ये खाने-पीने के लिए स्वादु अन्न और पेय दे रही हैं। इन दो की रचनाओं को देखकर रचयिता परमेश्वर का भान होता है। मानो उत्पन्न-प्रजा को ये दोनों परमेश्वरपति का ज्ञान प्रदान कर रही हैं। ''सदः सदः'' हैं प्रत्येक आश्रम। शुष=**शूषम्=सुखम्** (निघं० ३.६)। रिहाणे=लिह आस्वादने (अदादिः)।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तदू षु ते महत्पृथुज्मन्नमः कविः काव्येना कृणोमि।
यत्सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते॥ ५॥

अर्थ—(पृथुज्मन्) हे विस्तृत पृथिवीवाले परमेश्वर! (ते) तेरे लिए, (कविः) मैं कवि, (काव्येन) वेदकाव्य द्वारा (सु) सुष्ठुपूर्वक (ऊ=उ) निश्चय से (तत्) वह (महत् नमः) महानमस्कार (आकृणोमि) सर्वत्र करता हूँ, (यत्) जोकि (सम्यञ्चौ) सम्यक् गतियोंवाले या परस्पर मिले हुए, (मही) महान्, (रोधचक्रे) किनारों के दो चक्र, (अत्र) इस सृष्टि में, (क्षाम्, अभियन्तौ) पृथिवी के सम्मुख गति करते हुए, (वावृधेते) निज मार्गों पर बढ़ते रहते हैं।

---

१. **दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥** (मनु० ३.७२)।
२. अमृतनाम=अमृत परमेश्वर के नाम=ओ३म् के 'अ, उ, म्' द्वारा निर्दिष्टनाम
(देखो माण्डूक्योपनिषाद् तथा सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास।)
३. प्रच्छर्दन है आध्यात्मिक विरेचन।

[पृथु (विस्तृत), ज्मन् (**ज्मा पृथिवीनाम**; निघं० १.१)। क्षाम्=**क्षा पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। रोधचक्रे (द्विवचन), एक किनारे पर चक्र है सूर्य, दूसरे किनारे पर है पृथिवी का उपग्रह, चन्द्रमा। ये दो किनारे हैं सौरमण्डल के, न कि ब्रह्माण्ड के।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात्।

आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ ६॥

अर्थ—(कवयः) क्रान्तदर्शी मेधावियों ने (सप्तमर्यादाः) ७ मर्यादाएँ (ततक्षुः) निर्मित की हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाम्, इत् अभि) एक मर्यादा की ओर भी [उसका उल्लंघन करता हुआ] (गात्) जो जाता है, (अंहुरः) वह पापी हो जाता है। [वह पापी उस परमेश्वर को प्राप्त नहीं होता जो कि] (आयोः) मनुष्यजाति का (स्कम्भः), आश्रय है, (उपमस्य) निज उपमा रूप आदित्य के (नीडे) समीपस्थ है, (धरुणेषु) और धारक पदार्थों में (तस्थौ) स्थित है, (पथां विसर्गे[1]) तथा जहाँ पथों की सृष्टि नहीं, वहाँ भी (तस्थौ) स्थित है।

[स्कम्भः=सर्वाश्रय, सर्वाधार परमेश्वर (अथर्व० १०.७.४ आदि)। **स्कभि प्रतिबन्धे** (भ्वादिः), स्कम्भः=निजबन्धन में सबको बाँधनेवाला। परमेश्वर। **आयवः मनुष्यनाम** (निघं० २.३)। उपमस्य=यथा **आदित्यवर्णम्** (यजुः० ३१.१८)। **कविः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)।

सप्त मर्यादाः=स्तेयम्, तल्पारोहणम्, ब्रह्महत्याम्, भ्रूणहत्याम्, सुरापानम्, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः सेवाम्, पातकेऽनृतोद्यम् (निरुक्त ६.५.२७)।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्व१स्तत्सुमद्गुः।

उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत्सचते हविर्दाः॥ ७॥

अर्थ—(उत) तथा (अमृतासुः) अमृत प्राण और प्रज्ञावाला, (व्रतः) व्रतधारी, (कृण्वन्) सत्कर्मों को करता हुआ (एमि) मैं आता हूँ [संसार में] (तन्वः) तनु का (असुः) प्राणरूप (आत्मा) आत्मा मैं हूँ, (तत्) उस तनु में (सुमद्गुः) उत्तमता तथा हर्षपूर्वक गति करता हूँ। (उत वा) तथा [तब] (शक्रः) शक्तिशाली परमेश्वर (रत्नम्) रमणीय गुण (दधाति) मुझमें स्थापित करता है, (वा) तथा (ऊर्जया) बल और प्राण से सम्पन्न (यत्) जो हविः है, उसके साथ, (हविर्दाः) हविः का देनेवाला परमेश्वर, (सचते) [मेरे साथ] सम्बद्ध होता है।

[अमृतासुः=अमृत-प्राणवाला (निरुक्त ३.२.८); तथा प्रज्ञावाला (निघं० ३.९)। जीवात्मा प्राणरूप, सत् और चित् है। चित् है ज्ञानी, प्रज्ञावाला। परमेश्वर सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। व्रतधारी मनुष्य सत्कर्म करता है, और सत्कर्म करता हुआ संसार में पुनः-पुनः आता है। वह तनु में गति प्रदान करता है। ऐसे व्यक्ति को परमेश्वर सद्गुण प्रदान करता, तथा ऊर्जा-सम्पन्न हविष्यान्न प्रदान करता है।]

---

१. विसर्गः=अवसानम्, विरामः, समाप्तिः।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये।

दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥ ८ ॥

अर्थ—(उत) तथा (पुत्रः) मैं पुत्र (क्षत्रम्) क्षतों से त्राण करनेवाले (पितरम्) परमेश्वर-पिता की (ईडे) स्तुति [और उसका आह्वान] करता हूँ, [जैसेकि] (ज्येष्ठम्) सर्वज्येष्ठ (मर्यादम्) मर्यादावाले परमेश्वर का (अह्वयन्) स्तोताओं ने [स्तवन] और आह्वान किया है (स्वस्तये) कल्याण के लिए। (वरुण) हे वरणीय! परमेश्वर! (याः) जो (ते) तेरी (विष्ठाः) व्यवस्थाएँ या विविध स्थितियाँ हैं (ताः) उन्हें (नु दर्शन्) निश्चय से मैं देखता हूँ, (आवर्व्रततः) आवृत्ति-क्रम से (वपूंषि) प्राणियों के शरीरों को (कृणवः) तू पैदा करता है। [आवृत्तिक्रम=प्रथम अप्राणि-सृष्टि, तत्पश्चात् प्राणि-सृष्टि। त्रितः (मन्त्र १) ही वरुण है।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः** ॥

अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर।

अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमादित्या इषिरम्।

कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥ ९ ॥

अर्थ—(अर्धम्) ऋद्ध अर्थात् प्रवृद्ध ब्रह्माण्ड को हे परमेश्वर! (अर्धेन) निज प्रवृद्ध स्वरूप द्वारा, (पयसा) तथा दुग्ध द्वारा (पृणक्षि) तू प्राणियों के साथ सम्पृक्त है, सम्पर्क करता है। (शुष्म) हे बलरूप! (अमुर) हे अमर! (अर्धेन) प्रवृद्ध ब्रह्माण्ड द्वारा (वर्धसे) तू कीर्ति में बढ़ता है। (अविम्) रक्षक, (शग्मियम्[1]) शक्तिमय, (सखायम्) सखारूप, (अदित्याः) अखण्डित प्रकृति के (पुत्रम्) पुत्र को, (इषिरम्) और उस प्रकृति में गति या प्रेरणा के प्रदाता (वरुणम्) श्रेष्ठ या वरणीय परमेश्वर को (वृधाम) हम स्तुतियों द्वारा बढ़ाएँ। (अस्मै) इस परमेश्वर के प्रति (कविशस्तानि) परमेश्वर-कवि द्वारा प्रोक्त (वपूंषि) इसके रूपों का (अवोचाम) हमने कथन किया है, (रोदसी) पृथिवी और द्युलोक भी (सत्यवाचा= सत्यवाचौ) सत्यस्वरूप ब्रह्म का कथन कर रहे हैं।

[अधर्म्, अर्धेन=**ऋधु वृद्धौ** (दिवादिः; स्वादिः)। **शुष्म बलनाम** (निघं० २.९)। अविम्=रक्षक (**अव रक्षणे,** भ्वादिः)। अदितिः=अदीना देवमाता, सूर्यादि द्युतिमान् पदार्थों की निर्मात्री प्रकृति। प्रकृति की रचनाओं द्वारा परमेश्वर का भान होता है, अतः वह प्रकृति का पुत्र है। पयसा=दुग्धादि भोज्यों द्वारा, पृणक्षि (**पृची सम्पर्के,** रुधादिः) तू प्राणियों के साथ सम्पर्क करता है।

वपूँषि=जैसे प्रकृति और जीवात्मा के मेल से जीवात्मा के वपूँषि होते हैं, वैसे प्रकृति और परमेश्वर के मेल से परमेश्वर के वपूँषि होते हैं, सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी, द्युलोक आदि।]

सूक्त २

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।

सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ १ ॥

---

१. अथवा सुखस्वरूप। **शग्मम् सुखनाम** (निघं० ३.६)।

अर्थ—(तद् इत् आस) वह ही ब्रह्म था (भुवनेषु) सब भुवनों में (ज्येष्ठम्) बड़ा, (यतः) जिससे (उग्रः) रश्मियों द्वारा उग्र, (त्वेषनृम्णः) दीप्तिधनवाला आदित्य (जज्ञे) पैदा हुआ। (जज्ञानः) पैदा हुआ आदित्य (सद्यः) तत्काल (शत्रून्) अन्धकार आदि शत्रुओं को (निरिणाति) नितरां नष्ट करता है, (यत्) जबकि (विश्वे ऊमाः) सब रक्षकगण (एनम् अनु) इस आदित्य की निरन्तर (मदन्ति) स्तुति करते हैं।

[**नृम्णम् धननाम** (निघं० २.१०)। रिणाति=**री रेषणे** (क्र्यादिः), प्वादित्वात् ह्रस्वः (महीधर)। मदन्ति=**मदि स्तुतौ** (भ्वादिः)। ऊमाः=**अवन्ति रक्षन्ति इति रक्षकाः**, अवतेर्मन् प्रत्ययः। **च्छ्वोः शूड्०** (अष्टा० ६.४.१९) इति 'ऊठ्' (महीधर)।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु॥ २॥

अर्थ—(शवसा वावृधानः) बल द्वारा बढ़ता हुआ, (भूर्योजाः) महा ओज-वाला अर्थात् महा-ओजस्वी, (शत्रुः) शातन करनेवाला आदित्य, (दासाय) उपक्षीण होनेवाले मेघ के लिए (भियसम्) भय (दधाति) धारण करता है। (अव्यनत्[1] च) अप्राणी (व्यनत् च) और प्राणि जगत् को (सस्नि) उसने [वर्षा द्वारा] स्नान कराया है, (मदेषु) आनन्दों में (प्रभृता) भरे हुए (ते) वे (संनवन्त) मिलकर (हे आदित्यरूप) तेरी स्तुति करते हैं।

[दासाय=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। सस्नि=स्ना+किः, लिट् च (**आ-दृ-गम्-हन-जनः किकिनौ लिट् च** (अष्टा० ३.२.१७१)। नवन्त=**णु स्तुतौ** (अदादिः); **णु स्तवने** (तुदादिः) स्तवन है आदित्य परम-पुरुष का न कि जड़ आदित्य का। यथा "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥**" (यजुः० ४०.१७)

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः॥ ३॥

अर्थ—(त्वे) तुझमें हे परमेश्वर! (भूरि) प्रभूत रूप में (क्रतुम्) कर्म और प्रज्ञा को (अपि, पृञ्चन्ति) भी सम्पृक्त कर देते हैं, समर्पित कर देते हैं [सद्गृहस्थी]; (यत्) जबकि वे (द्विः) दो-दो होते हुए (त्रिः भवन्ति) तीन-तीन हो जाते हैं, (ऊमाः) और प्राणिमात्र के रक्षक हो जाते हैं। [हे सद्गृहस्थ!] तू (स्वादोः) स्वादु से (स्वादीयः) अधिक स्वादु को, (स्वादुना) स्वादु के साथ, (सम् सृज) संसर्ग कर। (अदः) उस (सुमधु) उत्तम मधु को (मधुना) मधु के साथ (अभि योधीः) साक्षात् मिश्रित कर।

[**क्रतुः कर्मनाम, क्रतुः प्रज्ञानाम** (निघं० २.१; ३.९)। पृचन्ति=**पृची सम्पर्के** (रुधादिः)। (द्वि। त्रिः) विवाह हो जाने पर दो-दो, और एक पुत्र पैदा हो जाने पर तीन-तीन। आदर्श गृहस्थी के लिए एक पुत्र पर्याप्त माना हैं, जोकि उत्तराधिकारी हो सके। ऊमाः=**अव रक्षणे**। गृहस्थी के लिए पञ्चमहायज्ञों का विधान है। पञ्च महायज्ञों से गृहस्थी प्राणिमात्र की सेवा करते हैं।

१. अव्यनत् अ+वि+**अन प्राणने** (अदादिः)+शतृप्रत्ययः=अप्राणी जगत्। व्यनत्=प्राणिजगत्।

सांसारिक सुख स्वादु है, परन्तु मोक्ष का सुख इससे भी अधिक स्वादु है। मोक्षसुख के साथ-साथ सांसारिक सुख का संसर्ग अर्थात् मेल करना अभीष्ट है तथा मधुरूप सांसारिक सुख का मिश्रण मधुरूप मोक्षमुख के साथ करना चाहिए—यह गृहस्थी के लिए उपदेश है। अभियोधी:=अभि=साक्षात् **''यु'' मिश्रणे** (अदादि:)। सूक्त के अवशिष्ट मन्त्रों में भी गृहस्थी का वर्णन हुआ है। अभियोधी:=अभि+यो+धी: (हेर्धि:)। विसर्गान्तदीर्घ ईकार: छान्दस:। ''मधुनाभि योधि'' (तैत्तिरीय संहिता)।]

ऋषि:—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुण:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्रा:।
ओजीय: शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवास: कशोका:॥ ४॥

अर्थ—हे सद्गृहस्थ! (यदि चित् नु) यदि अब (रणेरणे) देवासुर-संग्रामों में (धना जयन्तम्) आसुरी सम्पत्ति को जीतते हुए (त्वा) तुझे, (विप्रा:) मेधावी लोग (अनुमदन्ति) अनुमोदन करते हैं, तो (शुष्मिन्) हे बलशाली! (ओजीय:) निज ओजस्वी धनुष् को (स्थिरम्) स्थिर रूप में (आ तनुष्व) ताने रख, ताकि (दुरेवास:) दुर्गतिवाले, (कशोका:) दुर्गति के निवासरूप असुर (त्वा) तुझे (मा दभन्) हिंसित न करें।

[यदि मोक्ष और सांसारिक मार्ग इन दोनों पर चलते हुए [मन्त्र ३] तुझे आसुरी भावनाएँ बाधा उपस्थित करती हैं, और उन बाधाओं को जिस विधि से तू परास्त करता है और विप्र लोग यदि उस विधि का अनुमोदन करते हैं, तो आसुरी भावनाओं को पराजित करते रहने के लिए निज आध्यात्मिक शस्त्रास्त्रों को सदा सुसज्जित रख। नु= सम्प्रति, अब; यथा **''नू चित् इति निपात: पुराणनवयो:''** (निरुक्त ४.३.१७), मन्त्रपठित नु चित्=नू चित् (निरुक्त)। दुरेवास:=दुरेवा:, दुर्+एवा: एवै:=अयनै: (निरुक्त: २.७.२५) कशोका:=कश (गति, दुर्गति)+ओकस घर। अन्यत्र पाठ है ''यातुधाना दुरेवा:''। ''रणे-रणे'' में द्विरुक्ति है। देवासुर-संग्राम में नानाविध असुर हैं, यथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि। इनकी पराजय के लिए नाना प्रकार के युद्ध करने होते हैं, और नानाविध शस्त्रास्त्रों का अवलम्बन करना होता है। यथा काम के पराजय के लिए शस्त्रास्त्र हैं, पवित्र विचार, महात्माओं का संग, सच्छास्त्रों का स्वाध्याय, उपन्यासों को न पढ़ना, कामोद्दीपक दृश्यों को न देखना, न कामोद्दीपक रागों को सुनना आदि। इसी प्रकार अन्य आसुरी भावों में भी इनपर विजय के लिए भिन्न-भिन्न शस्त्रास्त्र हैं। क्रोध के सम्बन्ध में शस्त्रास्त्र हैं, क्षमा। समग्र सूक्त आध्यात्मिक भावनाओं और साधनों से ओत-प्रोत है।

ऋषि:—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुण:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।
चोदयामि त आयुधा वचोभि: सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि॥ ५॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (त्वया) तुझ सहायक द्वारा (वयम्) हम (रणेषु) देवासुर-संग्रामों में (शाशद्महे) आसुरभावों का विनाश करते हैं; [तेरी कृपा से] (भूरि) प्रभूत (युधेन्यानि) युद्ध-सम्बन्धी अन्य शस्त्रास्त्रों को (प्र पश्यन्त:) देखते अर्थात् जानते हुए। (वचोभि:) वैदिक वचनों द्वारा (ते) तेरे लिए [हे सद्-गृहस्थ!] (आयुधा) आध्यात्मिक शस्त्रास्त्रों का (चोदयामि) मैं परमेश्वर कथन करता हूँ, (ब्रह्मणा) मन्त्रोक्त विधि द्वारा (ते) तेरे (वयांसि) आध्यात्मिक बाणों को (सं शिशामि) सम्यक्तया मैं तीक्ष्ण करता हूँ।

[वयांसि=बाण। यथा "**ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः** (ऋ० १०.२७.२२) "वयः=**विरिति शकुनिनाम वेतेर्गतिकर्मणः। अथापीषुनामेह भवत्येतस्मादेव** (निरुक्त २.२.६)। रणेषु=रणे रणे (मन्त्र ४)। मन्त्र के उत्तरार्ध में परमेश्वरोक्ति है। ब्रह्मणा=वेदेन, मन्त्रेण वा।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।

आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि॥ ६॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (अवरे, परे च) अवरलोक तथा पर के लोकरूपी (यस्मिन् दुरोणे) जिस घर में (अवसा) उस-उसकी रक्षा की भावना से (आविथ) तू प्रविष्ट हुआ-हुआ है, उस घर में रहकर तू (तत्) उसे (नि दधिषे) नितरां धारण करता है। [हे मनुष्यो!] (जिगत्नुम्) सर्वगत या सर्वविजयिनी उस पारमेश्वरी (मातरम्) माता को (आ स्थापयत) तुम निज हृदयों में स्थापित करो, (अतः) और इस माता से प्रेरणाएँ पाकर (भूरि) प्रभूत (कर्वराणि) श्रेष्ठ कर्म (इन्वत) करो।

[आविथ=**अव प्रवेशे** (भ्वादिः)। कर्वराणि=**कर्वरम् कर्मनाम** (निघं० २.१)। इन्वत=**इवि व्याप्तौ** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।

आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः॥ ७॥

अर्थ—(वर्ष्मन्) हे शक्तिशालिन्! या स्तुतियों की वर्षा करनेवाले स्तोतः! तू (पुरुवर्त्मानम्[1]) नाना मार्गोंवाले, (ऋभ्वाणम्) बहुभासमान, (इनतमम्) स्वामियों के स्वामी, (आप्त्यानाम्) प्रापणीय पदार्थों में (आप्तम्) पूर्वतः प्राप्त हुए, या आप्तों में आप्त परमेश्वर की (सम् स्तुष्व) अच्छी प्रकार से स्तुति किया कर। (भूर्योजाः) प्रभूत ओजस्वाला परमेश्वर (शवसा) निज बल द्वारा (आ दर्शति) सब [आसुर भावों को] विदीर्ण कर देता है और (पृथिव्याः) पृथिवी की (प्रतिमानम्) प्रतिमा के रूप को (प्र सक्षति) प्राप्त है, अर्थात् पृथिवीवत् सबका पालक है।

[ऋभु=ऋभवः "**उरु भान्तीति वा**" (निरुक्त ११.२.१५)। **आदित्यरश्मयोऽप्यृभवः उच्यन्ते** (निरुक्त ११.२.१५)। अर्थात् बहु भासमान और आदित्यरश्मियों की तरह प्रकाशमान परमेश्वर। आप्तम्=परमेश्वर नित्य और व्यापक होने से सबको पूर्वतः ही प्राप्त है। **सक्षति गतिकर्मा** (निघं० २.१४); **गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च**। दर्शति=**दृ विदारणे**; अथवा **दृशिर् प्रेक्षणे** (भ्वादिः) अर्थात् आसुरभावों पर कड़ी दृष्टि रखता है।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।

महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान्॥ ८॥

---

१. ब्रह्माण्ड में नक्षत्र तारे, सूर्य, ग्रह, उपग्रह, पुच्छल तारा, सब मिलकर असंख्य हैं, और इनमें से प्रत्येक अपने-अपने मार्ग पर गति कर रहा है, और परस्पर टकराते नहीं, क्योंकि परमेश्वर इन मार्गों का स्वामी है, और इनकी गतियों का नियन्त्रण कर रहा है।

अर्थ—(अग्रियः) सर्वाग्रणी, (स्वर्षाः) सुखप्रदाता, (बृहद्दिवः[१]) महाद्युतिवाले परमेश्वर ने (इमा ब्रह्म=इमानि ब्रह्माणि) इन मन्त्रों या अथर्ववेद के मन्त्रों को—(शूषम्=शूषाणि) जोकि सुखदायी है—(इन्द्राय)[२] इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा के लिए, (कृणवत्) प्रकट किया है। (स्वराजा) स्वयं राजमान अर्थात् प्रकाशमान परमेश्वर (महः गोत्रस्य) महान् तथा रश्मियों के पालक सूर्य में (क्षयति) निवास करता है, और (तपस्वान्) प्रतापी या ऐश्वर्यवान् वह (तुरः चित्) त्वरया अर्थात् शीघ्र ही (विश्वम्) विश्व में (अर्णवत्) व्याप्त हो जाता है।

[बृहद् दिवः=बृहत् (महान्)+दिवः (द्युतिवाला), दिव्+कः (इगुपधत्वात्, अष्टा० ३.१.१३५)। स्वर्षाः=स्वः (सुख)+**षणु दाने**। दिवः=**दिवु द्युति** (दिवादिः), परमेश्वर द्युतिमान् है, स्वयं द्युतिमान् है, अतः वह सूर्य आदि को द्युतिसम्पन्न करता है। वह ज्ञानद्युति से भी सम्पन्न है, अतः वह इन्द्र, अर्थात् जीवात्मा को भी मन्त्र प्रदान या वेद प्रदान करता है। अथर्ववेद का नाम ब्रह्मवेद भी है।

शूषम् सुखनाम (निघं० ३.६)। गोत्रस्य=गावः सूर्यरश्मयः तेषां त्राता सूर्यः, तस्य। तपस्वान्=**तप ऐश्वर्ये** (दिवादिः)।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**भुरिक्परातिजागता त्रिष्टुप्**॥

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्व१मिन्द्रमेव।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च॥ ९॥

अर्थ—(इव) इस प्रकार (महान्) महान्, (अथर्वा) निश्चल, कूटस्थ, (बृहद् दिवः) महाद्युतिसम्पन्न परमेश्वर ने (स्वाम्) निज (तन्वम्) व्यापक स्वरूप को (इन्द्रम्, एव) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा के प्रति ही (अवोचत्) कहा। (स्वसारौ) स्वयं सरण करनेवाली, (मातरिभ्वरी) अन्तरिक्षमाता में सत्तावाली, (अरिप्रे) पापों से रहित (एने) ये "द्यौः—पृथिवी," [बृहद्दिवः] तथा बृहद्-दिव परमेश्वर [ये तीनों] (हिन्वन्ति) इन्द्र को प्रेरित करते रहते हैं, (च) और (शवसा) बल [प्रदान] द्वारा (वर्धयन्ति) इसे बढ़ाते रहते हैं।

[अथर्वा=**थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः** (निरुक्त ११.२.१९) अर्थात् निश्चल, कूटस्थ। मातरि=यथा 'मातरिश्वा' पद की व्याख्या में "**मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनितीति वा**" (निरुक्त ७.७.२६)। अरिप्रे=द्युलोक और पृथिवीलोक पाप-रहित हैं। इनमें पाप की सत्ता मनुष्य-कृत है। **शवः बलनाम** (निघं० २.९)]

सूक्त १, २ में त्रित, वरुण और बृहद्-दिव नामों द्वारा, परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुणों और कर्मों का निर्देश कर, एक परमेश्वर का ही कथन किया है।

---

१. बृहद्दिवः=अथवा "दिवः बृहद्" अर्थात् द्युलोक से बड़ा ब्रह्म, परमेश्वर।

२. महर्षि दयानन्द के अनुसार सूक्तों और मन्त्रों के अर्थों के द्रष्टा हैं ऋषि अर्थात् मानुष=ऋषि। ऐसे मानुष ऋषियों की सत्ता न हो तो सूक्तों और मन्त्रों का न पूर्वकालीन होना सम्भव है, न "तत् समकालीन", अतः जिन सूक्तों और मन्त्रों में पठित नामपदों को ऋषि के रूप में अनुक्रमणिका आदि में कहा है, ये सब काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं, ऐसे स्थलों में वास्तविक ऋषिनाम अलभ्य है, या ऐसे स्थलों में मन्त्रार्थ-द्रष्टा या मन्त्र-प्रवक्ता कोई मानुष-ऋषि कभी हुए ही नहीं। अथवा यह माना जा सकता है कि वेदाविर्भाव के पश्चात्, मन्त्र या सूक्त में पठित ऋषिनामों के सदृश, निज नाम धारण कर, उन नामों द्वारा वे मन्त्र या सूक्त के प्रवक्ता या अर्थद्रष्टा हुए हैं। ये विकल्प केवल अनुसंधानार्थ दिए हैं।

सूक्त ३

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (विहवेषु[1]) विविध युद्धों में (मम वर्चः, अस्तु) मेरी प्रख्याति हो, (वयम्) हम सेनाधिपति लोग (त्वा) हे अग्रणी! तुझे (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए, प्रख्यात करते हुए (तन्वम्) विस्तृत 'साम्राज्य-शरीर'[2] को (पुषेम) परिपुष्ट करें। (चतस्रः प्रदिशः) साम्राज्य की चारों विस्तृत दिशाएँ (मह्यम्) मेरे लिए (नमन्ताम्) प्रह्वीभूत हों, (त्वया अध्यक्षेण) तुझ साम्राज्य के अध्यक्ष की छत्रछाया में (पृतनाः) शत्रु सेनाओं को (जयेम) हम सैनिक-वर्ग जीतें। मन्त्र में 'मम, मह्यम्' द्वारा सेनानायक की उक्ति है।

[समग्र सूक्त में सैन्य शासन का वर्णन है। यद्यपि civil शासन अर्थात् नागरिक शासन के अधिकारी पूर्ववत् स्थिर रहते हैं, तो भी युद्ध-अवस्था में सेनानायक "सोम" के हाथ में राज्यव्यवस्था होती है, तभी सोम को राजा कहा है (मन्त्र ७)। सोम है सेनानायक (यजुः० १७.४०)। 'अग्नि' आदि अधिकारी सोम की सहायता करते हैं।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवोमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्॥ २॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (परेषाम्) शत्रुओं के (मन्युम्) क्रोध को (प्रतिनुदन्) वापस धकेलता हुआ (त्वम्) तु (गोपाः) रक्षक, (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परि पाहि) सुरक्षित कर। (दुरस्यवः) दुरभिसन्धिवाले शत्रु (अमा) सब एक-साथ (निवता) निचले मार्ग द्वारा (अपाञ्चः यन्तु) अपगत हो जाएँ, (एषाम्) इनके (चित्तम्) चित्त (प्रबुधाम्) प्रबोध को (विनेशत्) न प्राप्त हों।

[जैसे नदी का जल नीचे की ओर बह जाता है, वैसे शत्रु भी अधोमार्गगामी हो जाएँ, ऐसे वापस धकेल दिए जाएँ कि उनके चित्तों में पुनः आक्रमण करने का प्रबोध न रहे।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै॥ ३॥

---

१. युद्ध के लिए विशेष आह्वानों पर।

२. सैनिक वर्ग साम्राज्य को निज शरीरवत् जानकर इस प्रकार उसका परिपषोषण करें जैसेकि वे निजशरीरों का परिपोषण करते हैं। यथा "**पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः।**" यजुः० २०.८। मन्त्र में पृष्ठीः द्वारा राष्ट्र को कहा है, और विशः अर्थात् प्रजाओं को, शरीर के अन्य अङ्ग। यद्यपि मन्त्र में राष्ट्रशरीर का वर्णन है तो भी इसे साम्राज्यशरीर तथा सार्वभौम शरीर के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। यही भावना साम्राज्य के अन्य अधिकारियों में भी होनी चाहिए।

अर्थ—(सर्वे देवाः) सब देव अर्थात् (इन्द्रवन्तः मरुतः) सम्राट् सम्बन्धी योद्धा, (विष्णुः, अग्निः) विष्णु और अग्रणी प्रधानमन्त्री, (मम विहवे) मेरे विशेष आह्वान पर (सन्तु) हों, तैयार रहें। (उरुलोकम्) विस्तृत-लोक, (अन्तरिक्षम्) तथा अन्तरिक्ष (मम अस्तु) मेरे अधीन हों, (मह्यम्) मेरे लिए (वातः) वायु (पवताम्) अनुकूल रूप में प्रवाहित हो (अस्मै कामाय) इस विजय-कामना के लिए। [वायुः=राष्ट्र का वायुमण्डल, अर्थात् राष्ट्र अनुकूल हो।]

[सूक्त में चूँकि सैन्यशासन है, अतः मन्त्रोक्ति सोम राजा (मन्त्र ७) की है। इन्द्र है सम्राट्, यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। इन्द्र के मरुतः हैं, शत्रु को मारने में सिद्धहस्त योद्धावर्ग (यजुः० १७.४०)। अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री। आधिभौतिक स्वरूप विष्णु का अनुसन्धेय[१] है। सोमराजा, अन्तरिक्ष में हो सकनेवाले युद्ध की सम्भावना से, अन्तरिक्ष पर भी स्वामित्व चाहता है।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।

एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह॥ ४॥

अर्थ—(मम) मेरे (यानि) जो (इष्टा=इष्टानि) अभीष्ट हैं वे (मह्यम्) मेरे लिए (यजन्ताम्) सुसंगत हों, सुसम्पादित हों, (मे मनसः आकूतिः) मेरे मन का संकल्प (सत्य अस्तु) सत्य हो जाए, पूरा हो जाए। (कतमत् चन) किसी भी (एनः) हत्या को (अहम्) मैं (मा निगाम्) न प्राप्त होऊँ, (विश्वे देवाः) साम्राज्य के सब देव (इह) इस युद्ध में (मा) मुझे (अभिरक्षन्तु) सब प्रकार से सुरक्षित करें।

[सोमा-राजा की उक्ति है (मन्त्र ७)। एनः=एतेः, (निरुक्त ११.३.२४) पाप; जोकि फलभोग कराने के लिए अवश्य पापी को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह कि युद्धकर्म में मुझसे ऐसा कोई पाप न हो जाए जिसके परिणाम में मुझे साम्राज्य-दण्ड "हत्या" प्राप्त करनी पड़े।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**द्रविणोदादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।

दैवा होतारः सनिषन्न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः॥ ५॥

अर्थ—(देवाः) साम्राज्य के दिव्य अधिकारी, (मयि) मुझ सोम-राजा के निमित्त, (द्रविणम्) धन (आ यजन्ताम्) प्रदान करें, (मयि) मुझमें (आशीः) साम्राज्य का आशीर्वाद हो, (मयि) मुझमें (देवहूतिः) इन देवों को आहूत करने का अधिकार हो। (होतारः) साम्राज्य-यज्ञ में आहुतियाँ देनेवाले (दैवाः) देवसमूह ने (नः) हमें, (एतत्) यह धन (सनिषन्) प्रदान किया है, (सुवीराः) ताकि हम उत्तम वीर (तन्वा) शरीर से (अरिष्टाः) हिंसा-रहित (स्याम) हो जाएँ।

[युद्ध के लिए धन की आवश्यकता होती है, इसलिए धन की याचना हुई है, और अन्य अधिकारों की प्राप्ति का कथन भी सोम-राजा ने किया है। सनिषन्=**षणु दाने** (तनादिः), लेट् लकार, सिप्, अट् का आगम। यजन्ताम्=**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (भ्वादिः), "यज्" दानार्थ अभिप्रेत है।]

---

१. सम्भवतः विष्णु है "ध्रुवादिक् का अधिपति तथा पृथिवी की ओषधियों का स्वामी।" (अथर्व० ३.२७.५)।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम्।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या॥ ६॥

अर्थ—हे (दैवीः) दिव्य (षट्) छह (उर्वीः) विस्तृत दिशाओ! (नः) हमारे लिए (उरु) विस्तृत प्रदेश (कृणोत) करो, और (विश्वेदेवाः) हे साम्राज्य के सब दिव्य अधिकारियो! (इह) इस साम्राज्य में (मादयध्वम्), आनन्दित रहो। (नः) हमें (अभिभाः) पराभव (मा विदत्) न प्राप्त हो, (मा) न (नः) हमें (अशस्तिः) अप्रशंसा=निन्दा (विदत्) प्राप्त हो, (मा) और न (विदत्) प्राप्त हो (वृजिना) वर्जनीया पापिन शत्रुसेना (या) जोकि (द्वेष्या) द्वेष करनेवाले शत्रु की है।

[सैन्य प्रशिक्षण के लिए विस्तृत प्रदेश चाहिए, इसलिए सोम-राजा ने साम्राज्य से विस्तृत प्रदेश की माँग की है। सैन्य प्रशिक्षण के रहते शत्रु-सेना आक्रमण द्वारा न हमारा पराभव कर सकती है, न हमें पराभव-जन्य निन्दा प्राप्त होती और न शत्रुसेना हमारे राष्ट्र में निज पदार्पण के लिए साहस ही कर सकती है।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥ ७॥

अर्थ—(तिस्रः देवीः) हे तीन देवियो! (नः) हमें (महि शर्म) महासुख (यच्छत) प्रदान करो, (च) और (प्रजायै) प्रजा के लिए तथा (नः तन्वे) हमारे शरीरों के लिए (यत्) जो (पुष्टम्) परिपुष्ट अन्न है उसे भी प्रदान करो। (मा) न (हास्महि) हम वर्जित हो जाएँ (प्रजया) प्रजा द्वारा, (मा) न (तनूभिः) निज तनुओं द्वारा, (सोमराजन्) हे सोम-राजन्! (मा) और न (द्विषते रधाम) हम शत्रु के वश में हों।

[**शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६)। तीन देवी हैं इडा, सरस्वती, भारती। इडा=इरा, इळा (अन्न और भूमि) (निघं० २.७; १.१)। सरस्वती=अन्तरिक्षस्था मेघीयावाक्। भारती=भरतः भरण-पोषण करनेवाले आदित्य की प्रभा। ये तीन देवी हैं, दिव्यशक्तियाँ हैं जोकि महासुख देती हैं। हास्महि="**ओहाक् त्यागे**" (जुहोत्यादिः), अथवा "**ओहाङ् गतौ**" (जुहोत्यादिः), हम प्रजा और तनू से परित्यक्त न हो जाएँ, या विगत न हो जाएँ। रधाम=**रध्यतिर्वशगमने** (निरुक्त १०.४.४०)। साम्राज्य में 'महासुख' की प्राप्ति हो जाने पर 'सोम राजा' का शासन समाप्त हो गया। **भरतः आदित्यः** (निरुक्त ८.२.१३)। मन्त्रोक्ति प्रधानमन्त्री की है।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः॥ ८॥

अर्थ—(उरुव्यचाः) महाविस्तृत साम्राज्यवाला, (महिषः) महान् (नः) हमें (शर्म) सुख या आश्रम (यच्छंतु) प्रदान करे, वह जोकि (अस्मिन् हवे) हमारे इस आह्वान पर, (पुरुहूतः) बहुसंख्यक प्रजाजनों द्वारा आहूत हुआ है, (पुरुक्षु) और जो साम्राज्य की प्रभूत अन्न-सम्पत्ति का स्वामी है। (हर्यश्व) हे हरि!

अर्थात् शीघ्रगामी अश्वोवाले! (इन्द्र) सम्राट्! (सः) वह तू (नः प्रजायै) हम प्रजाओं के लिए (मृड) सुख उत्पन्न कर, (नः) हमें (मा) न (रीरिषः) दुःखी कर, अर्थात् (नः) हमारा (मा) न (परा दाः) शत्रुओं के प्रति प्रदान कर, अथवा हमारा परित्याग न कर।

[व्यचः=विस्तार। **शर्म सुखनाम; गृहनाम** (निघं० ३.६; ३.४)। **क्षु अन्ननाम** (निघं० २.७) रीरिषः=मानसिक हिंसा अर्थात् दुःख। प्रतीत होता है कि सोम-राजा के शासनकाल में, सम्राट् राज्य करने से विरक्त हो गया है, और प्रजाजन पुनः साम्राज्य के लिए उसका आह्वान करना चाहते हैं।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात्॥ ९॥

अर्थ—(धाता) धारण-पोषण करनेवाले अन्न का अधिष्ठाता, (विधाता) विधिविधान का अधिष्ठाता, (यः) और जो (भुवनस्य) समग्र पृथिवी का (पतिः) स्वामी है, भूपति है वह, (सविता) प्रसूतियों का, या धन सम्पत् का (देवः) दिव्यगुणी अधिष्ठाता, (अभिमातिषाहः), अभिमानी राजाओं का पराभव करनेवाला, या उनके अभिमानों का दलन करनेवाला, (आदित्याः रुद्राः) आदित्य कोटि के तथा रुद्रकोटि के विद्वान्, (उभौ अश्विनौ) अश्वों के दो अधिष्ठाता, (देवाः) ये सब देव (यजमानम्) साम्राज्य-यज्ञ के कर्त्ता सम्राट् की (पान्तु) रक्षा करें, (निर्ऋथात्) कष्ट-आपत्तियों से।

[धाता-अन्नाधिष्ठाता, यथा "धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातु-मक्षिताम्" (शां० श्रौ० ९.२८.३), अर्थात् धाता, "कर" देनेवाले भूमिपति के लिए, प्राचीन अर्थात् प्रगति करानेवाली तथा मात्रा में न क्षीण होने-वाली "जीवातुम्" अर्थात् जीवन-निर्वाहक अन्न-सम्पत्ति प्रदान करे। सविता=षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वादिः), प्रसूतियों या साम्राज्य की धनसम्पत् का अधिष्ठाता, सम्भवतः द्वितीय अर्थ अभिप्रेत है, तभी उसे देव कहा है, अर्थात् दिव्यगुणी, जोकि साम्राज्य की धनसम्पत् को चुराता न रहे। अभिमातिषाहः=साम्राज्य का प्रधान सेनापति, बृहती सेना का अधिपति (यजुः० १७.४०)। अश्विना, उभा=अश्वों के दो अधिष्ठाता, एक रथ-सम्बन्धी अश्वों का अधिष्ठाता, दूसरा अश्वारोही सैनिकों के अश्वों का अधिष्ठाता। निर्ऋथात्=**निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः** (निरुक्त २.२.८)।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान्।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत॥ १०॥

अर्थ—(ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रु हैं (ते) वे (अप भवन्तु) दूर हो जाएँ, हट जाएँ, (इन्द्राग्निभ्याम्) सम्राट् और अग्रणी प्रधानमन्त्री द्वारा (एनान् अवबाधामहे) इनके प्रति हम बाधाएँ उपस्थित करते हैं। (आदित्याः रुद्राः) आदित्य और रुद्र कोटि के विद्वान्, (उपरिस्पृशः) जोकि साम्राज्य-जीवन में सर्वोपरि स्थान को स्पर्श किये हुए हैं, उन्होंने (नः) हमारे (उग्रम्, चेत्तारम्) उग्र और सम्यक् ज्ञानी इन्द्र को (अधिराजम्) राजाधिराज (अक्रत) कर दिया है। "अधिराज (अथर्व० ६.९८.१-३)"।

[आदित्य और रुद्र के साथ वसु कोटि के विद्वान् भी अभिप्रेत हैं। ये त्रिविध प्रकार के विद्वान् हैं जिन्होंने विजयी सम्राट् को राजाधिराज कर दिया है।]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद्धनजिदश्वजिद्यः।

इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी॥ ११॥

अर्थ—(इन्द्रम्) सम्राट् को (अमुतः) उस दूर के स्थान से (अर्वाञ्चम्) इधर अपनी ओर (हवामहे) हम प्रजाजन बुलाते हैं, (यः) जिसने कि शत्रुओं की (गोजित्) गौओं को जीता है, (धनजित्) धनों को जीता है, (यः) जिसने (अश्वजित्) अश्वों को जीता है। (विहवे) इस विविध आह्वान पर (नः) हमारे (इमम् यज्ञम्) इस साम्राज्य-यज्ञ [के लिए, आह्वान] को (शृणोतु) वह सुने। (मेदी) स्नेही तू (हर्यश्व) हे शीघ्रगामी अश्वोंवाले इन्द्र! (अस्माकम्) हमारा (अभूः) हो गया, [तू हमारा सम्राट् हो गया है।]

[विरक्त होकर, राजकार्य से पृथक् होकर, दूर चले गये सम्राट् को प्रजाजन साम्राज्य-यज्ञ के लिए आहूत करते हैं, तो स्नेही सम्राट् वापस आ जाता है।]

सूक्त ४

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥ १॥

अर्थ—(वीरुधाम्) विरोहण करनेवाली या रोगों का विशेष निरोध करनेवाली वनस्पतियों में (यः) जो (बलवत्तमः) अतिशक्तिशाली तू (गिरिषु) पर्वतों में (अजायथाः) पैदा हुआ है, (तक्मनाशन) हे कष्टप्रद ज्वर का नाश करनेवाले (कुष्ठ) कूठ-औषध! (इतः) यहाँ से (तक्मानम्) तक्मा ज्वर का (नाशयन्) नाश करता हुआ तू (आ इहि) आ।

[वीरुधाम्=वि+रुह् (**बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च**; भ्वादिः), तथा वि+रुध्[१] (**रुधिर् आवरणे**; रुधादिः)। तक्मान्=**तकि कृच्छ्रजीवने** (भ्वादिः)। कुष्ठ=कूठ या कूट। अथवा गिरिषु=मेघों के काल में (**गिरिः मेघनाम** निघं० १.१०)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि। धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम्॥ २॥

अर्थ—(हिमवतः परि) हिमवान्[२] का परित्याग[३] कर या उससे परे, (सुपर्णसुवने गिरौ) उत्तमपक्षोंवाले कमलों के उत्पादक पर्वत में (जातम्) उत्पन्न हुए कुष्ठ को (श्रुत्वा) सुनकर, (धनैः) [धनिक] धनों के साथ (अभियन्ति) पर्वत की ओर जाते हैं, (हि) क्योंकि [कुष्ठ] (तक्मनाशनम्) तक्म-ज्वर का नाश करनेवाला है, (विदुः) यह वे जानते हैं।

अथवा

---

१. विशेषरूप में रोगों को रोकनेवाला, यथा मन्त्र (७,९,१०)।

२. हिमवान् का अभिप्राय हिमालय पर्वत नहीं, अपितु कोई भी पर्वत है जोकि हिमवान् हो। हिमवान् पर्वत शीतल होता है। कुष्ठ शीतल प्रदेश में उत्पन्न नहीं होता यह अभिप्राय है। वेद में "हिमवन्तः" पद बहुवचन में प्रयुक्त है, अतः मन्त्र में हिमवान् पद संज्ञावाचक नहीं (यजुः० २५.१२)।

३. परित्याग कर या परे=इसीलिए कहा है कि "**उदङ् जातो हिमवतः**" (मन्त्र ८); अर्थात् हे कुष्ठ! तू हिमवान् से उत्तर की दिशा में पैदा हुआ है, न कि हिमवान् में। इस द्वारा हिमवान् का परित्याग स्पष्ट प्रतीत होता है, अर्थात् उससे परे कुष्ठ का पैदा होना सूचित होता है। हिमवतः परि हिमवन्तं परिवर्ज्य।

हिमवान् ऋतु का परित्याग कर, सुपर्ण अर्थात् सूर्य रश्मियों द्वारा उत्पन्न मेघ [काल] में उत्पन्न हुए कुष्ठ को सुनकर—शेष पूर्ववत्।

हिमवतः परि=**अपपरी वर्जने** (अष्टा० १.४.८७)। सुपर्ण=सूर्य की रश्मियाँ (आप्टे) तथा '**सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः**' (निरुक्त ३.२.१२)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्यामि॒तो दि॒वि। तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत॥ ३॥

अर्थ—(इतः) यहाँ से (तृतीयस्याम्) तीसरे (दिवि) द्युलोक में, (देवसदनः) दिव्यगुणों का सदन है (अश्वत्थः) अश्वत्थ (तत्र) उसके काल में (देवाः) दिव्यगुणी चिकित्सकों ने (अमृतस्य) न मरने अर्थात् दीर्घ जीवन के (चक्षणम्) दर्शनरूप (कुष्ठम्) कूठ औषध को (अवन्वत) चाहा, या उसकी याचना की) तथा अथर्व० (१६.३९.६)।

[दिव् है यहाँ से तीसरा अर्थात् द्युलोक, यथा पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिव्। चक्षणम्=कुष्ठौषध को देखना मानों दीर्घ जीवन को देखना है। अवन्वत=**वनु याचने** (तनादिः)। द्युलोक में अश्वत्थ के उदयकाल में कुष्ठ की याचना।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हि॒र॒ण्यया॒ नौर॑चर॒द्धिर॑ण्यबन्धना दि॒वि। तत्रा॒मृत॑स्य॒ पुष्पं॑ दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत॥ ४॥

अर्थ—(दिवि) द्युलोक में (हिरण्यबन्धना) हिरण्यबन्धन अर्थात् रस्सीवाली (हिरण्ययी) हिरण्यमयी (नौः) नौका (अचरत्) चली है। (तत्र) उस काल में (अमृतस्य) शीघ्र न मरने अर्थात् दीर्घजीवन के (पुष्पम्) फूल को, (देवाः) दिव्य चिकित्सकों ने (कुष्ठम्) कूठ-औषध रूप में (अवन्वत) चाहा, या याचित किया। (अथर्व० १९.३९.७)

[द्युलोकस्थ नौका चमकते सितारों का समूह रूप है, अतः इसे हिरण्ययी कहा है। यथा "**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**" (यजुः० १३.४) में चमकते ब्रह्माण्ड को हिरण्य कहा है। नौका, नदी-समुद्र में चलती है। द्युलोकस्थ नौका द्युलोक के महाकाशरूपी समुद्र में चली है। यद्यपि द्युलोक में नियत स्थान में नौका स्थित है तो भी पृथिवी यतः निज धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर वेग से भ्रमण करती है, अतः हमें समग्र द्युलोक पूर्व से पश्चिम की ओर चलता दृष्टिगोचर होता है। "बन्धना" द्वारा रस्सी अभिप्रेत है। नौका को किनारे पर बाँधना भी होता है, इस अभिप्राय को रस्सी द्वारा सूचित किया है। यह रस्सी है द्युलोक के मण्डलों की परस्पर आकर्षणरूपी रस्सी, जिससे द्युलोक के नक्षत्रमण्डल और तारामण्डल अपने-अपने सापेक्ष नियत स्थानों में बँधे रहते हैं। जब पूर्वदिशा में नौका का उदय हो, तब उस काल में, कुष्ठ के खिले पुष्प को भी कुष्ठ कहा है। सम्भवतः कुष्ठ और उसके पुष्प में, दोनों में, रोगों के निवारण की शक्ति अधिक और अल्परूप में समान हो। अतः पुष्प[१] को कुष्ठ कहा है।]

---

१. पुष्प निजफल से पूर्व विकसित होता है और फल पुष्प के पश्चात् पकता है। मन्त्र में पुष्प का काल नौका का काल कहा है, और कुष्ठ-फल का काल अश्वत्थ का काल, अतः नौका का उदयकाल पूर्वभावी है, और अश्वत्थ का उदयकाल पश्चाद्भावी।

नौका का चित्र दक्षिण गोलार्द्ध के ऊपर नं० ११० से नं० १४० के मध्य में दर्शाया है और नौका की पीठ पर अर्णव यानमण्डल छपा है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठस्तक्मनाशनः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्ययाः।

नावो हिरण्ययीरासन्याभिः कुष्ठं निरावहन्॥ ५॥

अर्थ—[नौका के] (पन्थानः) चलने के मार्ग (हिरण्ययाः) हिरण्यमय अर्थात् हिरण्य के सदृश चमकीले (आसन्) थे, (अरित्राणि) नौका के चप्पु [oars] (हिरण्यया=हिरण्यानि) हिरण्य के सदृश चमकीले थे। (नावः) नौकाएँ (हिरण्ययीः) हिरण्य के सदृश चमकीली (आसन्) थीं, (याभिः) जिन नौकाओं द्वारा (कुष्ठम्)कुष्ठौषध को (निरावहन्) दिव्यशक्तियों ने प्राप्त कराया।

[नावः में बहुवचन नौकास्थ ताराओं के बहुत्व के कारण हुआ है। कारण में कार्य का उपचार हुआ है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठस्तक्मनाशनः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु। तमु मे अगदं कृधि॥ ६॥

अर्थ—(कुष्ठ) हे कूठ-औषध! (मे) मेरे (इमम्, पूरुषम्) इस पुरुष को, अर्थात् (तम्) उस रोगी को (आवह) तू अपने पास ला, (तम्) उसे (निष्कुरु) रोगरहित कर (तम्) उस (मे) मेरे [पुरुष] को (उ) निश्चय से (अगदम् कृधि) रोगरहित कर।

[आवह=अर्थात् रोगी को तू शक्ति प्रदान कर, ताकि वह रोग-शय्या का परित्याग कर, पूर्ण आरोग्य के लिए स्वयं तेरे समीप आ सके। वर्णन कविता में हुआ है।]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठस्तक्मनाशनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः।

स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड॥ ७॥

अर्थ—(देवेभ्यः अधि) दिव्यशक्तियों से (जातः असि) हे कूठ-औषध! तू पैदा हुआ है, (सोमस्य) सोम-औषध का (सखा असि) तू सखा है, (हितः) रोगी का तू हित करनेवाला है। (सः) वह तू (मे) मेरे (अस्मै) इस रोगी पुरुष के लिए तथा (प्राणाय, व्यानाय, चक्षुषे) इसके प्राण, व्यान और चक्षु आदि इन्द्रियों के लिए (मृड) सुखदायक हो।

[देवेभ्यः=यथा "गिरिष्वजायथाः" (मन्त्र १) आदि। सोमस्य[1] सखा=सोम-औषध का तू सखा है, मित्र है। मित्र अपने मित्र का सहायक होता है। इस द्वारा सूचित किया है कि रोगनिवारण में सोम-औषध तेरा सहायक होगा, अर्थात् कूठ-औषध के साथ-साथ सोम-औषध का भी सेवन करना उत्तम है।]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठस्तक्मनाशनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम्।

तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे॥ ८॥

अर्थ—(हिमवतः) हिमवान् के (उदङ्) उत्तर में (जातः) हे कुष्ठ! तू पैदा हुआ है, (सः) वह तू (प्राच्याम्) पूर्व की दिशा में (जनम्) जनता या जनपद के प्रति (नीयसे) ले-जाया जाता है, या उस जनता या जनपद में तू प्राप्त[2] होता है। (तत्र) वहाँ (कुष्ठस्य) कूठ-औषध के (उत्तमानि नामानि) नामी

---

१. साकं सोमेन तिष्ठति (अथर्व० १९.३९.५-८)। २. णीञ् प्रापणे (भ्वादिः)।

अर्थात् प्रसिद्ध उत्तम-कुष्ठों के विभागों को (विभेजिरे), [धनिक (मन्त्र २)] आपस में विभक्त कर लेते हैं अथवा विभेजिरे=उत्तम कुष्ठों को मध्यम तथा अल्पगुणी कुष्ठों से जुदा करते हैं, छाँटते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता।

यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि॥ ९॥

अर्थ—(कुष्ठ) हे कूठ-औषध! (उत्तमः नाम) तू प्रसिद्ध, उत्तमकोटि का है, (ते पिता) तेरा पिता अर्थात् उत्पादक कुष्ठ-बीज (उत्तमः) उत्तमकोटि का है। (सर्वम् यक्ष्मम्) सब प्रकार के यक्ष्म का (नाशय) तू नाश कर, (च) और (तक्मानम्) कष्टप्रद ज्वर को (अरसम् कृधि) रसरहित कर।

[अथवा पिता है मेघ, जोकि उत्तम है, ऊपर अर्थात् अन्तरिक्ष में तना हुआ है, फैला हुआ है। उत्+**तनु** (**विस्तारे**+मा, अथवा "उत्+तमप्"=उत्तम बीजरूप पिता! अरसम्=रसरहित करना अर्थात् सुखा देना, नष्ट कर देना।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भा निचृदनुष्टुप्**॥

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वोः रपः। कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद्दैवं समह वृष्ण्यम्॥ १०॥

अर्थ—(शीर्षामयम्) सिर के रोग को, (अक्ष्योः) आँखों के (उप हत्याम्) हनन को, अर्थात् चक्षुः के रोग [अन्धापन] को, (तन्वः) शरीर के अन्य (रपः) पापजन्य रोगों को, (तत् सर्वम्) उस सबको (कुष्ठः) कूठ-औषध (निष्करत्) शरीर से निकाल देता है, तथा (वृष्ण्यम्) वर्षाजन्य (दैवम्) द्युति अर्थात् ज्वलनोत्पादक रोगसमूह को (समह=सम्, अह करत्) पृथक् करके सम्यक् कर देता है।

[अह=**अह, इति च ह इति च विनिग्रहार्थीयौ** (निरुक्त १.२.५)। विनिग्रहः पृथक्करणम् "अह"=पृथक् करके, "सम् करत्" सम्यक् कर देता है।]

विशेष विचार

पृथिवी से तीसरे लोक दिव् में अश्वत्थ का स्वरूप विचारणीय है। वह अश्वत्थ है आदित्य। अश्वनामा सन् तिष्ठतीति अश्वत्थः। आदित्य को अश्व भी कहा है। यथा "**एकोऽअश्वो वहति सप्तनामा**" (ऋ० १.१६४.२)। तथा "**एको अश्वो वहति सप्तनामादित्यः**" (निरुक्त ४.४.२७)। यह "तिष्ठति" अर्थात् स्थित है, निज नियत स्थान में स्थित है, स्थान का परिवर्तन नहीं करता, स्थिररूप में एक स्थान में स्थित रहता है। स्थिरता, सौर-परिवार में आदित्य की सापेक्ष स्थिति की दृष्टि से कही है। आदित्य केन्द्ररूप में स्थित है, और उपग्रहोंसहित ग्रह, तथा धूम्रकेतु इसकी परिक्रमाएँ कर रहे हैं। ऐसे अप्रसिद्ध प्रयोग अन्यत्र भी हुए हैं। गीता में ब्रह्माण्ड को "अश्वत्थ" कहा है। यथा—"**ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्**" (१५.१)। श्लोक १५.२,३ भी अश्वत्थ के सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रकार अप्रसिद्धार्थक शब्दों के प्रयोग अन्यत्र भी हुए हैं। यथा—वन=विस्तृत प्रकृति, और वृक्ष=प्रकृत्यैकांश, जिससे द्यावापृथिवी घड़े गये हैं (यजुः० १७.२०)। तथा "**अहं वृक्षस्य रेरिवा**" में ब्रह्माण्ड को वृक्ष[1] कहा है (तैत्ति० उप० १.१०)। रेरिवा=**रि गतौ** (तुदादिः)=गतिदायक अर्थात् संचालक,

---

१. वृक्ष छिन्न-भिन्न होते रहने के कारण। ब्रह्माण्ड में छेदन-भेदन क्रिया सदा होती रहती है और प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड का छेदन-भेदन पूर्णतया हो जाता है। वृक्ष=**ओव्रश्चू छेदने** (तुदादिः)।

मैं परमेश्वर।

नौ और अश्वत्थ हैं, नौ और आदित्य। नौ को उदयकाल में पूर्वभावी कहा है, यतः यह पुष्प है, और आदित्य का उदयकाल पश्चाद्भावी, यतः यह फलरूप है। यह उस ऋतु में ही सम्भव है जबकि पूर्वदिशा में प्रथम नौका का उदय हो, और तत्पश्चात् आदित्य का उदय हो। यह परिस्थिति पृथिवी की सौर-परिक्रमा तथा निज धुरी पर परिभ्रमण द्वारा होती है। नौका का दर्शन रात्रिकाल में होता है, दिन के प्रकाश में वह तिरोहित रहती है।

सूक्त ५

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः।

सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥ १॥

अर्थ—(रात्री) रात्री है [तेरी] (माता) माता, (नभः) मेघ है (पिता) (अर्यमा[१]) सूर्य है (ते) तेरा (पितामहः) पिता का पिता। (वै) निश्चय से (नाम) प्रसिद्ध (सिलाची) सिलाची (असि) तू है, (सा) वह तू (देवानाम्) देवों की (स्वसा) बहिन है।

[सूक्त में लाक्षा का वर्णन है, लाक्षा है लाख [मन्त्र ७]। लाक्षा को "अपां स्वसा" कहा है [मन्त्र ७]। मन्त्र १ में लाक्षा को "देवानां स्वसा" कहा है, अतः देवानाम्=अपाम् अर्थात् उदक।] "आपः" पैदा होते हैं नभस् से, मेघ से। यतः नभस् से आपः [उदक] भी पैदा हुए, और नभस् से वर्षा द्वारा लाक्षा भी पैदा होती है, अतः देवों अर्थात् अप्-देवों की स्वसा [बहिन] लाक्षा हुई।

घने मेघों द्वारा सूर्य का प्रकाश न होकर, रात्री के सदृश अन्धकार हो जाता है, अतः इस अन्धकारमय काल को रात्री कहा है। यह काल अतिवर्षा का काल है और वर्षा के जल से लाक्षोत्पादक वृक्ष पैदा होते हैं [मन्त्र ५], अतः नभस्, अपाम् और लाक्षा का परस्पर रिश्ता गूढ़-कविता द्वारा दर्शाया है। नभस् से दो पैदा हुए उदक और लाक्षा, अतः ये दो भाई और बहिन हुए। मन्त्र ७ में यद्यपि "अपाम्" पद स्त्रीलिङ्ग में है, परन्तु वह केवल "छन्दः पूर्ति" के लिए है, अपाम् द्वारा अभिप्रेत है "देवानाम्" (मन्त्र १); जोकि पुल्लिङ्गी पद है। अर्यमा अर्थात् आदित्य है पितामह, अर्थात् नभस् (मेघ) का भी पिता।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम्। भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (त्वा पिबति) तुझे पीता[२] है (जीवति) जीवित होता है, (त्वम्) तू (पुरुषम् त्रायसे) पुरुष का त्राण करती है, पालन करती है। (शश्वताम्) बहुत (जनानाम्) जनों का (भर्त्री हि असि) निश्चय से भरण-पोषण तू करती है, (च) और (न्यञ्चनी) नितरां उनको प्राप्त हो जाती है।

[मन्त्र में लाक्षा के पीने का कथन हुआ है। न्यञ्चनी=नि+**अञ्चु गतौ याचने च** (भ्वादिः), अथवा नितरां तेरी माँग होती रहती है। **शश्वत् बहुनाम** (निघं० ३.१)।]

---

१. **अर्यमाऽऽदित्योऽरीन्नियच्छतीति** (निरुक्त ११.३.२३)।

२. **लाक्षालिङ्गाभिर्दुग्धे फाण्टान् पाययति** (कौशिकसूत्र २८.९४)। फाण्टान्=**क्वाथान्**। **क्वाथ**=प्रकरणानुसार लाक्षा को दुग्ध में उबालना, परिपाक करना (**क्वथे निष्पाके**, भ्वादिः)। **फाण्टों को घावों में पिलाने का विधान हुआ है।**

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि॥ ३॥

अर्थ—हे लाक्षा! (वृक्षं वृक्षम्) वृक्ष-वृक्ष पर (आ रोहसि) तू आरोहण[1] करती है, (इव) जैसे (वृषण्यन्ती) पति को चाहती हुई (कन्यला) कमनीया कन्या[2]। (जयन्ती) घावों पर विजय पाती हुई, (प्रत्यातिष्ठन्ती) उन घावों की प्रतिकूलता में स्थित हुई, (स्परणी) सेवा करनेवाली (नाम वै असि) प्रसिद्ध तू है।

[''वृक्षंवृक्षम्''=यथा (मन्त्र ५)। स्परणी=**स्पृ प्रीतिसेवनयोः** (स्वादिः)। जयन्ती, घावों पर विजय (मन्त्र ४) पानेवाली।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्दण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम्।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम्॥ ४॥

अर्थ—(यत्) जो (दण्डेन) दण्डे द्वारा, (यत्) जो (इष्वा) बाण द्वारा, (यत् वा) या जो (हरसा) अग्नि की ज्वाला द्वारा (अरुः) घाव (कृतम्) किया गया है, (तस्य) उसको (त्वम्) हे लाक्षा! तू (निष्कृतिः) ठीक करनेवाली (असि) है, (सा) वह तू (इमम्, पूरुषम्) इस पुरुष को (निष्कृधि) ठीक कर दे।

[हरसा; **हरः ज्वलतो नाम** (निघं० १.१७)। अरुः=घाव। यही अभिप्राय ''अरुन्धति'' पद में है (मन्त्र ५)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात्।
भद्रान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति॥ ५॥

अर्थ—(भद्रात्) भद्र (प्लक्षात्) प्लक्ष से, (अश्वत्थात्) अश्वत्थ से, (खदिरात्) खैर से, (धवात्) धव से, (भद्रात्) भद्र (न्यग्रोधात्) न्यग्रोध से, (पर्णात्) पर्ण से (निस्तिष्ठसि[3]) तू निकलती है, पैदा होती है, (सा) वह तू (अरुन्धति[4]) हे घावों को ठीक करनेवाली लाक्षा! (नः) हमें (एहि) प्राप्त हो, या हमारी ओर आ। ''भद्र=हराभरा, सारवान्''।

---

१. लाक्षा का वृक्ष-वृक्ष पर आरोहरण करने का अभिप्राय है, वृक्षों से पैदा होना (मन्त्र ४), न कि लता के सदृश वृक्षों पर चढ़ना।

२. 'वृषण्यति कन्या' के साथ क्रिया अपेक्षित है जोकि ''आरोहति'' सम्भव है। विवाह-विधि में कन्या का अश्मारोहण, अर्थात् शिलारोहण होता है, वह ही आरोहण यहाँ अभिप्रेत है। यथा ''**आरोहेमम् अश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। अभि तिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः**'' पारस्करगृह्यसूत्र १.७.१। तथा ''**स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे। तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु**॥ (अथर्व० १४.१.४७)।

३. निस्+तिष्ठसि=वृक्षों से निकलकर तू निज स्वरूप में स्थित होती है, स्थिति प्राप्त करती है।

४. **अरूंषि धयति पिबतीति** (**धेट् पाने**, भ्वादिः)। लाक्षाः के लिए देखो (अथर्व० ४.१२.१-७)।

["भद्रात्" पद का सम्बन्ध "प्लक्षात्" आदि सभी के साथ है। प्लक्ष आदि सभी भद्र हैं, या भद्र होने चाहिएँ। अश्वत्थ=Holy Fig tree (पीपल?) न्यग्रोध= Indian Fig tree (अञ्जीर?) पर्ण=पलाश वृक्ष।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे। रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि॥ ६॥

अर्थ—(हिरण्यवर्णे) हे सुवर्ण के वर्णवाली! (सुभगे) हे सुन्दर रूपैश्वर्यवाली! (सूर्यवर्णे) हे सूर्य के सदृश वर्णवाली! (वपुष्टमे) हे अत्यन्त सुन्दर शरीरवाली! (निष्कृते) हे कष्ट दूर करनेवाली लाक्षा! (रुतम्) रुलानेवाले घाव को (गच्छासि) तू प्राप्त हो, (वै) निश्चय से (नाम) प्रसिद्ध (निष्कृतिः) रुलानेवाले घाव को दूर करनेवाली (असि) तू है।

["लाक्षा" लाल वर्णवाली होती है, जैसाकि सूर्य उदय और अस्त समय में लाल होता है। रुतम्=**रु शब्दे** (अदादिः) अभिप्रेत है—घाव के कारण कष्टोत्पन्न शब्द। लाक्षा लाल होती है, अतः इसका शरीर अर्थात् स्वरूप सुन्दर है, बुरा नहीं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते॥ ७॥

अर्थ—(हिरण्यवर्णे) हे सुवर्ण के सदृश वर्णवाली! (सुभगे) हे सुन्दर रूपैश्वर्य-वाली! (शुष्मे) हे बलशालिनी! (लोमशवक्षणे) हे लोमभरी वक्षणाओंवाली (लाक्षे) लाख! तू (अपाम्) उदकों की (स्वसा) बहिन (असि) है, (ह) निश्चय से (वातः) वायु (ते) तेरी (आत्मा) आत्मा (बभूव) हुई है।

[शुष्मे; **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९)। लाक्षा बलशालिनी है, यतः यह घावों को परास्त कर देती है, इसलिए इसे "जयन्ती" और "प्रत्यातिष्ठन्ती" कहा है (मन्त्र ३)। लोमशवक्षणे=लोमवाली नदियों-वाली। लोम होते हैं प्राणियों के शरीर पर, इसलिए लोमश का अर्थ भेड़ भी होता है, परन्तु मन्त्र में वक्षणाओं को लोमश कहा है। वक्षणा है नदी। यथा "**वक्षीणाः नदीनाम**" (निघं० १.१३)। वैदिक साहित्य में शारीरिक रक्तनाड़ियों को भी नदियाँ कहा है। इसीलिए हृदय को "सिन्धु" और रक्त को "आपः" कहा है (अथर्व १०.२.११), देखो अथर्ववेदभाष्य। घाव शरीर और शारीरिक नस-नाड़ियों में होते हैं, जिसकी ओषधि है लाक्षा (मन्त्र ४)। इसलिए लाक्षा है "लोमशवक्षणा"। "अपां स्वसा" देखो (मन्त्र १)। वातः आत्मा=लाक्षा की उत्पत्ति होती है वृक्षों से और वृक्षों का अङ्कुरित होना, बढ़ना और फूलना-फलना वायुमण्डल पर निर्भर है, अतः वायुमण्डल आत्मा है वृक्षों का, और परम्परया आत्मा है वृक्षों से उत्पन्न लाक्षा का।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सिलाची नाम कानीनोजबभ्रु पिता तव।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता॥ ८॥

अर्थ—(सिलाची नाम) तू प्रसिद्ध सिलाची है; (कानीनः) दीप्तिमान् सूर्य से उत्पन्न, (अजबभ्रु) गतिमान् और भरण-पोषण करनेवाला मेघ [हे लाक्षा!] (तव पिता) तेरा पिता है [यतः पितामह है

अर्यमा, आदित्य (मन्त्र १)]। (यमस्य) जगन्नियन्ता का (यः) जो (श्यावः) गतिशील (अश्वः) अश्व है, (तस्य) उस अश्व के (अस्ना या आस्ना) मुख द्वारा (ह) निश्चय से [हे लाक्षा!] (उक्षिता) सींची गई (असि) तू है। [कई शाखाग्रन्थों में सिलाची[1] के स्थान में घृताची[2] पाठ है।]

[कानीनः=**कनी दीप्तिकान्तिगतिषु** (भ्वादिः), कनीनः=सूर्यः, तस्य पुत्रः कानीनः मेघः। अजबभ्रु=मेघः, **अज (गतौ,** भ्वादिः)+बभ्रु **(डुभृञ्) धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। श्यावः अश्वः=आदित्यः, यथा **"एकोऽअश्वो वहति सप्तनामा"** (ऋ० १.१६४.२), तथा **"एको अश्वो वहति सप्तनामादित्यः"** (निरुक्त ४.४.२७)। श्यावः=**श्यैङ् गतौ** (भ्वादिः), आदित्य गतिशील है, पूर्व से पश्चिम की ओर गति करता प्रतीत होता है। मन्त्र में लाक्षा का वर्णन है। उसका पिता है मेघ (मन्त्र १)। अश्व है सूर्य, उसका मुख है मेघ। मुख से मुखरस अर्थात् मुखजल पैदा होता है, इसी प्रकार मेघ से वर्षाजल प्राप्त होता है, इसलिए मेघ को मुख कहा है यह मेघ सूर्य-सम्बन्धी है, सूर्य का मानो अवयवरूप है, मुखरूप है। इस मुखरस द्वारा लाक्षा सिंचित होती है। सिंचित तो होते हैं वृक्ष, लाक्षा वृक्षों से पैदा होती है, अतः वृक्षनिष्ठ लाक्षा मानो सिंचित हुई है (मन्त्र ९)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति॥ ९॥

अर्थ—(अश्वस्य अस्नः) आदित्य के मुख अर्थात् मेघ से (संपतिता) मानो उड़कर तू आई है, (सा) वह तू (वृक्षान् अभि सिष्यदे) वृक्षों की ओर स्यन्दित हुई है, प्रवाहित हुई है (सरा)[3] उदकधारा रूप में, वर्षारूप में, (पतत्रिणी भूत्वा) पक्षिणी होकर (सा) वह (अरुन्धति) हे घावों को पी जानेवाली लाक्षा! (नः) हमारी ओर (एहि) तू आ।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

विषयप्रवेश-भूमिका (सूक्त ६)

(१) मन्त्र १-१४। ब्रह्मसूक्त में ब्रह्माण्ड में सर्वोपरि महान् चेतनात्मा का वर्णन है। ब्रह्म का वर्णन "अग्नि" पद द्वारा भी हुआ है (मन्त्र १०), ताकि यह पापवृत्रों का दहन करे। वृत्र पापरूप हैं, मानुष नहीं, इसलिए इन्हें "अवद्य" कहा है (मन्त्र ८)। अवद्य=गर्ह्य, निन्दनीय (अष्टा० ३.१.१०१)।

(२) मन्त्र (२) में आप्त पुरुषों द्वारा किये गये सत्कर्मों के करने का विधान हुआ है।

(३) मन्त्र ४ में त्रयोदश मास का कथन हुआ है, जिसका निर्माण परमेश्वर द्वारा होता है।

---

१. सिलाची=सिला, सिरा=नाड़ी (उणा० २.१३), **सिनाति बध्नाति मांसरुधिरादिकमिति सिरा, नाड़ी** (दयानन्द) तामचति, गच्छति, प्राप्नोति इति सिरा लाक्षा। नाड़ी के क्षत-विक्षत के उपचार में लाक्षा का प्रयोग होता है (मन्त्र ४)।

२. घृताची=घृतम् उदकनाम (निघं० १.१२)+**अच् गतौ, प्राप्तिः**। लाक्षा उदक-धारा को प्राप्त कर उत्पन्न होती है।

३. **सरः उदकनाम** (निघं० १.१२), सरः सरतीति। सरा उदकधारा, वर्षा, मेघ से प्रवाहित हुई। उदकधारा को लाक्षा कहा है, उदकधारा वृक्षों में पहुँचकर लाक्षारूप हो जाती है, कार्य में कारणोपचार हुआ है। सूक्त में अतिगूढ़ शब्दों में लाक्षा का वर्णन हुआ है।

(४) सोमारुद्रौ हैं मन:संयम और प्राणायाम (मन्त्र ५)। ये पाप को नष्ट करते और ''अमृत'' प्रदान करते हैं।

(५) (मन्त्र १०) में पाप-वृक्ष का ''पुरुषविध'' रूपेण वर्णन हुआ है।

(६) मन्त्र (११-१४) में अग्निनाम परमेश्वर को जीवात्मा का ''गृह, शर्म, वर्म और वरुण'' कहा है तथा जीवन्मुक्त का अग्निनामक परमेश्वर में प्रवेश का कथन हुआ है।

अनुवाक २

सूक्त ६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्म, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः॥ १॥

अर्थ—(पुरस्तात्) पुराकाल अर्थात् सृष्ट्यारम्भकाल में (प्रथमम्) सर्व-प्रथम (ब्रह्म) ब्रह्म (जज्ञानम्) ज्ञानवाला हुआ। (वेनः) ज्ञानवान्-ब्रह्म ने (सीमतः) सीमाप्रदेश अर्थात् द्युलोक में (सुरुचः) उत्तमरूप में रोचमान नक्षत्र-ताराओं को (वि आवः) विवृत किया, प्रकट किया, (सः) उस वेन [ब्रह्म] ने (सतः च) स्थूल जगत् की, (च) और असतः सूक्ष्मजगत् की (योनिम्) योनिरूप प्रकृति को (विवः) विवृत किया, उत्पत्तिसमर्थ कर दिया। (बुध्न्याः) मूलरूप द्युलोक में वर्तमान (विष्ठाः) विविधस्थानों में स्थित नक्षत्र-तारे (अस्य) इस वेन-ब्रह्म के (उपमाः) उपमारूप हैं।

[जज्ञानम्=**ज्ञा अवबोधने, ज्ञाता** (दयानन्द, यजुः० १३.३)। ब्रह्म के इस ज्ञान को ''ईक्षण'' द्वारा कहा है (ऐत० उप० खं० ३)। ईक्षण का अभिप्राय है निरीक्षण करना, आलोचित करना, कि मैं सृष्टि रचूँ। वेनः=**वेणृ गतिज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु** (भ्वादिः)। उपमाः=जैसे नक्षत्र-तारे प्रकाशमान हैं वैसे वेन-ब्रह्म भी प्रकाशमान है। यथा ''**नक्षत्राणि रूपम्**'' (यजुः० ३१.२२), अर्थात् नक्षत्र पुरुष-ब्रह्म के रूपभूत हैं। वेणृ=**नान्तोऽप्ययम्** (सिद्धान्तकौमुदी)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कर्माणि**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे॥ २॥

अर्थ—(वः) तुम्हारे, (अनाप्ताः) जिनसे बढ़कर कोई आप्त नहीं, (ये प्रथमाः) जोकि प्रथमकोटि के पुरुष हैं, (यानि कर्माणि) वे जिन कर्मों को (चक्रिरे) करते रहे हैं, (तत्) उस कर्मसमूह को (एतत्) इस प्रयोजन को लक्ष्य कर (वः) तुम्हारे (पुरः) सामने (दधे) मैं रखता हूँ, ताकि (अत्र) इस जीवन में (नः) हमारे (वीरान्) वीरपुत्रों को [अन्य प्रकार के अर्थात् दुष्कर्म] (मा) न (दभन्) हिंसित करें।

[ये अनाप्त हैं वेदाविर्भाव करनेवाले अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रगणाः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सहस्रधार एव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे॥ ३॥

अर्थ—(सहस्रधारे) हजारों का धारण करनेवाले, (दिवः) द्योतमान ब्रह्म के (नाके) सांसारिक सुख-दुःखरहित आनन्दस्वरूप में (एव) ही रहनेवाले, (मधुजिह्वाः) मधुरभाषी, (असश्चतः[१]) असक्त, आसक्तिरहित, अथवा [रागद्वेष से] विमुक्त (ते) वे [अनाप्ताः मन्त्र २], (समस्वरन्) मिलकर बोले कि (तस्य) उस ब्रह्म के (भूर्णयः) क्षिप्रगामी (स्पशः) गुप्तचर (न निमिषन्ति) निमेष तक नहीं करते, और (पदे पदे) पग-पग कर, (पाशिनः) फन्दोंवाले होकर (सेतवे, सन्ति) बाँधने के लिए विद्यमान हैं।

[**जिह्वा वाङ्नाम** (निघं० १.११)। असश्चतः; **असश्चन्ती असज्यमाने** (निरुक्त ५.१.२) अथवा **सचति गतिकर्मा** (निघं० २.१४), अतः "अ+सचति"=विगतकर्मा, रागद्वेष से विगत, अनाप्त पुरुष। भूर्णयः; "**भुरण्यति, भुरण्युः**" **गतिकर्मा, क्षिप्रनाम** (निघं० २.१४; २.१५)। मन्त्र (२) में सुकर्मों को करनेवाले अनाप्तों का निर्देश हुआ है, मन्त्र (३) में वे अनाप्त पुरुष सावधान करते हैं कि दुष्कर्मों के करनेवालों को बाँधने के लिए ब्रह्म के गुप्तचर सर्वत्र विचर रहे हैं। यद्यपि स्पशों का सम्बन्ध वरुण के साथ है, परन्तु वरुण और ब्रह्म एक ही हैं। वरुण-ब्रह्म=वरणीय ब्रह्म, श्रेष्ठ-ब्रह्म।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रगणाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुबुष्णिक् त्रिष्टुब्गर्भा पञ्चपदा जगती**॥

पर्यू षू प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।

द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्त्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः॥ ४॥

अर्थ—(परि) सब ओर (उ) निश्चय से (सु) उत्तम प्रकार से (प्र धन्व) तू गति कर (वाजसातये) बल की प्राप्ति के लिए, अथवा वृत्रों के साथ संग्राम के लिए। तू (परि) सब ओर विद्यमान (वृत्राणि) [बुद्धि पर] आवरण डालनेवाले आसुर भावों तथा आसुर कर्मों का (सक्षणिः) विनाश करनेवाला है। (तत्=तान्) उन (द्विषः) द्वेषी वृत्रों को (अध्यर्णवेन) हृदय-समुद्र के अधिष्ठाता ब्रह्म की कृपा द्वारा (ईयसे) तू [युद्धार्थ] प्राप्त होता है। (सनिस्रसः) अधःपात करनेवाला (नाम असि) प्रसिद्ध तू है। (त्रयोदशः मासः) १३वाँ मास (इन्द्रस्य गृहः) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का घर है।

[वाजसातये; **वाजः बलनाम** (निघं० २.९)+सातिः (प्राप्तिः), अथवा **वाजसातौ संग्रामनाम** (निघं० २.१७)। धन्व=**धवि गत्यर्थः** (भ्वादिः)। (अधि अर्णवेन; अर्णवः=समुद्रः), यहाँ हृदय-समुद्र अभिप्रेत है। यथा "**हृद्यात् समुद्रात्**" (यजुः० १७.९३) हृदय-समुद्र का अधिष्ठाता है ब्रह्म; जीवात्मा का भी अधिष्ठान है हृदय। इस प्रकार दोनों का अधिष्ठान है हृदय। जीवात्मा, हृदयवासी ब्रह्म से शक्ति प्राप्त कर द्वेषी वृत्रों के साथ संग्राम को प्राप्त होता है। सनिस्रसः=**स्रंसु ध्वंसु अवस्रंसने** (भ्वादिः), अवस्रंसन=अधःपात। त्रयोदशो मासः="**अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते**" (अथर्व० १३.३.८)। "त्रयोदशः मासः" सम्बन्धी सूक्त परमेश्वरपरक है जोकि त्रयोदशमास का निर्माण करता है। "त्रयोदशः मासः" पर निज निर्माणकर्त्ता परमेश्वर का स्मारक है, जिसे कि व्याख्येय सूक्त में ब्रह्म कहा है। वह ब्रह्म इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का घर है, आश्रय है। देखो (अथर्व० १३.३.८)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमारुद्रौ**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः॥ ५॥

अर्थ—(असौ) वह तू (नु) निश्चय से (एतेन) इस "अध्यर्णव" [मन्त्र ४] ब्रह्म की कृपा द्वारा

१. अ+**षञ्ज (संगे,** भ्वादिः), षञ्जस्थाने "सश्च" छान्दस आदेशः।

(अरात्सीः) सिद्धि को प्राप्त हुआ है, (स्वाहा) इस ब्रह्म के लिए तू आत्मत्याग आत्मसमर्पण कर। (तिग्मायुधौ) तेज शस्त्रों-वाले (तिग्महेती) तेज अस्त्रोंवाले, (सुशेवौ) उत्तम सुखदायक (सोमारुद्रौ) सोम-और-रुद्र (इह) इस जीवन में (नः) हमें (सुमृडतम्) उत्तम प्रकार से सुखी करें।

[असौ=जिसे कि मन्त्र ४ द्वारा "प्रधन्व" कहा है। अरात्सीः=अ+**राध संसिद्धौ** (स्वादिः)। सोमारुद्रौ=सोम=मनः; सोम=चन्द्रमा; और चन्द्रमा=मनः; यथा "**मनश्चन्द्रः**" (अथर्व० १९.४३.४) तथा "**चन्द्रमा मनसो जातः**" (यजुः० ३१.१२)। इस प्रकार सोम अर्थात् चन्द्र का सम्बन्ध मन के साथ है। रुद्र=प्राण। इस प्रकार के संयम और प्राण [प्राण के संयम] द्वारा जीवन में सुख प्राप्त होता है, तभी इन दो को "सुशेवौ" कहा है। **शेवम् सुखनाम** (निघं० ३.६)। ये दोनों तिग्मायुधौ तथा तिग्महेती हैं, वृत्रों के नाश के लिए [मन्त्र ४]। अथवा सोम=वीर्य (अथर्व० १४.१.१-५); रुद्र=प्राण। इन दोनों का संयम। शेव इति सुखनाम। **शिवमप्यस्य भवति** (निरुक्त १०.२.१७)। अरात्सीः=**राध संसिद्धौ** (स्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमारुद्रौ**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः॥ ६॥

अर्थ—(असौ) वह तू (एतेन) इस "अध्यर्णव" ब्रह्म [मन्त्र ४] द्वारा (अव) वृत्रों को अवमानित करके (अरात्सीः) सिद्धि को प्राप्त हुआ है, (स्वाहा) इस ब्रह्म के लिए तू आत्मत्याग कर, आत्मसमर्पण कर। "तिग्मायुधौ" आदि पूर्ववत् [मन्त्र ५]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमारुद्रौ**॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री**॥

अपैतेनारात्सीरसौ स्वाहा। तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः॥ ७॥

अर्थ—(असौ) वह तू (एतेन) इस "अध्यर्णव" ब्रह्म द्वारा (अप) वृत्रों को अपगत करके, हटाकर (अरात्सीः) सिद्धि को प्राप्त हुआ है, (स्वाहा) इस ब्रह्म के लिए तू आत्मत्याग कर, आत्मसमर्पण कर। "तिग्मायुद्धौ" आदि पूर्ववत् [मन्त्र ५]। [मन्त्र ५, ६, ७ में विशेषता है "नु, अव, अप" की।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमारुद्रौ**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्**॥

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम्॥ ८॥

अर्थ—हे सोमारुद्रौ [मन्त्र ५]-(दुरितात्) दुष्परिणामी, (अवद्यात्) गर्ह्य, या जिसका कथन भी नहीं करना चाहिए, ऐसे पाप से (अस्मान्) हमें (मुमुक्तम्) तुम दोनों मुक्त करो, छुड़ाओ, और (यज्ञम्) हमें यज्ञिय-जीवन का (जुषेथाम्) सेवन कराओ तथा (अस्मासु) हम में (अमृतम्) अमृत-ब्रह्म या मोक्ष को (धत्तम्) स्थापित करो।

[अवद्य=अकथनीय, पाप=गर्ह्य (अष्टा० ३.१.१०१)। अकथनीय यथा "**कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।**"]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**हेतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽस्माँ अभ्यघायन्ति॥ ९॥

अर्थ—(चक्षुषः) चक्षुः[1] सम्बन्धी [पाप-वृत्र के लिए] (हेते) अस्त्ररूप! (मनसः) मनःसम्बन्धी

१. आध्यात्मिक दिव्य चक्षु, दिव्य दृष्टि।

[पाप-वृत्र के लिए] (हेते) अस्त्ररूप! (ब्रह्मणः) वैदिक जीवन-सम्बन्धी [पाप-वृत्र के लिए] (हेते) अस्त्ररूप! (तपसः च) और तपःसम्बन्धी [पाप-वृत्र के लिए] (हेते) अस्त्ररूप [हे ब्रह्म!] तू (मेन्याः) पाप-वृत्रसम्बन्धी घातक वज्र का (मेनिः) घातक वज्र (असि) है। (ते) वे पाप-वृत्र (अमेनयः) घातक वज्रों से रहित (सन्तु) हो जाएँ, (ये) जो पाप-वृत्र कि (अस्मान् अभि) हमें लक्ष्य कर (अघायन्ति) हत्यारूप पापकर्म करना चाहते हैं।

[समग्र सूक्त में पाप-वृत्रों के विनाश का वर्णन है। ये पाप-वृत्र हैं पापभावनाएँ तथा पाप कर्म (मन्त्र ४, ८)। इन्हें ही मन्त्र ८ में दुरित और अवद्य कहा है तथा मन्त्र ९ में इन्हीं वृत्रों के विनाश के लिए ब्रह्म को हेतिरूप कहा है, और घात वज्ररूप भी। बिना ब्राह्मी सहायता के पापवृत्रों का विनाश सम्भव नहीं। पाप-वृत्र हमारी आध्यात्मिक दृष्टिशक्ति, मननशक्ति और तपोमय जीवन के विघातक हैं। पाप-वृत्र जीवननिष्ठ ब्राह्मी ज्योति या वैदिक जीवन के भी विघातक हैं, जिन्हें ब्राह्मी-ज्योति अस्त्र और मेनिरूप होकर विनष्ट करती है।

मेनिः वज्रनाम (निघं० २.२०)। यह मेनि-वज्र, घातक है "**मीञ् हिंसायाम्**" (क्र्यादिः)। अघायन्ति= **अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति** (निरुक्त ६.३.११)। "अघायन्ति" में बहुवचन भिन्न-भिन्न—नाना पाप-वृत्रों का सूचक है, यथा "पापवृत्र हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह" आदि।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

योऽ३स्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात्।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन्कृणु स्वाहा॥ १०॥

अर्थ—(यः) जो (अघायुः) हमारे लिए हत्यारूप पाप-कर्म चाहता हुआ (अस्मान्) हमें (चक्षुषा) क्रुद्ध दृष्टि द्वारा, (मनसा) मननपूर्वक रचे षड्यन्त्र द्वारा, (चित्या) सम्यक् ज्ञानपूर्वक (च) और (आकूत्या) संकल्प-पूर्वक, (यः) तथा जो अघायु हमें (अभिदासात्) उपक्षीण करता है, (तान्) उन्हें (अग्ने) अग्निनामक हे ब्रह्म! (त्वम्) तू (मेन्या) निज मेनि-स्वरूप द्वारा (अमेनीन्) मेनिरहित (कृणु) कर, एतदर्थ (स्वाहा) हम अपने-आपको तेरे प्रति आहुत करते हैं, समर्पित करते हैं। "अग्निः=ब्रह्म (यजुः० ३२.१)"

[सूक्त में पापवृत्रों का वर्णन है। इनकी चक्षुः आदि का कथन इन्हें "पुरुषविध" कल्पित कर लिया गया है। अपुरुषों को "पुरुषविध" कल्पित कर उनका वर्णन वेदों में प्रायः होता है। देखो निरुक्त (७.२.६, ७)। कविता में यह शैली स्वीकृत है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

इन्द्रस्य गृहोऽसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ ११॥

अर्थ—(हे ब्रह्म! तू) (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का (गृहः असि) घर है, आश्रय है। (तम्, त्वा, प्रपद्ये) उस तुझको मैं प्राप्त होता हूँ, (तम्, त्वा, प्रविशामि) उस तुझमें मैं प्रवेश करता हूँ, (सर्वगुः) सब इन्द्रियोंवाला होता हुआ, तथा (सर्वपूरुषः) सब पुरुषोंवाला होता हुआ भी। (सर्वात्मा) सर्वनामक तुझ ब्रह्म को निज आत्मा समझता हुआ, (सर्वतनूः) सब अवयवोंवाली तनूवाला, (सह तेन)

उस सबके साथ होता हुआ (यत् मे अस्ति) जो कुछ कि मेरा है।

[योगी निज आत्मा का सच्चा घर ब्रह्म को जानकर, सांसारिक वस्तुओं से विरक्त हुआ, समाध्यवस्था में ब्रह्मा में लीन होता है, यह उसका आत्मरूप से ब्रह्म में प्रवेश पाना है। "सर्वगुः" में "गु" द्वारा इन्द्रियाँ[1] अभिप्रेत है। "सर्वपूरुषः" द्वारा पुरुष सम्पत् का निर्देश हुआ है। ब्रह्म को "सर्व" कहा है, यथा "**सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**" (गीता ११.४०)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

इन्द्रस्य शर्मासि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ १२॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का (शर्म) सुखदायक गृहरूप (असि) तू है। (तम्, त्वा) उस तुझको [पूर्ववत् (मन्त्र ११)।]

[**शर्म सुखनाम; शर्म गृहनाम** (निघं० ३.६; ३.४)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

इन्द्रस्य वर्मासि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेस्ति तेन॥ १३॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा की (वर्म) कवच (असि) तू है। (तम्, त्वा) उस तुझको [पूर्ववत् (मन्त्र ११)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः**॥ छन्दः—**स्वराट् पङ्क्तिः**॥

इन्द्रस्य वरूथमसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेस्ति तेन॥ १४॥

अर्थ—(हे ब्रह्म!) (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मा का (वरूथम्) आवरक घेरारूप (असि) तू है। (तं त्वा०) उस तुझको [पूर्ववत् (मन्त्र ११)।]

[मन्त्र १३,१४ में "वर्म और वरूथ" द्वारा, जीवात्मा पर प्रहार करनेवाले पाप-वृत्रों के प्रहारों से जीवात्मा को आवृत करने का निर्देश हुआ है। वर्म और वरूथ में **वृञ् आवरणे** (चुरादिः) का प्रयोग हुआ है।]

अथवा

जीवन्मुक्त व्यक्ति, निज दैहिकजीवन के लक्ष्य को पूर्ण कर, और सर्वात्मब्रह्म को ही निज वास्तविक गृह, शर्म, वर्म और वरूथ जानकर, स्वेच्छापूर्वक देह का परित्याग कर, ब्रह्माग्नि (मन्त्र १०) में निज की आहुति देकर, आत्मरूप में, सर्वात्मा में, प्रवेश पा लेता है। यथा "**आत्मनात्मानमभि सं विवेश**" (यजुः० ३२.११)।

---

१. (उणादि २.६८ दयानन्द)।

सूक्त ७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातयः**॥ छन्दः—**विराड्गर्भा प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम्।
नमो वीर्त्साया असमृद्धये नमो अस्त्वरातये॥ १॥

अर्थ—(अराते) हे अदानभावना! (नः) हमें (आ भर) तू आहर, त्याग दे, (मा) न (परिष्ठाः) हमारे सब ओर तू स्थित हो, हमें तू घेरे न रह, (नीयमानाम्) ली जाती हुई (दक्षिणाम्) दक्षिणा को (नः) हमारे लिए (मा) न (रक्षीः) सुरक्षित कर। (वीर्त्सायै) दानवीरता का उपक्षय करने-वाली तथा (असमृद्धये) सामाजिक सम्मिलित या सम्यक् वृद्धि को न होने देनेवाली अदानभावना के लिए (नमः) वज्रप्रहार हो, (अरातये) अदान भावना के लिए (नमः) वज्रप्रहार (अस्तु) हो।

[अराति अर्थात् अ+**रा दाने**; अदानभावना। आभर=आहर, "**हृग्रहोर्भः छन्दसि**"। हम प्राप्त दक्षिणा को, या व्यापार से प्राप्त धनवृद्धि को, अपने लिए ही न रख लें, अपितु उसका दान भी करते रहें। वीर्त्सायै=दानवीरता का (**तसु उपक्षये,** दिवादिः) उपक्षय करनेवाली, तथा सामाजिक समृद्धि न होने देनेवाली के लिए वज्रपात हो। नमः वज्रनाम (निघं० २.२०)। प्रजा में यदि दानभावना न हो तो सामाजिक वृद्धि नहीं हो पाती। दक्षिणा=**दक्ष वृद्धौ**। दानवीरता यथा "**भिया देयम्, ह्रिया देयम्, श्रद्धया देयम्, संविदा देयम्**" (तैत्ति० उप० १.११.३)। वीर्त्सायै=अथवा "वि+ईर् (**प्रेरणा**)+**तसु** (**उपक्षये**)" विविध दान में प्रेरणाओं की विनाशिका के लिए।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम्। नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम॥ २॥

अर्थ—(अराते) हे अदानभावना! (परिरापिणम्) सब ओर तेरा प्रचार या प्रलाप करनेवाले (यम्, पुरुषम्) जिस पुरुष को (पुरोधत्से) निज अगुआरूप में तू धारित करती है, (ते) तेरे (तस्मै) उस पुरुष के लिए (नमः) वज्रप्रहार (कृण्मः) हम करते हैं, (मम) मेरे (वनिम्) संविभक्ता को (मा, व्यथयीः) न तू व्यथित कर, न व्यथा पहुँचा।

[जो व्यक्ति अदानभावना का प्रचार करता है उसके लिए सामाजिक दण्ड है, वज्रप्रहार, यतः अदानभावना सामाजिक उन्नति की विरोधी-भावना है। सामाजिक उन्नति के लिए प्रत्येक सामाजिक मनुष्य को "वनिः" होना चाहिए, संविभक्ता होना चाहिए, निज आमदनी का सम्यक्-विभाग कर, निश्चित भाग दानरूप में देना चाहिए। वनिः="**वन षण**" **संभक्तौ,** (भ्वादिः)। संभक्तिः=सम्यक् विभाग। अदान का प्रचार प्रलाप है, बकवास है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम्।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये॥ ३॥

अर्थ—(नः वनिः) हमारा संविभाग (देवकृता) राष्ट्र के दानी राजा द्वारा किया गया है, वह संविभाग (दिवा नक्तं च) दिन और रात में (प्रकल्पताम्) सामर्थ्यवाला हो। (वयम्) हम (अरातिम्) अदान भावना का (अनु प्र इमः) निरन्तर पीछा करते हैं। (अरातये) अदानभावना के लिए (नमः)

वज्रप्रहार (अस्तु) हो।

[अनुप्रेम:=हम पीछा करते हैं, उसका पीछा कर उसे भगा देते हैं, राष्ट्र से निकाल देते हैं। कल्पताम्= **कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादि:)। देवकृपा=**देवो दानाद्वा** (निरुक्त ७.४.१५)।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्द:—**पथ्या बृहती**॥

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे।

वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु॥ ४॥

अर्थ—(यन्त:) [राष्ट्र में निरीक्षणार्थ] जाते हुए हम [राष्ट्राधिकारी, राष्ट्र में] (सरस्वतीम्) ज्ञानविज्ञानवाली वेदविद्या का, (अनुमतिम्) परस्पर अनुकूल मति का, (भगम्) षड्विध भग का (हवामहे) आह्वान करते हैं, प्रसार करते हैं। (देवानाम्, देवहूतिषु) दिव्य अधिकारियों के आह्वानों में, (जुष्टाम्) प्रिय, (मधुमतीम्) तथा माधुर्यसम्पन्ना (वाचम्) वाक् (अवादिषम्) मैं राजा सदा बोलता हूँ।

[राष्ट्र में अराति को दूर करने में, वेदविद्या की सत्ता, परस्पर में अनुकूल भावना तथा भगों की सत्ता आवश्यक है। सरस्वती=**सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक्** (उणा० ४.१८९, दयानन्द)। भग:=**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस: श्रिय:। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।**]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा।

श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा॥ ५॥

अर्थ—(मनोयुजा) मनन से युक्त (सरस्वत्या) सरस्वती द्वारा (वाचा) अर्थात् मानुष-वाक् द्वारा (अहम्) मैं याचक (यम्, याचामि) जिससे याचना करता हूँ, (तम्, अद्य) उसे आज (श्रद्धा) दान देने में श्रद्धा (विन्दतु) प्राप्त हो, जो श्रद्धा कि (बभ्रुणा) सर्वपालक तथा (सोमेन) जगदुत्पादक और जगत्प्रेरक प्रभु द्वारा (दत्ता) सबको दी गई है।

[मन्त्र में सरस्वती का अर्थ है "मानुष-वाक्", न कि पूर्वमन्त्रोक्त वेदवाक्। इसीलिए मन्त्र में सरस्वती को वाक् कहा है। श्रद्धा का अभिप्राय है "दान देने में श्रद्धा"। यथा "**श्रद्धया देयम्**" (तैत्ति० उपनिषद्)। "मनोयुजा" द्वारा यह सूचित किया है कि मेरी याचना विचारपूर्वक वाक् द्वारा हुई है, क्योंकि मैं आवश्यकता से बाधित होता हुआ याचना करता हूँ, किसी लोभ-लालच के कारण नहीं। सोमेन=**षुञ् प्रसवे; षू प्रेरणे** (भ्वादि:; तुदादि:)। बभ्रुणा=**डुभृञ् धारणपोषणयो:** (जुहोत्यादि:)।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातय:**॥ छन्द:—**प्रस्तारपङ्क्ति:**॥

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि।

सर्वे नो अद्य दित्सन्तोरातिं प्रति हर्यत॥ ६॥

अर्थ—(मा) न (न:) हमारी (वनिम्) याचना को, (मा) न (वाचम्) याचना सम्बन्धी वाणी को [हे दाता!] (वीर्त्सी:) वीरता अर्थात् हठात् तू उपक्षीण कर, असफल कर, (इन्द्राग्नी) सम्राट् और अग्रणी-प्रधानमन्त्री (उभौ) दोनों (न:) हमें (वसूनि) धन (आ भरताम्=आहरताम्) प्राप्त कराएँ। (अद्य) आज (न:) हमारे (सर्वे) सब (दित्सन्त:) दान देने की इच्छावाले तुम (अरातिम्) अदानभावना को (प्रति हर्यत) प्रगत करो, दूर करो।

[अभिप्राय यह है कि दाता हमारी याचना तथा तत्सम्बन्धी वाणी को असफल न करे, अपितु सम्राट् और प्रधानमन्त्री भी हम याचकों को धन प्रदान करें। प्रति हर्यत=प्रति+हर्य गतौ (भ्वादि:), विरोध में दूर करना। वनिम्=**वनु याचने** (तनादि:)। इन्द्र:=सम्राट्; **"इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा"** (यजु:० ८.३७)।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातय:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

परोपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि। वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते॥ ७॥

अर्थ—(असमृद्धे अराते) हे अदानभावना! (पर:, अप, इहि) तू परे हो जा, हमसे पृथक् हो जा, (ते) तेरे (हेतिम्) अस्त्र को (विनयामसि) हम विनीत करते हैं, विनय-सम्पन्न करते हैं। (निमीवन्तीम्) नितरां हिंसा करनेवाली को, (नितुदन्तीम्) नितरां व्यथा देनेवाली (त्वा) तुझको (अहम्, वेद) मैं जानता हूँ।

[अदान-भावना अदानी को तो समृद्ध करती है, परन्तु समाज और साम्राज्य को समृद्धिरहित करती है। इससे समाज और साम्राज्य की हिंसा होती तथा उसे व्यथा प्राप्त होती है। **मीङ् हिंसायाम्; तुद व्यथने** (तुदादि:)।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातय:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम्।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च॥ ८॥

अर्थ—(उत) तथा (नग्ना बोभुवती) नग्न होती हुई, (स्वप्नया=स्वप्नेन) स्वप्न के साथ (जनम्) जन को (सचसे) तू सम्बद्ध कर देती है; (अराते) हे अदानभावना! तू (पुरुषस्य) पुरुष के (चित्तम्) चित्त को (च) और (आकूतिम्) संकल्प को (वीर्त्सन्ती) वीरतापूर्वक अर्थात् हठात् उपक्षीण करती है।

[अदानभावना के होते निर्धन, वस्त्रों से रहित होकर नग्न हो जाते हैं, मानो अदानभावना नग्न होकर इनमें प्रकट हुई है। ऐसे व्यक्तियों को स्वप्न भी निज निर्धनता के होते रहते हैं। निर्धनता के कारण इनके चित्त तथा संकल्प भी क्षीण हो जाते हैं, (**तसु उपक्षये,** दिवादि:)। अदानभावना की वीरता हठ में प्रकट होती है, वीरता, दृढ़ता, हठ।]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अरातय:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नम:॥ ९॥

अर्थ—(या) जो (महती) महाविस्तारा, (महोन्माना) तथा महान् ऊँचाई-वाली अदानभावना (विश्वा: आशा:) सब दिशाओं में (व्यानशे) फैल गई है, (तस्यै) उस (हिरण्यकेश्यै) सुवर्णाभूषण द्वारा विभूषित केशोंवाली, (निर्ऋत्यै) कृच्छ्रापत्तिरूप अदानभावना के लिए (नम:) वज्रप्रहार (अकरम्) मैंने किया है।

["महती" द्वारा चारों दिशाओं में, तथा "महोन्माना" द्वारा ऊर्ध्वदिशा में अदानभावना की व्याप्ति दर्शाई है। अदानभावना से व्यक्ति स्वयं धनी हो जाता है, और उसकी पत्नी सिर के सुवर्णाभूषणों द्वारा भी विभूषित हो जाती है, परन्तु अदानभावना समाज के लिए कष्टापत्तिरूप हो जाती है। **निर्ऋति: कृच्छ्रापत्ति:** (निरुक्त २.२.८)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही।

तस्यै हिरण्यद्राप्येऽरात्या अकरं नमः॥ १०॥

अर्थ—(मही) महाविस्तारवाली [महती, मन्त्र ९], (हिरण्यवर्णा) सुवर्ण के रूपवाली, (सुभगा) उत्तम ऐश्वर्योंवाली, (हिरण्यकशिपुः) सुवर्ण की नक्काशी से युक्त बड़े तकिये-[मसनद]-वाली अदानभावना है। (हिरण्य-द्रापये[1]) सुवर्ण की नक्काशीवाले उत्तरीयवस्त्रवाली (तस्यै) उस (अरात्यै) अदानभावना के लिए (नमः) वज्रप्रहार (अकरम्) मैंने किया है।

[अभिप्राय मन्त्र ९ के सदृश है। अदानभावनावाले धनिक का मुख और शरीर पुष्टि तथा प्रसन्नता के कारण हिरण्यसदृश चमकने लगता है। वह उत्तमोत्तम ऐश्वर्यों से सम्पन्न हो जाता है। उसके तकिये तथा वस्त्र हिरण्य की नक्काशीवाले हो जाते हैं, परन्तु अदानभावना जब व्यापिनी हो जाती है तब सामाजिक उन्नति नहीं होती, ऐसी अराति[2] अर्थात् अदानभावना का विनाश प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति को करना चाहिए।]

अथैकादशः प्रपाठकः

सूक्त ८

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह।

अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम्॥ १॥

अर्थ—(वैकङ्कतेन) विकङ्कत वृक्ष की (इध्मेन) इध्म द्वारा, (देवेभ्यः) साम्राज्य के दिव्य अधिकारियों के लिए, (आज्यम्) घृतसम्पन्न खाद्य (वह) प्राप्त कर [इस द्वारा उनका सत्कार कर]; (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (तान्) उन अधिकारियों को (इह) यहाँ अर्थात् यज्ञस्थल में (मादय) हर्षित कर, प्रसन्न कर, ताकि (सर्वे) वे सब (मे) मेरे (हवम्) आह्वान पर (आ यन्तु) मेरी सहायता के लिए आ जाएँ।

[मन्त्रोक्ति साम्राज्य के मुख्य सेनापति की है, जिसेकि बृहस्पति, अर्थात् बृहती सेना का पति कहते हैं (यजुः० १७.४०)। सूक्त युद्धपरक है। युद्धारम्भ में यज्ञपूर्वक सब अधिकारी-देवों का सत्कार किया है, ताकि वे प्रसन्न होकर मुख्य सेनापति की सहायता करें।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु।

इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे।

तेभिः शकेम वीर्यं जातवेदस्तनूवशिन्॥ २॥

---

१. **"यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते"** (अथर्व० १३.३.१), जिस परमेश्वर ने वस्त्ररूप में भुवनों की ओढ़नी को ओढ़ा हुआ है। द्रापि=वस्त्र, उत्तरीयवस्त्र।

२. अरातिः=अ+**रा (दाने)** तिः। जो सामाजिक उन्नति के लिए दान नहीं देता वह समाज का विघातक है, अतः अराति का अर्थ शत्रु भी है।

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (मे, हवम्) मेरे आह्वान पर (आ याहि) मेरी सहायता के लिए तू आ, (इदम्) इस युद्ध को (करिष्यामि) मैं करूँगा, (तत्) उस सम्बन्ध में (शृणु) मेरी माँग को सुन, कि (इमे) वे जो (अतिसराः) शीघ्रगामी (ऐन्द्राः) तुझ सम्राट् सम्बन्धी सैनिक हैं, वे (मे) मेरे (आकूतिम्) संकल्प [विजयभावना] की ओर (सं नमन्तु) झुक जाएँ [उसे सफल करें] (तेभिः) उन सैनिकों द्वारा (वीर्यम्) वीरता (शकेम) हम कर सकें, (जातवेदः) हे ज्ञानी! तथा (तनूवशिन्) साम्राज्य-तनू को वश में रखनेवाले सम्राट्! [सम्राट् वेदानुसार निज साम्राज्य को निज शरीर समझकर उसकी रक्षा करे—यह आदेश है] यथा "**पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः**" (यजुः० २०.८)।

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः**॥

यद॒सावमुतो॑ देवा अ॒दे॒वः संश्चिकीर्षति।
मा तस्या॒ग्निर्ह॒व्यं वा॑क्षी॒द्धवं॑ दे॒वा अ॑स्य॒ मोप॑ गु॒र्ममै॒व हव॒मेतन॥ ३॥

अर्थ—(देवाः) हे साम्राज्य के दिव्य अधिकारियो! (यदसौ अदेवः) यदि कोई अदिव्य अधिकारी, (अमुतः) उस अपने अधिकार-पद से (संचिकीर्षति) व्यवस्था में संकर अर्थात् गड़बड़ करना चाहता है, तो (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (तस्य) उसके (हव्यम्) खाद्य-अन्न को उसे (मा) न (वाक्षीत्) पहुँचाए, (देवाः) और साम्राज्य के हे दिव्य अधिकारियो! (अस्य हवम्) इसके आह्वान पर (मा) न (उपगुः) इसके पास जाओ, (मम, एव) मुझ मुख्य सेनापति के ही (हवम्) आह्वान पर (एतन) आओ।

[हव्यम्=**हु दानादनयोः** (जुहोत्यादिः), यहाँ "अदन" अर्थ द्वारा खाद्य-अन्न अभिप्रेत है। प्रधानमन्त्री उसे खाद्य-अन्न पहुँचाना निषिद्ध कर दे।]

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः**॥

अति॑ धावतातिसरा॒ इन्द्र॑स्य॒ वच॑सा हत।
अविं॒ वृक॑ इव मथ्नीत॒ स वो॒ जीव॒न्मा मो॑चि प्रा॒णम॒स्यापि॑ नह्यत॥ ४॥

अर्थ—(अतिसराः) हे शीघ्रगामी सैनिको! (अति धावत) खूब दौड़ो, (इन्द्रस्य) सम्राट् के (वचसा) कथन या आदेश के अनुसार (हत) अदेवाधिकारी [३] को मार डालो। (वृकः) भेड़िया (इव) जैसे (अविम्) भेड़ को, वैसे तुम (मथ्नीत) अदेवाधिकारी को मथ डालो, (मा मोचि) उसे न छोड़ो, (अस्य) इसके (प्राणम्) श्वास-प्रश्वास को (अपि) भी (नह्यत) बाँध दो [नासिका तथा मुख पर पट्टी बाँध दो, ताकि (सः) वह (वः) तुम्हारा अदेवाधिकारी (मा जीवन्) न जीवित रहे।

[वचसा=सम्राट् का वचन आदेशरूप ही होता है। (नह्यत=**णह बन्धने** (दिवादिः)।]

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यम॒मी पु॒रोद॑धि॒रे ब्र॒ह्माण॒मप॑भूतये।
इन्द्र॒ स ते॑ अधस्प॒दं तं प्रत्य॑स्यामि मृ॒त्यवे॑॥ ५॥

अर्थ—(अमी) उन्हों [अदेव और अदेव के साथियों] ने (अपभूतये[१]) हमारी दुर्गति के लिए,

१. अपभूति=अप+**भू (सत्तायाम्,** भ्वादिः) क्तिन्=हमारी सत्ता का अभाव या दुर्गति। अथवा हमारी भूति अर्थात् सम्पत्ति या वैभव का विनाश।

(यम्, ब्रह्माणम्) जिस ब्रह्मा को (पुरोदधिरे) पुरोहितरूप में मुखिया किया है, (इन्द्र) हे सम्राट् (सः) वह ब्रह्मा (ते) तेरा (अधस्पदम्) पादसेवक हो, अथवा उसे (मृत्यवे) मृत्युदण्ड के लिए (प्रति) तेरी ओर (अस्यामि[1]) मैं मुख्य सेनापति फेंक देता हूँ।

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे।

तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि॥ ६॥

अर्थ—(यदि) यदि [वे अर्थात् अदेव और उसके साथी] (देवपुराः) पर-राष्ट्र के देवों की पुरियों को (प्रेयुः) प्रयाण कर गये हैं, और ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मा [मन्त्र ४] को (वर्माणि) निज कवचों के रूप में (चक्रिरे) उन्होंने किया है, [इस प्रकार] (तनूपानम्, परिपाणम्) [निज] शरीररक्षा और सर्वरक्षा (कृण्वानाः) करते हुए (यद्) जो उन्होंने (उप ऊचिरे) गुप्तरूप में घोषित किया है (तत्) उस (सर्वम्) सबको (अरसम् कृधि) हे सम्राट्! [मन्त्र ५] तू सुखा दे, नीरस कर दे, निर्वीय कर दे।

[प्रेयुः=निराश्रितरूप में प्रयाण, Refugess रूप में पर-राष्ट्राश्रय के लिए प्रयाण।]

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भा पथ्या पङ्क्तिः**॥

यानसावतिसरांश्चकार कृणवच्च यान्।

त्वं तानिन्द्र वृत्रहन्प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम्॥ ७॥

अर्थ—(असौ) वह [अदेव, मन्त्र ३] (यान्, अतिसरान्) जिन शीघ्रगामी सैनिकों को (चकार) एकत्रित कर चुका है, (च, कृणवत्) और एकत्रित करेगा, (वृत्रहन्, इन्द्र) हे घेरा डालनेवाले शत्रु का हनन करनेवाले सम्राट्! (तान्) उन्हें (त्वम्) तू (पुनः) फिर (प्रतीचः) प्रत्यङ्मुखी (आ कृधि) पूर्णतया कर दे वापस लौटा दें, (यथा) जिस प्रकार कि (अमुम्) उस (जनम्) [अदेव] जन को (तृणहाम्) मैं [मुख्य सेनापति] हिंसित करूँ, मार डालूँ।

[वृत्र=हमारे साम्राज्य पर घेरा डालनेवाले शत्रु अर्थात् पर-राष्ट्र में एकत्र किये गये सैनिक। (**वृञ् आवरणे,** चुरादिः)। प्रतीचः आकृधि=प्रतीत होता है कि अदेव ने पर-राष्ट्र का आश्रय पाकर, सेना द्वारा हमारे साम्राज्य पर घेरा डाला हुआ है, अतः उन सैनिकों को पराङ्मुखी करने के लिए कहा है और अदेव को पकड़ लिया है, मृत्युदण्ड के लिए।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम्।

कृण्वेऽहमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (यथा) जैसे ही (उद्वाचनम्) शत्रु की घोषणा [मन्त्र ६, उपोचिरे] को (लब्ध्वा) पाकर, (अधस्पदम्) अदेव को तूने पैरों तले अर्थात् निज पादसेवक (चक्रे) किया है, (तथा) उसी समय (अहम्) मैं मुख्य सेनापति (अमून्) उन शत्रुसैनिकों को (अधरान्) अधोगतिवाले, निजाधीन (कृण्वे) करता हूँ (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वत वर्षों के लिए।

---

१. फेंकन से विरोधी ब्रह्मा के प्रति घृणा सूचित की गई है।

[उद्वाचनम्=ऊँचा कथन, घोषणा। समाः=चान्द्रवर्ष। मन्त्र ८ विकल्परूप है, मन्त्र ७ सम्बन्धी दण्ड का।]

ऋषिः=**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**षट्पदा द्व्यनुष्टुब्गर्भा जगती**॥

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य। अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्यहं तव।

अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव॥ ९॥

अर्थ—(वृत्रहन् इन्द्र) घेरा डालनेवालों का हनन करनेवाले हे सम्राट्! (उग्रः) उग्र होकर, (अत्र) इस युद्धस्थल में (एनान्) इन घेरा डालनेवालों को (मर्मणि) मर्मों में (विध्य) बींध। (इन्द्र) हे सम्राट्! (अत्र एव) यहाँ ही (एनान् अभि तिष्ठ) इन्हें कुचल दे, (अहम्) मैं मुख्यसेनापति (तव) तेरा (मेदी) स्नेही [तेरा सहायक] हूँ। (इन्द्र) हे सम्राट्! (त्वा अनु) तेरी आज्ञानुसार ही (आरभामहे) हम सब युद्धारम्भ करते हैं, (तव) तेरी (सुमतौ) सुमति में ही (स्याम) हम सैनिक आदि हों, रहें।

सूक्त ९

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**१ दैवी बृहती; २ दैवी त्रिष्टुप्; ३ दैवी जगती**॥

दिवे स्वाहा॥ १॥ पृथिव्यै स्वाहा॥ २॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा॥ ३॥

अर्थ—(दिवे स्वाहा) द्युलोक के लिए आहुति हो। (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी के लिए आहुति हो। (अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्ष के लिए आहुति हो।

[व्यक्ति निज "अल्पकायिक" स्वरूप को "विश्वकायिक" स्वरूप में लीन करना चाहता है [मन्त्र ७]। वह पहले पृथिवी में निज पार्थिव स्वरूप को लीन करता है, वह पृथिवी को निज पार्थिव-काय समझता है। तदनन्तर अन्तरिक्ष में निज सूक्ष्म-देह को लीन करता है, अन्तरिक्ष को निज सूक्ष्म-देह वह समझता है। तदनन्तर दिव् में निज कारण-देह को लीन करता है, दिव् को निज कारण-देह वह समझता है। यह है आरोह-क्रम, नीचे से ऊपर की ओर आरोहण करना। मन्त्रों में स्वाहा द्वारा अग्नि में आहुति देना अभिप्रेत नहीं, अपितु निज त्रिविध-देह को त्रिविध-लोकों में लीन करना अभिप्रेत है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**४ दैवी जगती; ५ दैवी बृहती; ६ दैवी त्रिष्टुप्**॥

अन्तरिक्षाय स्वाहा॥ ४॥ दिवे स्वाहा॥ ५॥ पृथिव्यै स्वाहा॥ ६॥

अर्थ—(अन्तरिक्षाय स्वाहा) अन्तरिक्ष के लिए स्वाहा अर्थात् उत्तमवाक् कही है। (दिवे स्वाहा) दिव् के लिए स्वाहा उत्तम-वाक् कही है। (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी के लिए स्वाहा उत्तमवाक् कही है। ये तीन मन्त्र (४, ६), प्रत्यवरोह क्रम के हैं। इस प्रत्यवरोह द्वारा आरोहकर्त्ता, प्रत्यवरोह क्रम से, निज कारण-देह और सूक्ष्मदेह क्रम से स्थूलदेह में वापस लौटता है। स्वाहा का अर्थ इन मन्त्रों में आहुति देना नहीं, अपितु "सु आह" मात्र है, अर्थात् "ठीक कहा है", इतना ही है। निरुक्त में भी कहा है कि "**स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा**" (८.३.२१)। इस प्रत्यवरोहक्रम को मन्त्र ७ में कहा है "सूर्य, अन्तरिक्ष, और पृथिवी"। देखो व्याख्या मन्त्र ७।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिग्बृहतीगर्भा पञ्चपदा जगती** ॥

सूर्यो॑ मे॒ चक्षु॒र्वातः॑ प्रा॒णो॒३॑ऽन्तरि॑क्षमा॒त्मा पृ॑थि॒वी शरी॑रम्।

अ॒स्तृ॒तो नामा॒हम॒यम॑स्मि॒ स आ॒त्मानं॒ नि द॑धे॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ गोपी॒थाय॑॥ ७॥

अर्थ—(सूर्यः, मे चक्षुः) सूर्य, मेरी चक्षु है, (वातः) वायु (प्राणः) प्राण है, श्वास-प्रश्वास है, (अन्तरिक्षम् आत्मा) अन्तरिक्ष आत्मा है, (पृथिवी शरीरम्) पृथिवी शरीर है। (अहम् अस्तृतः नाम) मैं "अवध्य" नाम, (अयम्) यह (अस्मि) हो गया हूँ, (सः) वह मैं (आत्मानम्) निज आत्मा को (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्युलोक और पृथिवीलोक के लिए, (गोपीथाय) रक्षार्थ (निदधे) निधिरूप करता हूँ।

[मन्त्र में प्रत्यवरोह क्रम से "सूर्य, अन्तरिक्ष और पृथिवी" का वर्णन हुआ है। मन्त्र में वक्ता ने निज विश्वकायिकस्वरूप का कथन किया है। आरोहक्रम से निज को पृथिवी, अन्तरिक्ष और दिव् में विलीन कर, वह विश्वरूप होकर विशुद्ध हो गया है। तदनन्तर वह पुनः निज अल्पकायिक शरीर में अवतीर्ण कर, निज को "आत्मा" के रूप में "अवध्य" जानकर, "आत्मा" को द्यावापृथिवी के प्रतिनिधिरूप में सुरक्षार्थ उपस्थित कर देता है। अस्तृतः=अ+"**स्तृणाति वधकर्मा**" (निघं० २.१९)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**पुरस्कृतित्रिष्टुब्बृहतीगर्भा चतुष्पदा (?पञ्चपदा) अतिजगती** ॥

उदायु॑रु॒द्बल॒मुत्कृ॒तमुत्कृ॒त्यामुन्म॑नी॒षामुदि॑न्द्रि॒यम्।

आयु॑ष्कृ॒दायु॑ष्पत्नी॒ स्वधा॑वन्तौ गो॒पा मे॑ स्तं गोपा॒यतं॑ मा।

आ॒त्म॒सदौ॑ मे स्तं॒ मा मा॑ हिंसिष्टम्॥ ८॥

अर्थ—(उत् आयुः) आयु को मैंने उत्कृष्ट कर लिया है, (उत् बलम्) बल को उत्कृष्ट कर लिया है, (उत् कृतम्) किये कर्मों को उत्कृष्ट कर लिया है, (उत् कृत्याम्) भावी कर्त्तव्यकर्मों को उत्कृष्ट कर लिया है, (उत् मनीषाम्) बुद्धि को उत्कृष्ट कर लिया है (उत् इन्द्रियम्) इन्द्रियसमूह को उत्कृष्ट कर लिया है। (आयुष्कृत्) हे आयु अर्थात् जीवन का निर्माण करनेवाले द्युलोक! तथा (आयुष्पत्नी) पत्नी की तरह आयु=जीवन प्रदान करनेवाली पृथिवी! (स्वधावन्तौ) तुम दोनों अन्नवाले हो, (मे) मेरे लिए (गोपा=गौपौ) रक्षक (स्तम्) होओ, (मा) मुझे (गोपायतम्) सुरक्षित करो, (मे) मेरी (आत्मसदौ) आत्मा में स्थित हो जाओ, (मा) मुझे (मा) न (हिंसिष्टम्) हिंसित करो।

[मन्त्र में यह अभिप्राय है कि जिस व्यक्ति ने निजकाय को विश्वकायरूप समझ लिया है और निज आयु और बल आदि को उत्कृष्ट कर लिया है, वह निजरक्षा के लिए अपने-आपको द्युलोक और पृथिवी के प्रति सुपुर्द कर देता है, और निजरक्षा की चिन्ता से उपरत हो जाता है, वह समझ लेता है कि जैसे अन्य प्राणियों की रक्षा स्वभावतः द्युलोक और पृथिवी में हो रही है वैसे मेरी भी रक्षा होती रहेगी। **स्वधा अन्ननाम** (निघं० २.७)। आयुष्कृत्=द्युलोक। द्युलोकस्थ आदित्य के उदयास्त द्वारा वर्ष का निर्माण होता है, और वर्षों द्वारा आयुष्काल का निर्माण। स्वधावन्तौ, गोपौ, आत्मसदौ—इन पदों में एकशेष समझना चाहिए। पुल्लिङ्ग पदों और स्त्रीलिङ्गी पदों में पुल्लिङ्ग पदों का एकशेष हुआ है, यथा "माता च पिता च"=पितरौ। आयुष्पत्नी=जैसे पत्नी पति की आयु अर्थात् जीवन को बढ़ाती है अन्नादि द्वारा, वैसे पृथिवी अन्न और पेय आदि प्रदान द्वारा हम सबकी आयु को, जीवन को, बढ़ाती है।]

सूक्त १०

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**यवमध्या त्रिपदा गायत्री** ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा प्राच्या दिशोघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ १ ॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (अश्मवर्म) पत्थर के सदृश सुदृढ़ कवच, (मे) मेरे लिए, (असि) तू है, (यः) जो (अघायुः) हत्यारूपी-पापकर्म चाहता हुआ, (प्राच्याः दिशः) पूर्व की दिशा से, (मा अभिदासात्) मेरा उपक्षय[1] करे, (सः) वह (एतत्) इस ब्रह्मरूपी कवच को (ऋच्छत्) प्राप्त हो।

[मन्त्रों की देवता ब्रह्म है, वह कवचरूप है, भीतर की कवच है। यथा "**ब्रह्मवर्म ममान्तरम्**" (अथर्व० १.२९.१), अर्थात् ब्रह्म मेरी आभ्यन्तर कवच है, मन की कवच है (मन्त्र ८)। अघायु हैं "ऐन्द्रियिक विषय, जोकि बाहर की दिशाओं से मन पर प्रहार करते हैं, परन्तु मन पर चढ़ी ब्रह्मकवच के कारण ये विषय मन पर प्रहार नहीं कर सकते, वे कवच तक आकर निष्प्रभाव हो जाते हैं। ब्रह्म को निज मन में व्यापी जानकर, सतत उसको ध्यान में रखने से, ऐन्द्रियिक विषय बाह्य दिशाओं से मन पर प्रहार नहीं कर सकते। अघायुः=अघमिति पापनाम "**आहन्तीति**" (निरुक्त ६.३.११)। अभिदासात्=**दसु उपक्षये** (दिवादिः), णिच्, तस्य च लोपः। ऐन्द्रियिक विषय सब दिशाओं में फैले हुए हैं, अतः मन्त्रों में सब दिशाओं का कथन हुआ है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**यवमध्या त्रिपदा गायत्री** ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा दक्षिणाया दिशोघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ २ ॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (अश्मवर्म) पत्थर के सदृश सुदृढ़ कवच, (मे) मेरे लिए (असि) तू है। (यः) जो अघायु (मा) मेरा (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से उपक्षय करे...शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**यवमध्या त्रिपदा गायत्री** ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा प्रतीच्या दिशोघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ३ ॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (अश्मवर्म) पत्थर के सदृश सुदृढ़ कवच, (मे) मेरे लिए (असि) तू है। (यः) जो अघायु (मा) मेरा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम की दिशा से उपक्षय करे....शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**यवमध्या त्रिपदा गायत्री** ॥

अश्मवर्म मेसि यो मोदीच्या दिशोघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ४ ॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (अश्मवर्म) पत्थर के सदृश सुदृढ़ कवच, (मे) मेरे लिए (असि) तू है। (यः) जो अघायु (मा) मेरा (उदीच्या दिशः) उत्तर की दिशा से उपक्षय करे...शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**यवमध्या त्रिपदा गायत्री** ॥

अश्मवर्म मेसि यो मा ध्रुवाया दिशोघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ५ ॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (अश्मवर्म) पत्थर के सदृश सुदृढ़ कवच, (मे) मेरे लिए (असि) तू है। (यः) जो (अघायुः) अघायु (मा) मेरा (ध्रुवायाः दिशः) नीचे की दिशा से उपक्षय करे...शेष पूर्ववत्।

---

१. अभिप्राय यह है कि असंयमित विषयभोग, पापकर्म है जोकि शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का क्षय करते हैं, उन्हें क्षीण कर देते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**यवमध्या त्रिपदा गायत्री** ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ६॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (अश्मवर्म) पत्थर के सदृश सुदृढ़ कवच, (मे) मेरे लिए (असि) तू है। (यः) जो (अघायुः) अघायु (मा) मेरा (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊर्ध्व की दिशा से उपक्षय करे....शेष पूर्ववत्।

[ऊर्ध्वायाः दिशः=ऐन्द्रियिक विषय ऊर्ध्व दिशा के लोकलोकान्तरों में भी है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**यवमध्या ककुप्** ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ७॥

अर्थ—[हे ब्रह्म!] (अश्मवर्म) पत्थर के सदृश सुदृढ़ कवच, (मे) मेरे लिए (असि) तू है, (यः) जो (अघायुः) अघायु (दिशाम्) दिशाओं के (अन्तर्देशेभ्यः) अवान्तर अर्थात् मध्यवर्ती प्रदेशों से (मा) मेरा उपक्षय करे....शेष पूर्ववत्। अवान्तर प्रदेश=दो दिशाओं के मध्यवर्ती प्रदेश, अर्थात् उपदिशाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**पुरोधृत्यनुष्टुब्गर्भा पराष्टिश्चतुष्पदा (?षट्पदा) अतिजगती** ॥

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा॥ ८॥

अर्थ—(बृहता) बृहद्-ब्रह्म द्वारा (मनः) पवित्र हुए मन का (उप) समीप अर्थात् निज शरीर में (ह्वये) मैं आह्वान करता हूँ, (मातरिश्वना) अन्तरिक्ष में व्याप्त वायु द्वारा (प्राणापानौ) प्राण और अपान अर्थात् श्वास-प्रश्वास को [उप ह्वये]। (सूर्यात्) सूर्य से (चक्षुः) चक्षु का, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति का, (पृथिव्याः) पृथिवी से (शरीरम्) शरीर का [उप ह्वये]। (मनोयुजा) मननयुक्त (सरस्वत्या) विज्ञानमयी वेदवाणी द्वारा (वाचम्) वाणी का (उप ह्वयामहे) हम निज समीप आह्वान करते हैं।

[बृहद्-ब्रह्मरूपी-कवच के कारण विषयों का प्रहार मन पर नहीं हुआ, अतः मन पवित्र हो गया है। मनोयुजा=विज्ञानमयी वेदवाणी मनन-युक्ता है, मननयोग्या है, मननमयी है, उस वाणी के उच्चारण से हमारी वाणी भी मननमयी हो जाती है, यही सरस्वती से निज वाणी का आह्वान है। व्यक्ति, निज शरीर और शारीरिक शक्तियों को, जगद्-व्यापी निर्मल तत्त्वों से उत्पन्न मानता है, अतः अपने-आपको पूर्ण पवित्ररूप मानता है। मन तो पवित्र हो गया ब्रह्मकवच द्वारा और मन के पवित्र हो जाने पर शरीर और शरीरावयव स्वतः पवित्र हो जाते हैं। व्यक्ति तब अपने को ''सर्वतः पवित्र'' समझने लगता है।]

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त ११

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान्पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः॥ १॥

अर्थ—(त्वेषनृम्णः) दीप्तिमान् वरुण को निज धन अर्थात् सर्वस्व जानने-वाला तू (इह) इस जीवन में, (महे) महान् (असुराय) प्रज्ञावान् वरुण के प्रति (कथम्) किस प्रकार, तथा (हरये) कष्टहारी (पित्रे) पिता वरुण के प्रति (कथम्) किस प्रकार (अब्रवीः) बोला। (पुनर्मघ) हे बार-बार ऐश्वर्य से सम्पन्न होनेवाले (वरुण) वरुण! (पृश्निम्) नाना वर्णोंवाली पृथिवी को (दक्षिणाम्) दक्षिणारूप में (ददावान्) तूने दिया है, (त्वम्) तूने (मनसा) मनन[१]-पूर्वक (अचिकित्सीः) जगत् में निवास किया है।

[मन्त्र के प्रथमार्ध में वरुण अथर्वा से प्रश्न करता है, और उत्तरार्ध में अथर्वा वरुण के प्रति कहता है। प्रश्न है कि अथर्वा किस प्रकार वरुण से बोला। वरुण है श्रेष्ठ परमेश्वर जो कि पापों से निवारित करता है (अथर्व० ४.१६.१-९)। परमेश्वर के प्रति बोलना मानुषी वाणी द्वारा सम्भव नहीं। 'त्वेषनृम्णः' पद हेतुगर्भक है। अभिप्राय यह है कि तूने दीप्तिमान् वरुण को निजसर्वस्व जानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण किया हुआ है। इसपर वरुण ने कृपापूर्वक निज स्वरूप तेरे प्रति प्रकट कर दिया है। तब निज आत्मा में प्रकट हुए वरुण के साथ तूने आत्मिक संवाद किया है, वाचिक संवाद नहीं।

असुराय=**असुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)+रः। पुनर्मघ=बार-बार सृष्टिरचना द्वारा वरुण बार-बार सृष्टि-धन को प्राप्त करता है। पृश्निः=**प्राश्नुत एनं वर्णः** (निरुक्त २.४.१४); **पृश्निः भूमिरिति** सायणः (ऋ० १.२३.१०)। मनसा=मननपूर्वक, विचारपूर्वक। अचिकित्सीः=**कित निवासे रोगापनयने च** (भ्वादिः)। दक्षिणाम्=अथर्वा ने ध्यानयज्ञ में वरुण की उपासना की है, इस ध्यानयज्ञ पर दक्षिणारूप में उसे पृश्नि प्राप्त हुई है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवामि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒तामुपा॑जे।

केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न्काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः॥ २॥

अर्थ—(कामेन) निजकामना द्वारा (पुनर्मघः) बार-बार सृष्टिधनवाला (न भवामि) मैं नहीं होता हूँ, अपितु (कम्) प्रजा के सुख को (संचक्षे) मैं देखता हूँ, इसलिए (एताम्, पृश्निम्) इस पृथिवी को (उपाजे) मैं प्राप्त होता हूँ। (अथर्वन्) हे अथर्वा[२]! (त्वम्) तू (नु) वितर्के, (केन काव्येन) किस काव्य द्वारा, तथा (केन जातेन) किस उत्पन्न पदार्थ द्वारा (जातवेदाः असि) जातवेदा [नामवाला] हुआ है।

[संचक्षे=**चष्टे पश्यतिकर्मा** (निघं० ३.११)। **कम् सुखनाम** (निघं० ३.६)। उपाजे=उप+**अज (गतौ)** (भ्वादिः), गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। जातवेदाः पद में ज्ञान और प्राप्ति अर्थ अभिप्रेत है। **जातवेदाः=जातप्रज्ञानः**, तथा **जातधनः** (निरुक्त ७.५.१९)। जात+**विद् ज्ञाने,** जात+**विद्लृ लाभे**]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

स॒त्यम॒हं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑स्मि जा॒तवे॑दाः।

न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये॥ ३॥

अर्थ—(सत्यम्) सत्य है कि (अहम्) मैं अथर्वा[३] (काव्येन) वेदकाव्य द्वारा (गभीरः) गहन हुआ

१. मैं जगत् की आत्मा, यदि जगत् में निवास न करूँ तो जगत् की स्थिति कैसे हो सके, यह मनन है।

२. अथर्वा—निरुद्धचित्तवृत्तिक योगी। "**थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः**" (निरुक्त ११.२.१९)।

३. अथर्वा—निरुद्धचित्तवृत्तिक महायोगी। "**थर्वतिश्चरतिकर्म्मा तत्प्रतिषेधः**" (निरुक्त ११.२.१९)। सम्भवतः इस

हूँ, रहस्यमय हुआ हूँ, (सत्यम्) सत्य है कि (जातेन) उत्पन्न प्रज्ञा तथा उत्पन्न जगत् के कारण (जातवेदाः) प्राप्त प्रज्ञा तथा धनवाला (अस्मि) मैं हुआ हूँ। (महित्वा) निज महिमा के कारण, (न दासः) न कोई उपक्षयकारी व्यक्ति और (न आर्यः) न कोई श्रेष्ठपुरुष (मे) मेरे (व्रतम्) व्रत को (मीमाय) नष्ट कर सका है, और न नष्ट कर सकेगा (यद् अहम् धरिष्ये) जिसे कि मैं भविष्य में धारण करूँगा।

[वेदकाव्य, वरुण (परमेश्वर) ने रचा है। वेद नानाविध काव्यालंकारों, तथा स्थान-स्थान में द्विविधार्थक, त्रिविधार्थक मन्त्रों, तथा अतीत-अनागत घटनाओं के वर्णन आदि से अतिगम्भीर, दुर्ज्ञेय है। मैं अथर्वा ऐसे वेदज्ञान के कारण जातवेदाः हुआ, और उत्पन्न जगत् के कारण भी जातवेदाः हुआ हूँ। जगत् 'जातवेदस्' रूप है, इसमें धन की विद्यमानता है। **वेदः धननाम** (निघं० २.१०)। यह कथन अथर्वा का है, वरुण का नहीं। अथर्वा दृढ़व्रती है। इसका व्रत कोई भंग नहीं कर सकता।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न त्वद॒न्यः क॒वित॑रो॒ न मे॒धया॒ धीर॑तरो वरुण स्वधावन्।

त्वं ता विश्वा॒ भुव॑नानि वेत्थ॒ स चि॒न्नु त्वज्जनो॑ मा॒यी बि॑भाय॥ ४॥

अर्थ—(स्वधावन् वरुण) हे अन्न के स्वामी! या अपने को स्वयं धारण करनेवाले वरुण! (त्वत् अन्यः) तुझसे अन्य कोई (कवितरः न) अधिक कवि नहीं, और (न) न (मेधया) मेधा से (धीरतरः) अधिक बुद्धिमान् है। (त्वम्) तू (ता विश्वा भुवनानि) उन सब भुवनों को (वेत्थ) जानता है, (सः) वह (मायी) छलीकपटी (जनः चित्) जन भी (नु) निश्चय से (त्वत्) तुझसे (बिभाय) भयभीत होता है।

['स्वधावन्' "**स्वधा अन्ननाम**" (निघं० २.७)। वरुण के लिए जगत् अन्नरूप है, वह उसे प्रलयकाल में खा लेता है, अतः इसे 'अन्नाद' कहा है (तैत्तिरीय उपनिषद्) अथवा प्राणियों द्वारा भक्ष्य अन्न का वह स्वामी है। अथवा स्वधावन्=स्व+**धा (धारणे)**+मतुप्। धीरतरः=धीः (बुद्धिः)+रः (मत्वर्थो यः)+तरप्। इसलिए वरुण को 'वेत्थ' कहा है। मन्त्रोक्ति अथर्वा की है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वं ह्य॑1ङ्ग वरुण स्वधाव॒न्विश्वा॒ वेत्थ॒ जनि॑मा सु॒प्रणीते।

किं रज॑स ए॒ना प॒रो अ॒न्यद॑स्त्ये॒ना किं प॒रे॑णाव॑रममुर॥ ५॥

अर्थ—(अङ्ग) हे (स्वधावन्) अन्न के स्वामी! (सु प्रणीते) हे उत्तम प्रकार से प्रगति की ओर ले-जानेवाले (वरुण) श्रेष्ठ परमेश्वर! (त्वम्) तू (विश्वा जनिमा) सब उत्पन्न भुवनों को (वेत्थ) जानता है कि (अमुर) हे अमर! (एना रजसः) इस रञ्जक-द्युलोक से (परः) परे (अन्यत्) और (किम्

अथर्वा द्वारा मनुष्य-सृष्टि के प्रारम्भ में 'वरुणनामक परमेश्वर' ने अथर्ववेद का आविर्भाव किया हो और प्रत्येक मनुष्य सृष्टिकाल में अथर्वा द्वारा ही अथर्ववेद का आविर्भाव होता हो, और अथर्वा ऋषि तथा अथर्ववेद का नित्य सम्बन्ध हो। अथर्ववेद को "अथर्वाङ्गिरसवेद" भी कहते हैं, यथा "**अथर्वाङ्गिरसो मुखम्**" (अथर्व० १०.७.२०)। अथर्वा ही अङ्गिराः है "अथर्वा चासौ आङ्गिराः च", समासान्तः टच्। इसलिए अथर्ववेद का ऋषि अङ्गिरा है, यह भी कहा जाता है। अङ्गिराः है अग्नि। यथा "**तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि**" (यजुः० ३.३)। अग्नि सर्वदाहक है। महायोगी अथर्वा भी सर्वपापदाहक होने से अग्निरूप है। महायोगी का निष्पाप होना स्वतः सिद्ध है।

अस्ति) क्या है? तथा (एना परेण) इस परलोक से (अवरम्) इधर (किम्) क्या है? [इसे भी तू जानता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**पञ्चदाऽतिशक्वरी**॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक्। तत्ते विद्वान्वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम्॥ ६॥

अर्थ—(एना रजसः) इस रञ्जक द्युलोक से (परः) परे (एकम्) एक और तत्त्व (अस्ति) है, तथा (एना एकेन) इस एक से (अर्वाक् चित्) इधर नीचे की ओर भी (दुर्णशम्) दुष्प्राप्य (परः) परात्[१]-पर (अस्ति) वह ही एक-तत्त्व है। (वरुण) हे वरण करनेवाले या वरणयोग्य परमेश्वर! (ते) तेरे (तत्) उस [विभु] स्वरूप को (विद्वान्) जानता हुआ [मैं अथर्वा] (प्रब्रवीमि) प्रार्थना करता हूँ, कि (पणयः) व्यवहारी बणिये (अधोवचसः) तिरस्कृत वचनोंवाले (भवन्तु) हों, (दासाः) उपक्षयकारी ये (नीचैः) नीचे की (भूमिम्) भूमि पर (उप सर्पन्तु) सर्पण करते रहें। अधोवचसः=अधस्कृतवचसः, तिरस्कृतवचसः।

[एना रजसः=एना रजसा अथवा "एनसः रजसः" पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार इस पाठ में द्विः पठित 'एना' पद सार्थक हो जाता है। मन्त्र में वरुण सम्बुद्धि पद है। अथर्वा अर्थात् निश्चल-चित्तवृत्तिक योगी वरुण से प्रार्थना करता है कि व्यवहारी बणिये भी तुमसे उच्चगति पाने की प्रार्थना करेंगे, परन्तु तूने इनके प्रार्थनावचनों को तिरस्कृत् कर देना। धन को ही सर्वस्व जाननेवाले उच्चगति के अधिकारी नहीं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि।
मो षु पणीँरभ्ये३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः॥ ७॥

अर्थ—(ह्यङ्ग वरुण) हे वरुण! (त्वम् हि) तू ही (पुनर्मघेषु) पुनः-पुनः धर्माभिलाषियों में (भूरि) प्रभूत (अवद्यानि) गर्ह्य अर्थात् निन्दनीय कर्मों की स्थिति (ब्रवीषि) कहता है, परन्तु (एतावतः पणीन्) इन लोभी पणियों के (अभि) प्रति (मो षु भूत्) तू पूर्णरूप से [अनुकूल] नहीं हुआ है, ताकि (जनासः) अन्य जन (त्वा) तुझे (अराधसम्) निर्धन (मा वोचन्) न कहें।

[धन के लोलुप बार-बार निन्दनीय कर्मों को कर, निज स्वार्थ के लिए धनसंग्रह करते रहते हैं, अतः ये निन्दनीय कर्मोंवाले होते हैं, तू इन्हें व्यापार में धन प्रदान नहीं करता है, ताकि अन्य तुझे निर्धन न कहें। मन्त्र (१) में वरुण को भी पुनर्मघ कहा है, परन्तु वरुण की पुनर्मघता निज कामना की पूर्ति के लिए नहीं (मन्त्र २), अपितु प्रजा के सुख के लिए है, परन्तु पणियों की पुनर्मघता केवल स्वार्थ के लिए है। व्यापार से धन प्राप्ति का होते रहना—यह तो वरुण नियम से ही होता है। मा भूत्=मा भूः। अराधसम् अ+**राधः धननाम** (निघं० २.१०) अतः अराधसम्=धनहीनम् निर्धनम्।]

---

१. यथा—**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः।** (कठ० उप० ३.१०.११) में पुरुष को "परात्-परः" कहा है। वह परमेश्वर नीचे की ओर भी दूर-से-दूर तक व्याप्त है, और कितनी दूर तक नीचे की ओर भी वह व्याप्त है—इस सम्बन्ध में वह दुर्णश है, बुद्धि द्वारा यह जाना नहीं जा सकता है। वह दूर-से-दूर है, वह समीप-से-समीप है। वह इस ब्रह्माण्ड के भीतर है और इसके बाहर भी है (यजुः० ४०.५)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु॥ ८॥

अर्थ—(जनासः) प्रजाजन (मा) मुझे (अराधसम्) निर्धन (मा वोचन्) न कहें, इसलिए (जरितः) हे स्तोता! (ते) तुझे (पुनः) बार-बार (पृश्निम्) भूमि (ददामि) मैं देता हूँ। (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु, अन्तः) मनुष्यों से बसी हुई सब दिशाओं के भीतर (शचीभिः) वेदवाणियों द्वारा (मे) मेरे (विश्वम्, स्तोत्रम्) सब स्तोत्रों को लिए हुए (आ याहि) तू आ।

[प्रजाजन मुझे निर्धन न कहें इसलिए हे मेरे स्तोतृवर्ग या अथर्वा तुझे मैं वरुण प्रत्येक सृष्टिकाल में धनधान्यों से भरी भूमि को बार-बार देता हूँ, परन्तु देता हूँ उनके सुख के लिए जोकि मेरे स्तोता हैं, ताकि मेरे सदृश वे, धन को परार्थ देकर, उनके सुख को बढ़ाएँ। इस निमित्त हे मेरे स्तोता! तू वेदवाणियों में प्रोक्त मेरे सब स्तोत्रोंसहित, दिग्दिगन्तरों में बसी मानुषी प्रजाओं में आया कर, उनमें स्तोत्रों का प्रसार करने के लिए। जरितः=**जरिता स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६)। शचीभिः=**शची वाङ्नाम** (निघं० १.११)। वाक्=वेदवाणी। स्तोत्रम्=स्तुतिवाले मन्त्र या मन्त्र-समूह। मन्त्र द्वारा वरुण ने निज निर्धनता का अपहार किया है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि॥ ९॥

अर्थ—[हे वरुण!] (मानुषीषु) मनुष्योंसम्बन्धी (विश्वासु दिक्षु) सब दिशाओं में (ते) तेरे (स्तोत्राणि) स्तुतिमन्त्र (उद्यतानि) उद्यमपूर्वक कथित हुए (आ यन्तु) आएँ। (नु) निश्चय से (मे) मुझे (देहि) दे, (यत्) जिसे कि (मे) मुझे (अदत्तः असि) तूने अभी तक नहीं दिया, (युज्यः) योग्य (सप्तपदः) सात पदोंवाला (मे) मेरा (सखा असि) सखा तू है।

[अदत्तः—कर्तरि क्तः। अभिप्राय है "निजदर्शन का अदान"। अथर्वा वरुण से उसके निजस्वरूप के प्रत्यक्षज्ञान से वंचित रखने की शिकायत करता है। अथर्वा वरुण से कहता है कि तू तो मेरा योग्य सखा है, सखा भी क्या अपने सखा से निज स्वरूप को छिपाये रखता है। सप्तपदः सखा=जिसके साथ भी मिलकर सात पग चला जाए वह भी सखा बन जाता है, अथवा जिसके साथ सात पद अर्थात् शब्द भी बोले लिए जाएँ वह भी सखा बन जाता है, परन्तु सूक्त में, हम दोनों में, वाक्यों में कई पदों अर्थात् शब्दों में बातें हुई हैं, अतः तू मेरा सखा है, अतः तू मुझे निजस्वरूप का दर्शन दे। वैदिक विवाह पद्धति में "सप्तपदी विधि" के मूल, सम्भवतः मन्त्र ९, १० हों। मन्त्र ९ में अथर्वा की उक्ति वरुण के प्रति है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा।
ददामि तद्यत्ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि॥ १०॥

अर्थ—(नौ) हम दोनों की (बन्धुः) बन्धुता (समा) एक-सदृश है (वरुण) हे वरुण! और हम दोनों की (जा) उत्पत्ति भी (समा) एक सदृश है; (अहम्) मैं (वेद) जानता हूँ (तत्) उसे (यत्)

जोकि (नौ) हम दोनों की (एषा जा) यह उत्पत्ति (समा) एक-सदृश है। (ददामि) अतः मैं देता हूँ (तत्) वह (यत्) जो (ते) तुझे (अदत्तः अस्मि) मैंने नहीं दिया, (सप्तपदः) सात पदोंवाला (युज्यः) योग्य (सखा) सखा (ते) तेरा (अस्मि) मैं हूँ।

[मन्त्र के प्रथमार्ध के प्रथम पाद में अथर्वा की उक्ति वरुण के प्रति है, और अवशिष्ट तीन पादों में वरुण की उक्ति अथर्वा के प्रति है। अथर्वा और वरुण में बन्धुता एक-सदृश है। अथर्वा वरुण का सखा है और वरुण अथर्वा का सखा है। सखित्वभाव में दोनों समान हैं, एक-सदृश हैं (मन्त्र ९, १०)। इन दोनों की उत्पत्ति भी समा है, समान है, एक-सदृश है। दोनों हृदयवासी हैं, दोनों की स्वरूपाभिव्यक्ति हृदय में होती है। अथर्वा, वरुण की स्वरूपाभिव्यक्ति में, वरुण के स्वरूप का दर्शन पा लेता है। यह दर्शन ही अभी तक वरुण ने नहीं दिया था [अदत्तः], जिसे कि वरुण ने अब अथर्वा को दे दिया है [ददामि]। इस प्रकार वरुण ने निज सखित्व को सार्थक किया है। 'सप्तपदः' का अभिप्राय पूर्ववत् है (मन्त्र ९)।

युज्यः=अथवा इसका अभिप्राय है "जुता हुआ"। संसार-शकट के वहन में वरुण और अथर्वा [जीवात्मा] साथ-साथ जुते हुए हैं, वरुण कर्तृरूप में संसार का वहन कर रहा है, अथर्वा भोक्तृरूप में। जीवात्माएँ न हों तो वरुण किसके लिए संसार को रचे और उसका वहन करे?]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः**॥

दे॒वो दे॒वाय॑ गृण॒ते व॑यो॒धा विप्रो॒ विप्रा॑य स्तु॒व॒ते सु॒मे॒धाः।
अजी॑जनो॒ हि व॑रुण स्व॒धाव॒न्नथ॑र्वाणं पि॒तर॑ दे॒वब॑न्धुम्।
तस्मा॑ उ॒ राध॑: कृणुहि सुप्रश॒स्तं सखा॑ नो असि पर॒मं च॒ बन्धु॑:॥ ११॥

अर्थ—(देवः) वरुण-देव (गृणते) स्तुति करनेवाले (देवाय) अथर्वा देव के लिए (वयोधाः) तू अन्न धारण करता है, उसे अन्न प्रदान करता है, (विप्रः) मेधावी वरुण (स्तुवते) स्तुति करनेवाले (विप्राय) मेधावी अथर्वा के लिए (सुमेधाः) उत्तम मेधावाला उत्तम विचार वाला हो जाता है। (वरुण) हे वरुण! (स्वधावन्) हे स्वधावाले! अन्न के स्वामी! तूने (हि) ही (पितरम्) पिता को, तथा (देवबन्धुम्) तुझ देव के बन्धुरूप, या तू जिसका बन्धु है उस (अथर्वाणम्) निरुद्धचित्तवृत्तिक अथर्वा को (अजीजनः) पैदा किया है। (तस्मै उ) उसे निश्चय से (सु प्रशस्तम्) उत्तम प्रशस्त (राधः) धन (कृणुहि) प्रदान कर, (सखा) मित्र (नः) हमारा (असि) तू है, (च) और (परमम्=परमः, बन्धुः) परमबन्धु भी है।

[अथर्वा=सम्भवतः वेदाविर्भाव काल में, अथर्ववेद का ऋषि 'अथर्वा' अभिप्रेत है, जिस द्वारा कि अथर्ववेद प्रकट हुआ है। "**अथर्वाङ्गिरसो मुखम्**" (अथर्व १०.७.२०) में भी अथर्ववेद के आविर्भाव का कर्त्ता अथर्वा अभिप्रेत प्रतीत होता है। अथर्वा है 'निरुद्धचित्तवृत्तिक महायोगी'[१], अतः इसे उपयुक्त जानकर परमेश्वर ने इस द्वारा अथर्ववेद प्रकट किया है। **विप्रः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। वयोध्याः, **वयः अन्ननाम** (निघं० २.७)। अथर्वा ज्ञानी होने से पिता[२] है। राधः[३] कृणुहि=अथर्ववेद के सुप्रशस्त ज्ञान

१. "**थर्वतिश्चरतिकर्मा, [अकारः] तत्प्रतिषेधः**" निरुक्त (११.२.१९), 'चरतिकर्मा'='मन का चंचल होना'।

२. जनक, जननी, विद्या-प्रदाता आचार्य, अन्नदाता, भयत्राता ये पाँच पितर हैं।

३. **राधः धननाम** (निघं० २.१०)। चार वेदों का आविर्भाव चार ऋषियों द्वारा हुआ है—अग्नि, वायु, अङ्गिरा और आदित्य द्वारा। 'अग्नि' द्वारा ऋग्वेद प्रकट हुआ, जिसका कि—प्रथम मन्त्र 'अग्निमीळे' में, अग्नि नाम पठित है। वायु द्वारा यजुर्वेद प्रकट हुआ जिसका कि, प्रथम मन्त्र "वायवः स्थ" में वायु नाम पठित है। इसी प्रकार

रूपी धन का प्रदान अथवा सुप्रशस्त धन है वरुण का 'स्वस्वरूप' का प्रदर्शन।]

सूक्त १२ [आप्रीसूक्त]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥ १॥

अर्थ—(मनुषः) मनुष्य के (दुरोणे) हृदय-गृह में (अद्य) आज (समिद्धः) सम्यक्-प्रदीप्त हुआ (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ! (देवः) तू देव (देवान्) उपासक-देवों को (यजसि) स्वरूप दर्शन देता है। (आ च वह) उपासक देवों को निज समीप प्राप्त कर या बुला। (मित्रमहः) हे उपासक मित्रों द्वारा पूजित! (त्वम्) तू (चिकित्वान्) ज्ञानी, (दूतः) उपतापी, (कविः) वेद-काव्य का रचयिता, (प्रचेताः) तथा प्रकृष्ट संज्ञानवाला (असि) है।

[मन्त्र-पठित "चिकित्वान्, कविः; तथा प्रचेताः" पदों द्वारा वर्णित देव, चेतन प्रतीत हो रहा है। इसलिए 'दुरोणे' का अर्थ 'हृदय-गृह' किया है। परमेश्वर हृदयवासी है और वहाँ ही वह प्रदीप्त होता है, 'ज्योतिरूप' में चमकता है। दूतः=**टुदु उपतापे** (स्वादिः) काम आदि का उपतापी। महः=**मह पूजायाम्** (भ्वादिः) यजसि=**यज दाने,** परन्तु यज्ञ तो घर में, घर की यज्ञशाला में ही होता है और दर्शन हृदय-गृह में।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ २॥

अर्थ—(सुजिह्व) हे उत्तम वेदवाक्वाले! (तनूनपात्) तनू अर्थात् शरीर को न गिरने देनेवाले! [इस में शक्ति देनेवाले!], (ऋतस्य पथः) सत्य के पथरूप (यानान्) जीवन मार्गों को (मध्वा) मधु के साथ (समञ्जन्) कान्ति सम्पन्न करता हुआ मधुर करता हुआ (स्वदय) इन्हें स्वादु कर। (धीभिः) हमारे ध्यानरूपी कर्मों द्वारा (मन्मानि) मनन योग्य वैदिक स्तोत्रों को, (यज्ञम्) और ध्यानकर्मरूपी-यज्ञ को (ऋन्धन्) ऋद्धिसम्पन्न करता हुआ तू (देवत्रा) अन्य ध्यानी देवों में भी (नः) हमारे (अध्वरम्) हिंसा-रहित यज्ञ का (कृणुहि) सम्पादन कर।

"**अथर्वाङ्गिरसो मुखम्**" अथर्व० १०.७.२० में अथर्वा का भी नाम निर्दिष्ट हुआ है। "अथर्वाङ्गिरसः" में सम्भवतः अथर्वा को ही अङ्गिराः कहा हो। "अथर्वा चासौ अङ्गिराश्च अथर्वाङ्गिरसः", समासान्तः टच्। वेदों के आविर्भाव में इन ऋषिनामों का नित्य सम्बन्ध प्रतीत होता है। मनुस्मृति में भी वेदों के आविर्भाव में इन्हीं नामों का निर्देश किया है। यथा "**अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्**"। श्लोक में रवि है आदित्य जिस द्वारा कि सामवेद प्रकट हुआ। छन्दःपूर्ति के लिए 'रवि' पद पठित है। यज्ञों के साथ तीन वेदों का सम्बन्ध मनु ने माना है, अतः अथर्ववेद का कथन नहीं किया। अथर्ववेद में प्रायः सांसारिक व्यवहारों का वर्णन हुआ है। इसे अथर्ववेद में कहा भी है। यथा—**आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्रजायन्ते यदा वै त्वं प्राण जिन्वसि**॥ (अथर्व० ११.४.१६)। इस मन्त्र में अथर्ववेदोपदिष्ट ओषधियों का कथन हुआ है, क्योंकि वर्षा के साथ ओषधियों का विशेष सम्बन्ध है, इसलिए अन्य व्यावहारिक विषयों का निर्देश नहीं हुआ। इस वर्णन द्वारा यह भी सूचित होता है कि "अथर्वाङ्गिरसो मुखम्" में अथर्वा और अङ्गिरा ये 'दो' ऋषि-नाम है। अग्नि, वायु, रवि, आदित्य, अथर्वा, अङ्गिराः, अथर्वाङ्गिरसः के सम्बन्ध में जो लिखा है वह सुझावरूप ही है।

[मन्मानि=वैदिक स्तोत्र अर्थात् स्तुतिमन्त्रों को। यथा "**मन्मभिः=मननीयैः स्तोमैः**" (निरुक्त १०.१.५)। सुजिह्व=सु+**जिह्वा वाङ्नाम** (निघं० १.११)। मध्वा=माधुर्य के साथ। मधुर वाणी स्वादु होती है, सबको प्रिय होती है। अध्वरम्='**ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः**' (निरुक्त १.३.८)।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।

त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥ ३॥

अर्थ—(अग्ने) हे, अग्निवत् पापदाहक परमेश्वर! (आजुह्वानः) निज की आहुति देता हुआ तू है, (ईड्यः) स्तुति के योग्य (च) और (वन्द्यः) अभिवादन-योग्य या वन्दना-योग्य है। (वसुभिः) आध्यात्मिक सम्पत्तियों के साथ (आ याहि) आ, हममें प्रकट हो जा। (सजोषाः) तू उपासकों के साथ प्रीति करनेवाला है। (यह्व) हे महान्! (त्वम्) तू (देवानाम्) उपासक देवों का (होता असि) आह्वान-कर्त्ता है। (सः) वह तू (एनान्) इन उपासकों को (यक्षि) अपने-साथ संगत कर। (इषितः) उपासकों द्वारा प्रेरित हुआ या इष्ट तू (यजीयान्) उपासना-यज्ञों का यष्टा है।

["अग्ने यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।**" (यजुः० ३२.१)।]

परमेश्वर उपासक-देवों के पापों का दहन कर उन्हें पवित्र करता, और पवित्र हुओं की आत्माओं में निज की आहुति देता है। पवित्रों की आत्माएँ अग्निरूप हैं। उन अग्नियों में आहुत परमेश्वर प्रकाशमान हो जाता है। प्रकट हुआ परमेश्वर उपासकों को आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ प्रदान करता, और उनके साथ प्रेम करता है। ऐसी अवस्था में परमेश्वर स्वयं उपासकों को निज समीप आहूत करता है और निज संगति में ले-लेता है, और उनके उपासना-यज्ञों को सफल करता है। आजुह्वानः=आ+हु+श्लुः+शानच्। सजोषाः=स+जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)। यक्षि=**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (भ्वादिः)। होता= आह्वाता। यजीयान्=यष्टृ+ईयसुन्।]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।

व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्॥ ४॥

अर्थ—(प्रदिशा)निर्देशानुसार (अस्याः) इस (पृथिव्याः) वेदि=भूमि के (वस्तोः) आच्छादन के लिए (अह्नाम् अग्रे) दिनों के प्रारम्भ में (बर्हिः) कुशाघास (वृज्यते) काटी जाती है और (प्राचीनम्) प्राक् अर्थात् पूर्व की ओर उसका अग्रभाग करके (वितरं वरीयः) बहुत विस्तार में (व्यु प्रथते) विशेषतया फैलाई जाती है, (देवेभ्यः) जो यजमान ऋत्विक् आदि देवों के लिए तथा (अदितये) यज्ञ के लिए अखण्डित-व्रता यजमान-पत्नी के लिए (स्योनम्) बैठने में सुखकारी होती है।

[व्यु=प्रथते=वि+उ+प्रथते। वस्तोः=**वस आच्छादने**। (अदादिः)।]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।

देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥ ५॥

अर्थ—(व्यचस्वतीः) विस्तारयुक्त (पतिभ्यः) पतियों के लिए (जनयः न) पत्नियों के सदृश (शुम्भमानाः) शोभायुक्त, (उर्विया) उर्वी अर्थात् पृथिवी पर (विश्रयन्ताम्) [दरवाजे] पृथक्-पृथक् स्थानों में आश्रय पाएँ, अर्थात् लगाए जाएँ। (बृहतीः) परिमाण में बड़े, (विश्वमिन्वाः) विश्व अर्थात् सबके लिए आ-जा सकने योग्य (देवीः द्वारः) हे दिव्य दरवाजो! (देवेभ्यः) यजमान, ऋत्विक् आदि दिव्य पुरुषों के लिए (सु प्रायणाः) सुगमता से प्रयाण तथा आयान के लिए (भवत) तुम होओ।

[व्यचस्=विस्तार (अथर्व० ९.३.१५)। उर्विया=**उर्वी पृथिवी** (निघं० १.१)+इयाङ्=उर्व्याम्। विश्वमिन्वाः=**विश्वमाभिरेति** (निरुक्त ८.२.१०); यज्ञशाला या गृह के दरवाजों का वर्णन हुआ है।]

ऋषिः=**अङ्गिराः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ ६॥

अर्थ—(आसुष्वयन्ती=आ सुष्वयन्ती) सर्वत्र मानो हास करती हुई, हँसती हुई, (यजते) अग्निहोत्ररूपी यज्ञसम्पादन करती हुईं, (उपाके) एक दूसरे के साथ मिलकर गति करती हुईं (उषासानक्ता) उषा और रात्रि (योनौ) आकाशरूपी गृह में (नि सदताम्) स्थित हों। (बृहती) महाकाय, (सुरुक्मे) उत्तम दीप्तिवाली या उत्तम आभूषणोंवाली, (दिव्ये योषणे) ये दो दिव्य स्त्रियाँ (शुक्र-पिशम्) सफेद और पिशङ्ग (श्रियम्) शोभा को (अधि दधाने) धारण करती हुई हों।

[उषा और नक्ता [रात्रि] मानो निजगृह अर्थात् आकाश में बैठी हुईं, प्रसन्नता से हँसती हैं। उषा निज प्रकाशरूपी हास कर रही है, नक्ता मानो रात्रि में चमकते तारागणों के रूप में हास कर रही है। उषा ने मानो निज सिर पर सूर्यरूपी चमकता आभूषण धारण किया हुआ है, और नक्ता ने चाँदरूपी आभूषण। उषा ने शुक्र अर्थात् शुक्ल वर्ण धारण किया हुआ है, नक्ता ने पिश अर्थात् पिशङ्ग वर्ण। पिशङ्ग है मिश्रित वर्ण। रात्रि का अन्धकार तथा ताराओं की शुभ्र चमक और धब्बोंवाले चाँद की चमक यह मिश्रितवर्ण है जोकि नक्ता ने धारण किया हुआ है। **योनिः गृहनाम** (निरुक्त ३.४)। उषासानक्ता में 'उषासा' अर्थात् 'उषापद' निज अर्थ के साथ-साथ 'दिन' का भी उपलक्षक है। उषा है दिन का प्रारम्भिक काल। तभी 'उपाके' पद सार्थक हो सकता है। उपाके=उपगते, परस्पर की समीपता को प्राप्त; उप (समीपता)+**अक गतौ** (''**कुटिलायाम्**, भ्वादिः'), यहाँ केवल गत्यर्थ अभिप्रेत है। उषासानक्ता परस्पर उपगत है। दिन की समाप्ति के होते ही उसके साथ रात्रि की उपगति हो जाती है, और रात्रि की समाप्ति के होते ही उसके साथ दिन की उपगति हो जाती है।]

ऋषिः=**अङ्गिराः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥ ७॥

अर्थ—(प्रथमा=प्रथमौ) प्रख्यात या मानुषसृष्टि से प्रथम उत्पन्न, (सुवाचा=सुवाचौ) वेदमन्त्रों के उत्तम-उच्चारण में सहायक, (मनुषः यजध्यै) मनुष्य के यजन के निमित्त (यज्ञम् मिमाना=मिमानौ) यज्ञ का निर्माण करनेवाले (दैव्या होतारा=दैव्यौ होतारौ) दिव्य दो होता [सूर्य और चन्द्रमा], (विदथेषु) यज्ञों में (कारू) यज्ञ करनेवाले दो स्तोताओं [यजमान और पत्नी] को, (प्रदिशा) परमेश्वर के प्रकृष्ट

निर्देशानुसार (प्राचीनम्) पूर्वकाल से आगत (ज्योतिः) ज्योति का (दिशन्ता=दिशन्तौ) प्रदान या निर्देश करते हुए, (प्रचोदयन्ता=प्रचोदयन्तौ), प्रेरित कर रहे हैं।

[मन्त्र ६ में उषा और रात्रि का वर्णन हुआ है। मन्त्र ७ में उषा और रात्रि काल के देवताओं सूर्य और चन्द्रमा का कथन हुआ है। यज्ञ हैं अग्निहोत्र और दर्श-पौर्णमास। इनका सम्पादन सूर्य और चन्द्रमा की विशेष परिस्थितियों में होता है, मानो ये दो अग्निहोत्र[1] और दर्श-पौर्ण-मास[2] के कालों का निर्देश करते हुए स्तोताओं को प्रेरित कर रहे हैं। विदथेषु=**विदथः यज्ञः** (निघं० ३.१७)। **कारुः स्तोतृनाम** (निघं० ३.१६)। ज्योतिः=सूर्य और चन्द्रमा की स्वकीय-स्वकीय ज्योति तथा यज्ञ-सम्बन्धी सांस्कृतिक ज्योति। दिशन्ता=**दिश अतिसर्जने** (तुदादिः) अतिसर्जनम्=देना।]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आ नो॑ य॒ज्ञं भार॑ती॒ तूय॑मे॒त्विडा॑ मनु॒ष्वदि॒ह चे॒तय॑न्ती।
ति॒स्रो दे॒वीर्ब॒र्हिरे॒दं स्यो॒नं सर॑स्वती॒ः स्वप॑सः सदन्ताम्॥ ८ ॥

अर्थ—(भारती) भरण-पोषण करनेवाले सूर्य की प्रभा (नः यज्ञम्) हमारे यज्ञ में (तूयम्) शीघ्र (एतु) आए तथा (चेतयन्ती) चेतनाप्रदा (मनुष्वत्) मनुष्य सम्बन्धी (इडा) अन्न (इह) इस यज्ञ में (एतु) आए। (स्वपसः) उत्तमकर्मोंवाली अर्थात् उत्तम यज्ञकर्म का सम्पादन करनेवाली (सरस्वतीः) विज्ञानवती वेदवाणी सम्बन्धी ऋचाएँ (तिस्रः देवीः) तीनों देवियाँ (इदम् स्योनम्) इस सुखदायक (बर्हिः) कुशा पर (आ सदन्ताम्) आ बैठें।

[भारती=**भरतः आदित्यः तस्य भाः** (निरुक्त ८.२.१३)। **इडा अन्ननाम** (निघं० २.७)। तथा **वाङ्नाम** (निघं० १.११)। चेतयन्ती=अन्न खाने से मनुष्यों में चेतनता प्रकट होती है। बर्हिः=कुशा तथा तत्सम्बन्धी यज्ञ। सरस्वतीः[3]=सरस्वती (ऋग्वेदे १०.११०.८)। आदित्य प्रभा, यज्ञियान्न तथा सरस्वती, अर्थात् वेदाणी के परस्पर मेल से यज्ञों का सम्पादन होता है। आ सदन्ताम्=**आङः षद पद्यर्थे** (चुरादिः)।]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

य इ॒मे द्यावा॑पृथि॒वी जनि॑त्री रू॒पैरपिं॑श॒द्भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
तम॒द्य हो॑तरिषि॒तो यजी॑यान्दे॒वं त्वष्टा॑रमि॒ह य॑क्षि वि॒द्वान्॥ ९ ॥

अर्थ—(यः) जिसने (जनित्री) प्राणियों की उत्पादिका (इमे द्यावापृथिवी) इन द्यौः तथा पृथिवी को, (भुवनानि विश्वा=विश्वानि) तथा सब भुवनों को, (रूपैः) विविध रूपों द्वारा (अपिंशत्) रूपित किया है, (तम्) उस (त्वष्टारम् देवम्) कारीगर-देव को (अद्य) आज, (इषितः) प्रेरित हुए, (यजीयान्) उत्कृष्ट-यज्ञकर्त्ता, तथा (विद्वान्) यज्ञविधि को जाननेवाले (होतः) हे यज्ञ करनेवाले यजमान! तू (इह) इस यज्ञ में (यक्षि) पूज, उसका संग कर, तथा उसके प्रति आत्मसमर्पण कर। [कारीगर देव है परमेश्वर।

---

१. अग्निहोत्रकाल; यथा सायम् अग्निहोत्रारम्भः। यावज्जीवं, अग्निहोत्रं कुर्यात्। सायं और प्रातःकाल भी।

२. दर्श और पौर्णमास, चन्द्रमा के पक्षान्तों में किये जाते हैं। दर्शयाग अमावास्या के पश्चात् प्रतिपदा में किया जाता है। पौर्णमास याग पौर्णमासी पश्चात् प्रतिपदा में किया जाता है। अग्निहोत्र का काल सूर्यसम्बन्धी है और दर्श-पूर्णमास का काल चन्द्रसम्बन्धी है।

३. "सरस्वतीः" में प्रतीयमान बहुवचन द्वारा सम्भवतः सरस्वती अर्थात् विज्ञानवती वेदवाणी सम्बन्धी ऋचाएँ अभिप्रेत हों। अथवा सरस्वती-सु [प्रथमैकवचन] में "सु" का लोप न होकर उसका विसर्ग हुआ है [छान्दसरूप]।

निज रचे चित्र में यथोचित रूप भरना, कारीगर चित्रकार ही कर सकता है।]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥ १०॥

अर्थ—[हे यजमान!] (त्मन्या) स्वयं तू (देवानाम्) ऋत्विक्-देवों के खाद्य (पाथः) यज्ञिय अन्न को [मधुर घृत द्वारा] (समञ्जन्) सम्मिश्रित करता हुआ उसे तथा (ऋतुथा) ऋत्वनुसार (हवींषि) यज्ञिय हवियों को (उपावसृज) तैयार कर। (वनस्पतिः) वनस्पति, (शमिता) पाचक तथा (देवः अग्निः) द्योतमान अग्नि (मधुना घृतेन) मधुर घृत द्वारा (हव्यम्) अदनयोग्य अर्थात् भक्ष्य-अन्न को (स्वदन्तु) स्वाद-युक्त करें। त्मन्या=आत्मना।

[वनस्पति से ईंधन मिलता है, शमिता अर्थात् पाचक शाक-भाजी को काटता है और द्योतमान अग्नि हव्य को पकाती है। इस सूक्त के विनियोग में "कौशिकसूत्र ४५.१६" के अनुसार वशा गौ की वपा को चार खण्डों में विभक्त[१] कर उन द्वारा आहुतियों का कथन सायण ने किया है।]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः॥ ११॥

अर्थ—(जातः) उत्पन्न अग्नि (सद्यः) तत्काल (यज्ञम् व्यमिमीत) यज्ञ का निर्माण करती है, (अग्निः) अग्नि (देवानाम्) याज्ञिक देवों तथा वायु आदि देवों का (पुरोगाः अभवत्) अग्रगामी अर्थात् नेता हुआ है। (ऋतस्य) यज्ञ के (प्रशिषि) प्रशासन में, अर्थात् यज्ञ की विधि के अनुसार (अस्य होतुः वाचि) इस अग्निरूप होता की जिह्वा में (स्वाहा कृतम्) स्वाहा द्वारा हुत किये गये (हविः[२]) अर्थात् अन्न को तथा हवियों [मन्त्र १०] को (देवाः) ऋत्विक् आदि मानुष-देव, तथा वायु आदि दिव्य-तत्त्व (अदन्तु) भक्षण करें।

[होतुः=**हु दाने** (जुहोत्यादिः)। अग्नि 'होता' है, दाता है। अग्नि में 'पाथः' आहुतियाँ देकर, यज्ञशेष का भक्षण ऋत्विक् यजमान तथा पत्नी आदि करते हैं, मानो अग्नि ने खाने के लिए उन्हें यज्ञशेष दिया है। इसी प्रकार हवियों की भी आहुतियों से निष्पन्न यज्ञिय-धूम, अग्नि ने ही वायु आदि दिव्य-तत्त्वों को दिए हैं। वाचि=वेद में वाक् और जिह्वा पद लगभग पर्यायवाचक भी हैं। अग्नि की सात जिह्वाएँ अर्थात् ज्वालाएँ होती हैं, जिन्हें कि वाक् कहा है, इन सात जिह्वाओं में आहुतियाँ दी जाती हैं (मुण्डक उप० १, खं० २, सन्दर्भ ४)। **जिह्वा वाङ्नाम** (निघं० १.११) ऋतम्=यज्ञ; यथा **ऋतावृधा=यज्ञवृधो वा** (निरुक्त १२.३.३३)।]

---

१. मन्त्र में वशा-गौ का वर्णन नहीं। 'शमिता' पद को, तथा "**शम्नाति वधकर्मा**" (निघं० २.१९) को दृष्टि में रखकर यह भ्रष्ट अर्थ कल्पित किया है। शाक-भाजी का काटना भी तो उसका शमन करता ही है।

२. हविः पद 'पाथः तथा हवींषि' दोनों का सूचक है (मन्त्र १०)। पाथः "**अन्नमपि पाथः उच्यते, पानादेव**" (निरुक्त ६.२.६), तथा (निरुक्त ८.३.१७)। हविः पद निष्पन्न है 'हु' धातु से, जिसके दो अर्थ हैं, अन्न और दान। अदन अर्थ में हविः है खाद्यान्न [पाथः] और दानार्थ में हविः है यज्ञियाग्नि में आहुतियों द्वारा प्राकृतिक वायु आदि में देय हवियाँ।

सूक्त १३

ऋषिः=**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥ १॥

अर्थ—(दिवः कविः) दिव्य या द्युलोक के कवि (वरुणः) वरुण परमेश्वर ने (मह्यम्) मुझे (हि) निश्चय से (ददिः) शक्ति दी है। (उग्रैः वचोभिः) उग्र अर्थात् बलशाली वचनों द्वारा (ते) तेरे (विषम्) विष को (निरिणामि) मै नष्ट करता हूँ। (खातम्) सर्प के दाँतों द्वारा तेरा मांस विदीर्ण होकर जो विष तेरी रक्तनाड़ियों में गड़ गया है, चला गया है, (अखातम्) जो गड़ा नहीं अपितु मांस में रह गया है, (उत सक्तम्) तथा जो त्वचा को ही छुआ है, उस सबको (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है, आगे नहीं बढ़ने दिया, (ते) तेरा (विषम्) विष (निजजास) नितरां मुक्त हो गया है, छूट गया है (**जसु मोक्षणे,** दिवादिः)। (इव) जैसे (इरा) जल (धन्वन्) मरुस्थल में (निजजास) नष्ट हो जाता है।

[दिवः कविः=दिव्य कवि (विकल्पे षष्ठी, योग १.९)। अथवा द्युलोक का रचयिता परमेश्वर कवि (यजुः० ४०.८)। वरुणः (अथर्व० ४.१६.१-९)। निरिणामि (**रि हिंसायाम्,** स्वादिः)। जजास=**जसु मोक्षणे** (दिवादिः)। **उग्रेण वचसा** (अथर्व० ५.२३.२)। खातम्=**खनु अवदारणे** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

यत्ते अपोदकं विषं तत्त एतास्वग्रभम्।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते॥ २॥

अर्थ—(ते) तेरा (यत्) जो (अपोदकम्[१]) शरीर के रस-रक्त रूपी उदक को अपगत कर देनेवाला, सुखा देनेवाला (विषम्) विष है, (ते तत्) तेरे उस विष को (एतासु) इन नाड़ियों में (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है, फैलने नहीं दिया। (ते) तेरे (उत्तमम्) ऊपर के भाग तक (मध्यमम्) शरीर के मध्यभाग तक, (उत) तथा (अवमम्) नीचे के भाग—टाँगों तक फैल जानेवाले (रसम्) विषरस को (गृह्णामि) मैं पकड़ लेता हूँ, (ते) तेरा विषरस-(आत् उ) तदनन्तर (नेशत्) नष्ट हो जाए, (भियसा) जैसेकि व्यक्ति भय के कारण नष्ट हो जाता है।

[मन्त्रप्रवक्ता विषचिकित्सक है, या मनोबलवाला व्यक्ति है।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः॥ ३॥

अर्थ—(मे) मेरी (रवः) आवाज (वृषा) प्रबल है, अतः सुखवर्षी है; (नभसा=नभसः) मेघ से (तन्यतुः न) मेघगर्जन के सदृश (उग्रेण वचसा) निज उग्रवचन द्वारा (ते) तेरे [विषरस को] (बाधे) मैं उसके फैलने में बाधा डालता हूँ; (आत् उ) तदनन्तर ही (अस्य ते) इस तेरे (तम् रसम्) उस विषरस

---

१. अथवा तेरा विष उदक-रहित हो जाए, द्रवरूप न रहे ताकि काटते समय तू सूखे विष का संचार न कर सके। अपोदकम्=waterless. (ह्विटनी)।

को (नृभिः) अन्य विषचिकित्सक मनुष्यों के सहयोग द्वारा (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया, फैलने नहीं दिया। (सूर्यः) सूर्य जैसे (तमसः) रात्रि के अन्धकार से उदित होता है, वैसे [विषजन्य मूर्छान्धकार से] (ज्योतिः) तेरी ज्ञानज्योतिः (उदेतु) उदित हो।

[**उग्रेण वचसा**=अथर्व० (५.२३.२)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।

अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम्॥ ४॥

अर्थ—(चक्षुषा) निज प्रबल दृष्टि द्वारा (ते) तेरी (चक्षुः) दृष्टि का (हन्मि) मैं हनन करता हूँ, (विषेण) विष द्वारा (ते विषम्) तेरे विष का (हन्मि) मैं हनन करता हूँ (अहे) हे सर्प! (म्रियस्व) तू मर जा, (मा जीवीः) तू जीवित मत रह, (त्वा) तेरा (विषम्) विष (प्रत्यक्) वापस (अभ्येतु) तेरी ओर आए।

[जैसे टार्च की प्रबल ज्योति द्वारा, व्यक्ति की दृष्टि, कुछ काल के लिए क्षीण हो जाती है वैसे प्रयोक्ता की प्रबल दृष्टि द्वारा साँप की आँख में डाली गई दृष्टि साँप को कुछ काल तक अन्धा कर देती है, तब साँप देख नहीं सकता और मार दिया जाता है। मन्त्र में "Auto taxic" क्रिया के सिद्धान्त द्वारा, साँप के विष को साँप में प्रविष्ट कर देने पर सम्भवतः साँप का विष विषैला नहीं रहता यह "प्रत्यग् अभ्येतु ते विषम्" का अभिप्राय है। Auto-taxic का अभिप्राय है अपने विष द्वारा अपने विष को विषरहित कर देना।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्र आ मे शृणुतासिता अलीकाः।

मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम्॥ ५॥

अर्थ—(कैरात) हे कैरात! (पृश्ने) हे नानावर्णवाले, चितकबरे! (उपतृण्य) हे झाड़ियों में रहनेवाले! (बभ्रो) हे भूरे वर्णवाले! (असिताः) तथा हे काले साँपो! (मे) मेरे कथन को (आ शृणुत) सुनो, (अलीकाः) इस स्थान से तुम सब निवारित हो जाओ। (मे) मेरे (सख्युः) सखा के (स्तामानमपि) जमघट स्थान में भी (मा) न (स्थात) स्थित होओ, न ठहरो, (आश्रावयन्तः) मुझे उत्तर देते हुए (विषे) निज विष में (निरमध्वम्) नितरां रमण करते रहो अथवा विषप्रसार से निवृत्त हो जाओ, विष में रमण न करो।

[अलीकाः=**अल भूषणव्याप्ति 'वारणेषु'** (भ्वादिः) स्तामानम्=**स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः** (भ्वादिः)। प्रयोक्ता के आर्डर पर सर्पों का अलीक अर्थात् निवारित हो जाना "क्रियात्मक उत्तर" है। कैरात=केर सर्प, हिन्दी में। 'स्तामानम्' में 'संघात' अर्थात् जमघट अर्थ अपेक्षित है।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।

सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँ इव॥ ६॥

अर्थ—(तैमातस्य) आर्द्रस्थान निवासी के (असितस्य) काले साँप के (च) और (अपोदकस्य)

उदक के स्थान में रहनेवाले के (बभ्रोः) भूरे रंगवाले साँप के, (सात्रासाहस्य) तथा वस्तुतः [काटने में] साहसवाले साँप के (मन्योः=मन्युम्) मन्यु को (अवमुञ्चामि) मैं छुड़ा देता हूँ, (इव) जैसेकि (धन्वनः) धनुष् से (ज्याम्) डोरी को, (इव) तथा जैसेकि (रथान्) रथों को [अश्वों से] (विमुञ्चामि) विमुक्त कर दिया जाता है।

[तैमातस्य=**तिम आर्द्रीभावे** (दिवादिः)। **सत्रा सत्यनाम** (निघं० ३.१०), जोकि वास्तव में साहसपूर्वक आक्रमण कर देता है।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आलिंगी च विलिंगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ॥ ७॥

अर्थ—(आलिगी च) सर्वत्र गति करनेवाला चुस्त (पिता) पिता है, (च) और (विलिगी) गतिरहित सुस्त (माता) माता है और (सर्वतः) सर्वत्र फैला हुआ (वः) तुम्हारा (बन्धु) जो बन्धुसमूह है, (अरसाः) तुम वे सब विषरस से रहित हो गये हो, यह (विद्म) हम जानते हैं तुम अब (किम्) क्या (करिष्यथ) करोगे?

[आलिगी=आ+**लिगि गत्यर्थः** (भ्वादिः)+अच्+इतिः (**अत इनिठनौ,** अष्टा० ५.२.११५)। पिता पद पुंलिङ्गी है, अतः आलिगी पद भी पुंलिङ्गी ही होना चाहिए। विलिगी[1] पद स्त्रीलिङ्गी है माता का विशेषण है। आलिगी, विलिगी आदि विषरहित सर्प हैं, जिनका विष विषैला नहीं रहता।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या। प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम्॥ ८॥

अर्थ—(उरुगूलायाः) महाहिंस्रा या महागतिशीला [महावेगवती] सर्पिणी की (दुहिता जाता) दुहिता उत्पन्न हुई है, जोकि (असिक्न्या) काली सर्पिणी की (दासी) दासीवत् परिचरिका या उपक्षयकारिणी हुई है। (सर्वासाम्) सब (दद्रुषीणाम्) हिंसाप्रद सर्पिणियों का (विषम्) विष (प्रतङ्कम्) जोकि जीवन को अति कष्टापन्न करता है, (अरसम्) वह रस-रहित हुआ है, नीरस हो गया है, या सूख गया है। विष के सूख जाने से उसका प्रवेश साँप द्वारा शरीर में नहीं होता। अथवा अरस=विषरहित।

[गूला=**गूरी हिंसागत्योः** (दिवादिः)। रलयोरभेदः। अथवा **गुरी उद्यमने** (तुदादिः), तथा **गूर उद्यमने** (चुरादिः) उद्यमन वेगरूप ही है। असिक्न्या=असिक्न्याः। प्रतङ्कम्= प्र+**तकि कृच्छ्रजीवने** (भ्वादिः)। दद्रुषीणाम्=**दद दाने+रुष हिंसायाम्** (भ्वादिः), तथा (दिवादिः)। दासी=अथवा **दसु उपक्षये** (दिवादिः)।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**भुरिग्जगती**॥

कर्णा श्वावित्तदब्रवीद्गिरेरवचरन्तिका।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम्॥ ९॥

अर्थ—(कर्णा) कानोंवाली (श्वावित्) सेही (गिरः) पर्वत से (अवचरन्तिका) नीचे विचरती हुई (तद् अब्रवीत्) वह बोली कि (याः काः च) जो कोई (इमाः) ये (खनित्रिमाः) खनियों में रहनेवाली

१. विलिग+ङीप्।

सर्पिणियाँ हैं, (तासाम्) उनका (विषम्) विष (अरसतमम्) अत्यन्त नीरस होता है।

[श्वावित्=श्वाविध्? कुत्ते को बींधनेवाली। सेही के शरीर पर काँटे होते हैं। कुत्ता यदि सेही पर आक्रमण करता है तो सेही काँटों द्वारा उसे बींध देती है। मन्त्र का अभिप्राय अनुसंधेय है।]

अथवा

(कर्णा[१]) निकृत्तद्वारा [निरुक्त १.३.९], जिसके द्वार कट गये हैं, (श्वावित्[२]) जोकि आशु चलनेवाले मेघ को प्राप्त है, (गिरेः) मेघ से (अवचरन्तिका) नीचे भूमि की ओर गति करनेवाली वर्षाधारा (तत् अब्रवीत्[३]) यह बोली कि (याः काः च इमाः) जो कोई ये (खनित्रिमाः) खनियों में रहनेवाली सर्पिणियाँ हैं, (तासाम्) उन सबका (विषम्) विष (अरसतमम्) अत्यन्त नीरस होता है। गिरेः=**गिरिः मेघनाम** (निरुक्त १.१०)। अव=अवस्तात्। **चर गतौ** (भ्वादिः)। अभिप्राय यह कि जब वर्षा होती है तो भूमि की खनियों में जल भर जाता है और जलीय प्रदेशों में रहनेवाली सर्पिणियों के विष नीरसप्राय हो जाते हैं। यह अर्थ सुझावमात्र है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥

ताबुवं न ताबुवं न घेत्त्वमसि ताबुवम्। ताबुवेनारसं विषम्॥ १०॥

अर्थ—[हे विष!] (ताबुवम्) तू कर्मशक्तिप्रद तथा वृद्धिकारक है [क्या?]; (न) नहीं है (ताबुवम्) तू कर्मशक्तिप्रद तथा वृद्धिकारक (घ इत्) निश्चय से ही (त्वम्) तू (न असि) नहीं है (ताबुवम्) कर्मशक्तिप्रद तथा वृद्धिकारक (ताबुवेन) तूम्बे के द्वारा (अरसम्) नीरस हुआ है (विषम्) विष।

[मन्त्र में सर्प के विष को सम्बोधित किया है तथा प्रश्न और उत्तर में वर्णन हुआ है। ताबुवम्='**तु गतिवृद्धिहिंसासु**' (अदादिः)+उ (औणादिक, णित्)+वृद्धि 'औ' को आव्; व (मतुबर्थे)। वकार को बकार (वैदिक)। ताबुवेन=''**दशम्याऽलाबुनाऽऽचमयति**'' (कौशिक सूत्र २९, २-१४), तथा ''**अलाबुना अलाबुन्युदकं कृत्वा आचमयति विषव्याधितम्**'' (सायण)। अलाबु है कड़वा तूम्बा। उसमें जल डालकर [जब जल कड़वा हो जाए, या कड़वे तूम्बे के रस को पिलाने से सम्भवतः विष अरस हो जाता हो। यह परीक्षणीय है।]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥

तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवम्। तस्तुवेनारसं विषम्॥ ११॥

अर्थ—[हे विष!] (तस्तुवम्) तू स्तुतियोग्य अर्थात् प्रशंसनीय है [क्या?] (न तस्तुवम्) नहीं है तू स्तुतियोग्य अर्थात् प्रशंसनीय; (घ इत्) निश्चय से ही (त्वम्) तू (न असि) नहीं है (तस्तुवम्) स्तुतियोग्य अर्थात् प्रशंसनीय (तस्तुवेन) स्तुतियोग्य अर्थात् प्रशंसनीयरूप द्वारा (अरसम्) नीरस हुआ है (विषम्) विष।

---

१. ''**दासपत्नीरहिगोपाः**'' (ऋ १.३२.११) मन्त्र में ''**अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार**'' में ''अपां बिलमपिहितं'' द्वारा वर्षाधारा के बिल अर्थात् द्वार के बन्द करने और ''तद्ववार'' द्वारा उसके विवृत करने का कथन हुआ—यह अभिप्राय व्याख्येय-मन्त्रानुरूप है।

२. **श्वावित्=टुओश्वि गतिवृद्ध्योः** (भ्वादिः) द्वारा ''गतिमान्'' तथा जल द्वारा बढ़नेवाले मेघ में (वित्-विद्) विद्यमान वर्षाधारा का कथन हुआ है।

३. वर्षाधारा के प्रपात द्वारा जो शब्द हुआ वह मानो ''अब्रबीत्'' है।

[अभिप्राय यह कि सर्प का विष प्रशंसनीय नहीं है। यह घातक है। परन्तु सर्प-विष के, प्रशंसनीयरूप द्वारा, रोगजनित विष को नीरस किया जा सकता है। होम्योपैथिक चिकित्सा द्वारा, सर्प के विष को सूक्ष्मरूप में 'सशक्त' करके, नाना रोगों द्वारा जन्य विषों का विनाश हो सकता है। एतद्र्थ देखो लैकेसिस [Lachesis] तथा क्रोटेलस होराइड्स [Crotalus Horridus] आदि सर्पविषों के प्रयोग। (मैटिरया मैडिका, द्वारा विलियम बोरिक, एम० डी०)। तस्तुवम्=**ष्टुञ् स्तुतौ** (अदादि:), यङ्लुक रूप। 'सशक्त' पद में शक्ति का अभिप्राय है, होम्योपैथिक "पोटैंसी"।

सूक्त १४

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि॥ १॥

अर्थ—(सुपर्ण:) उत्तम पंखोवाले गरुड़ ने (त्वा) तुझे (अनु अविन्दत्) ढूँढा (सूकर:) सूअर ने (नसा) थूथनी द्वारा (त्वा) तुझे (अखनत्) खोद निकाला। (ओषधे) हे ओषधि! (त्वम्) तू (दिप्सन्तम्) हमें नुकसान पहुँचाना चाहनेवाले को (दिप्स) नुकसान चाह और (कृत्याकृतम्) हिंस्र-सेना संग्रह करनेवाले का (जहि) हनन कर।

[वैदिक युद्ध आत्मरक्षार्थ हैं, पर-विजयार्थ नहीं—इसे "दिप्सन्तं दिप्स" द्वारा प्रकट किया है। कृत्या है हिंस्र-सेना न कि जादू-टोना। कृत्या=**कृती छेदने** (तुदादि:; रुधादि:)। कृत्या को 'पृतना:' कहा है (मन्त्र ८), पृतना:=नाना सेनाएँ। मन्त्र में ओषधि का नाम नहीं दिया, केवल यह दर्शाया है कि ओषधि कहाँ और कैसे प्राप्त हो सकती है। गरुड़ और सूअर के व्यवहारों के जाननेवाले ओषधि के विज्ञ हो सकते हैं। ओषधि के उपचार द्वारा, सेनासंग्रह करनेवाले राजा का, हनन कहा है, ताकि उसके मर जाने पर सैन्ययुद्ध द्वारा सम्भाव्य जननाश तथा सम्पत्तिनाश न होने पाए।]

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

अव जहि यातुधानानव कृत्याकृतं जहि। अथो यो अस्मान्दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे॥ २॥

अर्थ—(यातुधानान्) यातना के निधिरूप पुरुषों का (अव जहि) हनन कर, (कृत्याकृतम्) सैन्यसंग्रह करनेवाले राजा का (अव जहि) हनन कर। (अथो) तथा (य:) जो सेनापति (अस्मान्) हमें (दिप्सति) दम्भपूर्वक नुकसान पहुँचाना चाहता है (ओषधे) हे ओषधि! (तम्, उ) उसे ही (त्वम्) तू (जहि) मार, उसका ही तू हनन कर। मन्त्र में ओषधिप्रयोग द्वारा दु:खदायक व्यक्तियों के ही हनन का निर्देश किया है, सैन्ययुद्ध में सैनिकों के हनन का नहीं।]

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**वनस्पति:** ॥ छन्द:—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वच:।
कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत॥ ३॥

अर्थ—(रिश्यस्य[1]) हिंस्र या हिंसनीय पशु की (त्वच: परि) त्वचा अर्थात् छाल से (परीशासम्) गोल छाल-खण्ड को (परिकृत्य) काटकर और उसे (इव) जैसे (कृत्याम्) हिंस्रक्रिया के रूप में (निष्कम्, इव) निष्क के सदृश, (देवा:) हे विजय चाहनेवाले सैन्यनायको! तुम (कृत्याकृते) सेनासंग्रह

१. रिश्य=**रिश हिंसायाम्** (तुदादि:)।

करनेवाले के लिए [उसकी ग्रीवा में] (प्रति मुञ्चत) पहनाओ।

[निष्क है, सुवर्णमुद्रा। हिंस्रपशु के गोल छाल-खण्ड को, निष्क के रूप में, युद्धेच्छुक राजा की ग्रीवा में पहनाने का कथन हुआ है, उसे यह सुझाने के लिए कि अभी तक तो तुम सुवर्णमुद्रा के पैण्डल को ग्रीवों में पहनते रहे हो, युद्ध करने पर और हार जानने पर, तुम्हारी ग्रीवा पर चमड़े का पैण्डल होगा। यह क्रिया भी युद्ध की तैयारी न करने में प्रेरिकारूप ही है। निष्क=प्रायः १६ माशे की सुवर्णमुद्रा (आप्टे)। देवाः=दिवु क्रीडा 'विजिगीषा' आदि (दिवादिः)।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय।
समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत्॥ ४॥

अर्थ—(पुनः) तदनन्तर (कृत्याम्) काटे छाल-खण्ड[1] को [हे दूत!] (हस्तगृह्य) तू निज हाथ में लेकर (पराणय) परकीय राजा की ओर ले-जा। और (अस्मै) इस राजा के लिए, इसके (समक्षम्) आँखों के सामने (आ धेहि) स्थापित कर दे, (यथा) ताकि यह छाल-खण्ड (कृत्याकृतम्) हिंस्रसेना के संग्रह करनेवाले राजा को, उसके (हनत्) हनन की सूचना दे दे।

[मन्त्र ३ के अनुसार, शत्रु राजा को छाल-खण्डरूपी निष्क के पहनने का कथन हुआ है, परन्तु इस छालखण्ड को शत्रु राजा तक पहुँचाया कैसे जाए? छालखण्ड दूत द्वारा ही पहुँचाया जा सकता है। वैदिक राजनीति के अनुसार दूत अवध्य है, अतः निरापद् है। छालखण्ड राजा का हनन नहीं करेगा, अपितु यह उसके भावी हनन का सूचकमात्र ही है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥ ५॥

अर्थ—(कृत्याः) हिंस्रसेनाएँ (कृत्याकृते) हिंस्रसेनाओं के संग्रहकर्त्ता के लिए (सन्तु) हों [उसे ही विनष्ट करें] जैसेकि (शपथः) शपथ (शपथीयते) शपथ लेनेवाले के लिए ही [हानिकारक] होता है। (कृत्या) शत्रु की हिंस्रसेना (सुखः रथः इव) सुखपूर्वक चलनेवाले रथ के सदृश, सुखपूर्वक, (कृत्याकृतम्) हिंस्रसेनाओं के संग्रह करनेवाले [राजा के प्रति] (पुनः) फिर (वर्तताम्) चली जाए, लौट जाए।

[मन्त्र में 'कृत्याः' पद सेनाओं के नानात्व का सूचक है। जैसेकि मन्त्र ८ में 'पृतनाः' पद पृतनाओं अर्थात् सेनाओं के नानात्व का सूचक है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यदि स्त्री यदि वा पुमान्कृत्यां चकार पाप्मने।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या॥ ६॥

अर्थ—[राजपदाधिष्ठात्री] (यदि स्त्री) यदि स्त्री ने, (यदि वा) अथवा (पुमान्) पुरुष [राजा] ने, (पाप्मने) पापकर्म के लिए [परराज्य के राजा की हत्या के लिए], (कृत्याम् चकार) हिंस्रसेना का संग्रह

१. छालखण्ड है भावी युद्ध का सूचक, जिसे कि कृत्या द्वारा निर्दिष्ट किया है।

किया है, तो (ताम् उ) उस सेना को (तस्मै) उसी [रानी या राजा के लिए ही] (नयामसि) हम ले-जाते हैं, पहुँचा देते हैं, (इव) जैसेकि (अश्वम्) अश्व को (अश्वाभिधान्या) अश्व के बाँधने की रस्सी द्वारा अश्व के स्वामी को पहुँचा दिया जाता है।

[वैदिक युद्ध-नीति की उत्तमता का प्रदर्शन मन्त्र में हुआ है। शत्रु-राजा ने यद्यपि निज सेना को परराज्य के राजा की हत्या के लिए भेजा है, तो भी शक्तिशाली वैदिक राजा, उस सेना का विनाश नहीं करता, अपितु उसे बाँधकर उसके राजा के प्रति सुपुर्द कर देता है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता। तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम्॥ ७॥

अर्थ—(यदि वा असि) यदि है तू (देवकृता) राज्य के देव अर्थात् विजिगीषु सेनापति द्वारा संगृहीता, (यदि वा) अथवा (पुरुषैः) राज्य की प्रजाओं द्वारा (कृता) संगृहीता, तो (ताम् त्वा) उस तुझको (वयम्, पुनः नयामसि) हम सेनाधिकारी फिर वापस कर देते हैं, (सयुजा इन्द्रेण) सहयोगी सम्राट् [की आज्ञा] द्वारा।

[इन्द्र है सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुर्वेद ८.३७)। शत्रुराजा ने, सम्राट् के साम्राज्य पर, आक्रमण करने के लिए निज सेना भेजी, परन्तु उदार सम्राट् ने उस सेना का विनाश न कर, उसे निज आज्ञा या परामर्श द्वारा वापस कर दिया। 'संगृहीता' है शत्रु द्वारा संग्रह की हुई सेना।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराडनुष्टुप्**॥

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व। पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि॥ ८॥

अर्थ—(पृतनाषाट्) सेनाओं का पराभव करनेवाले (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (पृतनाः) शत्रु की सेनाओं का (सहस्व) तू पराभव कर। तदनन्तर (कृत्याम्) शत्रु की प्रत्येक हिंस्रसेना को (कृत्याकृते) हिंस्रसेनाओं के संग्रहकर्त्ता शत्रु राजा के लिए, (प्रतिहरणेन) वापस हटाने की विधि द्वारा, (पुनः) फिर (हरामसि) हम सेनाध्यक्ष वापस कर देते हैं।

[प्रधानमन्त्री प्रथम, निज साम्राज्यसेनाओं द्वारा शत्रुसेनाओं का पराभव करे। तदनन्तर अवशिष्ट सेना का वध न कर, उसे मानपूर्वक, शत्रुराजा के राज्य में स्वसेनाध्यक्ष द्वारा पहुँचा दें।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि॥ ९॥

अर्थ—(कृतव्यधनि) हे किये वेधनोंवाली [शत्रुओं के बींधने में अभ्यस्त] हमारी सेना! (तम्, विध्य) उसे तू बींध (यः) जिसने कि सेना को (चकार) निर्मित या संगृहीत किया है, (तम्, इत्) उसका ही (जहि) तू हनन कर। (अचक्रुषे वधाय) जिसने विरोधी सेना का निर्माण नहीं किया, उसके वध के लिए (वयम्) हम (त्वाम्) तुझे (न) नहीं (सं शिशीमहि) तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों द्वारा सम्यक् तीक्ष्ण करते।

[मन्त्र में दो सेनाओं का वर्णन हुआ है। एक है कृतव्यधनी। यह तो निजसेना है, सम्राट् की या साम्राज्य की (मन्त्र ९)। दूसरी है शत्रुनिर्मित सेना [जोकि "यः चकार" द्वारा निर्दिष्ट की गई है।] जिस व्यक्ति ने शत्रुसेना का निर्माण किया है उस अकेले के हनन के लिए ही आज्ञा हुई है, शत्रुसैनिकों के हनन

के लिए नहीं। यह वैदिक युद्ध-नीति की उदारता और सहानुभूति का प्रदर्शन हुआ है।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृद् बृहती** ॥

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश।

बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

अर्थ—(पितरम्) पिता की ओर (पुत्रः इव) पुत्र के सदृश (गच्छ) तू जा; (अभिष्ठितः) व्यक्ति द्वारा पादाक्रान्त हुए (स्वजः इव) विषैले साँप के सदृश (दश) उसे तू डस, काट। (बन्धम् इव) नदी के बन्ध को जैसे प्रहारों द्वारा तोड़ दिया जाता है वैसे शत्रु के घेरे को (अवक्रामी) आक्रमण द्वारा तोड़ती हुई (गच्छ) उसकी ओर तू जा, (कृत्ये) हे सम्राट् या साम्राज्य की हिंस्रसेना! (कृत्याकृतम्) हिंस्रसेना का निर्माण करनेवाले के लिए अर्थात् उसकी ओर (पुनः) फिर अर्थात् वापस तू जा।

[मन्त्र में तीन विकल्प दिए हैं। (१) शत्रुसेना के निर्माता की ओर, उसके साथ सुलह-सफाई के लिए, उसका मान करते हुए उसके प्रति निःसंकोच होकर तू जा जैसेकि पुत्र निःसंकोच होकर पिता की ओर जाता है। यह निज सेना के प्रति आदेश है। (२) यदि उसने तुझे पादाक्रान्त किया है तो विषैले साँप के सदृश उसे तू काट। (३) यदि उसने साम्राज्य के किसी प्रान्त पर सैनिक बन्ध लगा दिया है, घेरा डाल दिया है, तो उस सेना पर आक्रमण करके घेरे को तोड़ डाल।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

उदेणीव वारण्यभिस्कन्दं मृगीव। कृत्या कर्तारमृच्छतु ॥ ११ ॥

अर्थ—(एणी इव) कृष्णवर्णवाली मृगी के सदृश, (मृगी इव) या तद्भिन्नवर्णवाली मृगी के सदृश, अथवा (वारणी) हथिनी के सदृश (कृत्या) सम्राट् की छेदनपटु सेना, (अभिस्कन्दम्) आक्रमणकारी (कर्तारम्) शत्रुसेना के निर्माता के प्रति (उद् ऋच्छतु) उत्थान करके पहुँचे।

[मृगी चाहे किसी भी वर्णवाली हो, वह शान्त स्वभाववाली होती है, बदला नहीं ले सकती; हथिनी बदला ले सकती है। शत्रु राजा यदि सम्राट् के किसी भी प्रान्त पर आक्रमण करता है, तो सम्राट् की 'कृत्या' या तो प्रेमभावनापूर्वक सन्धिवार्ता करने के लिए अथवा बदला लेने के लिए प्रत्याक्रमण भावना से निज छावनी से उत्थान कर शत्रु की ओर जाए—यह भावना मन्त्र में है। युद्धनीति के ६ गुण हैं, सन्धि, विग्रह, यान आसन, द्वैध, आश्रय। उत्थान है विग्रह अर्थात् युद्ध के लिए सेना का उठना। उत्थानम् war, battle (आप्टे)। कृत्या=**कृती छेदने** (तुदादिः, रुधादिः), छेदनपटु सेना, यथा 'कृतव्यधनि' (मन्त्र ९)।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति।

सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १२ ॥

अर्थ—(इष्वाः) बाण के सदृश (ऋजीयः) अधिक सीधी, (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी के अन्तराल में (कृत्या) सम्राट् की छेदनपटु सेना (तं प्रति) उस राजा की ओर [पक्षीवत्] उड़कर (पततु) पतन करे। (सा) वह सेना (तम् कृत्याकृतम्) उस कृत्या के निर्माता को (पुनः) तत्पश्चात् (गृह्णातु) पकड़ ले (मृगम्, इव) जैसेकि मृग को पकड़ लिया जाता है।

[इषु जिसपर फैंकी जाए, वह सीधे रास्ते में उड़कर लक्ष्य पर जा गिरती है, सेना भी सीधे मार्ग में

उड़ती हुई शत्रुराजा पर जा पतित हो। सेना के उड़ने का अभिप्राय सम्भवत: विमानों द्वारा उड़कर जाना हो। वैदिक नौविमान विद्या के सम्बन्ध में देखिए 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' (ऋषि दयानन्द)।]

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**वनस्पति:** ॥ छन्द:—**स्वराडनुष्टुप्**॥

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम्।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥ १३ ॥

अर्थ—(कृत्या) सम्राट् [मन्त्र ७, इन्द्र] की छेदनपटु सेना, (अग्नि: इव) अग्नि की तरह (प्रतिकूलम्) प्रतिकूल होकर [जलाती हुई] (ऐतु) शत्रु की ओर आए, या (उदकम् इव) जल की तरह (अनुकूलम्) अनुकूल होकर [शान्ति प्रदान करती हुई आए]। सेना (सुख: रथ: इव) सुखदायक रथ की तरह (कृत्याकृतम्) हिंस्रसेना के निर्माता की ओर (वर्तताम्) बर्ताव करे, (पुन:) शत्रुराजा जब अनुकूल हो जाए तत्पश्चात्।

[मन्त्र में दो विकल्प दिए हैं। शत्रुराजा यदि प्रतिकूल रूप में बर्ताव करे तो सम्राट् की सेना जलाती हुई उसके पास पहुँचे। यदि शत्रुराजा अनुकूल रूप में बर्ताव करे तो उसकी प्रजा को जलवत् शान्ति प्रदान करती हुई उसके पास पहुँचे, जैसेकि सुखदायक रथ सुख प्रदान करता है उसी प्रकार उसकी प्रजा को सुख प्रदान करती हुई पहुँचे।]

सुक्त १५

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**मधुला ओषधि:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

एका च मे दश च मेपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ १ ॥

अर्थ—(मे) मेरी (एका च) एक इन्द्रिय-वृत्ति, (मे) मेरी (दश च) दस इन्द्रिय-वृत्तियाँ (अपवक्तार:[1]) निन्दनीय [कर्मों का] कथन करती हैं, तो (ऋतजाते) हे सत्यमय जीवन से प्रकट हुई, (ऋतावरि) सत्यमयी (ओषधे) ओषधि! (मधुला) मधुरस्वरूपा तू (मे) मेरे जीवन को (मधु) मधुमय अर्थात् मीठा (कर:) कर दे, या तूने कर दिया है। ऋतावरी तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा में ऋत=सत्य।

[मन्त्र में 'एका' स्त्रीलिङ्ग में है। मन्त्र २ से ४ तक में भी द्वे, तिस्र:, चतस्र: पद स्त्रीलिङ्ग में हैं। ५ से आगे के मन्त्रों में पञ्च[2] आदि पद विशेष्यलिङ्गी हैं। मन्त्र १ से १० में दस इन्द्रियों का वर्णन है, अत: (इन मन्त्रों में क्रमश:) स्त्रीलिङ्गी पदों द्वारा १० इन्द्रियों की १० इन्द्रियवृत्तियाँ अभिप्रेत हैं। मन्त्र १ में 'दश' शब्द द्वारा दस आयतनों की दृष्टि से एक-इन्द्रियवृत्ति को दशविध कहा है। दस आयतन हैं : स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, पञ्च तन्मात्राएँ, अहंकार और महत्तत्त्व अर्थात् व्यष्टिबुद्धि। इन १० आयतनों में प्रत्येक इन्द्रियवृत्ति की अभिव्यक्ति के प्रत्येक इन्द्रियवृत्ति दशविध हो जाती है। इस प्रकार दो इन्द्रियों की द्विविध वृत्तियाँ २० प्रकार की, तीन इन्द्रियों की त्रिविध वृत्तियाँ ३० प्रकार की, इत्यादि। इन इन्द्रियवृत्तियों की उत्तरोत्तर दस-दस संख्याओं की वृद्धि का वर्णन इन मन्त्रों में हुआ है। इन्द्रियवृत्तियाँ,

१. अपवक्तार: "चित्तवृत्तियाँ" हैं, जोकि इन्द्रियवृत्तियों द्वारा उत्पन्न होती हैं। इनकी "ओषधिरूपसत्यवृत्तियाँ" भी चित्तवृत्तियाँ ही हैं। योगदर्शन में इन द्विविध वृत्तियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है, "**चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च**"। "अपवक्तार: वृत्तियाँ" पापमयी हैं, और "ऋतजात ऋतावरी वृत्ति" कल्याणमयी हैं।

२. यथा पञ्च पुरुषा:, पञ्च स्त्रिय:, पञ्च वस्तूनि।

यथा चाक्षुषवृत्ति है, चाक्षुष-विषयों सम्बन्धी उनके रूप और आकृति-सम्बन्धी वृत्ति। श्रोत्रवृत्ति है शब्दविषयक वृत्ति, जिससे भिन्न-भिन्न शब्दों, भिन्न-भिन्न रागों आदि को पहिचाना जाता है, इत्यादि।[१] मधुला क॒रः=देखें अथर्व० (१.३४.१-५)।

ओषधि के दो अभिप्राय हैं। (१) सत्यमयी वृत्ति, यह अपकथनों का विनाश करती है। अपकथन असत्य होते हैं, सदा-सत्ताक नहीं होते। सत्यमयी वृत्तियाँ, सत्य होने के कारण, सदा-सत्ताक होती हैं, अतः ये ओषधिरूप में असत्य अर्थात् अपकथन रूपी रोगों का निवारण करती हैं। (२) दूसरी ओषधि है परमेश्वर। परमेश्वर का वर्णन 'भेषज' शब्द द्वारा यजुर्वेद में हुआ है, यथा '**भेषजमसि भेषजम्**' (यजु० ३.५९)। 'परमेश्वर-भेषज' अर्थात् ओषधि, सत्य से प्रकट होती है और ऋतावरीरूपा है। यह भेषज निज कृपा से सर्वरोगों की महौषध है। इसी प्रकार की व्याख्या आगे के १० या ११ मन्त्रों में भी जाननी चाहिए।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्वे च॑ मे विंश॒तिश्च॑ मेपव॒क्तार॑ ओषधे। ऋत॑जात॒ ऋता॑वरि॒ मधु॑ मे मधु॒ला क॑रः॥ २॥

अर्थ—(द्वे च) दो इन्द्रियों की द्विविध [दो प्रकार की] वृत्तियाँ, तथा १० आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की २० इन्द्रियवृत्तियाँ ये २२ अपवक्तारः हैं। दो इन्द्रियों की द्विविध [दो प्रकार की] वृत्तियाँ मन्त्र १ और २ की मिश्रित वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ति॒स्रश्च॑ मे त्रिं॒शच्च॑ मेपव॒क्तार॑ ओषधे। ऋत॑जात॒ ऋता॑वरि॒ मधु॑ मे मधु॒ला क॑रः॥ ३॥

अर्थ—(तिस्रः च) तीन इन्द्रियों की त्रिविध [तीन प्रकार की] वृत्तियाँ, तथा आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की ३० इन्द्रियवृत्तियाँ ये ३३ अपवक्तारः हैं। ये ३३ इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १,२,३ की मिश्रित वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

चत॑स्रश्च मे चत्वारिं॒शच्च॑ मेपव॒क्तार॑ ओषधे।
ऋत॑जात॒ ऋता॑वरि॒ मधु॑ मे मधु॒ला क॑रः॥ ४॥

अर्थ—(चतस्रः स) चार इन्द्रियों की चतुर्विध [चार प्रकार की] वृत्तियाँ तथा १० आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की ४० इन्द्रियवृत्तियाँ, ये ४४ अपवक्तारः हैं। ये ४४ इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १ से ४ तक की मिश्रित वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

प॒ञ्च च॑ मे पञ्चा॒शच्च॑ मेपव॒क्तार॑ ओषधे। ऋत॑जात॒ ऋता॑वरि॒ मधु॑ मे मधु॒ला क॑रः॥ ५॥

अर्थ—(पञ्च च) पाँच इन्द्रियों की पञ्चविध [पाँच प्रकार की] वृत्तियाँ, तथा १० आयतनों

---

१. इन्द्रियाँ दशविध हैं, अतः इन्द्रियवृत्तियाँ और तज्जन्य चित्तवृत्तियाँ भी दशविध हैं। जोकि परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। इन द्वारा १० आयतन भी दशविध हो जाते हैं। प्रत्येक चित्तवृत्ति, अपने-अपने स्वरूप, दशविध आयतनों को रञ्जित करती रहती है, अतः ये आयतन भी दशविध हो जाते हैं, जैसेकि एक ही स्वच्छ शीशा, भिन्न-भिन्न रूपाकृतियों के सन्निधान में पृथक्-पृथक् प्रतीत होता रहता है।

सम्बन्धी दस-दस प्रकार की ५० इन्द्रियवृत्तियाँ, ये ५५ अपवक्तारः हैं। ये ५५ इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १ से ५ तक की मिश्रितवृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

षट् च मे षष्टिश्च मेपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ६॥

अर्थ—(षट् च) ६ इन्द्रियों की षड्विध [६ प्रकार की] वृत्तियाँ तथा १० आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की ६० इन्द्रियवृत्तियाँ, ये ६६ अपवक्तारः हैं। ये ६६ इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १ से ६ तक की मिश्रित वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

सप्त च मे सप्ततिश्च मेपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ७॥

अर्थ—(सप्त च) ७ इन्द्रियों की सप्तविध [७ प्रकार की] वृत्तियाँ, तथा १० आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की ७० इन्द्रियवृत्तियाँ, ये ७७ अपवक्तारः हैं। ये ७७ इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १ से ७ तक की मिश्रित वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अष्ट च मेशीतिश्च मेपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ८॥

अर्थ—(अष्ट च) ८ इन्द्रियों की अष्टविध [८ प्रकार की] वृत्तियाँ तथा १० आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की ८० इन्द्रियवृत्तियाँ, ये ८८ अपवक्तारः हैं। ये ८८ इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १ से ८ तक की मिश्रित अर्थात् सब मिलकर वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

नव च मे नवतिश्च मेपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ९॥

अर्थ—(नव च) ९ इन्द्रियों की नवविध [९ प्रकार की] वृत्तियाँ, तथा १० आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की ९० इन्द्रियवृत्तियाँ, ये ९९ अपवक्तारः हैं। ये ९९ इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १ से ९ तक की मिश्रित अर्थात् सब मिलकर वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दश च मे शतं च मेपवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ १०॥

अर्थ—(दश च) १० इन्द्रियों की दशविध [१० प्रकार की] वृत्तियाँ, तथा १० आयतनों सम्बन्धी दस-दस प्रकार की १०० इन्द्रियवृत्तियाँ, ये ११० अपवक्तारः हैं। ये ११० इन्द्रियवृत्तियाँ मन्त्र १ से १० तक की मिश्रित अर्थात् सब मिलकर वृत्तियाँ हैं। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे। ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ११॥

अर्थ—(शतं च) १०० इन्द्रियवृत्तियाँ अर्थात् शतविध [१०० प्रकार की] वृत्तियाँ, (सहस्रम्) हजार होकर अपवक्तारः हैं। ऋतजात ऋतावरि पूर्ववत्।

[मन्त्र ११वें में जो इन्द्रियवृत्तियाँ हैं, वे मनोवृत्तियाँ अर्थात् चित्तवृत्तियाँ हैं। मन है ११वीं इन्द्रिय।

यह इन्द्रिय उभयात्मक है, ज्ञानेन्द्रियरूप तथा कर्मेन्द्रियरूप है। यथा "**एकादशं मनो ज्ञेयमिन्द्रिय-मुभयात्मकम्**" (मनु)। चित्त की वृत्तियाँ पञ्चविध हैं, "**वृत्तयः पञ्चतय्यः**" (योग १.५), यथा "**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः**" (योग १.६)। परन्तु "**क्लिष्टाः अक्लिष्टाः**" (योग १.५) भेद से ये पाँच वृत्तियाँ १० हो जाती हैं। मन्त्र ११वें में १०० को १० से गुणित कर, सहस्र संख्या में 'अपवक्तारः' कहा है। मनोवृत्तियों अर्थात् चित्तवृत्तियों के सम्बन्ध में योगदर्शन के टीकाकार वाचस्पतिमिश्र ने कहा है कि "**न च सहस्रेणापि पुरुषायुषैरलमिमाः [वृत्तीः] कश्चित् परिगणयितुम्, असंख्याताश्च [वृत्तयः]**", अर्थात् पुरुष की हज़ार आयुओं में भी इन चित्तवृत्तियों को कोई गिन नहीं सकता, वृत्तियाँ असंख्यात हैं, (योगदर्शन १.५ की टीका)। चित्तवृत्तियों के सम्बन्ध में इस सचाई के दर्शाने के लिए मन्त्र ११ में "सहस्रम् अपवक्तारः" कहा है। "सहस्रम्" पद असंख्यातार्थक है।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ४

सूक्त १६

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्युष्णिक्**॥

यद्येकवृषोसि सृजारसोऽसि॥ १॥

अर्थ—(यदि एकवृषः असि) यदि तेरी एक इन्द्रिय तुझपर निजविषय की वर्षा करती है, तो (सृज) "ऋतप्रजात ऋतावरी" वृत्ति का सर्जन कर (सूक्त १५), (अरसः) उस ऐन्द्रियिक वर्षा-रस अर्थात् वर्षा-उदक [के प्रभाव] से रहित (असि) तू हो जाएगा।

[कौशिकसूत्र २९.१५ में पूर्वसूक्त १५ का, सूक्त १६ के साथ विनियोग किया है, अतः इन दोनों में एकवाक्यता होनी चाहिए। तदनुसार ही सूक्त १६ के मन्त्रों के अर्थ किये हैं। मन्त्र ११ में 'अरसः' को 'अपोदकः' कहा है जोकि इन्द्रिय के विषय को उदक-वर्षा के रूप में सूचित करता है।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्**॥

यदि द्विवृषोसि सृजारसोऽसि॥ २॥

अर्थ—(यदि द्विवृषः असि) यदि तेरी २ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्**॥

यदि त्रिवृषोसि सृजारसोऽसि॥ ३॥

अर्थ—(यदि त्रिवृषः असि) यदि तेरी ३ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्युष्णिक्**॥

यदि चतुर्वृषोसि सृजारसोऽसि॥ ४॥

अर्थ—(यदि चतुर्वृषः असि) यदि तेरी ४ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्युष्णिक्** ॥

यदि॑ पञ्चवृ॒षोसि॒ सृ॒जार॒सो॑ऽसि ॥ ५ ॥

अर्थ—(यदि पञ्चवृषः असि) यदि तेरी ५ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्** ॥

यदि॑ षड्वृ॒षोसि॒ सृ॒जार॒सो॑ऽसि ॥ ६ ॥

अर्थ—(यदि षड् वृषः असि) यदि तेरी ६ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्युष्णिक्** ॥

यदि॑ सप्तवृ॒षोसि॒ सृ॒जार॒सो॑ऽसि ॥ ७ ॥

अर्थ—(यदि सप्तवृषः असि) यदि तेरी ७ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्युष्णिक्** ॥

यद्य॑ष्टवृ॒षोसि॒ सृ॒जार॒सो॑ऽसि ॥ ८ ॥

अर्थ—(यदि अष्टवृषः असि) यदि तेरी ८ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्युष्णिक्** ॥

यदि॑ नववृ॒षोसि॒ सृ॒जार॒सो॑ऽसि ॥ ९ ॥

अर्थ—(यदि नववृषः असि) यदि तेरी ९ इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्युष्णिक्** ॥

यदि॑ दशवृ॒षोसि॒ सृ॒जार॒सो॑ऽसि ॥ १० ॥

अर्थ—(यदि दशवृषः असि) यदि तेरी १० इन्द्रियाँ तुझपर निजविषयों की वर्षा करती हैं, तो (सृज) पूर्ववत्।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृष ओषधिः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरी गायत्री** ॥

यद्ये॑काद॒शोसि॒ सोपो॑दको सि ११ ॥

अर्थ—(यदि) यदि (एकादशः) ११ वें मनवाला तू है, (सः) वह तू (अपोदकः) जीवनीय-उदक अर्थात् रस से रहित (असि) हो गया है।

[मन्त्रों में विषयों की वर्षा का अर्थात् अतिसेवन का निषेध अभिप्रेत है, सेवन का सर्वथा निषेध नहीं किया। सर्वथा निषेध से तो जीवन की सत्ता ही नहीं रहती। ११वें मन्त्र में ११ इन्द्रियों का वर्णन नहीं, अपितु ११वें मन का वर्णन है। ११वें मन में तो सभी इन्द्रियों के विषयों सम्बन्धी संस्कार एकत्रित रहते हैं। यदि मन संयमित न हो तो मनोनिष्ठ सभी संस्कार जीवन को अति क्लेशमय कर देते हैं, फिर इनसे छूटने का कोई उपाय नहीं रहता। इस अभिप्राय को दर्शाने के लिए ११वें मन्त्र में 'सृज' का कथन नहीं

हुआ। मन ११वीं इन्द्रिय है (अथर्व० ५.१५.११ की टिप्पणी), देखिए। यथा "**एकादशं मनो ज्ञेयमिन्द्रियमुभयात्मकम्**" (मनु)।]

सूक्त १७

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ते ऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य॥ १ ॥

अर्थ—(ब्रह्मकिल्बिषे) ब्राह्मण के सम्बन्ध में किये अपराध या पाप में (ते) उन (प्रथमाः= प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्नों ने (अवदन्) संवाद किया, (अकूपारः) सूर्य ने (सलिलः) समुद्र ने, (मातरिश्वा) वायु ने, (वीडुहराः) बलवानों का हरण अर्थात् विनाश करनेवाले (मयोभूः) आध्यात्मिक सुख पैदा करनेवाले परमेश्वर ने, (उग्रं तपः) उग्ररूप और तपानेवाले वैद्युद्वज्र ने, या अग्नि ने तथा (ऋतस्य) नियमानुसार (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्न (देवीः आपः) द्युलोक में उत्पन्न जलों ने।

[ब्रह्मकिल्बिषे=ब्रह्मजाया को ब्राह्मण के लिए न देनारूप अपराध या पाप। **अकूपारः=दूरपारः** (निरुक्त ४.३.१८), सूर्यः, दूरं दूरतमं स्थानमपि स्वरश्मिभिः पूरयति **वीडु बलनाम** (निघं० २.९)। परमेश्वर की अभिव्यक्ति होती है सृष्ट्युत्पादन में, यह मानो उसकी उत्पत्ति है।

संवाद कथानक के रूप में है, जिसे कि परमेश्वर और परमेश्वर द्वारा प्रथमोत्पन्न तत्त्वों में दर्शाया है। कथानकों में वर्णन काल्पनिक ही होते हैं। सूक्त में ब्रह्मजाया का विवाह ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ ही होना चाहिए, यह दर्शाया है। ब्रह्मजाया[1] भी ब्रह्मज्ञा है। इस कथानक द्वारा गुणकर्मानुसार विवाह के सिद्धान्त को पुष्ट किया है। वीडुहराः=वीडु+हरस्।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय॥ २ ॥

अर्थ—(राजा) राजमान (सोमः) सौम्य स्वभाव (प्रथमः) प्रथम था, जिसने कि (अहृणीयमानः) बिना लज्जा के (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्म और वेद के वेत्ता को जाया को (पुनः) फिर (प्रायच्छत्) वापस कर दिया। इसके (अन्वर्तिता) पश्चात् आनेवाला (आसीत्) था (वरुणः) कर्मों में श्रेष्ठपन, (मित्रः) और मित्र भावना; परन्तु (अग्निः) यज्ञाग्नि (होता) निजहस्त प्रदान कर, (हस्तगृह्य) पाणिग्रहणपूर्वक, (आनिनाय) अपने गृह में इसे ले आया।

[शैशवावस्था में कन्या सौम्यस्वभाववाली होती है, अतः उसका पति या अधिपति सोम कहा है [पति=**पा रक्षणे**]। तदनन्तर उसमें सदाचार और अनाचार की विवेक-भावना जागरित होती है जिसे कि वरुण द्वारा सूचित किया, वरुण=श्रेष्ठ। कालान्तर में मित्र अर्थात् स्नेही-जीवन-संगी की कामना प्रकट होती है। अन्त में वैवाहिक अग्नि, मानो होता बनकर, पाणिग्रहण की विधिपूर्वक उसे विवाहित कर पतिगृह में ले-आती है। मन्त्र में इस प्रक्रम की अवस्थाओं को पुरुषरूप में वर्णित किया है। इन अवस्थाओं के

---

१. ब्रह्मजाया पद में द्विविध समास है, ब्रह्मणः जाया, तथा ब्रह्मणि रता जाया। इस प्रकार पति और पत्नी दोनों ब्रह्मज्ञ और ब्रह्मज्ञा हैं। इस प्रकार विवाह गुणकर्मानुसार सूचित हो जाता है।

अधिक वर्णन के लिए देखें (अथर्व० १४.२.१-४),[१]। ब्रह्मजाया=ब्रह्मणः जाया। मन्त्र में 'अवदन्' द्वारा संवाद का कथन हुआ है। उस संवाद में जो निर्णय हुआ उसका कथन मन्त्र २ से सूक्त की समाप्ति तक में है। होता=हु **दाने**, हस्तप्रदान करना, विवाहार्थ अवलम्ब प्रदान करना।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत्।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥ ३॥

अर्थ—(हस्तेन एव) पाणिग्रहण विधि द्वारा ही (अस्याः) इस ब्रह्मजाया की (आधिः) मन-की-चिन्ता (ग्राह्या) निगृहीत करनी चाहिए, समाप्त करनी चाहिए—"यह ब्राह्मण की जाया है"—(इति) यह (इत् च) ही (अवोचत्) मयोभू[२] ने कहा, निर्णय दिया। (एषा) यह ब्रह्मजाया (दूताय प्रहेया) दौत्यकर्म के लिए प्रेरणीया होने की योग्यता के लिए (न तस्थे) स्थित नहीं है। (तथा) इस प्रकार (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय राजा का (राष्ट्रम्) राष्ट्र (गुपितम्) सुरक्षित होता है।

["ब्रह्मजाया", ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म और वेद के जाननेवाले के लिए है, यह ही "मयोभू" ने निर्णय में कहा कि इसी प्रकार गुण-कर्मानुसार विवाह व्यवस्था होनी चाहिए। इससे वर्णसंकर दोष मिट सकता है और राष्ट्रिय जीवन सुरक्षित रह सकता है। ब्रह्मजाया भी ब्राह्मणी ही अभिप्रेत है, ब्रह्म और वेद को जाननेवाली। दूत-प्रेषण द्वारा विवाह में अन्यथा प्रक्रिया न होनी चाहिए—यह ख्याल रखना क्षत्रिय राजा का कर्त्तव्य है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम्।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान्॥ ४॥

अर्थ—(याम्) जिस ब्रह्मजाया को (आहुः) कहते हैं कि (एषा) यह (तारका) राष्ट्र को तैरानेवाली नौका है, वह जब (विकेशी इति) दुःखी होकर बिखरे केशोंवाली हो जाती है, तब इसे (ग्रामम्) ग्राम पर (अवपद्यमानाम्) गिरती हुई उल्का के सदृश (दुच्छुनाम्) दुर्गतिरूप (आहुः) कहते हैं। (सा) वह (ब्रह्मजाया) ब्रह्मजाया (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (विदुनोति) विशेषतया उपतप्त कर देती है (यत्र) जिस राष्ट्र में कि यह (शशः) प्लुतगतिवाले, शीघ्रगतिवाले (उल्कुषीमान्) उल्का के सदृश जलते हुए पत्थर के रूप में ब्रह्मजाया (प्रापादि) प्रपतन करती है।

[दुच्छुनाम्=दुः+**शुन गतौ** (तुदादिः)। दुनोति=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)। शशः=**शश प्लुतगतौ** (भ्वादिः)। उल्कुषीमान्=उल्का+**उष दाहे** (भ्वादिः)+मतुप्। ब्रह्मजाया है ब्रह्म और वेद को जाननेवाली।

१. अग्नि से पूर्व के पतियों के सम्बन्ध में "हस्तगृह्य" अर्थात् पाणिग्रहण विधि का वर्णन नहीं हुआ। इससे ज्ञात होता है कि पूर्वकाल के पति "सोम" आदि काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं, वे केवल कन्या की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से रक्षक मात्र हैं, विवाहित पति नहीं।

२. सूक्त १७वें का ऋषि है "मयोभू", और देवता है "ब्रह्मजाया"। अनुक्रमणी-कार ने मन्त्र (१) में "ब्रह्मभूः" पद देखकर सूक्त का ऋषि "ब्रह्मभू" कह दिया है, जो कि काल्पनिक है। ऋषि यदि मनुष्य हैं, जिनकी उत्पत्ति कालपरिच्छिन्न है, तो वे वेदों के समकालिक सम्भव नहीं हो सकते। वस्तुतः सूक्त १७वें का ऋषि अज्ञात है। नित्य वेदों में कालपरिच्छिन्न मनुष्यों के नाम सम्भव नहीं हो सकते।

ऐसी धर्मात्मा और विदुषी को गुणकर्मानुसार योग्य पति के न मिलने पर वह दुःखी होकर विकेशी हो जाती है, केशों को सँवारती नहीं। केशसंवारण तो पति के रञ्जनार्थ होता है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ब्रह्मचारी[१]) ब्रह्म और वेद में विचरनेवाला, (चरति) [ब्रह्मचर्याश्रम में] विचरता है, (विषः) और विशेषेण प्रापणीय सद्गुणों को (वे-विषद्) प्राप्त कर लेता है। (सः) वह तब (देवानाम्) [ब्रह्मचर्याश्रम के] दिव्य आचार्यों का (एकम् अङ्गम्) एक अङ्ग (भवति) हो जाता है। (तेन) उस कारण (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी का पति यह ब्रह्मचारी (अनु) वैदिक विधि के अनुसार (जायाम्) जाया को (अविन्दत्) प्राप्त कर लेता है (सोमेन नीताम्) जिसे सोम ने प्राप्त किया था। (न) जैसेकि (देवाः) दिव्यगुणी विद्वान् (जुह्वम्) यज्ञिय-जुहू को प्राप्त करते हैं।

[ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर, जब तक विवाहित नहीं होता, तब तक वह गुरुरूप होकर, गुरुओं का एक अंगरूप होकर, सहायक होकर, ब्रह्मचर्याश्रम में रहता है, और जाया प्राप्त कर लेने पर वह गृहस्थ में प्रवेश करता और गृह्य "पंचमहायज्ञकर्म" करता है, जैसेकि अन्य दिव्य विद्वान्-गृहस्थी, यज्ञिय-चमसों द्वारा, यज्ञकर्म करते हैं, पत्नी की प्राप्ति मानो जुहू की प्राप्ति के सदृश है, जोकि "गृह्य पंचमहायज्ञों" के करने में साधन रूप हो जाती है। विषः=**विष्लृ व्याप्तौ** (जुहोत्यादिः), व्याप्तिः=विशेषेण आप्तिः, प्राप्तिः, सद्गुणों की।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

अर्थ—(पूर्वे) पूर्वकाल अर्थात् प्रथमकाल के (देवाः) देवों ने अर्थात् (सप्तऋषयः) सात ऋषियों ने (ये) जोकि (तपसा) तपश्चर्या के साथ (निषेदुः) समाधि में स्थित हुए थे, (वै) निश्चय से (अवदन्त) कहा कि (अपनीता) अपकृष्ट गुणोंवाले व्यक्ति द्वारा ली जाई गई (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की (जाया) होनेवाली जाया (भीमा) भयावह है, वह (परमे व्योमन्) परमरक्षक राष्ट्र में (दुर्धाम्) धारण-पोषण करने में दुर्व्यवस्था को (दधाति) स्थापित करती है, राष्ट्र में विप्लव पैदा कर देती है।

[प्रथमकाल के कथानक देव [मन्त्र १]। सप्तऋषयः=द्युलोकस्थ सप्तर्षिमण्डल जिसमें कि ताप और प्रकाश के सहित मानो कि सात ऋषि समाधि में बैठे हुए हैं। वे हैं मरीचि, अत्रि, अङ्गिराः, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ। इस मण्डल को "ऋक्षाः" तथा "Ursa major" भी कहते हैं। कविता में इन्हें चेतन माना है, तभी "अवदन्त" का प्रयोग हुआ है।

तथा

---

१. ब्राह्मण और ब्रह्मजाया के विवाह के प्रकरण में ब्रह्मचारी और जाया के वर्णन के दो अभिप्राय सम्भव हैं—(१) "ब्राह्मण और ब्रह्मजाया" तथा "ब्रह्मचारी और जाया" समानार्थक हैं। (२) "ब्राह्मण-और-ब्रह्मजाया" के विवाह में "ब्रह्मचारी और जाया" का विवाह आदर्शरूप में उपस्थित किया है।

तथा— सप्तऋषयः हैं, शरीरस्थ। यथा "**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**" (यजुः० ३४.५५)। ये हैं "**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी, आत्मनि**" (निरुक्त १२.४.३७)। परन्तु ये सात आपामरसामान्य हैं। इन सबकी सात शक्तियाँ ऋषि कोटि की नहीं होतीं, परन्तु जब व्यक्ति तपश्चर्या करते हुए योग-समाधि में स्थित हो जाते हैं, तब इनकी ये सात शक्तियाँ ऋषियों की कोटि की हो जाती हैं। तब ये सात जो ज्ञान देते हैं वह सत्य होता है, यथार्थ होता है, और ये वस्तुतः सत्य का "अवदन्त" कथन करने लगते हैं।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद्यच्चापलुप्यते।

वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्॥ ७॥

अर्थ—(ये गर्भाः) जो गर्भ (अवपद्यन्ते) गिर जाते हैं, (च) और (यत् जगत्) जो जङ्गम सन्तानें (अपलुप्यते) इस द्वारा विलुप्त हो जाती हैं, (ये) जो (वीराः) वीर (मिथः) परस्पर के युद्धों में (तृह्यन्ते) हिंसित होते हैं, (तान्) उन सबको (ब्रह्मजाया) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ सम्बन्धी जाया मानो (हिनस्ति) हिंसित करती है।

[प्रकुपिता ब्रह्मजाया [मन्त्र ३,४,६]। ब्रह्मजाया प्रकुपित होकर राष्ट्र के प्रबन्धों में विप्लव पैदा कर देती है, जिसका दुष्परिणाम मन्त्र में दर्शाया है।

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा॥ ८॥

अर्थ—(उत) तथा (स्त्रियाः) ब्रह्मजाया के, (पूर्वे) पहिले के (अब्राह्मणाः) अब्रह्मज्ञ और अवेदज्ञ (यत्) जो (दश पतयः) दस पति अर्थात् रक्षक भी हों परन्तु (चेत्) यदि (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति (हस्तम् अग्रहीत्) पाणिग्रहण कर लेता है तो (सः एव) वह ही, (एकधा) एक प्रकार का (पतिः) विवाहित पति होता है।

[दशपतयः=दस रक्षक [**पा रक्षणे**], या दस प्रस्तावित पति, परन्तु योग्य न होने के कारण जो ब्रह्मजाया को अवाञ्छनीय हैं। ब्रह्मजाया यदि रक्षक सम्बन्धियों से रहित है तो राज द्वारा उसके रक्षक नियत कर दिए जाएँ, जब तक कि उसका विवाह नहीं होता।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः। तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ ९॥

अर्थ—(ब्राह्मणः एव पतिः) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ही [ब्रह्मजाया का] पति है, (न राजन्यः न वैश्यः) क्षत्रिय और वैश्य नहीं, (तत्) इसे (प्रबुवन्) कहता हुआ (सूर्यः[१]) सूर्य (एति) आता है, (पञ्चभ्यः मानवेभ्यः) पाँचों प्रकार के मनुष्यों के लिए, या विस्तृत मनुष्य जाति के लिए।

[प्रब्रुवन्=सूर्य जड़ है, वह बोल नहीं सकता, यह कथन कथानक रूप में है। जब क्षत्रिय और वैश्य, गुण-कर्म की दृष्टि से ब्रह्मजाया के विवाह के अयोग्य हैं, तो शूद्र का तो कहना ही क्या? पञ्चमानवाः=विस्तृत मनुष्यजाति। पञ्च=पचि विस्तारवचने (चुरादिः)। अथवा पञ्चमानवाः=ब्राह्मण (गुणकर्मतः, न तु जन्मतः,),

---

१. सूर्य का वर्णन इसलिए हुआ है कि विवाह में सूर्य-प्रेक्षण की भी विधि है, जोकि सूर्य के रहते ही सम्पन्न हो सकती है। विवाह के इस काल में गुणकर्मानुसार विवाह के सिद्धान्त की पुष्टि भी करा दी गई है 'प्रबुवन् एति' द्वारा।

क्षत्रिय वैश्य, शूद्र तथा वर्णवर्ग से भिन्न निषाद व्यक्ति।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या॑ अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

अर्थ—(देवाः) दिव्यगुणी विद्वानों ने (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञजाया को (वै) निश्चय से (पुनः) फिर (अददुः) वापस दे दिया, कर दिया, (मनुष्याः) सर्वसाधारण मनुष्यों ने (पुनः) फिर (अददुः) वापस दे दिया, कर दिया। (सत्यं गृह्णानाः) सत्यग्राही (राजानः) राजाओं ने (पुनः) फिर (ददुः) वापस दे दिया, कर दिया।

[मन्त्र-भावना विचार की अपेक्षा करती है। मन्त्र ९ में जब यह निर्णय दे दिया कि ब्रह्मजाया का पति ब्राह्मण ही है, न राजा, न वैश्य तब तद्भिन्न व्यक्ति ब्रह्मजाया के पति मन्त्र १० में सम्भावित ही नहीं, जिसे कि देव आदि ने फिर वापस दे दिया, कर दिया तथा मन्त्र १० में देवाः, मनुष्याः, राजानः पद बहुवचनान्त हैं। क्या इससे यह समझना चाहिए कि ब्रह्मजाया का विवाह नाना देवों, नाना मनुष्यों, नाना राजाओं के साथ हुआ और उन्होंने विचार करके ब्रह्मजाया को पुनः-पुनः वापस कर दिया, अतः प्रतीत यह होता है कि गुणकर्म से योग्य पति न मिलने के कारण बार-बार विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव हुए, परन्तु देव आदि ने अपने-आपको, ब्रह्मजाया के गुणकर्मों से रहित जानकर, विवाह-प्रस्ताव वापस कर दिए। मन्त्र ८ में प्रस्तावित पति ब्रह्मजाया को अनभिमत हुए और मन्त्र १० में प्रस्तावित ब्रह्मजाया सम्बन्धी विवाह देव आदि को अनभिमत हुए। मन्त्रों में वर्णन कथानक रूप में हैं, वास्तविक नहीं।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥

अर्थ—(देवैः) आचार्य-देवों द्वारा (निकिल्बिषम्) पापरहिता (कृत्वा) करके, (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्मजाया को (पुनः दाय) [उसके माता-पिता आदि सम्बन्धियों के प्रति] फिर वापस देकर, (पृथिव्याः) पृथिवी के (ऊर्जम्) बलदायक और प्राणदायक अन्न का (भक्त्वा) यथोचित विभाग करके, (उरुगायम्) बहुतों द्वारा गाये गये परमेश्वर की (उपासते) वे उपासना करते हैं।

[ब्रह्मजाया के विवाह के प्रकरण में जैसे ब्रह्मचारी का वर्णन हुआ है [मन्त्र ५], वैसे ही मन्त्र ११ में ब्रह्मचारिणी-ब्रह्मजाया का भी वर्णन हुआ है। ब्रह्मचारिणी को सदाचारसम्बन्धी शिक्षा द्वारा निष्पाप करके, उसके गुरु उसे फिर उसके सम्बन्धियों के प्रति वापस कर देते हैं। जिस ग्राम के गुरुकुल में उसने शिक्षा पाई है, उस ग्राम में उत्पन्न पार्थिव, अन्न का विभाजन, गुरुकुल के आचार्य तथा भूमिपति मिलकर कर लेते हैं, ताकि गुरुकुल का भी पालन-पोषण हो सके और भूमिपतियों और ग्रामनिवासियों का भी पालन-पोषण हो सके। इस प्रकार वे सब जीवनचर्या निभाते हुए, परमेश्वर की उपासना में रत रहते हैं। ऊर्जम=**ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७); तथा **ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १२ ॥

अर्थ—(शतवाही) सैकड़ों सैनिकों [की वाहिनी] का वहन करनेवाली, (कल्याणी[१]) और कल्याणकारिणी (अस्य) इस राजा की (जाया) पत्नी, इसकी (तल्पम्) शय्या पर (न आशये) नहीं आकर शयन करती है, (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राष्ट्र में (ब्रह्मजाया) ब्रह्मजाया (अचित्त्या) अज्ञानपूर्वक, (निरुध्यते) [प्रचार करने से] रोकी जाती है। ब्रह्मजाया=ब्रह्मणि रता जाया, मध्यपदलोपी समास।

[ब्रह्मजाया को प्रचार से रोकने के विरोध में राजा की जाया भी राजा से रुष्ट हो जाती है।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन्वेश्मनि जायते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १३॥

अर्थ—(तस्मिन् वेश्मनि) [राजा के] उस घर में (विकर्णः) विशिष्ट सदुपदेशों के श्रवणकारी कानोंवाला तथा (पृथुशिराः) बड़े सिरवाला अर्थात् महाज्ञानी पुत्र (न जायते) नहीं पैदा होता, (यस्मिन् राष्ट्रे) पूर्ववत्।

["सदुपदेश-श्रवण", यथा "**श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि**" (अथर्व० ४.३०.४)।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १४॥

अर्थ—(निष्कग्रीवः) सुवर्ण-मुद्रा-निर्मित हार को ग्रीवा में धारण करनेवाला, (अस्य क्षत्ता) इस राजा के रथ का वाहन करनेवाला रथी, (सूनानाम्) सूनारूप युद्धभूमियों में (अग्रतः) आगे की ओर (न) नहीं जाता। (यस्मिन् राष्ट्रे) पूर्ववत्।

[वैदिक दृष्टि में युद्ध भूमियाँ सूनारूप हैं, बूचड़खाने हैं, जिनमें कि मानुष वध किये जाते हैं, मानुष जीवन उच्च उद्देश्य के लिए है।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते। यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १५॥

अर्थ—(श्वेतः) सुफेद (कृष्णकर्णः) और काले कानोंवाला [अश्व] (अस्य) इस [राजा] के (धुरि) रथ की धुरी में (युक्तः) जुता हुआ (न महीयते) नहीं महिमा प्राप्त करता, शोभायमान नहीं होता। (यस्मिन् राष्ट्रे) पूर्ववत्।

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १६॥

अर्थ—(न) न (अस्य) इस राजा के (क्षेत्रे) खेत में (पुष्करिणी) कमलों से भरा जलहृद, (न) न (आण्डीकम्) कमलफूल, (न बिसम्) न खाद्य-भिस (जायते) पैदा होता है, (यस्मिन् राष्ट्रे) पूर्ववत्।

---

१. राष्ट्र का कल्याण चाहनेवाली राजा की जाया चाहती है कि ब्रह्मरता ब्राह्मणी राष्ट्र में ब्रह्मसम्बन्धी प्रचार करे, ताकि राष्ट्र में आध्यात्मिक प्रचार द्वारा प्रजाजनों के जीवनों में आध्यात्मिकता हो सके, परन्तु राजा इसे नहीं चाहता, अतः उसकी पत्नी रुष्ट है। अथवा जाया कल्याणी है पति के प्रति, परन्तु पति है राजा। राजा का कल्याण भी तो प्रजा के कल्याण पर ही निर्भर है, अतः पत्नी आध्यात्मिकता का प्रचार चाहती है।

[पुष्करिणी=पुष्कर अर्थात् कमलों से भरा जलह्रद। आण्डीकम्=कमलफूल जिसमें कि कमलडोडे लगे रहते हैं। बिसम्=कमल की जड़, जिसे अग्निपरिपक्व कर खाया जाता है, जिसे कि 'भिस' या 'भे' कहते हैं।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १७॥

अर्थ—(ये) जो (अस्याः) इस पृथिवी की (दोहम्) उपज को (उपासते) भोगते हैं, वे (अस्मै) इस राजा के लिए (पृश्निम्) पृथिवी का (न विदुहन्ति) विविध प्रकार का दोहन नहीं करते। (यस्मिन् राष्ट्रे) पूर्ववत्।

[पृश्निम्=**पृश्निः भूमिः** (सायण ऋ० १.२३.१०), प्राश्नुते एनं वर्णः, अर्थात् विविध वर्णोंवाले पदार्थ इसे व्याप्त करते हैं। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि कर्मकर-कृषक आदि पृथिवी के भोगों को स्वयं भोगते रहते हैं, जिस राष्ट्र में ब्रह्म और वेद के प्रचार को रोक दिया जाता है, पृथिवीपति—राजा को वे उसका भाग नहीं देते।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मजाया**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया॥ १८॥

अर्थ—(अस्य) इस राजा की (कल्याणी) कल्याणकारिणी (धेनुः) दुधार गौ (न) दूध नहीं देती, (न) और न (अनड्वान्) शकट का वहन करनेवाला बैल (धुरम्) शकट की धुरी को (सहते) सहता है, (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणः) ब्राह्मण, (विजानिः) विवाहित जाया से रहित हुआ, (पापया) पापिन के साथ (रात्रिं वसति) रात्रिवास करता है।

[जिस राष्ट्र में ब्रह्म और वेद का प्रचार रोक दिया जाता है, उस राष्ट्र में अधिक दुर्व्यवस्था हो जाने से, पशुओं को घास-चारा नहीं मिलता, अतः दूध देनेवाली गौएँ भी दूध नहीं देतीं और न शकट वहन करनेवाले बैल, कमज़ोरी के कारण, शकट के वहन के भार को सहन कर सकते हैं तथा विवाह-व्यवस्था के भी बिगड़ जाने से ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ व्यक्ति भी दुराचारी हो जाते हैं।]

सूक्त १८

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥ १॥

अर्थ—(नृपते) हे नरपति! (ते देवाः) उन ब्राह्मण-देवों ने (तुभ्यम्) तुझे (अत्तवे) खाने के लिए (एताम्) इस [परामर्श वाणी को] (न अददुः) नहीं दिया। (राजन्य) हे प्रशस्त राजन्! (अनाद्याम्) न खाने योग्य (ब्राह्मणस्य गाम्) ब्राह्मण की परामर्शवाणी को (मा जिघत्सः) खाने की इच्छा तू न कर।

[गाम्; **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। ब्राह्मण=ब्रह्मज्ञ, वेदज्ञ विद्वान्। देवाः=ब्राह्मणाः; ब्राह्मणों को 'भूदेवाः' कहते हैं, ये पृथिवी के देव हैं। इनके दिए परामर्श की अवहेलना ही 'गोभक्षण' है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः। स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

अर्थ--(अक्षद्रुग्धः) निज इन्द्रियों द्वारा द्रोहा-प्राप्त अर्थात् हिंसित, (पापः) पापी, (आत्मपराजितः) स्वयमेव पराजित (राजन्यः) राजा है, (सः) वह (ब्राह्मणस्य) वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ की (गाम्) परामर्श वाणी को (अद्यात्) यदि खा ले, तदनुसार शासन न करे, तो वह जाने कि (अद्य) आज तो (जीवानि) सम्भवतः मैं जीवित रह सकूँ (मा श्वः) कल नहीं।

[अक्षद्रुग्धः=अथवा न्यायसभा द्वारा द्रुग्ध। यथा ''अक्षपटलम्=A court of law (आप्टे), न्यायालय। अक्ष=इन्द्रिय [सुप्रसिद्ध]। आत्मपराजितः=अपने कर्मों द्वारा स्वयम् पराजित। अद्=To Destroy (नष्ट कर देना), परामर्शवाणी को नष्ट कर देना, उसका उपयोग न करना।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा। सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

अर्थ—(राजन्य) हे राजन्! (सा) वह (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की (एषा) यह (गौः) परामर्शवाणी, (चर्मणा आविष्टिता) चमड़े द्वारा घिरी हुई, (अघविषा) हत्यारे विषवाली, (पृदाकूः इव) पृदाकू-सर्पिणी के सदृश है, (सा गौः) वह परामर्शवाणी (तृष्टा) जब रक्त की प्यासी हो जाती है, (अनाद्या) तब अदन-योग्य अर्थात् विनष्ट करने योग्य नहीं होती, शासन में उपेक्षणीया नहीं होती।

[तृष्टा=**ञितृष पिपासायाम्** (दिवादिः)। अनाद्या=अन्+आ+अद् (To Destroy) आप्टे; न नष्ट करने योग्या, शासन में न उपेक्षणीया। मन्त्र में भावना है ''अद्य जीवानि मा श्वः'' की (मन्त्र २)।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—[ब्राह्मण] (क्षत्रम्) क्षत्रिय-राजा को (वै) निश्चय से, (निर् नयति) राष्ट्र से बाहर निकाल देता है, (वर्चः) क्षत्रिय-राजा के वर्चस् का (हन्ति) हनन कर देता है, (आरब्धः) सब ओर लगी हुई (अग्निः इव) अग्नि के सदृश (सर्वम्) सबको (विदुनोति) उपतप्त कर देता है, जला देता है, (यः) जो क्षत्रिय-राजा कि (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ को (अन्नम् एव) अन्न ही (मन्यते) मानता है (सः) वह (तैमातस्य) जल में घुले (विषस्य) विष का (पिबति) मानो पान करता है।

[दुनोति=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)। तैमातस्य=**तिम आर्द्रीभावे** (दिवादिः)।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(न चित्तात्) अज्ञान से, (यः) जो [राष्ट्र का राजा], (देवपीयुः) ब्राह्मण-देवों की हिंसा करनेवाला तथा (धनकामः) धन की कामनावाला हुआ, (एनम्) इस ब्राह्मण को (मृदुम्, मन्यमानः) मृदु मानता हुआ, (हन्ति) इसका हनन करता है, (तस्य) उसके (हृदये) हृदय में (इन्द्रः) सम्राट् (अग्निम्) शोकाग्नि (सम् इन्धे) प्रदीप्त कर देता है, तथा (चरन्तम्) विचरते हुए (एनम्) इसके साथ

(उभे नभसी) दोनों द्युलोक-पृथिवीलोक (द्विष्टः) द्वेष करते हैं, दोनों लोकों के निवासी द्वेष करते हैं।

[ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ ब्राह्मण, राष्ट्रपति को, राष्ट्र की धन सम्पत्ति अपनाने से रोकता है, इसपर राष्ट्रपति, ब्राह्मण की हत्या करने पर उतारू हो जाता है, तब सम्राट् अर्थात् साम्राज्याधिपति उसे दण्डित कर, उसके हृदय को शोकाग्नि से सन्तप्त कर देता है। राष्ट्रपति तथा सम्राट्, यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७) इन्द्र=सम्राट् और राजा है एक राष्ट्र का अधिपति।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न ब्राह्मणो हिंसितव्यो३ऽग्निः प्रियतनोरिव।

सोमो ह्य॑स्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥

अर्थ—(ब्राह्मणः) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् (न हिंसितव्यः) हिंसा के योग्य नहीं, यह (प्रियतनोः) प्रिय तनु की (अग्निः इव) अग्नि के सदृश है। (हि) निश्चय से (अस्य) इसकी (दायादः) सम्पत्ति का अदन करनेवाला उत्तराधिकारी (सोमः) सोमयज्ञ है, और (इन्द्रः) सम्राट् (अस्य) इसका (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षक है।

[अग्निः=शरीर का तापमान, या जाठराग्नि। शरीर के तापमान के अभाव से शरीर मृत हो जाता है, जाठराग्नि के विकृत हो जाने से शरीर विकृत हो जाता है। ब्राह्मण भी राष्ट्र-शरीर तथा साम्राज्य-शरीर का अग्निरूप है। इसकी सम्पत्ति का 'दायाद' सोमयज्ञ है। सोमयज्ञ के सम्पादन में इसकी सम्पत्ति का व्यय होता है। ऐसे निःस्वार्थी और परोपकारी की रक्षा सम्राट् स्वयं करता है। उसके शरीर की रक्षा, स्वास्थ्य तथा व्यय का प्रबन्ध सम्राट् स्वयं करता है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।

अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्व१द्मीति मन्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—(शतापाष्ठाम्) सौ कीलोंवाली [इषु] को [वह राजा] (निगिरति) निगलता है, परन्तु (निः खिदन्) उसे दैन्यावस्था में करके, चबाकर, गले में प्रक्षिप्त (न शक्नोति) नहीं कर सकता, (यः मल्वः) जो मलिनचेताः या पापी (ब्रह्मणाम् अन्नम्) ब्राह्मणों के अन्न को (इति मन्यते) यह मानता है कि इसे (स्वादु) स्वादुरूप में (अद्मि) मैं खाता हूँ। [निःखिदम्=निःखिदन्; **खिद दैन्ये** (दिवादिः); **परिघातने** (तुदादिः)।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।

तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

अर्थ—(जिह्वा ज्या भवति) ब्राह्मण की जिह्वा धनुष् की डोरी हो जाती है, (वाक्) वाणी हो जाती है (कुल्मलम्, नाडीकाः) बाण का मूलभाग अर्थात् पैंदा, और नड से निर्मित बाणदण्ड (तपसा अभि दिग्धाः दन्ताः) तप से तेज हुए दाँत, बाण के अग्रभाग में लगे लोहदन्त [अथर्व० ११.१२.३] हो जाते हैं। (देवजूतैः) सब ब्राह्मण-देवों द्वारा प्रेरित, और (हृद्बलैः) हृदयों के बलों द्वारा प्रेरित (तेभिः धनुर्भिः) उन धनुषों द्वारा (ब्रह्मा) चतुर्वेद-विद् विद्वान् (देवपीयून्) ब्राह्मण देवों के हिंसकों को (विध्यति)

वेधता है।

[ब्रह्मा=चतुर्वेदों का ज्ञाता, यथा "**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्**" (ऋ० १०.७१.११), (निरुक्त १.३.८) धनुर्भिः में बहुवचन धनुषों के बहुत्व का सूचक है। दन्ताः=अथवा 'मृगो अस्या दन्ताः' (ऋ० ६.७५.११) में मृगशृङ्ग का बना दाँत।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्॥ ९ ॥

अर्थ—(तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाणोंवाले, (हेतिमन्तः) तथा अस्त्रोंवाले (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान्, (याम्, शरव्याम्) जिस शरसमूह को या घातक अस्त्र को (अस्यन्ति) फैंकते हैं (सा) वह (मृषा न) व्यर्थ नहीं होते, [ब्राह्मण के] (तपसा, मन्युना च) तप द्वारा और मन्यु द्वारा (अनु हाय) पीछे-पीछे जाकर, (उत) तथा (दूरात्) दूर से (एनम्) इस राजा को (अव भिन्दन्ति) ये इषु और अस्त्र छिन्न-छिन्न कर देते हैं।

[अनुहाय-अनु+**ओहाङ् गतौ** (जुहोत्यादिः)। शरव्या=**शॄ हिंसायाम्** (क्र्यादिः)। शरव्या शरसंहतीः (सायण), (अथर्व० १.१९.१)। ब्राह्मणाः में बहुवचन ब्राह्मण-संघ का निर्देशक है। केवल एक ब्राह्मण का नहीं।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत। ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्॥ १० ॥

अर्थ—(ये) जिन (सहस्रम्) हज़ारों ने (अराजन्) राज्य किया, (उत) तथा जो (दशशताः) 'दस-सौ' (आसन्) थे, (ते) वे (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् की (गाम्) परामर्शवाणी को (जग्ध्वा) खाकर [विनष्ट कर, उपेक्षित कर] (वैतहव्याः) अदन-योग्य अन्न से वञ्चित होकर, (पराभवन्) पराभूत हो गये।

[ब्राह्मण की परामर्शवाणी को उपेक्षित कर वैतहव्य, प्रजा द्वारा अन्नखाने से भी वञ्चित कर दिये गये और पराभूत भी हुए, राज्य से भी वञ्चित कर दिये गये। **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। वैतहव्याः= विगत+**हु अदने** (जुहोत्यादिः)। वैतहव्याः=वीतहव्य+अण् (स्वार्थे)। दशशताः का अभिप्राय है सौ-सौ की संख्या में दस बार पराभूत हुए (मन्त्र १२)।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गौरेव तान्हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत्। ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन्॥ ११ ॥

अर्थ—(हन्यमाना) हत हुई (गौः एव) परामर्शवाणी ने ही (तान्) उन (वैतहव्यान्) अदनयोग्य अन्न से वञ्चित हुओं को (अवातिरत्) गद्दी से उतार दिया है, (ये) जिन्होंने कि (केसरप्राबन्धायाः) शिरोधार्य परामर्शवाणी की (चरमाजाम्) अन्तिम क्रियाशक्ति को (अपेचिरन्) नष्ट कर दिया है।

गौः वाङ्नाम (निघं० १.११)। वैतहव्यान् (मन्त्र १०) केसरप्राबन्धायाः=के (सिर में)+सर (विचरने) वाले मुकुट को+प्राबन्धायाः (बाँधनेवाली परामर्शवाणी की। चरमाजाम्=चरम (अन्तिम)+अजाम् (**अज गतौ,** भ्वादिः) क्रियाशक्ति को। अपेचिरन्=विकृत कर दिया है। किसी वस्तु को जब अग्नि पर पकाया

जाता है तब उसका वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जाता है, विकृत हो जाता है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥ १२॥

अर्थ—(ताः) वे (एकशतम्) एक-सौ-एक या एक-सौ (जनताः) जनताएँ थीं, (याः) जिन्हें (भूमिः) भूमि ने (व्यधूनुत) कँपा दिया। (प्रजाम्, हिंसित्वा ब्राह्मणीम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ प्रजा की हिंसा करके वे (असम्भव्यम्) असम्भवनीय (पराभवन्) पराजय को प्राप्त हुए।

[ब्राह्मणी प्रजा है ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों का समूह। एकशतम्=वैदिक दृष्टि में मनुष्य की आयु १०१ वर्षों की है। एक वर्ष माता के उदर में,और १०० वर्ष जन्म लेने के पश्चात्। इस दृष्टि से जनताओं को भी सम्भवतः १०१ कहा[1] हो। अथवा 'एक सौ' यथा 'दशशताः' (मन्त्र १०); इस अर्थ में गर्भस्थ वर्ष नहीं गिना। ब्रह्मज्ञों और वेदज्ञों के अभाव में उनकी परामर्श वाणी के न मिलने से भूमि जनताओं के राजाओं को पराभूत कर देती है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥ १३॥

अर्थ—(देवपीयुः) ब्राह्मण देवों की हिंसा करनेवाला राजा (गरगीर्णः) विष खाया हुआ, (अस्थिभूयान्) अस्थिप्राय अर्थात् अस्थियों का ढाँचा [अस्थिपञ्जर] (भवति) ही होता है, और (मर्त्येषु) मर्त्य-प्रजाओं में (चरति) विचरता है, (यः) जोकि (देवबन्धुम्) देवों के बन्धु (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की (हिनस्ति) हिंसा करता है, (सः) वह राजा (पितृयाणम्) माता-पिता आदि द्वारा प्रापणीय (लोकम्) गृहस्थलोक को (अपि) भी (न एति) नहीं प्राप्त करता।

[पितृयाणम्=पितृयाणम् पद के साथ प्रायः 'पथ' शब्द का कथन होता है। 'लोक' का नहीं। पितृलोकम् द्वारा गृहस्थलोक प्रतीत होता है। ब्राह्मण की हत्या करनेवाला राजा न तो गृहस्थ को प्राप्त कर पाता है, यदि प्राप्त किया हुआ भी हो तो दण्डरूप में गृहस्थ जीवन से वञ्चित कर दिया जाता है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते। हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद्वेधसो विदुः॥ १४॥

अर्थ—(वै) निश्चय से (नः) हमारा (पदवायः) पथ-प्रदर्शक है (अग्निः) यज्ञियाग्नि, और (सोमः) सोमयज्ञ है (दायादः) दाय का आदान करनेवाला उत्तराधिकारी पुत्र। (हन्ता) [हमारे शत्रु का] हनन करनेवाला और (अभिशस्ता) उसकी हिंसा करनेवाला है (इन्द्रः) सम्राट्, (तथा) इस प्रकार (तत्) उसे (वेधसः) मेधावी पुरुष (विदुः) जानते हैं।

[**वेधाः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। निरीह और परोपकारी ब्रह्मवेत्ता का रक्षक सम्राट् स्वयं होता है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते। सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः॥ १५॥

---

१. वस्तुतः एकशतम्=एक सौ, यथा दशशताः=दससौ (मन्त्र १०)। इस प्रकार दोनों के अर्थों में अनुरूपता हो जाती है।

अर्थ—(नृपते) हे नरों के पति! (इषुः इव) बाण की तरह (दिग्धा) विष-सम्पृक्त; तथा (गोपते) हे पृथिवी के पति या गौओं के पति! [राजन्] (पृदाकूः इव) तथा सर्पिणी की तरह विषैली (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ की (सा) वह परामर्श वाणी, (घोरा) घोर है, (तया) उस द्वारा (पीयतः) हिंसक को (विध्यति) वह ब्राह्मण बींधता है।

[दिग्धा=**दिह उपचये** (अदादिः)। पृदाकूः=सर्पिणी। पीयतः=**पीयतिर्हिंसाकर्मा** (निरुक्त ४.४.२५, "चयसे" पद (५८) की व्याख्या में)। गोपते=**गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। तथा **गोपशुनाम** (प्रसिद्ध)। राजा को गोपति कहा है, गौओं का रक्षक, न कि भक्षक, अतः सूक्त में गौः परामर्श वाणी है, न कि गोपशु। मन्त्र में 'नृपते' द्वारा यह भी स्पष्ट है कि समग्र सूक्त में ब्राह्मण और राजा के पारस्परिक व्यवहार का वर्णन है।]

सूक्त १९

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्। भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन्॥ १ ॥

अर्थ—[वे] (अतिमात्रम् अवर्धन्त) अतिमात्रा में वृद्धि को प्राप्त हुए, (न, उत्, इव) मानो न केवल इतनी वृद्धि है। [अपितु] (दिवम्) द्युलोक का भी उन्होंने (अस्पृशन्) स्पर्श कर लिया, (भृगुम्) परन्तु परिपक्व बुद्धिवाले ब्रह्मज्ञ की (हिंसित्वा) हिंसा करके, (सृञ्जयाः) सृञ्जय क्षत्रिय, (वैतहव्याः) खाद्य अन्न से भी विगत होकर, (पराभवन्) पराभूत हो गये, पराजित हो गये।

[मन्त्र में 'सृञ्जय-क्षत्रियों' का वर्णन है। 'सृञ्जयाः' का अभिप्राय है "समीपसरण की हुई शत्रु सेना पर विजय पानेवाले क्षत्रिय।" ये क्षत्रिय स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करते, परन्तु शत्रु की सेना आक्रमण कर यदि इनके राष्ट्र के समीप पहुँचती है, तो आत्मरक्षार्थ, वे उसपर आक्रमण करके उसपर विजय प्राप्त कर लेते हैं। सृञ्जयाः=सृत्+जयाः। सृत्=सृ+क्विप्+तुक्+जयाः। अर्थात् सरण कर आनेवाली शत्रुसेना को जीतनेवाले क्षत्रिय।

भृगुम्=**भ्रस्ज पाके** (तुदादिः), मन में परिपक्व, अर्थात् विचार में परिपक्व। यथा "**अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, भृगुः भृज्यमानः, न देहे**" (निरुक्त ३.३.१७), अर्थात् भृगुः अर्चिः में प्रकट हुआ, भृगु है भृज्यमान, अर्थात् परिपक्व हुआ, [मन से परिपक्व] न कि, देह में। अर्चिः का अभिप्राय है ज्ञानार्चिः, ज्ञानज्योतिः। अर्थात् '**भृजी भर्जने**' (भ्वादिः)। अस्पृशन्=स्पर्श किया, दिव् तक पहुँच गये। यह कथन काल्पनिक नहीं, अपितु यथार्थ है। वैज्ञानिक वृद्धि, इन्होंने इतनी की कि 'सृञ्जय', वैज्ञानिक-कलायन्त्रों की सहायता द्वारा द्युलोक तक पहुँच गये। वर्तमान में भी 'वैज्ञानिक' चन्द्रलोक तक सशरीर पहुँच चुके हैं और ग्रहों तथा ग्रहों के ऊपर आकाशगङ्गा तक का परिचय कलायन्त्रों द्वारा प्राप्त कर रहे हैं।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**विराट् पुरस्ताद्बृहती** ॥

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन्ब्राह्मणं जनाः।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत्॥ २ ॥

अर्थ—(ये) जो (जनाः) प्रजा के जन या अधिकारीजन (बृहत्सामानम्) बड़ी शान्तिवाले तथा (आङ्गिरसम्) [राष्ट्र के लिए] प्राणरूप (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् को (आर्पयन्) कष्ट

पहुँचाते हैं, (अविः) सर्वरक्षक ब्राह्मण, (तेषाम्) उन प्रजा के जनों या अधिकारीजनों सम्बन्धी, (उभयादम्) दोनों अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस को खा जानेवाले, नष्ट कर देनेवाले—राजा को तथा (तोकानि) उसके अपत्यों को [ब्राह्मण] (आवयत्) पूर्णतया परास्त करता है, जैसेकि (पेत्वः) पतन अर्थात् आक्रमण-कारी मेष [निज प्रतिद्वन्द्वी मेष पर] आक्रमण कर उसे परास्त करता है।

[आङ्गिरसम्="**आङ्गिरसोऽङ्गानां रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः**" (बृहद् उप० १.३.१९)। आर्पयन्[1]=कष्ट पहुँचाते हैं। तोकानि=अपत्यानि "**तोकम् अपत्यनाम**" (निघं० २.२)। आवयत्=आ+**वी, गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु** (अदादिः), मन्त्र में 'असन' अर्थात् 'परास्त करना' अर्थ अभिप्रेत है। **यत्वः मेषः** (अथर्व० ४.४.८, सायण)। पेत्वः पतनशीलः आक्रमणशीलः। मन्त्र में ब्राह्मण को शान्त[2] स्वभाववाला और प्रजाजन तथा अधिकारीजनों को क्रोधी स्वभाववाला दर्शाया है। ब्राह्मण सात्त्विक कर्मों, त्याग और परोपकार का उपदेश करता है, जोकि प्रजाजन और अधिकारियों के स्वार्थ के अनुकूल नहीं, अतः वे ब्राह्मण को कष्ट पहुँचाते हैं। मेषः=स्पर्धाशील मेढा। **मिष स्पर्धायाम्** (तुदादिः)।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे।

अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान्खादन्त आसते॥ ३॥

अर्थ—(ये) जो (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् के (प्रत्यष्ठीवन्) प्रति थूकते हैं, या उसकी प्रतिकूलता में स्थित होते हैं, (वा) या (ये) जो (अस्मिन्) इसपर (शुल्कम्) 'कर' (ईषिरे) लगाना चाहते हैं, (ते) वे (अस्नः) रुधिर [असृक्] की (कुल्यायाः मध्ये) नहर के बीच (केशान् खादन्तः) परस्पर के केशों को नोचते हुए (आसते) रहते हैं।

[ब्राह्मणों के प्रति थूकना उनके प्रति घृणा तथा अपमान-प्रदर्शन करना है तथा जिनका दायाद (१८.१४) सोमयज्ञ है, जिनका धन प्रजा के उपकार के लिए है, उनपर 'कर' लगाना—ये दोनों अपराधरूप हैं। प्रजा इसे सहन न कर अधिकारियों के विरोध में विप्लव पर उतारू होकर, पारस्परिक युद्ध में रुधिर प्रवाहित करती और क्लेश भोगती रहती है। ईषिरे=**इषु इच्छायाम्** (तुदादिः)।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि विजङ्गहे।

तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा॥ ४॥

अर्थ—(ब्रह्मगवी) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की परामर्शवाणी, (पच्यमाना) सताई हुई, (सा) वह (यावत्) जब तक (अभि विजङ्गहे) इधर-उधर विलोड़ित होती रहती है, (राष्ट्रस्य तेजः) तब तक राष्ट्र के तेज को (निर्हन्ति) वह हनन करती रहती है और राष्ट्र में (वीरः) वीर-सन्तान या वीर योद्धा तब तक (वृषा) सुखवर्षी (न जायते) नहीं उत्पन्न होता।

[विजङ्गहे=**गाहू विलोडने** (भ्वादिः)। गवी; **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)।]

---

१. "ऋ" धातु कष्टार्थक भी है, यथा "आर्तिः, आर्तः, आर्तनादः।"

२. सामानम्=शान्तिवाला। साम=शान्ति, यथा "साम, दान, दण्ड, भेद।"

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।

क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्बिषम्॥ ५॥

अर्थ—(अस्याः) इस गवी [गौः] का (आशसनम्) काटना (क्रूरम्) क्रूर कर्म है, (पिशितम्) मांस (तृष्टम्) तृषाजनक है [जबकि खाने के लिए] (अस्यते) इसका आदान किया जाता है; (यद्) जो (अस्याः) इसका (क्षीरम्) दूध (पीयते) हिंसित किया जता है [गौओं की हिंसा करके] दूध में कमी कर दी जाती है, (तत्) वह त्रिविधकर्म (वै) निश्चय से (पितृषु) वैदिक बुजुर्गों में तथा विधिविधायक राजसभा और लोकसभा को संसदों में (किल्बिषम्) पाप माना है।

[तृष्टम्=**ञितृष् पिपासायाम्** (दिवादिः)। अस्यते=**अस गति-दीप्त्यादानेषु** (भ्वादिः) में आदान अर्थ मन्त्र में है। पीयते=''**पीयतिः हिंसाकर्मा** (निरुक्त ४.४.२५; तथा शब्द 'चयते' (५८)।'' पितृषु=पिताओं में यथा ''**चारु वदानि पितरः संगतेषु** (अथर्व० ७.१३.१)] इस प्रकार वेदों में गौ का काटना, उसके मांस को खाना और गौओं की संख्या को कम कर उनके दूध में क्षति पहुँचाना वेद-विरुद्ध दर्शाया है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।

परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥ ६॥

अर्थ—(यः) जो (उग्रः राजा) उग्र राजा (मन्यमानः) अभिमानी होकर (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ को (जिघत्सति) खाना चाहता है, (तत् राष्ट्रम्) वह राष्ट्र (परासिच्यते) कष्टों की नदी में प्रवाहित हो जाता है (यत्र) जिस राष्ट्र में कि (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (जीयते) वयोहानि को पहुँचाया जाता है।

[जीयते=**ज्या वयोहानौ** (क्र्यादिः)। जिघत्सति=**घस्लृ अदने**।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती** ॥

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः।

द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य॥ ७॥

अर्थ—[ब्रह्मगवी (मन्त्र ४)] (अष्टापदी) आठ पदोंवाली, (चतुरक्षी) चार आँखोंवाली, (चतुःश्रोत्रा) चार, श्रवणशक्ति-सम्पन्न, कानोंवाली, (चतुर्हनुः) चार जबाड़ोंवाली, (द्व्यास्या) दो मुखोंवाली, (द्विजिह्वा) दो जिह्वाओंवाली (भूत्वा) होकर, (सा) वह (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ के वयोहानि पहुँचानेवाले राजा के (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अव धूनुते) कँपा देती है।

[प्रकरण के अनुसार ब्रह्मगवी है ब्रह्मज्ञ-और-वेदज्ञ की परामर्शवाणी। मन्त्र में वेदवाणी और ब्रह्मज्ञवाणी में तादात्म्य दर्शाया है। ब्रह्मज्ञ वही परामर्शवाणी कहेगा जोकि वेदवाणी के अनुकूल हो। अतः इन दोनों में तादात्म्य उचित ही है। वेदवाणी अष्टापदी है। यथा ''**वाचमष्टापदीमहं नवस्त्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात् परितन्वं ममे।**'' (अथर्व० २०.४२.१)। इस मन्त्र में वेदवाणी को अष्टापदी अर्थात् आठ पदोंवाली कहा है। यथा द्विविध 'नाम' (सर्वनाम और असर्वनाम); द्विविध आख्यात (परस्मैपद और आत्मनेपद); द्विविध उपसर्ग क्रियायुक्त तथा स्वतन्त्र [केवल वेद में]; द्विविध 'निपात' (उपमार्थीय तथा

कर्मोपसंग्रहार्थीय)। निरुक्त में पादपूर्ण अर्थात् निरर्थक निपात भी कहे हैं जोकि वेद में अनर्थक नहीं माने जा सकते। इस प्रकार व्याख्येय मन्त्र में अष्टापदी वेदवाणी है न कि पशु-गौ। पशु-गौ आठ पैरोंवाली, चार आँखोंवाली, चार कानोंवाली, चार हनुओंवाली, द्विमुँही तथा द्विजिह्व नहीं हो सकती। एक व्याख्याकार ने गौ को गर्भवती मानकर अष्टापदी आदि की व्याख्या की है। जब वेद ने स्पष्ट रूप में अष्टापदीम् को 'वाचम्' कहा है तब गर्भवती गौ की व्याख्या मन्त्र में हुई है, यह कथन सर्वथा असंगत प्रतीत होता है।

वेदवाणी अष्टापदी है, इसकी व्याख्या हो चुकी है। वह चतुरक्षी है चार वेदों द्वारा, वह चतुःश्रोत्रा है, यतः उसका श्रवण करनेवाले चार हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वह द्विजिह्वा[१] है, जिह्वा का काम है वस्तुवर्णन, वेदवाणी दो का वर्णन करती है, अभ्युदय और निश्रेयस का, या जड़जगत् का और प्राणिजगत् का। द्व्यास्या और चतुर्हनुः[२] के अभिप्राय यथामति ऊहित कर लेने चाहिएँ।]

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।

ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥ ८॥

अर्थ—(तद्, वै, राष्ट्रम्) निश्चय से उस राष्ट्र में (दुच्छुना) दुर्गति (आस्रवति) बह आती है, (इव) जैसेकि (भिन्नाम्) विदीर्ण हुई (नावम्) नौका में (उदकम्) उदक। (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्रह्माणम्) चतुर्वेद-वेत्ता की (हिंसन्ति) राष्ट्राधिकारी हिंसा करते हैं, (तद् राष्ट्रम्) उस राष्ट्र का (हन्ति) हनन करती है, (दुच्छुना) दुर्गति।

[दुच्छुना=दुःशुना; दुः+**शुन गतौ** (तुदादिः), दुर्गतिः।

ऋषिः—**मयोभूः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति।

यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते॥ ९॥

अर्थ—(नारद) हे 'आपः' के सदृश शान्तिदायक परमेश्वर! (यः) जो (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ के (सद्-धनम्) सच्चे धन को (अभिमन्यते) अभिलक्ष्य कर उसे स्तम्भित कर देता है, (तम्) उसे (वृक्षाः) वृक्ष (अप सेधन्ति) परे हटा देते हैं (इति) यह कहकर कि (नः छायाम्) हमारी छाया के (उप) समीप (मा गाः) तू गमन न कर।

[नारद=नार+द; नाराः=आपः (मनु० १.१०), यथा "**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।**" सद्धनम्=सत्परामर्शवाणी। मन्यते=**मन स्तम्भे** (चुरादिः)। स्तम्भः=रोक देना, कार्यकारी न होने देना। वर्णन कविता की भाषा में है, वृक्ष बोल नहीं सकते।

---

१. यथा "**अन्नं वै प्राणिनां प्राणः**" में अन्न है कारण और प्राण है कार्य, प्राण के प्राणत्व धर्म का आरोप कारणरूप अन्न में हुआ है, इसी प्रकार वर्णनीय वस्तु के द्वैविध्य की दृष्टि से कारणभूत जिह्वा को द्विजिह्वा कहा है। कार्य के द्वैविध्य का आरोप कारण में हुआ है।

२. चतुर्हनुः=अथवा "काम, क्रोध, लोभ, मोह,"—ये चार वर्जनीय हैं, हन्तव्य हैं। वेद के चार सदुपदेश "हनु" रूप हैं। हनुः=**हन हिंसायाम्** (अदादिः), वे इन चारों का हनन करते हैं। ब्रह्मचर्य हनन करता है काम का, सोम अर्थात् सौम्य भाव हनन करता है क्रोध का, "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" अर्थात् त्यागपूर्वक जीवन हनन करता है लोभ का और यथार्थ ज्ञान हनन करता है मोह का।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषमेतद्देवकृतं राजा वरुणोब्रवीत्।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन॥ १०॥

अर्थ—(राजा, वरुणः, अब्रवीत्) राजा वरुण बोला कि (एतत्) यह [सद्धन का स्तम्भन] (विषम्) विषरूप है, (देवकृतम्) जोकि परमेश्वर देव द्वारा निश्चित किया गया है। (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की (गाम्) परामर्शवाणीरूपी गौ को (जग्ध्वा) खाकर [विनष्ट कर, उपेक्षित कर] (राष्ट्रे) राष्ट्र में (कश्चन) कोई भी [राजा] (न जागार) नहीं जागा, नहीं जीवित रहा।

[राष्ट्र पद द्वारा राष्ट्र-गति का वर्णन मन्त्र में हुआ है। वरुण राजा है साम्राज्य के किसी एक राष्ट्र का अधिपति, जिसने कि मन्त्र भावना को अभिव्यक्त किया है, "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७।)]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥ ११ ॥

अर्थ—(ताः) वे (नव एव नवतयः) ९×९० ही जनताएँ थीं (याः) जिन्हें (भूमिः व्यधूनुत) भूमि ने कँपा दिया, वे (ब्राह्मणीम्) ब्रह्मज्ञा और वेदज्ञा रूपी (प्रजाम्) प्रजाओं की (हिंसित्वा) हिंसा करके (असम्भव्यम्) असम्भावनीय (पराभवन्) पराजय को प्राप्त हुईं।

[देखो अथर्व० (५.१८.१२), इसमें १०१ संख्या का कथन हुआ है और (व्याख्येय मन्त्र ११) में ९×९० अर्थात् ८१० का। उभयत्र संख्याएँ रहस्यमयी हैं।]

नव नवत्यः='नव' नई-नई, परमेश्वर की सत्ता से, 'न+वत्यः' इन्कार करनेवालीं, नास्तिक जनताएँ। इन्हें भूमि ने कँपा दिया। नवत्यः=न+मतुप्, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन। नव=नई-नई।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम्। तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन्॥ १२ ॥

अर्थ—(कूद्यम्) कुत्सित आवाज करनेवाली, (पदयोपनीम्) पैरों को संज्ञाशून्य कर देनेवाली (याम्) जिस बेड़ी को (मृताय) मृत्युदण्ड के लिए (अनु) निरन्तर (बध्नन्ति) बाँधते हैं, (ब्रह्मज्य)ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ के जीवन को हानि पहुँचानेवाले हे राजन्! (देवाः) राष्ट्र के दिव्य न्यायाधीशों ने (वै) निश्चय से (तद्) उसे (ते) तेरे लिए (उपस्तरणम्) बिछौना (अब्रुवन्) [दण्डरूप में] कहा है। [इससे अतिरिक्त और बिछौना नहीं।]

[कूद्यम्=कु+उद्यम् (वद्)। पदयोपनीम्=पद+युप (**विमोहने,** मोहनम् वैचित्र्यम्, चेतनाशून्यत्वम्)। देवाः=न्याय में फैसला देनेवाले। इन्हें सभाचरः, तथा न्यायालय को सभा कहा है। यथा '**धर्माय सभाचरम्**' (यजुः० ३०.६); धर्म है न्यायव्यवस्था; सभा है न्याय करनेवालों की, सभाचर है मुख्य न्यायाधीश। मन्त्र में दण्ड का विधान हुआ है, जोकि न्यायाधीश द्वारा होता है।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥ १३ ॥

अर्थ—(कृपमाणस्य) कृपा के पात्र बने, (जीतस्य) जीवनहानि पहुँचाये गये [ब्राह्मण के] (यानि अश्रूणि) जो आँसू (वावृतुः) प्रवृत्त हुए हैं, (ब्रह्मज्य) ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुँचानेवाले हे राजन्! (वै) निश्चय से (तम् अपां भागम्) उस अश्रुरूप जल-भाग को (ते) तेरे लिए (देवाः) दिव्य, न्यायाधीशों ने (अधारयन्) निर्धारित किया है [तुझे भी रोदन-दण्ड दिया है]।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

येन॑ मृ॒तं स्न॒पय॑न्ति॒ श्मश्रू॑णि॒ येनो॒न्दते॑। तं वै ब्र॑ह्मज्य ते दे॒वा अ॒पां भा॒गम॑धारयन्॥ १४॥

अर्थ—(येन) जिस [जल] द्वारा (मृतम्) मरे हुए को (स्नपयन्ति) स्नान कराते हैं, (येन) जिस द्वारा (श्मश्रूणि) मूँदों के बालों [रोमों] को व्यक्ति (उन्दते) गीला करता है, (ब्रह्मज्य) ब्राह्मण के जीवन को हानि पहुँचानेवाले हे राजन्! (वै) निश्चय से (तम्, अपां भागम्) उस जल-भाग को (ते) तेरे लिए (देवाः) दिव्य न्यायाधीशों ने (अधारयन्) निर्धारित किया है।

[देवाः (मन्त्र १२ की व्याख्या देखो)। अभिप्राय यह कि हे राजन्! तेरी मूँछ-दाढ़ी को मूँडकर, तुझे मृत्युदण्ड रूप में मारकर, मृत्यु-स्नान कराया जाएगा।]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न व॒र्षं मै॑त्रावरु॒णं ब्र॑ह्म॒ज्यम॒भि व॑र्षति। नास्मै॒ समि॑तिः कल्पते॒ न मि॒त्रं न॑यते॒ वश॑म्॥ १५॥

अर्थ—(ब्रह्मज्यमभि) ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ के जीवन को हानि पहुँचानेवाले को (अभि) लक्ष्य करके (मैत्रावरुणम्) मित्र और वरुण सम्बन्धी (वर्षम्) सुख-वर्षा (न वर्षति) नहीं बरसती, [नहीं होती], (न) और न (अस्मै) इनके लिए (समितिः) अपनी राजसभा (कल्पते) सामर्थ्यवती होती है, (न) तथा न (मित्रम्) मित्र-राजा को (वशम्) वश में (नयते) ला सकता है [स्वानुकूल कर सकता है]।

[**ज्या वयोहानौ** (क्र्यादिः)। मैत्रावरुणम्=मित्र है मित्र-राजा, यथा "an ally the next neighbour of king" (आप्टे) अर्थात् साथी, जोकि साथ लगे राष्ट्र का अधिपति है; और वरुण है सम्राट् के साम्राज्य का अङ्गभूत राष्ट्रपति। ये दोनों जब सम्राट् के सहयोगी होते हैं तब साम्राज्य और इन राष्ट्रों पर जो सुख-वर्षा होती है वह ब्रह्मज्य-राजा के राज्य पर नहीं होती। समितिः=राजसभा (अथर्व० ८.१०.१०,११)। तथा (यजुः० १२.८०) मन्त्र से प्रतीत होता है कि सूक्त १८, १९ में वर्णित ब्राह्मण, उसकी, गौ, और राजा का वर्णन, राजनीतिक तत्त्वों के परिज्ञानार्थ हुआ है।]

सूक्त २०

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

उ॒च्चैर्घो॑षो दुन्दु॒भिः स॑त्वना॒यन्वा॑नस्प॒त्यः संभृ॑त उ॒स्रिया॑भिः।
वाचं॑ क्षुणु॒वानो॑ द॒मय॑न्त्स॒पत्ना॑न्त्सिं॒ह इ॑व जे॒ष्यन्न॒भि तं॑स्तनीहि॥ १॥

अर्थ—(वानस्पत्यः) वनस्पति अर्थात् काष्ठ-निर्मित, (उस्रियाभिः) गौ के चर्म तथा आँतों और स्नायुओं द्वारा (संभृतः) परिपोषित, (उच्चैः घोषः) ऊँची आवाजवाला (दुन्दुभिः) ढोल है, (सत्वनायन्[1]) बली सैन्यदल के साथ युद्ध में जाता हुआ (वाचम्) वाणी या आवाज़ को (क्षुणुवानः) करता हुआ, (सपत्नान्) शत्रुओं का (दमयन्) दमन करता हुआ, (जेष्यन्) विजय प्राप्त करता हुआ, (सिंहः इव)

१. युद्धस्थली में ढोल की विशेष प्रकार की आवाज़ से योद्धाओं में जोश पैदा हो जाता है, यह ही सत्त्व है, बल है।

सिंह के सदृश (तंस्तनीहि) गर्ज (स्तनयित्नुवत्)।

[**उस्रा गोनाम** (निघं० २.११), उस्रियाः तदवयवाः। सत्वनायन्=सत्व (बल+णीञ्) (**प्रापणे**)+णिच्+शतृ। अथवा 'सत्वना अयन्'=बल के साथ आता हुआ। क्षुणुवानः=**टुक्षु शब्दे** (अदादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।

वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः॥ २॥

अर्थ—(द्रुवयः) काष्ठनिर्मित, (विबद्धः) विशेषरूप में चर्म आदि द्वारा बँधा हुआ दुन्दुभि (सिंहः इव) सिंह के सदृश (अस्तानीत्) गर्जा है, और (वासिताम्) विशेष गन्धवाली[1] गौ के (अभि) सम्मुख (ऋषभः इव) जैसे बैल (क्रन्दन्) शब्द करता हुआ जाता है [वैसे तू शत्रु की ओर जा]। [हे दुन्दुभि!] (त्वम्) तू (वृषा) शक्तिशाली है, (ते) वे (सपत्नाः) शत्रु (वध्रयः) बधिया हैं, शक्तिरहित हैं, (ते) तेरा (शुष्मः) शोषक बल (ऐन्द्रः) विद्युत का है, (अभिमातिषाहः) जोकि अभिमानियों का पराभव करता है।

[**शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।

शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु शत्रवः॥ ३॥

अर्थ—(यूथे) गौओं के समूह में (सहसा) बल द्वारा (विदानः) जाने गये (वृषा इव) बैल के सदृश जाना गया तू [हे दुन्दुभि!] (गव्यन्) शत्रुओं की पृथिवी को चाहता हुआ तथा (संधनाजित्) उनके धनों को जीतता हुआ (रुव) शब्द कर। (परेषाम्) शत्रुओं के (हृदयम्) हृदय को (शुचा) शोक द्वारा (विध्य) बींध, (प्रच्युताः) खदेड़े हुए (शत्रवः) शत्रु (ग्रामान् हित्वा) ग्रामों को छोड़कर (यन्तु) चले जाएँ। [गव्यन्=**गौः पृथिवी नाम** (निघं० १.१)। संधना=सं धनानि, उनका परस्पर मिला-धन, समग्र धन।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

संजयन्पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व।

दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः॥ ४॥

अर्थ—(ऊर्ध्वमायुः) ऊँची आवाज़वाला तू (पृतनाः) सेनाओं को (संजयन्) जीतता हुआ, (गृह्या) पकड़ने योग्य सेनाओं को (गृह्णानः) पकड़ता हुआ, (बहुधा) बहुत प्रकार से (विचक्ष्व) [सेना का] निरीक्षण कर। (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! (दैवीम्) विजिगीषुओं की (वाचम्) वाणी को (आ गुरस्व) सब ओर बोलने का उद्यम कर, (वेधाः) बींधनेवाला तू (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (वेदः) धन को (उप) अपने समीप (भरस्व=हरस्व) ले-आ।

[**चक्ष्व=पश्यतिकर्मा** (निघं० ३.११)। दैवीम्=**दिवु क्रीडाविजिगीषा** आदि (दिवादिः), युद्ध में

१. गर्भ चाहनेवाली गौ के मूत्र से विशेष प्रकार की गन्ध आती है, इसे सूँघकर बैल उसकी ओर शब्द करता हुआ आता है।

'दुन्दुभि' विजिगीषा की ध्वनिवाला होना चाहिए जिससे योद्धाओं में जोश का संचार हो। गुरस्व=**गुरी उद्यमने** (तुदादिः) **वेदः धनम्** (निघं० २.१०)। मायुः=**माङ् माने शब्दे च** (जुहोत्यादिः)। वेधाः=**व्यध ताडने** (दिवादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।

नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥ ५॥

अर्थ—(प्रयताम्) लगातार या प्रयत्नपूर्वक होती हुई, (दुन्दुभेः) दुन्दुभि की (वदन्तीं वाचम्) गर्जती हुई वाणी को (आशृण्वती) लगातार सुनती हुई, (नाथिता) सहायता चाहनेवाली, (घोषबुद्धा) दुन्दुभि के या युद्ध के घोष के कारण जागी हुई, (वधानां समरे भीता) आयुधों के युद्ध में भयभीत हुई, (अमित्री नारी) शत्रु की नारी (पुत्रम्) पुत्र को (हस्तगृह्य) हाथ से पकड़कर (धावतु) दौड़ जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः।

अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद्वद दुन्दुभे सूनृतावत्॥ ६॥

अर्थ—(दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! (पूर्वः) पहले तू (वाचम्) [सौम्य] वाणी को (प्रवदासि) बोल, [तत्पश्चात्] (रोचमानः) रुचिकर होता हुआ (भूम्याः पृष्ठे) युद्धभूमि की पीठ पर (वद) युद्ध सम्बन्धी आवाज़ कर, (अमित्रसेनाम्) शत्रु की सेना को (अभिजञ्जभानः) छिन्न-भिन्न करता हुआ। [तत्पश्चात्] (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! (द्युमत्) मोद-प्रमोदवाली, (सूनृतावत्) सत्य और प्रिय (वद) वाणी बोल।

[मन्त्र में दुन्दुभि के बोलने के तीन प्रक्रम कहे हैं—(१) युद्धारम्भ से पूर्व दुन्दुभि की आवाज; यह शत्रु को चेताने के लिए है। (२) युद्धभूमि में की गई आवाज; युद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर निज सैनिकों को जोश दिलाने वाली आवाज। (३) विजय पाकर प्रसन्नता की आवाज जोकि प्रिय लगे, और विजय की सचाई को सूचित करे। द्युमत्=**दिवु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति 'मोद'** (दिवादिः)। मोद=प्रसन्नता।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीभम्।

अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी॥ ७॥

अर्थ—(इमे नभसी) इन दोनों द्युलोक और पृथिवी लोक के (अन्तः) भीतर (घोषः) विजयघोष (अस्तु) हो, (ते) तेरी (पृथक्) पृथक् अर्थात् नानाविध (ध्वनयः) ध्वनियाँ (शीभम्) शीघ्र (यन्तु) प्रवृत्त हों। (अभिक्रन्द) हे दुन्दभि! तू क्रन्दन कर, (स्तनय) गर्जना कर, (उत् पिपानः) शत्रु का शोषण करता हुआ, या स्वजनों की रक्षा करता हुआ, (श्लोककृत्) निज विजय के यश को बढ़ाता हुआ, (स्वर्धी) निज सैनिकों की ऋद्धि करनेवाला (मित्रतूर्याय) मित्र राजाओं [की सहायता] द्वारा शत्रुओं के विनाशार्थ।

[पृथक्-नानाविध ध्वनियाँ (मन्त्र ६) **शीभम् क्षिप्रनाम** (निघं० २.१५), विजय होने पर विजय की ध्वनियाँ तत्काल होनी चाहिएँ। उत्पिपानः=उत्+**पै, शोषणे** (भ्वादिः) अथवा **पा रक्षणे**। श्लोक=यश,

कीर्त्ति। स्वर्धीः=उत्तम ऋद्धि करनेवाला।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि।

इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि॥ ८॥

अर्थ—(धीभिः) बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा (कृतः) निर्मित [दुन्दुभि] (वाचम् प्रवदाति) ऊँची आवाज करे [हे दुन्दुभि] (सत्वनाम्) बलशाली सैनिकों के (आयुधानि) युद्ध करने के शस्त्रास्त्रों को (उद्धर्षय) चमका [युद्ध में प्रेरित कर]। (इन्द्रमेदी) सम्राट् का स्नेही मित्र तू (सत्वनः) बलशाली शत्रु सैनिकों का (नि ह्वयस्व) नितरां आह्वान कर, (मित्रैः) मित्रराजाओं द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं का (अव जङ्घनीहि) अवहनन कर।

[धीभिः=**धी प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९); तथा **कर्मनाम** (निघं० २.१)। इन्द्रमेदी=**इन्द्रः सम्राट्** (यजुः० ८.३७)+**मिद स्नेहने**। मित्रैः=मित्रराजभिः (मन्त्र ७)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद्बहुधा ग्रामघोषी।

श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान्कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे॥ ९॥

अर्थ—(सं क्रन्दनः) सम्यक्-क्रन्दन करनेवाला, (धृष्णुषेणः) धर्षण करनेवाली सेनावाला, (प्रवेदकृत्) ठीक सूचनाएँ देनेवाला, (बहुधा) बहुत प्रकार से (ग्रामघोषी) ग्राम-ग्राम में युद्ध की घोषणा करनेवाला तू (प्रवदः) ठीक प्रकार के कथन करनेवाला है। (श्रेयः वन्वानः) निज का श्रेय पक्ष चाहनेवाला, (वयुनानि) युद्ध सम्बन्धी ज्ञानों को (विद्वान्) जाननेवाला तू (द्विराजे) दो राजाओं में होनेवाले युद्ध में (बहुभ्यः) बहुसंख्यक प्रजाजनों के लिए (कीर्तिम्) यश (वि हर) प्राप्त कर।

[वन्वानः=**वनु याचने** (तनादिः)। **वयुनम् प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

श्रेयःकेतो वसुजित्सहीयान्त्संग्रामजित्संशितो ब्रह्मणासि।

अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः॥ १०॥

अर्थ—(श्रेयः केतः) श्रेय को जाननेवाला, (वसुजित्) धन विजयी, (सहीयान्) सहनशील या पराभवकारी, (संग्रामजित्) संग्रामविजयी, (ब्रह्मणा) वेदोक्तविधि द्वारा [हे दुन्दुभिः] (संशितः असि) तू तेज किया गया है [ऊँची ध्वनि से युक्त किया गया है]। (अधिषवणे) पीसकर सोमरस निकालनेवाली शिला पर, (अंशून् इव) जैसे सोमांशुओं को (अद्रिः) विदीर्ण करनेवाला (ग्रावा) (बट्टा-पत्थर) [नाचता है] वैसे (गव्यन्) शत्रु की पृथिवी को चाहता हुआ (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! (वेदः) शत्रु के धन को प्राप्त कर, (नृत्य) [प्रसन्नता से] नाच।

[विजय-प्राप्ति पर ढोलची विजय-नाच करता है, उसके साथ ही, उसके विजयनाच में ढोल अर्थात् दुन्दुभि नाच कर रहा होता है। **केतः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। ब्रह्मणा=अथवा ब्रह्म द्वारा, वेद द्वारा अथवा ब्रह्मवेद द्वारा अथर्ववेद द्वारा।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित्।

वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद्वदेह ॥ ११ ॥

अर्थ—(शत्रूषाट्) शत्रुओं का पराभव करनेवाला, (नीषाट्) नितरां पराभव करनेवाला, (अभिमातिषाहः) अभिमानियों का पराभव करनेवाला, (गवेषणः) शत्रु की पृथिवी को चाहनेवाला, (सहमानः) शत्रुकृत आक्रमण को सहनेवाला, (उद्भित्) उसका उद्भेदन करनेवाला [तू हे दुन्दुभि!] (वाचम् प्रभरस्व) ध्वनि कर, (इव) जैसेकि (वाग्वी) वेदवक्ता (मन्त्रम्) वैदिक मन्त्र का ध्वनिपूर्वक उच्चारण करता है तथा (सांग्रामजित्याय) संग्रामों के जीतने के लिए (इषम्) इच्छा को (इह) यहाँ (उद् वद) स्पष्टतया कह।

[शत्रूषाट्=शत्रून् सहते, नकार का लोप। गवेषणः=**गौः पृथिवी** (निघं० १.१)+एषणः। इषम्=**इषु इच्छायाम्** (तुदादिः) वाग्वी=वाग्मी।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अच्युतच्युत्समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः।

इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥ १२ ॥

अर्थ—(अच्युतच्युत्) च्युत न होनेवाले [शत्रु सेनानी] को च्युत करनेवाला, (समदः) मोद-प्रमोदवाला, (गमिष्ठः) शत्रु की ओर जानेवाला, (मृधः जेता) संग्राम का जीतनेवाला, (पुर एता) आगे-आगे जानेवाला, (अयोध्यः) जिसके साथ युद्ध नहीं किया जा सकता, (इन्द्रेण गुप्तः) सम्राट् द्वारा सुरक्षित, (विदथा निचिक्यत्) शत्रु की गोष्ठियों का जाननेवाला, (द्विषताम्) द्वेषियों के (हृद्द्योतनः) हृदयों को शोकाग्नि द्वारा जलानेवाला तू (शीभम्) शीघ्र (याहि) संग्रामभूमि में जा।

[**मृधः संग्रामनाम** (निघं० २.१७)।]

विशेष—दुन्दुभिः=**द्रुमो भिन्न इति वा** (निरुक्त ९.२.१२), दुन्दुभिः [मन्त्र १]। इस द्वारा ज्ञात होता है कि दुन्दुभि कटे वृक्ष के काष्ठ द्वारा निर्मित है, इसलिए इसे वानस्पत्यः कहा है (मन्त्र १)। सूक्त में दुन्दुभि तथा दुन्दुभि के सदृश उच्च घोषणा करनेवाले सेनापति का मिश्रित वर्णन हुआ है। सूक्त में दोनों के विशिष्ट गुणधर्मों का कथन हुआ है—यह मन्त्रार्थों से स्पष्ट अवगत होता है। मन्त्रों में अचेतन ढोल में चेतन धर्मों का केवल उपचारमात्र ही हुआ है, वेदों में औपचारिक वर्णन बहुत्र हैं। यथा "**चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि**" (निरुक्त ७.२.७)।

सूक्त २१

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे।

विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान्दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

अर्थ—(विहृदयम्) हृदयों का फटाव तथा (वैमनस्यम्) मनों का फटाव, (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! (अमित्रेषु) दुश्मनों में (वद) बोल अर्थात् कर। (विद्वेषम्) पारस्परिक द्वेष, (कश्मशम्) चञ्चलता, गड़बड़, (भयम्) और भय (अमित्रेषु) दुश्मनों में (निदध्मसि) हम सैनिक स्थापित करते हैं। (दुन्दुभे)

हे दुन्दुभि! (एनान् अवजहि) इनका तू अवहनन कर, नाश कर।

[कश्मशम्=**कश** (गतौ, चञ्चलता, गड़बड़)+**मश** (**रोषकृते शब्दे,** भ्वादिः), युद्ध में असफलता जानकर शत्रुओं में पारस्परिक रोष।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च। धावन्तु बिभ्यतोमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते॥ २॥

अर्थ—(मनसा, चक्षुषा, हृदयेन, च) मन से, चक्षु से और हृदय से (उद्वेपमानाः) काँपते हुए (अमित्राः) शत्रु, (बिभ्यतः) भयभीत हुए (धावन्तु) दौड़ जाएँ, (प्रत्रासेन) भय के कारण। (आज्ये हुते) युद्धयज्ञ में रक्ताज्य की आहुतियों के होने पर।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः। प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः॥ ३॥

अर्थ—(अस्त्रियाभिः) गौओं के चर्म और स्नायुओं द्वारा (संभृतः) तैयार हुआ, (विश्वगोत्र्यः)[1] सब मित्र राजाओं के संघों का सम्बन्धी (वानस्पत्यः) वनस्पति के काष्ठ से निर्मित हे दुन्दुभि! तू (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिए (प्रत्रासम्) भय की (वद) घोषणा कर, (आज्येन) युद्धयज्ञ में रक्ताज्य[2] द्वारा (अभिघारितः) सींचा हुआ तू।

[वानस्पत्यः (२०.१)। अभिघारितः=**घृ सेचने** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ४॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (आरण्याः मृगाः) अरण्य के मृग (पुरुषात् अधि) पुरुष से (संविजन्ते) भयभीत होते हैं, (एवा) इस प्रकार (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि! (त्वम्) तू (अमित्रान् अभि) शत्रुओं के संमुख (क्रन्द) गर्ज, (प्रत्रासय) उन्हें खूब उद्विग्न कर, (अथो) तथा (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) [कर्त्तव्याकर्त्तव्य के] ज्ञान से रहित कर।

[विजन्ते=**ओविजी भयचलनयोः** (रुधादिः)। त्रासय=**त्रसी उद्वेगे** (दिवादिः)। मोहय=**मुह वैचित्ये** वैचित्त्यम्, चितिराहित्यम्, संज्ञानराहित्यम्।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ५॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (वृकात्) भेड़िये से (बहुबिभ्यतीः) बहुत भय करती हुईं (अजावयः) बकरियाँ-भेड़ें (धावन्ति) दौड़ जाती हैं, (एवा) इस प्रकार, पूर्ववत् (मन्त्र ४)]।

---

१. विश्वगोत्र्यः=विश्व—गोत्र्यः (पृथिवी के रक्षक राजाओं सम्बन्धी) सब मित्र अर्थात् पृथिवीपतियों के साथ सम्बन्धवाला, सब मित्र राजाओं का प्रतिनिधिरूप। विश्व—गो (पृथिवी)—त्रैङ् (पालन)।

२. आज्येन—रक्ताज्य। युद्ध में दुन्दुभि जाता है, युद्ध में सैनिकों के रक्त द्वारा दुन्दुभि भी रक्तलिप्त हो जाता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वानस्पत्यो दुन्दुभिः ॥ छन्दः—जगती ॥

यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ६॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (अहर्दिवि) दिन के प्रकाश में (पतत्रिणः) पक्षी (श्येनात्) बाजपक्षी से (सं विजन्ते) भय करते हैं, (यथा) जिस प्रकार (सिंहस्य स्तनथोः) शेर की गर्जना से [पशु भय करते हैं], (एवा) इस प्रकार, पूर्ववत् [मन्त्र ४]।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वानस्पत्यो दुन्दुभिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

परामित्रान्दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च। सर्वे देवा अतित्रसन्ये संग्रामस्येशते॥ ७॥

अर्थ—(दुन्दुभिना) दुन्दुभि द्वारा, (च) और (हरिणस्य) हरिण के (अजिनेन) चर्म द्वारा, (सर्वे देवाः) सब देवों ने (परा अमित्रान्) शत्रुसेनाओं को (अतित्रसन्) भयभीत कर दिया है, (ये) जो देव कि (संग्रामस्य) संग्राम के (ईशते) अधीश्वर हैं।

[ये देव हैं सम्राट् की सेना की देखभाल करनेवाले अधिकारी। सम्राट् के दुन्दुभि का घोष परसेना को भयभीत कर देता है, परन्तु हरिणों के अजिन, परसेना को अतिभयभीत कर देते हैं। ये है अजिनों में छिपे सैनिक। शत्रु तो जानते हैं कि ये हरिण हैं, इन्हें आसानी से मारा जा सकता है, परन्तु ये हरिण भी लड़ते हैं तो शत्रुसेना अतिभयभीत हो जाती है, यह जानकर कि सम्राट् के हरिण भी युद्ध करते हैं तो सम्राट् की सेनाओं के साथ लड़ना तो अतिशय दुष्कर हो गया। हरिणों के अजिन=अजिनों में ढके सम्राट् के सैनिक।]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वानस्पत्यो दुन्दुभिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह। तैरमित्रास्त्रसन्तु नोमी ये यन्त्यनीकशः॥ ८॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (यैः) जिन (पद्घोषैः) सैनिकों के पैरों के घोषों द्वारा, (छायया सह) शत्रु की छायारूपिणी सेना के साथ (प्रक्रीडते) युद्धभूमि में मानो क्रीड़ा करता है, (तैः) उन पद्घोषों के द्वारा (नः) हमारे (अमित्राः) शत्रु-सैनिक (त्रसन्तु) भयभीत हो जाएँ, (ये) जो (अमी) वे (अनीकशः) नाना सेनारूप में (यन्ति) युद्धभूमि में विचरते हैं।

[अभिप्राय यह कि 'इन्द्र' तो सम्राट् है, साम्राज्य का अधिपति है, अतः महाशक्तिशाली है। शत्रुसेना उसके लिए मानो छायारूप है, निःशक्त है छायावत्। इन्द्र की सेना के पद्घोषों के ही भय से शत्रु की सेनाएँ भयभीत हो जाती हैं, इन्द्र को वस्तुतः युद्ध नहीं करना पड़ता। इन्द्र की सेना का युद्धभूमि में आना मानो इन्द्र की क्रीड़ामात्र है। प्रक्रीडते=प्रक्रीडा है, प्रकृष्टक्रीडा, युद्धभूमि में खेली जानेवाली क्रीडा, मरने-मारनेवाली क्रीडा, जिसे सैनिक प्रसन्नता से खेलते हैं, निज क्षात्रधर्म जानकर।]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वानस्पत्यो दुन्दुभिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ज्याघोषा दुन्दुभयोभि क्रोशन्तु या दिशः।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः॥ ९॥

अर्थ—(याः दिशः) जो दिशाएँ हैं उन्हें, (ज्याघोषाः) [हमारे] धनुषों की डोरियाँ और (दुन्दुभयः)

दुन्दुभियाँ[१] (अभि क्रोशन्तु) गुँजा दें। (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाः) सेनाएँ (अनीकशः) श्रेणी-श्रेणी में विभक्त हुईं (पराजिताः यतीः) पराजित होती हुई हों।

[दुन्दुभयः=प्रथम वार बहुवचन में।[१] सेनाः=शत्रुओं की नाना सेनाएँ। अनीकशः=पदातियों, अश्वारोहियों, रथियों, हस्तिपकों तथा खाद्य सामग्री पहुँचानेवालों की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोनु धावत। पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

अर्थ—(आदित्य) हे आदित्य! (चक्षुः आ दत्स्व) शत्रु के सैनिकों के चक्षुओं को छीन ले, (मरीचयः) हे रश्मियो! (अनु) आदित्य की अनुकूलता में या उसके पीछे-पीछे (धावत) दौड़ो। (पत्संगिनीः) शत्रुओं के पैरों की सङ्गिन-साथिन [बेड़ियाँ] (आसजन्तु) इसके पैरों में आसक्त रहें, लगी रहें, (बाहुवीर्ये) इन शत्रु सुनाओं की बाहुओं की वीरता के (विगते) चले जाने पर, अर्थात् जब उनकी बाहुओं में लड़ने की शक्ति न रहे।

[चक्षुः आदत्स्व=आदित्य और उसकी रश्मियाँ तो चक्षु में दृष्टि प्रदान करती हैं, बिना इन दो के चक्षु देख नहीं सकते, अतः अभिप्राय यह है कि आदित्य की रश्मियों को यान्त्रिक विधि से केन्द्रित करके, सैनिकों के चक्षुओं प्रर डाला जाए, ताकि उनमें देखने की शक्ति न रहे, जैसे टार्च के उग्र प्रकाश में चक्षु के चौंधिया जाने पर, उसमें तात्कालिक दृष्टिशक्ति क्षीण हो जाती है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्** ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

अर्थ—(पृश्निमातरः) निज राष्ट्रभूमि को माता जाननेवाले, (उग्राः) उग्र, (मरुतः) मारने में कुशल हे सैनिको! (यूयम्) तुम (इन्द्रेण युजा) सम्राट् के सहयोग द्वारा (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणीत) मारो। (सोमः राजा) सेनाध्यक्ष राजा, (वरुणः राजा) राष्ट्रपति राजा, (महादेवः) देवाधिदेव परमेश्वर, (उत) तथा (मृत्युः इन्द्रः) मृत्युरूप सम्राट् [इन सबके सहयोग द्वारा मारो।]

[पृश्निः=भूमिः (सायण, ऋ० १.२३.१०)। इन्द्र, वरुण=इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा (यजुः० ८.३७)। सोमः राजा (यजुः० १७.४०), मरुतः (यजुः० १७.४०)। महादेवः (अथर्व० १३.४(१).४)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा यवमध्या गायत्री** ॥

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

अर्थ—(सूर्यकेतवः) सूर्याङ्कित झण्डोंवाली, (सचेतसः) एकचित्तवाली, (एताः) ये [मन्त्र ११ में कथित] (देवसेनाः) देवों की सेनाएँ (नः) हमारे (अमित्रान्) शत्रुओं को (जयन्तु) जीतें, (स्वाहा) एतदर्थ आहुतियाँ हों। [आहुतियाँ=युद्धयज्ञ में सैनिकों की आत्माहुतियाँ।]

[मन्त्र ११ में मरुतः आदि देवों का वर्णन हुआ है। इन्हें मन्त्र १२ में सूर्यकेतवः कहा है। "एता देवसेनाः" में महादेव अर्थात् परमेश्वर को देवसेनाओं का अङ्गीभूत दर्शाया है। वह भी 'सूर्यकेतु' है, सूर्य

१. "दुन्दुभयः" में बहुवचन यह सूचित करता है कि जो राष्ट्र-संघ, किसी समान-शत्रु के साथ युद्ध करे, वह अपनी-अपनी सेना के साथ अपनी-अपनी जाति की विशिष्ट दुन्दुभि भेजे, जोकि स्वजातीय सैनिकों में जोश पैदा कर सके।

उसका केतु है, ज्ञापक है। परमेश्वर सूर्यवासी है, अतः सूर्य स्वनिष्ठ परमेश्वरीय सत्ता का ज्ञापक है। यथा—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजुः० ४०.१७)। अर्थात् वह जो आदित्य में पुरुष है वह मैं हूँ, जिसका कि नाम ओ३म् है, जो खम् अर्थात् आकाशवत् व्यापी है और ब्रह्म है, सबसे महान् है।]

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ५

सूक्त २२

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**तक्मनाशनः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अ॒ग्निस्त॒क्मान॒मप॑ बाधतामि॒तः सोमो॒ ग्रावा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षाः।

वेदि॑र्ब॒र्हिः स॒मिधः॒ शोशु॑चाना॒ अप॒ द्वेषां॑स्यमु॒या भ॑वन्तु॥ १॥

अर्थ—(अग्निः) यज्ञियाग्नि, (सोमः) सोम ओषधि, (ग्रावा) विद्वान् वैद्य, (पूतदक्षाः वरुणः) पवित्रकारी बलवाला उत्तम जल (इतः) इस रोगी या स्थान से (तक्मानम्)[1] जीवन-कष्टप्रद ज्वर को (अपबाधताम्) हटाएँ। (वेदिः बर्हिः) वेदी और कुशास्तरण, (समिधः) यज्ञिय [वृक्षों की] समिधाएँ (शोशुचानाः) अग्नि द्वारा चमकती हुईं (भवन्तु) हों, (अमुया) उस विधि से (द्वेषांसि) द्वेषकारी रोगकीटाणु (अप) अपगत हों।

[तक्मा=**तकि कृच्छ्रजीवने** (भ्वादिः)। ग्रावा=**विद्वांसो हि ग्रावाणः** (श०ब्रा० ३.९.३.४)। वरुणः=**उत्तमं जलम्** (उणा० ३.५३, दयानन्द); शुद्धजल, जलचिकित्सा के लिए। अमुया=अमुना (**सुपां सुलुक्**०, अष्टा० ७.१.३९) द्वारा "या"। वेदिः और बर्हिः=यज्ञनिमित्त बैठने के लिए। समिधः=यज्ञिय वृक्षों की। यज्ञिय वृक्ष=आम, पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, बिल्व (संस्कारविधि, दयानन्द)। यज्ञिय वृक्षों की समिधाएँ भी रोगनाशक हैं।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**तक्मनाशनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ॒यं यो विश्वा॒न्हरि॑तान्कृ॒णोष्यु॑च्छो॒चय॑न्न॒ग्निरि॑वाभिदु॒न्वन्।

अधा॒ हि त॑क्मन्नर॒सो हि भू॒या अधा॒ न्य॒ङ्ङ्धरा॒ङ् वा॒ परे॑हि॥ २॥

अर्थ—(अयम्) यह तू (यः) जोकि (उच्छोचयन्) रक्त को सुखाता हुआ, तथा (अग्निः इव) अग्नि की तरह (अभिदुन्वन्) तपाता हुआ, (विश्वान्) सबको (हरितान्) हरे रङ्गवाले (कृणोषि) कर देता है, (अधा) अब [अर्थात् रोगोपचार (मन्त्र १) के पश्चात्] (हि) निश्चय से (तक्मन्) जीवन को कृच्छ्र बनानेवाले हे ज्वर! (अरसः) रसरहित अर्थात् शक्तिरहित (हि) ही (भूयाः) तू हो जा, (अधा) तदनन्तर (न्यक्) नीचे की ओर से, (वा) या (अधराक्) शरीर के किसी भी भाग से उतर जानेवाला होकर, (परेहि) दूर हो जा।

[हरितान्=लालरक्त के सूख जाने पर अशुद्ध रक्त का हरा वर्ण। दुन्वन्=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)।

१. सूक्त में तक्मा का वर्णन पुरुषविध में हुआ है। कविता शैली में तक्मा को चेतन "कल्पित" कर वर्णित किया है, देखो मन्त्र १३ की व्याख्या। "तक्मा" का अर्थ है "जीवन को कृच्छ्रमय कर देनेवाला ज्वर", चाहे वह मलेरिया हो, सिर का ज्वर हो, अन्य प्रकार का ज्वर हो।

न्यक्=पैरों और टाँगों के ठण्डा हो जाने से।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः। तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो (परुषः) कठोर और (पारुषेयः) कठोर शरीर से उत्पन्न, तथा (अवध्वंसः) पश्चिमदिशा में नीचे पतित होते हुए (इव) सूर्य के सदृश (अरुणः) लाल है (तक्मानम्) उस तक्मा-ज्वर को, (विश्वधावीर्य) हे सब प्रकार के वीर्योंवाली औषध! या यज्ञियाग्नि! (अधराञ्चम्) उतरे हुए को (परासुव) तू दूर कर दे।

[ज्वर के साथ जब पसीना नहीं आता तब वह परुष और पारुषेय होता है। अवध्वंसः=अव+**ध्वंसु अवस्रंसने,** गतौ च (भ्वादिः)। सूर्य जब अस्त होता है तो लाल होता है। परुष-तक्मा मुख को लाल कर देता है, अत्युष्णता के कारण। पसीना आने पर शरीर ठण्डा हो जाता है, लाल नहीं रहता।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान्॥ ४॥

अर्थ—(तक्मने) जीवन को कृच्छ्र करनेवाले ज्वर के [विनाशार्थ], (नमः कृत्वा) [यज्ञियाग्नि में] अन्नाहुतियाँ देकर, (अधराञ्चम्) नीचे हो जानेवाले, उतर जानेवाले ज्वर को (प्र हिणोमि) मैं दूर करता हूँ। (शकम्भरस्य) शक्ति धारण करनेवाले, ज्वर की भी (मुष्टिहा) ऐसे हत्या कर देता हूँ, जैसेकि मुष्टि द्वारा क्षुद्रजन्तु की हत्या की जाती है। (पुनः) तदनन्तर (महावृषान्) महावर्षावाले प्रदेशों को (एतु) यह तक्मा प्राप्त हो।

[तक्मने=तुमुन्नर्थ में चतुर्थी, तक्मानं विनाशयितुम् (अष्टा० २.३.१४)। **नमः अन्ननाम** (निघं० २.७)। शकम्भरस्य=शकम् (शक्तिम्)+भृ (**धारणे, पोषणे च**)। महावृषान्=महानवर्षावाले प्रदेशों में मलेरिया की वृद्धि होती है। प्र हिणोमि=प्र+**हि, गतौ** (स्वादिः)]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**विराट् पथ्या बृहती** ॥

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः॥ ५॥

अर्थ—(अस्य) इस तक्मा-ज्वर का (ओकः) घर है (मूजवन्तः) मूँज की उत्पत्तिवाले प्रदेश, (अस्य) इसका (ओकः) घर है (महावृषाः) महावर्षा वाले प्रदेश। (तक्मन्) हे तक्मा-ज्वर! (यावत्) जितना (जातः) पैदा तू हुआ है (तावान्) उतना ही (असि) तू है, अब (बल्हिकेषु) जल-प्रधान अन्य प्रदेशों में (न्योचरः) तू नितरां विचर!

[न्योचरः=नि+आ+उ+चरः, चरतीति चरः। अभिप्राय यह कि तक्मा-ज्वर वहाँ होता है जहाँ मूँज पैदा होती है, तथा महावर्षा होती है। चिकित्सा द्वारा ऐसे प्रदेशों में जिनमें कि तक्मा था, वहाँ उतनी मात्रा में ही वह रह गया है, बढ़ने नहीं पाया। उसकी प्रधानता उन्हीं प्रदेशों में है जोकि बल्हिक यानी जलप्रधान प्रदेश हैं। "**बल्ह प्राधान्ये**" तथा "**बल्ह परिभाषणहिंसाऽच्छादनेषु**" (भ्वादिः), अथवा उन प्रदेशों में जहाँ निवासगृह सब ओर से आच्छादित रहते हैं और उनमें न तो शुद्ध वायु का संचार होता है, न

सर्यूरश्मियों का। निवासगृह ऐसे होने चाहिएँ जिनमें बहुत प्रकाशवाली रश्मियाँ[१] आएँ (ऋ० १.१५४.६), निरुक्त (२.२.८)। 'बल्हिकेषु' पद संज्ञावाची नहीं, अपितु यौगिकार्थक है]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तक्मन्व्यालि वि गद व्यङ्ग भूरि यावय।

दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय॥ ६ ॥

अर्थ—(व्याल) विशेषरूप में समाप्त कर देनेवाले! (वि गद) व्यक्त वाणी बोलने से विगत कर देनेवाले! (व्यङ्ग) अङ्गों को विकृत कर देनेवाले! (तक्मन्) जीवन को कृच्छ्र कर देनेवाले हे ज्वर! (भूरि) प्रभूतरूप में (यावय) हमें तू अपने से पृथक् कर दे। (निष्टक्वरीम्) तक्मा से रहित, (दासीम्) परन्तु क्षीणा हुई स्त्री को (इच्छ) तू चाह, (ताम्) उसे (वज्रेण) निज वज्र द्वारा (समर्पय) समर्पित हो, प्राप्त हो।

[व्याल[२]=वि+आ+अल ('अलम्' कर देनेवाला, समाप्त कर देनेवाला तक्मा)। वि गद=वि+**गद व्यक्तायां वाचि** (भ्वादिः)। यावय=**यु अमिश्रणे च** (अदादिः)। दासीम्=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। वज्रेण=कष्टापत्त्या। जो स्त्री तक्मा से रहित है, परन्तु शक्ति से दुर्बल हो गई है, वह तक्मा से पुनः आक्रान्त हो जाती है। स्त्रियाँ प्रायः गृह में रहती हैं और शारीरिक परिश्रम नहीं करतीं, अतः वे तक्मा से पराभूत हो जाती हैं। (देखिये मन्त्र ७)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तक्मन्मूजवतो गच्छ बल्हिकान्वा परस्तराम्।

शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन्वीव धूनुहि॥ ७॥

अर्थ—(तक्मन्) हे तक्मा-ज्वर[३]! (मूजवतः) मूँजवाले प्रदेशों को (गच्छ) तू जा, (बल्हिकान्) जल-प्रधान प्रदेशों को, तथा आच्छादित निवास-स्थानों [गृहों] को, (वा) या (परस्तराम्) उन से भी परे के प्रदेशों को तू जा। (प्रफर्व्यम्=प्रफर्वीम्) स्फूर्ति से प्रगत [विहीन] या विशीर्ण हुई (शूद्राम्) शोक से गति करनेवाली कन्या को (इच्छ) तू चाहे, (ताम्) उसे (वि, इव, धूनुहि) तू विकम्पित सदृश कर।

[प्रफर्व्यम्=**"पीवरीं स्थूलाम् प्रफर्व्यम् प्रथमवयाः कन्या प्रफर्वी ताम्"** (सायण, अथर्व० ३.१७.३)। अथवा प्रफर्व्या=**ञिफला विशरणे** (भ्वादिः) विशीर्ण हुई कन्या। एतदनुसार शूद्रा है अल्पवयस्का कन्या, जो कि शोकान्विता है, "शुचा द्रवतीति शूद्रा"। वह पीवरी है, मोटी है, कफप्रधाना है, अतः स्फूर्ति-रहित है। ऐसी कन्या को तक्मा प्राप्त होता ही है। यह स्वाभाविक वर्णन ही है। यह तक्मा शीतज्वर प्रतीत होता है, जो कि शरीर को कँपा देता है (मन्त्र १०, शीतः)। अथवा प्रफर्व्यम्=प्रगतफरवरीम्: स्फूर्तिरहिताम्; **स्फर स्फुरणे** (तुदादिः), स्फूर्ति-रहिता कन्या, सुस्त कन्या। "मूजवतः, बल्हिकान्, परस्तराम्"—ये वर्षा-प्रधान प्रदेश हैं, जिन्हें महावृषान् कहा है (मन्त्र ४, ५, ८)।]

---

१. **"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः" गावः रश्मयः** (निरुक्त २.२.८)।

२. अथवा, व्याल= सर्पसदृश घातक।

३. तक्मा-ज्वर के बन्धु हैं-बलास, कास आदि (मन्त्र ११, १२)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

म॒हा॒वृ॒षान्मू॒ज॑वतो॒ बन्ध्व॑द्धि प॒रेत्य॑। प्रैतानि॑ त॒क्मने॑ ब्रूमो अन्यक्षे॒त्राणि॒ वा इ॒मा॥ ८॥

अर्थ—(महावृषान्, मूजवतः परेत्य) महावर्षावाले और मूँजवाले प्रदेशों को, जो कि परे हैं, उन्हें प्राप्त करके, (बन्धु) उन बन्धुओं को (अद्धि) खा उनका भक्षण कर। (एतानि) इन [महावृष आदि] प्रदेशों को (तक्मने) तक्मा के लिए (प्रब्रूमः) हम कहते हैं, निर्दिष्ट करते हैं, (वै) निश्चय से (इमा=इमानि) ये (अन्यक्षेत्राणि) अन्य प्रदेश हैं जो कि तेरे निवास के योग्य हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अ॒न्य॒क्षे॒त्रे न र॑मसे व॒शी सन्मृ॑डयासि नः। अभू॒दु॒ प्रार्थ॑स्त॒क्मा स ग॑मिष्यति॒ बल्हि॑कान्॥ ९॥

अर्थ—(अन्यक्षेत्रे) अन्य प्रदेश अर्थात् हमारे प्रदेशों से भिन्न महावृष आदि प्रदेशों में (न रमसे) यदि तू रमण नहीं करता, [उनमें यदि तू नहीं रहना चाहता] तो (वशी सन्) हमारे वश में होकर (नः) हमें (मृडयासि) तू सुख प्रदान कर। (तक्मा) तक्मा-ज्वर (प्रार्थः) प्रगत-प्रयोजन अर्थात् निष्प्रयोजनवाला[1], यहाँ के प्रदेशों से (अभूत्) हो गया है, (सः) वह (गमिष्यति) चला जायगा (बल्हिकान्) बल्हिक प्रदेशों को।

[महावृष और बल्हिक प्रदेशों से भिन्न क्षेत्रों में तक्मा नहीं होता, अतः इन भिन्न क्षेत्रों में वह रमण नहीं कर पाता, अतः इन प्रदेशों के लोग सुखी रहते हैं। इन प्रदेशों में तक्मा का निवास निष्प्रयोजन हो गया है। इसलिए वह इन प्रदेशों को त्याग कर बल्हिक प्रदेशों को चला जाएगा, जहाँ कि उसे मौका मिल सके निज वृद्धि का। वैदिक वर्णन बहुधा कवियों की शैली में हुए हैं, अतः अचेतन तक्मा को चेतन कल्पित कर उसमें चेतन धर्मों और कृत्यों का आरोप किया है। यथा "**चेतनावद् हि स्तुतयो भवन्ति**" "**अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि**" (निरुक्त ७.२.६, ७.२.७ प्रकरण)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्त्वं शी॒तोऽथो॑ रू॒रः स॒ह का॒सावे॑पयः।
भी॒मास्ते॑ तक्मन्हे॒तय॒स्ताभि॑ः स्म॒ परि॑ वृङ्ग्धि नः॥ १०॥

अर्थ—(यत्) जो (त्वम्) तू [हे तक्मन्!] (शीतः) शीतरूप है, (अथो) तथा (रूरः) गर्मरूप है, और (कासा, सह) खाँसी के साथ (अवेपयः) तूने कम्पित कर दिया है, (तक्मन्) हे तक्मा-ज्वर (ते) तेरे (हेतयः) अस्त्र (भीमाः) भयानक हैं, (ताभिः) उन अस्त्रों के साथ तू (नः) हमें (परिवृङ्ग्धि) पूर्णतया परित्यक्त कर दे।

[रूरः=रक्ष। हिंसावाला, जीवनापहारी; **रुङ् रेषणे** (भ्वादिः) रेषणम्=हिंसा।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मा स्मै॒तान्त्सखी॑न्कुरुथा ब॒लासं॑ का॒समु॑द्यु॒गम्।
मा स्माऽतो॒ऽर्वाङैः॑ पु॒न॒स्तत्त्वा॑ तक्म॒न्नुप॑ ब्रुवे॥ ११॥

---

१. इन प्रदेशों में वह निवासियों के वश में रहता है, परवश होकर रहता है, निज प्रभाव-प्रदर्शन नहीं कर पाता। उसका रहना अब निष्प्रयोजन हो गया है, अतः वह बल्हिक आदि प्रदेशों में चला जाएगा, यह निश्चित है।

अर्थ—(एतान्) इन अर्थात् (बलासम्) बल्गाम, (कासम्) खाँसी, (उद्युगम्) और हिचकी को (सखीन्) साथी (मा स्म कुरुथाः) तू न कर, (अतः) इस रुग्ण व्यक्ति से (अर्वाङ्) इधर हमारी ओर (मा, स्म, आ, ऐः) तू न आ, (तत्) यह (तक्मन्) हे तक्मा-ज्वर! (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (उपब्रुवे) मैं कहता हूँ।

[बलासम्=बलम् अस्यति प्रक्षिपतीति, जो बल का प्रक्षेपण कर दे; कफ। बलगम। उद्युगम्=उद् (ऊपर की ओर)+**युजिर् योगे** (रुधादिः); तक्मा ज्वर में बलास, खाँसी और हिचकी हो जाती हैं।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तक्मन्भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह।

पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम्॥ १२ ॥

अर्थ—(तक्मन्) हे तक्मा-ज्वर! (भ्रात्रा बलासेन) भाई बलगम के, (स्वस्रा कासिकया) और बहिन खाँसी के (सह) साथ, तथा (पाप्मा) पापी (भ्रातृव्येण) शत्रु के (सह) साथ (अरणम्) अरण्यवासी[१], (अमुम्, जनम्) उस जन को (गच्छ) तू प्राप्त हो, उसकी ओर तू जा।

[तक्मा-ज्वर के सहचारी-रोगों का वर्णन मन्त्र में हुआ है। मन्त्र ११ में सहचारी रोगों को सखा कहा है। मन्त्र १२ में इन्हें भाई और स्वसा कहा है। भ्रातृव्य के साथ "पाप्मा=पाप्मना" पद का प्रयोग हुआ है, भ्रातृव्य को पापी कहा है। भ्रातृव्य=**'व्यन्तसपत्ने'** (अष्टा० ४.१.१४५)। अतः भ्रातृव्य=सपत्न=शत्रु। तभी वेद में कहा है **'भ्रातृव्यस्य वधाय'** (यजुः० १.१७)। मन्त्र में भ्रातृव्य के वध का निर्देश हुआ है, पाप या पापी का वध उचित ही है।

विशेष—भ्रातृव्य का अर्थ है भ्राता का पुत्र। भाइयों के साथ शत्रुता की भावना प्रतीत नहीं होती। जायदाद की बाँट के सम्बन्ध में भाइयों में तो परस्पर समझौता सम्भव है, परन्तु भाइयों की सन्तानों में, परस्पर झगड़ा भी सम्भव है, जैसे कि कौरवों और पाण्डवों में हुआ और इस कारण इन में परस्पर शत्रुता हो गई। इस स्वाभाविक शत्रुता के कारण भ्रातृव्य का अर्थ शत्रु भी हो गया प्रतीत होता है। वेद में भी जो भ्रातृव्य के 'वध' का कथन हुआ है वह इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण हुई शत्रुता की वजह से है।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्। तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥ १३ ॥

अर्थ—(तृतीयकम्) तीसरे दिन के, (वितृतीयम्) तीसरे दिन से विभिन्न दिनों के, (सदन्दिम्) सदा क्षीणकारी या अवखण्डितकारी, (उत) तथा (शारदम्) शरदृतु में होनेवाले, (ग्रैष्मम्) ग्रीष्म ऋतु में होनेवाले, (वार्षिकम्) वर्षा ऋतु में होनेवाले, (शीतम्, रूरम्) [मन्त्र १०] (तक्मानम्) तक्मा-ज्वर को (नाशय) नष्ट कर [हे परमेश्वर]।

[सदन्दिम्=सदम्+दिम् (**दीङ् क्षये**, अथवा **दो अवखण्डने**)।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।

प्रैष्यन्जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि॥ १४॥

---

१. जनम्=जनताम्। अरण्य में स्वास्थ्य-सम्बन्धी उपायों का अभाव होने से तक्मा-ज्वर की सत्ता दर्शायी है।

अर्थ—(गन्धारिभ्यः) गन्ध-प्राप्त प्रदेशों के लिए, (मूजवद्भ्यः) मूँजप्रधान प्रदेशों के लिए, (अङ्गेभ्यः) तदङ्गभूत अर्थात् समीपवर्ती प्रदेशों के लिए, (मगधेभ्यः) परिवेष्टित प्रदेशों या निवासगृहों के लिए (तक्मानम्) तक्मा-ज्वर को (परिदद्मसि) हम देते हैं, सौंपते हैं, (इव) जैसे [कोई व्यक्ति] (जनम्) स्वजन के प्रति (शेवधिम्) धनराशि को (प्रैष्यन्) प्रेषित करता [हुआ होता] है।

[गन्धारिभ्यः=गन्ध+अर् (**ऋ गतिप्रापणयोः**, भ्वादिः)+अ+इनिः। गन्ध का अभिप्राय है दुर्गन्ध। दुर्गन्धित प्रदेशों में तक्मा-ज्वर होता है। मूँजवाले प्रदेश जल-प्रधान होते हैं। इन प्रदेशों में तथा तत्समीपस्थ प्रदेशों में भी मलेरिया होता है। मगधेभ्यः=**मगध परिवेष्टने** (कण्ड्वादिः)। शेवधिः=ख़जाना, धनराशि।]

सूक्त २३

ऋषिः—**काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति॥ १॥

अर्थ—(मे) मेरे [कुमार के लिए, मन्त्र १] (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (ओते) परस्पर ओत-प्रोत हैं, (देवी सरस्वती) दिव्या, उदकवती मेघीय वैद्युत गर्जना (ओता) उनमें ओत-प्रोत है। (इन्द्रः च, अग्निः च) सूर्य और पार्थिव अग्नि (मे) मेरे [कुमार के लिए मन्त्र २] (ओतौ) उन में ओत-प्रोत हैं, (इति) इस निमित्त कि (क्रिमिम्) [कुमार वर्ग के] क्रिमिसमूह[1] का वे (जम्भयताम्) हनन करें, विनाश करें।

[सूक्त में क्रिमीविनाश का वर्णन है। कुमारों के पेट में तथा शरीर पर, पेट-क्रिमी तथा रोग कीटाणु (germs) आक्रमण करते हैं, क्योंकि उनका खाना-पीना और रहन-सहन प्राकृतिक नियमों के अनुकूल नहीं होता। मन्त्र में प्राकृतिक तत्त्वों में 'ओत' पद द्वारा पारस्परिक अनुकूलता का कथन हुआ है। जैसेकि पट के निर्माण में तन्तुओं में पारस्परिक अनुकूलता होती है वैसी अनुकूलता संसार में प्राकृतिक तत्त्वों में दर्शायी है। कुमारवर्ग के जीवनों में भी प्राकृतिक नियमों के अनुरूप निज जीवनचर्या होनी चाहिए, प्रकृति के नियमों में उनके जीवन ओत-प्रोत होने चाहिएं, तब वे क्रिमियों के आक्रमण से बच सकेंगे, इस सिद्धान्त को प्रकट किया है। सरस्वती=**सरः उदकनाम** (निघं० १.१२)+तद्वती। ओत=आङ्+**वेञ् तन्तुसंताने**+क्तः।]

ऋषिः—**काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन्धनपते जहि। हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम॥ २॥

अर्थ—(धनपते इन्द्र) धन के स्वामी हे सम्राट्! (अस्य कुमारस्य) इस कुमारवर्ग के (क्रिमीन्) क्रिमियों का (जहि) हनन कर। (विश्वाः अरातयः) सब क्रिमीरूप शत्रु (मम) मेरे (उग्रेण वचसा) प्रभावशाली कथन द्वारा (हताः) नष्ट हो गये हैं।

[इन्द्र=सम्राट् यथा '**इन्द्रश्च सम्राट्**' (यजुः० ८.३७)। साम्राज्य के स्वास्थ्याधिकारी का यह वचन है। सम्राट् ने स्वयं तो चिकित्सक बन कर कुमारों के क्रिमियों का हनन नहीं करना, उसकी केवल स्वीकृति होनी है। स्वास्थ्याधिकारी को स्वीकृति मिलते ही वह कहता है कि मेरे प्रभावशाली वचनों के

१. क्रिमी=**कृञ् हिंसायाम्** (क्र्यादिः), हिंस्र कीट।

कारण मानों क्रिमि हत हो गये। धन की तो कमी नहीं। सरकारी 'कुमार चिकित्सालयों' की स्थापनाएँ हो जाती हैं, और क्रिमिचिकित्सा प्रारम्भ हो जाती है।

तथा

इन्द्र है वणिक्, यथा '**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि**' (अथर्व० ३.१५.१) स्वास्थ्याधिकारी ने धनपति वणिक् को प्रेरित किया तो गैर-सरकारी चिकित्सालयों की स्थापनाओं द्वारा कुमारों की चिकित्साएँ प्रारम्भ हो गईं। मानो कुमारों के क्रिमि हत हो गये। साम्राज्य में जैसे बच्चा-जच्चा चिकित्सालय होते हैं, वैसे 'कुमार चिकित्सालय' भी होने ही चाहिएँ। इन्हें 'कुमारभृत्य चिकित्सालय' भी कह सकते हैं जिनमें कि कुमारों का भरण-पोषण हो।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।

दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि॥ ३ ॥

अर्थ—(यः) जो (अक्ष्यौ) आँखों में (परिसर्पति) परिसर्पण करता है, (यः) जो (नासे) नथनों में (परिसर्पति) परिसर्पण करता है, (यः) जो (दताम्, मध्यम्) दाँतों के बीच (गच्छति) गमन करता है, (तम्, क्रिमिम्) उस क्रिमि को (जम्भयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[आँखों में लालिमा, सूजन, पीड़ा होना—यह क्रिमि अर्थात् germ [रोग-जीव-कीटाणु] द्वारा होता है। नथनों में बार-बार जुकाम होना भी अन्य प्रकार के रोग जीव-कीटाणु द्वारा होता है। दाँतों की जड़ का खोखला और काला पड़ जाना और उसमें पीड़ा होना अन्य जीव-कीटाणु द्वारा होता है। ये त्रिविध क्रिमि हैं जीव-कीटाणु, जोकि आँखों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होते, अति सूक्ष्म होते हैं।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः॥ ४॥

अर्थ—(सरूपौ द्वौ) एक जैसी रूपाकृतिवाले दो, (विरूपौ द्वौ) विभिन्न-रूपोंवाले दो, (कृष्णौ[1] द्वौ) काले दो, (रोहितौ द्वौ) लाल दो, (बभ्रुः च, बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कर्णवाला (गृध्रः) गीध अर्थात् लोभी, (कोकः) खा जानेवाला [क्रिमि] (ते) वे (हताः) मार दिए हैं।

['द्वौ' द्वारा 'जोड़ा' रूपाकृति, क्रिमियों का वर्णन किया है, जोकि नर-मादा रूप हैं (मन्त्र १३)। गृध्रः=**गृधु अभिकांक्षायाम्** (दिवादिः), मांस और रुधिर चाहनेवाला क्रिमि, न कि गीधपक्षी। कोकः=**कुक वृक आदाने** (भ्वादिः)। वे सब germs हैं।]

१. कृष्णौ द्वौ=सम्भवतः नाड़ियों के काले खून को पीनेवाले नर-मादा रूप दो कीटाणु। रोहितौ द्वौ=सम्भवतः नाड़ियों के लाल खून को पीनेवाले नर-मादा रूप दो कीटाणु। नर-मादा रूप में दो-दो ये द्विविध कीटाणु, रक्त को शोषित कर, रक्ताल्पता नामक (अनीमिया) रोग को पैदा कर देते हैं। ये दो-दो क्रिमि नर-मादा रूप हैं (मन्त्र १३), इस मन्त्र में सर्वोषाम् तथा सर्वासाम् द्वारा नर और मादा क्रिमि कहे हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः।

ये के च विश्वरूपास्तान्क्रिमीन् जम्भयामसि॥ ५॥

अर्थ—(ये क्रिमयः) जो क्रिमि हैं (शितिकक्षाः) श्वेत कोखोंवाले, (ये) जो हैं (कृष्णाः, शितिबाहवः) काले परन्तु श्वेत बाहुओंवाले, (ये, के, च) और जो कोई हैं (विश्वरूपाः) नानाविध रूपोंवाले (तान्, क्रिमीन्) उन क्रिमियों को (जम्भयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[ये जीवाणु क्रिमि-हिंसक हैं, अतः इनके नाश का कथन हुआ है। ये क्रिमि जीवाणुरूप हैं, जिनका कि रुग्णकुमार के साथ सम्बन्ध है, यह अभिप्राय प्रतीत होता है। यदि ये 'जीवाणु' रूप हैं, तो सम्भवतः माइक्रोस्कोप यन्त्र द्वारा, या योगज दृष्टि द्वारा देखने पर इन जीवाणुओं के भी सूक्ष्म 'कक्ष, बाहु' हों।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।

दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन्॥ ६॥

अर्थ—(पुरस्तात्) पूर्व की दिशा में (सूर्यः उत् एति) सूर्य उदित होता है; (विश्वदृष्टः) सब द्वारा देखा गया, (अदृष्टहा) अदृष्ट अर्थात् जो दृष्ट नहीं हैं, अतिसूक्ष्म क्रिमि हैं उनका हनन करनेवाला; (दृष्टान् च घ्नन्) दृष्ट अभी तक ज्ञात सूक्ष्म-क्रिमियों का हनन करता हुआ तथा (अदृष्टान् च) जो अभी तक अज्ञात हैं (सर्वान् च) उन सब (क्रिमीन्) क्रिमियों को (प्रमृणन्) मारता हुआ।

[मन्त्र में दृष्ट और अदृष्ट क्रिमियों के हनन का कथन 'उदीयमान' सूर्य द्वारा हुआ है। सूर्य के उदित होते स्थूल अर्थात् नेत्रों द्वारा दृष्ट, सर्पवृश्चिक आदि हिंस्र क्रिमियों का विनाश दृष्टिगोचर नहीं है, अतः मन्त्र में दृष्ट अर्थात् ज्ञात तथा अदृष्ट अर्थात् अज्ञात हिंस्र क्रिमियों का वर्णन ही प्रतीत होता है जिनका कि हनन उदीयमान सूर्य की रश्मियों द्वारा होना सम्भव है। यथा "**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः**" (अथर्व० २.३२.१), अर्थात् उदित होता हुआ सूर्य क्रिमियों का हनन करे तथा अस्त होता हुआ रश्मियों द्वारा हनन करे। यहाँ रश्मियों द्वारा क्रिमियों का हनन कहा है, वह भी उदीयमान तथा अस्तंगम्यमान सूर्य की ही रश्मियों द्वारा, न कि मध्यन्दिनगत सूर्य की रश्मियों द्वारा। इन दोनों कालों में सूर्य रश्मियाँ लाल होती हैं, ये क्रिमि-हनन में अत्युपयोगी हैं। इन रक्त रश्मियों द्वारा कीटाणुओं अर्थात् जीव-कीटाणुओं का तो विनाश सम्भव है, सर्प-वृश्चिक आदि का और कीड़ों-मकोड़ों आदि का नहीं तथा देखिए (अथर्व० २.३१.१-५; तथा २.३२.१-६)।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः।

दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम्॥ ७॥

अर्थ—(येवाषासः, कष्कषासः एजत्काः शिपवित्नुकाः) येवाषास, कष्कषास, एजत्क, शिपवित्नुक क्रिमि (दृष्टः च) चाहे ज्ञात हों (हन्यताम्) नष्ट हो जाए, (उत) तथा (अदृष्टः च) चाहे अज्ञात हों (हन्यताम्) नष्ट हो जाए।

[इन चतुर्विध क्रिमियों के स्वरूपों का निश्चय कठिन है। धात्वर्थ द्वारा यत्किंचित् प्रकाश निम्नरूप

है। येवाषास:, कष्कषास:=इन दो पदों में "षास:" पद समान है। **षस स्वप्ने** (अदादि:); तथा 'येवा'=**यु जुगुप्सायाम्** (चुरादि:); कष्क=**कष हिंसार्थः** (भ्वादि:), अत: दो पदों के अर्थ हैं "जुगुप्सित, परन्तु स्वप्नावस्था में तथा हिंसक परन्तु स्वप्नावस्था में", अर्थात् जो क्रिमि शरीर में तो उपस्थित हैं, परन्तु स्वप्नावस्था में हैं, जिन्होंने अभी रोगरूप में निज प्रभाव नहीं दर्शाया।

एजत्का: शिपवित्नुका:=ये दो प्रकार के क्रिमि जाग्रदवस्था के हैं, जिन्होंने कि रोगरूप में निज प्रभाव प्रकट किया हुआ है। एजत्का:=**एजृ कम्पने** (भ्वादि:) तथा **एजृ दीप्तौ** (भ्वादि:) जोकि कम्पित अवस्था में हैं, सक्रिय हैं, या प्रदीप्तावस्था में हैं, स्वप्नान्धकार की अवस्था में नहीं। शिपवित्नुका:=शिपविध्नुका:, शेप अर्थात् लिङ्गेन्द्रिय को वेंधनेवाले, लिङ्ग के रोगों के उत्पादक। ये चतुर्विध क्रिमि, चाहे ज्ञात हों चाहे अज्ञात, नष्ट कर दिए जाएँ। एजत्का: और शिपवित्नुका: में 'क' या 'कर' स्वार्थ में हैं। ये सब अनुसंधेय हैं।]

ऋषि:—**काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रादयः**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत। सर्वान्नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव॥ ८॥

अर्थ—(क्रिमीणाम्) क्रिमियों में (येवाष:) सुप्तावस्था का जुगुप्सित क्रिमि (हत:) मार दिया है, (उत) तथा (नदनिमा) नाद करनेवाला अर्थात् जाग्रदवस्था का क्रिमि (हत:) मार दिया है। (सर्वान्) इस प्रकार सब क्रिमियों को (मष्मषा, नि+अकरम्) मैंने नितरां हिंसित कर दिया है, (इव) जैसेकि (दृषदा) पत्थर द्वारा (खल्वान्) चनों को पीस दिया जाता है। [हिंसित किया जाता है।]

[येवाष:=येवाषास: (मन्त्र ७)। **मष्मषा=मष हिंसार्थः** (भ्वादि:)। मष्मषा=मष का द्विर्वचन; मष+अच्+टाप्। दृषदा=पत्थर द्वारा तथा सूर्य की रश्मियों द्वारा। यथा "**इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी। तया पिनष्मि सं क्रिमीन्[1] दृषदा खल्वाँ[2] इव**" (अथर्व० २.३१.१); इन्द्र अर्थात् सूर्य की 'मही दृषत्' है, रश्मिसमूह। अकरम्="मैंने हिंसित कर दिया है"—यह कथन किसी मनुष्य द्वारा हुआ है, वह सूर्य की रश्मिसमूह को 'कंस या मणि' द्वारा केन्द्रित कर क्रिमियों की हिंसा करता है। 'कंस या मणि' (निरुक्त ७.६.२३), वैश्वानर प्रकरण। मष्मषा=अथवा 'मष्मष्+तृतीयैकवचन', हिंसित करनेवाले रश्मिसमूह रूपी 'दृषदा'। नदनिमा=कानों में नाद अर्थात् गूँज पैदा कर देनेवाला क्रिमी। यह स्वानुभूत है।

ऋषि:—**काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रादयः**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥ ९॥

अर्थ—(त्रिशीर्षाणम्) तीन सिरोंवाले, (त्रिककुदम्) तीन काकुदोंवाले, (सारङ्गम्) नानावर्णी तथा (अर्जुनम्) श्वेत (क्रिमिम्) क्रिमि की (शृणामि) मैं हिंसा करता हूँ, (अस्य) इसकी (पृष्टी: अपि) पसलियों को भी, (यत् शिर:) और जो सिर है उसे भी (वृश्चामि) मैं काटता हूँ।

[ज्वर-रोगोत्पादक क्रिमि का वर्णन पुरुषरूप या पशुरूप में हुआ है। ज्वर (तक्मा) है अचेतन, तो भी अचेतन का वर्णन चेतनवत्, वेदों में प्राय:, कविता शैली में, होता है (देखें निरुक्त अ० ७.२ पा०। खण्ड ६,७)। इस दृष्टि से तक्मा के तीन सिर, तीन ककुद्, वर्ण, पुष्टी:, शिर: आदि का वर्णन हुआ है।

'त्रिशीर्षाणम्' द्वारा मस्तिष्क के तीन अवयव अभिप्रेत हैं, मस्तिष्क का दायाँ गोलार्ध और बायाँ

१. **क्रिमीन्=शरीरान्तर्गतान् सर्वान् क्षुद्रजन्तून्** (सायण)।
२. खल्वान्=चणकान् (सायण)।

गोलार्ध तथा इनके पिछली ओर लगा छोटा सिर। इन तीनों को "Two Hemisphere तथा Cerebellum" कहते हैं। त्रिशीर्षाणम् है शिरोरोग और त्रिककुदम् है जिह्वा रोग तथा तालु रोग। यथा **'काकुदं ताल्वित्याचक्षते, जिह्वा कोकुवा सास्मिन् धीयते'** (निरुक्त ५.४.२७; पदसंख्या ७६)। अर्थात् काकुद है तालु और जिह्वा है कोकुवा, वह इस तालु में धारित होती है। ककुदम् है काकुदम्। ककुदम् ह्रस्व अकार छान्दस है। जिह्वा मूल तथा ओष्ठों के मध्यवर्ती प्रदेश को तालु कहते हैं। इसे तीन विभागों में विभक्त माना है। अतः यह 'त्रिककुद्' है, त्रिविभक्त[१] तालु। काकुद के सम्बन्ध में मन्त्र, यथा—"**सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।**" (अथर्व० २०.९२.९)। अर्थात् 'हे वरुण! तू उत्तम देव है, जिसके कि सात सिन्धु काकुद अर्थात् तालु में क्षरित हो रहे हैं, जैसे उत्तम ऊर्मियोंवाला स्रोत सच्छिद्रा भूमि में क्षरित होता है। सप्तसिन्धु हैं सप्तविभक्तियों से सम्पन्न वैदिक शब्द या मन्त्र।'

त्रिककुदम् रोग जिह्वारोग है। क्रिमि अर्थात् रोगकीटाणु [germs] जब जिह्वा पर आक्रमण करते हैं तब आस्यगत या जिह्वागत सुषुम्ण की सूक्ष्म नाड़ी का अर्धाङ्ग हो जाता है और जिह्वा शब्दोच्चारण में विकृत या असमर्थ हो जाती है। मन्त्र पठित त्रिककुदम् पद त्रिककुद+अम् भी सम्भव है। यद्यपि व्याख्याकार इसे त्रिककुद्+अम् में मानते हैं।]

ऋषिः—**काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ १०॥

अर्थ—(क्रिमयः) हे क्रिमियो! (वः) तुम्हें (अत्रिवत्) अत्रि के सदृश, (कण्ववत्) कण्व के सदृश, (जमदग्निवत्) जमदग्नि के सदृश (हन्मि) मैं मारता हूँ। (अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) अगस्त्य के महान् अस्त्र या शस्त्र द्वारा (अहम्) मैं (क्रिमीन्) क्रिमियों को (सं पिनष्मि) सम्यक् रूप में पीसता हूँ।

[अत्रि है भक्षणकर्त्ता परमेश्वर, जोकि प्रलयकाल में सबका अदन करता है, भक्षण करता है। इसलिए इसे अत्ता और अन्नाद भी कहते हैं। प्रलयकाल[२] में जगत् इसके लिए अन्नरूप हो जाता है, जिससे परमेश्वर अन्नाद कहलाता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि प्राणी भी इसके लिए ओदनरूप हो जाते हैं। इस अत्रि ने (दिवम्) द्युलोक को या द्युतिमान् सूर्य को (उन्निनाय) ऊर्ध्वदिशा में स्थापित किया है (अथर्व० १३.२.४)। मानुषशक्ति ऊर्ध्वदिशा में द्युलोक या सूर्य को स्थापित नहीं कर सकती। अत्रि, तक्मा आदि रोगों तथा तदुत्पादक क्रिमियों को भी पीस डालता है, निवारित करता है। इसलिए वह 'भेषज' भी है (यजुः० ३.५९)। वैदिक वैद्य कहता है कि अत्रिवत् मैं भी क्रिमियों को पीसता हूँ। कण्व=कण्व है मेधावी (निघं० ३.१५)। कण्वः=कण+वः, कणवत् सूक्ष्म कीटाणुओं और जीवाणुओं का मेधावी अर्थात् विज्ञ। यह भी तक्मा आदि रोगों तथा तदुत्पादक क्रिमियों को पीस देता है, तद्वत् वैदिक वैद्य भी पीसता है।

जमदग्नि=सदा प्रज्वलित यज्ञाग्निवाला, यज्ञकर्त्ता। यह यज्ञियाग्नि द्वारा तक्मा आदि रोगों तथा तदुत्पादक

---

१. वर्णों के पाँच वर्ग हैं—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग। कवर्ग का उच्चारण होता है कण्ठ से और पवर्ग का उच्चारण होता है दो-ओष्ठों से। चवर्ग, टवर्ग और तवर्ग के वर्णों का उच्चारण होता है तालु प्रदेश से, अतः इन तीन वर्गों के वर्णों के उच्चारण की दृष्टि से तालु (काकुद्) को त्रिधा विभक्त कहा है (त्रिककुदम्)।

२. सृष्टि काल में परमेश्वर आदित्य के सर्जन द्वारा क्रिमियों का नाश करता है, अतः परमेश्वर क्रिमियों का महानाशक है (मन्त्र ८)।

क्रिमियों को पीसता है, तद्वत् वैदिक वैद्य भी इन्हें पीसता है।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा=अगस्त्य है अग+स्त्य सूर्य। अग=वृक्ष (उणादि ४.१८१, दयानन्द तथा वृक्षश्च, दशपाद्युणादिवृत्तिः ९.७५), स्त्य=**स्त्यै शब्दसंघातयोः** (भ्वादिः), वृक्षों के संघात अर्थात् संघ या समूह को वनरूप में करनेवाला सूर्य। सूर्य के ताप और प्रकाश द्वारा तथा तत्कृत वर्षा द्वारा वृक्षों में संघीभवन होता है, वनरूपता होती है। इस अगस्त्य नामक सूर्य की ब्रह्मणा अर्थात् बृहत्या[1] दृषदा रश्मिसमूहरूपया "अहम् क्रिमीन् संपिनष्मि"। देखें मन्त्र ३, ७ की व्याख्या।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ११ ॥

अर्थ—(हतः) मार दिया है (क्रिमीणाम्, राजा) क्रिमियों का राजा, (उत) तथा (एषाम्) इनका (स्थपतिः) स्थानिकपति (हतः) मार दिया है। (क्रिमिः हतः) क्रिमि मार दिया है, (हतमाता) इसकी माता मार दी है, (हतभ्राता) इसका भाई मार दिया है, (हतस्वसा) इसकी बहिन मार दी है।

[राजा, स्थपतिः=मुख्य क्रिमि तथा स्थानिक क्रिमि। माता=मन्त्र ४ में 'दो-दो' का वर्णन हुआ है, नर और मादा का। मादा के पेट से ही सन्तानें पैदा होती हैं। माता मार दी गई तो सन्तानों का भी अभाव हो गया। क्रिमियों के पिता का वर्णन राजा और स्थपति द्वारा हुआ है, इन्हें मन्त्र ११ में मार दिया कहा है। तक्मा का भ्राता है बलास, स्वसा है कासिका, भ्रातृव्य है पाप्मा (अथर्व० ५.२२.१३)। सूक्त २२ में तक्मा का वर्णन है और सूक्त २३ में तक्मा के उत्पादक क्रिमियों का। क्रिमि, तक्मा के भी उत्पादक हैं, अतः सूक्त २२ और २३ का परस्पर सम्बन्ध है। स्थपतिः=सचिवः (२.३२.४; सायण); तरखान आदि (आप्टे)।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥ १२ ॥

अर्थ—(अस्य) इस राजारूप क्रिमि के (वेशसः[2]) समीप बैठनेवाले क्रिमि (हतासः) मर गये हैं और (परिवेशसः) इसे घेरकर दूर बैठनेवाले भी (हतासः) मर गये हैं। (अथो) तथा (ये) जो (क्षुल्लकाः इव) क्षुद्र के सदृश हैं (ते सर्वे) वे सब (क्रिमयः) क्रिमि (हताः) मर गये हैं।

[मन्त्र ११ में राजा और स्थपति का वर्णन हुआ है, अतः मन्त्र १२ में उनमें मन्त्रियों और सभासदों का वर्णन अभिप्रेत है। वेशसः हैं मन्त्री, और परिवेशसः हैं सभा के सभासद् तथा क्षुल्लकाः हैं नौकर-चाकर, जोकि क्षुत् अर्थात् क्षुधा के निवारणार्थ नौकरी करते हैं। इस प्रकार सामान्य घटना के द्वारा शासन-तत्त्वों का भी कथन हुआ है।]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥ १३ ॥

---

१. "**बृंहेर्नोऽच्च**" (उणा० ४.१४७)। ब्रह्मणा=बृहत्या (इन्द्रस्य दृषदा; रश्मिसमूहेन) (अथर्व० २.३१.१)।
२. वेशसः=प्रविष्टाः, समीपस्थाः (**विश प्रवेशने,** तुदादिः)। परिवेशसः=परितः प्रविष्टाः, दूरस्थाः।

अर्थ—(सर्वेषाम् च, क्रिमीणाम्) सब नर-क्रिमियों के, (च) और (सर्वासाम्, क्रिमीणाम्) सब मादा क्रिमियों के (शिर:) सिरों को (अश्मना)दृषद् द्वारा (भिनद्मि) मैं तोड़ता हूँ, छिन्न-भिन्न करता हूँ तथा (मुखम्) मुखों को (अग्निना) अग्नि द्वारा (दहामि) मैं दग्ध करता हूँ।

[ये क्रिमि कणसदृश सूक्ष्म हैं (मन्त्र १०) इनके सिर तथा मुख भी अतिसूक्ष्म हैं, ये दृष्टिगोचर नहीं होते, अत: स्थूल अश्मा द्वारा इनके सिर छिन्न-भिन्न नहीं किये जा सकते, अत: अभिप्रेत है सूर्य की अश्मा अर्थात् दृषद्, अर्थात् रश्मिसमूह (मन्त्र ६ की व्याख्या, देखें)। इसी प्रकार अग्नि है 'कंस और मणि' द्वारा सूर्यरश्मियों से उत्पादित अग्नि (देखें मन्त्र ८ की व्याख्या)।]

सूक्त २४

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्द:—**अतिशक्वरी**॥

सविता प्रसवानामधिपति: स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १॥

अर्थ—(सविता प्रसवानाम्) सविता प्रेरणाओं का (अधिपति:) अधिपति है, (स:) वह (मा) मेरी (अवतु) रक्षा करे, (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस वेदज्ञान की प्राप्ति में, (अस्मिन् कर्मणि) इस वैदिक कर्म में, (अस्याम् पुरोधायाम्) इस संमुख-स्थापित अभिलाषा की पूर्ति में, (अस्याम् प्रतिष्ठायाम्) इस दृढ़ स्थिति में, (अस्याम्, चित्त्याम्) इस स्मृतिशक्ति में, (अस्याम् आकूत्याम्) इस संकल्प में, (अस्याम् आशिष्यस्याम्) इस आशा की पूर्ति में, (देवहूत्याम्) दिव्यगुणों या विद्वानों के आह्वान में, (स्वाहा) यह उत्तम कथन हुआ है। [स्वाहा=सु+आह]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**अतिशक्वरी**॥

अग्निर्वनस्पतीनामधिपति: स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ २॥

अर्थ—(अग्नि:) अग्नि (वनस्पतीनाम् अधिपति:) वनस्पतियों का अधिपति है, (स:) वह (मा) मेरी (अवतु) रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यावापृथिवी**॥ छन्द:—**अतिशक्वरी**॥

द्यावापृथिवी दातृणामधिपत्नी ते मावताम्।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ३॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्यौ तथा पृथिवी (दातृणाम्) दाताओं की (अधिपत्नी) स्वामिनी हैं, (ते) वे दोनों (मा) मेरी (अवताम्) रक्षा करें। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

[प्राणियों को जीवन-सामग्री द्यौ तथा पृथिवी से प्राप्त हो रही है। यह दोनों महादानी हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

वरुणोपामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ४॥

अर्थ—(वरुणः अपाम् अधिपतिः) वरुण जलों का अधिपति है, (सः मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम्।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ५॥

अर्थ—(मित्रावरुणौ) मित्र अर्थात् सूर्य और वरुण अर्थात् जलाधिपति [मेघ] (वृष्ट्याधिपती) वृष्टि के अधिपति हैं। (तौ मा अवताम्) वे दोनों मेरी रक्षा करें। ('अस्मिन्' आदि अर्थ; पूर्ववत्)।

[मित्रः=**मिदि स्नेहने** (चुरादिः)। वृष्ट्याधिपती=वृष्ट्याः अधिपती। सन्धिरार्षः]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ६॥

अर्थ—(मरुतः पर्वतानाम् अधिपतयः) मरुत् हैं पर्वतों के अधिपति, (ते मा अवन्तु) वे मेरी रक्षा करें। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

[मरुतः=मानसून वायुएँ (अथर्व० ४.२७.४, ५); **पर्वतः मेघनाम** (निघं० १.१०)। तथा मरुतः=मारने में कुशल सैनिक (यजुः० १७.४०), वे पर्वतीय युद्धों के अधिपति हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ७॥

अर्थ— (सोमः वीरुधाम् अधिपतिः) सोम [औषध] विरोहणशील लता-वनस्पतियों का अधिपति है, (स मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ८॥

अर्थ—(वायुः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः) वायु अन्तरिक्ष का अधिपति है, (स मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ९॥

अर्थ—(सूर्यः चक्षुषाम् अधिपतिः) सूर्य चक्षुओं का अधिपति है, (सः मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १०॥

अर्थ—(चन्द्रमा नक्षत्राणाम् अधिपतिः) चन्द्रमा नक्षत्रों का अधिपति है, (सः मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**शक्वरी**॥

इन्द्रो दिवोधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ११॥

अर्थ—(इन्द्रः दिवोऽधिपतिः) परमैश्वर्यवान् इन्द्र अर्थात् परमेश्वर द्युलोक का अधिपति है, (सः मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मरुतां पिता**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १२॥

अर्थ—(मरुताम् पिता पशूनाम् अधिपतिः) मरणशील-प्राणियों का पिता [परमेश्वर] पशुओं[१] का अधिपति है, (सः मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)। [पशूनाम्=पञ्चपशवः—गावः, अश्वाः, पुरुषाः, अजावयः (अथर्व० ११.२.९)। मरुत्=**म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः, पवनो वा** (उणा० १.९४) दयानन्द)।]

---

१. रुद्रनामक परमेश्वर। यह प्राणियों के कर्मानुसार उन्हें मृत्युरूप दण्ड देकर रौद्रकर्म करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १३ ॥

अर्थ—(मृत्युः प्रजानाम् अधिपतिः) मृत्यु प्रजाओं का अधिपति है, (सः मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

[मृत्यु=परमेश्वर। यथा "**स एव मृत्युः सो३मृतं सो३भ्वं१ स रक्षः**" (अथर्व० १३.४.२५)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १४ ॥

अर्थ—(यमः पितृणामधिपतिः) यम पितरों का अधिपति है, (सः मा अवतु) वह मेरी रक्षा करे। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

[यम=नियन्ता राजा। पितरः=सभा के सभासद् (अथर्व० ७.१३.१)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा (?) भुरिगतिजगती** ॥

पितरः परे ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १५ ॥

अर्थ—(पितरः परे) पितर जो 'पर' अर्थात् बड़ी आयु के हैं, (ते मा अवन्तु) वे मेरी रक्षा करें। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**तताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा (?) भुरिगतिजगती** ॥

तता अवरे ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १६ ॥

अर्थ—(तताः) जो तात कहलाने योग्य (अवरे) छोटी आयु के पितर हैं, (ते मा अवन्तु) वे मेरी रक्षा करें। ('अस्मिन्' आदि अर्थ पूर्ववत्)।

[तताः=ताताः, पिता आदि, जोकि परिवार का विस्तार करते हैं, **तनु विस्तारे** (तनादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ततामहाः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा (?) विराट्शक्वरी** ॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १७ ॥

अर्थ—(ततः=तताः) तात आदि (मन्त्र १६), तथा (ततामहाः) तात आदि के पिता आदि, (ते मा अवन्तु) वे मेरी रक्षा करें। (अस्मिन् आदि, अर्थ, पूर्ववत्)।

[तताः, ततः 'तन्' धातु के रूप हैं, जिसका अर्थ है विस्तार। 'सन्तान' पद में भी 'तन्' धातु है। सन्तानें पूर्व पुरुषों का विस्ताररूप होती हैं, उनके वीर्य का विस्तार रूप ही होती हैं।]

सूक्त २५

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम्। शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत्॥ १॥

अर्थ—(पर्वतात्) पर्वत [की ओषधियों] से, (दिवः योनेः) द्युलोक की योनिरूप परमेश्वर [की कृपा] से, (अङ्गात्, अङ्गात्) शरीर के अङ्ग-अङ्ग से (समाभृतम्=समाहृतम्) एकत्रित हुए, (गर्भस्य रेतोधाः) गर्भ सम्बन्धी रेतस् अर्थात् वीर्य का आधान करनेवाला, (शेपः) लिङ्गेन्द्रिय[1], (आ दधत्) [मातृयोनि में] वीर्याधान करे, (इव) जैसेकि [धनुर्धारी], (सरौ) सरण करनेवाले इषु में (पर्णम्) पंख का (आ दधत्) आधान करता है।

[मन्त्रपदों में वर्णनीय-वस्तु का संकेत ही हुआ है, जिसका स्पष्ट वर्णन मन्त्र के भाष्य में कर दिया है। परमेश्वर द्युलोक की योनि अर्थात् कारण है। जैसे वह ऋग्वेदादि शास्त्र की योनि है (**'शास्त्रयोनित्वात्'** वेदान्तशास्त्र १.१.३), वैसे वह द्युलोक की भी योनि है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे। एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे॥ २॥

अर्थ—(यथा) जैसे (इयम् मही पृथिवी) यह महती या मंहनीया पृथिवी (भूतानाम्) प्राणियों सम्बन्धी (गर्भम्) गर्भ के कारणीभूत बीज को (आ दधे) अपने में आहित करती है, (एवा=एवम्) इसी प्रकार [हे पत्नी!] (ते) तेरे लिए (गर्भम्) गर्भ का (आ दधामि) मैं आधान करता हूँ और (तस्मै) उस गर्भ के लिए, (अवसे) अर्थात् उसकी रक्षा के लिए, (त्वाम्) तुझे (हुवे) आहूत करता हूँ। बीज से बीजान्न की उत्पत्ति, उसके भक्षण से वीर्य की उत्पत्ति और वीर्य से प्राणियों की उत्पत्ति। जैसे कहा है **'अन्नाद् रेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'** (तै०उ० ब्रह्मानन्दवल्ली; सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास) इस प्रकार पृथिवी का गर्भ धारण करना, परम्परा से, भूतों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति। गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा॥ ३॥

अर्थ—(सिनीवालि[2]) हे प्रभूत अन्नवाली तथा सुन्दर केशोंवाली! (गर्भम् धेहि) तू गर्भ का धारण कर, (सरस्वति) हे [ज्ञान] विज्ञानवाली! (गर्भम् धेहि) गर्भ का तू धारण कर। (पुष्करस्रजा) पुष्टिकारक अन्न का सर्जन करनेवाले, (उभौ) दोनों (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्रमा (ते, गर्भम्, धत्ताम्) तेरे गर्भ का धारण-पोषण करें।

---

१. उत्पन्न रेतस् का प्रथम धारण लिङ्गेन्द्रिय में होता है, तत्पश्चात् तद्द्वारा मातृयोनि में।

२. वालि=वालिनी, "ई" प्रत्यय छान्दस। **"छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ"** वार्तिक (अष्टा० ५.२.१०९)।

[**सिनम्=अन्नम्** (निरुक्त ५.१.५; पद २८)। वाल=केश। सरस्वती=**सरः [ज्ञानम्] विज्ञानम् तद्वती** (उणा० ४.१९०, दयानन्द)। धेहि=**धि धारणे** (तुदादिः)। **अश्विनौ=सूर्याचन्द्रमसौ** (निरुक्त १२.१.१; अश्विनौ पद-संख्या (१)। इन द्वारा अन्नोत्पादन होता है, अतः ये पुष्टिकारक अन्न के स्रष्टा हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।

गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥ ४॥

अर्थ—(मित्रा-वरुणौ) दिन और रात्रि, (देवः बृहस्पतिः) बृहद् ब्रह्माण्ड का पति परमेश्वर (इन्द्रः) विद्युत् तथा (अग्निः) यज्ञियाग्नि और (धाता) धाता अर्थात् मेघ (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ का (दधातु) धारण-पोषण करें।

[प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ गर्भ के अनुकूल रहें। **अहोरात्रौ मित्रावरुणौ** (तां० २५.१०.१०)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।

आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ ५॥

अर्थ—(विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (योनिम्) योनि को (कल्पयतु) सामर्थ्य-सम्पन्न करे, (त्वष्टा) रूपाकृति का उत्पादक कारीगर परमेश्वर (रूपाणि) गर्भ की नानाविध रूपाकृतियों का (पिंशतु) अवयवों में सम्पादन करे। (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर (आ सिञ्चतु) गर्भ में रुधिर तथा रसों[1] को सींचे, (धाता) गर्भ का धारण-पोषण करनेवाला परमेश्वर (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ का (दधातु) धारण-पोषण करे। पिंशतु=**पिश अवयवे** (तुदादिः)।

[विष्णुः=**विष्लृ व्याप्तौ** (जुहोत्यादिः)। त्वष्टा=**त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः** (निरुक्त ८.२.१४)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती। यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्गर्भकरणं पिब॥ ६॥

अर्थ—(राजा) राजमान अर्थात् [विवाहकाल में] शोभायमान, (वरुणः) वरण करनेवाला 'वर' (यद्) जिस औषध को (वेद) जानता है, (वा) अथवा (यद्) जिस औषध को (सरस्वती) विज्ञानवती विदुषी तू [वेद] जानती है; (यद्) जिस औषध को (वृत्रहा) गर्भ के वृत्रों अर्थात् आवरण करनेवाले रोगों का हनन करनेवाला (इन्द्रः) ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न वैद्य जानता है, (गर्भकरणम्) गर्भकारी (तत्) उस औषध को (पिब) तू पी, या पिया कर।

[सरस्वती=विज्ञानवती पत्नी (मन्त्र ३)। पति निज पत्नी के प्रति कहता है। गर्भकरण औषध=**"यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च। तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव"** (अथर्व० ३.२३.४-५)। ऋषभाः=ऋषभ ओषधियाँ। प्रसूः=पुत्र प्रसव करनेवाली। धेनुका=दुधार गौ की तरह दूध देनेवाली अल्प गोरूपा, हे पत्नी! तू हो जा। सन्तानोत्पत्ति पर दूध देनेवाली हो जा।

१. यथा, मुखरस, पेट तथा आँतों के रस, पित्तरस आदि।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।

गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः॥ ७॥

अर्थ—(ओषधीनाम्) ओषधियों में (गर्भः) गर्भ-धारणकर्त्ता (असि) तू है, (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों में (गर्भः) गर्भ-धारणकर्त्ता [तू है]। (विश्वस्य भूतस्य) सब भूत-भौतिक, या सब सत्तावान् जगत् में (गर्भः) गर्भ-धारण-कर्त्ता [तू है], (सः अग्ने) वह तू हे अग्नि! (इह) इस पत्नी में (गर्भम्) गर्भ (आ धाः) आधान कर।

[समग्र जगत् में जो उत्पत्तियाँ हो रही हैं उनका कारण अग्नि है। अग्नि की इच्छा ही उत्पत्तियों का बीज है। उससे पति प्रार्थना करता है कि इस मेरी पत्नी में भी गर्भधारण करने की इच्छा कर। अग्नि है परमेश्वर, यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१)। परमेश्वरीय इच्छा से ही सब उत्पत्तियाँ हो रही हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम्।

वृषासि वृष्ण्यावन्प्रजायै त्वा नयामसि॥ ८॥

अर्थ—(अधि स्कन्द) अधिक शारीरिक परिश्रम कर! (वीरयस्व) वीरता के कर्म किया कर, तदनन्तर (योन्याम्) योनि में (गर्भम् आ धेहि) गर्भाधान कर। (वृष्ण्यावन्) हे वर्षुक वीर्यवाले! (वृषा असि) तू वीर्यवर्षा करनेवाला है, अतः (प्रजायै) प्रजोत्पत्ति के लिए (त्वा) तुझे (आनयामि) हम (गृहस्थ कर्म में) लाते हैं, [गृहस्थ कर्म की अनुज्ञा देते हैं। स्कन्द=**स्कन्दिर् गतिः** (भ्वादिः)।]

[शारीरिक परिश्रम करना, वीरता के कर्म करना और वीर्यवान् होना—ये शर्तें हैं गृहस्थ कर्म के लिए।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम्।

अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम्॥ ९॥

अर्थ—(बार्हत्सामे) महाशान्तिवाली हे पत्नि! (विजिहीष्व) तू [पति से] विगत हो जा, उससे भोग का सम्बन्ध त्याग दे। (गर्भः) गर्भस्थ शिशु (ते योनिम्) तेरी योनि में (आशयाम्[1]) पूर्णतया सोता रहे। (सोमपाः देवाः) सोम-ओषधि के पीनेवाले दिव्य पुरुषों ने (ते) तेरे लिए (पुत्रम्, अदुः) पुत्र दिया है, जोकि (उभयाविनम्) तुम दोनों की रक्षा करनेवाला है या अभ्युदय और निःश्रेयस का रक्षक है।

[पत्नी महासामा[2] अर्थात् महाशान्तिवाली है, गर्भ धारण कर वह पतिभोग से विरत हो गई है। उसे कहा है कि अब तू पतिभोग से विरत रह, ताकि शिशु आराम से तेरी योनि में सोया रहे, उसे कोई नुक़सान न पहुँचे। 'सोमपाः' द्वारा यह सूचित किया है कि ये सोमपायी देव, तुझे भी सोम-ओषधि का पान कराते

---

१. शयन द्वारा यह प्रतीत होता है कि गर्भ, शिशु की अवस्था में, परिणत हो गया है।

२. अथवा महासाम, या बृहत् नामक साम की गायिका।

रहे हैं, अतः इनकी कृपा से तुझे पुत्र मिला है [गर्भकरणं पिब, (मन्त्र ६)। विजिहीष्व=वि+**ओहाङ् गतौ** (जुहोत्यादिः)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १०॥

अर्थ—(धातः) धारण करनेवाले हे परमेश्वर! (श्रेष्ठेन रूपेण) श्रेष्ठ रूपाकृति से संयुक्त [पुत्र के लिए] (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस नारी की दो गवीनी-नाड़ियों में (पुमांसम्, पुत्रम्) पुमान पुत्र [के उत्पादक वीर्य] का (आ धेहि) आधान कर, (दशमे मासि) दसवें मास में (सूतवे) उत्पन्न होने के लिए।

[गवीनिका दो गर्भस्थ नाड़ियाँ हैं, जिन द्वारा वीर्य गुजरकर, गर्भाशय में जाता है। इन्हें (Fallopian ducts)[१] कहते हैं। गवीनिके=**योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमन-प्रतिबन्धिके नाड्यौ** (अथर्व० १.११.५; १.३.६) (सायण)। इन्हें 'गवीनिका' सम्भवतः इसलिए कहते हैं कि ये वीर्य को गर्भाशय में ले-जाती हैं; गो (गम्)+**णीञ् (प्रापणे)**। पत्नी में वीर्याधान तो पति ने ही करना है, परन्तु इसकी सफलता परमेश्वर की कृपा से होनी है, अतः धाता को वीर्याधायक कहा है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ ११॥

अर्थ—(त्वष्टः) हे कारीगर परमेश्वर! (मन्त्र ५), (श्रेष्ठेन रूपेण) आदि, पूर्ववत् (मन्त्र १०)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १२॥

अर्थ—(सवितः) हे प्रेरक या उत्पादक परमेश्वर! (श्रेष्ठेन रूपेण) आदि, पूर्ववत् (मन्त्र १०)। सविता=**षू प्रेरणे** (तुदादिः)।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**विराट् पुरस्ताद् बृहती** ॥

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १३॥

अर्थ—(प्रजापते) हे प्रजाओं के प्रति परमेश्वर! (श्रेष्ठेन रूपेण) आदि, पूर्ववत् (मन्त्र १०)।

सूक्त २६

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् [एकावसाना]** ॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु॥ १॥

अर्थ—(यज्ञे) यज्ञ में (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र, (समिधः) समिधाएँ, तथा (स्वाहा) स्वाहा [पद का प्रयोग] होता है। (प्रविद्वान्) प्रकृष्ट विद्वान् प्रज्ञानी (अग्निः) अग्नि (वः) तुम्हें (इह) इस यज्ञकर्म में (युनक्तु) नियुक्त करे। [अग्निः=प्रज्ञानी परमेश्वर (यजुः० ३२.१)।]

[मन्त्र १ से १२ में यज्ञकर्म के साधनों का वर्णन हुआ है, जिन द्वारा कि यज्ञ का सम्पादन होता है। अग्नि, सविता, इन्द्र, विष्णु, त्वष्टा, यम, सोम, अश्विनौ—ये प्रेरक देव हैं यज्ञकर्म में (मन्त्र १ से १२)।

---

१. Two tubes or ducts through which the ova pass from the ovary to the uterus in the human subject (Twentieth century dictionary), oviducts.

अभिप्राय यह कि सूक्त में केवल यज्ञाङ्गों का वर्णन हुआ है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या बृहती [एकावसाना]** ॥

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन्यज्ञे महिषः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(प्रजानन्) प्रज्ञावाला, (महिषः) महान् (सविता देवः) सविता देव, (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (युनक्तु) तुम्हें नियुक्त करे, (स्वाहा) तथा स्वाहा वाणी का उच्चारण हो।

[सविता=प्रेरक-देव परमेश्वर यज्ञकर्म के लिए तुम्हें प्रेरित करे। **षू प्रेरणे** (तुदादिः)। सविता को 'प्रजानन्' कहा है, अतः यह देव प्रज्ञानी है, चेतन है, प्रातःकालीन सूर्य नहीं। मन्त्र में कथित यज्ञाङ्ग हैं, (१) सविता देव द्वारा प्रेरणा; (२) तथा 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण कर हविर्यज्ञों में दी जानेवाली आहुतियाँ।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री [एकावसाना]** ॥

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—(प्रविद्वान्) प्रज्ञानी या प्रकृष्ट-ज्ञानवाला, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (उक्थामदानि) मोदकारी तथा हर्षप्रद सामवेद के स्तोत्रों को तथा तत्सम्बन्धी (सुयुजः) उत्तम योजनाओं को, (युनक्तु) संयुक्त करे, (स्वाहा) और स्वाहापूर्वक हविर्यज्ञों में दी जाने वाली आहुतियाँ हों।

[इन्द्रः=**इदि परमैश्वर्ये** (भ्वादिः)। परमेश्वर को ऐश्वर्यवान् कहकर यह सूचित किया है कि यज्ञकर्त्ता को, फलरूप में, यज्ञ द्वारा होनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है। उक्थामदानि=उक्थानि, मदानि। 'उक्थानि' हैं सामवेद के गेयस्तोत्र और 'मदानि' हैं इन गेयस्तोत्रों के गान द्वारा प्राप्त मोद तथा हर्ष। उक्थम्=सामवेद (आप्टे)। स्वाहा=**स्वाहाकृतयः** (निरुक्त ८.३.२१), यज्ञों में बार-बार आहुतियाँ देने के लिए उच्चार्यमाण 'स्वाहा' पद। सुयुजः=उत्तम योजनाएँ=यज्ञशाला निर्माण आदि। यज्ञकर्म से फल-प्राप्ति यज्ञकर्म में प्रेरिका है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**निविदः** ॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या बृहती [एकावसाना]** ॥

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ॥ ४ ॥

अर्थ—(यज्ञे शिष्टाः प्रैषाः) यज्ञकर्म में ऋत्विक् द्वारा, दूसरे ऋत्विक् को 'यज्ञ' इत्यादि पद द्वारा प्रेरणा के लिए प्रयुक्त वाक्य, (निविदः) देवों के प्रति निवेदन के मन्त्र, (स्वाहा) स्वाहाकर्म तथा (पत्नीभिः) यजमानों की पत्नियों द्वारा निर्देशों को प्राप्त कर तथा (युक्ताः) उनके सहित हे यजमानो! (इह) इस यज्ञकर्म का (वहत) वहन करो।

[यज्ञकर्म में प्रैषवाक्यों का प्रयोग; निविद् मन्त्र; स्वाहा तथा यज्ञ में पत्नी का साथ होना—ये भी यज्ञाङ्ग हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् [एकावसाना]** ॥

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः ॥ ५ ॥

अर्थ—(यज्ञे) यज्ञकर्म में (छन्दांसि) छन्द हों, (मरुतः) ऋत्विक् हों, (स्वाहा) स्वाहा कर्म हो, (इह) इस यज्ञकर्म में (युक्ताः) परस्पर मिले हुए तुम (पिपृत) यज्ञकर्म की पालना करो, (इव) जैसेकि (माता पुत्रम्) माता पुत्र को पालती है।

[छन्दांसि=अथर्ववेद और उसके मन्त्र। यथा "**तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तमादजायत॥**" (यजुः० ३१.७) में परिशेष द्वारा छन्दांसि है अथर्ववेद या उसके मन्त्र। अथर्ववेद को 'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' द्वारा मुख्य माना है (अथर्व० १०.७.२०)। अतः जैसे 'यजूंषि' (मन्त्र ६) में यजुर्वेद का और (मन्त्र २) में 'उक्था' द्वारा सामवेद का कथन हुआ है, इसी प्रकार (मन्त्र ५) में 'छन्दांसि' द्वारा अथर्ववेद को भी यज्ञाङ्गरूप में निर्दिष्ट किया है। मरुतः=ऋत्विजः, यथा "**मरुतः ऋत्विङ्नाम**" (निघं० ३.१८)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या बृहती [एकावसाना]**॥

एयमगन्बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा॥ ६॥

अर्थ—(यज्ञम्, तन्वाना) यज्ञ का विस्तार करती हुई (इयम् अदितिः) यह अखण्डितव्रता [यजमान-पत्नी], (बर्हिषा) बर्हिः तथा (प्रोक्षणीभिः) सेचन-जल के साथ (आ अगत्) आई है (स्वाहा) स्वाहा का उच्चारण हो।

[बर्हिः=वेदी के आस्तरण और हविष्पात्रों के स्थापनार्थ कुशा घास। आ आगन्=आ अगमत्, आगता, अगन्="गमेर्लुङि, ('**मन्त्रे घसह्वरणश०**' अष्टा० २.४.८०, इति) च्लेर्लुकि, संयोगान्तलोपे, '**मो नो धातोः**' (अष्टा० ५.२.६४ इति) नत्वम् (सायण)।" अदितिः=अ+'दो' अवखण्डने+क्तिन्। यज्ञार्थ, यजमान के सदृश उसकी पत्नी भी व्रत ग्रहण करती है। यज्ञ की समाप्ति तक वह अखण्डित-व्रता रहती है। बर्हिः और प्रोक्षणीः यज्ञाङ्ग हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विष्णुः**॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या बृहती [एकावसानाः]**॥

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा॥ ७॥

अर्थ—(विष्णुः) रश्मियों से व्याप्त तेजस्वी सूर्य के समान, तेजस्वी परमेश्वर (बहुधा तपांसि) बहुत प्रकार के तपों को (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (सुयुजः) उत्तम योजनाओं को (युनक्तु) संयुक्त करे (स्वाहा) स्वाहा का उच्चारण हो।

[यज्ञ के प्रारम्भ से यज्ञ की समाप्ति तक, नानाविध तपोमयी जीवनचर्या करनी होती है तथा तदनुसार उत्तम योजनाएँ करनी होती हैं, जिससे कि तपोभंग न हो। ये भी यज्ञाङ्ग हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**त्वष्टा**॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या बृहती [एकावसानाः]**॥

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा॥ ८॥

(**अर्थ**—(त्वष्टा) पदार्थों का निर्माण करनेवाला कारीगर परेमश्वर (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (बहुधा) बहुत प्रकार की (रूपाः=रूपाणि) रूप-आकृतियों को (सुयुजः) उत्तम योजनाओं को (युनक्तु) संयुक्त करे, सम्बद्ध करे (स्वाहा) स्वाहा का उच्चारण हो।

[त्वष्टा[1]=**त्वक्षू तनूकरणे** (भ्वादिः)। मन्त्र में 'त्वष्टा' पद द्वारा परमेश्वर को 'तक्षा' अर्थात् तरखान के सदृश कारीगर कहा है। तक्षा काष्ठ से नानाविध उपकरणों में नानाविध रूप-आकृतियों का निर्माण करता है। परमेश्वर भी प्रकृतिरूपी वन के, एकदेशीरूपी वृक्ष से ब्रह्माण्ड की नानाविध वस्तुओं की नानाविध रूप-आकृतियों का निर्माण करता है। यथा "**किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी**

१. **त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः** (नि० ८.२.१४)।

निष्टतक्षुः'' (यजुः० १७.२०)। यज्ञ में यज्ञशाला के निर्माण और उसे सजाने के लिए नानाविध योजनाएँ करनी होती हैं, अतः ये रूप-आकृतियाँ तथा योजनाएँ यज्ञाङ्ग हैं। स्वाहा तो मुख्य यज्ञाङ्ग है, स्वाहा के उच्चारणपूर्वक आहुतियाँ देना ही तो यज्ञ है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या पुरउष्णिक् [एकावसाना]**॥

भगो॑ युनक्त्वा॒शिषो॒ न्व॑१॒स्मा अ॒स्मिन्य॒ज्ञे प्र॑वि॒द्वान्यु॑नक्तु सु॒युजः॒ स्वाहा॑॥ ९ ॥

अर्थ—(प्रविद्वान्) प्रज्ञानी या प्रकृष्ट-ज्ञानी, (भगः) षड्विध भगोंवाला परमेश्वर (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (नु) निश्चय से (अस्मै) इस यजमान के लिए (आशिषः) आशीर्वादों को (युनक्तु) संयुक्त करे, सम्बद्ध करे तथा (सुयुजः) उत्तम योजनाओं को (युनक्तु) संयुक्त करे, सम्बद्ध करे तथा (स्वाहा) स्वाहा का उच्चारण हो।

[**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा**॥ यज्ञ की समाप्ति पर यजमान को आशीर्वाद दिया जाता है। सर्वोत्तम-आशीर्वाददाता परमेश्वर है, जिसका दिया आशीर्वाद सदा सफल होता है। यजमान षड्विध भगों से सम्पन्न हो—यह भग नामक परमेश्वर द्वारा दिया आशीर्वाद है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या बृहती [एकावसाना]**॥

सोमो॑ युनक्तु बहु॒धा पयां॑स्य॒स्मिन्य॒ज्ञे सु॒युजः॒ स्वाहा॑॥ १० ॥

अर्थ—(सोमः) सोम-औषध (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (बहुधा) बहुत प्रकार के (पयांसि) पेय ओषधि-रसों को (युनक्तु) सम्बद्ध करे, (सुयुजः) तथा उत्तम योजनाओं का सम्पादन करे और (स्वाहा) स्वाहा के उच्चारणपूर्वक आहुतियाँ हों।

[''**सोमो वीरुधामधिपतिः**'' (अथर्व० ५.२४.७)। सोम औषध के अद्भुत गुणों का वर्णन मन्त्रों में हुआ है, अतः वीरुधों में इसे मुख्य औषध माना है और वीरुधों का अधिपति कहा है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या बृहती [एकावसाना]**॥

इन्द्रो॑ युनक्तु बहु॒धा वी॒र्या॑ण्य॒स्मिन्य॒ज्ञे सु॒युजः॒ स्वाहा॑॥ ११ ॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञकर्म में (बहुधा) बहुत प्रकार के (वीर्याणि) निज सामर्थ्यों या दानवीरता आदि के कर्मों को (युनक्तु) सम्बद्ध करे, (सुयुजः) और उत्तम योजनाओं को सम्बद्ध करे, ताकि (स्वाहा) स्वाहा शब्दोच्चारणपूर्वक आहुतियाँ होती रहें।

[मन्त्र ३ में इन्द्र का वर्णन हो चुका है। वहाँ इन्द्र का अर्थ है परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, अतः पुनः इन्द्र पद भिन्नार्थक होना चाहिए। वह है सम्राट, यथा '**इन्द्रश्च सम्राट्**' (यजुः० ८.३७)। वेदानुसार राजा और सम्राट् का सम्बन्ध यज्ञकर्म में दर्शाया है। यथा ''**यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभेत**'' (निरुक्त ९.२.११; रथः पद)। राजा द्वारा दान और सहयोग प्राप्त कर यज्ञों की समृद्धि हो जाती है। यज्ञों के प्रसार में सम्राट् और राजा द्वारा दिया दान और सहयोग तथा एतत्सम्बन्धी उत्तम योजनाएँ भी यज्ञाङ्ग हैं, उत्तम योजनाएँ हैं—राज्य द्वारा नियुक्त 'यज्ञाधिकारी', तथा यज्ञसम्बन्धी 'स्थिरनिधि' आदि। सम्राट् और साम्राज्य=संयुक्त राजाओं द्वारा निर्वाचित मुखिया है। सम्राट्; यह राजाओं पर भी राज्य करता है ''**राजसु राजयातै**'' (अथर्व० ६.५८.१)। साम्राज्य है भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की 'संयुक्त राज्य संस्था'।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अश्विनौ, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**परातिशक्वरी चतुष्पदा जगती** ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ।

बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

अर्थ—(अश्विना) हे [दो] अश्विनौ! तुम (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र के साथ और (वषट्कारेण) वौषट् शब्द का उच्चारण के साथ (यज्ञम् वर्धयन्तौ) यज्ञ की वृद्धि अर्थात् समृद्धि करते हुए, (अर्वाञ्चौ) 'अर्वाक्' अर्थात् इधर [यज्ञ की ओर] 'अञ्चौ' प्रस्थान करते हुए, (आ यातम्) आओ या आया करो। (बृहस्पते) हे बृहस्पति! तू भी (ब्रह्मणा) वेदमन्त्र के साथ (अर्वाङ्) अर्थात् इधर [यज्ञ की ओर] (आ याहि) आया कर। (अयम् यज्ञः) यह यज्ञ (यजमानाय) यज्ञकर्त्ता के लिए (स्वः) सुखदायक, या [जीवन के लिए] स्वर्गीय है, (इदम् स्वाहा) यह [यज्ञ में] आहुति प्रदान हो।

[अश्विनौ='**राजानौ पुण्यकृतौ**' (निरुक्त १२.१.१), अर्थात् पुण्यकर्मों के करनेवाले राजा और रानी, या राजा और प्रधानमन्त्री। इन्हें यज्ञ की ओर प्रस्थान करने के लिए कहा है। इसी प्रकार बृहस्पति है 'बृहती [साम्राज्य] सेना का अधिपति' (यजुः १७.४०)। अश्विनौ और बृहस्पति 'ब्रह्मणा' अर्थात् मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'वषट्कार' अर्थात् वौषट् शब्द का उच्चारण कर, यज्ञ में आहुतियाँ देते हैं, मानो यजमान बनकर यज्ञविधि को पूर्ण करते हैं। मन्त्र ११ और १२ में राज्याधिकारियों के सहयोग का वर्णन हुआ है, यज्ञकर्मों में।]

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

अनुवाक ६

सूक्त २७

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।

द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥

अर्थ—(अस्य अग्नेः) इस महानग्नि की (समिधः) समिधाएँ (भवन्ति) होती हैं (ऊर्ध्वाः) ऊर्ध्वदिशा में [सूर्यरश्मिरूप]; (ऊर्ध्वा) ऊर्ध्वदिशा में होती हैं (द्युमत्तमा) अत्यन्त द्युतिवाली (शुक्रा) पवित्र या चमकती हुई (शोचींषि) ज्योतियाँ [नक्षत्र-तारारूप], (सुप्रतीकः) महानग्नि उत्तमस्वरूप है। (ससूनुः) पुत्ररूप आदित्य के साथ रहता है, (तनूनपात्) सूर्यरूपी तनू को गिरने नहीं देता [आकाश में थामे हुआ है] (असुरः) प्रज्ञावान् है, (भूरिपाणिः) महाहस्त है [दान देने में]।

[संसार का वर्णन यज्ञरूप में किया है। अग्नि है महानग्नि परमेश्वर। यथा '**अथैनं महान्तमात्मानमेषर्ग्गणः प्रवदति "इन्द्रं मित्रं वरुणग्निमाहुः"**' (ऋ० १.१६४.४६) इति; (निरुक्त अ० १३ (१४)। पा० २(१)। खं० १५ (२) तथा "**इदमेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानम्....**" (निरुक्त ७.४.१८)। ऊर्ध्वा शुक्रा=ऊर्ध्वानि शुक्राणि। द्युमत्तमा=द्युमत्तमानि। प्रतीकम्=मुखम्। सूनुः=सूर्य; परमेश्वर द्वारा उत्पन्न, अतः सूनुः। तनूनपात्=तनू+न+पात् (पतनम्), सूर्य मानो परमेश्वर की तनू है और इसकी आत्मा है परमेश्वर, "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)। असुरः=असु प्रज्ञानाम (निघं० ३.९)+रः (मत्वर्थीयः)। भूरिपाणिः="**सं गृभाय पुरु शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि**

राय आ भर'' (अथर्व० २०.५६.४)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी भुरिगनुष्टुप्** ॥

दे॒वो दे॒वेषु॑ दे॒वः प॒थो अ॑नक्ति॒ मध्वा॑ घृ॒तेन॑ ॥ २ ॥

अर्थ—(देवेषु देवः) देवाधिदेव (देवः) परमेश्वर-देव (घृतेन) क्षरित तथा प्रदीप्त हुए (मध्वा) मधुर [रश्मिसमूह] द्वारा (पथः) हमारे मार्गों को (अनक्ति) अभिव्यक्त कर रहा है।

[घृतेन=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः)। अनक्ति=**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः)। मध्वा=मधुरूप आदित्यरश्मयः (छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ३, खण्ड १-४)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्ची बृहती** ॥

मध्वा॑ य॒ज्ञं न॑क्षति प्रैणा॒नो न॒राशंसो॑ अ॒ग्निः सु॒कृद्दे॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ ३ ॥

अर्थ—(प्रैणानः) प्रीतिवाला, (नराशंसः), [उपासक] नर-नारियों द्वारा स्तुतिप्राप्त, (सुकृत्) सुकर्मा, (सविता देवः) प्रेरक परमेश्वरदेव, (विश्ववारः) तथा विश्व द्वारा वरणीय परमेश्वर, (मध्वा) मधुर सौर रश्मिसमूह के साथ (यज्ञम् नक्षति) यज्ञ को प्राप्त होता है [यज्ञकर्म में उपस्थित होता है।]

[प्रातःकाल के सन्ध्या-यज्ञ का वर्णन किया है। सन्ध्या-यज्ञ तथा अग्निहोत्र में परमेश्वर, मधुर अर्थात् प्रातःकाल की माधुर्यमयी सूर्यरश्मियों के संग, इन यज्ञों में उपस्थित होता है। **नक्षति गतिकर्मा; तथा व्याप्तिकर्मा** (निघं० २.१४; २.१८)। प्रैणानः=प्रेम कुर्वन् यथा प्रेणा=प्रेम्णा, (ऋ० १०.७१.१)। मध्वा=मधुरूप रश्मियाँ (छान्दोग्य उप० अ० ३। तथा ४.५)।]

प्रैणानः=प्री (क्विप्, णित्)+णीञ् (प्रापणे+शानच् डित्), डित्वात् टिलोपः। प्री=**प्रीङ् प्रीणने** (दिवादिः); **प्रीञ् तर्पणे** (क्र्यादिः) तथा **तर्पणे** (चुरादिः)। अतः प्रैणानः=प्रीणन अर्थात् प्रसन्नता; और तर्पण अर्थात् तृप्ति प्राप्त करानेवाला परमेश्वर।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती** ॥

अच्छा॒यमे॑ति॒ शव॑सा घृ॒ता चि॒दीडा॑नो॒ वह्नि॒र्नम॑सा ॥ ४ ॥

अर्थ—(चित्) चित्-स्वरूप, (वह्निः) संसार का वहन करनेवाला (अयम्) यह परमेश्वर, (नमसा) नमस्कार द्वारा (ईडानः) स्तुत्य हुआ, (शवसा) बल के साथ (घृता) और दीप्ति के साथ, (अच्छा) हमारे अभिमुख (एति) आता है।

[घृता=घृ (क्षरणदीप्त्योः; जुहोत्यादिः)+[क्विप्]+तुक्, तृतीयैकवचन।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

अ॒ग्निः स्रुचो॑ अध्व॒रेषु॑ प्र॒यक्षु॒ स य॑क्षदस्य महि॒मान॑म॒ग्नेः ॥ ५ ॥

अर्थ—(सः अग्निः) वह यज्ञियाग्नि (अध्वरेषु) हिंसारहित (प्रयक्षु) प्रयाज [और अनुयाज] यज्ञों में (अस्य अग्नेः) इस महान्-अग्नि की (महिमानम्) महिमा का (यक्षत्) यजन करती है, (स्रुचः) इसी प्रकार स्रुचाएँ भी [घृताहुतियों द्वारा इसकी महिमा का यजन करती हैं।]

[अग्निः है व्यष्टि-यज्ञियाग्नि। अग्नेः=समष्टि महान्-अग्नि परमेश्वर।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा विराड् गायत्री** ॥

त॒री म॒न्द्रासु॑ प्र॒यक्षु॒ वस॑व॒श्चाति॑ष्ठन्वसु॒धात॑रश्च ॥ ६ ॥

अर्थ—(मन्द्रासु) मोदप्रद तथा हर्षप्रद (प्रयक्षु) प्रयाज [और अनुयाज] यज्ञों में, (तरी) तैरानेवाली नौका रूप में परमेश्वर, (वसवः च) और वसु कक्षा के ब्रह्मचारी, (वसुधातरः च) और वसुब्रह्मचारियों के धारण-पोषण करनेवाले आचार्य (अतिष्ठन्) स्थित होते हैं [अर्थात् इन यज्ञों का सम्पादन करते हैं।]

वैदिक दृष्टि से शिक्षार्थ तीन कक्षाएँ हैं, वसुकक्षा, रुद्रकक्षा और आदित्यकक्षा। वसुकक्षा २४ वर्षों की आयु में पूर्ण होती है जोकि सब शिक्षार्थियों के लिए आवश्यक है। शेष दो कक्षाएँ स्वेच्छ हैं, अतः मन्त्र में वसुकक्षा का कथन हुआ है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्नी बृहती** ॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥

अर्थ—(देवीः) कान्तियुक्त अर्थात् चमकते हुए, (विश्वे=विश्वाः) [काठक] सब (द्वारः) दरवाजे, (विश्वहा) सब दिनों, (अनु) निरन्तर, (अस्य) इस महान्-अग्नि परमेश्वर सम्बन्धी (व्रतम्) यज्ञकर्म की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं।

[देवीः=**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु** (दिवादिः)। **व्रतं कर्मनाम** (निघं० २.१) विश्वहा=विश्वानि अहानि। अभिप्राय यह कि यज्ञशाला के सब दरवाज़े प्रतिदिन निरन्तर खुले रहते हैं ताकि यज्ञकर्त्ता और यज्ञभक्त लोग यज्ञकर्म और उसके दर्शन के लिए आ सकें।]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ ८ ॥

अर्थ—(उरुव्यचसा[1]=उरुव्यचसः [काठक]) ये विस्तारवाले (अग्नेः) महानग्नि—परमेश्वर के (धाम्ना) तेज अर्थात् शक्ति द्वारा (पत्यमाने) [आकाश में] उड़ती हुई, (आ सुष्वयन्ती) सबको प्रेरित करती हुई, (यजते) यज्ञकर्म में सहायिका, (उपाके) समीप प्राप्त (उषासानक्ता) उषा और रात्रि [सायंकाल] (नः) हमारे (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ की, (अध्वरम्) जोकि हिंसारहित है, (अवताम्) रक्षा करें।

[उषासानक्ता=उषा-काल और सांयकाल। इन दो सन्धिकालों में सन्ध्यायज्ञ और अग्निहोत्र किये जाते हैं, ये दोनों अध्वर हैं, हिंसारहित हैं, अथवा हमारे शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करके हमें हिंसा से बचाते हैं। उपाके=उपगते, हमारे समीप प्राप्त, अर्थात् कालचक्र की गति द्वारा ये दो काल जब हमारे अभिमुख हों। आसुष्वयन्ती=आ, सु, षू (प्रेरणे) हमें यज्ञकर्म में प्रेरित करती हुईं उषासानक्ता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**षट्पदानुष्टुब्गर्भा परातिजगती** ॥

दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥

अर्थ—(दैवाः होतारः) हे दिव्य होताओ! (गृणाताः=गृणानाः) उपदेश देनेवाले तुम (अभिगृणत[2]) हमें उपदेश दो और (अग्नेः जिह्वया) यज्ञिय अग्नि की जिह्वा द्वारा (नः अध्वरम्) हमारे हिंसारहित यज्ञ को (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्वस्थ [आदित्य] की ओर [पहुँचाओ], (नः) हमारी (स्विष्टये) उत्तम या सुफला दृष्टि

१. अथवा 'उरुव्यचसा' विशेषण है, 'उषासानक्ता' का। २. अभिगृणत=गृ शब्दे (क्र्यादिः)।

के लिए। (तिस्रः देवीः) तीन देवियाँ (इदम्) इस (बर्हिः) कुशास्तरण पर (आ सदन्ताम्) बैठें, (इडा) इडा, (मही गृणाना सरस्वती) महनीया तथा उपदेश देनेवाली विज्ञानवती वेदवाणी, (भारती) तथा आदित्यप्रभा।

[दिव्य होता चार हैं, होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा। ये चारों होता हैं, यज्ञियाग्नि में आहुति देने में सहायक हैं। होता=**हु दाने** (जुहोत्यादिः)। होता 'आह्वाता' नहीं, अपितु दाता हैं। अग्नि की जिह्वा है उग्र लपट, ज्वाला। स्विष्टि है उत्तम या सुफला इष्टि, अर्थात् यज्ञ। यह इष्टि सुफला तब होती है जब यज्ञोत्थ धूम आदित्य की ओर गति करता है, यथा "**अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते, आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजा**" (तै० उपनिषद्)। वृष्टि और अन्न द्वारा इष्टि, 'सु-इष्टि' होती है। मन्त्र में 'इडा' पद संदिग्धार्थक है। इडा=इळ=अन्न (निघं० २.७), या वाक् (निघं० १.११)। यह मानुषीवाक्[१] है, यजमान आदि द्वारा की गई देवस्तुति। सरस्वती है विज्ञानवती वेदवाणी। भारती है भरण-पोषण करनेवाले आदित्य की प्रभा, रोशनी; "**भरतः आदित्यः तस्य भाः**" (निरुक्त ८.२.१३)। आ सदन्ताम्=बैठें। यह औपचारिक वर्णन है, अभिप्राय है यज्ञ में इन तीनों का उपयोग, स्थिति।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु। देव त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य॥ १०॥

अर्थ—(देव त्वष्टः) हे त्वष्टा देव! (तत्) उस (तुरीपम्) त्वरया अर्थात् शीघ्रता से पालक, (अद्भुतम्) विचित्र (पुरुक्षु) महती अन्न-राशि को तथा (रायः पोषम्) पुष्ट सम्पत् को (नः विष्य) हमारे लिए विमुक्त कर, जैसे कि (अस्य) इस नवजात शिशु की (नाभिम्) नाभि को [नाभिनाल से] विमुक्त किया जाता है।

[हे रूप-आकृतियों के निर्माता परमेश्वर! तू समग्र अन्नों और धनों का स्वामी है। इन दो निधियों को तू हमारे लिए विमुक्त कर दे। पुरुक्षु=पुरु+क्षु (अन्नम् निघं० २.७)। अन्न अद्भुत है, अद्भुत शक्तिवाला है, इसके खाते ही शरीर की पालना होती है, यह शीघ्रता से शरीर में शक्ति प्रदान करता है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

वनस्पतेव सृजा रराणः। त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु॥ ११॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति! (रराणः) इध्म प्रदान करता हुआ तू (अव सृज) इध्म का सर्जन कर, उसे उत्पन्न कर। (अग्निः) यज्ञियाग्नि (त्मना) निज स्वरूप द्वारा (देवेभ्यः) विद्वानों तथा यज्ञकर्त्ताओं के लिए (हव्यम्) अदनयोग्य अन्न को (स्वदयतु) स्वादुरूप में परिपक्व करे, (शमिता) इस प्रकार उन्हें शान्ति प्रदान करे।

[रराणः=**रा दाने** (अदादिः); रा+कानच्। हव्यम्=**हु अदने** (जुहोत्यादिः)। कविता में वनस्पति को सम्बोधित किया है, परन्तु वैदिक दृष्टि से वनस्पतियाँ भी प्राणी हैं, स्थावर-प्राणी। वनस्पतियाँ भी जीवात्माओं के शरीररूप हैं, परन्तु हैं "अन्तःसंज्ञा और सुख-दुःख से विवर्जित।" यथा "**अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखविवर्जिताः**" (मनु०)। तथा "**अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः**" (अथर्व० ६.४४.१) तथा "**ओषधिषु प्रतितिष्ठा शरीरैः**" (अथर्व० १८.२.७)। वृक्ष हैं 'अन्तःसंज्ञाः' परन्तु 'सुख-दुःख से रहित' जैसे कि

१. निरुक्त में "तिस्रो देवी" सम्बन्धी मन्त्र की व्याख्या हुई है। मन्त्र है (ऋ० १०.११०.८)। इसमें कहा है कि "इळा मनुष्वत्" अर्थात् इळा का सम्बन्ध मनुष्य के साथ है, यह मानुषीवाक् है।

स्वाप्नौषध द्वारा मनुष्य को 'अन्तःसंज्ञ' कर शल्यक्रियाएँ की जाती हैं।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः। इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम्॥ १२॥

अर्थ—(जातवेदः अग्ने) हे उत्पन्न प्रदार्थों के ज्ञाता प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! (इन्द्राय) [इन्द्रियों के अधिष्ठाता] जीवात्मा के लिए (स्वाहा) स्वाहापूर्वक किये (यज्ञम्) यज्ञ को (कृणुहि) सफल कर, (विश्वे देवाः) [तेरी कृपा से] सब विद्वान् या दिव्यगुणी मनुष्य (इदम् हविः) इस हविर्यज्ञ का (जुषन्ताम्) सेवन करें, अनुष्ठान करें।

सूक्त २८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नव प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि॥ १॥

अर्थ—(नव प्राणान्) ९ प्राणों को (नवभिः) ९ द्वारा (सं मिमीते) संगत करता है, (दीर्घायुत्वाय, शतशारदाय) दीर्घायु के लिए, सौ शरदृतुओं के लिए। (हरिते त्रीणि) मनोहारी या पीले सुवर्ण में तीन (रजते त्रीणि) मनोरञ्जक चाँदी में तीन, (अयसि त्रीणि) लोहे में तीन [बल] (तपसा) अग्नि के ताप द्वारा (आविष्ठितानि) प्रविष्ट हो जाते हैं।

[नव प्राणान्=५ प्राण हैं ५ ज्ञानेन्द्रियों के प्राण और ४ प्राण हैं अन्तःकरण-चतुष्टय; मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। प्राणों में ५ कर्मेन्द्रियों के प्राणों का कथन नहीं, क्योंकि कर्मन्द्रियों के कर्म, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रेरणाओं पर ही आश्रित हैं। सुवर्ण, रजत और अयस्—इनमें से प्रत्येक में तीन-तीन बल, 'तपसा' अर्थात् अग्नि के ताप द्वारा इनकी भस्मों में प्रविष्ट होते हैं। प्रत्येक में तीन-तीन बल हैं त्रिविधशरीरों[1] के त्रिविध रोगों की निवृत्ति के लिए। संमिमीते=सम्+**मी गतौ** (चुरादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च।
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु॥ २॥

अर्थ—'अग्नि से दिशः' तक के नौ तत्त्व तथा (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयव अर्थात् मास, (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (संविदानाः) एकमत हुए, (अनेन त्रिवृता) इस त्रिवृत् द्वारा (मा) मुझे (पारयन्तु) रोगों से पार करें।

[अभिप्राय यह कि रोगों से छुटकारे के लिए, त्रिवृत् (सुवर्ण, रजत, लोह की भस्मों) द्वारा चिकित्सा के साथ-साथ, विशुद्ध प्राकृतिक जीवन भी चाहिए।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम्॥ ३॥

१. त्रिविध शरीर=स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर। त्रिविध रोग हैं, वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक।

अर्थ—(त्रिवृति) त्रिवृत् [सुवर्ण रजत, अयस् की भस्मों] में (त्रयः पोषः) त्रिविध पुष्टियाँ (श्रयन्ताम्) सदा आश्रय पाएँ; (पूषा) पोषण करनेवाला परमेश्वर (पयसा घृतेन) गोदुग्ध और गोघृत द्वारा (अनक्तु) हमें कान्तियुक्त करे। (अन्नस्य भूमा) अन्न की बहुतायत, (पुरुषस्य भूमा) पारिवारिक पुरुषों की बहुतायत, (पशूनाम् भूमा) गौ आदि पशुओं की बहुतायत (ते) ये तीन बहुतायतें, (इह) इस गृह में (श्रयन्ताम्) आश्रय पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः।
इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन्त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णुः॥ ४॥

अर्थ—(आदित्याः) [१२ मासों सम्बन्धी १२ प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न १२] हे आदित्यो! (इमम्) इस मनुष्य को (वसुना) निज सम्पत्ति रूप रश्मिसमूह द्वारा (समुक्षत) सम्यक् प्रकार से सींचो, (अग्ने) हे यज्ञियाग्नि! (वावृधानः) बढ़ती हुई तू (इमम्) इस मनुष्य को (वर्धय) बढ़ा। (इन्द्र) हे जीवात्मन्! (इमम्) इस मनुष्य को (वीर्येण) वीर्य के साथ (संसृज) सम्बद्ध कर, (अस्मिन्) इस मनुष्य में (पोषयिष्णुः) पुष्टिकारक (त्रिवृत्) त्रिवृत् (श्रयताम्) आश्रय पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्॥ ५॥

अर्थ—(विश्वभृत्) सबका भरण-पोषण करनेवाली (भूमिः) भूमि, (हरितेन) मनोहारी या पीतवर्णी हिरण्य द्वारा (त्वा) तुझे (पातु) सुरक्षित करे, (सजोषाः) प्रीति और सेवा करनेवाली (अग्निः) अग्नि (अयसा) लोह द्वारा (पिपर्तु) पालन-पोषण करे। (अर्जुनम्) सुफेद चाँदी, (वीरुद्भिः) वीरुधों के साथ (संविदानम्) ऐकमत्य प्राप्त हुई, (सुमनस्यमानम्) प्रसन्न मनवाले तुझको, (ते) तथा तेरे लिए (दक्षम्) बल को (दधातु) धारित करे और संपुष्ट करे।

[सुमनस्यमानम् का सम्बन्ध भूमि और अग्नि तथा वीरुद्भिः के साथ भी है। प्रत्येक अर्थात् भूमि आदि द्वारा चिकित्सा में मन की सुप्रसन्नता भी अपेक्षित है। "सुमनस्यमानम् पातु, पिपर्तु, दधातु" ऐसा अन्वय अभीष्ट है। मन्त्र (१) में तपसा द्वारा तीनों धातुओं की भस्में भी अभिप्रेत हैं। मन्त्र (५) में हरित अर्थात् हिरण्य द्वारा शुद्ध हिरण्य धातु, अयसा द्वारा शुद्ध लोह धातु, तथा अर्जुनम् द्वारा शुद्ध चाँदी धातु भी अभिप्रेत है। होम्योपेथी में शुद्ध हिरण्य आदि धातुओं का भी चिकित्सा में प्रयोग होता है। हिरण्य को Aurum metallicum, अयस् को Ferrum metallicum, तथा अर्जुनम् अर्थात् चाँदी को Argentum metallicum कहते हैं। आयुर्वेद में शुद्ध चाँदी का प्रयोग चाँदी के वर्क में भी किया जाता है। वीरुद्भिः द्वारा अनुपान अभिप्रेत हैं, वीरुधों के विचूर्ण या रस।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी** ॥

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्। अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे॥ ६॥

अर्थ—(इदम् हिरण्यम्) यह हिरण्य (जन्मना) उत्पत्ति की दृष्टि से (त्रेधा जातम्) तीन प्रकार का

पैदा हुआ है। (एकम्) एक (अग्नेः) अग्नि का (प्रियतमम्) अत्यन्त प्रिय (बभूव) हुआ है। (एकम्) एक (हिंसितस्य) हिंसित हुए (सोमस्य) वीर्य के [एकांश रूप में] (परापतत्[1]) परे गिरा है। (एकम्) एक को (वेधसाम्)[2] विधातृरूप (अपाम्) जलों का (रेतः) रेतस् (आहुः) कहते हैं। (ते) तेरी (आयुषे) आयु के लिए (मन्त्र १), (त्रिवृत् हिरण्यम्) त्रिविध वर्तमान हिरण्य (अस्तु) हो। **'रेतः सोमः'** (श० ३.३.२.१)।

[हिरण्य पद द्वारा तीन प्रकार के हिरण्य अभिधेय हैं। एक तो अग्नि का प्रियतम है, अग्नि के संयोग द्वारा उत्पादित हिरण्य है, 'हिरण्य भस्म' (मन्त्र १, तपसा) दूसरा हिरण्य है—सोम, 'वीर्यरूप' यह शरीर से एकांशरूप में हिंसित होकर, कटकर परे [अर्थात् स्त्रीयोनि में] गिरता है। सोम है वीर्य (अथर्व० १४.१.१-५)। तृतीय हिरण्य है 'अपां रेतस्'। अपाम् हैं, 'वेधसामपाम्'; अर्थात् जगत् के विधाता अर्थात् निर्माता के आपः का (रेतः)। यथा **''अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद रेतः''** (तैत्तिरीय उपनिषद्)। इस परम्परा द्वारा सोम अर्थात् अहिंसित वीर्य है 'अपां रेतः'। मन्त्र में हिंसित वीर्य को सोम कहा है और अहिंसित वीर्य को ''अपां वेधसां रेतस्'' अपाम् को वेधसाम् कहा है। **''वेधाः मेधाविनाम''** (निघं० ३.१५)। वैदिक वर्णन शैली में अपाम् को चेतन कल्पित कर इन्हें वेधसाम् कहा है। वैदिक साहित्य में वीर्य को हिरण्य भी कहते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेकरम्॥ ७॥

अर्थ—(जमदग्नेः) आँखों में चमकती ज्योतिवाले ब्रह्मचारी का (त्र्यायुषम्) तीन आयुधों का समूह, (कश्यपस्य) परमेश्वर के द्रष्टा का (त्र्यायुषम्) तीन आयुधों का समूह, (अमृतस्य) अविनाशी परमेश्वर की (त्रेधा) त्रिविध (चक्षणम्) कृपादृष्टि और (त्रीणि) तीन (आयूंषि) आयुएँ (ते) तेरी (अकरम्) मैंने नियत कर दी हैं।

[निर्बल रोगी के प्रति तीन धातुओं के प्रयोक्ता का कथन है। त्र्यायुष=सुखी कौमारावस्था, यौवनावस्था तथा वृद्धावस्था। कश्यपः=पश्यतीति। वर्ण व्यत्यास। त्रेधाचक्षण=शरीर की तीन अवस्थाओं में परमेश्वर की कृपादृष्टि। चक्षणम्=**चष्टे पश्यतिकर्मा** (निघं० ३.११)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा॥ ८॥

अर्थ—(त्रयः) तीन (सुपर्णाः) सुपतन[3] अर्थात् गतिशील शरीर [स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूपी],

१. अथवा, **''अपामेकं वेधसां रेत आहुः''**=आपः हैं शरीरस्थ, आपः, अर्थात् शरीरस्थ रक्त, रक्त से उत्पन्न होता है रेतस् अर्थात् वीर्य। यह वीर्य हिरण्यवत् है, शुद्ध हिरण्यवत् शक्ति प्रदाता है (अथर्व० १०.२.११)। शरीरस्थ ये आपः वेधस् हैं, विधातृ रूप हैं, शरीरस्थ अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विधान अर्थात् विधिपूर्वक निर्माण करते हैं। वेधाः=**''विधाञो वेध च''** (उणा० ४.२२६)।

२. परापतत्=तथा सोम का अवशिष्टांश जो परापतत् नहीं हुआ, शरीरस्थ रक्त में ही मिला रहता है वह हिरण्यरूप है, शुद्ध हिरण्य के रूप में शक्ति प्रदान करता है।

३. सुपर्णाः=सुपतनाः (निरुक्त ४.१.२; ३.२.१५)।

(त्रिवृता) तीन [धातुओं के सेवन] द्वारा (शक्राः) शक्तिशाली हुए, (संभूय) परस्पर मिलकर (यत्) जो (एकाक्षरम् अभि) एक अक्षीण परमेश्वर के संमुख (आयन्) आ जाते हैं, हो जाते हैं, तो वे तीनों शरीर (अमृतेन साकम्) अमर परमेश्वर के साथ हुए, (मृत्युम्) मृत्यु को (प्रत्यौहन्) खदेड़ देते हैं और (विश्वा दुरितानि) सब दुष्परिणामी कर्मों को (अन्तर्दधानाः) अन्तर्हित कर देते हैं, तिरोहित कर देते हैं।

[अक्षरम्=न क्षीयते इति। एकाक्षर 'ओ३म्' भी सम्भव है और तद्वाच्य परमेश्वर भी। प्रत्यौहन् यथा "**मृत्योः पदम् योपयन्त एत**" (अथर्व० १२.२.३०)। प्रत्यौहन्="प्रति (उल्टे)+वह (प्राप्त करना)", उल्टे कदम वापस कर देना।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्त्वा पात्वर्जुनम्।

भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद्देवपुरा अयम्॥ ९॥

अर्थ—(दिवः) द्युलोक से (त्वा) तुझे (हरितम्) मनोहारी पीतवर्णी आदित्य (पातु) सुरक्षित करे, (मध्यात्) मध्य प्रदेश अर्थात् अन्तरिक्ष से (त्वा) तुझे (अर्जुनम्) शुभ्र विद्युत् (पातु) सुरक्षित करे। (भूम्याः) भूमि से (अयस्मयम्) लोहमय अस्त्र-शस्त्र समूह (पातु) सुरक्षित करे, (अयम्) सुरक्षित हुआ यह (देवपुराः) देवपुरियों को (प्रागात्) चला गया है, [उनमें प्रविष्ट हो गया है।]

[देवपुराः=देवों की पुरियाँ, दिव्य व्यक्तियों की पुरियाँ। यथा "**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः**" (अथर्व० १०.२.३१) तथा (१०.२.३२, ३३); और '**ब्रह्मणः पुरम्**' (अथर्व० १०.२.२८-३०)। इनकी व्याख्या के लिए देखो मत्कृत अथर्ववेदभाष्य। देवपुराः= देवपुर्+टाप्, "**टापं चैव हलन्तानाम्**"। अर्जुनम्="**अहश्च कृष्णमहरर्जुनम् च**" (ऋ० ६.९.१) तथा निरुक्त (२.६.२१)। अहः कृष्णम्=रात्रीः, अहः अर्जुनाम्=दिन का काल। इस प्रकार अर्जुन का अर्थ 'शुभ्र' भी होता है। व्याख्येय मन्त्र में अर्जुनम् का अभिप्राय है, शुभ्र विद्युत्। 'त्वा' का अभिप्राय है तुझ मृत्युविजयी (मन्त्र ८) को।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः। तास्त्वं बिभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव॥ १०॥

अर्थ—(इमाः तिस्रः देवपुराः) ये तीन देवपुरियाँ हैं, (ताः) वे (त्वा) तुझे (सर्वतः) सब ओर से (रक्षन्तु) सुरक्षित करें। (ताः) उन्हें (त्वम् बिभ्रत्) तू धारण करता हुआ (वर्चस्वी) वर्चस्वाला अर्थात् तेजस्वी तथा (द्विषताम्) द्वेष करनेवालों से (उत्तरः) श्रेष्ठ तथा अधिक शक्तिवाला (भव) हो जा।

[तिस्रः देवपुराः=त्रिविध शरीर। वे तीनों हे मृत्युविजयी! सब ओर से तुझे सुरक्षित करें। बिभ्रत्=उन तीनों को धारण करता हुआ तू मृत्युविजयी, जीवित है, जीवन्मुक्त है। द्विषताम्=आभ्यन्तर द्वेषी काम, क्रोध आदि।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे।

तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे॥ ११॥

अर्थ—(हिरण्यम्) वीर्यरूपी हिरण्य को, जोकि (देवानाम् अमृतम् पुरम्) दिव्यगुणों का अक्षय्य

नगररूप है, उसे (यः) जो (प्रथमः देवः) प्रथम आयुवाला दिव्य ब्रह्मचारी, (अग्रे) अग्रिम अर्थात् प्राथमिक आयु में (आबेधे) बाँधता है, निजशरीर में दृढ़-बद्ध कर लेता है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार, (दश प्राचीः) १० आगे बढ़ी अँगुलियों को करके अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर (त्रिवृत् कृणोमि) तीन बार मैं करता हूँ; (त्रिवृत्) तीन लोकों में वर्तमान परमेश्वर (मे) मुझे (आबधे) इस हिरण्य अर्थात् वीर्य को, ब्रह्मचारी में दृढ़-बद्ध करने की (अनुमन्यताम्) स्वीकृति प्रदान करे।

[सूक्त २८ में, मन्त्रों में, त्रिवृत् पद का प्रयोग नाना स्थानों में, नाना अर्थों में हुआ है। मन्त्र ११ में भी उसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। यह इस सूक्त की रचना में वैशिष्ट्य है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः। अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि॥ १२॥

अर्थ—(अर्यमा) न्यायकारी अथवा अरियों का नियन्ता, (पूषा) पुष्टिप्रद, (बृहस्पतिः) बृहती-वेदवाणी का, या बृहद् ब्रह्माण्ड का पति परमेश्वर (त्वा) तुझे (आचृततु) अपने साथ ग्रथित अर्थात् सम्बद्ध करे। (अर्हजातस्य) दिन में पैदा अर्थात् प्रकट हुए आदित्य का (यत्=यदा) जब (नाम) हमारी ओर नमन हो, तब (तेन) उस नमन-काल के साथ, अर्थात् उस काल में, (त्वा) तुझे (अति चृतामसि) पूर्णतया परमेश्वर के साथ हम ग्रथित करते हैं, सम्बद्ध करते हैं।

[अर्यमा आदि तीनों द्वारा एक परमेश्वर ही अभिप्रेत है, यतः मन्त्र ११ में '**अनुमन्यताम्**' द्वारा, तथा मन्त्र १२ में '**चृततु**' द्वारा एक का ही कथन हुआ है। अर्यमा='**आर्यान् मानयति**' (दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश) तथा '**अरीन् नियच्छति**' (निरुक्त ११.३.२३; अदिति पद)। 'अहर्जात' का काल है, प्रातःकाल। उस काल की सन्ध्या में प्रार्थी का परमेश्वर के साथ ग्रथन हुआ है। 'चृततु, चृतामसि'=**चृती हिंसाग्रन्थनयोः** (तुदादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा। संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि॥ १३॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (ऋतुभिः) ऋतुओं के द्वारा, (आर्तवैः) ऋतुओं के अवयवरूप मासों या ऋतुओं के समूह द्वारा और (संवत्सरस्य तेन तेजसा) संवत्सर के उस तेज द्वारा (त्वा) तुझे (आयुषे) दीर्घ आयु के लिए, (वर्चसे) और वर्चस् की प्राप्ति के लिए, (संहनु) मिले जबाड़ोंवाला अर्थात् मौनधारी (कृण्मसि) हम करते हैं। अभिप्राय यह कि एक वर्ष भर तू मौन रह, ताकि तू दीर्घायु तथा वर्चस् को प्राप्त कर सके। मौनधारी मुनि होते हैं। संहनु क्रियाविशेषण है 'कृण्मसि' का।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु।
भिन्दन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय॥ १४॥

अर्थ—(घृतात्) घृत से (उल्लुप्तम्[1]) उठे और लुप्त दर्शन हुए, परित्यक्त हुए, (मधुना) माधुर्य द्वारा (समक्तम्) सम्यक्-अभिव्यक्त हुए, (भूमिदृंहम्) भूमि को दृढ़ करनेवाले, (अच्युतम्) न च्युत

---

१. घृतसाध्य यज्ञिय कर्मों से उठे हुए तथा लुप्तदर्शन हुए मुझ परमेश्वर पर आरोहण कर। अभिप्राय यह कि परमेश्वर की प्राप्ति अर्थात् उसका दर्शन घृतसाध्य काम्य कर्मों द्वारा नहीं होता।

होनेवाले अर्थात् कूटस्थ, (पारयिष्णु) भवसागर से पार करनेवाले, (सपत्नान्) कामादि शत्रुओं को (भिन्दन्) छिन्न-भिन्न करनेवाले, (अधरान् च) और उन्हें अधोगतिक (कृण्वत्) करते हुए हे जीवन्मुक्त! [मन्त्र ८] तू (महते सौभगाय) महासौभाग्य अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए (मा) मुझ परमेश्वर पर (आरोह) आरोहण कर।

[घृतात् उल्लुप्तम्=यज्ञों में घृत की आहुतियों से रहित हुए, परन्तु जीवन में माधुर्य या मधुविद्या द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले मुझ परमेश्वर पर आरोहण कर। अभिप्राय यह कि गन्तव्य स्थान में जाना चाहता हुआ व्यक्ति जैसे अश्व पर आरोहण करता है, इसी प्रकार हे जीवन्मुक्त! तू मुझ परमेश्वर पर आरोहण कर, ताकि शरीर छूटने पर मोक्षस्थान में मैं तुझे पहुँचा दूँ। भूमिदृंहतम्=''**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा**'' (यजुः० ३२.६)।]

सूक्त २९

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पुरस्ताद्युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम्।
त्वं भिषग्भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम॥ १॥

अर्थ—(जातवेदः अग्ने) हे जातप्रज्ञ अग्नि! (पुरस्तात् युक्तः) पूर्वदिशा में सम्बद्ध तू (वह) जगत् का वहन कर और (विद्धि) जान (यथा) जिस प्रकार कि (इदम्) यह [पिशाच हनन कर्म] (क्रियमाणम्) किया जा रहा है। (त्वम्) तू (भिषक्) चिकित्सक (भेषजस्य) औषध का (कर्ता असि) करनेवाला है, (त्वया) तुझ द्वारा [स्वस्थ] (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) गौ, अश्व और पुरुष को (सनेम) हम प्राप्त करें।

[जातवेदः द्वारा 'जातप्रज्ञ' अर्थात् चेतन-तत्त्व सम्बोधित हुआ है। यह परमेश्वर है। पुरस्तात् में आदित्य का सम्बन्ध है, यह अग्नि है। इस आदित्य-अग्नि में '**ओ३म् खं ब्रह्म**' की सत्ता है (यजुः० ४०.१७), यथा ''**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**''। इसे 'वह' और 'विद्धि' द्वारा भी निर्दिष्ट किया है। परमेश्वर भिषक् है, चिकित्सक[१] है, [**भेषजमसि भेषजम्,** यजुः० ३.५९)] वह साक्षात् भेषजरूप है और भेषजों, औषधों का कर्त्ता है, उत्पादक है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति॥ २॥

अर्थ—(जातवेदः अग्ने) हे जातप्रज्ञ अग्नि! (विश्वेभिः देवैः सह) सब देवों सहित (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हुआ तू, (तत्) उस पिशाचहनन कर्म को (तथा) उस प्रकार का (कृणु) कर दे कि (यः) जिस पिशाच ने (नः) हमें (दिदेव) ज्वर आदि द्वारा परितप्त किया है, (यतमः) उन पिशाचों में से जिसने (जघास) हमारे मांस को खाया है, (यथा) जिस प्रकार कि (अस्य) इस पिशाच का (परिधिः) रक्षा-का-घेरा (पताति) टूटकर गिर जाए।

[मन्त्र में परमेश्वर संबोधित हुआ है। जातवेदाः अग्निः (मन्त्र १ वत्।) विश्वेदेवाः=सूर्य, वायु,

१. वेदानुसार आदित्य रश्मियाँ, रोग कीटाणुओं का हनन करती हैं, मानो आदित्यस्थ परमेश्वर ही इसका हनन करता है, अतः वह चिकित्सक हैं।

यज्ञियाग्नि आदि। संविदानः=इन सबकी सहायता प्राप्त करके। दिदेव=लिट् लकार; दिव्=द्युतिः, परिताप; [द्युत] दीप्तौ (भ्वादिः)। परिधिः=परितः धीयते रक्षार्थमिति। नगर, किला, मकान, कवच, घेरा आदि परिधि हैं। मन्त्र में यह अभिप्राय है कि पिशाच मरता नहीं, जिस परिधि में भी यह सुरक्षित हुआ-हुआ है उसे परमेश्वर तू गिरा दे, ताकि हम उसका हनन कर सकें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (अस्य सः परिधिः) इस पिशाच की परिधि (पताति) टूटकर गिर जाए, (तथा) उस प्रकार (अग्ने) हे अग्नि! तू (तत् कृणु) उसे कर दे, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ! (विश्वेभिः देवैः सह) सब देवों के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हुआ तू।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि॥ ४॥

अर्थ—(यतमः) जिस (पिशाचः) पिशाच ने (अस्य) इस [रुग्ण] के [मांस को] (जघास) खाया है, (यविष्ठ अग्ने) हे युवतम अग्नि! उसकी (अक्ष्यौ) दोनों आँखों को (नि विध्य) नितरां वींध, (हृदयं नि विध्य) हृदय को नितरां वींध, (जिह्वाम्) जिह्वा को (नि तृन्द्धि) नितरां काट डाल, (दतः) दाँतों को (प्र मृणीहि) पूर्णतया तोड़ डाल, (तम्) उसे (प्रति शृणीहि) प्रत्येक अंग में काट डाल।

[प्रकरण की दृष्टि से पिशाच है मनुष्य को रुग्ण करनेवाला रोगजीवाणु, अर्थात् जर्म (germ), परन्तु उसे पुरुषविध-कल्पित कर उसके कल्पित-पुरुषाङ्गों के विनाश का वर्णन मन्त्र में हुआ है। यह शैली निरुक्त में भी स्वीकृत की गई है (७.२.६, ७)। मन्त्र में "जातवेदाः अग्निः" का वर्णन नहीं, अपितु "यविष्ठ अग्नि" का वर्णन है, अर्थात् प्रचण्ड यज्ञियाग्नि का। इसके सम्बन्ध में ही "समिधः" का भी कथन हुआ है (मन्त्र १४, १५)। यज्ञियाग्नि से उत्थित धूम[१] रोग-जीवाणुओं का विनाश करता है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजगती विराड् जगती** ॥

यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत्पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान्पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः॥ ५॥

अर्थ—(अस्य) इस रुग्ण का (यत्) जो (मांसम्) मांस (हृतम्) किसी स्थान से (पिशाचैः) मांसभक्षक रोगजीवाणुओं ने हरण कर लिया है, (विहृतम्) विविध स्थानों से हरण कर लिया है, (यत्) जो (पराभृतम्) भरने से परागत हो गया-सा है, तथा (आत्मनः) शरीर का (यतमत्) जो अंश (जग्धम्) इन्होंने खा लिया है (तत्) उस मांस को (अग्ने) हे चिकित्सा में अग्रणी (विद्वान्) चिकित्साविज्ञ (त्वम्) तू (पुनः) फिर (शरीरे) रुग्ण के शरीर में (आभर) पूर्णतया भरपूर कर दे, और तत्पश्चात्

---

१. यज्ञियाग्नि से उत्थित धूम में सूक्ष्मरूप में ओषधियाँ होती हैं। नासिका द्वारा इसके पान करने से सूक्ष्म औषध साक्षात् रक्त में मिलकर रोगोपचार करती हैं।

(असुम्) इसकी प्रज्ञा अर्थात् ज्ञानशक्ति को (एरयामः) हम [गुरुजन] इसके शरीर में प्रेरित कर देते हैं। [**असुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)।]

तथा

परकीय शत्रु पिशाचों ने इस राष्ट्र का जो अङ्ग [हिस्सा] छीन लिया है, जो विविध भागों में विभक्त कर दिया है, जिस अङ्ग की क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती, उसे युद्ध-विद्या के जाननेवाला तू अग्निरूप[1] सेनापति, राष्ट्र के शरीर में भरपूर कर दे, और राष्ट्रशरीर में प्राणशक्ति का पुनः संचार हम राष्ट्राधिकारी कर देते हैं। राष्ट्र भी शरीररूप है जिसका पालन-पोषण राजा स्वशरीरवत् करता है। यथा "**पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। उरू अरत्नी जनुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः।**" (यजुः० २०.८)। असुः="**अपिवा असुरिति प्राणनाम, आस्तः शरीरे भवति**" (निरुक्त ३.२.८)।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु॥ ६॥

अर्थ—(आमे) कच्चे (सुपक्वे) उत्तम पके, (शबले) अधपके, (विपक्वे) विशेषतया पके अर्थात् अधिक पके (अशने) भोजन में (यः पिशाचः) जिस पिशाच ने (मा[2] ददम्भ) मुझे हिंसित किया है, रुग्ण किया है, (तत्) तो वह पिशाच अर्थात् रोग-जीवाणु (आत्मना), निज स्वरूप से, (प्रजया) निज सन्तानों से; [वियुक्त कर दिया जाए] (पिशाचाः) और वे सब इसके मांसभक्षक रोग-जीवाणु भी (वियातयन्ताम्) वियुक्त कर दिए जाएँ, ताकि (अयम्) यह रुग्ण भी (अगदः) रोगरहित (अस्तु) हो जाए [पुनः रुग्ण न हो सके।]

[ददम्भ=**दभ्नोति वधकर्मा**। (निघं० २.१९)। पिशाचः=पिशित अर्थात् मांस का भक्षक, रोग-जीवाणु। अभिप्राय यह कि ऋतु के अनुसार जो रोग-जीवाणु उत्पन्न होकर रोग का प्रसार करते हैं उनका बीजनाश कर देना चाहिए, ताकि वे पुनः उस रोग का प्रसार न कर सकें।

तथा

राष्ट्राधिपति कहता है कि जिस या जिन पर-राष्ट्र के नरपिशाचों ने मेरे भोजन में दम्भ अर्थात् छल-कपट से [विष मिला दिया है] उनके राजा और उसकी सन्तानों को यातनाओं द्वारा नष्ट कर देना चाहिए ताकि मैं, और मेरे प्रजाजन, दम्भ द्वारा की गई यातनाओं से मुक्त रहें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्येऽ यः।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु॥ ७॥

अर्थ—(क्षीरे) दूध में, (मन्थे) मठे में, (अकृष्टपच्ये) अनजुते खेत में पके अन्न में, (धान्ये) तथा जुते खेत के धान्य में (अशने) मेरे इस भोजन में (यतमः) जिस किसी रोग-जीवाणु ने (मा) मुझे

---

१. योद्धाओं को अग्निरूप कहा भी है। यथा "**नरो अग्निरूपाः**" (ऋ० १०.८४.१)।
२. 'मा' द्वारा रोगी का पिता या आचार्य प्रतीत होता है और 'अयम्' द्वारा पुत्र या शिष्य-ब्रह्मचारी!

(ददम्भ) हिंसित किया है, रुग्ण किया है (तत्) तो वह पिशाच अर्थात् रोग-जीवाणु तथा (पिशाचाः) अन्य सब मांस-भक्षक रोग-जीवाणु भी (आत्मना) निज स्वरूप से, तथा (प्रजया) सन्तानों से (वियातयन्ताम्) वियुक्त कर दिए जाएँ और (अयम्) यह रुग्ण (अगदः) रोगरहित (अस्तु) हो जाए। [राष्ट्राधिपति के सम्बन्ध में, मन्त्र ६ में कथित अर्थ ही, इस मन्त्र में भी जानना चाहिए।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ८ ॥

अर्थ—(यातूनाम्) यातना देनेवाले रोग-जीवाणुओं में (यतमः) जिस किसी (क्रव्याद्) कच्चामांस खानेवाले रोग-जीवाणु ने, (शयने शयानम्) शय्या में सोते हुए, या (अपाम् पाने) जलपान में (मा ददम्भ) मुझे हिंसित किया है, रुग्ण किया है, (तत्) तो वह क्रव्याद्, तथा अन्य (पिशाचाः) सब मांस-भक्षक रोग-जीवाणु भी, (आत्मना) निजस्वरूप से, (प्रजया) तथा सन्तानों से (वियातयन्ताम्) वियुक्त कर दिए जाएँ और (अयम्) यह रुग्ण (अगदः) रोगरहित (अस्तु) हो जाए। [क्रव्याद्=क्रव्य=हिंसा द्वारा प्राप्त कच्चा मांस+**अद भक्षणे**। **क्रुवि हिंसायाम्** (भ्वादि)। क्रव्याद् और पिशाच समानार्थक हैं। कच्चा मांस है शरीरस्थ मांस, जिसे कि रोग-जीवाणु रुग्ण करते हैं। राष्ट्राधिपति के सम्बन्ध में मन्त्रार्थ, पूर्ववत्।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।

तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ९ ॥

अर्थ—(यातूनाम्) यातना देनेवाले रोग-जीवाणुओं में (यतमः) जिस किसी (क्रव्याद्) कच्चा मांस खानेवाले रोग-जीवाणु ने (शयने शयानम्) शय्या में सोते हुए, या (दिवानक्तम्) दिन-रात में [किसी समय] (ददम्भ) मुझे हिंसित किया है, रुग्ण किया है (तत्) तो वह क्रव्याद्, तथा अन्य (पिशाचाः) सब रोग-जीवाणु भी, (आत्मना) निज स्वरूप से, तथा (प्रजया) सन्तानों से (वियातयन्ताम्)वियुक्त कर दिए जाएँ, और (अयम्) यह रुग्ण (अगदः) रोगरहित (अस्तु) हो जाए [राष्ट्राधिपति के सम्बन्ध में मन्त्रार्थ, पूर्ववत्। 'आमे' मन्त्र ६ से, 'अपां मा' मन्त्र तक में वर्णित खाने-पीने की वस्तुएँ जब रोग-जीवाणुओं द्वारा विषाक्त [Infected] हो जाती हैं तो इन वस्तुओं के सेवन से रोग-जीवाणु रुग्ण कर देते हैं।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।

तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥

अर्थ—(जातवेदः अग्ने) हे जातप्रज्ञ, अग्निनामक परमेश्वर! (रुधिरम्) स्वास्थ्यनिरोधक, (मनोहनम्) मन का हनन करनेवाले, विचार शक्ति का हनन करनेवाले, (क्रव्यादम्) कच्चे मांस का भक्षण करनेवाले, (पिशाचम्) मांस-भक्षक रोग-जीवाणु का (जहि) हनन कर। (तम्) उसे (वाजी) बलशाली (इन्द्रः) इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीवात्मा (वज्रेण) आत्मिकबलरूपी वज्र द्वारा (हन्तु) नष्ट करे, (सोमः) वीर्यशक्ति (धृष्णुः) जोकि धर्षण अर्थात् रोग-जीवाणुओं का पराभव करनेवाली है, (अस्य) इस जीवाणु के (शिरः)

सिर को (छिनत्तु) काट दे, छिन्न-भिन्न कर दे।

[मन्त्र में आध्यात्मिक शक्तियों का वर्णन है जोकि रोग-जीवाणुओं का हनन करती हैं। अग्नि=परमेश्वर (यजुः० ३२.१)। सोमः=वीर्य (अथर्व० १४.१.१-५)। शिरः=पुरुषविधवर्णन, मन्त्र ४। रुधिरम्=**रुधिर् आवरणे** (रुधादिः) आवरकम्, निरोधकम्, जोकि जीवनीय शक्तियों को निरुद्ध कर देता है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥ ११ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (सनात्) सनातन काल से (यातुधानान्) यातनाओं के निधिभूत [राक्षसों को] (मृणसि) तू मारता रहा है, (पृतनासु) युद्धों में (रक्षांसि) राक्षसरूप शत्रु सैनिक (त्वा) तुझे (न जिग्युः) नहीं जीत पाए। (क्रव्यादः) कच्चामांस खानेवाले राक्षसों को (सहमूरान्) मूल सहित (अनु) निरन्तर (दह) तू दग्ध करता रह, (ते) तेरे (दैव्यायाः हेत्याः) दिव्य-अस्त्र से (मा मुक्षत) वे छूट न पाएँ।

[अग्ने=राष्ट्र का अग्रणी प्रधानमन्त्री, तथा यज्ञियाग्नि। मन्त्र में देवासुरसंग्राम भी अभिप्रेत हैं, तभी हेति को दैव्या कहा है।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत्पराभृतम्। गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम्॥ १२ ॥

(**अर्थ**—(जातवेदः) हे जातप्रद! [चिकित्सक] या प्रधानमन्त्री! (समाहर) वापस ला दे (यत् हृतम्) जो मांस [रोग-जीवाणुओं ने] हर लिया है, (यत्) जो (पराभृतम्) परे फेंक दिया है। (अस्य) इस रुग्ण के (गात्राणि) शरीरावयव (वर्धन्ताम्) बढ़ें, (अयम्) यह रुग्ण (अंशुः[1] इव) सोम ओषधि के अंकुरों के सदृश (आप्यायताम्) पूर्णतया प्रवृद्ध हो।

[समाहर=या तो चिकित्सक, अथवा प्रधानमन्त्री रोगी के अंगों के उपचय का प्रबन्ध करे। आप्यायताम्=**ओप्यायी वृद्धौ** (भ्वादिः)। यज्ञियाग्नि के सम्बन्ध में जातवेदाः="**जाते जाते विद्यते इति वा**" (निरुक्त ७.५.१९), यज्ञियाग्नि अग्निरूप में प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान है। यज्ञियाग्नि से उत्थित ओषधि-सम्पन्न धूम भी उपचयकारी है; यथा "**यस्य कुर्मो गृहे हविस् तमग्ने वर्धया त्वम्**" (यजुः० १७.५२)।]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम्। अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु॥ १३ ॥

अर्थ—(जातवेदः) हे प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान (अग्ने) यज्ञिय अग्नि! (सोमस्य अंशुः इव) सोम ओषधि के अंकुरों के सदृश (अयम्) यह रुग्ण (आ प्यायताम्) पूर्णतया प्रवृद्ध हो। इसे (विरप्शिनम्) महान् (मेध्यम्) मेधावान्, (अयक्ष्मम्) यक्ष्मारहित (कृणु) कर, (जीवतु) यह जीवित रहे।

[विरप्शी=महान् (निघं० ३.३)। अथवा "वि+**रप (व्यक्तायां वाचि, भ्वादिः)**+**शीङ् स्वप्ने** (अदादिः), अर्थात् व्यक्त वाणी बोलनेवाला हुआ तथा सुखपूर्वक शयन करनेवाला।]

---

१. अथवा सोम है चन्द्रमा, और अंशु हैं किरणें। अमावास्या के पश्चात् चन्द्रमा की किरणें प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं, इसी प्रकार हे रुग्ण! तू भी प्रतिदिन प्रवृद्ध हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा पराबृहती ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः। तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः॥ १४॥

अर्थ—(अग्ने) हे यज्ञियाग्नि! (एताः) ये (पिशाचजम्भनीः) मांसभक्षक रोग-जीवाणुओं का विनाश करनेवाली (समिधः) समिधाएँ (ते) तेरे लिए हैं, (ताः) उन्हें (त्वम्) तू (जुषस्व) सेवन कर, (च) और (एनाः) इन्हें (प्रतिगृहाण) स्वीकार कर, (जातवेदः) हे प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान [अग्नि!]।

[यज्ञियाग्नि की रोगनाशक समिधाएँ जोकि रोग-जीवाणुओं का विनाश कर सकें। प्रतिगृहाण=प्रतिग्रह स्वीकारे। मन्त्र में केवल रोगहारी समिधाओं का कथन किया है, प्रकरण रोग सम्बन्धी है]

तथा

अग्नि है सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री। समिधः हैं सेनाएँ। पिशाच हैं शत्रुराजा के नर-पिशाच सैनिक। जातवेदः=जातप्रज्ञ, अर्थात् युद्धनीति का जाननेवाला प्रधानमन्त्री।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा। जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति॥ १५॥

अर्थ—(अग्ने) हे यज्ञियाग्नि! (तार्ष्टाघीः) [रुधिर की] तृष्णावाले का हनन करनेवाली (समिधः) समिधाओं को (अर्चिषा) ज्वाला द्वारा (प्रतिगृह्णाहि) तू ग्रहण कर, स्वीकार कर। (क्रव्याद्) कच्चा मांस खानेवाला रोग-जीवाणु (रूपम्) निज रूप को (जहातु) त्याग दे, (यः) जो क्रव्याद् (अस्य) इस रुग्ण के (मांसम्) मांस का (जिहीर्षति) हरण करना चाहता है।

[तार्ष्टाघीः=तृष्ट+स्वार्थे अण्+अघम् आहननम् (**अघम्, हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्तीति**) (निरुक्त ६.३.११)+ङीप् यथा "पिशाचजम्भनीः समिधः" (मन्त्र १४)। प्रतिग्रह=स्वीकार।]

तथा

राष्ट्राधिपति के पक्ष में, तार्ष्टाघीः समिधः=शत्रु के रुधिरपान की तृष्णावाली और उसका हनन करनेवाली निज सेनाएँ—ये समिधाएँ हैं युद्धयज्ञाग्नि के लिए अग्नि है सेनाग्रणी, सेना के आगे-आगे चलनेवाला, उसका नयन करनेवाला सेनानी, सेनाध्यक्ष। अर्चिः है सेनानी की क्रोध-ज्वाला। क्रव्याद् है शत्रु-सेनासमूह। निज सेनानी शत्रुसेना-समूह का इस प्रकार हनन करे कि अवशिष्ट सैनिक निज क्रव्याद् रूप का परित्याग कर अधीनता को स्वीकार कर लें।

सूक्त ३०

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम्॥ १॥

अर्थ—[हे रुग्ण ब्रह्मचारी!] (आवतः) समीप के गुरुजन तो (आवतः) तेरे समीप विद्यमान हैं ही, (परावतः) दूर के भी (ते) तेरे लिए (आवतः) समीप के ही हैं। (इह एव) इस आश्रम में ही (भव) तू रह, (मा नु गाः) निश्चय से तू न जा, अर्थात् (पूर्वान् पितॄन्) पूर्व के पितरों का अनुगामी[1] न हो, (ते)

१. पूर्वान् पितॄन्=पितर दो प्रकार के हैं, वर्तमान पितर अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के गुरुजन और उन की पत्नियाँ, तथा पूर्व

तेरे (असुम्) प्राण को [तेरे साथ] (दृढम्, बध्नामि) मैं दृढ़बद्ध करता हूँ। मैं अर्थात् आचार्य।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ २॥

अर्थ—(त्वा) तुझे लक्ष्य करके (स्वः पुरुषः) अपने पुरुष ने (यत्) जो, या (अरणः) पराये (जनः) जन ने (यत्) जो (अभिचेरुः) अभिचारकर्म किया है, तो (उन्मोचनप्रमोचने) उससे उन्मुक्त और प्रमुक्त होना (उभे) इन दोनों को (वाचा) वेदवाणी द्वारा (ते) तेरे लिए (वदामि) मैं कहता हूँ।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ ३॥

अर्थ—(स्त्रियै) किसी स्त्री के लिए, (पुंसे) किसी पुरुष के लिए, (अचित्त्या) अज्ञान से (यत्) जो (दुद्रोहिथ) तूने द्रोह किया है और (शेपिषे) शाप दिया है, [तो तज्जन्य पाप से] (उन्मोचनप्रमोचने) पूर्ववत्।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्। उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ ४॥

अर्थ—(मातृकृतात्) माता द्वारा किये (एनसः) पाप से (यत्) जो रोग प्राप्त कर, (च) और (पितृकृतात्) पिता द्वारा किये [पाप से] (यत्) जो रोग प्राप्त कर, (शेषे) तू सोया पड़ा है, (उन्मोचन-प्रमोचने) उस रोग से उन्मुक्त और प्रमुक्त होना (अर्थात् छुटकारा पाना) (उभे) इन दोनों को (वाचा) वेदवाणी द्वारा (ते) तेरे लिए (वदामि) मैं कहता हूँ।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा॥ ५॥

अर्थ—(ते माता) तेरी माता (यत् भेषजम्) जिस औषध को (ते) तेरे लिए (ते पिता) तेरा पिता (यत्) जिस औषध को, (जामिः) तथा बहिन (भ्राता च) और भाई (सर्जतः) तैयार करते हैं, (प्रत्यक्) रोग-प्रतीकारी (भेषजम्) उस औषध का (सेवस्व) सेवन कर, (त्वा) तुझे (जरदष्टिम्) जरावस्था तक पहुँचनेवाला, उसे प्राप्त करनेवाला (कृणोमि) मैं करता हूँ।

[मन्त्र ४ में व्यक्ति की रुग्णावस्था का कथन हुआ है। मन्त्र ५ में उसे आश्वासन दिया है कि तेरे माता-पिता और बहिन-भाई तेरे रोग के निवारण के लिए जिस औषध का सर्जन करते हैं उसका तू सेवन कर। रोगमुक्त हो जाने पर मैं तुझे जरावस्था तक पहुँचा दूँगा—(यह विश्वास कर)।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि॥ ६॥

अर्थ—(पुरुष) हे पुरुष! (सर्वेण मनसा सह) सब इच्छाओं और विचारों के साथ (इह एधि) यहाँ

के पितर अर्थात् जन्मदाता माता-पिता आदि। रोगोपचार के लिए रुग्ण ब्रह्मचारी पूर्व के पितरों के पास जाना चाहता है, परन्तु वर्तमान पितर अर्थात् गुरुजन उसे रोगोन्मुक्त हो जाने का विश्वास दिलाते हैं। अथवा 'मा अनु गाः'=मृत पूर्व पितरों का तू अनुगामी न बन, तू न मर।

तू रह, (यमस्य) यम के (दूतौ) उपतापी [रजस्, तमस्] का (मा अनुगाः) अनुगामी न हो, (अधि) और अधिकार से (जीवपुराः) जीवितों के पुरों को (इहि) तू जा, प्राप्त हो।

[दूतौ=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)। ये दूत दो हैं रजस् और तमस्। यथा "**रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः**" (अथर्व० ८.२.१), अर्थात् रजस् और तमस् के समीप तू न जा, और न हिंसित हो, न मृत्यु को प्राप्त हो।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोयनम्॥ ७॥

अर्थ—(पथः) जीवन का मार्ग है (उदयनम्) उन्नति की ओर जाना, (विद्वान्) इसे जानता हुआ, (अनु) मृत्युग्रस्त होने के पश्चात् (हूतः) बुलाया गया, तू (पुनरेहि) फिर वापस आ जा। (आरोहणम्) जीवन मार्ग पर आरोहण करना, (आक्रमणम्) तत्पश्चात् आगे की ओर पग बढ़ाना (जीवतः जीवतः) प्रत्येक जीवित का (अयनम्) जीवनमार्ग है।

[उन्नति का मार्ग पर्वत के मार्ग के सदृश ऊँचाईवाला है, अतः 'आरोहण' कहा है। आक्रमणम्=आ+**क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादिः)। पर्वत पर चढ़ना और पर्वत के शिखिर की ओर पग बढ़ाते जाना जीवन का मार्ग है।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।

निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥ ८॥

अर्थ—(मा बिभेः) न भयभीत हो, (न मरिष्यसि) नहीं तू मरेगा, (त्वा) तुझे (जरदष्टिम्) जरावस्था को प्राप्त करनेवाला (कृणोमि) मैं करता हूँ। (तव अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों से (अहम्) मैंने (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को, (अङ्गज्वरम्) तथा शारीरिक ज्वर को, (निर् अवोचम्) निकल जाने के लिए, मैंने कह दिया है।

[मनोबलपूर्वक वाणी के प्रयोग द्वारा, रोग के निकल जाने का आदेश मन्त्र में हुआ है। ऐसे आदेशों का वर्णन वेदों में बहुशः हुआ है। उदाहरणार्थ 'अथर्व० ४.१३.५-७)'।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः।

यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद्वाचा साढः परस्तराम्॥ ९॥

अर्थ—(अङ्गभेदः) अङ्गों का टूटना तथा मरोड़, (अङ्गज्वरः) अङ्गों का ज्वर, (च) और (यः) जो (ते) तेरा (हृदयामयः) हृदय का रोग है, (यक्ष्मः) तथा यक्ष्मा रोग वह सब (वाचा साढः) मेरी या वेदवाणी द्वारा पराभूत हुआ, (परस्तराम्) बहुत दूर, (श्येन इव) बाज पक्षी की तरह (प्रापप्तत्) उड़ जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।

तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥ १०॥

अर्थ—(बोधप्रतीबोधौ) बोध अर्थात् ऐन्द्रियिक ज्ञान, और प्रतिबोध अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान (ऋषी)

ये दो ऋषि; (अस्वप्नः) स्वप्न का न होना अर्थात् सुषुप्ति अवस्था, गाढ़ निद्रा और (जागृविः) दिन में जागते रहना; (तौ) वे दोनों जोड़े, (ते) तेरे (प्राणस्य) प्राण के (गोप्तारौ) रक्षक, (दिवा नक्तम् च) दिन और रात (जागृताम्) जागरूक रहें। [रोगोन्मुक्त के प्रति कहा है।]

[यजुर्वेद में सात ऋषि कहे हैं जोकि शरीर में निवास करते हैं, यथा '**सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे॥** (यजु० ३४.५५)।' **षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी** (निरुक्त १२.४.३७) मन्त्र में बोध और प्रतिबोध को भी ऋषि कहा है।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि॥ ११॥

अर्थ—(अयम् अग्निः) यह यज्ञियाग्नि (उपसद्यः) समीप बैठने योग्य अर्थात् सेवनीय है, (इह ते) तेरे इस घर में (सूर्यः उदेतु) सूर्य उदित हो, अर्थात् उदीयमान सूर्य की रश्मियाँ आएँ। (गम्भीरात् मृत्योः) गम्भीर मृत्यु से (उदेहि) तू उदित हो, (कृष्णात् चित्) जैसेकि काले (तमसः परि) अन्धकार अर्थात् रात्री से सूर्य उदित होता है।

[जैसे सूर्य काली-रात्रि के तमस् से उदित होता है, वैसे तू मृत्युरूपी काले तमस् से उदित हो। इसके लिए दो उपाय हैं, यज्ञियाग्नि का सेवन और उदीयमान सूर्य की रश्मियों का घर में प्रवेश तथा सेवन।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराड् जगती**॥

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेस्मा अरिष्टतातये॥ १२॥

अर्थ—(यमाय) नियन्ता परमेश्वर के लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो, (मृत्यवे) मृत्यु नामवाले परमेश्वर के लिए (नमः) नमस्कार हो, (उत पितृभ्यः) तथा माता-पिता आदि के लिए (नमः) नमस्कार हो, (ये) जोकि (उन्नयन्ति) उन्नति की ओर हमें ले-जाते हैं, हमारा नयन करते हैं। (यः) जो (उत्पारणस्य) कष्टों से उठाकर कष्ट-नद पार करने [की विधि] को (वेद) जानता है, (तम् अग्निम्) उस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को (पुरः दधे) अपने सामने मैं रखता हूँ, (अस्मै) इस (अरिष्टतातये) हिंसारहितमोक्ष का विस्तार करनेवाले परमेश्वर की प्राप्ति के लिए।

[यमाय=परमेश्वर को महायम अर्थात् महानियन्ता कहा है (अथर्व० १३.४ (१)।५)। परमेश्वर मृत्यु है, कर्मानुसार जन्म-मृत्यु का कारण है "**स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वंस रक्षः**" (अथर्व० १३.४(३).२५)। उत्पारणस्य=उत्+पार् [**पार तीर कर्मसमाप्तौ,** चुरादिः]+अन (ल्युट्)। अग्निः=परमेश्वर (यजुः० ३२.१) यथा '**तदेवाग्निस्तदादित्यः**'। उत्पारणस्य=अथवा जो रोगी को रोग-नद से पार करने की विधि को जानता है, इस रोगी की अहिंसा के लिए उसे नमस्कार हो।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम्। शरीरमस्य सं विदां तत्पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु॥ १३॥

अर्थ—(ऐतु) आये (प्राणः) प्राण, (ऐतु मनः) आये मन अर्थात् मननशक्ति, (ऐतु चक्षुः) आये दृष्टिशक्ति, (अथो) तथा (बलम्) शारीरिक बल। (अस्य) इस रोगी के (शरीरम्) शरीर को (सं विदाम्) मैंने सम्यक् रूप में वापस प्राप्त कर लिया है, (तत्) वह शरीर (पद्भ्याम्) दोनों पैरों से (प्रति

तिष्ठतु) दृढ़ता से खड़ा हो जाए, स्थित हो जाए। [सं विदाम्=सं (विद्लृ लाभे, तुदादिः)।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन।

वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत्॥ १४॥

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञानाग्नि-सम्पन्न परमेश्वर! (इमम्) इस रोगी का (प्राणेन) प्राण के साथ, (चक्षुषा) चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ, (संसृज) संसर्ग कर। इसे (तन्वा) तनू के द्वारा (सम् ईरय) सम्यक् गतिमान् कर, (बलेन) और शारीरिक बल के साथ (सम्) संबद्ध कर, (अमृतस्य) न मरने की विधि को (वेत्थ) तू जानता है, (मा नु गात्) ताकि यह [मृतों का अनुगमन न करे, (मा) और न (भूमिगृहः भुवत्) भूमिरूपी घरवाला हो।

[‘वेत्थ’ पद द्वारा ‘अग्निः’ ज्ञानवान् है, न कि जड़ तत्त्व। भूमिगृहः=मृत्यु हो जाने पर, अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात्, शेषास्थियों द्वारा, मृत भूमिगृह होता है, उसकी अस्थियाँ भूमि में गाड़ दी जाती हैं। ‘मा भूमिगृहो भुवत्’ इस निषेध द्वारा मृतशरीर को भूमि में गाड़ना अर्थापन्न नहीं होता। (१) वेद में “**भस्मान्तं शरीरम्**” (यजुः० ४०.१५) द्वारा मृतशरीर का भस्मान्त कर देने का विधान हुआ है। (२) “**सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु**” (यजुः० ३५.२) में शरीरेभ्यः बहुवचन द्वारा शरीरास्थियाँ ही अभिप्रेत हैं। अस्थियों तथा मृतशरीर का जल प्रवाह भी वेदविरुद्ध है।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपि धायि ते।

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः॥ १५॥

अर्थ—(ते) तेरा (प्राणः) प्राण (मा) न (उपसदत्) उपक्षीण हो, (मा उ) न (ते) तेरा (अपानः) अपान (अपि धायि) बन्द हो। (अधिपतिः सूर्यः) अधिपति सूर्य (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उदायच्छतु) ऊपर की ओर उत्कृष्ट करे।

[मृत्यु हो जाने पर स्थूलशरीर तो अग्निसात् होकर भस्मीभूत हो जाता है, परन्तु सूक्ष्मशरीर भस्मीभूत नहीं होता, इसमें प्राण-अपान की शक्तियाँ बची रहती हैं, इन शक्तियों के कारण जीवात्मा पुनर्जन्म के लिए मातृयोनि में प्रविष्ट होता है। मृत्यु हो जाने पर, सूक्ष्मशरीरसहित जीवात्मा, सूर्य की रश्मियों द्वारा उपरिलोक में जाता और वहाँ गतिमान् होता है।]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा। त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः॥ १६॥

अर्थ—(अन्तः बद्धा) मुख के भीतर बँधी हुई (इयं जिह्वा) यह जीभ (पनिष्पदा) स्पन्दित हुई (वदति) बोलती है। (त्वया) हे रुग्ण! तेरे साथ बँधी [इस जिह्वा से] (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को (निर् अवोचम्) मैंने निज प्रबल वाणी द्वारा निकाल दिया है, (च) और (तक्मनः) बखार की (शतम्) सौ (रोपीः) पीड़ाओं को [भी निकाल दिया है।]

[मन्त्र में ‘जिह्वा-सम्बन्धी-यक्ष्म’ का वर्णन हुआ है। यक्ष्मा के कारण जिह्वा स्पन्दित हुई के सदृश बोलती है, स्पष्टोच्चारण नहीं कर सकती।]

ऋषिः—उन्मोचनः (आयुष्यकामः)॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, आयुः ॥ छन्दः—षट्पदा जगती॥

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः। यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।

स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥ १७॥

अर्थ—(अयम् लोकः) यह लोक (देवानाम्) देवों का (प्रियतमः) अत्यन्त प्रिय है, (अपराजितः) और पराजित नहीं हुआ है। (पुरुष) हे पुरुष! (यस्मै मृत्यवे) जिस मृत्यु के लिए (दिष्टः त्वम्) निर्दिष्ट हुआ तू (इह) इस लोक में (जज्ञिषे) पैदा हुआ है, (सः) वह तू है; (त्वा) तुझे (अनु) तदनुसार (ह्वयामसि) हम इस लोक में रहने के लिए बुलाते हैं और कहते हैं कि (जरसः पुरा) जरावस्था से पूर्व (मा मृथाः) न तू मृत्यु को प्राप्त हो; न मर।

[अयम् लोकः=यह पृथिवीलोक दिव्यशक्तियों को अत्यन्त प्रिय है, जिसकी कि रक्षा दिव्यशक्तियाँ कर रहे हैं। इसमें प्राणी पैदा होते रहते और मरते रहते हैं, परन्तु पृथिवीलोक यथापूर्व बना रहता है, पराजित नहीं हुआ, नष्ट नहीं हुआ। इस लोक में हे पुरुष! तू जरावस्था से पूर्व न मर। देवानाम्=यथा "**देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥**" गीता० ३.११॥ भावयत=अनुकूलान् कुरुत। अनेन=अनुकूलेन कर्मणा। श्रेयः परम्=निःश्रेयसम्, मोक्षरूपम् अवाप्स्यथ=तुम प्राप्त होगे।]

सूक्त ३१

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये।

आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ १॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (ते[1] आमे) तेरे गृह्य (पात्रे) खानपान, रक्षा तथा त्राण के साधन में (याम् कृत्याम्) जिस छेदन क्रिया को (चक्रुः) शत्रुओं ने किया है, (याम्) जिसे (मिश्रधान्ये) मिश्रित-धान्यों में (चक्रुः) किया है; (आमे) गृह्य (मांसे) फलों के गुद्दे में (याम्) जिस छेदन-क्रिया को (चक्रुः) किया है, (ताम्) उस प्रकार की छेदन-क्रिया [हिंस्र क्रिया] को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं [सम्राट्] ले-जाता हूँ, पहुँचाता हूँ, या वापस करता हूँ।]

[आमे=**अमा गृहनाम** (निघं० ३.४); आमे=गृह सम्बन्धी गृह्य। पात्रे=**पा पाने** (भ्वादिः), **पा रक्षणे** (अदादिः), **त्रैङ् पालने** (भ्वादिः)। कृत्याम्=**कृती छेदने** (तुदादिः) तथा (रुधादिः) शत्रु जैसी कृत्या हिंस्रक्रिया करे उसके प्रति प्रतिक्रिया या प्रतीकार में उसी प्रकार की कृत्या हिंस्रक्रिया करनी चाहिए। मांसे The fleshy part of fruit (आप्टे), अर्थात् फल-का गुद्दा।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि।

अव्यां ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ २॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (ते) तेरे (कृकवाकौ) कण्ठ से बोलनेवाले मयूर में, (अजे) बकरे में,

१. मन्त्रों में 'ते' द्वारा राष्ट्रपति के प्रति उक्ति और 'हरामि' द्वारा सम्राट् की उक्ति अभिप्रेत है (मन्त्र १२ में 'इन्द्र' है सम्राट्)।

(वा) या (याम्) जिस (कृत्याम्) छेदन क्रिया को (कुरीरिणि) शिरोभूषण धारण करनेवाली स्त्री में (चक्रुः) शत्रुओं ने किया है, (ते) तेरी (अव्याम्) भेड़ में (याम्, कृत्याम्,) जिस छेदन-क्रिया को (चक्रुः) किया है (ताम्) उस प्रकार की छेदन क्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं [सम्राट्] ले-जाता हूँ [पहुँचाता या वापस करता हूँ।]

- [कृकवाकु=मयूर कण्ठ द्वारा बोलते हैं, वाणी द्वारा नहीं (उणा० १.६; दयानन्द)। कुरीरिणि=अथवा कुररी=पक्षिभेद (आप्टे); कुररः [पुंसि] पक्षिभेदः (उणा० ३.१३३; दयानन्द)। इससे आगे के मन्त्रों में कृत्या का अर्थ 'हिंस्रक्रिया' किया जाएगा।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति।
गर्दभे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ३॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (पशूनाम्) पशुओं में से (एकशफे) एक शफवाले अर्थात् अनफटे खुरोंवाले, तथा (उभयादति) दोनों ओर अर्थात् ऊपर और नीचे के जबाड़ों में दाँतोंवाले (ते) तेरे पशु में (याम् कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) शत्रुओं ने किया है, (गर्दभे) गदहे में (याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है, (ताम्) उस प्रकार की हिंस्रक्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं [सम्राट्] ले-जाता हूँ [पहुँचाता हूँ, या वापस करता हूँ। एकशफ पशु है अश्व आदि।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम्।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ४॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (ते) तेरी (अमूलायाम्) अल्प मूल्यवाली सम्पत्ति[1] में (याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) शत्रुओं ने किया है, (वा) अथवा (नराच्याम्) नरों द्वारा आचित अर्थात् भरी हुई नगरी में (वलगम्) वलयाकार में गति करनेवाले विस्फोटक को [गाड़ा है, निचख्नुः, मन्त्र ८]। (ते) तेरे (क्षेत्रे) खेत में (याम् कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है, (ताम्) उस प्रकार की हिंस्रक्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं सम्राट् ले-जाता हूँ [पहुँचाता या वापस करता हूँ।]

[वलगम्=वलयाकार में गति करनेवाला विस्फोटक। यह गोलाकार में घूम-घूमकर सब ओर आग लगाकर विध्वंसन देता है। अमलायाम्, देखो मूलिनम् (मन्त्र १२)। वलगम्=वलय+गम्।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः।
शालायां कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ५॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (दुश्चितः) दुश्चिन्ता करनेवाले शत्रुओं ने (ते) तेरी (गार्हपत्ये) गार्हपत्याग्नि में, (उत) तथा (पूर्वाग्नौ) पूर्व दिशा में स्थापित अग्नि में तथा (शालायाम्) शाला में (याम् कृत्याम्)

---

१. जो सम्पत्ति मूल रूप नहीं, उत्पादक नहीं जोकि मूलभूत सम्पत्ति के आश्रित है।

जिस हिंस्रक्रिया को, (चक्रुः) किया है, (ताम्) उस प्रकार की हिंस्रक्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं सम्राट् ले-जाता हूँ [पहुँचाता या वापस करता हूँ]।

[शालायाम्=देखो शाला-निर्माण (अथर्व० ९.२.१-३१)।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने।

अक्षेषु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ६॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (ते) तेरी (सभायाम्) लोकसभा में (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) शत्रुओं ने किया है, (अधिदेवने) क्रीड़ा भूमि में (याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है। (अक्षेषु) न्यायालयों में (याम् कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है, (ताम्) उस प्रकार की हिंस्रक्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं [सम्राट्] जे जाता हूँ [पहुँचाता या, वापस करता हूँ]।

[सभायाम्; देखो (अथर्व० ७.१३.१; ८.१०.८-९; आदि) अधिदेवने=अधि+**दिवु क्रीडायाम्** (दिवादिः)। अक्षेषु=अक्षम् "Legal Procedure, a law-suit." अक्षपटलम् A court of law. a depositores of legal documents. अक्षपाठकः one who is well-vesed in law, a judge (आप्टे)।]

विशेष वक्तव्य—सभा अर्थात् नियम निर्मात्री लोकसभा तथा न्यायालय आदि, किसी व्यक्ति-विशेष के नहीं होते[१]। ये राजा के राज्य के अङ्गरूप होते हैं। राजा है राष्ट्रपति, अर्थात् साम्राज्य के अङ्गभूत एक राष्ट्र का पति। और साम्राज्य है नाना राष्ट्रों का संघ, जिसके कि अधिपति को सम्राट् या 'इन्द्र' कहते हैं (मन्त्र १२)। अतः मन्त्र में सम्राट् की उक्ति है राष्ट्रपति के प्रति। यही भावना समग्र सूक्त (३१) में समझनी चाहिए। राजा और सम्राट् यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। राजा को वरुण कहा है, क्योंकि राजा का 'वरण' किया जाता है। चुना जाता है, प्रजा द्वारा और वैदिक दृष्टि में सम्राट् चुना जाता है राजाओं द्वारा[२] तथा सामान्य अर्थात् संघीभूत प्रजाओं तथा प्रत्येक राष्ट्र की प्रजाओं द्वारा भी। यथा "**ये राजानो राजकृतः**" (अथर्व० ३.५.७); तथा "**अधिराजो राजसु राजयातै**" (अथर्व० ६.९८.१)।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।

दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ७॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (ते) तेरी (सेनायाम्) सेना में (याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) शत्रुओं ने किया है, (याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है (इष्वायुधे) इषुओं और आयुधों के आगार अर्थात् भण्डार में; (दुन्दुभौ) तथा सेना की दुन्दुभि में (याम् कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है; (ताम्) उस प्रकार की हिंस्रक्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं सम्राट् ले-जाता हूँ [पहुँचाता या वापस करता हूँ।]

१. यही भावना 'सेनायाम्' (मन्त्र ७) और इष्वायुधागार (मन्त्र) में जाननी चाहिए। २. अथर्व० (३.४७)।

[दुन्दुभि भी सेनाङ्ग है (निरुक्त ९.२.११), दुन्दुभि के पीटने पर सैनिकों में युद्ध सम्बन्धी जोश पैदा होता है, और विजय-घोषणा की जाती है। उसकी हिंस्रक्रिया है उसे तोड़-फोड़ देना।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।

सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ८॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (ते) तेरे (कूपे) [निज के या राष्ट्र के कूप में (याम्, कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (अवदधुः) शत्रुओं ने नीचे स्थापित किया है, (वा) अथवा (श्मशाने) श्मशान में (निचख्नुः) भूमि खोदकर विस्फोटक गाड़ा है, (सद्मनि) तेरे बैठने के स्थान में या निवासगृह में (याम् कृत्याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) किया है (ताम्) उस प्रकार की हिंस्र क्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में शत्रु के प्रति (हरामि) मैं सम्राट् ले-जाता हूँ [पहुँचाता या वापस करता हूँ।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।

म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ९॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (ते) तेरे (पुरुषास्थे) किसी मृतपुरुष की हड्डियों में (याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (चक्रुः) शत्रुओं ने किया है, (च) और (याम्) जिस हिंस्रक्रिया को (संकसुके अग्नौ) विनाशक अग्नि में किया है। (म्रोकम्) वेगवती, (निर्दाहम्) निःशेषदाह करनेवाली (क्रव्यादम्) मांसभक्षक अग्नि में किया है। (ताम्) उस प्रकार की हिंस्रक्रिया को (पुनः) फिर (प्रति) प्रतिक्रिया रूप में (हरामि) शत्रु के प्रति मैं सम्राट् ले-जाता हूँ [पहुँचाता या वापस करता हूँ]।

[पुरुषास्थे=अन्त्येष्टि के पश्चात् संचित की गई अस्थियों में हिंस्र वस्तु को अर्थात् विस्फोटक को रख देना, इस विचार से कि जब अस्थियों को गाड़ा जायगा तो विस्फोटक फटकर गाड़नेवालों को यह हिंसित कर देगा। संकसुके=सम्+कस् To destroy (आप्टे), अन्त्येष्टिकर्म के लिए सामग्री में विस्फोटकों को मिश्रित कर देना।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि।

अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या॥ १०॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (अपथेन) बिना मार्ग द्वारा (एनाम्) इस हिंस्रक्रिया को (आ जभार) शत्रु लाया है, (ताम्) उस हिंस्रक्रिया को (पथा) मार्ग द्वारा (इतः) यहाँ से (प्र हिण्मसि) हम भेजते हैं, वापस करते हैं। (अधीरः) निर्बुद्धि पुरुष ने (अचित्त्या) बिना विचारे (मर्याधीरेभ्यः) आधियों अर्थात् मानसिक चिन्ताओं द्वारा कम्पित मनुष्यों अर्थात् निज प्रजावर्ग के लिए, मानो (सं जभार) हिंस्रक्रिया का संग्रह किया है।

[शत्रु बिना निश्चत-मार्ग द्वारा हिंस्रक्रिया लाया है, इस भय से कि मार्ग द्वारा हिंस्र वस्तु को ले-जाने पर मागस्थ रक्षकों द्वारा मैं कहीं पकड़ा न जाऊँ, परन्तु हे राष्ट्रपति! हम इस हिंस्रक्रिया को निश्चित मार्ग द्वारा ही वापस करते हैं, हम शक्तिशाली हैं, हमें पकड़े जाने का भय नहीं। अधीरः=अ+धी बुद्धि+रः

(मत्वर्थे)। मर्याधीरेभ्यः=मर्य+आधि (मानसिक चिन्ता)+ईर (कम्पने, अदादिः)। कम्पन इसलिए कि शत्रु की प्रजा यह जानती है कि युद्ध हो जाने पर हमारा विनाश अवश्यंभावी है। मर्याधीरेभ्यः=अथवा मर्याश्च ते अधीराश्च तेभ्यः।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः॥ ११॥

अर्थ—[हे राष्ट्रपति!] (यः) जिस [शत्रु राजा] ने (चकार) हिंस्रक्रिया की है, परन्तु (कर्तुम्) हिंस्रक्रिया को वस्तुतः करने में (न शशाक) जो सशक्त नहीं हुआ, और जिसने [युद्ध में] (पादम् अंगुरिम्) निज पैरों और अंगुलियों आदि अवयवों को (शश्रे) हिंसित कर लिया है, वह (अभगः) निज ऐश्वर्यों से रहित हो गया है, (अस्मभ्यम्) और हम (भगवद्भ्यः) भगवाले विजेताओं के लिए (भद्रम् चकार) उसने भद्रकार्य किया है।

[युद्ध तो हुआ है जिसमें युद्ध प्रारम्भ करनेवाले शत्रु राजा के शरीरावयवों को क्षति पहुँची है, परन्तु उसे मारा नहीं गया। हार जाने पर वह निजराज्य और राज्य सम्पत्ति से रहित हो गया है, और उसका राज्य तथा राज्य सम्पत्ति विजेता के अधीन हो गई है, और विजेता भगवाला हो गया है। मानो कि 'अभग' राजा ने भगवालों के लिए भद्रकार्य किया है। भग=ऐश्वर्य, श्री यश।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्**॥ छन्दः—**पथ्या बृहती**॥

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम्।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया॥ १२॥

अर्थ—(कृत्याकृतम्) हिंस्रक्रिया करनेवाले, (वलगिनम्) वलयाकार में गति कर आग लगानेवाले विस्फोटकों के स्वामी, (मूलिनम्[१]) बहुमूल्य सम्पत्ति वाले, (शपथेय्यम्) शपथ[२] लेने योग्य [कि भविष्य में मैं हिंस्रक्रिया नहीं करूँगा] शत्रु राजा को (इन्द्रः) सम्राट् (महता वधेन) महावधकारी आयुध द्वारा (विध्यतु) बींधे, अथवा (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (अस्तया 'इष्वा') शत्रु पर फैंकी गई इषु द्वारा बींधे।

[हिंस्रक्रिया करनेवाले, शक्तिशाली तथा शपथ लेनेवाले शत्रु राजा को सम्राट् या प्रधानमन्त्री मृत्युदण्ड दें—यह उग्र दण्डनीति वेदानुमोदित है। राजा का वध, सम्राट् या प्रधानमन्त्री ही करे और कोई नहीं।]

षष्ठ अनुवाक समाप्त॥

पञ्चम काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

---

१. मूलिनम्=अथवा "मूल सम्पत्ति है" अचल सम्पत्ति, स्थिर सम्पत्ति तथा भूमि, मिलें आदि। तथा 'अमूला सम्पत्ति' (मन्त्र ४) है भूमि तथा मिलों से उत्पादित सम्पत्ति।

२. "यदि पुनः युद्ध करूँ तो अमुक दुश्मन को प्राप्त होऊँ"—युद्ध शपथ है, अभिशाप इससे पृथक् है। अभिप्राय यह है कि अपराधी राजा यदि शपथ ले ले तो इसे क्षमा कर दिया जाए परन्तु वह यदि अभिमान में आकर शपथ नहीं लेता तो उसे वध दण्ड दिया है।

षष्ठ काण्ड

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिपदा पिपीलिकामध्या साम्नी जगती**॥

दोषो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेहि। आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्॥ १॥

अर्थ—(दोषा उ) रात्री में भी (गाय) [परमेश्वर का] गायन कर (बृहद् गाय) महागान कर, (द्युमत्) दीप्ति वाले ब्रह्म को (धेहि) हृदय में धारण कर। (आथर्वण) हे अचल चित्तवृत्ति वाले! (सवितारम्, देवम्) सर्वोत्पादक, सर्वैश्वर्यवान् सर्वप्रेरक देव की (स्तुहि) स्तुति किया कर।

[आथर्वण=अथर्वा, स्वार्थे अण्; **थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः** (निरुक्त ११.२.१९; पद १३)। उ=अपि; इस द्वारा प्रातः स्तुति कथित हुई है। आथर्वण=अथर्वा, अथर्वा=कूटस्थ परमेश्वर, तदुपासक]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या पुर उष्णिक्**॥

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः। सत्यस्य युवानम् अद्रोघवाचं सुशेवम्॥ २॥

अर्थ—(तम् उ) उस की ही (स्तुहि) स्तुति कर, (यः) जो कि (सिन्धौ) हृदय समुद्र के (अन्तः) भीतर है, (सत्यस्य) सत्यज्ञान का (सूनुः) प्रेरक या उत्पादक है, (युवानम्) सदा युवा, (अद्रोघवाचम्) द्रोहरहित वेदवाणी का स्वामी और (सुशेवम्) उत्तम सुखदायक है।

[सिन्धुः=हृदय-समुद्र। यथा "**सिन्धुसृत्याय**" (अथर्व १०.२.११); तथा "**हृद्यात् समुद्रात्**" (यजुः० १७.९३)। सूनुः=**षू प्रेरणे** (तुदादिः), तथा **षूङ् प्रसवे** (दिवादिः)। **शेवम् सुखनाम** (निघं० ३.६)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या पुर उष्णिक्**॥

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे॥ ३॥

अर्थ—(सः घ) वह ही (सविता देवः) सविता देव (नः) हमें (भूरि) प्रभूत (अमृतानि[1]) अमर होने के साधन (साविषत्) प्रेरित करे या करता है, ताकि (उभे) दोनों अर्थात् प्रातःसायम् की (सुष्टुती) उत्तम-स्तुतियां (सुगातवे) उत्तम प्रकार से हम गाएँ।

[साविषत्[१]=**षू प्रेरणे** (तुदादिः), लेटि अडागमः "**सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः**" इति वृद्ध्यावादेशौ। सविता=(मन्त्र १)]

सूक्त २

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत। स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे॥ १॥

अर्थ—(ऋत्विजः) ऋतु-ऋतु के अनुकूल भक्तियज्ञ करने वालो! (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर

---

१. अथवा "दीर्घजीवन के प्रभूत साधनों को प्रेरित करे या करता है"।

के लिए (सोमम्) भक्तिरस को (सुनोत) पैदा करो, (च) और (आधावत) उसे पूर्णरूप में शुद्ध करो, (यः) जो इन्द्र कि (स्तोतुः) प्रत्येक स्तुतिकर्त्ता के (वचः) स्तुतिवचन को, (च) और (मे) मेरे (हवम्) आह्वान को (शृणवत्) सुने या सुनता है।

[ऋत्विजः=ऋतु+यज्ञ। प्रत्येक ऋतु में परमेश्वर के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म अर्थात् स्वरूप प्रकट होते हैं तदनुकूल या तदनुरूप ही उस की स्तुति या भक्तियज्ञ करने चाहिएँ। सोमम्=अथर्ववेद में कहा है कि—

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः॥ अथर्व० १४.१.३॥

सोम को मानता है कि मैंने पी लिया, जब कि ओषधि को पीसते हैं। जिसे कि ब्रह्मवेद [अथर्ववेद] के ज्ञाता, या ब्रह्मज्ञ, सोम जानते हैं उसका प्राशन पृथिवी-भोगी नहीं करता।

[इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र में "सोम" द्वारा सोम ओषधि और उसका रस ही नहीं, अपितु प्रकरणानुसार सोम के अन्यार्थ भी होते हैं। पृथिवी भोगी=पार्थिव भोगों में आसक्त पुरुष।

काण्ड ६, सूक्त १ भक्तिगानपरक है, अतः सूक्त २ में भी भक्ति का सम्बन्ध अभीष्ट प्रतीत होता है। अतः सोमपान का अर्थ "भक्तिरसपान" किया गया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः।

विरप्शिन्वि मृधो जहि रक्षस्विनीः॥ २॥

अर्थ—(यम्) जिस इन्द्र में (इन्दवः) सोम नामक भक्तिरस (आ विशन्ति) प्रवेश पाते हैं, (न) जैसे कि (अन्धसः वृक्षम्) अन्नवाले वृक्ष में (वयः) पक्षी। वह तू (विरप्शिन्) हे महान् इन्द्र! (रक्षस्विनीः) राक्षस स्वभाव वाली, (मृधः) तथा संग्रामकारी हमारी दुर्भावनाओं का (विजहि) विशेषतया हनन कर।

[मन्त्र में प्रसिद्ध "देवासुर-संग्राम" का वर्णन अभिप्रेत है। इन्दु द्वारा सोम अभिप्रेत है अर्थात् भक्तिरस, (मन्त्र १, देखो) ये भक्तिरस, ब्राह्मज्ञान दीप्ति को प्रकट करते हैं, यह दर्शाने के लिए इन्हें "इन्दवः" कहा है, **इन्धी दीप्तौ** (रुधादिः) इन्धी के धकार को दकार छान्दस। तथा "**इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा**" (निरुक्त १०.४.४१) तथा भक्तिरस हृदय को "उन्दी" अर्थात् क्लिन्न करते हैं। अतः इन्दु हैं। **उन्दी क्लेदने** (रुधादिः)। **विरप्शी महन्नाम** (निघं० ३.३)। **अन्धः अन्ननाम** (निघं० २.७)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे। युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः॥ ३॥

अर्थ—(सोमपाव्ने) भक्तिरस के पीने वाले, (वज्रिणे) वज्रधारी (इन्द्राय) इन्द्र के लिए (सोमम्) भक्तिरस को (सुनोत) पैदा करो। (सः) वह इन्द्र (पुरुष्टुतः) बहुत स्तुत हुआ (जेता) विजय प्राप्त करता है। वह (युवा) सदा युवा है, (ईशानः) और अधीश्वर है।

[मन्त्र २ में "मृधः" के हनन का वर्णन है, इस दृष्टि से इन्द्र अर्थात् परमेश्वर को "युवा और जेता" कहा है]।

सूक्त ३

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**पथ्या बृहती** ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः।

अपां नपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

अर्थ—(इन्द्रापूषणा) विद्युत् और मेघ (नः) हमारी (पातम्) रक्षा करें, (अदितिः) पृथिवी और (मरुतः) मानसून वायुएँ (पान्तु) रक्षा करें। (अपांनपात्) चमकती विद्युत् (सप्तसिन्धवः) सप्तविध नदियां (पातन) रक्षा करें, (विष्णुः) किरणों से व्याप्त सूर्य (उत) तथा (द्यौः) द्युलोक (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे।

[सूक्त १ और २ में परमेश्वर का वर्णन हुआ है, और सूक्त २ में उसे "जेता और ईशान" कह कर समग्र ब्रह्माण्ड पर उसका प्रभुत्व दर्शाया है। अतः उसी से इन्द्र आदि द्वारा रक्षा की प्रार्थना की गई है।

निरुक्त में इन्द्र को अन्तरिक्षस्थानी देवता माना है। अतः इन्द्र है विद्युत्। एतत्सम्बन्धी पूषा है पुष्टिकारक मेघ। मेघ वर्षा द्वारा जलप्रदान कर, और तद्-द्वारा अन्नोत्पादन कर पुष्टि देता है। अदिति है पृथिवी, "**अदितिः पृथिवीनाम**" (निघं० १.१)। पृथिवी अन्नप्रदान द्वारा रक्षा करती है। मरुतः हैं मानसून वायुएँ। यथा "**उदीरयत मरुतः समुद्रात्**" (अथर्व० ४.१५.५), "हे मरुतो! तुम समुद्र से ऊपर की ओर गति करो"। तथा (अथर्व० ४.२७.४, ५)। अपांनपात्=यह है मेघ में चमकती तथा गर्जती विद्युत्। जल से मेघोत्पत्ति, मेघ से इस विद्युत् की उत्पत्ति। अतः यह विद्युत् अपांनपात् है। नपात्=पोती। विष्णुः=सूर्य (निरुक्त १२.२.१८। पद १२)। इस प्रकार इन्द्र आदि का सम्बन्ध वर्षा के साथ है, मन्त्र में परमेश्वर से वर्षा के साधनों द्वारा रक्षा की प्रार्थना हुई है]।

विशेष—इन्द्र और अपांनपात् दोनों विद्युत् हैं। इन्द्र है अन्तरिक्षव्यापिनी अनभिव्यक्तरूपा विद्युत्, और अपांनपात् है व्यक्तरूपा मेघीयविद्युत्।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः।

पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

अर्थ—(अभिष्टये) अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (नः) हमारी (पाताम्) रक्षा करें, (ग्रावा) सोम ओषधि के पीसने की शिला (नः) हमारी (अंहसः) हत्या से (पातु) रक्षा करे, और (सोमः) सोम ओषधि (पातु) हत्या से रक्षा करे। (सुभगा) उत्तम भगों से सम्पन्ना (देवी सरस्वती) दिव्या ज्ञानवती वेदवाणी (नः पातु) हमारी रक्षा करे, (अग्निः) यज्ञिय अग्नि (पातु) रक्षा करे, तथा (अस्य) इस यज्ञियाग्नि के (ये) जो (शिवाः) कल्याणकारी (पायवः) रक्षक गुण हैं वे हमारी रक्षा करें।

[इस मन्त्र में भी प्राकृतिक साधनों द्वारा रक्षा की प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। मन्त्रस्थ साधनों में मुख्य साधन है यज्ञियाग्नि, और उसमें आहुत सोम ओषधि और सोमरस तथा शब्दमयी वेदवाणी की शिक्षा। आहुतियों द्वारा उत्थित धूम-पृथिवी और पृथिवी के वायुमण्डल में फैल कर स्वास्थ्य प्रदान कर, हत्या से रक्षा करता है, और द्युलोक द्वारा प्राप्त प्रकाश और ताप इसमें सहायक होता है। रोगनिवारण और

स्वास्थ्यप्रदान में सोम ओषधि, तथा सोमरस के अद्‌भुत गुण वेदों में वर्णित हुए हैं। अंहस:=**अंहतिः च, अंहः च, अंहुः च, हन्तेः निरूढोपधात् विपरीतात्**'' (निरुक्त ४.४.२५; पद ५७, तूताव)। सुभगा= ''**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा**''। वेदवाणी में इन षड्‌विध भगों का वर्णन है, अतः वेदवाणी को सुभगा कहा है]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः**॥ छन्दः—**जगती**॥

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम्।

अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद्देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये॥ ३॥

अर्थ—(शुभस्पती) दीप्ति के स्वामी (देवाश्विना) सूर्य और चन्द्रमा (नः) हमारी (पाताम्) रक्षा करें (उषासानक्ता) उषा और रात्री अर्थात् दिन और रात (नः) हमारी (उरुष्यताम्) रक्षा करें। (गयस्य चित्) किसी भी प्राण की (अभिह्रुती) कुटिलता अर्थात् विकृति में (अपांनपात्) मेघीय विद्युत् [हमारी रक्षा करे] (देव त्वष्टः) हे रूपकृत् दिव्य सूर्य या परमेश्वर! (सर्वतातये) सब सुखों के विस्तार के लिए (वर्धय) हमारी वृद्धि कर।

[शुभस्पती=**शुभ दीप्तौ** (भ्वादिः)। अश्विना=**सूर्याचन्द्रमसौ** (निरुक्त १२.१.२)। उरुष्यताम्= **उरुष्यतिः, रक्षाकर्मा** (निरुक्त ५.४.२३; समस्य पद ६९)। अपांनपात्=जल का अपत्य है मेघ, और मेघ का अपत्य है विद्युदग्निः, इस प्रकार विद्युदग्नि अपाम् का नपात् है। तत्सदृशी विद्युत् है भौमी विद्युत्[1], इस द्वारा प्राण की विकृति का इलाज होता है। अपांनपात् (निरुक्त १०.२.१८), यथा ''**अपांनपात् तनूनप्त्रा** (८.२.५; पद ३) व्याख्यातः''। शरीर के प्रत्येक अङ्ग में अपना-अपना प्राण होता है, जिस द्वारा वह स्वस्थ रहता और शरीर का पोषण करता है। यह है ''गय''। ''गय'' का अर्थ प्राण भी है, यथा ''**प्राणा वै गयाः, तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम**'' (श० कां० १४. अ० ८. ब्रा० १५. कं० ६, ७) तथा सत्यार्थप्रकाश, ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय)। अभिह्रुती=अभिह्रुतौ (सायण), अभि+ह्वृ कौटिल्ये। कौटिल्य=विकृति। सर्वतातये=सर्वस्मै फलाय अस्मान् वर्धय, **सर्वदेवात् तातिल्** (अष्टा० ४.४.१४२), इति स्वार्थिकः तातिल् प्रत्ययः (सायण)। इस दृष्टि में ''तातिल्'' निरर्थक है। **सर्वताता** (ऋ० १.९४.१५) की व्याख्या करते हुए निरुक्त में कहा है कि ''**सर्वासु कर्मततिषु**'' (११.३.२४; पद २३ अदितिः) इस प्रकार ''ताता=तातौ, **तनु विस्तारे**'' सार्थक हो जाता है। त्वष्टः= ''**रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा**'' त्वष्टा=सूर्य (ऋ० १०.११०.९), तथा ''**तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति**'' त्वष्टा=परमेश्वर (यजुः० ३१.१७)।

सूक्त ४

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः**॥ छन्दः—**पथ्या बृहती**॥

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।

पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः॥ १॥

अर्थ—(त्वष्टा) जगत् को रूप देने वाला, (पर्जन्यः) पालक तथा जनहितकारी (ब्रह्मणस्पतिः)

---

१. **अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्।** (अथर्व० १.६.२)। विश्वरोगों को शान्त करने वाली अग्नि, विद्युदग्नि ही है।

वेदपति परमेश्वर (मे) मेरे (दैव्यम् वचः) दिव्य स्तुति-वचन समूह की (पातु) रक्षा करे। और (भ्रातृभिः) परस्पर भ्रातृ रूप में वर्तमान (पुत्रैः) पुत्रों वाली (अदितिः) अदीना अर्थात् अक्षया देवमाता अर्थात् दिव्या परमेश्वरी माता, (नु) शीघ्र (नः) हमारे (दुष्टरम्) शत्रुओं द्वारा दुर्लङ्घनीय, अनतिक्रमणीय, (त्रायमाणम्) और हमें त्राण करने वाले (सहः) तथा शत्रुपराभवकारी बल की रक्षा करे।

[राष्ट्र के प्रजासमूह द्वारा यह प्रार्थना की गई है। पर्जन्य=पृ पालने+जनहितकारी, अथवा पर्जन्यवत् सुखों की वर्षा करने वाला परमेश्वर। अदितिः=**अदीना देवमाता** (निरुक्त ४.४.२२; अदिति पद ४९)।

दुष्टरम्=दुःखेन तरणीयम्। **सहः=बलनाम** (निघं० २.९); तथा **षह मर्षणे** (भ्वादिः), मर्षणम्= Removing, Rubbing off (आप्टे) मिटा देना। पुत्रैः भ्रातृभिः=परमेश्वर माता के हम सब पुत्र हैं, अतः परस्पर भाई हैं। भाई को भाई के साथ द्वेष न करना चाहिए **''मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्''** (अथर्व० ३.३०.३)। मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः।

अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम्॥ २ ॥

अर्थ—(अंशः) अन्नादि का आंशिक विभागकर्त्ता ''अधिकारी'', (भगः) साम्राज्य के समग्रैश्वर्य का अधिकारी ''वित्ताधिकारी'', (वरुणः) साम्राज्य के प्रत्येक राष्ट्र का अधिपति राष्ट्र द्वारा ''वरण किया हुआ'' अधिकारी (मित्रः) परराष्ट्रों के साथ मैत्री बढ़ाने वाला ''विदेशनीति का दूत'', (अर्यमा) मुख्य न्यायाधीश, (अदितिः) राजनीति की शिक्षा देने वाली वेदवाणी, (मरुतः) तथा सैनिक (पान्तु) ये सब हम प्रजाजनों की रक्षा करें। (तस्य) उस शत्रु का (अभिह्रुतः) कुटिल (द्वेष) हमारे साथ किया गया द्वेष (अपगमेत्) दूर हो जाए। और (अन्तितम्) हमारी सीमान्त में फैले (शत्रुम्) शत्रु को (यावयत्) हमारा सम्राट् हमारी सीमा से अलग कर दे, परे कर दे।

[साम्राज्य में उत्पन्न अन्नादि सम्पत्ति का यथोचित विभागकर्त्ता=''अंशाधिकारी'' इसे विभक्ता भी कहा है यथा **''विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्''**॥ (यजुः० ३०.४)। राधसः, **''राधः धननाम''** (निघं० २.१०)। भगः=**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः** आदि देखो **''सुभगा सरस्वती''** (अथर्व० ६.३.२ भाष्य)। वरुणः=**''इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा''** (यजुः० ८.३७)। मित्रः=**''मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व''** (अथर्व० २.६.४)। अर्यमा=न्यायकारी, **यः आर्यान् मानयति; अरीन् वा नियच्छति। अदितिः=वाक्** (निघं० १.११)। अभिह्रुतः=अभि+**ह्वृ कौटिल्ये**। यावयत्=**यु मिश्रणामिश्रणयोः** (अदादिः)। अन्तितम्=अन्ति सीमा में+''तन्'' विस्तृत, **तनु विस्तारे** (तनादिः)+डः (औणादिकः प्रत्ययः)।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन्। द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या॥ ३ ॥

अर्थ—(अश्विना) पुण्यकर्मों वाले दो राजा (नः) हमारी (सम् प्रावतम्) परस्पर मिलकर प्रकृष्ट रक्षा करें (धिये) सद्बुद्धि की प्राप्ति के लिए। (ऊरुज्मन्) हे विस्तृत पृथिवी के स्वामी! तू (अप्रयुच्छन्) बिना प्रमाद किये (नः उरुष्य) हमारी रक्षा कर। (द्यौः, पितः) हे द्युलोक के सदृश सदा द्युतिसम्पन्न सब

के पिता[1] परमेश्वर! (या दुच्छुना) जो दु:खदायिसुख की ओर हमारी प्रवृत्ति है उसे (यावय) हम से पृथक् कर।

[अश्विना=**पुण्यकृतौ राजानौ** (निरुक्त २.१.१; अश्विनौ पद १), सम्भवतः सम्राट् और वरुण राजा (यजुः० ८.३७)। ये दोनों प्रजा को ऐसी शिक्षा दें जिस द्वारा प्रजाजन सद्बुद्धि वाले हो जाएँ। उरुज्मन्= ऊरु+ज्या (पृथिवी, निघं० १.१)। राष्ट्रपति है वरुण राजा; सम्राट् है इन्द्र (यजुः० ८.३७); और समग्र पृथिवी का स्वामी है ''उरुज्मन्'' इसे वेदों में एकराट् तथा जनराट् भी कहा है (अथर्व० ३.४.१; २०.२१.९), तथा द्यौ पिता है ब्रह्माण्ड का राजा। दुच्छुना है सांसारिक या ऐन्द्रियिक सुखों वाली दुष्प्रवृत्ति। दुच्छुना=दुः ''**शुनम् सुखनाम**'' (निघं० ३.६) सद्बुद्धि ''दुच्छुना प्रवृत्ति'' की विरोधिनी है]।

सूक्त ५

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत। समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि॥ १॥

अर्थ—(घृतेन आहुत) घृत द्वारा आहुति[2] प्राप्त (अग्ने) हे अग्नि! (एनम्) इस (उत्तरम्) अपेक्षया उत्कृष्ट पुरुष को (उत् नय) उन्नत कर अथवा उन्नति के मार्ग पर ले चल। (एनम्) इसे (वर्चसा) तेज के साथ (सम् सृज) संयुक्त कर, (च) और (प्रजया) सन्तान, गौ, अश्व आदि द्वारा (बहुम् कृधि) प्रभूत कर।

[सम्भवतः अग्नि द्वारा अग्निहोत्रादि यज्ञ सूचित किये हैं, तथा मन्त्र ३ भी इसी अभिप्राय का सूचक है। ''एनम्'' द्वारा गृहस्थ व्यक्ति अभिप्रेत है, इसलिए मन्त्र ३ में ''गृहे'' शब्द पठित है। ''उत् नय'' द्वारा ''द्यौः पिता'' अभिप्रेत है (सूक्त ४.३)। यज्ञियाग्नि में समुन्नत करने और प्रजा प्रदान की शक्ति नहीं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद्वशी। रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय॥ २॥

अर्थ—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य के स्वामी परमेश्वर! (इमम्) इस गृहस्थ व्यक्ति को (प्रतरम्) औरों की अपेक्षा प्रकृष्ट (कृधि) कर, (सजातानाम्) ताकि समान घर में उत्पन्न हुओं को (वशी) वश में करने वाला (असत्) यह हो जाए। (रायस्पोषेण) धन की सम्पुष्टि के साथ (संसृज) इस का संसर्ग कर। (जीवातवे) जीने के लिए इसे (जरसे) जरावस्था तक (नय) प्राप्त करा, पहुंचा।

[गृहस्थ व्यक्ति गृह में बड़ा भाई प्रतीत होता है। यह अन्य भाइयों को निज प्रबन्ध में रख सके, यह इन्द्र से प्रार्थना की गई है। प्रबन्ध में रखने के लिए बड़े भाई की ''आर्थिक समृद्धि'' चाहिए ताकि वह परिवार के सब व्यक्तियों का पालन-पोषण कर सके। इसलिए ''धन की पुष्टि'' के साथ उस का संसर्ग भी आवश्यक है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्। तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥ ३॥

अर्थ—(यस्य) जिस के (गृहे) घर में (हविः कृण्मः) हविर्यज्ञ हम करते हैं (तम्) उसे (अग्ने)

---

१. मन्त्र ६.४.१ में परमेश्वर का वर्णन मातृरूप में, और वर्तमान मन्त्र में पितृरूप में हुआ है।

२. घृताहुति यद्यपि यज्ञियाग्नि में दी जाती है, तो भी यह आहुति यज्ञियाग्नि प्रविष्ट परमेश्वराग्नि में दी गयी जाननी चाहिए। यथा ''**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः**'' (अथर्व० ४.३९.९)। यज्ञियाग्नि में मन्त्रोक्तशक्ति नहीं। यह शक्ति परमेश्वराग्नि में है। यह अभिप्राय सूक्त के अन्य मन्त्रों में भी जानना चाहिए।

हे अग्नि! (त्वम्) तू (वर्धय) बढ़ा। (तस्मै) उस [की वृद्धि] के लिए (सोमः) सेनाध्यक्ष, (च) और (अयम्) यह (ब्रह्मणस्पतिः) वेदविद्या का विद्वान् (अधिब्रवत्) अधिक उपदेश किया करे।

[मन्त्र में अग्नि द्वारा परमेश्वर तथा यज्ञियाग्नि दोनों का ग्रहण है। यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः॥ तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१)। "गृहस्थी व्यक्ति" की राजनैतिक वृद्धि के लिए भी अग्नि से प्रार्थना की गई है। एतदर्थ सोम अर्थात् सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०) और वैदिक विद्वान् का कथन भी मन्त्र में हुआ है, ताकि इन दोनों का सहयोग यज्ञकर्ता को मिल सके। मन्त्र २ में पारिवारिक श्रेष्ठता का, तथा ३ में राजनैतिक अर्थात् राष्ट्रिय श्रेष्ठता का वर्णन हुआ है। यज्ञियाग्नि स्वास्थ्य प्रदान द्वारा वृद्धि करती है, और वेदज्ञ विद्वान् वेदोपदेश द्वारा]।

सूक्त ६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो३स्मान्ब्रह्मणस्पतेदेवो अभिमन्यते। सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥ १॥

अर्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे वेदविद्या के विद्वन्! (यः) जो (अदेवः) परमेश्वर-देव को न मानने वाला अर्थात् नास्तिक, (अस्मान्) हमारे प्रति (अभिमन्यते) [शक्तिमान् होने का] अभिमान करता है (तम्, सर्वम्) उस सब को, (सुन्वते) भक्तिरस वाले, (यजमानाय) देवपूजा, सङ्गति करने वाले तथा दानी (मे) मेरे लिए (रन्धयासि) तू वश में कर दे।

[अस्मान्=हम प्रजाजन। मे=प्रजाजनों के राजा। सुन्वते=देखो (६.२.३)। रन्धयासि=**रधिः वशगमने** (निरुक्त १०.४.३९)। यजमानाय=**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (भ्वादिः)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति। वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति॥ २॥

अर्थ—(सोम) हे सेनाध्यक्ष! (यः) जो (दुःशंसः) बुरी कीर्ति वाला अर्थात् अपमानित पुरुष (नः) हम (सुशंसिनः) उत्तम कीर्ति वालों अर्थात् सुमानितों को (आदिदेशति) आदेश देता है; (अस्य) इसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र द्वारा (जहि) तू प्रहार कर, (सः) वह (संपिष्टः) [प्रहार द्वारा] सम्यक् रूप से पिसा हुआ (अपायति) संसार से विगत हो जाए।

[सोम=यजुः० (१७.४०)। **शंसु स्तुतौ** (भ्वादिः) स्तुति=कीर्ति। अपायति=अप (अलग होकर)+**अय (गतौ**, भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना॥ ३॥

अर्थ—(सोम) हे सेनाध्यक्ष! (यः) जो (सनाभिः) समान नाभिवाला अर्थात् समान माता से उत्पन्न, समान कुलोत्पन्न, (च) और (यः) जो (निष्ट्यः) पराया, (नः) हमारा (अभिदासति) क्षय करता है या हमें दास बनाता है, (तस्य) उसके (बलम्) बल को तथा सैनिक बल को (अप तिर) नष्ट कर, (इव) जैसे (मही द्यौः) विस्तृत द्युलोक (वधत्मना) निज बाधक या घातक स्वरूप द्वारा [अन्धकार को नष्ट करता है]।

[अभिदासति=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)। अप तिर=अपजहि (सायण)। सनाभिः=जैसे कौरव-पाण्डव

समान कुलोत्पन्न थे, और परस्पर विद्वेषी भी। "द्युलोक" सूर्य, नक्षत्रों तथा ताराओं द्वारा सदा जगमगाता है, अतः अन्धकार से रहित है]।

सूक्त ७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥

येन॑ सो॒माति॑तिः प॒था मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुहः॑। तेना॑ नोऽव॒सा ग॑हि॥ १॥

अर्थ—(सोम) हे सेनाध्यक्ष! (येन पथा) जिस मार्ग से (अदितिः) माता (वा) या (अद्रुहः) पारस्परिक द्रोहरहित (मित्राः) मित्र (यन्ति) चलते हैं, (तेन अवसा) उस पारस्परिक रक्षा करने वाले मार्ग द्वारा (नः) हमारी ओर (आ गहि) आ।

[अदिति=पृथिवी, वाक्, गौः (निघं० १.१; १.११; २.११)। वेद की दृष्टि में ये तीनों माताएँ हैं, पृथिवी माता (अथर्व० १२.१०; १२)। वाक् अर्थात् वेदमाता (अथर्व० १९.७१.१)। गौः तो माता प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार अदिति द्वारा इन तीनों का भी ग्रहण हो सके इसलिए अदिति का अर्थ "**अदीना देवमाता**" (निरुक्त ४.४.२२) न होकर संकुचितार्थ ही, अर्थात् मन्त्र में केवल "माता" अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। इस से "मानुषी माता" अर्थ भी मन्त्र में "अदिति" का किया जा सकता है। "मानुषी माता" स्नेह की सूचिका है, अपनी सब सन्तानों के प्रति। इसी प्रकार "अद्रोही मित्र" भी पारस्परिक स्नेह के सूचक हैं। ये दो दृष्टान्त देकर सेनाध्यक्ष के प्रति कहा है कि तू भी स्नेहमय-रक्षामार्ग द्वारा हम प्रजाजनों की ओर आ, [हमारे शासक रूप में आ]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

येन॑ सोम साह॒न्त्यासु॑रान्र॒न्धया॑सि नः। तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत॥ २॥

अर्थ—(साहन्त्य सोम) हे शत्रु का पराभव करने वाले सेनाध्यक्ष! (येन) जिस [सैनिक बल द्वारा] तू (असुरान्) असुरों को (नः) हमारे (रन्धयासि) वश में कर देता है, (तेन=तम्) उस बल को (नः) हमारे प्रति (अधिवोचत) अधिकार पूर्वक कह।

[तेन, विभक्तिव्यत्ययः। साहन्त्य=सहन्ति+ड्यण्। सहन्तिः=**षह अभिभवे** (सायण) झिच् (उणा० ३.५०), **झोऽन्तः** (अष्टा० ७.१.३) द्वारा झ को अन्त् आदेश। "ब्रह्मणस्पति" वेदज्ञ विद्वान् है, अतः विद्वत्ता के कारण उसे अधिकार प्राप्त है कि वह वेदोपदेश दे सके]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

येन॑ देवा॒ असु॑राणा॒मोजां॑स्यवृणीध्वम्। तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत॥ ३॥

अर्थ—(देवाः) हे सैनिको! (येन) जिस क्षात्रबल द्वारा (असुराणाम्) प्राण पोषक और धनलोलुप शत्रुओं के (ओजांसि) बलों को (अवृणीध्वम्) तुम ने आवृत कर दिया है, घेर लिया है या निवारित कर दिया है, (तेन) उस सैनिक बल द्वारा (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छत) प्रदान करो।

[(देवाः) "**दिवु क्रीडाविजिगीषा**" आदि (दिवादिः), विजिगीषु सैनिक। असुराणाम्=असुः=प्राण और वसु[१]। यथा "असुरत्वम् अनवत्त्वम्[२], [व्][३] आदिलुप्तम् (निरुक्त १०.३.३४)। अवृणीध्वम्=**वृञ्**

१. पद "अदिति" ४९ (निरुक्त ४.४.२२)। २. **अन प्राणने** (अदादिः)।

३. असुरः=वसुरः=वसुमान् "व्" आदिलुप्तम् (निरुक्त)।

आवरणे (चुरादि:)। **शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६)]।

सूक्त ८

ऋषि:—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्द:—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।

एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ १॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (लिबुजा) लता (समन्तम्) सब ओर से (वृक्षम्) वृक्ष को (परिषस्वजे) आलिङ्गित करती है (एवा) इसी प्रकार (माम्) मुझ को (परिष्वजस्व) तू आलिङ्गित कर, (यथा) ताकि (माम्) मुझे (कामिनी) कामना वाली (असः) तू हो, (यथा) ताकि (मत् अपगाः) मुझ से अलग हो जाने वाली (न असः) न हो।

[मन्त्र में "हे जाये" द्वारा पत्नी को सम्बोधित किया है (सायण)। रुष्ट हुई जाया को मानने का वर्णन हुआ है]।

ऋषि:—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्द:—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यथा सुपर्णः प्रपतन्पक्षौ निहन्ति भूम्याम्।

एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ २॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (सुपर्णः) गरुड (प्रपतन्) प्रपात करता हुआ (भूम्याम्) पृथिवी पर (पक्षौ) दोनों पंखों को (निहन्ति) गतिरहित कर देता है (एवा) इसी प्रकार [हे पत्नी] (ते) तेरे (मनः) मन को (निहन्मि) मैं गतिरहित कर देता हूँ, (यथा) ताकि (माम्) मुझे (कामिनी) चाहने वाली (असः) तू हो, (यथा) ताकि (मत्) मुझ से (अपगाः) अलग हो जाने वाली, छोड़ जाने वाली (न असः) तू न हो।

[गरुड पक्षी अधिक वेगवाला और शक्तिशाली होता है। पृथिवी पर प्रपात करने पर वह निज पक्षों को गतिरहित कर देता है, इसी प्रकार पति रुष्ट पत्नी के मन को विचारशून्य करता है ताकि वह पति को छोड़ कर चले जाने की सोच भी न सके। यह पति का, रुष्ट पत्नी के साथ सद्-व्यवहार और प्रेम का परिणाम है]।

ऋषि:—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्द:—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः।

एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (सद्यः) शीघ्र (इमे, द्यावापृथिवी) इन द्युलोक और पृथिवी का (परि एति) परिक्रमण कर लेता है, (एवा) इसी प्रकार (ते) तेरे (मनः) मन का (पर्येमि) मैं परिक्रमण करता हूँ। "यथा" इत्यादि पूर्ववत्।

[परिक्रमण करना=मन के चारों ओर घेरा डालना, पति के घेरे में रहना, इस घेरे से बाहिर पत्नी को न जाने देना। यह भी पत्नी के साथ सद्-व्यवहार और प्रेम का परिणाम है। इस मन्त्र की व्याख्या में भी सायण ने "योषित्" अर्थात् पत्नी सम्बन्धी सम्बोधन माना है। मन्त्र में, मन्त्र २ के सदृश, सूर्य की भी शीघ्र गति को दर्शाया है, जो कि लगभग १२ घण्टों में महाकाश को पार कर जाता है]।

सूक्त ९

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वाञ्छ मे तन्वं॑ पादौ॒ वाञ्छाक्ष्यौ॒ वाञ्छ सक्थ्यौ॑।

अक्ष्यौ॑ वृषण्यन्त्याः केशा॒ मां ते कामे॑न शुष्यन्तु॥ १ ॥

अर्थ—(मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को, (पादौ) पैरों को, [हे पत्नी!] (वाञ्छ) तू चाह, (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (वाञ्छ) तू चाह, (सक्थ्यौ) दोनों ऊरूओं [thighs] को (वाञ्छ) चाह। (वृषण्यन्त्याः) सेचनसमर्थ मुझ को चाहती हुई के, (ते) अर्थात् तेरी (अक्ष्यौ) दोनों आंखें, और (केशाः) केश (माम् कामेन) मेरे प्रति कामना के कारण (शुष्यन्तु) सूख जाएँ।

[पति कहता है रुष्ट हुई पत्नी के प्रति, कि विवाह से पूर्व तूने मुझे पसन्द कर लिया था और मेरे शरीर और शरीर के प्रत्येक अङ्ग को तूने पर्ख लिया था। अब भी तदनुसार तू मेरे शरीर और शरीर के प्रत्येक अङ्ग को चाह, मेरे किसी अङ्ग को विकृत हुआ जानकर, मुझ से रुष्ट होकर विरुक्त न हो। तेरी विरक्ति के कारण, तुझे त्याग कर, मैं कहीं चला गया तो भी मैं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे स्मरण करती हुई की तेरी आंखें तथा केश सूख जाएँ। पति के वियोग में दुःख के कारण अतिशय रोती हुई की आंखें सूख जाएँ, और तैल न लगाने से केश सूख जाएँ। जिनके परिणामभूत मेरा पुनरागमन हो और हम पुनः सुखपूर्वक सहवास कर सकें। यह अभिप्राय मन्त्र का प्रतीत होता है]। इस अभिप्राय को अगले दो मन्त्रों में स्पष्ट किया है, यथा—

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मम॑ त्वा दोषणि॒श्रिषं॑ कृणोमि॑ हृदय॒श्रिष॑म्।

यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चित्तमु॒पाय॑सि॥ २ ॥

अर्थ—(मम) मेरी (दोषणिश्रिषम्) भुजा में आश्रय पाई (त्वा) तुझ को, (हृदयश्रिषम्) मेरे हृदय में आश्रय पाई (कृणोमि) मैं करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि (मम) मेरी (क्रतौ) प्रज्ञा और कर्म में (असः) तू हो जा, और (मम) मेरे (चित्तम् उप) चित्त के समीप (अयसि) तू आ जा।

["**क्रतुः प्रज्ञानाम**", तथा "**कर्मनाम**" (निघं० ३.९; २.१)। अभिप्राय यह कि तू मेरे विचार और कर्म के अनुकूल वर्ताव कर]।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम्।

गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒मूं सं वा॑नयन्तु मे॥ ३ ॥

अर्थ—(यासाम्) जिन स्त्रियों की (नाभिः) नाभि अङ्ग (आरेहणम्) कत्थन अर्थात् प्रशंसा योग्य है, और (हृदि) हृदय में (संवननम्) वशीकरण (कृतम्) परमेश्वर ने स्थापित किया है, वे (गावः) गौओं की तरह (घृतस्य) घृत की अर्थात् स्नेहघृत[१] की (मातरः) निर्मात्री हैं, (अमूम्) उस मेरी पत्नी को [गृह की अन्य देवियां] (मे) मेरी (संवानयन्तु) भक्ति में या वशीकरण में करें।

---

१. घृतस्य=घृतोपलक्षितस्नेहघृतस्य निर्मात्र्यः गाव इव।

[आरेहणम्=**रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु। "रिह" इत्येके** (तुदादिः); कत्थन=श्लाघा (भ्वादिः), प्रशंसा। स्त्रियों की नाभि श्लाघा सम्पन्न है, यतः यह सन्तानोत्पादिका है। शिशु माता की नाभि से बन्धे उत्पन्न होते हैं। यथा "**नाभ्या संनद्धाः पुत्रा जायन्ते**" यह प्रसिद्ध उक्ति है। मन्त्र में गावः पद में उपमावाचक पद विलुप्त है। अभिप्राय है "गावः इव गावः", अर्थात् गौएँ जैसे नवजात वत्स के प्रति स्नेहमयी होती हैं उसी प्रकार परस्पर स्नेहमयी पारिवारिक स्त्रियां। यथा "**अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या**" (अथर्व० ३.३०.१)। अथर्व० १४.२.५३-५८ मन्त्रों में गोधर्मों का प्रवेश वधू में वर्णित कर वधू को गोरूपता दी है, अर्थात् गृहस्थ जीवन में वधू को गोरूप में वर्णित किया है। अतः धर्मसाम्य द्वारा गोपद द्वारा पारिवारिक स्त्रियों का ग्रहण भी वेदानुमोदित है।

तथा

मन्त्र में गावः पद द्वारा वेदवाक् अभिप्रेत है, "**गौः वाङ्नाम**" (निघं० १.११)। अतः "**गावः संवानयन्तु मे**" का अभिप्राय है "वेदवाणियां मेरे लिए पत्नी को सम्यक् भक्तिपरायणा करें"। **वन संभक्तौ** (भ्वादिः)। विवाह सम्बन्धी मन्त्रों (अथर्व० १४.२) में पति-पत्नी भाव में सम्बद्ध हुए वर-वधू को परस्पर प्रेम में बन्धे रहने के उपदेश दिए हैं। रुष्टापत्नी उन उपदेशों को स्मरण कर पति के प्रति स्नेहभावना परायणा हो—यह विचार भी मन्त्र में प्रकट किया है।

सूक्त १०

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥

अर्थ—"पृथिवी के लिए, श्रोत्र के लिए, वनस्पतियों के लिए, अधिपति अग्नि के लिए स्वाहा हो [हविः की आहुतियां हों"]।

[मन्त्र में पृथिवी आदि का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है, ताकि मन्त्रों में किसी एक के श्रवण द्वारा तत्सम्बन्धी अन्य तत्त्वों का स्मरण हो सके। पृथिवी सम्बन्धी अन्य तत्त्व हैं श्रोत्र, वनस्पतियां, तथा अग्नि। पृथिवी पर ही श्रवणशक्ति सम्पन्न रहते हैं। अतः पृथिवी के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध कहा है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**वायु** ॥ छन्दः—**प्राजापत्या बृहती** ॥

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—"अन्तरिक्ष के लिए, श्वासोच्छ्वासरूप प्राणसम्बन्धी नासिका के लिए, पक्षियों के लिए, अधिपति वायु के लिए स्वाहा हो [हविः की आहुतियां हों]।"

[व्याख्या मन्त्र १ वत्। अन्तरिक्ष के साथ नासिका, पक्षियों, अधिपति वायु का सम्बन्ध है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सूर्य** ॥ छन्दः—**साम्नी बृहती** ॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—"द्युलोक के लिए, चक्षु के लिए, नक्षत्रों के लिए, अधिपति सूर्य के लिए स्वाहा हो [हविः की आहुतियां हों]"।

[द्युलोकस्थ सूर्य के प्रकाश के साथ चक्षु का सम्बन्ध है, सूर्य के प्रकाश में चक्षु की दृष्टिशक्ति कार्य करती है। सूर्य का प्रतीयमान परिभ्रमण द्युलोकस्थित नक्षत्रों में होता है, क्योंकि राशिचक्र नक्षत्रों में

विद्यमान है। अतः इन सब का परस्पर सम्बन्ध है। तीनों लोकों और तत्स्थ तत्त्वों की शुद्धि के लिए यज्ञों का वर्णन हुआ है]।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त ११

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥ १॥

अर्थ—(शमीम्, अश्वत्थः, आरूढः) शमी वृक्ष पर अश्वत्थ वृक्ष आरूढ हुआ, (तत्र) उस कर्म में (पुंसुवनम्) पुमान्-पुत्र का उत्पत्ति कर्म (कृतम्) किया गया। (तद्) वह कर्म (वै) निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र की (वेदनम्) प्राप्ति कराता है, (तत्) उसे (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आ भरामसि) हम सम्पादित करते हैं [रेतस् को स्थापित करते हैं, मन्त्र २]

[मन्त्र में गर्भाधान सम्बन्धी कर्म का वर्णन है। शमी द्वारा शान्तप्रकृतिक स्त्री अर्थात् पत्नी का वर्णन है, और अश्वत्थ द्वारा दृढ़ाङ्ग परिपुष्ट पति का। इस परिस्थिति में पुत्र की उत्पत्ति होती है। अश्वत्थः=शक्ति में अश्व के सदृश स्थिति वाला पति। स्त्रीषु और आभरामसि में बहुवचन है। इस द्वारा भिन्न-भिन्न परिवार की नाना पत्नियों और नाना पतियों को सूचित किया है]।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥ २॥

अर्थ—(पुंसि) पुमान् में (वै) निश्चय से (रेतस्) वीर्य (भवति) होता है, (तत्) उसे (स्त्रियाम्) स्त्री में (अनु) विधि के अनुकूल (सिच्यते) सींचा जाता है। (तत्) वह वीर्य (वै) निश्चय से (पुत्रस्य) पुत्र की (वेदनम्) प्राप्ति कराता है (तत्) यह (प्रजापतिः) प्रजाओं के पति परमेश्वर ने (अब्रवीत्) कहा है।

[स्त्रियाम् में एकवचन द्वारा पत्नी की एकता को सूचित कर, तद्द्वारा पति की एकता को सूचित किया है]।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह॥ ३॥

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रजाओं के पति परमेश्वर ने, (अनुमतिः) पति के अनुकूल मति वाली पत्नी ने, (सिनीवाली) अन्नवाली तथा सुन्दर केशों वाली पत्नी ने, (अचीक्लृपत्) रेतस् का [पुत्ररूप में] निर्माण किया है। (स्त्रैषूयम्) कन्या की उत्पत्ति [प्रजापति ने] (अन्यत्र) भिन्न अवस्था में (दधत्) स्थापित की है, (उ) और (पुमांसम्) पुमान् की उत्पत्ति (इह) यहां (दधत्) स्थापित की है, अर्थात् पति के अश्वत्थ सदृश शक्तिशाली होने पर।

[(१) प्रजापति द्वारा निर्मित नियम "अश्वत्थ और शमी" शब्दों द्वारा कथित नियम, (२) और पत्यनुरक्ता पत्नी, (३) तथा प्रभूत अन्नवाली पत्नी, ये पुत्र तथा कन्या की उत्पत्ति में सामर्थ्य वाले होते हैं। पत्नी यदि पत्यनुरक्ता न हो तो परस्पर प्रेम के अभाव में श्रेष्ठ सन्तानें उत्पन्न नहीं होतीं।

पत्नी के गृह में यदि खाद्य और पेय की यथोचित मात्रा न हो तो माता और सन्तानों का यथेष्ट पालन-पोषण न हो सकने से भी सन्तानें निर्बल हो जाती हैं।

अनुमति और सिनीवाली चन्द्रकला-विशेष नहीं, अपितु देवपत्नियां हैं, दिव्यपुरुषों की पत्नियां हैं, **"देवपत्न्यौ" इति नैरुक्ताः** (निरुक्त ११.३.३२; पद सिनीवाली २२); **सिनम् अन्ननाम** (निघं० २.७)। अचीक्लृपत्=**कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः)। अन्यत्र=स्त्री के अश्वत्थ-सदृश शक्तिशाली, और पति के शमी आकृतिक अर्थात् निर्बल होने पर]।

सूक्त १२

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात्तेना ते वारये विषम्॥ १॥

अर्थ—(सूर्यः) सूर्य (इव) जैसे (द्याम् परि) द्युलोक के समीप, वैसे (अहीनाम् जनिम्) सांपों की जाति के समीप (आगमम्) मैं [विषवैद्य] आ गया हूँ। (रात्री) तथा रात्रि (इव) जैसे (अन्यत् हंसात्) सूर्य से भिन्न (जगत्) जगत् को [व्याप लेती है वैसे मैंने उसे घेर लिया है] (तेन) उस [हंस] द्वारा (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं निवारित करता हूँ।

[विषवैद्य, विषाविष्ट व्यक्ति से कहता है कि मैंने सांपों की सब जातियों को घेरा हुआ है, तो भी इनके विष से रहित हूँ, मुझ पर विश्वास कर, मैं तुझे विष के प्रभाव से मुक्त कर दूंगा। जैसे सूर्य द्युलोक के अन्धकार को दूर करता है, वैसे तेरे निराशान्धकार को मैं दूर कर दूंगा। जैसे रात्री जगत् को व्याप लेती है और हंस अर्थात् सूर्य की नहीं, वैसे विष तुझे व्याप्त नहीं करेगा। उस हंस के द्वारा मैं तेरे विष को निवारित करूँगा।

हंस है सूर्य। "हन्ति" अन्धकारम्, "सनोति" प्रकाशम्; **षणु दाने** (तनादिः)। सूर्य की प्रातःकाल और सायंकाल की लाल-रश्मियों में रोग कीटाणुओं के हनन का सामर्थ्य है। यथा **"उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि"** (अथर्व० २.३२.१)। आदित्य की सप्तरश्मियों में पृथक्-पृथक् क्रिमियों, तथा उनके विषों के हनन करने की शक्ति विद्यमान है। उन रश्मियों के प्रयोग द्वारा भी तेरे विष का मैं निवारण कर दूंगा।

हंस=सूर्यः (अथर्व० १०.८.११)। तेना=तेन, सूर्येण। सप्तरश्मिः=**एकोऽश्वो वहति "सप्तनामा" आदित्यः, सप्तास्मै रश्मयो रसानभि सन्नामयन्ति"** (निरुक्त ४.४.२७; ऋक् १.१६४.२)। वर्षर्तु में इन्द्रधनुष् में सात रश्मियां प्रकट होती हैं। एकः अश्वः=एक शुक्ल रश्मिः है। वह ही है सप्तनामा=सात रश्मियों में परिणत, रश्मि-सप्तक। मन्त्र में सूर्यरश्मिचिकित्सा का कथन हुआ है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैर्विदितं पुरा। यद्भूतं भव्यमासन्वत्तेना ते वारये विषम्॥ २॥

अर्थ—(यत्) जो औषध (ब्रह्मभिः) ब्रह्म अर्थात् वेद के वेत्ताओं ने, (यत्) जो (ऋषिभिः) मन्त्रद्रष्टाओं ने, (यत्) जो (देवैः) विद्वानों ने (पुरा) पुरातन काल में (विदितम्) जानी है। (यत्) जो औषध (भूतम्; भव्यम्) भूतकाल में हुई है, और जो भविष्य में होगी [वह है] (आसन्वत् विषम्) मुख

वाला विष, (तेना=तेन) उस मुखवाले विष द्वारा (ते) तेरे [विषम्] विष को (वारये) मैं निवारित करता हूँ।

[आसन्वत् विषम्=सर्प के मुख वाला विष, सर्प के मुख में रहने वाला विष। इस प्रकार की विचित्रोक्ति वेद में अन्यत्र भी पाई जाती है, यथा "दन्वती रज्जुः" अर्थात् दान्तों वाली रस्सी=सांप[१] (अथर्व० ४.३.२; १९.४७.७)। मन्त्र में सर्पविष द्वारा तद्भिन्न विष के निवारण का वर्णन है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध उक्ति है "**विषस्य विषमौषधम्**"]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु। मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे॥ ३॥

अर्थ—(मध्वा) उदक द्वारा (पृञ्चे) मैं तेरा सम्पर्क करता हूँ, (नद्यः) नदियां (पर्वताः) पर्वतसदृश अन्तरिक्ष में अत्युच्च प्रदेशस्थ मेघ, (गिरयः) छोटे पर्वतों के सदृश अन्तरिक्ष में अल्पोच्च प्रदेश मे स्थित मेघ (मधु) उदक रूप हैं। (परुष्णी) बहुतों को स्नान कराने वाली नदी (मधु) उदकरूपा है, (शीपाला) और शयनावस्था से पालने वाली अर्थात् सुरक्षा करने वाली है। [जल समूह तेरे] (आस्ने) मुख के लिए (शम्) सुखरूप और (हृदे) हृदय के लिए (शम्) सुखरूप (अस्तु) हो।

[मन्त्र में सर्प विषाक्त रोगी को सम्बोधित कर कहा है कि तेरे विष की चिकित्सा के लिए मैं विषवैद्य तेरे साथ उदक का सम्पर्क करता हूँ, और विषवैद्य ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उदकों का वर्णन मन्त्र द्वारा दर्शाया है। भिन्न-भिन्न प्रकार के उदकों में विष के निवारण की शक्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है। नदी के प्रवाहशील उदक में बैठ कर चिकित्सा करने से शरीरगत विष प्रवाह के साथ प्रवाहित हो जाता है। अन्तरिक्ष के उच्च तथा निचले प्रदेशों के मेघों में भी विष निवारण शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। अतः इन द्विविध प्रकार के मेघों का कथन किया है। परुष्णी है "पुरुष्णी" बहुतों को युगपत् स्नान करा सकने वाली, इरावती [बहूदका] नदी (निरुक्त ९.३.२५)। यह परुष्णी शीपाला है, विष का निवारण करके विषाक्त को शयन करने से बचा देती है। सर्प विषाक्त रोगी में शयन करने की प्रवृत्ति हो जाती है, जो कि उस के लिए घातक होती है। जैसे कि कहा है कि "**सर्प कटा सोए और बिच्छू कटा रोए**"। मन्त्र में जलचिकित्सा का वर्णन हुआ है। जलचिकित्सा के विशेषज्ञ के परामर्श द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के जलों द्वारा जलचिकित्सा करनी चाहिए। जलचिकित्सा से मुख के तथा हृदय के रोग शान्त होकर सुखप्रदान करते हैं। **पर्वतः मेघनाम** (निघं० १.१०)। **गिरिः मेघनाम** (निघं० १.१०)। **मधु उदकनाम** (निघं० १.१२)। **शम् सुखनाम** (निघं० ३.६)। शोपाला=**शीङ् स्वप्ने** [शयने] (अदादिः)+ **पाल रक्षणे** (चुरादिः)।

सूक्त १३

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोस्तु ते॥ १॥

अर्थ—(देववधेभ्यः) [शत्रु के] सैनिकों के वधों के लिए (नमः) वज्रायुध हो, (राजवधेभ्यः)

१. तथा "**अरणी दत्वती**" (अथर्व० ७.१०८.१)। =दान्तों वाली अग्न्युत्पादक लक्कड़ी=सांप।

उनके राजाओं के वधों के लिए (नमः) वज्रायुध हो। (अथो) तथा (विश्यानाम्) वैश्यों के (ये वधाः) जो वध हैं (तेभ्यः) उन के लिए (मृत्यो) हे मृत्यु! (ते) वे जो कि तेरे हैं, (नमः) वज्रायुध (अस्तु) हो।

[मन्त्र युद्ध सम्बन्धी है, यथा "**जयकामः स्वसेनां परितः प्रतिदिशम् उपस्थानं कुर्यात्**", "**नमो देववधेभ्यः इत्युपतिष्ठते**" (कौशिक सूत्र १४.२५), तथा (सायण)। अतः जय युद्ध में परकीय सेनाओं, उनके राजाओं तथा वैश्यों के वध के लिए वज्रायुध आवश्यक हैं, "**नमः वज्रनाम**" (निघं० २.२०)। युद्ध में जिनका वध अवश्यंभावी है उन्हें मृत्यु का सम्बन्धी कहा है। "देव" हैं विजिगीषा की भावना वाले परराष्ट्र सैनिक, यथा "**दिवु क्रीडाविजिगीषा**" आदि (दिवादिः)। युद्ध में सैनिकों, राजवर्ग, तथा वैश्यवर्ग आदि का वध होता ही है, अतः इनका कथन हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः। सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः॥ २॥

अर्थ—(मृत्यो) हे [युद्ध में होने वाली] मृत्यु! (ते) तेरे [स्वरूप के] (अधिवाकाय) अधिकृत वक्ता के लिए (नमः) नमस्कार हो, (ते) तेरे (परावाकाय) पराविद्या के वक्ता के लिए (नमः) नमस्कार हो। (ते) तेरे (सुमत्यै) सुमति वाले दूत के लिए (नमः) नमस्कार हो, (ते) तेरे (दुर्मत्यै) दुर्मति वाले दूत के लिए (इदम्) यह (नमः) नमस्कार हो।

[सायण के अनुसार मन्त्र में "दूतों" का वर्णन है (१३.२)। 'अधिवाक' तो युद्ध न चाहने वाले राष्ट्र का दूत है, जो कि युद्धेच्छु परराष्ट्र में निज दूतावास का अधिकृताधिकारी है, और 'परावाक' है युद्धेच्छु परराष्ट्र का दूत, जो कि पराविद्या का जानने वाला शान्तिप्रिय राष्ट्र में निज दूतावास का अधिकृताधिकारी है। युद्धकाल में भी इन दूतों पर प्रहार न करना चाहिए, युद्धकाल में भी ये नमस्कार के योग्य हैं, आदर और सम्मान के योग्य हैं। मन्त्र के इस पूर्वार्ध में पुरुष-दूतों का वर्णन हुआ है। मन्त्र के उत्तरार्ध में स्त्रीदूतों का कथन हुआ है। जो स्त्रीदूत शान्तिप्रिय राष्ट्र का है उसे सुमति वाला कहा है, और जो स्त्रीदूत युद्धेच्छु राष्ट्र का है उसे दर्मतिरूप कहा है।

आप्टे कोश में अधिवचनम् का अर्थ है Advocacy। एतदनुसार अधिवाक का अर्थ होगा "Advocate" की योग्यता वाला अधिवक्ता। दूतावासों में दूत Advocates की योग्यता वाले होने चाहिएँ, यह अभिप्राय है। Ad (अधि)+vocate (वक्ता)]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः। नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः॥ ३॥

अर्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु! (ते) तेरे (यातुधानेभ्यः) यातुधानों के लिए (नमः) नमस्कार हो, (ते) तेरे (भेषजेभ्यः) भेषजों के लिए (नमः) नमस्कार हो। (ते) तेरे (मूलेभ्यः) मूलों के लिए (नमः) नमस्कार हो, तथा (ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मवेत्ताओं के लिए (इदम्, नमः) यह नमस्कार हो।

[सूक्त में यतः युद्ध का वर्णन है, और युद्ध में मृत्युएँ अवश्यम्भावी हैं, अतः मृत्यु का सम्बन्ध युद्ध में दर्शाया है। "यातुधानेभ्यः" का अर्थ मन्त्र में "यातनाओं के निधान" नहीं, अपितु युद्ध में सेवा के लिए, जाने-आने वाले सेवकों का वर्णन है। यातु=जाने-आने वाले, धान=धारणपोषण करने वाले। इस अर्थ में यातु पद=यातवः के लिए, अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है (काण्ड १३। अनुवाक ४। मन्त्र ६ (२७)।

"भेषजेभ्यः"=रक्षाकरेभ्यः (सायण), अर्थात् युद्ध में घायल हुओं की सेवा ओषधियों द्वारा करने वाले, अर्थात् Redcross society वालों के लिए, मूलेभ्यः[1]=पुरुषजाति के मूलभूत बच्चों के लिए "ब्राह्मणेभ्यः" ब्रह्मवेत्ताओं और वेदवेत्ताओं के लिए। इन चार प्रकार के पुरुषों पर वज्रप्रहार युद्ध में न होना चाहिए, ये चारों रक्षा के योग्य हैं। इस सिद्धान्त को नमः अर्थात् नमस्कार द्वारा कथित किया है। यही तभी सम्भव है जब कि इन चारों को युद्धकारी सैनिक विभाग में भर्ती न किया जाए। ब्राह्मणेभ्यः=ब्रह्मवेत्ता मनुष्य युद्धकाल में भी नमस्कार के योग्य हैं, चाहे वे शत्रु के राज्य में भी रहते हों, उन पर प्रहार न होना चाहिये]।

सूक्त १४

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु॥ १ ॥

अर्थ—[हे वैद्य] (अस्थिस्रंसम्) हड्डी को स्वस्थान से च्युत कर देने वाले, (परुस्रंसम्) जोड़ों को ढीला कर देने वाले, (सर्वम्) सब (बलासम्) बलास रोग को, तथा (आस्थितम्) स्थिर हुए (हृदयामयम्) हृद्रोग को (नाशय) नष्ट कर, तथा (यः) जो (अङ्गेष्ठाः) शरीर के किसी अंग में स्थित (च) और (पर्वसु) जोड़ों में रोग है [उसे नष्ट कर]

[बलास=रोग जो कि शारीरिक बल को नष्ट कर देता है, "बल+**असु क्षेपणे**" (दिवादिः)। बलासः कासश्वासात्मकश्लेष्मरोगः (सायण)। मन्त्र में नाना रोगों का वर्णन हुआ है। यथा चोट के कारण अस्थि और परु का स्वस्थान से च्युत हो जाना, **स्रंसु अवस्रंसने** (भ्वादिः), अवस्रंसनम्=Dropping, or falling down, fall (आप्टे); (२) हृदयामय; (३) बलास=श्लेष्मरोग या क्षय; (४) अंगेष्ठाः= Rheumation (वात पीड़ा); (५) पर्वसुः=जोड़ों का दर्द, Arthritis (gout, गठिया)]।

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव॥ २ ॥

अर्थ—(बलासिनः) बलासरोग वाले रोगी के (बलासम्) बलास रोग को (निः क्षिणोमि) निःशेषतया मैं क्षीण करता हूँ, (यथा) जैसे कि (मुष्करम्) चोरी करने वाले चोर का निःशेषतया अर्थात् पूर्णतया क्षय कर लिया जाता है। (अस्य) इस रोग के (बन्धनम्) शरीर के साथ बान्धने वाले (मूलम्) मूलकारण को (छिनद्मि) मैं उच्छिन्न कर देता हूँ, (इव) जैसे कि (उर्वार्वाः) ककड़ी का बन्धन कट जाता है।

["उर्वार्वाः" परिपक्व उर्वारु अर्थात् ककड़ी का बन्धन लता के साथ आसानी से स्वयमेव कट जाता है यथा "**उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्**" (ऋ० ७.५९.१२); इसी प्रकार बलास के बन्धन को मैं (वैद्य) आसानी से काट देता हूँ। चोर की चोरी के लिए उग्र दण्ड का विधान हुआ है। उग्रदण्ड के विना सामाजिक जीवन का परिशोधन नहीं हो सकता]।

---

१. मूलबलभूतेभ्यः पुरुषेभ्यः (सायण)।

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा। अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा॥ ३॥

अर्थ—(बलास) हे बलास रोग! (इतः) इस शरीर से (निःपत) निकल चला जा, (यथा) जैसे कि (आशुंगः[१]) शीघ्रगामी (शिशुकः) मृग! (अथो) तथा (इटः) चला गया (हायनः) वर्षकाल (इव) जैसे [फिर नहीं लौटता] वैसे (उप द्राहि) तू शरीर से अलग होकर जा और (अवीरहा) इस वीर का हनन कर। "इटः=**इट गतौ** (भ्वादिः)"।

सूक्त १५

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति॥ १॥

अर्थ—(ओषधीनाम्) ओषधियों में (उत्तमः असि) तू उत्तम [ओषधि] है, (वृक्षाः) वृक्ष (तव) तेरे (उपस्तयः) आश्रय रूप हैं [तू उन पर आरूढ है], (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) उपलक्ष्य करके हमारी हिंसा करता है, या हमें दास बनाता है (सः) वह (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः[२] अस्तु) आश्रय में स्थित हो, हमारे अधीन हो जाए।

[उपस्तिः=उप+अस्तिः (**अस भुविः**, अदादिः) अस्तिः तिङन्तप्रतिरूपक नाम पद। अस्तिः के अकार का लोप। दासति+**दसु उपक्षये** (दिवादिः) उत्तमपद पुलिङ्ग है, अतः ओषधि पद का प्रयोग भी पुंलिङ्ग में हुआ है]।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ २॥

अर्थ—(सबन्धुः) समान नाभिबन्धन वाला, (च) और (असबन्धुः) परकीय नाभिबन्धन वाला (यः) जो (च) भी (अस्मान्) हमें (अभि दासति) उपलक्ष्य करके हमारा उपक्षय करता है, (इव) इसी प्रकार (तेषाम्) उनमें (अहम्) मैं (उत्तमः) उत्कृष्ट शक्ति वाला (भूयासम्) हो जाऊं, (सा) वह ओषधि जैसे (वृक्षाणाम्) वृक्षों में उत्तम है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः। तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (ओषधीनाम् हविषाम्) हविष्य ओषधियों में (सोमः) सोम (उत्तमः) उत्तम (कृतः) विधाता ने किया है, तथा (वृक्षाणाम्) वृक्षों में (तलाशा) तलाश ओषधि उत्तम की गई है, (इव) इसी प्रकार (अहम्) मैं (उत्तमः भूयासम्) [सबन्धुओं और असबन्धुओं में] उत्तम हो जाऊं।

[तलाशा स्त्रीलिङ्ग एक वचन। सायण ने "तलाशा" का अर्थ "पलाश" वृक्ष किया। "तलाशा"

१. "आशुंगः; शिशुकः=शुशुक एतत्संज्ञो मृगः" (सायण)। अथवा शिशुकः अल्पवयस्को मृगः, अन्यो वा प्राणी।
२. उपस्तिः=उपासकः, उपक्षीणः; (सायण), उप+अस् (भुवि), या **आस उपवेशने** (अदादिः), या **असु क्षेपणे** (दिवादिः)।

[स्त्रीलिङ्ग] ओषधि है (मन्त्र १) तलाशा=**तल (प्रतिष्ठायाम्,** चुरादिः)+आ (व्याप्य),+**शीङ् (स्वप्ने;** अदादिः)+डः (प्रत्यय औणादिकः)+टाप् [स्त्रियाम्] वृक्षों को निज आधाररूप करके और उन्हें व्याप्त करके, शयन करने वाली ओषधि। वृक्ष और ओषधियां हैं "**ऊर्ध्वस्वप्नाः**" (अथर्व ६.४४.१) जो कि ऊर्ध्व दिशा की ओर बढ़ते हैं और स्वप्नावस्था में होते हैं, शयन करते हैं]।

सूक्त १६

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा निचृद् गायत्री** ॥

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो। आ ते करम्भमद्मसि॥ १ ॥

अर्थ—(आबयः=आवयः) [हे परमेश्वर! तू प्रलयकाल में सृष्टि का] भक्षण[1] कर लेता है, (अनाबयः=अनावयः) [और सृष्टिकाल में तू सृष्टि का] भक्षण नहीं करता। (आबयः=आवयः) हे भक्षण करने वाले! प्रलय काल में (ते) तेरा (उग्रः रसः) उद्गीर्ण आनन्दरस[1] रहता है, (ते) तेरे (करम्भम्) हाथ में दीप्त हुए उस रस[2] का (आ अद्मसि) हम पूर्णतया भोग करते हैं।

[सूक्त १६ में ४ मन्त्र हैं। समग्र सूक्त का अभिप्राय अत्यन्त अस्पष्ट है। कौशिक सूत्रों और तदनुसार सायणभाष्य में सूक्त का विनियोग अक्षिरोग, तद्भैषज्यरूप सर्षपतैल आदि में किया है, परन्तु समग्र सूक्त में इस का निर्देशक कोई पद नहीं। अपितु समग्र सूक्त अध्यात्म विषयप्रतिपादक है। प्रलय काल में परमेश्वर के हाथ में मानो उसका उग्र आनन्दरस अवशिष्ट रहता है, जिसका कि भक्षण अर्थात् आस्वादन मुक्तात्माएँ करती हैं। वेद की वर्णन शैली कवितामय प्रायः होती है अतः उसके "कर" अर्थात् हाथ का वर्णन भी हुआ है। वस्तुतः वह "**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**" है]।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विहह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः॥ २ ॥

अर्थ—[हे जीवात्मन्!] (विहह्लः[3] नाम) विशेष आह्लाद वाला [परमेश्वर] (ते) तेरा (पिता) पिता है, (मदावती) मदमस्त कर देने वाली [प्रकृति] (ते माता) तेरी माता है। (सः) वह तू (हिन) स्वयम् अपनी वृद्धि कर, (त्वम्, असि) तू तो [प्रकृति से][4] पृथक् है, (यस्त्वम्) जो तू ने कि (आत्मानम्) निज आत्म-स्वरूप को (आवयः) भक्षित सा कर लिया है, भुला सा दिया हुआ है।

[परमेश्वर विशेषेण सुखस्वरूप है, प्रकृति जीवात्मा को मदमस्त कर देती है, तब वह सुखदायक पिता से विमुख हो जाता है। इसलिए उसे कहा है कि तू प्रकृति के मद का त्याग कर और (हिन) वृद्धि को प्राप्त हो। तू तो प्रकृति से पृथक् है, चाहे तेरा शरीर प्रकृतिजन्य है। तूने निज आत्म-स्वरूप को भुला दिया है। आवयः=**आवयतिः अत्तिकर्मा** (सायण), आ+**वी (गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन-'खादनेषु')** (अदादिः) "नाम" पद प्रसिद्धार्थक। हिन=हि गतौ वृद्धौ च (स्वादिः)।

---

१. इसलिए परमेश्वर "अन्नाद" है।
२. **रसो वै सः। रसं ह्येष लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** (तै० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली ७)।
३. विहह्लः=वि+**ह्लादी सुखे च** (भ्वादिः)। विहह्लः=वि+ह्ल (यङ् लुक्)+डः (औणादिक), डित्त्वात् टि लोपः।
४. यथा "**सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपातोसि** [जीवात्मा के लिए] (अथर्व० २.११.४)।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

तौविलिकेवेलयावायमैलब ऐलयीत्। बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

अर्थ—(तौविलिके) हे हिंसाकारिणी प्रकृति! (अवेलय=अव, इलय) तू अवाङ्-मुख होकर क्षिप्त हो जा, हट जा, (अयम्) यह (ऐलब:=ऐलव:) प्रेरित हुआ जीवात्मा (अव, ऐलयीत्) तेरे स्वरूप को अवगत करके तुझ से विमुख प्रेरित हो चुका है। (च) तथा (बभ्रुः) शरीर का भरण-पोषण करने वाला जीवात्मा (च) और (बभ्रुकर्णः) शरीर का भरण-पोषण करने वाला कर्ण आदि इन्द्रियसमूह दोनों ही [तुझ से विमुख हो चुके हैं], (अपेहि) अतः तू अपगत हो जा, (निराल) तू निश्चयेन निवारित[1] हो जा।

[तौविलिका=**तुर्वी हिंसायाम्** (भ्वादिः)+ठञ् (वृद्धि ञित् होने से; और "ठ" को इक् आदेश);" "र्" को "ल्" रलयोरभेदः, रेफ और वकार वर्णों का व्यत्यास। अवेलय=अव+**इल** (क्षेपणे, तुदादिः)। ऐलवः, ऐलयीत्=**इल प्रेरणे** (चुरादिः)। निराल=निर्+आ+**अल वारणे** (भ्वादिः)। अभिप्राय यह कि जीवात्मा ने प्रकृति का स्वरूप जब जान लिया कि प्रकृति हिंसाकारिणी है, तब वह प्रकृति से विमुख हो जाता है, और इन्द्रिसमूह भी प्रकृतिप्रदत्त भोगों से विमुख हो कर और अधिक भोग नहीं चाहता]।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्रतिष्ठा गायत्री** ॥

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा। नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अर्थ—(अलसाला, असि, पूर्वा) हे प्रकृति! क्रम में पहली तू है, भूषण के सदृश शोभायमाना, चमकीली है; (सिलाञ्जाला, असि, उत्तरा) तदुत्तर तू बन्धनकारिणी, गतिशीला और जालरूपा है; [तदुत्तर तू] (नीलागलसाला) नीलवर्णवाली, गत्यभाववाली हुई शोभायमाना होती है।

[मन्त्र में "मदावती" (मन्त्र ३) में कथित प्रकृति का ही वर्णन (मन्त्र ४) में हुआ है। प्रकृति के घटक अवयवों का क्रम है, सत्त्व, रजस्, तमस्। इन्हीं घटकों के क्रम का वर्णन मन्त्र में हुआ है। अलसाला=अलरूपेण शालते इति, जो कि भूषण के रूप में चमकती है वह प्रकृति। **अल भूषणपर्याप्तिवारणेषु** (भ्वादिः)। सत्त्व है भूषण के सदृश चमकीला अर्थात् प्रकाशक "**सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्**" (सांख्य-सिद्धान्तकारिका)। सिलाञ्जाला=**षिञ् बन्धने**+ल (मत्वर्थीय), [यथा मधु, मधुर, मधुल]+**अम गतौ** (भ्वादिः)+जाला। अर्थात् यह द्वितीयरूपा प्रकृति है, यह बन्धनकारिणी, गतिशीला, और जालरूपा है। यह रूप प्रकृति का, जीवात्मा को बन्धन में बान्धता है। यथा "**रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः**" (अथर्व ८.२.१)। यह "रजस्" रूपा प्रकृति है, जो कि शरीर के जाल में जीवात्मा को बान्धती है। नीलागलसाला=नील अर्थात् कृष्ण+अग+ल (गतिरहित वाला)+साला (शालते इति)'; एतद् रूपा प्रकृति, तमोरूपा है। यह कृष्णा है। "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**" (श्वेता० उप० ४.५)। गाढ़ा नील, कृष्ण हो जाता है। एतद्रूपा प्रकृति "अग+ला" अर्थात् गत्यभाव रूप वाली हुई "साला" शालते। यह तमोरूपा है। इस प्रकार मन्त्र ४ में क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस् रूपा प्रकृति का वर्णन हुआ है]।

सूक्त १७

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**गर्भदृंहणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे। एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥

---

१. **अल भूषणपर्याप्ति "वारणेषु"** (भ्वादिः)। निराल=निर्+आ+अल (वारणे)।

अर्थ—(यथा, इयम्, मही पृथिवी) जैसे यह महती या महिमा वाली पृथिवी (भूतानाम्) भूतों की उत्पत्ति के लिए (गर्भं आदधे) गर्भ को धारण करती है, (एव) इसी प्रकार [हे पत्नी] (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (ध्रियताम्) धृत हो, स्थित हो, (अनुसूतुम्) उत्पत्ति विधि के अनुसार (सवितवे) पैदा होने के लिए।

["भूत" शब्द के दो अर्थ हैं, भूत अर्थात् प्राणी, जैसे पञ्च महायज्ञों में "भूतयज्ञः" तथा पञ्च महाभूतों में "भूत" शब्द है। पृथिवी जब सूर्य से फट कर अलग हुई तब इस पर कोई भूत=प्राणी नहीं था तथा कालान्तर में प्राणी पृथिवी के गर्भ से ही पैदा हुए।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**गर्भदृंहणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ २॥

अर्थ—(यथा) जैसे (इयम्, मही, पृथिवी) इस महती पृथिवी ने (इमान्, वनस्पतीन्) इन वनस्पतियों को [गर्भरूप में] (दाधार) धारण किया (एवा ते, इत्यादि) इसी प्रकार [हे पत्नी] तेरा गर्भ, इत्यादि, पूर्ववत्।

[पृथिवी बीजरूप में गर्भ धारण करती है, और उससे नियत समय पर वनस्पतियां पैदा होती हैं, इसी प्रकार [हे पत्नी! तू पूर्ववत्]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**गर्भदृंहणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान्गिरीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (इयम्, मही, पृथिवी) इस महती पृथिवी ने (पर्वतान्, गिरीन्) पर्वतों और पर्वतीय प्रान्तों को [गर्भरूप में] (दाधार) धारण किया, (एवा ते, इत्यादि) इसी प्रकार [हे पत्नी!] तेरा गर्भ इत्यादि, पूर्ववत्।

[पर्वतों और गिरियो का पूर्वरूप पृथिवी के गर्भ में पिघला हुआ तरल पदार्थ होता है जिसे मैग्मा [magma] कहते हैं। यह पर्वतों और गिरियों का पूर्वरूप है, जो कि पर्वतों और गिरियों के रूप में पृथिवी को फाड़ कर बाहर आता है। "मैग्मा" कीचड़, धुआं, उष्णवाष्प, गैसें, लावा, तथा चट्टानी पदार्थों का समूह होता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**गर्भदृंहणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ ४॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (इयम्, मही, पृथिवी) इस महती पृथिवी ने (विष्ठितम्) विविध रूपों और विविध स्थानों में स्थित (जगत्) जङ्गम [तथा स्थावर] वस्तुओं को (दाधार) धारण किया हुआ है, (एवा=एवम्) इसी प्रकार (ते गर्भः) हे पत्नी! तेरा गर्भ (ध्रियताम्) धृत हो, स्थित हो, (अनु सूतुम्) उत्पत्तिविधि के अनुसार (सवितवे) पैदा होने के लिए।

सूक्त १८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।

अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥

अर्थ—(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या के (प्रथमाम्) प्राथमिक (ध्राजिम्) वेग को, (उत) तथा (प्रथमस्याः) प्रथमवेग के (अपराम्) उत्तरोत्तर वेग को (अग्निम्) अग्निरूपी और (हृदय्यम् शोकम्) हृदयसन्तान रूपी (ते तम्) तेरी उस [ईर्ष्या रूपी अग्नि को] (निर्वापयामसि) हम शान्त करते हैं।

[सद्-गुरु लोग यत्न करते हैं कि शिष्य में यदि ईर्ष्या की अग्नि प्रकट हुई है तो उसे शान्त कर दें, ताकि ईर्ष्या के वेग शिष्य में प्रकट हो कर उस के हृदय को सन्तप्त न करते रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ २॥

अर्थ—(यथा) जैसे (भूमिः) भूमि (मृतमनाः) मरे मन वाली है, (मृतात्) मृत की अपेक्षा भी (मृतमनस्तरा) अतिशयरूप में मरे मन वाली है, (यथा उत) और जैसे (मम्रुषः) मर गये पुरुष का (मनः) मन होता है, (एव) इसी प्रकार (ईर्ष्योः) ईर्ष्यालु का (मनः) मन (मृतम्) मृत हो जाता है, उसकी मनन शक्ति मर जाती है।

[चलते-फिरते भूमि पर पादप्रहार होते, कृषि आदि द्वारा इस के शरीर को चीरा-फाड़ा जाता, इस पर मलमूत्र का त्याग किया जाता, परन्तु भूमि प्रतिक्रिया नहीं करती, क्योंकि यह मानो मृतमना है, मृत के शरीर की अपेक्षा भी अनुभूति तथा विचार से अधिक शून्या है। मृत का शरीर तो किसी समय अनुभूति और विचार सहित था, परन्तु भूमि तो सदैव अनुभूति आदि से रहित रही है। ईर्ष्यालु की ऐसी अवस्था उस के जीवित रहते ही हो जाती है, वह कर्त्तव्य और अकर्तव्य का विचार या विवेक नहीं कर सकता]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।

ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव॥ ३॥

अर्थ—(ते) तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) आश्रय पाया हुआ (यत्) जो (अदः) वह (पतयिष्णुकम्) विषयों के प्रति उड़ने वाला (मनस्कम्) अल्पमन है, (ततः) उस मन से (ते ईर्ष्याम्) तेरी ईर्ष्या को (निर् मुञ्चामि) मैं निःशेषरूप में पृथक् कर देता हूँ, (दृतेः) लुहार की धौंकनी से (इव) जैसे (ऊष्माणम्) ग्रीष्म वायु को पृथक् किया जाता है, धौंकनी से (निर्) निकाल दिया जाता है। दृति=चमड़े की थैली।

सूक्त १९

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।

पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥ १॥

अर्थ—(देवजनाः) साध्य अर्थात् साधना सम्पन्न जन, तथा ऋषिजन (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र

करें, (मनवः) मनस्वी-जन (धिया) बुद्धि तथा कर्म द्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें। (विश्वा भूतानि) सब भूत (पुनन्तु) मुझे पवित्र करें। (पवमानः) पवित्र करने वाला परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे।

[देवजनाः="**देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये**" (यजुः० ३१.९)। मन्त्र में आध्यात्मिक ज्ञान तथा तदनुकूल कर्म द्वारा आत्मिक पवित्रता कही है। मनवः द्वारा मानसिक पवित्रता कही है। भूतानि द्वारा शारीरिक पवित्रता, और पवमान द्वारा सर्वतोमुखी पवित्रता कही है। भूतानि द्वारा पृथिवी, आपः, तेज, वायु, आकाश का कथन हुआ है। ये पांचों भूत शोधक हैं। पवमान द्वारा वायु का ग्रहण नहीं, वायु "भूत" है, अतः वह "विश्वा भूतानि" के अन्तर्गत है। धिया=**धीः कर्मनाम, प्रज्ञानाम** (निघं० २.१; ३.९)]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पव॑मानः पुनातु मा क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑। अथो॑ अरि॒ष्टता॑तये॥ २॥

अर्थ—(पवमानः) पवित्र करने वाला परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे (क्रत्वे) पवित्र कर्म करने के लिए, पवित्र प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए, (दक्षाय) वृद्धि के लिए, (जीवसे) पवित्र जीवने के लिए, (अथो) और (अरिष्टतातये) अहिंसा के विस्तार के लिए।

[क्रतुः=**कर्मनाम; प्रज्ञानाम** (निघं० २.१; ३.९)। दक्षाय=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)। अरिष्ट=**रिष हिंसार्थः**, तदभावः (भ्वादिः), तस्य तातिः विस्तारः (**तनु विस्तारे**, तनादिः), अथवा "तातिः"=प्रत्ययः करणार्थे ("**शिवशमरिष्टस्य करे**", अष्टा० ४.४.१४३)] अधिक पवित्रता के लिए पुनः परमेश्वर से प्रार्थना की गई है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उ॒भाभ्यां॑ देव सवितः प॒वित्रे॑ण स॒वेन॑ च। अ॒स्मान्पु॑नीहि॒ चक्ष॑से॥ ३॥

अर्थ—(सवितः) हे प्रेरक! (देव) हे देव! (पवित्रेण) पवित्र वेदज्ञान द्वारा (च) और (सवेन) आप परमेश्वर की प्रेरणा द्वारा, (उभाभ्याम्) इन दोनों द्वारा, (अस्मान्) हमें (पुनीहि) पवित्र कर, (चक्षसे) ताकि हम तेरा दर्शन कर सकें।

[वेदों के स्वाध्याय द्वारा निज जीवन को पवित्र कर, तथा परमेश्वर की प्रेरणा को प्राप्त कर, उपासक परमेश्वर का दर्शन कर लेता है]।

सूक्त २०

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

अ॒ग्नेरि॑वास्य॒ दह॑त एति शु॒ष्मिण॑ उ॒तेव॑ म॒त्तो वि॒लप॒न्नपा॑यति।
अ॒न्यम॒स्मदि॑च्छतु॒ कं चि॑दव्र॒तस्तपु॑र्वधाय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑॥ १॥

अर्थ—(दहतः) दहन करने वाली (अग्नेः इव) अग्नि के दाह के सदृश, (अस्य शुष्मिणः) सुखा देने वाले इस [ज्वर का दाह] (एति) आता है [शरीर को व्याप्त कर लेता है] (उत) तथा (मत्तः इव) उन्मत्त व्यक्ति की तरह [ज्वरार्त्त व्यक्ति] (विलपन्) विविध प्रलाप करता हुआ (अप एति) इधर-उधर जाता-आता है। (अव्रतः) ज्वर कर्मरहित कर देने वाला है, यह ज्वर (अस्मद् अन्यम्) हम से भिन्न (कंचित्) किसी को (इच्छतु) चाहे, (तपुर्वधाय) शरीर को तपा देना जिस का घातुक आयुध है उस

(तक्मने) पित्तज्वर के लिए (नमः अस्तु) नमः हो।

[शुष्मिणः=**शुष्म बलनाम** (निघं० २.९)। पित्तज्वर शोषक है, और प्रबल वेग के साथ आक्रमण करता है। यह रक्त को सुखा देता है। तक्मने=**तकि कृच्छ्रजीवने** (भ्वादिः), यह जीवन को कष्टमय कर देता है। अव्रतः=कर्महीन कर देता है "**व्रतम् कर्मनाम**" (निघं० २.१)। अस्मत्=बुद्धि और कर्मों में पवित्र जीवन वाले (अथर्व० ६.१९.१-३)। अन्यम्=अपवित्र जीवन वाले को। 'नमः' के दो अर्थ अभिप्रेत हैं अन्न और वज्र (निरुक्त २.७; २.२०)। पाच्य अन्न के सेवन और औषधवज्र से तक्मा नष्ट हो जाता है। विनियोगकारों ने सूक्त का देवता "यक्ष्मनाशन" कहा है। सम्भवतः दीर्घकाल का पित्तज्वर 'यक्ष्म' में परिणत हो जाता हो, रक्त के सूख जाने से कमजोरी के कारण यक्ष्म आक्रमण करता हो]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मती प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते।

नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः॥ २॥

अर्थ—(रुद्राय) पाप के फलरूप में रुलाने वाले परमेश्वर के लिए (नमः) नमस्कार हो, (तक्मने) जीवन को कष्टमय करने वाले ज्वर के लिए (नमः) पथ्यान्न तथा औषध रूपी वज्र (अस्तु) हो, (त्विषीमते) विद्युत् की दीप्तिवाले, (राज्ञे) राजा (वरुणाय) मेघ के लिए (नमः) अन्नाहुतियां हों, (दिवे) द्युलोक के लिए (नमः) अन्नाहुतियां हों, (पृथिव्यै) पृथिवी की शुद्धि के लिए (नमः) अन्नाहुतियां हों, (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (नमः) अन्न की प्राप्ति हो।

[मन्त्र में "नमः पर्यन्त" प्रत्येक वाक्य है जो कि स्वतन्त्र अर्थ का ज्ञापक है। प्रत्येक वाक्य अन्य वाक्य के साथ सामान्य "नमः" पद द्वारा सम्बद्ध है। अतः प्रत्येक वाक्य का अर्थ बुद्धिग्राह्य किया है। "नमः" का अर्थ अन्न भी है (निघं० २.७)। अन्न का अभिप्राय केवल प्राणी द्वारा खाद्य अन्न ही नहीं अपितु यज्ञाग्नि द्वारा खाद्य अन्न भी है, अतः इस अन्न को हम यज्ञिय-सामग्री भी कह सकते हैं जो कि ओषधियों से प्राप्त होती है। वरुण का अर्थ मेघ किया है, जो कि अन्नाभाव से उत्पन्न कष्ट का वारण करता है, अतः यह सब प्राणियों का राजा है। इस में दीप्ति है मेघीय विद्युत्। वरुण है मेघ, एतदर्थ देखो निरुक्त (१०.१.५) में वरुण पद की व्याख्या[१]]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः**॥

अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑।

तस्मै॑ तेरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑॥ ३॥

अर्थ—(अयम्, यः) यह जो तू (अभिशोचयिष्णुः) शरीर के सब ओर उपताप पैदा करने वाला, (विश्वा रूपाणि) शरीर के सब रूपों को (हरिता=हरितानि) हरे-पीले (कृणोषि) कर देता है, (तस्मै) उस (अरुणाय) लाल और (बभ्रवे) भूरे (वन्याय) वनोद्भूत (ते तक्मने) तुझ पित्तज्वर के लिए (नमः) पथ्यान्न तथा औषध-वज्र प्रहार (कृणोमि) मैं करता हूँ।

[पित्तज्वर में पित्त के बिगड़ जाने के कारण शरीर हरा-पीला, मुख-लाल, कभी भूरा, इन भिन्न-भिन्न

---

१. व्याख्या के लिए निरुक्तकार ने "**नीचीनवारं वरुणः**" मन्त्र (ऋ० ५.८५.३) उपस्थित किया है जिस में वृष्टि का भी वर्णन है, और वरुण को राजा भी कहा है। साथ ही वरुण अन्तरिक्षस्थानी देवता भी है।

वर्णों का हो जाता है। वन्य ज्वर उग्ररूप होता है]।

वैदिक मान्यतानुसार पिण्ड अथवा ब्रह्माण्ड में समानता है, "**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**" यह उक्ति प्रसिद्ध है। पिण्ड है जीवात्मा का देह, और ब्रह्माण्ड है परम-आत्मा का देह। मन्त्र १ में परम-आत्मा को रुद्र कहा है। जैसे पिण्ड और पिण्ड के अवयवों का शासन, जीवात्मा द्वारा होता है, वैसे ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के अवयवों का शासन रुद्र अर्थात् पापों के फलस्वरूप में रुलाने वाले परम-आत्मा द्वारा होता है। जैसे जीवित देहपिण्ड और पिण्ड के अवयवों के प्रति सत्कार और नमस्कार किया जाता है, वैसे परम-आत्मा के ब्रह्माण्ड-देह, और तद्घटक अवयवों के प्रति सत्कार और नमस्कार विधान मन्त्रों में प्रायः पाया जाता है। परम-आत्मा का वर्णन इसलिए पुरुष-रूप में भी होता है। इस पुरुष के शरीरावयवों का भी वर्णन यजुर्वेद के पुरुष सूक्त ३१ में हुआ है (३१.१०, १३) यद्यपि यह वर्णन काल्पनिक हुआ है, यथा "व्यकल्पयन् अकल्पयन्" (यजुः० ३१.१०, १३)। तथापि यह सप्रयोजन और सार्थक है, यह दर्शाने के लिए कि जैसे जीवित मनुष्य का देह सात्मक है, निरात्मक नहीं, वैसे परम-आत्मा का ब्रह्माण्डरूपी देह भी सात्मक है। निरात्मक नहीं। इस दृष्टि से ब्रह्माण्ड के अवयवों के प्रति "नमः" अर्थात् नमस्कारों का कथन भी उचित ही प्रतीत होता है।

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त २१

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम्॥ १॥

अर्थ— (इमाः) ये (याः) जो (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियाँ हैं (तासाम्) उन में से (ह) निश्चय से (भूमिः) समतल भूमि (उत्तमा) उत्तम है, (तासाम्) उन तीनों की (त्वचः अधिः) त्वचा से (अहम्) मैंने (भेषजम्) चिकित्सायोग्य औषध का (सम्, उ, जग्रभम्) संग्रह किया है।

[पृथिवीः तिस्रः=पर्वत, गिरि (अथर्व १.१२.३) तथा भूमिः। या अधित्यका[१], उपत्यका, तथा समतल प्रदेश। उनमें से भूमि अर्थात् समतल प्रदेश उत्तम है। इन तीनों की त्वचा अर्थात् पृष्ठभाग से ओषधि का ग्रहण किया जाता है। समतल भूमि से ओषधि का संग्रह प्रभूतमात्रा में होता है, अतः यह उत्तम है]।

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्। सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा॥ २॥

अर्थ—हे भेषज! तू (भेषजानाम्) भेषजों में (श्रेष्ठम्, असि) श्रेष्ठ है, (वीरुधानाम्) विरोहण करने वाली लता-वनस्पतियों में तू (वसिष्ठम्) वसुवत्तम अर्थात् श्रेष्ठ सम्पत् रूप है। (यामेषु) रात और दिन में कालों में तू (सोमः) चन्द्रमा और (भगः इव) सूर्य के सदृश है, (देवेषु) देवों में (यथा) जैसे (वरुणः) वरणीय परमेश्वर सर्वोत्तम है, [वैसे भेषजों में तू सर्वोत्तम भेषज है]।

१. अधित्यका=Table-land, High land. उपत्यका=A land at the foot of a mountain.

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ। उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः॥ ३॥

अर्थ—हे ओषधियो! तुम (रेवतीः) बहुमूल्य वाली हो, (अनाधृषः) अपराभवनीय शक्तिसम्पन्ना हो, (सिषासवः) तुम लाभ देना चाहती हो, (सिषासथ) तुम लाभ प्रदान करो। (उत) तथा (स्थ) तुम हो (केशदृंहणीः) केशों को दृढ़ करने वाली (अथो ह) और (केशवर्धनीः) केशों को बढ़ाने वाली।

[रेवतीः=रयिमत्यः। अनाधृषः=अन्+आ+धृषः; **धृष प्रसहने** (चुरादिः)। सिषासवः=षणु दाने (तनादिः)+सन् (इच्छायाम्)]।

सूक्त २२

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आदित्यरश्मिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः॥ १॥

अर्थ—(सुपर्णाः) उत्तम पर्णों वाले पक्षियों के सदृश उड़ने वाली, (हरयः) जल का हरण करने वाली, [आदित्य रश्मियां] (अपः वसानाः) जल को धारण करती हुई, (कृष्णम्, नियानम्) काले निचले मार्ग को प्राप्त कर, (दिवम्) द्युतिमान्-आदित्य की ओर (उत् पतन्ति) ऊपर को उड़ जाती हैं। (ते) वे (ऋतस्य) तत्पश्चात् उदक के (सदनात्) घर [द्युलोक] से (आववृत्रन्) लौट आती हैं, (आत् इत्) तदनन्तर ही (घृतेन) मानो घृत द्वारा या जल द्वारा (पृथिवीम्) पृथिवी को (व्यूदुः) विशेषरूप में आर्द्र करती हैं।

[काला-निचला मार्ग है अन्तरिक्ष। अन्तरिक्ष आदित्य से नीचे है। हमारे सौर-परिवार में आदित्य सर्वोच्च है, अतः जलभरी आदित्यरश्मियों की उड़ान आदित्य की ओर कही है। आदित्य उदक भरी रश्मियों का सदन है। **ऋतम् उदकनाम** (निघं० १.१२); **घृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। घृत का प्रसिद्ध अर्थ है घी। इस की प्राप्ति भी वर्षाधीन है। इसलिए वर्षाजल को घृत कहा है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा भुरिग् जगती** ॥

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः।
ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु॥ २॥

अर्थ—(मरुतः) हे मानसून वायुओ! (रुक्मवक्षसः) सुवर्ण सदृश चमकीली विद्युत् को छाती में धारण करती हुई तुम (यद्) जो (एजथ) चलती हो, तो (अपः) क्षीण हुए जलों को (पयस्वतीः) प्रभूत जल समेत, और (ओषधीः) ओषधियों को (शिवाः) सुखमयी तथा कल्याण करने वाली (कृणुथ) कर देती हो। (तत्र) वहां (ऊर्जम्) बलप्रद और प्राणप्रद अन्न का, (च) और (सुमतिम्) सुमति को (पिन्वत) परिपुष्ट कर देती हो (यत्र) जहां कि (मरुतः) हे मानसून वायुओ! तुम (मधु) मधुर जल (सिञ्चथ) सींचती हो, (नरः) जैसे कि किसान-पुरुष निज क्षेत्रों को सींचते हैं।

[**शिवम् सुखनाम** (निघं० ३.६)]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया॥ ३ ॥

अर्थ—(उदप्रुतः) उदक से आप्लुत अर्थात् भरी हुई (मरुतः) हे मानसून वायुओ! (ताँ=ताम्) उसे (इयर्त) प्रेरित करो (या वृष्टिः) जो वृष्टि कि (विश्वाः निवतः) सब निम्नगामिनी नदियों को (पृणाति) पूरित कर दे। और जो (ग्लहा) मानसून द्वारा गृहीत की गई, न बरसाई गयी वृष्टि (एजाति) किसानों को कम्पा देती है तथा (इव) जैसे (तुन्ना) व्यथित हुई (कन्या) कन्या, तथा (इव) जैसे (पत्या) पति द्वारा (तुन्ना) व्यथित हुई (जाया) पतिसम्भुक्ता पत्नी (एरुम्) प्रेषक पिता को (तुन्दाना) व्यथित करती हुई होती है।

[इयर्त=**ऋ गतौ**, लोट्, जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः, "**अर्तिपिपर्त्योश्च**" (अष्टा० ७.४.७७) द्वारा अभ्यास को इकार। ग्लहा=**गृहू ग्रहणे। ग्लह च** (भ्वादिः)। मानसून द्वारा गृहीत हुई वृष्टि। एरुम्=ईर् (गतौ, चुरादिः)+उ (औणादिक १.७.२१), णिजर्थ अन्तर्भावित=गमन कराने वाला, निजकन्या को वैवाहिक विधिपूर्वक, पतिगृह में भेजनेवाला पिता]।

कन्या तथा जाया=इस सम्बन्ध में मनूक्त श्लोक स्मरणीय है। यथा—

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा। वैवाहिकेन विधिना पुनः संस्कारमर्हति॥

अर्थ—सा पुत्री-कन्या यदि अक्षतयोनि हो, या पतिगृह जाकर वापिस आ गई हो, तो विवाह की विधि से वह "पुनः" विवाहसंस्कार के योग्य होती है। "पुनः" शब्द द्वारा सूचित होता है। अक्षतयोनि का तथा गतप्रत्यागता [क्षतयोनि] का पहिले विवाह हो चुका है। मन्त्रगत "तुन्ना" पद यह दर्शाता है कि अक्षतयोनि का कन्यात्व अर्थात् कुमारीपन पूर्ववत् यथावस्थित है, परन्तु पतिगृह द्वारा व्यथित हुई वह पितृगृह में आ गई है। इसी प्रकार जाया भी पति द्वारा "तुन्ना" होकर पितृगृह लौट आई है। इस द्वारा पिता तो व्यथित होगा ही, (तुन्दाना)। पति द्वारा जाया के धकेले जाने का वर्णन अथर्ववेद में अन्यत्र भी हुआ है। यथा "**जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु**" (१०.१.३)]।

सूक्त २३

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः। वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरुप ह्वये॥ १ ॥

अर्थ—(सस्रुषीः) प्रवाहित होती हुईं, (तदपसः) वह प्रवाहित होना जिन का कर्म है, (दिवा नक्तं च) दिन और रात (सस्रुषीः) प्रवाहित होती हुईं (देवीः अपः) [दिव्य नदियों] के जलों को (अहम्) मैं (वरेण्यक्रतुः) श्रेष्ठ-यज्ञिय कर्मों वाला (उप) समीप (ह्वये) बुलाता हूँ।

[सस्रुषीः=सृ लिटि क्वसुः (सायण)। तदपसः=तत् प्रवहणम्, अपः कर्म, यासां ता आपः। क्रतुः=यज्ञिय कर्म, कृष्यादि। उपह्वये=कुल्या द्वारा। यज्ञिय कर्म कृष्यादि=राष्ट्रयज्ञ के लिए]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा गायत्री** ॥

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे॥ २ ॥

अर्थ—(कर्मण्याः) कर्मों के साधक (आपः) जल (ओताः) कर्मों में ओत-प्रोत हैं, [ये जल]

(इतः) यहां से (मुञ्चन्तु) वाञ्छनीय जल को मुक्त करें, त्यागें, (प्रणीतये) शीघ्र ले जाने के लिए। और (सद्यः) शीघ्र (एतवे) गति के लिए (कृण्वन्तु) इन्हें करें।

[मन्त्र वर्णन कवितामय है। नदी के मुख्य जलों से कहा है कि तुम निज एक हिस्से को कुल्या अर्थात् छोटी नहर के रूप में मुक्त करो ताकि हम उसे प्रकृष्ट गति के साथ अपने स्थान तक ले जाएँ, और हमारी सहायता करो कि शीघ्र ही जल हमें प्राप्त हो जाए। एतवे=**इण् गतौ,** गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। एतवे=इण्+तवेन्। प्रवाही मुख्य जलों के प्रति आत्मीय अङ्गभूत जलों को मुक्त करने की अभिलाषा प्रकट की है। "दीप्यते, सुषुम्णः सूर्यरश्मिः"।

[मन्त्र में छोटी या बड़ी कुल्या का वर्णन है। अन्यत्र कुल्या का वर्णन यथा (अथर्व० ११.३.१३; १८.३.७२; ४.५.७; २०.१७.७; ५.१९.३)।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

अर्थ—(सवितुः देवस्य) प्रेरक परमेश्वर-देव की (सवे) प्रेरणा में (मानुषाः) मनुष्य (कर्म कृण्वन्तु) [कृषि कर्म आदि] कर्म करें, तब (ओषधीः) ओषधियां (अपः) जलों को [प्राप्त कर] (नः) हमारे लिए (शम्) शान्ति दायक और (शिवाः) कल्याणकारिणी (भवन्तु) होती हैं, या हों।

[मनुष्य जब परमेश्वर की प्रेरणानुसार कृषि कर्म आदि करते हैं, तब वर्षा ठीक प्रकार से होती, और ओषधियां जल प्राप्त कर रसवती होती, और हमारे लिए शम् और शिवरूपा होती हैं]।

सूक्त २४

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः। आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन्हृद्द्योतभेषजम् ॥ १ ॥

अर्थ—(हिमवतः) हिम वाले पर्वत से (प्र स्रवन्ति) प्रवाहित होती हैं, (सिन्धौ) समुद्र में (समह) आदर पूर्वक या सोत्सव अर्थात् हर्षपूर्वक (संगमः) उन का संगम होता है, ऐसे (आपः) जल या जलवाली नदियां, (देवीः) जो कि दिव्यगुणों वाली हैं, (मह्यम्) मुझे (हृद् द्योत भेषजम्) हृदय की दाह की ओषधि (ददन्) देती है।

[हिमवाले पर्वत से प्रवाहित होती हुई नदियां दिव्य अर्थात् स्वच्छ जल वाली होती हैं, उन में बैठकर जलचिकित्सा द्वारा हृदयरोग शान्त होते हैं। मन्त्र ३ में सिन्धु को पति और नदियों को पत्नी कहा है। पति-पत्नी का संगम सादर, हर्षपूर्वक होता ही है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत्सर्वं निष्करन्भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

अर्थ—(यत्) जिस रोग ने (मे) मेरी (अक्ष्योः) दोनों आंखों को (आदिद्योत) दाह युक्त किया है (यत्) और जिसने (पार्ष्ण्योः) दोनों एड़ियों (प्रपदोश्च) दोनों पादों के अग्रभागों को दाह युक्त किया है, (तत् सर्वम्) उस सब दाह की (आपः) जल (निष्करन्) निर्गत कर देते हैं, अङ्गों से निकाल देते हैं, जो जल कि (भिषजाम्) चिकित्सकों में (सुभिषक्तमाः) उत्तम चिकित्सक हैं।

[आपः द्वारा जल चिकित्सा का वर्णन हुआ है]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१ स्थन।

दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै॥ ३ ॥

अर्थ—(सिन्धुपत्नीः) सिन्धु जिन का पति है, (सिन्धुराज्ञीः) सिन्धु जिन का राजा है ऐसी (याः सर्वाः) जो सब (नद्यः) नदियां (स्थन) तुम हो, वे तुम (नः) हमें (तस्य) उस रोग सम्बन्धी (भेषजम्) औषध (दत्त) प्रदान करो, (वः) तुम्हारी (तेन) उस औषध द्वारा (भुनजामहै) हम निज पालन करें।

[सिन्धु का अभिप्राय है समुद्र, न कि सिन्ध नदी। कविता में जल-चिकित्सा द्वारा रोगनिवर्त्तक "आपः औषध" का कथन है। भुनजामहै=**भुज पालनाभ्यवहारयोः** (रुधादिः)]।

सूक्त २५

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**मन्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ १ ॥

अर्थ—(याः) जो (पञ्च) पांच (च) और (पञ्चाशत् च) पचास (मन्याः) छोटी ग्रन्थियां, (अभि) गर्दन के सामने की ओर (संयन्ति) परस्पर साथ-साथ लगी हुई हैं, (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) इस प्रयोग से (नश्यन्तु) नष्ट हो जाएँ, (अपचिताम्) सत्कर्मों में अपचय, अर्थात् ह्रास वालों के (वाकाः) वचन या कथन (इव) जैसे (नश्यन्तु) नष्ट हो जाते हैं [सत्य न होने के कारण स्थिरता प्राप्त नहीं करते यतः वे अविश्वसनीय होते हैं]।

[सायण ने 'मन्या' का अर्थ गण्डमाला किया है। छोटी-छोटी ये ग्रन्थियाँ परस्पर मिलकर गण्डमाला हो जाती हैं]।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**मन्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ २ ॥

अर्थ—(याः) जो (सप्त च) सात और (सप्ततिः च) सत्तर (ग्रैव्याः) ग्रीवा की ग्रन्थियां (अभि) ग्रीवा के पीछे की ओर (संयन्ति) परस्पर साथ-साथ लगी हुई हैं (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) इस प्रयोग से (नश्यन्तु) नष्ट हो जाएँ (वाका अपचितामिव) पूर्ववत्।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**मन्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ ३ ॥

अर्थ—(नव च) नौ और (नवतिः च) नब्बे (याः) जो (स्कन्ध्याः) कन्धे की ग्रन्थियां (अभि) कन्धे के चारों ओर (संयन्ति) परस्पर साथ-साथ लगी हुई हैं, (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) इस प्रयोग से (नश्यन्तु) नष्ट हो जाएँ (वाका अपचितामिव) पूर्ववत्।

[नश्यन्तु=नश=**णश अदर्शने** (दिवादिः), अदृष्ट हो जाएँ, सूखकर पूर्ववत् सूक्ष्मरूप हो जाएँ]

सूक्त २६

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**पाप्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन्मृडयासि नः।

आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन्धेह्यविह्रुतम्॥ १॥

अर्थ—(पाप्मन्) हे पाप! (मा) मुझे (अवसृज) छोड़ दे, (वशी सन्) वश में हुआ तू (नः) हमें (मृडयासि) सुखी कर (मा) मुझे (पाप्मन्) हे पाप! (भद्रस्य) कल्याणी और सुखी (लोके) समाज में (अविह्रुतम्) कुटिल कर्मों से रहित करके (आधेहि) स्थापित कर।

[मा, नः=**अस्मदो द्वयोश्च** (अष्टा० १.२.५९) द्वारा एकवचन के स्थान में बहुवचन। पाप जब वशीभूत हो जाता है, तब व्यक्ति कुटिलकर्म नहीं करता और कल्याणी तथा सुखी सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। अविह्रुतम्=अ+वि+ह्वृ कौटिल्ये। मान्त्रिक कथन में कविता में पाप सम्बोधित हुआ है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**पाप्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो नः पाप्मन्न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम्।

पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम्॥ २॥

अर्थ—(पाप्मन्) हे पाप! (यः) जो तू (नः) हमें (न जहासि) न त्यागता, तो (वयम्) हम (तम्, उ, त्वा) उस तुझ को (जहिमः) त्याग देते हैं। (पथाम्) सत्पथों के (अनु) निरन्तर (व्यावर्तने) त्यागने पर, (अन्यम्) पापत्यागियों से भिन्न को (पाप्मा) पाप (अनु) निरन्तर (पद्यताम्) प्राप्त हो।

["वयम्" द्वारा यह सूचित किया है कि हम सत्पथ पर चलते हुए, पारस्परिक सम्मिलित प्रयत्न द्वारा पाप का परित्याग कर देते हैं। जहासि, जहिमः=**ओहाक् त्यागे** (जुहोत्यादिः)। मन्त्र में यह दर्शाया है कि प्रयत्न करने पर व्यक्ति पाप को त्याग देता है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**पाप्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः।

यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि॥ ३॥

अर्थ—(सहस्राक्षः) हजारों का क्षय करने वाला, (अमर्त्यः) न मारा जाने वाला पाप, (अस्मत् अन्यत्र) हम से भिन्न व्यक्ति में (न्युच्यतु=नि उच्यतु) नितराम् समवाय सम्बन्ध में चिपटा रहे। (यम्) जिस पापी के साथ (द्वेषाम) हम प्रीति नहीं करते (तम्) उसे (ऋच्छतु) प्राप्त हो, (यम् उ) जिस के साथ ही (द्विष्मः) हम प्यार नहीं करते (तम् इत्) उसे ही (जहि) हे पाप तू नष्ट कर उस का ही हनन कर।

[सहस्राक्षः=सहस्र+आ+क्षः (**क्षि क्षये,** भ्वादिः)। पापवृत्तियां कठिनाई से क्षीण होती हैं अतः इन्हें अमर्त्य कहा है। मन्त्र में अप्रीति करने वालों का बहुत्व है, और अप्रिय का एकत्व। सामाजिक जीवन में समाज, जिस पापी को समाज में रहने से आपत्तिजनक समझे उसे मृत्युदण्ड दे सकता है। मानो पाप ही पापी का हनन कर रहा है]।

सूक्त २७

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।

तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १ ॥

अर्थ—(देवाः) हे राष्ट्र के दिव्य अधिकारियो! (इषितः) परराष्ट्र द्वारा प्रेषित हुआ (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति का (दूतः) उपतापी प्रतिनिधि (कपोतः) वायुयान (यद् इच्छन्) जो कुछ चाहता हुआ (इदम्, आजगाम) इस हमारे राष्ट्र में आया है (तस्मै) उस के लिए (अर्चाम) हम अर्चना करते हैं, और (निष्कृतिम्) हर्जाना (कृणवाम) भेंट करते हैं, ताकि (नः) हमारे (द्विपदे) दोपाए प्रजाजन के लिए (शम्, अस्तु) सुख-शान्ति हो, (चतुष्पदे) चौपायों के लिए (शम्) सुख-शान्ति हो। [दूतः=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।

अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु॥ २ ॥

अर्थ—(देवाः) हे राष्ट्र के दिव्य अधिकारियो! (इषितः) परराष्ट्र द्वारा प्रेषित (कपोतः) वायुयान (शकुनः) जो कि शक्तिशाली है, (नः गृहम्) और हमारे राष्ट्र-गृह के प्रति प्रेषित है, (शिवः) कल्याणकारी, (अनागाः) और निष्पापरूप (अस्तु) हो। (विप्रः) मेधावी (अग्निः) परराष्ट्र का प्रधानमन्त्री (नः) हमारी (हविः) "कर" रूप में प्रदत्त हवि का (जुषताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करे, और (हेतिः) आयुधरूप, (पक्षिणी) पक्षी की आकृति वाला अल्पकाया वायुयान (नः परिवृणक्तु) हमें छोड़ जाए।

[शक्तिशाली राष्ट्र का अधीनस्थ राष्ट्र, जो कि करदीकृत है, वह निर्धारित समयानुसार कर प्रदान नहीं कर सका। उसे सचेत करने के लिए सशस्त्र वायुयान प्रेषित हुआ है, और नियत कर लेकर वह वापिस चला गया है (कपोत=क (wind, Air; आप्टे),+पोत (यान)। वैदिक साहित्य में "कर" को हवि कहा है, ताकि राष्ट्र को यज्ञ समझ कर उसके प्रति स्वेच्छापूर्वक हविः रूप में "कर" दिया जाया करे। यथा "**हविनः सजाताः**" (अथर्व० ३.४.३), तथा "**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्**" (रघुवंश) में "कर" को बलि कहा है। इस द्वारा राष्ट्र को बलिवैश्व देवयज्ञ कह कर राष्ट्रयज्ञ की धार्मिकता सूचित की है। "पक्षिणी-वायुयान, हेलीकोप्टर" सदृश अल्पकाय है। उड़ते समय यह दो पंखों वाली पक्षिणी की आकृति वाला दीखता है। सायण ने कपोत द्वारा कबूतर पक्षी माना है, तथा पक्षिणी द्वारा पक्षोपेता कपोताख्या हेतिः हननसाधनम् आयुधम् कहा है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।

शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत्कपोतः॥ ३ ॥

अर्थ—(हेतिः) प्रेषित हुआ वज्ररूप, (पक्षिणी) अल्प पक्षी की आकृतिवाला वायुयान (अस्मान्) हमें (न) नहीं (दभाति) हिंसित करता है, (आष्ट्री) ऋषि अर्थात् आयुधरूप वायुयान (अग्निधाने) युद्धाग्नि के निधान रूप संग्राम भूमि में (पदम्) निज चरण को (न) नहीं (कृणुते) स्थापित करता है।

(नः) वह हमारी (गोभ्यः) गौओं के लिए (उत) तथा (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिए (शिवः) कल्याणकारी (अस्तु) हो, (देवाः) हे दिव्य अधिकारियो! (कपोतः) वायुयान (इह) यहां अर्थात् हमारे राष्ट्र में (नः) हमें (मा हिंसीत्) न हिंसित करे।

[हेतिः=**हि गतौ** (स्वादिः), प्रेषित अस्त्ररूप। **हेतिः वज्रनाम** (निघं. २.२०)। पक्षिणी=अल्पकाय वाला वायुयान, दो पक्षों को फैलाए, उड़ते हुए पक्षी के समान प्रतीत होता है। यह शक्तिशाली परराष्ट्र का वायुयान है जिसमें परराष्ट्र का दूत है, जोकि दूत्यकर्म के लिए हमारे राष्ट्र में आया है, न कि हमारी हिंसा के लिए। ऐसी भावना मन्त्र में प्रकट की है। वायुयान जब भूमि पर उतरते हैं तो निज स्थान में उन्हें ले जाने के लिए उन के पद अर्थात् चरण भी होते हैं। अधिकारियों से कहा है कि तुम इस प्रकार वायुयान के अधिकारियों के साथ वर्ताव करो ताकि वे युद्ध न करने पाएँ। आष्ट्री=ऋष्टिः आयुधम्। यथा "**शतमृष्टीरयस्मयीः**" (अथर्व० ४.३७.८)। आष्ट्री पद ऋष्टि का ताद्धित प्रयोग प्रतीत होता है]।

सूक्त २८

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात्पथिष्ठः॥ १॥

अर्थ—[हे जलीय-यान के चलाने वालो!] (ऋचा) ऋक्-प्रोक्त विधि द्वारा (प्रणोदम्) प्रकृष्टतया प्रेरणीय (कपोतम्) जलीय-यान को (नुदत) प्रेरित करो, चलाओ, (इषम्) अभीष्ट अन्न को प्राप्त कर (मदन्तः) तृप्त तथा हर्षित होते हुए (गाम्, परि=परितः) पृथिवी के सब ओर (नयामः) इस [कपोत को] हम ले जाते हैं, (दुरिता=दुरितानि) दुष्परिणामसी (पदानि) पदन्यासों को (संलोभयन्तः) संलुप्त करते हुए। ताकि (पथिष्ठः) पथ में स्थित हुआ [कपोत] (नः) हमारे लिए (ऊर्जम्) बलप्रद तथा प्राणप्रद अन्न को (हित्वा) हमारे राष्ट्र में छोड़कर (प्र पदात्) शीघ्र पुनः [अन्न प्राप्ति के लिए] चला जाए।

[सूक्त २७ और २८ पृथक्-पृथक् पठित हैं, चाहे विषय कपोत ही है। इसलिए इन भिन्न सूक्तों में कपोत का अभिप्राय भी भिन्न-भिन्न है। सूक्त २७ में "पक्षिणी" द्वारा कपोत को अल्पकाय तथा वायुयान रूप कहा है। सूक्त २८ में कपोत अन्नसंग्रह करने के लिए पृथिवी के सब ओर ले जाया जाता है। अतः यह जलीययान है। कपोत=क (जल)+पोत (यान)। नुदत=**णुद प्रेरणे** (तुदादिः)। **इषम् अन्ननाम** (निघं. २.७)। **गौः पृथिवीनाम** (निघं. १.१)। मदन्तः=**मद तृप्तियोगे; मदी हर्षे** (चुरादिः; भ्वादिः) संलोभयन्तः=जलीय-यान को दुर्गम मार्गों से बचाते हुए। प्रपदात्=प्र+**पद** (गतौ, दिवादिः)। ऊर्जम्=**ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)]।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परीमे३ऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति॥ २॥

अर्थ—(इमे) ये जो [कपोत संचालक, मन्त्र १] (अग्निम्) यज्ञिय अग्नि को (परि=परितः) पृथिवी के सब ओर (अर्षत) ले गये हैं, (इमे) ये जो (गाम् परि=परितः) पृथिवी के सब ओर [कपोत=जलीय-यान को] (अनेषत) ले गये हैं। (देवेषु) भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के दिव्य अधिकारियों में इन्होंने जो (श्रवः) निज यश (अक्रत) फैलाया है, (इमान्) इन्हें (कः) कौन (आदधर्षति) पराभूत

करेगा।

[यज्ञिय-अग्नि वैदिक संस्कृति की प्रतीक है। यह रोगनाशक, स्वास्थ्य और जीवन को बढ़ाती है। जो इस प्रकार पृथिवी भर में करते; निज जलीय-यानों का पृथिवी के सब ओर निर्भय हो कर यातायात करते; अन्नसंग्रह करते; पृथिवी के राष्ट्रों में यश प्राप्त करते; उनका कोई नहीं धर्षण कर सकता, न कोई उन्हें पराभूत कर सकता। **ञिधृषा प्रागल्भ्ये** (स्वादिः), **गल्भ धार्ष्ट्ये** (भ्वादिः)। **धृष प्रसहने** (चुरादिः), प्रसहनम्=पराभवः]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः।
यो३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ३ ॥

अर्थ—(यः) जो (प्रथमः) अनादि परमेश्वर (प्रवतम्) प्रकृष्ट-पथ पर (आससाद) आरूढ हुआ-हुआ है, जो (बहुभ्यः) बहुतों के लिए (पन्थाम्) प्रकृष्ट पथ को (अनु) निरन्तर (पस्पशानः) दर्शा रहा है। (यः) जो (अस्य द्विपदः) इस दोपाए मनुष्य का, (यः) जो (चतुष्पदः) चौपाए पशु का (ईशे) अधीश्वर है, शासक है (तस्मै यमाय) उस नियन्ता के प्रति, (मृत्यवे) मृत्यु नामक के प्रति (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

[प्रवतम्="**उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे**" (अष्टा. ५.१.११७) द्वारा योग्य धात्वर्थ जाना जाता है, वतिः का कोई अर्थ नहीं रहता। यथा उद्वतः—उद्गतात्; निवतः=निगतात्। परमेश्वर सदा प्रकृष्टपथ अर्थात् सत्पथ पर आरूढ है—यह वेदों द्वारा ज्ञात होता है, यथा "**अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना**" (अथर्व० १०.७.४०), मन्त्र में "स्कम्भ" पद द्वारा परमेश्वर का वर्णन हुआ है, परमेश्वर तमोगुण से रहित है, अतः वह पाप से हटा हुआ है। इस कथन द्वारा वेदमन्त्र में मनुष्यों को जीवनपथ दर्शाया है कि "तमोमार्ग को त्याग दो तो तुम पापपथ से व्यावृत्त हो जाओगे। समग्र वेद द्वारा परमेश्वर जीवन के लिए सत्पथ दर्शा रहा है। परमेश्वर नियन्ता है, इसलिए वह यम है, वह ही कर्मानुसार जन्म-मृत्यु का प्रदाता है अतः वह मृत्यु है। यथा—"**स एव मृत्युः सो३मृतं सो३भ्वं स रक्षः**" (अथर्व० १३.४(३).२५)। परमेश्वर द्वारा प्रदर्शित सत्पथ पर चलने पर, और उसके प्रति सदा नमस्कार करने पर, कपोत अर्थात् वायुयान तथा जलीययान सदा उपकारी होते हैं, कभी युद्ध की ओर प्रवृत्त नहीं होते—यह दर्शाने के लिए मन्त्र (३) पठित हुआ है]।

सूक्त २९

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराट् गायत्री** ॥

अमून्हेतिः पतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद्वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति॥ १ ॥

अर्थ—(पतत्रिणी) पंखों वाली पक्षिणी के सदृश अल्पकाय (हेतिः) अस्त्र रूप हमारा वायुयान, (अमून्) उन [शत्रुओं की ओर] (न्येतु) नितरां जाए, (यत्) यह जो (उलूकः) उल्लू (वदति) कहता है, (एतत्) यह (मोघम्) व्यर्थ है, अज्ञान विजृम्भित है। (यद् वा) अथवा [जो यह कहता है] कि (कपोतः) हमारा वायुयान (अग्नौ) युद्धाग्नि में (पदम्, कृणोति) पैर पसार रहा है[यह भी व्यर्थ है]।

[उलूक का अभिप्राय उल्लू-पक्षी नहीं, अपितु वह मनुष्य है जो कि इस प्रकार का कथन करता है। अज्ञानी और बेवकूफ को उल्लू कहते भी हैं। मोघम्=**मुह वैचित्त्ये** (दिवादिः), चितिशून्यता, संज्ञानराहित्य; **चिती संज्ञाने** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

यौ ते॑ दू॒तौ नि॑र्ऋत इ॒दमे॒तोऽप्र॑हितौ॒ प्रहि॑तौ वा गृ॒हं नः॑।

क॒पो॒तो॒लू॒काभ्या॒मप॑दं॒ तद॑स्तु ॥ २ ॥

अर्थ—(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ति! (ते) तेरे (यौ) जो दो (दूतौ) उपतापी दूत (प्रहितौ) शत्रु द्वारा प्रेषित, (वा) या (अप्रहितौ) स्वयमागत हुए, (नः) हमारे (इदम्) इस (गृहम्) घर अर्थात् राष्ट्र के प्रति (एतः) आए हैं, उन (कपोतोलूकाभ्याम्) वायुयान और उस के सञ्चालक के लिए (तद्) वह हमारा राष्ट्र (अपदम्) अनाश्रयभूत (अस्तु) हो। अपदम्=अ+**पद गतौ**=आने-जाने का स्थान न हो।

[कृच्छ्रापत्ति है युद्धावस्था। इस अवस्था के कारण शत्रुराष्ट्र द्वारा भेजे गये, या स्वयमेव भेद लेने के लिए आए, वायुयान और उसके सञ्चालक को निज राष्ट्र में आश्रय न देना चाहिए। वायुयान के सञ्चालक को उल्लू कहा है। क्योंकि हमारी शक्ति को जाने विना वह हमारे राष्ट्र में आया है। हमारी शक्ति का कथन (मन्त्र ३) में हुआ है। **निर्ऋतिः=निरम्णात्, ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः** (निरुक्त २.२.८)। दूतौ=**टुदु उपतापे** (स्वादिः)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदा विराडष्टिः** ॥

अ॒वै॒र॒ह॒त्या॒येदमा प॑पत्यात्सुवी॒रता॑या इ॒दमा स॑सद्यात्।

परा॑ङे॒व परा॑ वद॒ परा॑ची॒मनु॑ सं॒वत॑म्।

यथा॑ य॒मस्य॑ त्वा गृ॒हेऽर॒सं प्र॑ति॒चाक॑शाना॒भूकं॒ प्र॑ति॒चाक॑शान् ॥ ३ ॥

अर्थ—[हे परराष्ट्र के दूत] (अवैरहत्याय) अवैर अर्थात् वैर के अभाव अर्थात् मैत्री की प्राप्ति के लिए, (इदम्) इस हमारे राष्ट्र में तू (आ पपत्यात्) उड़कर आया कर, (सुवीरतायै) तथा निज सुवीरता के प्रदर्शन के लिए (इदम्) इस वायुयान पर (आससद्यात्) तू आ बैठाकर। (पराचीम्) पूर्वकाल से आई (संवतम्) पारस्परिक हमारी संगति अर्थात् मेल को लक्ष्य करके (पराङ् एव) दूर-दूर के प्रदेशों में (परावद) तू कहा कर। (यथा) जिससे कि (यमस्य) नियन्ता राजा के (गृहे) राष्ट्र में या घर-घर में (त्वा) तुझे प्रजाजन (अरसम्) रसहीन (प्रति चाकशान्) देखें, तथा (आ भूकम्) सर्वत्र सत्तावान् (प्रतिचाकशान्) देखें।

[हत्याय=प्राप्ति के लिए। **हन् हिंसागत्योः** (अदादिः), यहां गति अर्थ अभिप्रेत है। गति के ३ अर्थ होते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। प्राप्ति अर्थ संगत है। आपपत्यात्=कपोत अल्पकाय वायुयान द्वारा शीघ्र आ जाना। अरसम् शक्तिशाली परराष्ट्र दूत का रस है शौर्य। जब परराष्ट्र के दूत सेनापति को युद्ध न करना रहे तो मानो सेनापति शौर्य से विहीन हो गया, और सर्वत्र वह सत्तासम्पन्न दीखने लगा। आभूकम्=आ सर्वत्र, **भू सत्तायाम्**]।

सूक्त ३०

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः ।
इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥

अर्थ—(देवाः) प्राकृत दिव्य तत्त्वों ने (मधुना) माधुर्य अथवा मधुर-जल से (इमम्) इस (संयुतम्) मिश्रित (यवम्) यवान्न को (मणौ) मणिरूप (सरस्वत्यामधि) सरस्वती में (अवचर्कृषुः) कृषि द्वारा प्राप्त किया। (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्मों वाला (इन्द्रः) सूर्य (सीरपतिः) हल का पति अर्थात् हल जोतने वाला (आसीत्) था, (सुदानवः) उत्तम जल के दाता (मरुतः) मानसून वायुएँ (कीनाशाः) किसान (आसन्) थे।

[सरस्वत्यामधि=जलवाली नदी के समीप की भूमि में। सरस्वती सामान्य नदी है जिसमें कि प्रभूत जल है, सरस्वती=(जल)+वती। यह ऐतिहासिक सरस्वती नदी नहीं। खाने में यव मधुर रसवाला है अतः वह मधु मिश्रित है, अथवा सरस्वती के मधुर जल से मिश्रित है, (**मधु उदकनाम,** निघं० १.१२)। सरस्वती के समीप की भूमि सु-उपजाऊ है, अकृष्टपच्या है, अतः इस में हल जोतने की आवश्यकता नहीं, प्राकृतिक तत्त्वों की शक्तियों द्वारा ही कृष्यन्न प्राप्त हो जाता है, अतः सूर्य को हल चलाने वाला कहा है। न इसमें कूपादि द्वारा जल सींचा जाता है। वर्षा द्वारा ही जल सींचा जाता है, अतः मानसून वायुएँ ही कीनाश हैं, मानुष किसान कहीं हैं। कीनाशाः=कीशानाः=किसान। सरस्वती नदी यवादि रूपी धन प्राप्त कराती है अतः मणि[१] रूपा है। मन्त्र का प्रतिपाद्य देवता "शमी" है, शान्तिप्रद उदकप्रदात्री सरस्वती है]।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात्त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥ २ ॥

अर्थ—[शमी अर्थात् शान्त स्वभाव वाली स्त्री] (यः) जो (ते) तेरा (मदः) मादक स्वरूप है, (येन) जिस द्वारा (अवकेशः) जो मुण्डित केशों वाला और (विकेशः) विकीर्ण केशों वाला है उस (पुरुषम्) पुरुष को भी तू (अभिहस्यम्) हास्यास्पद (कृणोषि) कर देती है; इसलिए (त्वत् आरात्) तेरे समीवपर्ती जो (अन्या वनानि) और संभोग याचक हैं उन को (वृक्षि) मैं छिन्न-भिन्न कर देता हूँ, (शमि) हे शान्त प्रकृति वाली! (त्वम्) तू (शतवल्शा) सैकड़ों शाखा वाली लता के सदृश (विरोह) विविध रूप में बढ़।

[शमी द्वारा शान्त स्वभाव वाली गृहिणी का भी वर्णन होता है (अथर्व ६.११.१)। अवकेश है संन्यासी, और विकर्णकेश है मुनि, सम्भवतः वानप्रस्थी। पूर्णसंयमी न होने की अवस्था में ये भी ऐन्द्रियिक भोग के वशीभूत हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में संभोग-याचकों का छेदन आवश्यक ही होता है। वनानि=**वनु याचने** (तनादिः)। ऐसे लोग अवाञ्छनीय वनों के सदृश उच्छिन्न करने योग्य होते हैं। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में कहा है कि "**बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति**" (मनु० २.२१५)]

अथवा

---

१. मणि=money; अर्थात् धनरूपा।

मन्त्र (३) से ज्ञात होता है कि शमी-लता या वृक्ष केशवर्धक है। यह केशवर्धन भी एक प्रकार का मद है जिसका सम्बन्ध शमी के साथ है। केशों को बढ़ा कर यदि पुरुष अवकेश हो जाता है, अर्थात् केशों को नीचे की ओर लटकाए रखता है, या विकेश रूप में केशों को विकीर्ण रूप में रखता है तो सर्वसाधारण की दृष्टि में वह उपहास-योग्य हो जाता है। वैदिक दृष्टि में मुण्डित केशों वाला मुख शोभा योग्य होता है। यथा—

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः॥ अथर्व० ८.२.१७॥

[मन्त्र उपनयन-कर्म सम्बन्धी है]।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**शमी**॥ छन्दः—**चतुष्पदा शङ्कुमत्यनुष्टुप्**॥

बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि। मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि॥ ३॥

अर्थ—(बृहत्पलाशे) बड़े या बहुत पत्तों वाली, (सुभगे) सौभाग्यकारिणी, (वर्षवृद्धे) वर्षा द्वारा बढ़ने वाली, (ऋतावरि) यज्ञकर्म वाली (शमि) हे शमी! (केशेभ्यः) हमारे केशों के लिए (मृड) सुखकारी हो, (इव) जैसे (माता पुत्रेभ्यः) माता पुत्रों के लिए सुखकारी होती है।

[मन्त्र में शमी के सब विशेषण स्त्रीलिङ्ग में हैं, इन से प्रतीत होता है कि शमी लतारूप है। केशों के लिए शमी का सुखकारी होने का केवल यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि हम खल्वाट न हों, गञ्जे न हों। क्योंकि मन्त्र (२) में अवकेश और विकेश पुरुष को उपहास-योग्य कहा है। ऋत्=यज्ञ (सायण) ऋतावरी=ऋत+वनिप्+र+ङीप् ("**छन्दसीवनिपौ**", वार्त्तिक, अष्टा० ५.२.१०९; तथा "**वनो र च**", अष्टा० ४.१.७)। मन्त्र के ऋषि हैं "उपरिबभ्रवः" ऊपर अर्थात् ऊपर के लोकों में स्थित भरण-पोषण करने वाले, इन्द्र और मरुतः (मन्त्र १)। शमी शब्द द्व्यर्थक है। अतः इन दोनों का वर्णन मन्त्र २, ३ में हुआ है]।

सूक्त ३१

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ १॥

अर्थ—(अयम्) यह (गौः) पृथिवीलोक, (पृश्निः) जो कि नाना वर्णी है (आ अक्रमीत्) सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रहा है, (पुरः) पश्चिम से पूर्व की ओर; (मातरम् असदत्) अन्तरिक्ष में स्थित हुआ, (च) और (स्वः) उत्तप्त (पितरम्) पितृरूप सूर्य के प्रति (प्रयन्) प्रयाण करता हुआ।

[**गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। पृश्निः=[प्राष्टवर्णः] भूमिरिति (सायण ऋ० १.२३.१०), पृथिवीलोक नानारूपों से रञ्जित है अतः प्राष्टवर्णः। मातरम्=अन्तरिक्षम्, यथा मातरिश्वा=वायुः, यह मातृभूत अन्तरिक्ष में गति करती है, और बढ़ती है, फैलती है। यथा "**मातरिश्वा वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनितीति वा**"[१] (निरुक्त ७.७.२६)। पितरम्=पृथिवी लोक सूर्य से पैदा हुआ है। अतः सूर्य पृथिवी का पिता है। स्वः=स्वृ उपतापे (भ्वादिः)। आ+अक्रमीत् (क्रमु पादविक्षेपे, भ्वादिः), पादविक्षेप= पाद बढ़ाना, चलना। अक्रमीत् भूतकाल का प्रयोग है। इस द्वारा यह दर्शाया है कि पृथिवीलोक जब से पिता से पैदा हुआ है तभी से पिता की ओर वह पाद बढ़ा रहा है]।

---

१. **अनिति गतिकर्मा** (निघं० २.१४)।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः॥ २॥

अर्थ—(महिषः) महान्, (स्वः) उत्तप्त सूर्य (व्यख्यत्) विविध ग्रह-उपग्रह आदि को प्रकाशित कर रहा है, (अस्य) इस सूर्य की (रोचना) दीप्ति अर्थात् प्रकाश (अन्तः) पृथिवीलोक के भीतर (चरति) विचरती है, (प्राणात्, अपानतः) और अपान क्रिया के पश्चात् प्राण क्रिया करती है।

[व्यख्यत्=विविध लोकों को प्रख्यात कर रही है। रात्री में सूर्य के प्रकाश का न होना, अपान क्रिया है, तत्पश्चात् दिन में सूर्य के प्रकाश का पुनः आ जाना प्राणक्रिया है। प्रलयावस्था में अन्धकार था, सूर्य के प्रकाश का अभाव था, यह अपानक्रिया थी, तत्पश्चात् सर्जन काल में सूर्य के पैदा हो जाने से पृथिवी आदि में सूर्य के प्रकाश का प्रवेश होना प्राणक्रिया हुई। सूर्य का प्रकाश ही चन्द्रमा को भी प्रदीप्त करता है]।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः॥ ३॥

अर्थ—(प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन (वाक्) वाणी (त्रिंशत्) तीस (धामा=धामानि) स्थानों में (विराजति) विराजमान रहती है, प्रदीप्त होती रहती है, (पतङ्गः) पतङ्ग के सदृश उड़ने वाला सूर्य (अशिश्रियत्) वाक् का आश्रय है। (अहः) दिन (द्युभिः) द्युतिमान् सौर-रश्मियों द्वारा (अशिश्रियत्) आश्रय पाता है।

[**वस्तोः अहर्नाम** (निघण्टु १.९)। धामा=धामानि, स्थानानि (निरुक्त "**धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति**" ९.३.२८)। राजति=**राजृ दीप्तौ** (भ्वादिः)। ३० धाम हैं, ३० मुहूर्त। अहोरात्र में ३० मुहूर्त होते हैं। एक मुहूर्त में ४८ मिनिट, अतः ३० मुहूर्तों में १४४० मिनिट अर्थात् २४ घण्टे, एक अहोरात्र। इस अहोरात्र को मन्त्र में "अहः" द्वारा निर्दिष्ट किया है। प्रत्येक मुहूर्त काल की व्याप्ति, दिन के जितने भाग में होती है उसे एक "धाम" कहा है। इस प्रकार ३० मुहूर्तों के ३० धाम होते हैं। वाक् है मनुष्यों तथा पशु पक्षियों की ध्वनियां। ये पृथिवी के ३० धामों की दृष्टि से कहीं न कहीं सदा विराजमान रहती ही हैं। इन का आश्रय है सूर्य। सूर्य भी ३० मुहूर्तों की दृष्टि से ३० धामों में कहीं न कहीं चमकता ही रहता है। "अहः" के भी दो रूप हैं, **अहश्च कृष्णम्, अहरर्जुनं च**" (ऋ० ६.९.१)। अहः कृष्णम्=रात्री; अहः अर्जनम्=दिन। रात्री और दिन=अहः]।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ४

सूक्त ३२

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद्यातुधानक्षयणं घृतेन।
आराद्रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि॥ १॥

अर्थ—(अन्तः) जीवन के भीतर, (दावे) दावाग्नि के सदृश ईर्ष्या आदि अग्नियों के प्रदीप्त हो जाने पर, (एतत्) इस (यातुधानक्षयणम्) यातना देने वाले कुसंस्कारों का क्षय करने वाले मनरूपी हवि को

(सु) उत्तम विधि से, (घृतेन) निजशक्ति के अनुसार, (जुहुत) परमेश्वराग्नि में आहुतिरूप में समर्पित कर दो। (अग्ने) हे परमश्वेराग्नि (त्वम्) तू (आराद्) हमारे समीप के (रक्षांसि) राक्षसी भावों को (प्रतिदह) अर्थात् प्रत्येक राक्षसी भाव को दग्ध कर, (नः) हमारे (गृहाणाम्) शरीर गृहों को (न) न (उपतीतपासि) तू उपतापकारी हो।

[सायण ने दावाग्नि में घृत सहित हवि की आहुति देने का कथन किया है। दावाग्नि=वनाग्नि। परन्तु मन्त्र में रूपकालंकार में वर्णन हुआ है। घृत है वीर्य =उत्साह। योग में भी वीर्य को समाधि में कारण माना है। यथा "**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्**" (योग० १.२०)। हविः से अभिप्रेत है मन। राजस और तामस मन कुसंस्कारों को पैदा करता, और सात्त्विक मन उन का क्षय करता है। इसलिए कहा है कि "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**"]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत्पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद्वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत्॥ २॥

अर्थ—(रुद्रः) रुद्ररूप परमेश्वर (पिशाचाः) हे मांसभक्षको! (वः) तुम्हारी (ग्रीवाः) ग्रीवा की नस-नाड़ियों को (अशरैत्) काट दे, (यातुधानाः) हे यातना के निधानो! (वः) तुम्हारी (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) भी, रुद्र (शृणातु) काट दे। (विश्वतोवीर्या) सर्वाधिक शक्ति वाली (वीरुत्) भेषज (वः) तुम्हें (यमेन) मृत्यु के साथ (सम् अजीगमत्) संगत कर दे।

[परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण से परमेश्वर रौद्र रूप प्रकट कर शरीर के मांस को खा जाने वाले तथा यातना देने वाले काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि दुर्भावों और दुष्कर्मों का विनाश कर देता है। परमेश्वर ही है औषध, जोकि इनके विनाश में सर्वतोवीर्या है। यथा—

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै ॥ यजुः० ३.५९॥

महीधर, उव्वट ने भी रुद्र को भेषज कहा है। यद्यपि मन्त्र वर्णित पिशाचों और यातुधानों के 'शरीर' नहीं, न उनकी ग्रीवाएँ और पृष्टियां हैं, तथापि उन्हें पुरुष मान कर उनके पौरुषविधिक अंगों का वर्णन कविता रूप में हुआ है। यथा "**यथो एतत् पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येतत् भवति। अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः**" (ऋ० १०.९४.२) **इति ग्रावस्तुतिः** (निरुक्त ७.२.७)]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्॥ ३॥

अर्थ—(मित्रावरुणौ) हे मित्र और वरुण! (इह) इस जन्म में (नः) हमें (अभयम्) अभय (अस्तु) हो, (अर्चिषा) तेज द्वारा (अत्रिणः) भक्षकों को (प्रतीचः) पराङ्मुख करके (नुदतम्) तुम धकेल दो, निरस्त कर दो। ये (प्रतिष्ठाम्) आवास भूमि को (मा) न (विदन्त) प्राप्त हों, (मा) और न (ज्ञातारम्) जानने वाले को प्राप्त हों, (मिथः) परस्पर (विघ्नानाः) एक-दूसरे का हनन करते हुए (मृत्युम्, उपयन्तु) मृत्यु के समीप चले जाएँ।

सर्व स्नेही परमेश्वर मित्र है, **मिदि स्नेहने** (चुरादिः), और पापों से निवारण करने वाला वह वरुण है। गुण-कर्म भेद से ही परमेश्वर के दो नाम हैं, अतः द्विवचन का प्रयोग है। निरुक्तकार यास्काचार्य स्थानभेद से तीन ही देवता मानते हैं, यथा "**तिस्र एव देवता नैरुक्ताः**" (निरुक्त ७.२.५) तीन स्थान हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः। वेदोक्त अन्य देवताओं को इन्हीं तीन देवताओं के "**कर्मजन्मानः**" (निरुक्त ७.१.४) मानते हैं, भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले मानते हैं। इसी प्रकार व्याख्येय मन्त्र में एक ही परमेश्वर के दो स्वरूप कहे हैं। परमात्मा के रौद्ररूप के कारण उसे रुद्र कहा है (मन्त्र २), वह दुष्कर्मियों के प्रति रुद्र रूप होता हुआ भी उन के प्रति मित्र रूप है, क्योंकि इस रुद्ररूप द्वारा दुष्कर्मी सत्पथगामी हो जाते हैं। मन्त्र में मित्र और वरुण के एक होने के कारण "अर्चिषा" में एकवचन है, नहीं तो द्विवचन का प्रयोग होना चाहिए था। अत्रिणः हैं ईर्ष्या, काम, क्रोध, मोह आदि। ये मानसिक शक्तियों और शरीर के मांस, रुधिर का मानो भक्षण करते रहते हैं, **अद् भक्षणे**। जब शरीर में इनकी स्थिति ही न रही तो ज्ञातव्य के अभाव में ज्ञाता भी कौन होना हुआ "मा ज्ञातारम्" जीवन में क्रोध का हनन मैत्री भाव से हो जाता है, और मैत्रीभाव का हनन क्रोध भावना से। इस प्रकार ये "अत्रिणः" परस्पर हनन करते हैं। अधिक मैत्री अर्थात् स्नेह भी मोहरूप होकर "अत्री" हो जाती है]।

सूक्त ३३

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्॥ १॥

अर्थ—(जनाः) हे प्रजाजनो! (आयुजः) सर्वत्र ब्रह्माण्ड में योजनाओं वाले (यस्य) जिस इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (इदम्) यह (रजः) मनोरञ्जक पृथिवीमण्डल है, उसी (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (रन्त्यम्) रमणीय (बृहत्) महत् ब्रह्माण्ड है। उस का, (तुजे) ईर्ष्या आदि की हिंसा के लिए, (स्वः) सुख स्वरूप (वनम्) याचनीय है, प्रार्थनीय है।

[ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमेश्वर की योजनाएँ प्रतीत होती हैं। योजनाएँ बुद्धिपूर्वक होती हैं, और उन में क्रम विशेष और पारस्परिक समन्वय होता है। ईर्ष्या आदि के विनाश के लिए परमेश्वर के सुख स्वरूप की याचना करनी चाहिए। तुजे=**तुज हिंसायाम्** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः॥ २॥

अर्थ—(धृषाणः) धर्षण करने वाला (शवः) इन्द्र का बल (आ दधृषते) सब का धर्षण करता है, (धृषितः) धर्षण किया जाता हुआ भी (न आधृषे) धर्षित होने योग्य नहीं होता। (पुरा) पुराकालों में (यथा) जैसे (व्यथिः) व्यथाकारी अर्थात् धर्षक (श्रवः) यश उसका रहा है, उस (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का (शवः) बल (आधृषे न) अब भी धर्षित होने योग्य नहीं है।

[आ दधृषते=आ धर्षयति (सायण)। आधृषे=तुमन्नर्थे "केन्" प्रत्यय। धृषितः=नास्तिक न परमेश्वर को मानते, न ब्रह्माण्ड के उत्पादन और धारण और प्रलय में उस का बल ही मानते। वे अचेतन प्रकृति को ही उत्पादिका धारणकर्त्री मानते हैं—यह ही परमेश्वर और उसके बल का धर्षण करना है। पुराकालों

में ब्रह्माण्डों का उत्पादन, धारण प्रलय कितनी बार हुआ इसे कौन जानता है। ब्रह्माण्ड का प्रलय अर्थात् विनाश परमेश्वरकृत धर्षण का ही तो परिणाम है।

"**शवः बलनाम**" (निघं० २.९); तथा "**शवतिर्गतिकर्मा**" (निघं० २.१४); तथा "**शव गतौ**" (भ्वादिः)। इस सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्काचार्य का कथन है कि "**शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति**" शव=मृतशरीर (निरुक्त २.१.२)। यह कथन वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में नहीं, अपितु लौकिक संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में जानना चाहिए]।

ऋषिः—**जाटिकायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसन्दृशम्। इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा॥ ३॥

अर्थ—(सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (नः) हमें (ताम्) वह (पिशङ्गसंदृशम्) नानाविध, (उरुम्) प्रभूत (रयिम्) धन (ददातु) प्रदान करे। (जनेषु आ) सर्वत्र फैले जनों में इन्द्र (तुविष्टमः) अति प्रवृद्ध (पतिः) स्वामी है।

[पिशङ्ग=नानावर्णवाली, सुवर्ण, रजत, कृष्यन्न, फल, कन्द-मूल, गौ, अश्व आदि रूप धन। तुविः= **तु वृद्धौ** (अदादिः)]।

सूक्त ३४

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः॥ १॥

अर्थ—हे मनुष्य! (क्षितीनाम्) प्रजाजनों पर (वृषभाय) सुखों की वर्षा करने वाले, (अग्नये) सर्वाग्रणी परमेश्वर के लिए (वाचम्) स्तुति वचन (प्र ईरय) प्रेरित किया कर, (सः) वह परमेश्वर (द्विषः) द्वेष भावनाओं [के नर] से (नः अति पर्षत्) हमें पार करे अथवा द्वेष भावनाओं से हटा कर हमें परिपालित करे।

[क्षितीनाम्=**क्षितयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३)। पर्षत्=**पृ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः), पृ लेटि अडागमः सिप् च]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (अग्निः) अर्थात् सर्वाग्रणी परमेश्वर (रक्षांसि) राक्षसी भावों की, (तिग्मेन शोचिषा) तिग्म प्रकाश द्वारा (निजूर्वति) नितरां हिंसा करता है (सः) वह पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[परमेश्वर की स्तुति भक्तिपूर्वक करनी चाहिए। स्तुति द्वारा वह प्रकट होकर हमारे निकृष्ट भावों का विनाश करता है। मन्त्र में तिग्म प्रकाश वाली अग्नि द्वारा रोगजनक कीटाणुओं के विनाश की भी सूचना है। **जूर्वति वधकर्मा** (निघं० २.१९)।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते। स नः पर्षदति द्विषः॥ ३॥

अर्थ—(यः) जो अग्नि अर्थात् सर्वाग्रणी परमेश्वर (परस्याः परावतः) परे से भी परे, अर्थात् दूर से भी दूर, (धन्व तिरः) अन्तरिक्ष को भी तीर्ण करके, (अति रोचते) अति प्रदीप्त होता है। (सः) वह

पूर्ववत्, (मन्त्र १)।

[**धन्व अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३)। द्युलोक[1] में परमेश्वराग्नि का प्रदीप्त होना अभिप्राय है]।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४॥

अर्थ—(यः) जो सर्वाग्रणी परमेश्वर (विश्वा भुवना=विश्वानि भुवनानि) सब भुवनों को (अभि वि पश्यति) साक्षात् एक-एक करके देखता है, (च) और (संपश्यति) एक दृष्टि में सब को युगपत् देखता है। (सः) वह पूर्ववत् (मन्त्र १)।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५॥

अर्थ—(यः) जो (अग्निः) सर्वाग्रणी परमेश्वर (अस्य रजसः) इस रञ्जक ब्रह्माण्ड से (पारे[2]) पार (शुक्रः) चमकीले रूप में (अजायत) प्रकट होता है (सः) वह, पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[रजसः=रञ्जक, मनोरञ्जक, मनोहर। शुक्रः[3]=''**सः पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्**'' (यजुः० ४०.८)। तथा परमेश्वर रजोगुण से परे अर्थात् सात्विक चित्त में प्रकट होता है, यह भाव भी सूचित होता है]।

सूक्त ३५

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १॥

अर्थ—(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (अग्निः) जगदग्रणी परमेश्वर, (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिए, (नः) हमारी (सुष्टुतीः) उत्तम अर्थात् भक्तिभरी स्तुतियों के (उप) समीप, (परावतः) दूर से भी (आ प्र यातु) शीघ्र हमारे अभिमुख आ जाए, प्रकट हो जाए।

[गत सूक्त ३४ के प्रकरणानुकूल आध्यात्मिक अर्थ किया है। परमेश्वर सर्वव्यापक है, परन्तु अदृष्ट होने से वह हम से दूर है, अतः परावत् है। भक्तिभरी स्तुतियों द्वारा उस से ''उप'' द्वारा सामीप्य की प्रार्थना की गई है। **अग्निरग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)]।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप। अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २॥

अर्थ—(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (अग्निः) जगदग्रणी परमेश्वर, (अंहसु) पापनाशक (उक्थेषु) स्तुति मन्त्रों तथा सामगानों में (सजूः) प्रीतिवाला हुआ, (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) उपासना यज्ञ में (उप) समीप (आ अगमत्) आ गया है।

[मन्त्र १ में ''आ प्र यातु'' द्वारा परमेश्वर से समीपता की प्रार्थना की है, और मन्त्र २ में ''आ अगमत्'' द्वारा वह हमारे उपासना यज्ञ में समीप आ गया है, पहिले वह अदृष्ट था, अब दृष्ट हो गया है।

---

१. **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (कठ० उप०)।
२. यथा ''**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**'' (यजुः० ३१.३)। तथा ''**पादोऽस्येहाभवत् पुनः**'' (यजुः० ३१.४)।
३. ''**तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**'' (यजुः० ३२.१)।

अंहसु=**आहन्तीति अंहः**[१] (निरुक्त ४.४.२५)। जो पापी का हनन कर देता है, परन्तु वर्तमान मन्त्र में "अंहः" का अर्थ है "जो पाप का हनन कर देता है।" "अंहः" का केवल अर्थ मन्त्र में है "हनन करने वाला"]।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत्। ऐषु द्युम्नं स्वर्यमत्॥ ३ ॥

अर्थ—(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी परमेश्वर (अंगिरसाम्) प्राणाभ्यासियों के (स्तोमम्) गेयमन्त्रों को, (च) और (उक्थम्) उन पर सामगानों को (अक्लृपत्) समर्थित करता है। (एषु) और इन सामगायकों में (द्युम्नम्) यश, और (स्वः) आध्यात्मिक सुख (आ यमत्) नियत कर देता है।

[**द्युम्नम्=द्योततेः यशो वा अन्नं वा** (निरुक्त ५.१.५), पद संख्या "द्युम्नम्" (३३)। अङ्गिरसाम्="**आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः**" (बृहद्० उप० १.३.१९)]।

सूक्त ३६

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे॥ १ ॥

अर्थ—(ऋतावानम्) सत्यस्वरूप, (ऋतस्य ज्योतिषः) सत्यरूप ज्योति के (पतिम्) स्वामी, (अजस्रम्) अविनाशी, (घर्मम्) प्रकाश स्वरूप (वैश्वानरम्) सब नर-नारियों के हितकारी या विश्व के नेता परमेश्वर से (ईमहे) हम सदा याचना करते हैं।

[ऋतावानम्=**ऋतम् सत्यनाम** (निघं० ३.१०)+वनिप् (मत्वर्थे)। अजस्रम्=अ+**जसु हिंसा** (चुरादिः)। घर्मम्=**घृ दीप्तौ** (जुहोत्यादिः), तथा "घर्मम् दीप्यमानम्" (सायण)। **ईमहे याच्ञाकर्मा** (निघं० ३.१९)]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी। यज्ञस्य वय उत्तिरन्॥ २ ॥

अर्थ—(सः) जिसने (विश्वा) [विश्व की] सब वस्तुओं को अर्थात् (प्रति) प्रत्येक वस्तु को (चाक्लृपे) पैदा किया, (वशी) जो वशयिता (ऋतून्) ऋतुओं का (उत्सृजते) उत्कर्ष रूप में सर्जन करता है, वह (यज्ञस्य) हमारे जीवन यज्ञ की (वयः) आयु को (उत्तिरन्) बढ़ाता है।

[यदि जीवन यज्ञमय हो तो आयु बढ़ जाती है। "**पुरुषो वाव यज्ञः**" (छान्दोग्य० उप० ३.१६)]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको वि राजति॥ ३ ॥

अर्थ—(भूतस्य) भूतकाल के (भव्यस्य) और भविष्यत् काल के प्राणिजगत् का (कामः) काम्य अर्थात् प्रापणीय (अग्निः) सर्वाग्रणी परमेश्वर (परेषु) दूर-दूर के (धामसु) स्थानों में (विराजति) विराजमान है, (एकः) वह अकेला (सम्राट्) विश्व का सम्राट् है।

[परमेश्वर काम्य है, यथा "**सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्**" (यजुः० ३२.१३); वह इन्द्र अर्थात् जीवात्मा का प्रिय है, और उसकी कामना का विषय है, प्रापणीय है। अथर्ववेद के अनुसार

१. **अंहतिश्च, अंहश्च, अंहुश्च "हन्तेः" निरूढोपधात्, विपरीतात्** (४.४.२५,) पद संख्या "तूताव" ५७।

स्कम्भ-परमेश्वर जड़ जगत् का भी काम्य है—यह कवि शैली के अनुसार कहा है। यथा—(अथर्व० १०.७.४-६), "**क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः**" आदि]।

सूक्त ३७

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उप प्रागात्सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्।
शप्तारमन्विच्छन्मम वृक इवाविमतो गृहम्॥ १॥

अर्थ—(सहस्राक्षः) सर्वद्रष्टा या हजारों [शप्ताओं] का पूर्णतया क्षय करने वाला परमेश्वर (शपथः) शाप बनकर, (रथम् युक्त्वा) मानो रथ जोत कर (उप प्रागात्) शापकर्त्ता के समीप शीघ्रता से आ गया है, (मम) मेरे (शप्तारम्) शाप देने वाले को (अनु इच्छन्) ढूंढता हुआ; (इव) जैसे कि (वृकः) भेड़िया (अविमतः) भेड़ों वाले के (गृहम्) घर आ जाता है।

[मन्त्र में यह दर्शाया है कि परमेश्वर शाप देने वाले को ढूंढ कर उस का हनन करता है। जैसे कि भेड़िया भेड़ का हनन कर देता है। इस निमित्त परमेश्वर स्वयं शपथ रूप हो जाता है और शापदाता को शपथ देकर उसका विनाश करता है, इसमें वह देर नहीं करता, अतः शीघ्र पहुँचने के लिए मानो वह रथ पर सवार हो शप्ता के हननार्थ उसके समीप पहुँचता है। "**सहस्राक्षः=सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥**" (यजुः० ३१.१)]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परि णो वृङ्ग्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्। शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः॥ २॥

अर्थ—(शपथ) हे शपथरूपधारी परमेश्वर! (नः) हमें, (परिवृङ्धि) हम में बसा हुआ भी तू, हमें परिवर्जित कर दे, त्याग दे, (इव) जैसे (अग्निः) आग (अदहन्) न दग्ध करती हुई (ह्रदम्) ह्रद को त्याग देती है। (अत्र) यहां अर्थात् हमारे हृदयों में रहता हुआ तू (नः) हमारे (शप्तारम्) शापदाता का (जहि) हनन कर (इव) जैसे (दिवः) द्युलोक की (अशनिः) विद्युत् [द्युलोक का हनन न करती हुई] (वृक्षम्) वृक्ष का हनन करती है।

[ह्रद में पानी होता है, उस पानी में अग्नि विद्युत् रूप में रहती है, परन्तु पानी का दहन नहीं करती, दिव् की अशनि दिव् में रहती है परन्तु दिव् का हनन नहीं करती, इसी प्रकार हे परमेश्वर! शपथ रूप में हम में बसा हुआ भी तू हमारा हनन न कर]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्। शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे॥ ३॥

अर्थ—(अशपतः) न शाप देते हुए (नः) हमें (यः) जो (शपात्) शाप दे, (च) और (यः) जो प्रतिक्रियारूप में (शपतः) शाप देते हुए (नः) हमें (शपात्) पुनः शाप दे, (तम्) उसे (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (प्रति अस्यामि) मैं फैंक देता हूँ, (इव) जैसे (क्षामम्) सूखी (पेष्ट्रम्) पीठी को (अव) नीचे भूमि पर (शुने) कुत्ते के लिए फैंक दिया जाता है।

[परमेश्वर का भक्त परमेश्वर को कहता है कि हम शाप देने की दुष्प्रवृत्ति से रहित हैं। परन्तु मानुष दुर्बलता के कारण शाप देने वाले को यदि हम प्रतिक्रिया रूप में शाप दे देते हैं, और इस हमारी प्रतिक्रिया

में शाप देने वाला पुनः हमें शाप देता है तो हम प्रतिक्रिया में उसे पुनः शाप न देकर तेरे प्रति फैंक देते हैं, तू ही मृत्युरूप हुआ उसे यथोचित दण्ड दे। वह हमारे लिए, कुत्ते के लिए फैंकी सूखी पीठी के सदृश है। शुने और मृत्यवे यह हीनोपमा है। "शप्ता और क्षाम-पेष्ट्र" यह यथार्थ उपमा है] मानुष दुर्बलता यथा (अथर्व० ७.१११.१); तथा (अथर्व० ६.४५.२; ६.९६.३)। अव=अवस्तान् भूमौ; यथा "**शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥** मनु० ॥

सूक्त ३८

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ १॥

अर्थ—(या) जो (सिंहे) शेर में, (व्याघ्रे) बाघ में, (उत या) तथा जो (पृदाकौ) अजगर सांप में, (अग्नौ) आग में, (ब्राह्मणे) ब्राह्मण में, (सूर्ये) सूर्य में (त्विषिः) दीप्ति है, तथा (या सुभागा) जो सौभाग्य वाली (देवी) दिव्यगुणवती वेद माता (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को (जजान) प्रकट करती है (सा) वह (वर्चसा) वर्चस् के साथ (संविदाना) मेल को प्राप्त हुई (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो।

[सिंह आदि ३ में आक्रमण रूपा दीप्ति, अग्नि में ज्वलन रूपा, ब्राह्मण में ब्रह्मज्ञान तथा वेदज्ञान रूपा, सूर्य में प्रकाशरूपा दीप्ति है। वेदमाता में अध्यात्म विद्या रूपी दीप्ति है। "सा ऐतु" द्वारा उभयविध दीप्ति की प्राप्ति का कथन हुआ है। वेद माता इन्द्र को प्रकट करती है वैसे मेरी आत्मशक्ति भी इन्द्र को प्रकट करे]।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ २॥

अर्थ—(या त्विषिः) जो दीप्ति (हस्तिनि) हाथी में, (द्वीपिनि) चीते में, (या) जो (हिरण्ये) सुवर्ण में, (अप्सु) जल में, (गोषु) गौओं में, (या) जो (पुरुषेषु) पुरुषों में है (शेष पूर्ववत्)।

[हाथी में बलोत्कर्ष, चीते में आक्रमण, हिरण्य में रमणीयता, जल में शान्ति, गौओं में पोषण तत्त्व, पुरुषों में पौरुषरूपा दीप्ति। शेष पूर्ववत्]।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ ३॥

अर्थ—(रथे) रथ में (अक्षेषु) रथों की धुरियों में, (ऋषभस्य) बैल का (वाजे) चाल में, (वाते) वायु में, (पर्जन्ये) मेघ में, (वरुणस्य) वरुण के (शुष्मे) बल में [जो दीप्ति] है, [सा ऐतु] वह (नः) हमें प्राप्त हो। (इन्द्रम्) आदि पूर्ववत्।

[रथे=**रममाणः अस्मिन् तिष्ठति** (निरुक्त ९.२.११), रथ में बैठे की रमणीयता; अक्षेषु=धुरियों में आधारता; वृषभस्य=बैल की चाल में गाम्भीर्य; पर्जन्ये=पालकता; शुष्म है शोषक बल; वरुण है पाप

निवारक परमेश्वर। परमेश्वर पाप का शोषण कर देता है, विनाश कर देता है। **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९)।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

राजन्ये॑ दुन्दुभावाय॑तायामश्व॑स्य वाजे॒ पुरु॑षस्य मा॒यौ।

इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना॥ ४॥

अर्थ—(राजन्ये) रागयुक्त क्षत्रिय में, (दुन्दुभौ) ढोल में, (आयतायाम्) धनुष् में चढ़ाई डोरी [ज्या] में,·(अश्वस्य वाजे) अश्व की गति में, (पुरुषस्य) पुरुष के (मायौ) शब्द में [जो दीप्ति है, "सा ऐतु", वह (नः) हमें प्राप्त हो] (इन्द्रम्) आदि पूर्ववत्।

[राजन्ये=**'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'**। **"स विशोनु व्यचलत"** (अथर्व० १५.८.१; तथा अथर्व १५.९.१)। अर्थात् वह क्षत्रिय रागयुक्त हुआ [रञ्ज रागे, दिवादिः], तत्पश्चात् "राजन्य" हुआ। "वह प्रजाओं के अनुकूल होकर चला"। अभिप्राय यह कि क्षत्रिय जब प्रजाओं में राग अर्थात् अनुराग वाला होता है तो वह "राजन्य" कहाता है। प्रजाओं में अनुराग के कारण वह प्रजाओं की अनुकूलता में राज्य करता है। अतः राजन्य में दीप्ति है—प्रजाओं में अनुराग और प्रजाओं की अनुकलता में शासन करना। दुन्दुभि=ढोल जब बजता है तब लोगों का ध्यान उस की ओर आकृष्ट हो जाता है। अतः ध्यानाकर्षण उसकी दीप्ति है। आयत-धनुष् भय का कारण होता है। अतः भयप्रदत्व उसकी दीप्ति है। अश्व की चाल में शान यह अश्व की चाल में दीप्ति है। वाजे=**वज व्रज गतौ**। पुरुषस्य मायौ=मन्त्र २ में "पुरुषेषु" द्वारा पुरुषनिष्ठ दीप्ति का वर्णन हुआ है। मन्त्र ४ में पुरुष की "मायु" में की दीप्ति का कथन हुआ है। मायुः=पित्त (उणा० १.१, दयानन्द भाष्य), पित्त प्रकृतिक पुरुष में क्रोध होता है यह उसकी दीप्ति है।

सूक्त ३९

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यशो॑ ह॒विर्व॑र्धता॒मिन्द्र॑जूतं स॒हस्र॑वीर्यं सु॒भृ॑तं॒ सह॑स्कृतम्।

प्र॒सर्स्रा॑णमनु॒ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑से ह॒विष्म॑न्तं मा वर्धय ज्ये॒ष्ठता॑तये॥ १॥

अर्थ—(यशः हविः) यशःरूप हविः[1] (वर्धताम्) बढ़े, (इन्द्रजूतम्) जो कि सम्राट् द्वारा प्रेरित है, (सहस्रवीर्यम्) हजारों वीरकर्मों द्वारा प्राप्त, (सुभृतम्) उत्तम विधि द्वारा धारित तथा परिपुष्ट, (सहस्कृतम्) साहस द्वारा अर्जित है वह (दीर्घाय चक्षसे) दीर्घ दृष्टि के लिए (अनु) निरन्तर (प्रसस्राणम्) प्रसरण शील हो। [हे इन्द्र! सम्राट्!] (हविष्मन्तम्) यशरूप हविवाले (मा) मुझ को (ज्येष्ठतातये) बड़े राज्य के विस्तार के लिए (वर्धय) तू बढ़ा।

[मन्त्र में इन्द्र अर्थात् सम्राट, और वरुण अर्थात् माण्डलिक राजा के पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन हुआ है। **"इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा"** (यजुः० ८.३७)। सुभृतम्=सु+**भृ (धारणपोषणयोः)**+क्त। दीर्घाय चक्षसे=माण्डलिक राजा, निज राज्य में, नियमों का निर्माण आदि दीर्घ दृष्टि से करे, जो कि दीर्घ काल तक लागू हो सकें, इस से उसका यश फैलता है]।

१. यज्ञियाग्नि में आहुत हविः धूम्ररूप होकर, बढ़ कर, जैसे अन्तरिक्ष में प्रसृत हो जाती है, फैल जाती है, वैसे हमारा यश भी राज्य और साम्राज्य में बढ़े, फैले।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम।

स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम॥ २॥

अर्थ—(नः अच्छ) हमारे अभिमुख वर्तमान, (यशसम्) यशोरूप, (यशोभिः यशस्विनम्) यशोमय कर्मों द्वारा यशस्वी (इन्द्रम्) सम्राट् को (नमसानाः) नमस्कार करते हुए (विधेम) हम उसकी परिचर्या करें। (सः) वह तू हे सम्राट्! (इन्द्रजूतम्) तुझ सम्राट् द्वारा प्रेरित (राष्ट्रम्) राज्य (नः) हमें (रास्व) प्रदान कर, (ते) तेरे (तस्य रातौ) उस राष्ट्र के प्रदान पर (यशसः स्याम) हम यशस्वी हों।

[**विधेम=परिचरणकर्मा** (निघं. ३.५)। सम्राट् है संयुक्त-माण्डलिक राजाओं का अधिपति। संयुक्त माण्डलिक राजा नाना हैं, इसलिए "नः, स्याम, विधेम" में बहुवचन है। माण्डलिक राजा और सम्राट् जब कार्यवश एक दूसरे के अभिमुख होते हैं, तब माण्डलिक राजा, सम्राट् को नमस्कार करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत। यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्रः) हमारे साम्राज्य का सम्राट् (यशाः) यशस्वी हो, (अग्निः) सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री (यशाः) यशस्वी हो, (सोमः) सेना प्रेरक सेनाध्यक्ष (यशाः) यशस्वी (अजायत) हो। (यशा) और (अहम्) मैं माण्डलिक राजा (विश्वस्य भूतस्य) सब प्राणिजगत् के मध्य (यशस्तमः) अतिशय यशस्वी (अस्मि) हो जाऊं।

[अग्निः="**अग्रणीर्भवति अथवा अग्रं नयतीति अग्निः**" (निरुक्त ७.४.१४), यथा "**अग्ने नय, सुपथा राये अस्मान्**" (यजुः० ४०.१६) में "नय" के प्रयोग द्वारा अग्ने=अग्र+नी[१] अर्थ प्रतीत होता है। सोमः=**षू प्रेरणे,** सेना प्रेरक, सेनाध्यक्ष, यथा—

इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽएतु सोमः।

देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ यजुः० १७.४०॥

बृहती सेना का पति है बृहस्पतिः। जोकि सेना के दक्षिण पार्श्व में चलता है। इन्द्र अर्थात् सम्राट् सेना का नेता है। सोम सेना के आगे-आगे चलता है, इसे "यज्ञः"[२] कहा है, यह राष्ट्र और साम्राज्य के दिव्य अधिकारियों का पूजक, उन का संग करने वाला और रक्षार्थ आत्म समर्पण कर देता है। देव सेनाएँ हैं विजिगीषु सेनाएँ "**दिवु क्रीडाविजिगीषा**" आदि (दिवादिः ४.१)। मरुतः हैं शत्रु को मारने में सिद्धहस्त सैनिक। मरुतः=मारयन्तीति (उणा० १.९४; दयानन्द भाष्य)]।

सूक्त ४०

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती**॥

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।

अभयं नोऽस्तूर्व१न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु॥ १॥

---

१. अर्थात् अग्नि पद में नी "(णीञ् धातु)" का अर्थ जानना चाहिए, न कि औणादिक "निः" प्रत्यय (उणा० ४.५१)।

२. **यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (भ्वादिः)।

अर्थ—(द्यावापृथिवी) हे द्युलोक तथा पृथिवी (इह) यहां (अभयम् अस्तु) अभय हो, (नः) हमारे लिए (सोमः) चन्द्रमा (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (नः) हमारे लिए (सविता) सूर्य अभय करे। (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (नः) हमारे लिए (अभयम्) भय रहित (अस्तु) हो, (सप्त ऋषीणाम्, च) और सप्त ऋषियों की (हविषा) हविः द्वारा (नः) हमारे लिए (अभयम्, अस्तु) अभय हो।

[मन्त्र में प्राकृतिक शक्तियों से भय रहित होने की प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। सप्त ऋषि के ४ अर्थ सम्भव हैं, (१) द्युलोकस्थ सप्तर्षि मण्डल (२) शरीरस्थ सप्त ऋषि "**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी**" (निरुक्त १२.४.३७); तथा (यजुः० ३४.५५)। (३) आदित्य की सप्तविध रश्मियां, जो कि वर्षा ऋतु में इन्द्रधनुष् में दृष्टिगोचर होती हैं। (४) राष्ट्रशासन में परामर्श दाता, राजा के ऋषिकोटि के सप्त सचिव। इस परामर्श को (हविषा) द्वारा निर्दिष्ट किया है। सप्त ऋषियों द्वारा प्रदत्त परामर्श हवि रूप है राष्ट्रयज्ञ में; जिसे कि सप्त ऋषि स्वेच्छा पूर्वक देते हैं, वेतनवृत्ति से बद्ध हुए नहीं। मन्त्र में ये चतुर्थ संख्या के सप्त ऋषि अभिप्रेत हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः॥ २॥

अर्थ—(नः) हमारे (अस्मै ग्रामाय) इस ग्राम के लिए (चतस्रः प्रदिशः) चारों व्याप्त दिशाएँ, (सविता) और सर्वोत्पादक परमेश्वर (सुभूतम्) प्रभूत (ऊर्जम्) बल और प्राण के प्रदाता अन्न को, तथा (स्वस्ति) उत्तम स्थिति और कल्याण को (कृणोतु) करे। (इन्द्रः) सम्राट् (अशत्रु अभयम्) शत्रु रहित अभय (नः) हमारे लिए (कृणोतु) करे, (राज्ञाम्) राजाओं का (मन्युः) मननपूर्वक किया गया क्रोध, (अन्यत्र) हम शान्तिप्रिय प्रजाजनों से भिन्नों के (अभि) प्रति (यातु) जाए।

[चतस्रः प्रदिशः=अर्थात् ग्राम के चारों ओर फैली दिशाओं में कृषि-कर्म द्वारा ऊर्जाप्रद अन्न उत्पन्न हो]।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्। इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (नः) हमें (अधरात्) दक्षिण दिशा से (अनमित्रम्) शत्रुरहित (कृधि) कर, (नः) हमें (उत्तरात्) उत्तरदिशा से (अनमित्रम्) शत्रुरहित कर। (नः) हमें (पश्चात्) पश्चिम दिशा से (अनमित्रम्) शत्रु रहित कर, (पुरः) पूर्वदिशा से (अनमित्रम्) शत्रुरहित कर।

सूक्त ४१

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये। मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ १॥

अर्थ—(मनसे) मनन के लिए, (चेतसे) सम्यक्-ज्ञान के लिए, (धिये) ध्यान के लिए, (आकूतये) संकल्प के लिए, (चित्तये) स्मरण शक्ति के लिए, (मत्यै) मेधा के लिए (श्रुताय) वेदाध्ययन के [चित्त में] धारण करने के लिए (चक्षसे) आंखों के स्वास्थ्य के लिए (वयम्) हम (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) यज्ञ करें, या इन सब को परिचर्या करें।

[चेतसे=**चिती संज्ञाने** (भ्वादिः)। चित्तये=**चिति स्मृत्याम्** (चुरादिः)। "**मतिः, मतयः**" **मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। श्रुतये, श्रुतिर्वेदः। **विधेम परिचरणकर्मा** (निघं० ३.५)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे। सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम्॥ २॥

अर्थ—(अपानाय) अपान के स्वास्थ्य के लिए, (व्यानाय) व्यान के स्वास्थ्य के लिए, (भूरिधायसे) महाधारक तथा पोषक (प्राणाय) प्राण के स्वास्थ्य के लिए, (उरुव्यचे) महाविस्तार वाली (सरस्वत्यै) विज्ञान युक्ता वेदवाणी की प्राप्ति के लिए, (वयम्) हम (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) यज्ञ करें या इन सब की परिचर्या करें।

[अपानाय आदि में तादर्थ्य में चतुर्थी है। प्राण का विशेषण है "भूरिधायसे"। वस्तुतः श्वास-प्रश्वास रूपी प्राण, अपानादि तथा समग्र शरीर और इन्द्रियों तथा मानसिक शक्तियों का धारक तथा पोषक है। अपान है अधोवायु, गुदास्थ। व्यान है सर्व शरीरगत वायु, जिस द्वारा रक्त संचार समग्र शरीर में होता है। सरस्वती का विस्तार महान् है, वेद, वेदाङ्ग, उपवेद तथा भाष्यों आदि के रूपों में वेदवाणी फैली हुई है। व्यचस्=विस्तार]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥ ३॥

अर्थ—(ये) जो (दैव्याः) देवों सम्बन्धी (ऋषयः) ऋषि हैं वे (नः) हमारा (हासिषुः मा) परित्याग न करें, (ये) जो ऋषि कि (तनूपाः) शरीर के रक्षक हैं (ये) जो (नः) हमारे (तन्वः) शरीर से (तनूजाः) शरीर में ही पैदा होते हैं। (अमर्त्याः) हे अमरणशील ऋषियो! (नः मर्त्यान्) हम मरणशीलों को (अभि सचध्वम्) प्राप्त होओ, (नः) हमारे (जीवसे) जीवित होने के लिए (प्रतरम्) श्रेष्ठ तथा दीर्घ (आयुः) आयु (धत्त) प्रदान करो।

[मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि "ऋषि" शरीरस्थ हैं, और शरीर से उत्पन्न होते हैं। ये हैं "**षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी**" (निरुक्त १२.४.३७) तथा (यजुः० ३४.५५)। ये ऋषि अमर्त्य हैं, शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी ये सूक्ष्म शरीर में आत्मा के साथ पुनर्जन्म में भी जाते हैं। इन का ब्राह्म देवों के साथ सम्बन्ध है, बाह्य देव, यथा "वायु, जल, सूर्य आदि"। इन ब्राह्म देवों के कारण सात ऋषियों की स्थिति शरीर में होती है]।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ५

सूक्त ४२

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै॥ १॥

अर्थ—[हे पति!] (धन्वनः) धनुष् से (इव) जैसे (ज्याम्) आरोपित डोर को (अव) उतार दिया

जाता है वैसे मैं [पत्नी] (ते हृदः) तेरे हृदय से (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) उतार देती हूँ, पृथक् कर देती हूँ (यथा) ताकि (संमनसौ भूत्वा) हम दोनों एक चित्त होकर (सखायौ, इव) दो मित्रों की तरह (सचावहै) परस्पर सुसंगत हो जाएँ, परस्पर मित्र हो जाएँ।

[पत्नी निज पति की सेवा, तथा प्रेमोत्कर्ष द्वारा, पति के हृदय से मन्यु को हटा देती है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

सखा॑याविव सचावहा॒ अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते।

अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि॒ यो गु॒रुः॥ २॥

अर्थ—(सखायौ इव) दो मित्रों के सदृश (सचावहै) हम दोनों मिल जाएँ, इसलिए (ते) तेरे (मन्युम्) मन्यु को (अव तनोमि) मैं उतार देती हूँ। (ते मन्युम्) तेरे मन्यु को (अश्मनः अधः उपास्यामसि) हम ऐसे फैंक देते हैं, जैसे कि पत्थर के नीचे किसी वस्तु को फैंक दिया जाता है (यः) जो पत्थर कि (गुरुः) भारी है।

[उपास्यामसि में बहुवचन है। पत्नी के साथ मिल कर अन्य गृहवासी भी पति को प्रसन्न कर उस के मन्यु को दूर करते हैं। मन्त्र में उपमा-वाचकपद लुप्त है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पार्ष्ण्या॒ प्रप॑देन च। यथा॑व॒शो न वा॑दिषो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि॥ ३॥

अर्थ—(ते) तेरे (मन्युम्) मन्यु को (पार्ष्ण्या) पैर की एड़ी द्वारा, (च) और (प्रपदेन) पैर के अगले भाग द्वारा (अभि तिष्ठामि) मैं कुचल देती हूँ, (यथा) जिससे कि (अवशः) अपने आप को वश में न रखता हुआ तू (न वादिषः) कुछ न कह सके, और (मम चित्तम्) मेरे चित्त के (उप आयसि) समीप अनुकूल, तू आ जाए, हो जाए।

[अभितिष्ठामि, जैसे किसी वस्तु पर पैरों द्वारा स्थित होकर उसे कुचल दिया जाता है, उसी तरह तेरे मन्यु को मैं कुचल देती हूँ। वादिषः=वद+लेट् लकार में अट्, सिप्, तथा उपधावृद्धि **'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः'** (वार्त्तिक, अष्टा० ३.१.३४)]।

सूक्त ४३

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒यं द॒र्भो विम॑न्युकः॒ स्वाय॒ चार॑णाय च। म॒न्योर्विम॑न्युकस्या॒यं म॑न्यु॒शम॑न उच्यते॥ १॥

अर्थ—(अयम्, दर्भः) यह दर्भनामक घास-विशेष (स्वाय) निज व्यक्ति के लिए (च) और (अरणाय) विदेशी के लिए (विमन्युकः) मन्यु का विगत करने वाला है। (विमन्युकस्य) विगतमन्यु वाले के आपाततः हुए (मन्योः) मन्यु का (अयम्) यह दर्भ (मन्युशमनः) मन्यु का शमन करता है, अतः दर्भ "मन्युशमन" (उच्यते) कहा जाता है, अर्थात् दर्भ का नाम "मन्युशमन" भी है।

[अरणाय=अ+**रण शब्दे** (भ्वादिः), तथा **रण गतौ** (भ्वादिः), जिस के साथ हमारा बोलचाल नहीं अर्थात् विदेशी। दर्भः=**दृ विदारणे** (क्र्यादिः), घास-विशेष जो कि अनावृत पैर को, या छूने पर अङ्ग को, विदीर्ण कर देता है। यथा **'दर्भेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा"** (शाकुन्तल नाटक)। यह कुश-घास है, जिसका ऊपर का भाग कांटेदार होता है, तेज होता है।

इसीलिए कुशाग्रबुद्धि शब्द का प्रयोग विषयशीघ्रगाही के लिए होता है। कुश-घास का रस सम्भवतः ''मन्युशमन'' हो]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति। दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते॥ २॥

अर्थ—(अयम्) यह (यः) जो (दर्भः) दर्भ (भूरिमूलः) नाना जड़ों वाला (समुद्रम्) उदकभूयिष्ठ प्रदेश को (अव=अवक्रम्य) प्राप्त कर (तिष्ठति) स्थित होता है, और (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्थितः) ऊपर की ओर स्थित होता है, उठता है, वह (मन्युशमन उच्यते) ''मन्युशमन'' कहा जाता है।

[पैप्पलाद शाखा में ''समुद्रम्'' के स्थान में ''पृथिव्याम्'' पाठ है; समुद्रमवतिष्ठति=अथवा जलभूयिष्ठ प्रदेश को प्राप्त कर, जड़ों को अवस्तात् कर स्थित होता है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि ते हनव्यां शरणिं ते मुख्यां नयामसि। यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि॥ ३॥

अर्थ—[हे पति!] (ते) तेरी (हनव्याम्) हनु-सम्बन्धी (शरणिम्) हिंस्रा अर्थात् क्रोधमयी वाणी को (विनयामसि) हम विनययुक्त अर्थात् विनीत करते हैं, (ते) तेरी (मुख्याम्) मुख सम्बन्धी (शरणिम्) हिंस्रा अर्थात् क्रोधमयी वाणी को (विनयामसि) हम विनययुक्त अर्थात् विनीत करते हैं (यथा) जिस प्रकार कि (अवशः) निज वश में न रहा, अर्थात् मुझ पत्नी के वश में हुआ तू (न वादिषः) क्रोधमयी वाणी न बोले, और (मम चित्तम्) मेरे चित्त के (उप) समीप (आ आयसि) तू आ जाए, मेरे अनुकूल हो जाए।

[बोलते समय आवाज मुख से बोली जाती है और निचली हनु साथ-साथ हिलती है। अतः बोलने का सम्बन्ध दोनों के साथ है, मुख के साथ तथा हनु के साथ। शरणिम्=**शॄ हिंसायाम्** (क्र्यादिः)]।

सूक्त ४४

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद्रोगो अयं तव॥ १॥

अर्थ—(द्यौः) द्युलोक (अस्थात्) नियत स्थान में स्थित है, (पृथिवी अस्थात्) पृथिवी नियत स्थान में स्थित है (इदम्, विश्वम् जगत्) यह सब जगत् (अस्थात्) नियत स्थान में स्थित है। (ऊर्ध्वस्वप्नाः) ऊपर की ओर उठे हुए स्वप्नावस्था में (वृक्षाः) वृक्ष (अस्थुः) नियत स्थान में स्थित हैं, (अयम्) यह (तव) तेरा (रोगः) रोग भी (तिष्ठात्) नियत स्थान में स्थित हो जाए।

[सायण ने रुधिर-स्राव रोग कहा है। मन्त्र में ''अस्थात्'' द्वारा ''गतिनिवृत्ति'' अभिप्रेत नहीं, अपितु निज प्रतिनियत स्थानों में स्थिति अभिप्रेत है। इसलिए ''इदम् विश्वम्'' को जगत् कहा है। जगत् गच्छतीति; अथवा ''गम् (गतौ)+यङ्लुक्+शतृ'', अर्थात् अतिशय गतिशील कहा है। रुधिर भी हृदय से नाड़ियों में स्रवण करने के लिए है, यह ही उस की नियत स्थिति है, इस स्थिति में ही उसकी स्थिति चाहिए, स्राव के लिए नहीं। वृक्षों की स्थिति स्वप्नावस्था की कही है, इस द्वारा वृक्षों में भी जीवात्मा की स्थिति निर्दिष्ट की है। स्वप्न चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं]।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श॒तं या भे॑ष॒जानि॑ ते स॒हस्रं॒ संग॑तानि च। श्रेष्ठ॑मास्रावभेष॒जं वसि॑ष्ठं रोग॒नाश॑नम् ॥ २ ॥

अर्थ—(या=यानि) जो (शतम्) सौ (भेषजानि) चिकित्सा योग्य औषधें, (च) और (सहस्रम्) हजार औषधें (संगतानि) एकत्रित की हैं, उन में से (आस्रावभेषजम्) आस्राव की औषध जो (ते) तेरे (रोगनाशनम्) रोग की नाशक है, वह (श्रेष्ठम्) सर्वोत्तम (वसिष्ठम्) जल है।

[वसिष्ठम्=जल। यथा ''**वसिष्ठोऽप्याच्छादित**[१] **उदकसंघातः**'' स्कन्दस्वामी का भाष्य, मन्त्र ''**उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठः**'' (ऋ० ७.३३.११) (निरुक्त ५.३.१४)। इसे ही मन्त्र ३ में ''**रुद्रस्य मूत्रमसि**'' [मन्त्र ३] द्वारा रुद्र का मूत्र कहा है। जल ''वसिष्ठ'' है ''वस्तृतम'' है, शरीर में ३/४ भाग रूप में बसा हुआ है, शेष भाग में १/४ अन्य तत्त्व हैं। अथवा वसिष्ठः=वासयितृतमः (सायण)। शरीर में जीवात्मा को बसाने का यह सर्वातिशय साधन है। शरीर में उदकमात्रा के कम हो जाने पर मृत्यु की सम्भावना हो जाती है। उदकमात्रा के कम हो जाने को "DEHYDRATION" कहते हैं]।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा महाबृहती** ॥

रु॒द्रस्य॒ मूत्र॑मस्य॒मृत॑स्य॒ नाभिः॑।
वि॒षा॒ण॒का नाम॒ वा अ॑सि पितृ॒णां मूला॒दुत्थि॑ता वातीकृ॒त॒नाश॑नी ॥ ३ ॥

अर्थ—(रुद्रस्य) अन्तरिक्षस्थ विद्युत् का (मूत्रम्) मूत्ररूप (असि) तू है [हे वसिष्ठ!] (अमृतस्य) अमृतत्व अर्थात् चिरकाल तक जीवन का तू (नाभिः) बन्धक है, स्थापक है। (विषाणका[२]) रोग को शरीर से विभक्त करने वाली ओषधि (नाम वै) नाम वाली निश्चय से (असि) तू है, (पितृणाम्) ऋतुओं की (मूलात्) मूलभूत[३] ऋतु से (उत्थिता) तू उत्पन्न हुई है, (वातीकृतनाशनी) प्रकुपित वात से किये गये रोग का नाश करने वाली है।

[मूत्रम=जलम् (सायण)। नाभिः=बन्धकं स्थापकम् (सायण), नह [**णह**] **बन्धने** (दिवादिः)। विषाणका=विशेषेण रोगनिवर्तनस्य संभक्त्री (सायण)। जल ओषधि है, ओषधि पद स्त्रीलिङ्गी है। अतः मन्त्र में स्त्रीलिङ्गी प्रयोग हुए हैं, जो कि जल का ही कथन करते हैं।

विशेष कथन—वैदिक साहित्य में ''पितरः'' का प्रयोग ऋतुओं के लिए भी हुआ है। पितरों अर्थात् ऋतुओं की मूल ऋतु अभिप्रेत है ''वर्षा ऋतु''। वर्षा ऋतु के सम्बन्ध से संवत्सर को वर्ष कहते हैं। वसिष्ठ अर्थात् जल को मन्त्र में वर्षा-ऋतु से उत्थित कहा है। वर्षा से प्राप्त किया जल शुद्ध पवित्र होता है, उस में भौमतत्त्व मिले नहीं होते। इसलिए वह जल चिकित्सा के लिए उत्तम होता है, और मन्त्रोक्त वातरोग के विनाश के लिए उपयुक्त है। पृथिवी की एक विशिष्ट गति के कारण जिसे कि "Precession of equinoxs"[4] कहते हैं। समय-समय पर भिन्न-भिन्न ऋतुओं से संवत्सर-काल प्रारम्भ होता रहता है, यह

१. वसिष्ठ शब्द में **वस आच्छादने** मान कर आच्छादित अर्थ किया है, उदक संघात मेघ में आच्छादित रहता है।
२. वि+**षण संभक्तौ** (भवादिः)।
३. जिस ऋतु से संवत्सर या वर्ष का प्रारम्भ हुआ, वह ऋतु मूलरूप है।
४. The shifting of the equinoctial points from east to west अर्थात् जिन स्थानों पर सूर्य के आगमन पर दिन-रात बराबर होते हैं, उन स्थानों का पूर्व से पश्चिम की ओर बदल जाना। तथा—
A slow backward motion of the equinoctial points along the ecliptic, caused by the greater attraction

ज्योति:शास्त्र का सिद्धान्त है। लगभग २४ हजार वर्षों से ऋतुचक्र पुनः पूर्वस्थिति में आ जाता है, अर्थात् ऋतुचक्र या संवत्सर जिस ऋतु से प्रारम्भ हुआ था, उस ऋतु से पुनः प्रारम्भ हो जाता है।

सूक्त ४५

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।

परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥ १॥

अर्थ—(मनस्पाप) हे मानसिक पाप! (परः अप इहि) परे हट जा, (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त कर्मों की (शंससि) तू प्रशंसा करता है। (परा इहि) परे चला जा, (त्वा न कामये) तुझे नहीं मैं चाहता, (वृक्षान्, वनानि) वृक्षों और वनों में (संचर) संचार कर, विचर (मे) मेरा (मनः) मन (गृहेषु) गृहकार्यों में, (गोषु) और गोपालन में विचरे।

[मन्त्र में देवासुर संग्राम को निर्दिष्ट किया है, मानसिक पाप है असुर और उसके हटाने का संकल्प है देव। मानसिक-पाप ही वास्तविक पाप है। ऐन्द्रियिक और शारीरिक पाप तो मानसिक-पाप के परिणाम होते हैं, अतः संकल्पों और विचारों को शिव बनाना चाहिए। मानसिक-पाप की कामना को वर्जित करना चाहिए। वृक्षों और वनों में पाप विचरता है। वृक्षों और वनों में पापिष्ठ जीवात्माएँ जन्म ग्रहण करती हैं। इनमें जीवात्माओं का वास होता है। तभी इन्हें ''ऊर्ध्वस्वप्नाः'' कहा है (अथर्व० ६.४४.१)। स्वप्न और जागरण जीवधारियों को होते हैं, जड़ों को नहीं। मन को खाली न रखना चाहिए, इसलिए कहा है ''गृहेषु गोषु'' ''मे मनः''। जीवात्मा के लिए कहा **''ओषधिषु प्रतितिष्ठा शरीरैः''** (अथर्व० १८.२.७)। शरीरैः=बार-बार शरीर ग्रहण करना ओषधियों में। अतः शरीरैः बहुवचन है, या सूक्ष्म और कारण शरीर सहित स्थूल शरीर रूप में औषधि, वनस्पति, वृक्षों और वनों में शरीरग्रहण करना, अभिप्रेत है]।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अवशसा निःशसा यत्पराशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।

अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु॥ २॥

अर्थ—(यत्) जो [पापकर्म] (जाग्रतः) जागते हुए, (यत्) जो (स्वपन्तः) स्वप्न लेते हुए होते हैं, उन्हें (अवशसा) नीचकर्म की प्रशंसा द्वारा, (निःशसा) निश्चित रूप में प्रशंसा द्वारा (पराशसा) अति प्रशंसा द्वारा (उपारिम) हमने उपार्जित किया है, (अग्निः) परमेश्वर या हमारी ज्ञानमय अग्नि (अजुष्टानि) असेवनीय (विश्वानि दुष्कृतानि) उन सब दुष्कर्मों को (अस्मत्) हम से (अप) अपगत करके (आरे) दूर (दधातु) स्थापित करे।

[अग्निः=**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन**'' (गीता ४.३७)। उपारिम=उप+आट्+ऋ

---

of the sun and moon on the excess of matter of the equator such, that the times at which the sun crosses the equator comes at shorter intervals than they should otherwise do.

रविमार्ग में उन दो स्थानों का, जहां कि दिन-रात बराबर हो जाते हैं, [मार्च २१ तथा दिसम्बर २३ को] दिन और रात के स्थानों का पीछे की ओर शनैः-शनैः खिसकते जाना, जो कि सूर्य और चन्द्रमा द्वारा, भूमध्य रेखा पर अधिक द्रव्य के होने पर होता है, जिस से भूमध्य रेखा पर सूर्य के आने का समय पूर्वापेक्षया कम हो जाता है।

(गतौ)+उत्तम पुरुष बहुवचन। गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः प्राप्तिश्च। यहां प्राप्ति अर्थ अभीष्ट है। नीच कर्मों की प्रशंसा द्वारा दुष्कर्मों की प्राप्ति होती है। "शस्" प्रशंसार्थक भी है। यथा प्रशस्तम्, प्रशस्ति। अग्निः=अथवा परमेश्वराग्नि निज प्रकाश द्वारा अन्धकारमय दुष्कर्मों को हम से दूर करे]।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेपि मृषा चरामसि। प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात्पात्वंहसः॥ ३॥

अर्थ—(ब्रह्मणस्पते) ब्रह्मवेद के अधिपति या मन्त्राधिपति (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (यद् अपि) जो भी (मृषा चरामसि) मिथ्याचरण हम करते हैं [आप की प्रेरणा से] (आङ्गिरसः) प्राणायामादि योगाङ्गों से सम्पन्न, (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी योगी, (नः) हमें (दुरितात्) दुष्परिणामी (अंहसः) पाप से (पातु) सुरक्षित करे।

[मिथ्याचरण=दुष्कर्म (मन्त्र २)। अङ्गिराः प्राणः। यथा "**प्राणो वा अङ्गानां रसः**" बृहद्० उप० (अध्याय १ ब्राह्मण ३। सन्दर्भ १९)]।

सूक्त ४६

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मती विष्टारपङ्क्तिः**॥

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न।
वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि॥ १॥

अर्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न! (यः) जो (न जीवः असि) न जीवित तू है, (न मृतः) न मृत है, अपितु (देवानाम्[1]) इन्द्रियों का (अमृतगर्भः असि) न मरने वाला गर्भरूप है, पुत्ररूप है। (वरुणानी) रात्री (ते) तेरी (मात) माता है, (यमः) नियन्ता[2]-दिन तेरा (पिता) पिता है, (अररुः) अररु (नाम) नाम वाला (असि) तू है।

[स्वप्न, जीव अर्थात् प्राणधारी नहीं, "**जीव प्राणधारणे**" (भ्वादिः)। न मृत है, क्योंकि जाग्रदवस्था के अनुभवों के संस्काररूप में यह मन में स्थिर रहता है। वरुणानी है रात्री, यथा "**अहोरात्रौ मित्रावरुणौ**" (तां० २५.१०.१०)। स्वप्न रात्री में प्रकट होता है अतः रात्री माता है। दिन के अनुभवों के संस्कारों के कारण स्वप्न की स्थिति होती है, अतः दिन इसका पिता है, दिन द्वारा प्रदत्त संस्काररूपी वीर्य से स्वप्न जन्म पाता है। अररुः[3]=अरम्, अलम्, पर्याप्त "**रुङ् गतिरेषणयोः**" (भ्वादिः)। स्वप्नावस्था में मन भिन्न-भिन्न स्थानों में "गति करता" जाता आता, और भय में "रेषण" कष्टानुभव करता, विचलित होता रहता है, अतः स्वप्न अररुः है]।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भा पञ्चपदा जगती**॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोसि मृत्युरसि।
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ २॥

---

१. "**नैनद् देवा आप्नुवन्**" (यजुः० ४०.४), देवाः इन्द्रियाणि (महीधर)।
२. दिन यम है, दिन के समय प्राणियों की गतिविधि व्यवस्था को नियन्त्रित करने वाला।
३. अरम्=अलम्, रलयोरभेदात्; अलम्=पर्याप्तम्।

अर्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न! (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्मस्थान को (विद्म) हम जानते हैं, (देवजामीनाम्[१]) इन्द्रियों की पत्नियों वृत्तियों का (पुत्रः असि) तू पुत्र है, (यमस्य) दिन का यम-नियमरूपी चित्तवृत्तियों का तू (करणः) कर्म है। (अन्तकः असि) तू दुःस्वप्नों और उनके परिणामों का अन्त कर देता है, समाप्त कर देता है, (मृत्युः असि) तू उनके लिए मृत्युरूप है। (स्वप्न) हे स्वप्न! (तं त्वा) उस तुझको (तथा) उन गुणों वाला है (सं विद्म) यह हम सम्यक्तया जानते हैं। (स्वप्न) हे स्वप्न! (सः) वह तू (नः) हमें (दुःष्वप्न्यात्) दुःस्वप्न और उसके दुष्परिणामों से (पाहि) रक्षित कर।

[मन्त्र में "स्वप्न" से अभिप्राय है सात्त्विक स्वप्न। और दुःस्वप्न हैं राजसिक और तामसिक स्वप्न। जिस अनुपात से जीवन में सात्त्विक स्वप्न उत्पन्न होते रहते हैं, उसी अनुपात से राजसिक और तामसिक स्वप्नों का अन्त और मृत्यु होती जाती है। स्वप्न का सम्बोधन कविता शैली से है। इस प्रकरण की सामान्य व्याख्या अथर्व० १६.५ के समग्र सूक्त में तथा विशेष व्याख्या अथर्व० कां० १६. सूक्त ५.८-१० में कर दी गई है]।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति। एवा दुःष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (कलाम्) [कृष्णपक्ष की] चान्द्रकला को [एक-एक करके सूर्यरश्मियां] अमावास्या में (सं नयन्ति) ले जाती हैं, लीन कर देती हैं (यथा) जिस प्रकार [लोहकार] (शफम्) अश्व और बैल के खुर को लोहे की खुरी लगाने के लिए (सं नयन्ति) तरासते तथा छील कर अपगत करते हैं, (यथा) जिस प्रकार ऋणी पुरुष (ऋणम्) ऋण की राशि को शनैः शनैः (संनयन्ति) सम्प्रदान द्वारा समीकृत करते हैं, (एवा) इसी प्रकार (सर्वं दुष्वप्न्यम्) सब दुःस्वप्न और उसके दुष्परिणामों को (द्विषते) अप्रियपक्ष के लिए (संनयामसि) परस्पर मिलकर हम प्राप्त करते जाते हैं।

[द्विषते=**द्विष अप्रीतौ** (अदादिः), अर्थात् सात्त्विक स्वप्नों के द्वारा, दुःष्वप्न्यों के साथ हम प्रेम करना त्यागते जाते हैं, उन्हें द्वेषपक्ष में प्राप्त करते जाते हैं।

सूक्त ४७

ऋषिः—**अङ्गिराः; प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो विश्वकृद्विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम॥ १॥

अर्थ—(वैश्वानरः) सब नर-नारी रूप प्राणियों का हितकारी, (विश्वकृत्) विश्व का कर्त्ता, (विश्वशंभूः) समग्र जगत् में दुःख के शमन द्वारा सुखोत्पादक (अग्निः) सर्वाग्रणी, ज्ञानस्वरूप तथा पापदग्धा परमेश्वर (प्रातःसवने) ब्रह्मचर्य के २४ वर्ष पर्यन्त प्रातःसवन में (अस्मान्) हम ब्रह्मचारियों की (पातु) रक्षा करे। (सः) वह (पावकः) पवित्र करने वाला परमेश्वर (नः) हमें (द्रविणे) शारीरिक बल में, तथा वीर्य या प्राणरूपी धन में (दधातु) धारित-पोषित करे, (आयुष्मन्तः) ताकि हम दीर्घायु से सम्पन्न हुए (सहभक्षाः स्याम) ब्रह्मचर्याश्रम में परस्पर साथ मिल कर भोजन करने वाले हों।

[सायण भाष्य में मन्त्र का याज्ञिक अर्थ है। परन्तु ब्रह्मचर्य विषयक आधिभौतिक अर्थ निम्नलिखित

१. देवजामीनाम् पुत्रः=इन्द्रियों की वृत्तियों द्वारा उत्पादित चित्तवृत्तियों का पुत्र स्वप्न।

प्रमाण के आधार पर किया गया है। यथा "**पुरुषो वाव यज्ञः, तस्य यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत् प्रातःसवनम्, तदस्य वसवोऽन्वायताः प्राणा वाव वसवः, एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति॥ १॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत् माध्यन्दिनꣳसवनम्, तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति॥ ३॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्ववर्षाणि तत् तृतीयं सवनम्, तदस्यादित्या अन्वयत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते॥ ५॥** (छान्दोग्य ३.१६)। अर्थात् "पुरुषः" देह पुरि में शयन करने वाला जीवात्मा "यज्ञ" अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है। इस को अवश्य है कि २४ वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादि विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे। तो उस के शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास कराने वाले होते हैं॥ १॥

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है, जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रह कर वेदाभ्यास करता है उस के प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, और आत्मा बल युक्त हो के सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते हैं॥ ३॥

उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष पर्यन्त का तीसरे स्तर का होता है। जो ४८ वर्ष पर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है उस के प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं॥ ४॥

सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, दयानन्द।

अग्निः—**अग्रणीभर्वति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते-इति शाकपूणिः, इतात् अक्तात् दग्धाद्वा, नीतात्** (निरुक्त ७.४.१४)। द्रविणम्=**धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति, बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति** (निरुक्त ८.१.१)।

ऋषिः—**अङ्गिराः; प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्द्वितीये सवने न जह्युः।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ २॥

अर्थ—(विश्वे देवाः) सब इन्द्रियाँ, (मरुतः) प्राण (इन्द्रः) आत्मा (अस्मिन्, द्वितीये सवने) इस ४४ वर्षों के द्वितीय सवन अर्थात् रुद्र कोटि के ब्रह्मचर्य काल में (अस्मान्) हमें (न जह्युः) न त्यागें, अर्थात् यथावत् हमारे शरीरों में विद्यमान रहें। (आयुष्मन्तः) ताकि दीर्घायु से सम्पन्न हम (एषाम्) इन विश्वेदेव आदि के होते, (प्रियम्) परस्पर प्रेमयुक्त वाणी (वदन्तः) बोलते हुए (वयम्) हम (देवानाम्) गुरुदेवों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हों, रहें।

[प्रथम कोटि के ब्रह्मचारियों की संज्ञा है "वसु", द्वितीय कोटि के ब्रह्मचारियों की संज्ञा है "रुद्र"; (छान्दोग्य उपनिषद्, सन्दर्भ १३)। एषाम्="एषाम् सताम्" इन के विद्यमान रहते]।

ऋषिः—**अङ्गिराः; प्रचेताः; यमश्च;**॥ देवता—**सुधन्वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु॥ ३॥

अर्थ—(इदम्) यह (तृतीयम्) तीसरा (सवनम्) ब्रह्मचर्यकाल, (कवीनाम्) क्रान्तदर्शी मेधावी गुरुओं सम्बन्धी है, (ये) जिन्होंने (ऋतेन) सत्यज्ञान द्वारा (चमसम्) हमारे मस्तिष्क को (ऐरयन्त) प्रेरित किया है (ते) वे (सौधन्वनाः) उत्तम प्राण व धनुष् वाले गुरु (स्वः) सुख को या सुखस्वरूप

परमेश्वर को (आनशानाः) प्राप्त हुए, (वस्यः) वसुमत्तम अर्थात् प्रशस्त फल के (अभि) अभिलक्ष्य करके (नः) हमें (इष्टिम्) ब्रह्मचर्य-इष्टि अर्थात् ब्रह्मचर्य यज्ञ (सु नयन्तु) उत्तमता से प्राप्त कराएँ, सफलता पूर्वक समाप्त कराएँ॥ ३ ॥

[चमसम्=मस्तिष्क। यथा "**तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोषा महतो बभूवुः॥** (अथर्व १०.८.९)]

"अथाध्यात्मम्। तिर्यग्-बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपमज्ञासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोपत्रीणि महतो बभूवुरित्यात्मगतिमाचष्टे" (निरुक्त १२.४.४०; सप्त ऋषयः २५)।

चमस है मस्तिष्क। चमस अर्थात् "चमसा" पृष्ठ में उभरा होता है, और उदर भाग में मानो बड़े बिल वाला होता है। यही अवस्था मस्तिष्क और सुषुम्णादण्ड की होती है। चमचे में भी उसे पकड़ने के लिए हत्था होता है, जो कि दण्ड रूप होता है। मस्तिष्क उर्ध्वभाग में उभरा हुआ होता है, और निचले भाग में छिद्र वाला होता है, जिस में से सुषुम्णादण्ड निकल कर पीठ में फैला होता है। इस मस्तिष्क में ज्ञानरूपी यश निहित होता है, और सात ऋषि भी। सात ऋषि हैं पांच इन्द्रियाँ एक मन, और विद्या। ये सात महाशरीर के रक्षक हैं। अल्पभेद से यह मन्त्र अथर्ववेद में भी पठित है (१०.८.९) तथा (यजुः० ३४.५५)।

सौधन्वनाः=सुधन्वन् एव सौधन्वनः, स्वार्थे अण्। सुधन्वन् का अर्थ है उत्तमधनुष् वाला। उत्तमधनुष् है प्रणव, ओम्। यथा "**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा। ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्**" (मुण्डकोपनिषद् २.४)। अतः सौधन्वनाः का अभिप्राय है वे सद्गुरु जिन्होंने निज आत्माओं को शर अर्थात् बाण बना कर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को वेध कर तन्मय कर दिया है। ऐसे सद्गुरु तृतीय सवन में ब्रह्मचारियों को अध्यात्म ज्ञान ज्योति द्वारा आदित्य सदृश प्रकाशमान कर सकते हैं। वस्यः=वसीयः; ईयस् के ईकार का लोप। तैत्तिरीय में "वसीयः" पाठ है]।

सूक्त ४८

४८वाँ सूक्त भी ब्रह्मचर्यविषयक है। सूक्त द्वारा ब्रह्मचारी का उपनयन[1] करके आचार्य उसे दण्ड प्रदान करता है। [कौशिक सूत्र ५६,३४]।

ऋषिः—**अङ्गिराः; प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे। स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॥ १ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (श्येनः असि) श्येन पक्षी के सदृश तू शीघ्र गति वाला है, शीघ्र कार्यकारी है, (गायत्रच्छन्दाः) तू गायत्री छन्द वाला है, गायत्री छन्द द्वारा उपासनीय है, (अनु) तदनुसार (त्वा) तुझे (आरभे[2]) मैं ब्रह्मचारी उपासना में आलम्बन करता हूँ। (अस्य यज्ञस्य) इस ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ की (उदृचि) अन्तिम ऋचा तक अर्थात् वसुकाल के ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर्यन्त, (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याण मार्ग से (संवह) सम्यक् प्रकार से ले चल। (स्वाहा) वसु ब्रह्मचर्य काल के प्रारम्भिक यज्ञ में तथा ब्रह्मचर्य काल की समाप्ति में यज्ञ में आहुतियाँ गायत्री मन्त्रों द्वारा मैं करता हूँ।

---

१. उपनयन=उप(समीप में)+नयन (ले आना), अर्थात् निज आश्रम में ले आना। यह आश्रम है ब्रह्मचर्याश्रम।

२. त्वा आरभे=त्वाम् आलभे, आलम्बनं करोमि, उपासनायां ध्याने च।

[भक्तिपूर्वक उपासित परमेश्वर शीघ्र सफलता प्रदान करता है, अतः वह शीघ्र कार्यकारी है। यथा "**भक्तिविशेषादावर्जितः ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवति**" (ईश्वरप्रणिधानाद्वा, योग १.२३, पर व्यासभाष्य)। उदृचि-वसुकाल में जितनी ऋचाएँ पाठ्य हैं उन की समाप्ति हो जाने तक।

गायत्रच्छन्दाः=वसुकाल के ब्रह्मचर्य काल में गायत्री जप पूर्वक परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए। इसीलिए कहा है "**गायत्रं प्रातःसवनम्**" (छान्दोग्य ३.१६.१), प्रातःसवन है वसु ब्रह्मचर्य काल। इसी प्रकार "माध्यन्दिन सवन" अर्थात् रुद्र ब्रह्मचर्य काल में त्रिष्टुभ्-मन्त्र द्वारा परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए (छान्दोग्य ३.१६.३)। तथा तृतीय सवन अर्थात् आदित्य ब्रह्मचर्य काल में जगती मन्त्र द्वारा परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए (छान्दोग्य ३.१६.५)। इस भावना के अनुसार सूक्त ४८ के मन्त्र २ और ३ में जगच्छन्दाः और त्रिष्टुप्छन्दाः का कथन हुआ है। सायणाचार्य ने भी मन्त्र २ में "तृतीय सवन", और मन्त्र ३ में "माध्यन्दिन सवन" की व्याख्या की है।

त्वाऽऽरभे "त्वा" द्वारा परमेश्वर को कहा है, अतः उपासना में परमेश्वर को "आलम्बन रूप में वर्णित किया है। सूक्त ४७ के मन्त्र ३ में "सौधन्वनाः" द्वारा प्रणवध्यानी सद्गुरुओं का कथन हुआ है। वे ही सद्गुरु सूक्त ४८ के ब्रह्मचर्याश्रम में भी अभीष्ट हैं]।"

ऋषिः—**अङ्गिराः; प्रचेता; यमश्च**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥

ऋभुर॑सि जग॑च्छन्दा अनु त्वा र॑भे।
स्वस्ति मा सं व॑हास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॑॥ २॥

अर्थ—हे परमेश्वर ! (ऋभुः) उरुभान्त अर्थात् बहुत प्रदीप्त (असि) तू है, (जगच्छन्दाः) जगती छन्द वाली ऋचा द्वारा उपासनीय है, (अनु) तदनुसार (त्वा) मुझे (आरभे) उपासना में मैं ब्रह्मचारी आलम्बन करता हूँ। (अस्य) इस (यज्ञस्य) ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ की (उदृचि) अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् आदित्य काल में पठनीय ऋचाओं की समाप्ति पर्यन्त, (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याणमार्ग से (सं वह) सम्यक् प्रकार से ले चल। (स्वाहा) आदित्य ब्रह्मचर्य काल की समाप्ति में यज्ञ में आहुतियां जगती छन्द के मन्त्रों द्वारा मैं करता हूँ।

[ऋभुः=उरुभासमानः। यथा "**ऋभव उरु भान्तीति वा**" (निरुक्त ११.२.१५; ऋभवः १०)। वसु काल से परमेश्वर में ध्यानाभ्यास द्वारा अदित्य काल में परमेश्वर निज अग्र प्रकाश में प्रकाशित होने लगता है।]

ऋषिः—**अङ्गिराः; प्रचेताः; यमश्च**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥

वृषा॑सि त्रिष्टुप्छ॑न्दा अनु त्वा र॑भे। स्वस्ति मा सं व॑हास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा॑॥ ३॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (वृषा) सुखों की वर्षा करने वाला (असि) तू है, (त्रिष्टुप्छन्दाः) त्रिष्टुप् छन्द वाली ऋचा द्वारा उपासनीय है। (अनु) तदनुसार (त्वा) तुझे (आरभे) उपासना में मैं ब्रह्मचारी आलम्बन करता हूँ। (अस्य) इस (यज्ञस्य) ब्रह्मचर्यरूपी यज्ञ की (उदृचि) अन्तिम ऋचा तक अर्थात् रुद्रकाल के ब्रह्मचर्य में पठनीय ऋचाओं की समाप्ति तक, (मा) मुझे (स्वस्ति) कल्याण मार्ग से (सं वह) सम्यक् प्रकार से ले चल। (स्वाहा) रुद्रब्रह्मचर्य की समाप्ति में आहुतियाँ त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों द्वारा करता हूँ।

सूक्त ४९

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश मर्त्यः। कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव॥ १ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर अग्नि! (ते) तेरे (तन्वः) विस्तृत प्रकाश-स्वरूप की (क्रूरम्) तीक्ष्णता[१] को (मर्त्यः) मरणधर्मा[१] मनुष्य (नहि) नहीं (आनंश) प्राप्त होता। (कपिः) उदक का पान करने वाले आदित्य सदृश तेजस्वी परमेश्वर अग्नि, (तेजनम्) आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा तेजस्वी व्यक्ति को (बभस्ति) निजस्वरूप के प्रकाश द्वारा प्रदीप्त अर्थात् प्रकाशित कर देता है, (इव) जैसे (गौः) गौ (जरायु) जरायुज वत्स को (बभस्ति) प्रदीप्त अर्थात् प्रकाशित कर देती है।

[सूक्त ४९ के तीनों मन्त्र दुरूह हैं। तथापि यथासम्भव बुद्धिग्राह्य अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं। अग्नि है सर्वाग्रणी परमेश्वर। सूक्त ४८ के मन्त्र २ में "ऋभु" पद द्वारा परमेश्वर को "उरु भासमान अर्थात् प्रकाश वाला कहा है"। प्रकाश के "उरुपन" को व्याख्येय मन्त्र में "क्रूरम्" कहा है। सामान्य मनुष्य[१] प्रकाश के इस उरुपन को प्राप्त नहीं होता। मन्त्र में अग्नि को ही "कपि" कहा है। कपिः=कम्, उदकम्, पिबतीति (सायण) द्वारा कपि है आदित्य। मन्त्र में आदित्य द्वारा परमेश्वराग्नि अभिप्रेत है। मन्त्र में "जरायु" पद जरायुज "वत्स" अभिप्रेत है। यथा "**सृण्येव जर्भरी**" (ऋ० १०.१०६.६) मन्त्र में जरायु है "**जरायुजं शरीरम्**" (निरुक्त १३.१.५)। गौ उत्पन्न वत्स को चाट कर उसके शरीर को प्रदीप्त कर देती है, उज्ज्वल कर देती है। बभस्ति=**भस भर्त्सनदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः) मन्त्र में दीप्ति अर्थ अभिप्रेत है]।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मेष इव वै सं च वि चोर्वच्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः।
शीर्ष्णा शिरोप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून्बभस्ति हरितेभिरासभिः॥ २ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (मेषः) मेष की (इव) तरह तू (वै) निश्चय से (उरु) बहुत (सम्, अच्यसे) संगत होता है, (वि च अच्यसे) और संगति से विरहित होता है, (यत्) जब कि (उत्तरद्रौ) उत्कृष्ट द्रुम अर्थात् वृक्ष में (उपरः) मेघ (च) और तू [आदित्यरूप में] अर्थात् तुम दोनों (खादतः) खाते हो। (शीर्ष्णा शिरः) सिर के साथ सिर को, (अप्ससा[२] अप्सः[३])रूप के साथ रूप को [उपमित करता हुआ] परमेश्वर (हरितेभिः आसभिः) हरे वृक्षों रूपी मुखों द्वारा (अंशून्) रश्मियों को (अर्दयन्) हिंसित करता हुआ, चबाता हुआ (बभस्ति) खाता है।

[मेष द्वारा मेषराशि अभिप्रेत है। मेषराशि का संगम सूर्य के साथ चैत्रमास में होता है, तब वर्ष का आरम्भ होता है, तत्पश्चात् मेष राशि का संगम सूर्य से रहित हो जाता है, और सूर्य वृषराशि में चला जाता

---

१. जीवन्मुक्त ही इस प्रकाश की तीक्ष्णता को प्राप्त कर सकता है।

२. अप्सा=यथा "**नक्षत्राणि रूपम्**" (यजुः० ३१.२२), परमेश्वर नक्षत्रों के रूप द्वारा निजरूप को उपमित करता हुआ। आदित्य भी नक्षत्र है। यथा "**नक्षत्रमजरमा सूर्यम्**" (ऋ० १०.१५६.४); अर्थात् सूर्य है नक्षत्र। स्वस्थ आंख द्वारा जितने नक्षत्र द्युलोक में दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब सूर्य हैं। वे स्वतः प्रकाशी है। परमेश्वर भी तद्वत् स्वतः प्रकाशी है। इसलिए परमेश्वर को "आदित्यवर्णम्" भी कहा है। यथा "**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**" (यजुः० ३१.१८)। तथा "**नक्षत्राणि रूपम्**" भी (यजुः० ३१.२२)।

३. अपः अपस्=रूपनाम। यथा "**अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति**" (निरुक्त ५.३.१३)। **प्सा भक्षणे** (अदादिः)।

है। इसी प्रकार परमेश्वर का संगम मेष अर्थात् उन्मिषित जगत् के साथ सृष्टि काल में होता है। यथा **"विश्वस्य मिषतो वशी"** (ऋ० १०.१९०.२)। **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** (ऋ० १०.१९०.३)। इस प्रकार उन्मिषित जगत् को मेष कहा है। तदनन्तर प्रलय काल में परमेश्वर का संगम सृष्ट जगत् से छूट जाता है, और मेष अर्थात् निमिषित जगत् परमेश्वर के संगम से रहित हो जाता है।

उत्तरद्रौ; उत्तरद्रु है उत्तरद्रुम, उत्तरवृक्ष (उणा० १.३५, दयानन्द)। यह है "श्रेष्ठवृक्ष," ब्रह्माण्ड। ब्रह्माण्ड है अश्वत्थ वृक्ष। यथा **"अश्वत्थे[1] वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता"** (यजुः० ३५.४)। इस अश्वत्थ ब्रह्माण्ड में "उपर" अर्थात् मेघ (**उपरः मेघनाम;** निघं १.१०) और आदित्य, जलरूपी अन्न खाते हैं। आदित्य है परमेश्वर का शरीर, जिस में परमेश्वर बसा हुआ है, जैसे शरीर में जीवात्मा। इसलिए आदित्य द्वारा खाना है आदित्यस्थ परमेश्वर का खाना जैसे शरीर द्वारा खाना है शरीरस्थ जीवात्मा का खाना। अतः कहा है **"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥"** (यजुः० ४०.१७) [उपर अर्थात् मेघ, जलरूपी अन्न को खाता ही है, और आदित्य भी निज रश्मियों द्वारा जल का पान करता रहता है, यह है आदित्य का जलान्न का खाना।]

शीर्ष्णा शिरः; यथा **"शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत"** (यजुः० ३१.१३), अर्थात् परमेश्वर-पुरुष के काल्पनिक (यजुः० ३१.१३, अकल्पयन्) "शिरः" से द्यौ प्रकट हुई है। द्यौ को ब्रह्माण्ड का "शिरः" कहा है। व्याख्येय मन्त्र में द्यौ रूपी "शिर" से परमेश्वर-पुरुष के "शिरः" को उपमित किया है। अप्सा अप्सः=अप्सस् का अर्थ है रूप। (**अप्सः रूपनाम,** निघं० ३.७)। द्यौः, अग्नि द्वारा प्रकाशमान है, इसी प्रकार परमेश्वर-पुरुष ज्ञानाग्नि द्वारा प्रकाशमान है। इस प्रकार द्यौ के अग्निरूपी रूप द्वारा परमेश्वर-पुरुष के रूप अर्थात् स्वरूप, अर्थात् निज रूप को उपमित किया है।

हरितेभिः आसभिः, आसभिः=आस्यैः, मुखैः। प्रत्येक हरा वृक्ष मानों परमेश्वर का आस्य है, मुख है। हरितेभिः में बहुवचन है, अतः आसभिः में भी बहुवचन है। प्रत्येक हरा वृक्ष "अंशून्" अर्थात् सूर्य की रश्मियों को खा कर अर्थात् निज स्वरूप में विलीन कर हरा होता है। वृक्षों, वनस्पतियों में हरापन सूर्य की रश्मियों के कारण होता है। यथा **"अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता। तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्त्रजः"** (अथर्व० १०.८.३१), अर्थात् "अविः" सूर्यपरिवार का रक्षक सूर्य, ऋत अर्थात् जल के आवरण द्वारा घिरा हुआ है, उसके रूप द्वारा ये वृक्ष हरे हैं, और हरी लताओं को मालारूप में धारण किये हुए हैं। हरे वृक्षों में व्यापक परमेश्वर मानो हरे वृक्ष रूपी सुखों द्वारा "अंशून्" अर्थात् सूर्य की रश्मियों को खाता है। **ऋतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)।

"अर्दयन् बभस्तिः" **अर्द हिंसायाम्** (चुरादिः); **बभस्तिरत्तिकर्मा** (निरुक्त ५.२.१२)। इन शब्दों द्वारा भक्षणक्रिया के प्रक्रम का निर्देश किया है। भक्षण में भक्ष्य को मुख में डाल कर उसके स्वरूप की हिंसा की जाती है, दान्तों द्वारा चबा कर उसके स्वरूप को विकृत किया जाता है, तत्पश्चात् उसे गले द्वारा उदर में पहुँचा दिया जाता है। यह है भक्षण प्रक्रम। परमेश्वर के आस्य हैं हरे वृक्ष, परमेश्वर इन आस्यों द्वारा अंशुओं, सूर्य की रश्मियों को मानो प्रथम चबाता, और उनके स्वरूपों को शक्ति में विकृत कर, हरे वृक्षों के शरीरों में विलीन कर लेता है। हरे वृक्षों के हरे पत्ते तो आस्यरूप हैं, और वृक्ष शरीररूप हैं]।

१. हे जीवो! जगदीश्वर ने (अश्वत्थे) कल ठहरेगा या नहीं ऐसे अनित्य संसार में (वः) तुम लोगों की (निषदनम्) स्थिति की, (पर्णे) पत्ते के तुल्य चंचल जीवन [शरीर] में (वः) तुम्हारी (वसतिः) निवास (कृता) किया [है] (दयानन्द)।

ऋषिः—गार्ग्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः॥ ३॥

अर्थ—(सुपर्णाः) सुपतनशील अथवा उत्तमपालक सूर्य की रश्मियां, (वाचम्, अक्रत) ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं (उप द्यवि) समीप के द्युलोक में; (कृष्णाः) कृष्णवर्ण वाली या आकर्षण गुण वाली रश्मियाँ (इषिराः) गतिशील हुईं (आखरे) अन्तरिक्ष में (अनर्तिषुः) नाच करती हैं। सूर्य रश्मियां (यत्=यदा) जब (नियन्ति) नीचे भूमि तक नियम से पहुंचती हैं, तब (उपरस्य) मेघ के (निष्कृतिम्) निर्माण को करती हैं, (सूर्यश्रितः) सूर्य के आश्रय पाई हुईं रश्मियाँ (पुरु रेतः) बहुत शक्ति को, या बहुत जल को (दधिरे) धारण करती हैं।

[सुपर्णाः=**सुपतना आदित्यरश्मयः** (निरुक्त ३.२.१२; तथा ४.१.३)। तथा सु+**पॄ पालने** (जुहोत्यादिः)। वाचमक्रत=रश्मियाँ "अतिगति" शील होती हैं, ये ८ मिनटों में लगभग १० करोड़ मील के वेग से गति करती हैं। द्युलोक के तथा अन्तरिक्ष के पदार्थों के साथ टकराकर ये शब्द करती हैं। दिव्यश्रोत्र सम्पन्न योगियों को ये शब्द सुनाई देते हैं। (**श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्;** योग ३.४१)।

आखरे=आ+**खनु अवदारणे** (भ्वादिः,+डरः) (**डरो वक्तव्यः**, वार्तिक, अष्टा० २.४.८०)। आखर है अन्तरिक्ष, आखर सब ओर खुदा हुआ सा स्थान है। अन्तरिक्ष का भी अर्थ बीच में खुदा हुआ। अन्तरि+**क्षनु हिंसायाम्**+डः। अनतिषुः=जैसे वेगवती नदी की, तथा समुद्र की तरंगें उछलती हुई, ऊपर-नीचे होती हुई, प्रवाहित होती हुईं, बहती हुई, नाचती सी प्रतीत होती हैं, वैसे अतिवेग से चलती हुई, सूर्य रश्मियाँ भी तरङ्गों में तरङ्गित हुई नाचती सी हैं। ये रश्मियाँ मेघ का निर्माण करती हैं, समुद्रादि से जल का आकर्ष कर के। ये रश्मियाँ जब स्थूलपदार्थ के साथ टकराती हैं तब प्रकाशमयी हो जाती हैं। **रेतः उदकनाम** (निघं० १.१२), तथा वीर्य शक्ति, वीर्यवान् पुरुष ही शक्ति वाला होता है। **उपरः मेघनाम** (निघं० १.१०)]।

सूक्त ५०

ऋषिः—अथर्वा (अभयकामः)॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराड्जगती॥

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम्।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय॥ १॥

अर्थ—(अश्विनौ) हे दो अश्वियो! (तर्दम्) धान्य की हिंसा करने वाले, (समङ्कम्) शीघ्र भाग जाने वाले (आखुम्) चूहे को (हतम्) मारो, (शिरः छिन्तम्) सिर को काट डालो, (अपि पृष्टीः) पसलियों को भी (शृणीतम्) कुचल डालो। ताकि (यवान्) जौं को (न, इत्, आदान्) न खाएँ (अपि नह्यतम्, मुखम्) मुख को भी बाँध दो, (अथ) तदनन्तर (धान्याय) धान्य के लिए (अभयम् कृणुतम्) अभय प्रदान करो।

[अश्विनौ=सायण ने दो अश्विनौ[1] को देवौ माना है। क्या देव आए चूहे को मारने और बान्धने के

१. तथा अश्विनौ=**"पुण्यकृतौ राजानौ"** (निरुक्त १२.१.१)। राजानौ=राजा और राजपत्नी, तथा राजा और प्रधानमन्त्री। पुण्यकृतौ राजानौ, प्रजा और प्रजा की सम्पत्ति की रक्षा निःस्वार्थ भावना से करते हैं। राष्ट्र का धान्य, जिस पर कि

लिए सन्नद्ध रहेंगे। अश्विनौ से अभिप्राय है गृहवासी पति-और-पत्नी। निरुक्त के अनुसार अश्विनौ हैं "**द्यावापृथिव्यौ**" (निरुक्त १२.१.१), और द्यावापृथिव्यौ हैं विवाहित पति-पत्नी। यथा "**द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै**" (अथर्व० १४.२.७१)। मन्त्र में अतिशयोक्ति है चूहे के सम्बन्ध में। तर्दम्=**तर्द हिंसायाम्** (भ्वादिः)। छिन्तम्=**छिदिर् द्वैधीकरणे** (रुधादिः)]

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

तर्द है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस।

ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान्यवानहिंसन्तो अपोदित॥ २॥

अर्थ—(है) हे (तर्द) हिंसक! (है) हे (पतङ्ग) पतङ्गे के सदृश शीघ्रगतिक! (जभ्य) हे हिंस्य! (हा=है) हे (उपक्वस=उप+कु+अस) ओ! लगभग कुत्सित गति अर्थात् चाल वाले आखु! चूहे! (हविः) हवि को (अनदन्तः) न खाते हुए (इमान् यवान्) इन जौं की (अहिंसन्तः) हिंसा न करते हुए (अपोदित) अपगत हो जाओ, भाग जाओ। (ब्रह्म इव हविः) ब्रह्म के सदृश यज्ञियहविः अन्न (असंस्थितम्) अनश्वर है [तुझ द्वारा खाया नहीं जा सकता, अतः सुरक्षित है]। तर्द, पतङ्ग आदि में जात्येकवचन है। उपक्वस में "अस" का अर्थ है, "गति" (भ्वादिः)। अथवा "**ब्रह्म अन्ननाम**" (निघं० २.७); अर्थात् जैसे हमारा खाद्य-अन्न सुरक्षित है, वैसे यज्ञयोग्य हविः अन्न भी सुरक्षित है इसे आखु खा नहीं सकता।

[अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जब नया अन्न, कृषि से प्राप्त हो, तब इस के दो विभाग कर "नवसस्येष्टि" तथा अन्य यज्ञों के लिए एक विभाग अलग रख लेना चाहिए, और खाद्य अन्न का विभाग उस से अलग। पतङ्ग=पतन् गच्छतीति, जो उड़ता हुआ जाता है, पतङ्ग]।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे।

य आरण्या व्यद्वरा ये के च स्थ व्यद्वरास्तान्त्सर्वाञ्जम्भयामसि॥ ३॥

अर्थ—(तर्दापते) हे हिंसक [आखुओं] के पति! (वघापते) हे आक्षेप योग्य, निन्दनीय, गतियों वालों के पति! (तृष्टजम्भाः) हे तीक्ष्णदाढ़ों वालो! तुम (मे) मेरे वचन को (आशृणोत) सुनो कि (ये) जो (आरण्याः) अरण्यवर्ती (व्यद्वराः) विविध अन्नों के खाने वाले, (च) और (ये, के) जो कोई (व्यद्वराः) ग्रामवर्ती हुए विविध अन्नों के खाने वाले (स्थ) तुम हो, (तान्, सर्वान्) उन सब का (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं। [वघापते=वघ् (क्विप्, कर्तरि, षष्ठी बहुवचन)। **वघि गत्याक्षेपे** (भ्वादिः)।

तथा

इन तीनों मन्त्रों में प्रायः आखुओं का वर्णन है। आखु="**विभवे सति नैवात्ति न ददाति जुहोति च तमाहुराखुः**" (आप्टे) तथा (thief) अर्थात् चोर (आप्टे)। अर्थात् धन के होते जो न खाता, न दान करता, न यज्ञ करता, उसे आखु कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को धान्य के खाने से वञ्चित कर भूखे मार देना चाहिए। ये चाहे अरण्यवासी हों, या ग्रामवासी हों, इन्हें मन्त्रोक्त दण्ड देने चाहिएँ, तथा सामाजिक

प्रजा का जीवन अवलम्बित है उस की रक्षा, महापुण्य का काम है। ये अश्विनौ आखु आदि का विनाश कर प्रजा को जीवित रखते हैं।

जीवन से पृथक् कर देना चाहिए (अपोदित मन्त्र २)। ऐसे व्यक्ति चोर हैं, समाज के धन को चुरा कर विभवशाली हुए हैं। इन चोरों को दण्ड देना ही चाहिए। मन्त्रार्थ ऐसे ही आखुओं तथा चोरों के सम्बन्ध में सार्थक प्रतीत होते हैं। पुरुष-आखुओं के सम्बन्ध में कहा है **"एष ते रुद्रभाग....आखुस्ते पशुः"** (यजुः० ३.५७), अर्थात् पुरुष-आखु, रुद्र रूप परमेश्वर का भाग है और उसका पशु है। तभी उस पशु के लिए इन मन्त्रों में कठोर दण्ड का विधान हुआ है। इसी प्रकार यज्ञ न करने वाले को गीता में भी स्तेन अर्थात् चोर कहा है। यथा **"इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः"** (३.१२)]।

सूक्त ५१

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १ ॥

अर्थ—(वायोः, पवित्रेण) वायुरूपी पवित्रता के साधन द्वारा (पूतः) पवित्र हुआ, (अति द्रुतः) अतिद्रवित (सोमः) वीर्य (प्रत्यङ्) प्रत्येक अङ्ग में गति करता है। यह (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः) साथ जुता (सखा) मित्र है। प्रत्यङ्=प्रति (प्रत्येक अङ्ग में)+**अञ्चु गतौ**।

[सोमः=सु [षु] **प्रसवे** (भ्वादिः)+मन् (प्रत्यय, उणा० १.१४०)। अतः सुमन् Semen (वीर्य) देखो (अथर्व० १४.१.३-५) मत्कृत भाष्य। सोम (वीर्य) का सम्बन्ध वायु के साथ है यथा **"वायुः सोमस्य रक्षिता"** (अथर्व० १४.१.४); प्राणायाम सम्बन्धी वायु सोम (वीर्य) की रक्षा करती है। रक्त में सुरक्षित हुआ सोम अतिद्रवित हुआ रक्त में विलीन रहता है, और रक्त के साथ प्रत्येक अङ्ग में गति करता है, स्थूल रूप में प्रकट हुआ सोम शरीर से प्रच्युत हो जाता है, शरीर में ठहर नहीं सकता। इन्द्र है जीवात्मा। यथा **"इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्"** (अष्टा० ५.२.९३)। शरीर रथ में सोम, इन्द्र [जीवात्मा] के साथ जुता हुआ, शरीर रथ का संचालन करता है। वीर्य के अभाव में शरीर रथ का संचालन नहीं हो सकता। युज्यः का अर्थ है जुता हुआ, न कि "योग्य"। अन्यथा मन्त्र में "योग्यः" पद ही पठित होता। "सखा" द्वारा शरीर के सम्यक्तया संचालन में "सोम और इन्द्र" में पारस्परिक सहयोग और सांमनस्य सूचित किया है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥ २ ॥

अर्थ—(मातरः) माताओं की तरह (आपः) जल (अस्मान्) हमें (सूदयन्तु) प्रक्षालित करें, शुद्ध करें। (घृतप्वः) घृत की तरह पवित्र करने वाले (नः) हमें (घृतेन) घृत सदृश जल द्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें। (देवीः) दिव्य गुणों वाले जल (विश्वम्, रिप्रम्) सब पाप को (प्रवहन्ति) प्रवाहित कर देते हैं। (शुचिः) शुद्ध तथा (पूतः) पवित्र हुआ, (आभ्यः) इन जलों से (उद् इत्) उठ कर (आ एमि) मैं आता हूँ।

["मातरः" माताएँ जैसे निजबच्चों के मलों को धोकर उन्हें शुद्ध करती हैं, वैसे जल हमारे मलों को क्षारित कर हमें शुद्ध करें। ये मल हैं पाप जन्य चित्तनिष्ठ संस्कार तथा तज्जन्य शारीरिक और मानसिक

रोग।

मन्त्र में प्रतिदिन स्नान या जल चिकित्सा का वर्णन है। यह जल तीन प्रकार का है। (१) भूमिष्ठ, जिसमें कि भौमतत्त्व मिले रहते हैं। (२) दूसरा है वर्षाजल जिसे कि "घृत" सदृश पवित्र या क्षरित कहा है, **घृ क्षरणे** (जुहोत्यादिः), यह भौमजल की अपेक्षा शुद्ध होता है। (३) तीसरा है प्रवाहित नदी जल, जिस में बैठ कर जल चिकित्सा करने से शारीरिक मल साथ-साथ प्रवाहित होता रहता है, जब कि टब के जल में जल चिकित्सा करने से शारीरिक मल जल में ही मिला रहता है।

सूदयन्तु=**षूद क्षरणे** (भ्वादिः, णिच्गर्भित प्रयोग। घृतेन=**घृतम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। घृतप्वः= घृत (उदक)+**पूङ् पवने** (भ्वादिः)। यजुः० ४.२ में भी "घृतप्वः" पाठ है। मन्त्र में "शुचि" द्वारा मानसिक और "पूत" द्वारा शारीरिक शुद्धि का कथन हुआ है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरन्ति।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥ ३॥

अर्थ—(वरुण) हे पापनिवारक परमेश्वर! (मनुष्याः) मनुष्य (दैव्ये जने) देव कोटि के जनों के प्रति (यत् किं च) जो कुछ (इदम्) यह (अभिद्रोहम्) द्रोह (चरन्ति) करते हैं, तथा (अचित्त्या) भूल के कारण (चेत्) यदि (तव) हे वरुण! तुझ द्वारा निर्दिष्ट (धर्मा=धर्माणि) धर्मकर्मों का (युयोपिम) हम ने उल्लंघन किया है, तो (देव) हे देव! (तस्मात् एनसः) उस पाप से (नः) हमें (मा) न (रीरिषः) हिंसित कर।

[हम मनुष्यों द्वारा किसी भी देवकोटि के जन के प्रति किये द्रोह से; तथा भूल के कारण स्वयं ज्ञानियों द्वारा हुए सत्कर्मों के उल्लंघन से, परमेश्वर से क्षमा चाहते हैं। यह मानुष स्वभाव ही है। वेद में वरुण को "अपामधिपति" भी कहा है (अथर्व० ५.२४.४)। अतः "आपः" प्रकरण में वरुण नाम से परमेश्वर तथा आपः दोनों का कथन किया है]।

पञ्चम अनुवाक समाप्त॥

अथ चतुर्दशः प्रपाठकः

अनुवाक ६

सूक्त ५२

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्। आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥ १॥

अर्थ—(रक्षांसि) अन्धकार, चोर, रोगजनक कीटाणुओं आदि की (निजूर्वन्) नितरां हिंसा करता हुआ (सूर्यः) सर्व प्रेरक सूर्य (पुरः) पूर्व दिशा में (दिवः) द्युलोक के प्रकाशित प्रदेश से (उत् एति) उदित होता है। (आदित्यः) वह आदित्य (विश्वदृष्टः) सब द्वारा दृष्टिगोचर हुआ है, और (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से उदित होता है, और (अदृष्टहा) अदृष्ट क्रिमियों का हनन करता है।

[सूर्य पर्वतीय प्रदेशों में पर्वतों से, तथा तद्भिन्न प्रदेशों में प्रकाशित द्युभागों से उदित होता है। उदित होने से पूर्व सौरप्रभा से पूर्व का भाग प्रकाशित हो जाता है। सूर्य की उदय काल की तथा सायंकाल की,

लाल रश्मियाँ रोग कीटाणुओं [क्रिमियों] का हनन करती हैं (अथर्व० २.३२.१)। अदृष्टहा (अथर्व० २.३१.२)। निजूर्वत्=**जुर्वी हिंसायाम्** (सायण)]।

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत।

न्यू३र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत॥ २ ॥

अर्थ—(गावः) सूर्य की रश्मियां (गोष्ठे) रश्मियों के स्थान सूर्य में (नि असदन्) नितरां स्थित हो गई हैं, (मृगासः) स्थान का अन्वेषण करने वाली रश्मियों ने (नि) नितरां (अविक्षत) निज स्थान में प्रवेश पा लिया है। (नदीनाम्) स्तुति करने वाली प्रजाओं की (ऊर्मयः) प्रातःकालीन स्तुति तरङ्गों ने (नि) नितरां (अलिप्सत[१])प्रापणीय परमेश्वर को प्राप्त करना चाहा है, (अदृष्टाः) तथा अदृष्ट अर्थात् भावीकाल में होने वाली प्रातःकालीन स्तुति तरङ्गें भी परमेश्वर को स्तुति काल में पाती रहेंगी।

[मृगासः=**मृगाणां मार्गणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्** (निरुक्त १३ (१४)। २ (१)। ७२ (१४), निरुक्त अतिस्तुति प्रकरण। गावः="**सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते—ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः**" (ऋ० १.१५४.६) (निरुक्त २.२.८)। "मृगासः" द्वारा उन रश्मियों का कथन हुआ है जो कि प्रवेश के लिए स्थान का अभी अन्वेषण कर रही थीं। ये भावी काल की अर्थात् आने वाले दिनों की रश्मियाँ हैं, उनके सम्बन्ध में भी सन्तोष प्रकट किया है कि "उन्होंने भी नितरां निज स्थान में प्रवेश पा लिया है"। इस प्रकार की विचित्र उक्तियां वेदों में पाई जाती है। गोष्ठे=गौः (सूर्य रश्मियां)+ष्ठ (उन की स्थिति का स्थान सूर्य)। नदीनाम्; "**नदः स्तोतृनाम**" (निघं० ३.१६)। "नदी" पद "नदः" का स्त्रीलिङ्गी रूप है, जो कि स्त्रीलिङ्गी स्तोताओं का निर्देशक है। अतः "प्रजा" अर्थ किया है। "ऊर्मयः" स्तुति तरङ्गें हैं, एतर्थ देखो यजुः० (१७.९३, ९९)। मृगाणाम्=**मृग अन्वेषणे** (चुरादिः)। मन्त्र में उदित हो गये सूर्य के सम-काल की घटनाओं का कथन किया है]।

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।

आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान्नि शमयत्॥ ३ ॥

अर्थ—(आयुर्ददम्) पूर्ण आयुःप्रद, (विपश्चितम्) मेधा का चयन करने वाली (श्रुताम्) श्रुति अर्थात् वेद में सुनी गई, कथित हुई, (कण्वस्य) कण्व नामक रोग कीटाणु सम्बन्धी (वीरुधम्) लता को, (विश्वभेषजीम्) जो कि सब प्रकार के रोगों की औषधरूप है उस को (आ भारिषम्) मैं लाया हूँ, (अस्य) जो कि इस रोगी के (अदृष्टान्) अदृष्ट अर्थात् अति सूक्ष्म क्रिमियों को (नि शमयत्) नितरां शान्त कर देगी।

[कण्व हैं कण्व सदृश गोल और चक्षु के अगोचर क्रिमी अर्थात् रोग जनक कीटाणु। औषध को कण्व जम्भणी भी कहा है, अर्थात् कण्व का विनाश करने वाली (अथर्व० २.२५.१)। अथर्व० २.२५.१ में इसे "पृश्निपर्णी" कहा है। **विपः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)]।

१. लब्धुम् ऐच्छन् (सायण)।

सूक्त ५३

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन्दक्षिणया पिपर्तु।

अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च॥ १॥

अर्थ—(प्रचेतसौ) प्रकृष्ट चेतना देने वाले (द्यौः च पृथिवी च) द्युलोक और पृथिवी लोक (मे) मुझे (इदम्) यह [प्रचैतन्य] प्रदान करें, (बृहन् शुक्रः) बड़ा सूर्य (दक्षिणया) वृद्धि द्वारा (पिपर्तु) मेरा पालन करें; (स्वधा) अन्न (अनु चिकिताम्) निरन्तर ज्ञानप्रद हो, (सोमः, अग्निः, वायुः, सविता, च भगः) चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सविता, और उदीयमान सूर्य, [इन में से प्रत्येक] (नः पातु) हमारी रक्षा करे।

[दक्षिणया=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)। **स्वधा अन्ननाम** (निघं० २.७), सात्विक अन्न ज्ञानप्रद होता है, राजस चञ्चलताप्रद और तामस शारीरिक बलप्रद। शुक्रः=प्रदीप्त सूर्य; सविता=प्रत्यग्र उदित सूर्य; भगः=अनुदित परन्तु उदीयमान सूर्य (निरुक्त)। परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि ये सब हमारा पालन करें]।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।

वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा॥ २॥

अर्थ—(पुनः) फिर (प्राणः) प्राण, (पुनः) फिर (आत्मा) आत्मा (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो; (पुनः) फिर (चक्षुः) चक्षु (पुनः) फिर (असुः) असु (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो; (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (अदब्धः) अहिंसित तथा (तनूपाः) तनू का रक्षक परमेश्वर या शारीरिक अग्नि (विश्वा दुरितानि) सब दुष्फलों का निवारण करता हुआ (नः अन्तः) हमारे भीतर अर्थात् शरीर में (तिष्ठाति) स्थित रहे।

[मन्त्र में पुनर्जन्म के लिए इच्छा प्रकट की गई है। प्राण है श्वासप्रश्वास, और असु है शरीर और शरीराङ्गों में संचारी प्राण]।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।

त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद्विरिष्टम्॥ ३॥

अर्थ—(वर्चसा) शारीरिक कान्ति और (पयसा) माता के दूध के (सम्, अगन्महि) साथ हम संगत हुए हैं, (तनूभिः) स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तनुओं, अथवा तनू के सर्वाङ्गों के साथ (सम्) हम संगत हुए हैं, (शिवेन, मनसा) शिव-संकल्पों वाले मन के साथ (सम्) हम संगत हुए हैं। (त्वष्टा) कारीगर अर्थात् जगत् का घड़ने वाला परमेश्वर (अत्र) इस नवजीवन में (वरीयः) उरुतम उद्देश्य (कृणोतु) सफल करे, तथा (तन्वः) तनु सम्बन्धी (नः) हमारा (यद्) जो (विरिष्टम्) क्षतविक्षत है उसे (अनुमार्ष्टु) अनुकूल रूप में शुद्ध करे, ठीक करे।

[पुनर्जन्म हो जाने पर यह प्रार्थना परमेश्वर से की गई है। उरुतम उद्देश्य है, मोक्ष प्राप्ति]।

सूक्त ५४

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इदं तद्युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम्॥ १॥

अर्थ—(उत्तरम्) सर्वोत्कृष्ट (इन्द्रम्)[1] इस पुरुष को सम्राट् रूप में (इदम्, तत्) यह मैं[2] (युजे) अर्थात् साम्राज्य-शकट की धुरा में युक्त[3] करता हूँ, जोतता हूँ, (अष्टये) फल की प्राप्ति के लिए (शुम्भामि) इसे माला आदि द्वारा मैं सुशोभित करता हूं। हे परमेश्वर! (अस्य) इसके (क्षत्रम्) क्षतों से त्राण करने के बल को तथा (महीम्) महती (श्रियम्) सम्पत्ति को (वर्धय) तू बढ़ा, (इव) जैसे (वृष्टिः) वर्षा (तृणम्) घास को बढ़ाती है।

[उत्कृष्ट-पुरुष को सम्राट् बनाने के लिए पुरोहित[2] का कथन मन्त्र में हुआ है। "इदम्, तत्" ये दो पद वाक्यालंकार रूप में हैं। अष्टये=**अस गतिदीप्त्यादानेषु, अष इत्येके;** फलादान अर्थ अभिप्रेत है। **अशूङ् व्याप्तौ** (सायण)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम्। इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम्॥ २॥

अर्थ—(अग्नीषोमौ) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! तथा हे सेनाध्यक्ष! (अस्मै) इस सम्राट् के लिए (क्षत्रम्) क्षात्रबल को, तथा (अस्मै) इसके लिए (रयिम्) धन को (धारयतम्) सम्पुष्ट करो। (राष्ट्रस्य) राष्ट्र की (अभीवर्गे) चारों ओर की परिधि में (इमम्) इसे (उत्तरम्) सर्वोत्कृष्ट (कृणुतम्) करो, एतदर्थ (युजे) मैं पुरोहित इसे राष्ट्र की धुरा में युक्त[4] करता हूँ, जोतता हूँ।

[अग्नि तो रयि द्वारा पुष्ट करेगा, और सोम क्षात्रबल द्वारा। अग्नि है अग्रणी (निरुक्त ७.४.१४), तथा सोम है सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०)। अग्नीषोमौ=उभयपद द्विवचन। वैदिक प्रथा]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

अर्थ—(सबन्धुः च असबन्धुः च) सम्बन्धी और न सम्बन्धी (यः) जो भी (अस्मान्) हमें (अभिदासति) उपक्षीण करता, या दास बनाता है, (तम्, सर्वम्) उस सब को (मे) मेरे (सुन्वते) राज्याभिषेक करने वाले, (यजमानाय) यज्ञ कर रहे सम्राट् के लिए, (रन्धयासि) हम सब मिल कर उसे उसके वश में करते हैं।

[रन्धयामसि=**रध्यतिर्वशगमने** (निरुक्त ६.६.३२)। हम सब=प्रधानमन्त्री, सेनाध्यक्ष, पुरोहित तथा प्रजा। मे=राज्य पुरोहित का कथन है। सुन्वते=**षुञ् अभिषवे** (स्वादिः)। अभिदासति=**दसु उपक्षये** (दिवादिः)]।

---

१. **इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा** (यजुः० ८.३७)।
२. सम्राट् या साम्राज्य का पुरोहित।
३. राज्याभिषेक की विधि द्वारा (यजुः० १०.१-३४)।
४. अथवा नियुक्त।

सूक्त ५५

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे॥ १॥

अर्थ—(बहवः) नाना, (देवयानाः) व्यापारियों के जाने-आने के (पन्थानः) मार्ग, (ये) जो (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्युलोक और पृथिवी के मध्य में अर्थात् अन्तरिक्ष में (सं चरन्ति) सम्यक्तया चालू हैं, (तेषाम्) उनमें से (यतमः) जो मार्ग (अज्यानिम्) वयोहानि के अभाव को लक्ष्य करके (वहाति) ले चलता है, (तस्मै) उस मार्ग के लिए (देवाः) हे व्यापारियो! (सर्वे) तुम सब (इह) इस राज्य में (मा) मुझे (परिधत्त) [मार्ग के] परिज्ञान द्वारा परिपुष्ट करो।

[देवयानाः; देव हैं व्यापारी, यथा "**दिवु क्रीडा विजिगीषा**" "**व्यवहार**" आदि (दिवादिः); व्यवहार है व्यापार; व्यापारियों के यान अर्थात् जाने-आने के मार्ग हैं, पन्थानः, अर्थात् अन्तरिक्ष के मार्ग। नया व्यापारी, व्यापार के निमित्त, अन्तरिक्षीय सुरक्षित मार्गों के परिज्ञान की प्रार्थना करता है। इस सम्बन्ध में देखो (अथर्व० ३.१५.१-२), जिन में कि इन्द्रवणिक्, व्यापार निमित्त, अन्तरिक्ष मार्ग से वस्तुक्रय करके धनार्जन चाहता है। अज्यानिम् अ+**ज्या, वयोहानौ** (क्र्यादिः) जीवन रक्षा। वहाति=**वह प्रापणे** (भ्वादिः) लेट् लकार में "आट्"]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद्वः शरणे स्याम॥ २॥

अर्थ—(ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु, (हेमन्तः) हेमन्त ऋतु, (शिशिरः) शिशिर ऋतु, (वसन्तः) वसन्त ऋतु, (शरद्) शरद् ऋतु, (वर्षाः) वर्षा ऋतु हैं, [इन ऋतुओं में] [हे देवाः (मन्त्र १)] हे दिव्य व्यापारियो! (नः) हमें (स्विते=सु, इते) सुगमता से अभीष्ट फल की प्राप्ति के निमित्त (दधात) हमें धारित-पोषित करो। (नः) हमें (गोषु, प्रजायाम्) गौओं और सन्तानों में तुम (आ भजत) पूर्णतया भागी बनाओ, तथा (निवाते) झंझावात आदि से रहित अन्तरिक्ष में (वः इत्) तुम्हारे ही (शरणे) आश्रय में (स्याम) हम हों।

[वायुयानों द्वारा अन्तरिक्षीय नव व्यापारी, सिद्ध व्यापारियों के प्रति कहते हैं कि तुम हमें अपना आश्रय प्रदान करो, ताकि हम सुगमता से, व्यापार द्वारा अभीष्ट फलों की प्राप्ति कर सकें। मन्त्र (१) से "देवाः" पद की अनुवृत्ति मन्त्र (२) की व्याख्या में आवश्यक प्रतीत होती है। स्विते=सु+**इण् गतौ**+क्त, सप्तम्येकवचन। गति प्राप्त्यर्थक है। अभीष्ट फल है धन प्राप्ति। शरणम्=आश्रय। **श्रिञ् सेवायाम्** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ३॥

अर्थ—(इदावत्सराय) चन्द्रमा के लिए, (परिवत्सराय) आदित्य के लिए, (संवत्सराय) अग्नि के लिए (बृहत्) बहुत (नमः) अन्नाहुतियाँ (कृणुत) करो, प्रदान करो। (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्)

यज्ञयोग्यों के सम्बन्धी (सुमतौ) सुमति में (वयम्, स्याम) हम हों, और (भद्रे) सुखप्रद तथा कल्याणमय (सौमनसे) उत्तम-मानसिक प्रसन्नता में (अपि) भी हों।

[**"अग्निर्वाव संवत्सरः, आदित्यः परिवत्सरः, चन्द्रमा इदावत्सरः, वायुरनुवत्सरः"** (तै० ब्रा० १.४.१०.१)। वत्सर का अर्थ है "वर्ष", यथा **"वसन्त्यस्मिन्निति वत्सरः[१] वर्षो वा"** (उणा० ३.७१)।

अग्नि, चन्द्रमा, आदित्य, वायु, सुखपूर्वक वास के लिए हो सकें, इस उद्देश्य से अग्नि में बहुतायत में अन्नादि की आहुतियाँ होनी चाहिएँ। **नमः अन्ननाम** (निघं० २.७)। उचित पदार्थों की आहुतियों से वायु आदि शुद्ध हो कर मति अर्थात् मनन शक्ति को सात्त्विक करते और मानसिक सुप्रसन्नता बढ़ाते हैं। यथा **"आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाक् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पताम्......"** (यजुः० १८.२९) में "मनः" आदि की शक्ति का सम्बन्ध यज्ञकर्म के साथ दर्शाया है।

अथवा

यजुर्वेद (३०.१५) में निम्नलिखित वत्सरों का कथन हुआ है। यथा "संवत्सराय, परिवत्सराय, इदावत्सराय, इद्वत्सराय, वत्सराय; संवत्सराय"]

सूक्त ५६

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भा पथ्या पङ्क्तिः** ॥

मा नो देवा अहिर्वधीत्सतोकान्त्सहपूरुषान्।
संयतं न वि ष्परद्व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः॥ १ ॥

अर्थ—(देवाः) हे देवजनो! (सतोकान्) पुत्रपौत्रादि समेत, यथा (सहपूरुषान्) भृत्यादि पुरुषों सहित (नः) हमारा (अहिः) सांप (मा) न (वधीत्) वध करे। (संयतम्) सांप का बन्दमुख (न) न (विष्परत्) खुले, (व्यात्तम्) और खुला (न) न (संयमत्) बन्द हो; (देवजनेभ्यः) आप दिव्यजनों के लिए (नमः) नमस्कार हो।

---

१. व्याख्येय सूक्त के प्रकरणानुसार मन्त्रार्थ निम्नलिखित हैं—
प्रकरण है अन्तरिक्षीय वायुयानों द्वारा व्यापार। इसके लिए नव व्यापारियों को शिक्षित करना है। एतदर्थ उन्हें वायुयानों को चला सकने, उनकी मरम्मत कर सकने, तथा वायुयानों के भिन्न-भिन्न अन्तरिक्षीय मार्गों के परिज्ञान की आवश्यकता है। इसके लिए त्रिवर्षीय शिक्षा का कथन मन्त्र (३) में हुआ है। मन्त्र (३) में तीन वर्षों के नामों का भी कथन हुआ है, जिससे कि भिन्न-भिन्न वर्ष की पहिचान सुगमता से हो सके। इस अर्थ में **"तेषां यज्ञियानाम् सुमतौ"** आदि का अर्थ है कि "उन गुरुओं—जो कि व्यापार-यज्ञ कराने की योग्यता रखते हैं—की सुमति तथा सौमनस में हम शिष्य रहें। मन्त्र (३) में तीन वत्सरों का वर्णन हुआ है—इदावत्सर, परिवत्सर, और संवत्सर। परन्तु यजुर्वेद में संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर ये नाम पठित हैं। इनके अभिप्राय हैं—संवत्सर=सम्यक्-वत्सर, जिस का व्यवहार में सम्यक् प्रयोग होता है, वह है पृथिवी की सौर-परिक्रमा का काल। परिवत्सर है व्यापी वत्सर, बृहस्पति या शनैश्चर का सौर-परिक्रमा का काल। इदा=इडा=अन्न (निघं० २.७); अतः इदावत्सर है अन्न-वत्सर, अर्थात् अन्नबीज बोने पर वह जितने काल में परिपक्व हो जाता है वह काल। इद्वत्सर में इद् है इन्दु अर्थात् चन्द्रमा। चन्द्रमा जितने काल में पृथिवी की परिक्रमा करता है वह काल है। वत्सर है नक्षत्र के उदय होने से अगले दिन में उस के उदय होने तक का काल, इसे नाक्षत्र दिन कहते हैं, ऐसे ३६० दिन होते हैं, नाक्षत्र वर्ष में। इन कालों या वत्सरों का यथार्थ ज्ञान वायुयानों के संचालकों के लिए आवश्यक है। विशेष रूप में इदावत्सर, परिवत्सर और संवत्सर का परिज्ञान।

[देवाः=देवजनाः, यथा देवदत्तः दत्त। देवजन हैं सर्प-तथा-विष विद्या के ज्ञाता। सांप वध न कर सके, इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा व्यक्त की है, देवजनों से। ये देवजन हैं, देवकोटि के "जन" अर्थात् शरीरधारी-मनुष्य, न कि अध्यात्म अशरीरी देव]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये। स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः॥ २॥

अर्थ—(असिताय) न सुफैद अर्थात् काले सर्प के लिए (नमः अस्तु) वज्रप्रहार हो, (तिरश्चिराजये) टेढ़ी रेखाओं वाले सांप के लिए (नमः) वज्रप्रहार हो। (बभ्रवे) भूरे रङ्ग वाले (स्वजाय) तथा उत्तमगतिवाले अर्थात् फुर्तीले सांप के लिए (नमः) वज्रप्रहार हो, (देवजनेभ्यः) और देवजनों के लिए (नमः) नमस्कार हो।

[**नमः वज्रनाम** (निघं० २.२०)। स्वजाय=सु+**अज गतिक्षेपणयोः** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥

सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू। सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम्॥ ३॥

अर्थ—(ते) तेरे (दता) ऊपर के दान्तों के साथ (दतः) नीचे के दान्तों को (सं हन्मि) मैं मिला देता हूँ, संहित कर देता हूँ (ते) तेरे (हन्वा) ऊपर के जबाड़े के साथ (हनूः) नीचे के जबाड़े को (सम् उ) संहित कर देता हूँ, मिला देता हूँ, (ते) तेरी (जिह्वया) जिह्वा के साथ (जिह्वाम्) दूसरी जिह्वा को (सम्) संहित कर देता हूँ, मिला देता हूँ, (अहे) हे सांप (आस्ना) तेरे मुख के साथ (आस्यम्) मुख को (सम् उ) संहित कर देता हूँ, मिला[१] देता हूँ।

[जिह्वया जिह्वाम् साँप की दो जिह्वाएँ। द्विजिह्वः=Snake (आप्टे)। "आस्येन आस्यम्" का अभिप्राय अस्पष्ट है। मन्त्रोक्ति सम्भवतः 'देवजन' की है, जो कि सर्पविष चिकित्सक है। आस्य के उत्तर भाग को नीचे के भाग के साथ संश्लिष्ट करता हूँ (सायण)]।

सूक्त ५७

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इदमिद्वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्। येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्॥ १॥

(इदम्, इत्, वै, उ) यह ही है निश्चय से (भेषजम्) औषध, (इदम्) यह है (रुद्रस्य) रुलाने वाले रोग की (भेषजम्) औषध, (येन) जिस द्वारा (एकतेजनाम्) एक-दण्ड वाले और (शतशल्याम्) सौ लोहनिर्मित दान्तों अग्रभागों वाले (इषुम्) बाण को भी (अप ब्रवीत्) वेद ने अपाकृत निवारित करने वाला कहा है। अर्थात् तद्द्वारा किये क्षत को निवारित करने वाला कहा है।

[औषध का कथन मन्त्र २ में हुआ है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत। जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे॥ २॥

अर्थ—(जालाषेण) प्रदीप्त अर्थात् गर्म जल द्वारा (अभिषिञ्चत) क्षत प्रदेश को स्नान कराओ, अच्छी तरह धोओ, और (जालाषेण) प्राप्त जल द्वारा (उपसिञ्चत) समीप से सेक करो। (जालाषम्)

१. वह सांप के सिर को दृढ़ता से पकड़ लेता है, जिससे सांप न मुख खोल सके, न काट सके।

गर्म या प्रतप्त जल (उग्रम्, भेषजम्) उग्र भेषज है (तेन) उस [औषध] द्वारा (नः) हमें (जीवसे) जीने के लिए (मृड) हे जल चिकित्सक! तू सुखी कर।

[जालाषम्[1]=**जलाषमेव जालाषम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। जलाषाम् जल+**अष दीप्तौ** (भ्वादिः) प्रदीप्तजल या गर्म जल। गर्म जल द्वारा धोने से क्षत प्रदेश में कीटाणु-प्रवेश (Infection) नहीं होता]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—[**भेषजम्**]॥ छन्दः—**पथ्या बृहती** ॥

शं च॑ नो॒ मय॑श्च नो॒ मा च॑ नः॒ किं च॒नाम॑मत्।

क्ष॒मा रपो॒ विश्वं॑ नो अस्तु भेष॒जं सर्वं॑ नो अस्तु भेष॒जम्॥ ३॥

अर्थ—(नः) हमारे (शम् च) रोग शान्ति हो (नः) हमें (मयः च) और सुख हो, (नः च) और हमें (किं चन) कोई भी रोग (मा) न (आममत्) रुग्ण करे। (रपः) [रोगजनक] पाप (क्षमा) क्षीण अर्थात् शान्त हो जाए, (विश्वम्) विश्व अर्थात् संसार (नः) हमारे लिए (भेषजम्, अस्तु) औषध रूप हो जाए, (सर्वम्) विश्व के सब तत्त्व (नः) हमारे लिए (भेषजम्, अस्तु) औषधरूप हो जाएँ।

[चकारद्वय समुच्चयार्थक हैं। आममत्=**आ+अम रोगे** (चुरादिः)+णिच्+चङ् (लुङि)। क्षमा=**क्षै क्षये** (भ्वादिः); क्षै+मनिन्=क्षमा, अर्थात् पाप क्षीण हो जाए, उसका क्षय हो जाए]

सूक्त ५८

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

य॒शसं॒ मेन्द्रो॑ म॒घवा॑न्कृणोतु य॒शसं॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे।

य॒शसं॑ मा दे॒वः स॑वि॒ता कृ॑णोतु प्रि॒यो दा॒तुर्दक्षि॑णाया इ॒ह स्या॑म्॥ १॥

अर्थ—(मघवान्) धनवान् (इन्द्रः) सम्राट् (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे, (इमे उभे) ये दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (यशसम्) यशस्वी करें। (सविता देवः) उत्पादक पितृदेव (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे ताकि (इह) इस जीवन में (दक्षिणायाः) दक्षिणा के (दातुः) देने वाले का (प्रियः) प्रिय (स्याम्) मैं होऊं।

[सम्राट् मुझे ऐसे पद पर आरूढ़ करे जिस से मेरा यश बढ़े, मैं ऐसे शुभकर्म करूँ जिस से दोनों लोकों में मेरा यश फैले, मेरा पितृदेव मुझे सुशिक्षित करे, जिस से मैं यशस्वी हो जाऊं, और सब के दाता परमेश्वर का मैं प्रिय हो जाऊं। सविता=**षु प्रसवे**। यशसः=यशः+अच्। अर्श आद्यच् (अष्टा० ५.२.२७)]।

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

यथेन्द्रो॒ द्यावा॑पृथि॒व्योर्यश॑स्वा॒न्यथाप॒ ओष॑धीषु॒ यश॑स्वतीः।

ए॒वा विश्वे॑षु दे॒वेषु॑ व॒यं सर्वे॑षु य॒शसः॑ स्याम॥ २॥

अर्थ—(यथा) जैसे (इन्द्रः) सूर्य (द्यावापृथिव्योः) द्युलोक और पृथिवी में (यशस्वान्) प्रकाश, ताप, वृष्टि प्रदान आदि द्वारा कीर्ति वाला है, (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) अन्न प्रदान के हेतु होने से (यशस्वतीः) यश वाले हैं, प्रख्यात हैं, (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु देवेषु) सब दिव्यकोटि के व्यक्तियों में, तथा (सर्वेषु) सब [मनुष्यों] में (वयम्) हम (यशसः) कीर्त्तिमान् (स्याम) हो जाएँ।

---

१. सायणानुसार पाठ है "जलाषम्; और अर्थ है "गोमूत्रफेन"

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत। यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ—इस मन्त्र की व्याख्या के लिए देखो (अथर्व० ६.३९.३)।

सूक्त ५९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

अर्थ—(अरुन्धति) हे घावों को ठीक करने वाली! (त्वम्) तू (प्रथमम्) प्रथम (अनडुद्भ्यः) शकट के वहन करने वाले बैलों के लिए, (त्वम्) तू (धेनुभ्यः) दूध देने वाली गौओं के लिए, (अधेनवे) न दूध देने वाली (वयसे) छोटी आयु वाली गौ के लिए, (चतुष्पदे) तथा अन्य चौपाए पशु के लिए (शर्म) सुख (यच्छ) प्रदान कर।

[अरुन्धति=अरूंषि धयति पिबतीति, तत्सम्बुद्धौ। घावों को पी कर सूखा देने वाला, स्वस्थ कर देने वाली औषध [सहदेवी, मन्त्र २]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती। करत्पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥

अर्थ—(अरुन्धती) घावों को पी कर सुखा देने वाली, स्वस्थ कर देने वाली (सहदेवी) सहदेवी (ओषधिः) ओषधि (शर्म) सुख (यच्छतु) प्रदान करे। (गोष्ठम्) गोशाला को (पयस्वन्तम्) दुग्ध सम्पन्न (करत्) करे, (उत) तथा (पूरुषान्) पुरुषों को (अयक्ष्मान्) यक्ष्मा से रहित करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्। सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—(विश्वरूपाम्) नाना रूपों वाली, (सुभगाम्) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, (जीवलाम्) जीवन देने वाली, [सहदेवी औषध] को, (अच्छ) तुम्हारे प्रति, (आवदामि) मैं कहता हूँ। (सा) वह ओषधि (रुद्रस्य) रुलाने वाली विद्युत् के (अस्ताम्) फैंके गये, (हेतिम्) हनन करने वाले वज्र को (नः) हमारी (गोभ्यः) गौओं से, (दूरम्) दूर (नयतु) ले जाए, रखे। अर्थात् गोशाला का निर्माण इस प्रकार का होना चाहिए कि उस पर विद्युत् का प्रभाव न हो सके।

[सहदेवी ओषधि दो प्रकार की होती है सहदेवी और सहदेवी बड़ी। सहदेवी के फूल बैंगनी रंग के और बीज काली जीरी के समान होते हैं। इस का पौधा त्रिदोष, क्षय तथा दमा, खांसी में लाभदायक होता है, तथा फूल, ज्वर नाशक होते हैं। ''वनौषधि चन्द्रोदय'' चन्द्रराज भण्डारी, ज्ञान मन्दिर, भानपुरा। यह स्वास्थ्य तथा जीवनरूपी ऐश्वर्य प्रदान करती तथा गौओं को नीरोग करती है]।

सूक्त ६०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद्विषितस्तुपः। अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥

अर्थ—(विषितस्तुपः) बन्ध से मुक्त हुए रश्मिसमूह वाला (अयम्) यह (अर्यमा) अन्धकार आदि अरियों का नियमन करने वाला आदित्य (आ याति) आया है (पुरस्तात्) हमारे संमुख या पूर्व में,

(अस्यै) इस (अग्रुवै) अविवाहित या अग्रगण्या (ऋ० १.१४०.८; दयानन्द), कन्या के लिए (पतिम्) पति को (उत) तथा (अजानये) जाया रहित पुरुष के लिए (जायाम्) जाया को (इच्छन्) चाहता हुआ।

विषित वि+**षिञ् बन्धने** (स्वादिः) स्तुपः=**ष्टुप समुच्छ्राये** (चुरादिः); समुच्छ्रायः=Elavation Height (आप्टे) ऊपर उठा हुआ ऊंचा। आयाति=आदित्यस्थ परमेश्वर आया है, "तात्स्थ्यात्[1] ताच्छब्द्यम्" परमेश्वर आदित्य में स्थित है, अतः परमेश्वर को आदित्य कहा है। यथा "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥**" (यजुः० ४०.१७)। इच्छन्=चाहता हुआ, इच्छा करता हुआ। इच्छा या चाहना चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं। आदित्य जड़ है, चेतन नहीं, अतः आदित्य का लाक्षणिक अर्थ है आदित्य पुरुष अर्थात् आदित्यस्थ परमेश्वर। अग्रुवै=अग्रुवे,[2] कन्यायै, पतिमिच्छन् (सायण)। अजानये=अ+जायायै, "**जायाया निङ्**" (अष्टा० ५.४.१३४)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती। अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति॥ २॥

अर्थ—(अर्यमन्) हे न्यायकारी परमेश्वर! (इयम्) यह कन्या (अन्यासाम्) अन्य कन्याओं के (समनम्) सामाजिक जीवन सम्बन्धी विवाह में (यती) जाती हुई (अश्रमत्) खिन्न हो गई है, (अङ्ग उ) हे (अर्यमन्) न्यायकारी परमेश्वर! (नु) निश्चय से (अन्याः) अन्य विवाहित स्त्रियां (अस्याः) इस कन्या के (समनम्) सामाजिक जीवन सम्बन्धी विवाह में (आ अयति) आएंगी।

[अश्रमत्=**श्रमु तपसि खेदे च** (दिवादिः)। समनम्=सम्+**अन प्राणने** (अदादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम्।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम्॥ ३॥

अर्थ—(धाता) विधाता ने (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारित किया है (धाता) विधाता ने (द्याम्) द्युलोक को (उत) तथा (सूर्यम्) सूर्य को धारित किया है। (धाता) विधाता (अस्यै) इस (अग्रुवै) अग्रगण्या कन्या के लिए (प्रतिकाम्यम्) यथेष्ट (पतिम्) पति (दधातु) प्रदान करे, अथवा उसे परिपोषित करे।

[सूक्त के मन्त्र १, २ में अर्यमा से प्रार्थना की गई है। मन्त्र ३ में अर्यमा को धाता कहा है। उस धाता ने सूर्य का भी धारण किया हुआ है। अतः मन्त्र १ में भी अर्यमा द्वारा परमेश्वरार्थ ही अभीष्ट है न कि सूर्य अर्थात् आदित्य। अतः तीनों मन्त्रों में एकार्थता सम्पन्न हो जाती है]।

सूक्त ६१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम्।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात्॥ १॥

---

१. यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति"=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति।

२. अथवा "**अगि गतौ**"+रुः औणादिक प्रत्यय (४.१०२-१०४), बाहुलकात्=गतिशीला, निरालसा कन्या के लिए। अग्रुवे=अग्रु+उवङ्+चतुर्थ्येकवचन। तथा अग्रवः=अग्रु+उवङ्+प्रथमाविभक्ति बहुवचन।

अर्थ—(मह्यम्) मेरे[1] लिए (आपः) [नदियों के] जल, (मधुमत्) मधुर-जल (एरयन्ताम्) प्रेरित करें, प्रवाहित करें; (मह्यम्, ज्योतिषे) मुझ ज्योतिःस्वरूप के लिए (सूरः) सूर्य (कम्) सुखप्रद [रश्मि समूह] को (अभरत्) धारण किये हुए है। (मह्यम्) मेरे लिए हैं (देवाः) देव[2] (उत) तथा (विश्वे) सब (तपोजाः) ताप से उत्पन्न [नक्षत्र-तारागण]; (मह्यम्) मेरे लिए (देवः सविता) द्युतिमान् सविता ने (व्यचः) विस्तार (धात्) स्थापित किया है।

[मन्त्र में "मह्यम्" द्वारा परमेश्वर ने अपने-आप को सूचित किया है। वही अथर्वा है, "**थर्वतिः चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः**" (निरुक्त ११.२.१९)। परमेश्वर अथर्वा है, निश्चल है, कूटस्थ है। अथर्वा, मानुष-ऋषि नहीं। "ज्योतिष" अथवा सौर-मण्डल के प्रकाश के लिए। सविता है प्रत्यग्र उदित सूर्य जब कि आकाश तो चमक जाता है, परन्तु पृथिवी पर अभी अन्धकार शेष रहता है (निरुक्त १२.२.१४)। सविता के उदय होने से पूर्व अन्धकार था, दूर की वस्तु दीखती न थी। सविता के उदय होने पर दूर-दूर की वस्तुएँ दीखने लगीं, यह अभिप्राय है "व्यचो धात्" का]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च॥ २॥

अर्थ—(अहम्) मैंने (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत) तथा (द्याम्) द्युलोक को (विवेच) विवेक पूर्वक पृथक्-पृथक् किया है; (अहम्) मैंने (सप्त ऋतून्) सात ऋतुओं को (साकम्) साथ-साथ (अजनयम्) पैदा किया है। (यद्) जो (सत्यम्, अनृतम्) सत्य और असत्य का स्वरूप है उसे (अहम् वदामि) मैं ही कहता हूँ, (च) और (विशः परि) सब प्रजा को (दैवीम्, वाचम्) दिव्य वेदवाणी (अहम् वदामि) मैं कहता हूँ।

[सप्त ऋतून्=६ ऋतुएं, १ अधिमास, मलमास। यथा "**अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते**" (अथर्व १३.३.८)। यह १३वां मास, सौरमासों और चान्द्रमासों के वर्षों में दिनों द्वारा हुई विषमता की पूर्ति के लिए है। परमेश्वर सत्य और अनृत का भेद वेदवाक् द्वारा दर्शाता है तथा "**दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥**" (यजु:० १९.७७)॥ अर्थात् प्रजापति ने सत्य और अनृत के स्वरूपों को देखकर उन का भेद दर्शाया है। उस ने अनृत में अश्रद्धा को, और सत्य में श्रद्धा को स्थापित किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया॥ ३॥

अर्थ—(अहम्) मैंने (जजान) पैदा किया है (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत) तथा (द्याम्) द्युलोक को, (अहम्) मैंने (ऋतून्) ऋतुओं को, (सप्त सिन्धून्) सात प्रकार की नदियों को, या सात समुद्रों को

---

१. मेरी प्रसन्नता के लिए, या मेरी आज्ञा के पालन के लिए; आज्ञाभंग होने पर हम सूर्यादिदेव न हो जाएँ इस भय से, यथा "**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।**
२. अथवा **देवाः विद्वांसः, तपोजाः तपस्विनः।**

(अजनयम्) पैदा किया है। (यद्) जो (सत्यम्, अनृतम्) सत्य और असत्य [का स्वरूप] है उस का (अहम् वदामि) मैं कथन करता हूँ, (यः) जिस मैं ने कि (सखायौ) परस्पर-सखि रूप (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम का (अजुषे) सेवन किया है [सृष्ट्युत्पादन में]।

[सात प्रकार की नदियां हैं गङ्गा आदि (ऋ० १०.७५.५), ये शीघ्रगमन आदि की विशेषताओं की दृष्टि से भूमण्डल पर सात प्रकार की हैं। अथवा "सप्तसिन्धवः" हैं सप्तविध वैदिक छन्द या व्याकरण सम्बन्धी सात विभक्तियां जो कि "काकुर" अर्थात् मुखस्थ तालु में क्षरित होती हैं यथा—"**सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥**" (ऋ० ८.६९.१२), (निरुक्त ५.४.२७)। अथवा सात प्रकार के भौम समुद्र।

अग्नीषोमौ=अग्नि है रजस्वला स्त्री का रजस्, और सोम है पुरुष का वीर्य। इन दोनों का स्त्री योनि में परस्पर सम्बन्ध अर्थात् मेल हो जाता है तो ये परस्पर सखा के रूप में योनि में वास करते हैं और प्राणियों की उत्पत्ति करते हैं, इस प्रकार सृष्ट्युत्पादन में परमेश्वर इन दोनों का सेवन करता है, सहायता लेता है। इसी प्रकार "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः, वायोरग्निरग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी**" (तैत्तिरीयोप० २.१) में परस्पर नियतपौर्वापर्य के कारण अग्नि और आपः सखायौ हैं, जोकि स्थूल जगत् के उत्पादन में परमेश्वर के सहायक होते हैं। उद्धरण में अग्नि है अग्नितत्त्व, और आपः है सोम तत्त्व। सोमः (water) (आप्टे)।

षष्ठ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ७

सूक्त ६२

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम्॥ १॥

अर्थ—(वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी सूर्य (रश्मिभिः) रश्मियों द्वारा (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे; (वातः) वायु (प्राणेन) प्राण द्वारा, श्वासोच्छ्वास द्वारा; (इषिरः) और वेगवान् मानसून वायु (नभोभिः) मेघों द्वारा पवित्र करे। (पयस्वती) जलवाली, (ऋतावरी) सत्यनियमों वाली, (यज्ञिये) यज्ञों में साधनरूप (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (पयसा) जल द्वारा (नः) हमें (पुनीताम्) पवित्र करें।

[वैश्वानरः=**अथासावादित्यः इति पूर्वे याज्ञिकाः** (निरुक्त ७.६.२३)। इषिरः=**इष् गतौ** (दिवादिः)+ किरच् (उणा० १.५१)। नभोभिः=नभस् (cloud, आप्टे)। ऋतावरी=ऋतम् नियमः, तद्वत्यौ। द्यौ और पृथिवी परमेश्वरीय नियमों द्वारा नियन्त्रित हैं। यज्ञिये=ये दोनों या सम्पादन में सहायक हो कर वर्षा द्वारा, पयस् प्रदान करती हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ २॥

अर्थ—(वैश्वानरीम्) सब नर-नारियों के लिए हितकारिणी, (सुनृताम्) प्रिय सत्य वेदवाणी [का

स्वाध्याय] (आरभध्वम्) आरम्भ करो, (यस्याः) जिस वेदवाणी सम्बन्धी (आशाः) आशाएँ, इच्छाएँ (तन्वः) विस्तृत हैं, और (वीतपृष्ठाः) त्रिलोकी की पीठ अर्थात् द्युलोक तक व्यापिनी हैं। (तया) उस वेदवाणी द्वारा (सधमादेषु) सामाजिक हर्षों अर्थात् उत्सवों में (गृणन्तः) परमेश्वर की स्तुति करते हुए (वयम्) हम (रयीणाम्, पतयः स्याम) ऐश्वर्यों के स्वामी हों।

[सूनृताम्=प्रियसत्यात्मिकां वाचम् (सायण)। आशाः इच्छाः, **आङ् शासु इच्छायाम्** (अदादिः)। वीतपृष्ठाः=**वी (व्याप्तौ,** अदादिः)+क्तः; पृष्ठ=त्रिलोकी की पृष्ठ है द्यौ। वेदप्रोक्त [परमेश्वरीय] इच्छाएँ, अभिलाषाएँ द्युलोकस्थ "स्वः", अर्थात् सुख विशेष की प्राप्ति के लिए भी हैं। सधमादेषु=सहस्य सधादेशः+**मदी हर्षे** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्॥ ३॥

अर्थ—(वर्चसे) ब्रह्मवर्चस आदि की प्राप्ति के लिए (वैश्वानरीम्) सब नर-नारियों के लिए हितकारिणी वेदवाणी [का स्वाध्याय] (आरभध्वम्) आरम्भ करो, [इस द्वारा] (शुद्धाः भवन्तः) शुद्ध होते हुए (शुचयः) अर्थात् मन से शुचि तथा शरीर से (पावकाः) पवित्र होकर (इह) इस पार्थिव जीवन में, (इडया[1]) अन्न द्वारा [सहभोजों द्वारा] (सधमादम्[2]) पारस्परिक अर्थात् सामाजिक, हर्ष अर्थात् उत्सव में (मदन्तः) हर्षित होते हुए (ज्योक्) चिरकाल के लिए (उच्चरन्तम्) ऊपर आकाश में विचरते (सूर्यम्) सूर्य को (पश्येम) हम देखें।

सूक्त ६३

ऋषिः—**द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)**॥ देवता—**निर्ऋतिः**॥ छन्दः—**निचृत् त्रिष्टुप्**॥

यत्ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत्।
तत्ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः॥ १॥

अर्थ—हे पुरुष! (देवी) द्योतमाना अर्थात् प्रकट हुई (निर्ऋतिः) कृच्छापत्तिः अर्थात् कष्टों ने (यत्) जो (दाम) रस्सी (ते) तेरी (ग्रीवासु) ग्रीवा की नस-नाड़ियों में (आ बबन्ध) सब ओर बान्ध रखी है, (यत्) जो कि (अविमोक्यम्) खोली नहीं जा सकती, (ते) तेरी (तत्) उस रस्सी को (आयुषे) दीर्घ तथा स्वस्थ जीवन के लिए, (वर्चसे) तेज के लिए, (बलाय) और बल के लिए (विष्यामि) मैं खोलता हूँ, (प्रसूतः) जोकि मुझ द्वारा प्रेरित हुआ तू (अदोमदम्) खाने में आनन्दप्रद (अन्नम्) अन्न को (अद्धि) खा।

[**निर्ऋतिः.....कृच्छ्रापत्तिः** (निरुक्त २.२.८)। खाने में असंयम के कारण प्राप्त कष्टों का कथन मन्त्र में हुआ है। ग्रीवा खाने का साधन है। खट्टी वस्तुओं के अधिक प्रयोग से ग्रीवा की नस नाड़ियां सूज जाती हैं। अतः आचार्य द्वारा प्रेरित होकर खाने में मधुर अन्न का सेवन करना चाहिए। इस कृच्छ्रापत्ति से विमुक्ति पाकर आयु बढ़ती, वर्चस् और बल प्राप्त होता है। अदोमदम्=**अद् (भक्षणे)**+मदम् (**मदी**

---

१. **इडा अन्ननाम** (निघं० २.७)।
२. णमुलन्तः, तस्यैव धातोरनुप्रयोगश्च (सायण)।

हर्षे)। प्रसूतः=प्र+षू प्रेरणे]।

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—यमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मया॒न्वि चृ॑ता बन्धपा॒शान्।
य॒मो मह्यं॒ पुन॒रित्त्वां दद॑ाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑॥ २॥

अर्थ—(तिग्मतेजः) हे तिग्म और तेज वस्तुओं वाली (निर्ऋते) कृच्छ्रापत्ति! (ते) तेरे [शमन के] लिए (नमः) उचित अन्न का प्रयोग (अस्तु) हो, (अयस्मयान्) लोहे के सदृश दृढ़ (बन्धपाशान्) बान्धने वाले पाशों को (विचृत) तू खोल दे। (यमः) नियन्ता परमेश्वर (त्वाम्) तुझे हे रुग्ण पुरुष! (पुनः इत्) फिर (मह्यम्) मुझे (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) नियन्ता[1] परमेश्वर के लिए (मृत्यवे) जो कि मृत्यु[1] करता है (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

[कृच्छ्रापत्ति का सम्बन्ध, तिग्म और तेज वस्तुओं के खाने-पीने के साथ है। ऐसे पदार्थों के अधिक खाने-पीने से गला बन्ध हो जाता है, गला रुग्ण हो जाता है। **नमः अन्ननाम** (निघं० २.७) नमः का अर्थ नमस्कार तो प्रसिद्ध ही है। विचृत=वि+**चृती हिंसाग्रन्थनयोः** (तुदादिः) वि (विगत करना)+चृत (बन्धन से)। परमेश्वर का नाम मृत्यु भी है। यथा "**स एव मृत्युः सोऽ३मृतं सोऽ३भ्वं सः रक्षः**" (अथर्व० १३.४(३).२५)। अर्थात् वह परमेश्वर ही मृत्यु है, वह अमृत है, वह प्रलय में सद्-जगत् को असद् करता है [अ+**भू सत्तायाम्**], वह उत्पन्न-जगत् का रक्षक है। मह्यम्=इस द्वारा आचार्य कहता है कि परमेश्वर ने, हे शिष्य! तुझे स्वस्थ कर मुझे प्रदान किया है]

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—मृत्युः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अ॒य॒स्मये॑ द्रुप॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म्।
य॒मे॒न॒ त्वं पि॒तृभि॑ः संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम्॥ ३॥

अर्थ—[हे निर्ऋति अर्थात् कृच्छ्रापति!] (इह) इस मृत्युलोक में (अयस्मये) लोहनिर्मित (द्रुपदे) पैर की बेड़ी में तू (बेधिषे) बान्धती है, तो (मृत्युभिः) मृत्युओं [कष्टों] द्वारा (अभिहितः[2]) पुरुष बन्ध जाता है, (ये) जो मृत्युएँ [कष्ट] कि (सहस्रम्) हजार प्रकार की हैं। (त्वम्) हे शिष्य! तू (यमेन) नियन्ता आचार्य और (पितृभिः) आश्रम के अन्य गुरुओं के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त हो जा [उन के निर्देशानुसार निज जीवनचर्या कर], और हे आचार्य! तू (इमम्) इस शिष्य को (उत्तमम्) उत्कृष्ट (नाकम्) दुःखों से रहित सुख के लोक पर (अधिरोहय) चढ़ा, नाकगमन के योग्य कर।

[पितृभिः=विद्या प्रदाता गुरु भी पिता के सदृश हैं। यथा—

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह॥ (निरुक्त २.१.३)]।

---

१. अथवा "यम" है "आश्रम का नियन्ता आचार्य, वही है मृत्यु अर्थात् ब्रह्मचारी को द्विजन्मा बनाकर नवजीवन देने वाला, यथा "**आचार्यो मृत्युः**" (अथर्व ११.५.१४)। इस अर्थ में "मह्यम्" द्वारा ब्रह्मचारी के पिता का निर्देश हुआ है।

२. अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते (सायण)। यथा अभिधानी=रस्सी।

ऋषिः—द्रुह्वणः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ ४॥

अर्थ—(वृषन्) हे सुखों की वर्षा करने वाले (अग्ने) अग्निस्वरूप परमेश्वर! (अर्यः) स्वामी तू (आ) सर्वत्र (विश्वानि) सब प्रकार के ऐश्वर्य (सम् युवसे) सम्यक् रूप में सम्बद्ध कर रहा है, (सम्, इत्) निश्चय से सम्यक् रूप में सम्बद्ध कर रहा है। (इडस्पदे) पृथिवी या स्तुति के स्थान में या इस पार्थिव शरीर के हृदय-स्थल में (समिध्यसे) तू प्रदीप्त होता है, (सः) वह तू (नः) हमें (वसूनि) वास योग्य उत्तम गुणरूपी सम्पत्तियां (आभर) प्रदान कर।

[गुरुओं और शिष्यों के निवास स्थान आश्रम में या उपासनालय में प्रातःकाल और सांय काल, इस प्रकार अग्निहोत्र तथा सम्मिलित उपासना का विधान हुआ है]।

सूक्त ६४

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सांमनस्यम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ १॥

अर्थ—(सं जानीध्वम्) तुम सम्यक्-ज्ञान से तथा ऐकमत्य से युक्त होओ, (सं पृच्यध्वम्) एतदर्थ परस्पर संपर्क किया करो, (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (सं जानताम्) एकविध सकल्पों वाले हों। (यथा) जैसे (पूर्वे) विद्या से सम्पूर्ण (देवाः) विद्वान् (सं जानानाः) एक मत हो कर (भागम्) भजनीय परमेश्वर की (उपासते) उपासना करते हैं [वैसे तुम भी किया करो]।

[पूर्वे=**पुर्व पूरणे** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सांमनस्यम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥ २॥

अर्थ—(मन्त्रः[१]) तुम्हारी पारस्परिक मन्त्रणा (समानः) एकरूपा हो, (समितिः) राजसभा (समानी) एक हो, (व्रतम्) व्रत (समानम्) एकरूप हों, (एषाम्) इन प्रजाजनों के (चित्तम्) अन्तःकरण (सह) परस्पर मिले रहें। (वः) तुम्हारी (समानेन) समान[२] (हविषा) हवि द्वारा (जुहोमि) मैं यज्ञ करता हूँ, आहुतियां[३] देता हूँ, (समानम्) तुम्हारा एकविध (चेतः) चिन्तन हो (अभि सं विशध्वम्) [एक चित्त हो कर] तुम राजसभा में प्रवेश किया करो।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सांमनस्यम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ३॥

अर्थ—(वः) तुम्हारा (आकूतिः) संकल्प (समानी) एकरूप हो, (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय (समाना=समानानि) एकरूप हों [हार्दिक भावनाएँ एकरूप हों]। [हार्दिक भावनाएँ एकरूप हों]।

---

१. अथवा मन्त्रः=वैदिक विचार, वेदानुकूल विचार। २. सब से एकत्रित की गई।
३. राजसभा में प्रवेश कर, कार्यारम्भ करने से पूर्व, समान हवि द्वारा यज्ञ करना।

(वः) तुम्हारा (मनः) मनन (समानम्) एकरूप (अस्तु) हो, (यथा) जिस प्रकार से कि (वः) तुम्हारा (सु सह) उत्तम पारस्परिक मेल (असति) बना रहे। अथवा पारस्परिक सहायता बनी रहे।

सूक्त ६५

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

अव॑ म॒न्युरवा॑य॒ताव॑ बा॒हू म॑नो॒युजा॑।

परा॑शर॒ त्वं तेषां॒ परा॑ञ्चं॒ शुष्म॑मर्द॒याधा॑ नो र॒यिमा कृ॑धि॥ १ ॥

अर्थ—(मन्युः) [शत्रु का] क्रोध (अव=अवस्तात्) नीचे हो जाए, (आयता=आयतानि) ताने गये धनुष् (अव) अवनत हो जाएँ, ढीले हो जाएँ। (मनोयुजा=मनोयुजौ) विचयैषी मनों द्वारा प्रयुक्त हुए (बाहू) दोनों बाहु (अव) नीचे हो जाएँ। (पराशर) "पर" अर्थात् शत्रुओं का "आ" पूर्णरूप से "शर" विनाश करने वाले! [इन्द्र=सम्राट्!] (त्वम्) तू (तेषाम्) उन शत्रुओं के (पराञ्चम्) पराङ्मुख हुए (शुष्मम्) सैन्यबल को (अर्दय) हिंसित कर, (अधा=अथा) तत्पश्चात् (रयिम्) उनके धन को (नः) हमें (आ कृधि) प्राप्त करा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नि॒र्ह॑स्तेभ्यो नैर्ह॒स्तं यं दे॑वाः॒ शरु॒मस्य॑थ। वृश्चा॑मि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒हम्॥ २ ॥

अर्थ—(निर्हस्तेभ्यः) निहत्त्थे कर दिए शत्रुओं के लिए, अर्थात् हथियारों से रहित कर दिए शत्रुओं के लिए, (देवाः) हे हमारे विजिगीषु सेनाधिकारियो! तुम (नैर्हस्तम्) निहत्त्था करने वाले (यम्) जिस (शरुम्) हिंसक शर को (अस्यथ) अस्त्ररूप में शत्रुओं पर फैंकते हो, उन (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (बाहून्) बाहुओं को, (अनेन) इस (हविषा) युद्ध-यज्ञ साधक हवि द्वारा (अहम्) मैं सेनाधिपति, (वृश्चामि) काटता हूँ। (देवाः=**दिवु क्रीडाविजिगीषा** आदि; "दिवादिः")।

[अभिप्राय यह कि विजय प्राप्त कर शत्रुओं को एक बार जब हथियारों से रहित कर दिया है, समय पा कर यदि वे पुनः युद्ध के लिए, पुनः अपने आप को हथियारों से युक्त कर लेते हैं, तो वे दण्डनीय हो जाते हैं, और इस दण्ड में उनके बाहुओं को मैं काट देता हूँ, ताकि वे हथियारों का प्रयोग पुनः न कर सकें, परन्तु उनके जीवनों का अपहरण मैं नहीं करता। मन्त्र (१) में भी बाहुओं का कथन हुआ है, वहां केवल शत्रुओं को नीचा कर उन के बहुओं को निकम्मे कर देने का अभिप्राय है, उन्हें काटने का नहीं। "अस्यथ" के प्रयोग द्वारा शत्रुओं पर अस्त्र के फैंकने को सूचित किया। हविषा द्वारा "सैनिक हविः" प्रतीत होते हैं, "अहम्" द्वारा सेना का मुख्याधिकारी है, जिसे बाहु-छेदनरूपी दण्ड प्रदान करने का अधिकार सम्राट् ने दिया है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्र॑श्चकार प्रथ॒मं नै॑र्ह॒स्तमसु॑रेभ्यः। जय॑न्तु सत्वा॑नो॒ मम॑ स्थि॒रेणेन्द्रे॑ण मे॒दिना॑॥ ३ ॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् ने (प्रथमम्) पहिले (असुरेभ्यः) देवविरोधी प्राण-पोषकों के लिए (नैर्हस्तम्) निहत्त्थेपन का (चकार) दण्ड दिया। (मेदिना) स्नेही तथा (स्थिरेण) साम्राज्य पद पर स्थिर (इन्द्रेण) सम्राट् की सहायता द्वारा (मम) मुझ सेनाधिपति के (सत्वानः) शक्तिशाली सैनिक (जयन्तु) शत्रु पर विजय पाएँ।

[इन्द्रः="**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। असुरेभ्यः=जो केवल जीवन का उद्देश्य प्राणपोषण मात्र मानते हैं, अतः देवविरोधी हैं, जो देव कि जीवन को दिव्य बनाने के पक्ष में हैं। इन्द्र स्नेही है। अतः युद्ध में स्वाश्रित सेनाधिपति को असुरों के साथ युद्ध में सब प्रकार की सहायता देता है]।

सूक्त ६६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।

समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः॥ १॥

अर्थ—(अभिदासन्) हमारा उपक्षय करता हुआ (शत्रुः) शत्रु दल (निर्हस्तः अस्तु) निहत्था हो जाए, हथियारों से रहित हो जाए, (ये) जो शत्रु कि (सेनाभिः) सेनाओं के साथ (अस्मान् युधम्) हमारे साथ युद्ध के लिए (आयन्ति) आते हैं। (इन्द्र) हे सम्राट् (महता वधेन) महावधकारी आयुध के साथ इन्हें (समर्पय) सम्बद्ध कर, (एषाम्) इन शत्रुओं में (अघहारः) पापी शत्रु (विविद्धः) विशेषतया बींधा हुआ (द्रातु) कुत्सित गति को प्राप्त हो।

[अघहारः=पापी, जो कि सेनानायक है। द्रातु=**द्रा कुत्सायां गतौ** (अदादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आतन्वाना आयच्छन्तोस्यन्तो ये च धावथ।

निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोद्य पराशरीत्॥ २॥

अर्थ—(आतन्वानाः) धनुषों को ताने हुए, (आयच्छन्तः) धनुषों पर वाण चढ़ा कर उन्हें खैंचते हुए, (च) और (अस्यन्तः) वाणों को हम पर फैंकते हुए (ये) जो तुम (शत्रवः) हे शत्रुओ! (धावथ) [फिर भी भय के कारण] दौड़ जाते हो, वे तुम (निर्हस्ताः स्थन) निहत्थे पर दिये गये हो, हथियारों से रहित कर दिये गये हो; (इन्द्रः) हमारा सम्राट् (अद्य) आज (वः) तुम्हारी (पराशरीत्) पराङ्मुख हुओं की हिंसा करे। [परा, अशरीत्; **शॄ हिंसायाम्** (क्र्यादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोङ्गैषां म्लापयामसि। अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै॥ ३॥

अर्थ—(शत्रवः) शत्रु (निर्हस्ताः) निहत्थे अर्थात् हथियारों से रहित [सदा के लिए] (सन्तु) हो जाएँ। (एषाम्) इन के (अङ्गा=अङ्गानि) अङ्गों को (म्लापयामि) हम हर्ष-से-क्षीण करते हैं। (अथ) तदनन्तर (इन्द्र) हे सम्राट्! (एषाम्) इन के (शतशः वेदांसि) सैकड़ों प्रकार के धनों को (वि भजामहै) हम विभागपूर्वक बांट लेते हैं।

[म्लापयामसि=**ग्लै म्लै हर्षक्षये** (भ्वादिः)। **वेदः धननाम** (निघं० २.१०)]।

सूक्त ६७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः। मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम्॥ १॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (च) और (पूषा) पोषणाधिकारी (सर्वतः) सब ओर के (वर्त्मानि) मार्गों के (परि सस्रतुः) सब ओर गये हैं। (अमित्राणाम्) ताकि शत्रुओं की (अमूः) वे (सेनाः) सेनाएँ,

(अद्य) आज या अब, (परस्तराम्) अतिशयेन (मुह्यन्तु) कार्याकार्य के विवेक से ज्ञानरहित हो जाएँ।

[युद्ध से पूर्व सम्राट् और पोषक पदार्थों का अधिकारी साम्राज्य के सब मार्गों का निरीक्षण स्वयं करें या करवाएँ कि शत्रु सेनाएँ किस-किस मार्ग से आक्रमण कर सकती हैं, और किस-किस मार्ग से अपनी सेना को आयुध और खाद्य सामग्री पहुँचाई जा सकती है। इस का निरीक्षण कर, यथोचित प्रबन्ध करें, ताकि शत्रु सेनाओं का सब प्रयत्न विफल हो जाए। सस्रुतुः=सृ गतौ (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः। तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्॥ २॥

अर्थ—(अमित्राः) हे शत्रुओ! (मूढाः चरत) तुम जय के उपाय के ज्ञान से रहित हुए विचरो, (इव) जैसे (अशीर्षाणः) सिरकटे (अहयः) सांप [इधर-उधर लुढ़कते रहते हैं]। (अग्निमूढानाम्[१]) हमारे अग्रणी की सूचना द्वारा ज्ञानशून्य हुओं (तेषाम् वः) उन तुम में से (वरं वरम्) मुख्य-मुख्य को (इन्द्रः) सम्राट् (हन्तु) मार डाले।

[सेनाधिकारी शत्रु के मुख्यों की सूचना अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री को दें, और प्रधानमन्त्री सम्राट् को सूचना दे। तब सम्राट् मुख्य-मुख्य शत्रुओं को मार देने की आज्ञा दे। शेष सैनिक मारने न चाहिएं। अथवा "अग्नि"=आग्नेय-अस्त्र]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि। पराङमित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु॥ ३॥

अर्थ—(वृषा) हे समाट्! सुखवर्षी तू (हरिणस्य) हरिण अर्थात् मृगों के (अजिनम्) चर्मों को (एषु) इन निज सैनिकों में (आ नह्य) बान्ध, (अभयम्[२] कृधि) और हमें भयरहित कर। (अमित्रः) शत्रु (पराङ्) पराङ्मुख होकर (एषतु) चला जाए, और (गौः) उन की पृथिवी (अर्वाची) हमारी ओर (उप) हमारे पास (एषतु) आ जाए [उन का राज्य हमारे अधीन हो जाय]।

[मन्त्र में हरिणस्य जात्येकवचन है। क्योंकि "एषु" पद द्वारा निज सैनिकों का बहुत्व दर्शाया है। गौः पृथिवीनाम (निघं० १.१)। मृगचर्मों के कवचों से शत्रु के बाणों का भय नहीं रहता]।

सूक्त ६८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोविराडतिशक्वरीगर्भा चतुष्पदा जगती**॥

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।

आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः॥ १॥

अर्थ—(अयम्) यह (सविता) नापित पुरुष (क्षुरेण) उस्तरे के साथ (आ अगन्) आ गया है, (वायो) हे वायु समान शीघ्र गति करने वाले! तू (उष्णेन उदकेन) गर्म जल के साथ (एहि) आ। (आदित्याः रुद्राः वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु नामक गुरु (सचेतसः) एकचित्त होकर (उन्दन्तु) ब्रह्मचारी [के सिर] को गीला करें, (प्रचेतसः) हे प्रज्ञानियो! तुम (राज्ञः सोमस्य) सौम्य स्वभाव वाले

---

१. "अग्निना सूचितानां मूढानाम्" मध्यपदलोपी समास।

२. पदपाठ में "भियं कृधि" पाठ है। अर्थात् शत्रु के लिए भय पैदा कर। वे यह जान कर भयभीत हों कि ये हरिण कोई अद्भुत शक्तियां हैं जो कि युद्ध कर रही हैं, ये हमारा नाश कर देंगी। अतः वे युद्ध स्थल से भाग जाएँ।

राजमान ब्रह्मचारी का (वपत) परस्पर सहयोग से मुण्डन करो।

[ब्रह्मचारी के उपनयन कर्म में इस सूक्त का विनियोग हुआ है (कौशिक सूत्र ५५.१-३)। उपनयन का अर्थ है "समीप लाना"। आचार्य उपनयन विधि से ब्रह्मचारी को निज ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट करता है, मुण्डन संस्कार द्वारा। मुण्डन संस्कार में "सविता" आदि मनुष्य हैं, अशरीरी देवता विशेष नहीं। (अथर्व० ८.२.१७) में सायणाचार्य ने कहा है कि **"हे देव सवितः, संस्कारकपुरुष, त्वं "वप्ता" केशानां छेत्ता "नापितः" सन् क्षुरेण केशश्मश्रुशिरोरोमाणि मुखरोमाणि च वपसि"**। इस उद्धरण में सायणाचार्य ने "सविता" को "पुरुष" तथा "नापित" कहा है। व्याख्येय मन्त्र में भी "सविता" का अभिप्राय नापित मनुष्य ही प्रतीत होता है जो कि "क्षुरेण" उस्तरे के साथ "आ अगन्" आया है।

इसी प्रकार "वायु" द्वारा भी "मनुष्य कर्मचारी" प्रतीत होता है जो कि उदक को उष्ण कर के लाता है। अन्तरिक्ष की वायु उदक को उष्ण करके अपने साथ नहीं लाती।

आदित्य, रुद्र और वसु भी ४८,३६ और २४ वर्षों के स्नातक हैं, जोकि ब्रह्मचर्याश्रम में गुरुरूप हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा। चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे॥ २॥

अर्थ—(अदितिः) अदीना-देव माता अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमवासी गुरुदेवों की मातृरूपा, आचार्यपत्नी (श्मश्रु) मोंछों का (वपतु) छेदन करे, (आपः उन्दन्तु) जल, मुण्डन संस्कार हो जाने पर ब्रह्मचारी को जल स्नान करा कर (वर्चसा) तेज से सम्बद्ध करें। तदनन्तर (प्रजापतिः) आश्रमवासी प्रजाजनों का अधिपति आचार्य (चिकित्सतु[1]) ब्रह्मचारी की चिकित्सा करे, उसके बुरे संस्कार रूपी रोगों का निवारण करे, (दीर्घायुत्वाय) ताकि वह दीर्घजीवी हो, (चक्षसे) और वह दीर्घ काल तक व्यक्त वाणी द्वारा बोल सके। अथवा उसकी चक्षु आदि इन्द्रियां दीर्घकाल तक स्वस्थ रह सकें।

[जैसे चूड़ाकर्म संस्कार में पिता प्रथम पुत्र के कतिपय केशों का छेदन स्वयं करता है, तदनन्तर नापित पूरा मुण्डन करता है। इस विधि को अदिति सम्पन्न करती है। "श्मश्रु" प्रौढ पुरुष के होते हैं बालक के नहीं अतः मन्त्र में प्रौढ़ावस्था के भी पुरुषों के लिए, अध्ययनार्थ, उपनयन विधि द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होने की विधि को सूचित किया है।

चक्षसे=**चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि। "असनयोश्च प्रतिषेधः"** (पा० वा० २.४.५४) इति स्मरणात् ख्याञादेशाभावः" (सायण)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्॥ ३॥

अर्थ—(येन क्षुरेण) जिस उस्तरे द्वारा (सविता) पुरुषनापित ने, (विद्वान्) जोकि केश छेदन को जानता है—(वरुणस्य) वरण-कर्त्ता आचार्य के (राज्ञः) विराजमान (सोमस्य) सौम्य स्वभाव वाले बालक का (अवपत्) केशछेदन किया है, (तेन) उस उस्तरे द्वारा (ब्रह्माणः) हे वेद के विद्वानो! आश्रम में गुरुओ! तुम (अस्य) इस प्रौढ़ावस्था के ब्रह्मचारी के (इदम् वपत) इस केशछेदन को करो [ताकि

१. अथवा "ब्रह्मचारी को ज्ञान प्रदान करे"। **कित ज्ञाने** (सायण)।

विद्या की समाप्ति के अनन्तर] (अयम्) यह [गृहस्थी हो कर] (गोमान्) गौओं वाला, (अश्ववान्) अश्वों वाला तथा (प्रजावान्) प्रशस्त पुत्र-पौत्र आदि वाला (अस्तु) हो।

[अवपत्, वपत=**डुवप् बीजसन्ताने छेदने च** (भ्वादिः)]।

सूक्त ६९

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)**॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद्यशः। सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि॥ १॥

अर्थ—(गिरौ) पर्वत में, (अरगराटेषु) अरगराटों में, (हिरण्ये) हिरण्य में, (गोषु) गौओं में (यत्) जो (यशः) यश है; (सिच्यमानायाम्) सीचे जाने वाले (सुरायाम्) शुद्ध जल में, (कीलाले[1]) अन्न में (मधु) जो मिठास है (तत्) वह सब (मयि) मुझ में हो।

[पर्वत में यश है दृढ़ता। अरगराटों अर्थात् अरों वाले घराटों में यश है अन्न को पीसना; यहां केवल पीसना अर्थ अभिप्रेत है, कुकर्मों तथा व्यसनों को पीस डालना। "अरों वाले घराट" है "पनचक्कियां" जो कि पानी के वेग द्वारा चलती हैं। हिरण्य में यश है हृदयरमणीयता, सबके हृदयों को रमणीय होना। गौओं में यश है निज दुग्ध द्वारा पालन-पोषण, अन्यों को पालना तथा पोषण करना। सुरा है उदक (निघं० १.१२)। कृषि कर्म में सींचा गया, मीठा उदक मीठे अन्न का उत्पादन करता है, खारा-उदक कृषि कर्म में न सींचना चाहिए। भारतीय दर्शन शास्त्रों के अनुसार शुद्ध जल का गुण है माधुर्य। कीलाल है अन्न (निघं० २.७), प्रकरणानुसार मधुर अन्न, न कि खट्टा कसैला अन्न।

सायणाचार्य ने "अरगराटेषु" के निम्नलिखित अर्थ किये हैं "रथचक्रावयवा: कीलका" अराः। तान् गिरति आत्मना संश्लेषयतीति अरगरो रथः। तेन अटन्ति संचरन्तीति अरगराटाः, रथिनो यशस्विनो राजानः। यद्वा अराः अरयः; तान् गच्छन्तीति अरगाः वीरा भटाः, तेषां राटाः जयघोषः। **रट परिभाषणे**]।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)**॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ २॥

अर्थ—(अश्विना) हे दो अश्वियो! (शुभस्पती) हे शुभकर्मों के स्वामियो! (मा) मुझे (सारघेण) सरघा अर्थात् मधुमक्खी के (मधुना) मधु सदृश माधुर्य द्वारा (अङ्क्तम्) तुम दोनों सींच दो। (यथा) जिस प्रकार कि (जनान् अनु) सब जनों के प्रति, अनुकूलरूप, (भर्गस्वतीम्) माधुर्य के तेज वाली (वाचम्) वाणी को (आ वदानि) सदा मैं बोलूं।

[दो अश्वी हैं या तो गुरु और गुरुपत्नी, जो कि विद्याओं में व्याप्त हैं, विद्याओं को विशेषतया प्राप्त हैं। अश्व+इन्=अश्विनौ। अश्व=**अशूङ् व्याप्तौ**। व्याप्ति=वि+आप्तिः, प्राप्ति। अथवा अश्विनौ=माता-पिता। अश्वः=**अश्नुते व्याप्नोतीति** (उणा० १.१५१, दयानन्द) "**अश्नुते व्याप्नोति अध्वानम्**", जो कि अध्वा अर्थात् मार्ग को शीघ्रता से समाप्त करता है]।

---

१. कीलालम्=**कील बन्धने** (भ्वादिः), तदर्थम् अलम् (पर्याप्तम्, भ्वादिः) जीवात्मा को शरीर के साथ बान्धे रखने में जो पर्याप्त है, समर्थ है=अन्न।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)**॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मयि वर्चो अथो यशोथो यज्ञस्य यत्पयः। तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु॥ ३॥

अर्थ—(मयि) मुझ में (वर्चः) ब्राह्मणवर्चस या विद्याध्ययन के तेज को, (अथो) तथा (यशः) कीर्ति को, (अथो) तथा (यज्ञस्य) यज्ञ का (यत्) जो (पयः) सारभूत फल है (तत्) उस को (प्रजापतिः) प्रजाओं का स्वामी परमेश्वर (मयि) मुझ में (दृंहतु) सुदृढ़ रूप में स्थापित करे, (दिवि) द्युलोक में (इव) जैसे (द्याम्) द्यौ को उसने स्थापित किया हुआ है, सुदृढ़ रूप में।

[यज्ञस्य=अथवा ब्रह्मचर्य-यज्ञ का। यथा "**पुरुषो वाव यज्ञः**" (छान्दोग्य उप० ३.१६.१)]।

सूक्त ७०

ऋषिः—**काङ्कायनः**॥ देवता—**अघ्न्या**॥ छन्दः—**जगती**॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम्॥ १॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार [मांसाहारी को] (मांसम्) मांस, (यथा) जैसे [सुरापायी को] (सुरा) सुरा, (यथा) जैसे [कितव को] (अधिदेवने) द्यूतकर्म में (अक्षाः) पासे प्रिय होते हैं, (यथा) जैसे (वृषण्यतः पुंसः) कामाभिलाषी पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्त्री में (निहन्यते) प्रह्वीभूत हो जाता है (एवा) इसी प्रकार (अघ्न्ये) हे अहननीये गौ (ते मनः) तेरा मन (वत्से अधि) वत्स में (निहन्यताम्) प्रह्वीभूत हो जाए।

[कितव=जुआरी। अक्षाः=dice। **अघ्न्या गोनाम** (निघं० २.११), तथा **पदनाम** (निघं० ५.५)। पदनाम का अभिप्राय है "यौगिकनाम"। अघ्न्या द्वारा "अहन्तव्या" यह सामान्य अर्थ भी अभिप्रेत है। गौ के सम्बन्ध में यह निर्देश अनुपपन्न प्रतीत होता है कि "तेरा मन वत्स अर्थात् बछड़े के प्रति प्रह्वीभूत हो"। गौ इस निर्देश को समझ कर तदनुकूल आचरण नहीं कर सकती। गौ का निज जात वत्स के साथ स्वाभाविक प्रेम होता ही है, और गौ के प्रेम को गार्हस्थ्य पारस्परिक प्रेम में उदाहरण रूप में भी कहा है। यथा "**अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या**" (अथर्व० ३.३०.१) अतः गौ को कहना कि तू वत्स के प्रति प्रह्वीभूत हो, व्यर्थ प्रतीत होता है। मन्त्र में अघ्न्या पद, सादृश्य में, गृहिणी के लिए प्रयुक्त हुआ, लाक्षणिक है। गौ और गृहिणी दोनों ही सन्तानोत्पादन करतीं तथा सन्तानों को निज दुग्ध पिलाती हैं। अतः मन्त्र में गृहिणी के प्रति कहा है कि गृहस्थ में बच्चों के पालन-पोषण में तेरा विशेष ध्यान होना चाहिए। "**मातृमान् पुरुषो वेद**"। वत्स शब्द का प्रयोग प्रेम प्रदर्शक भी है जो कि मानुष सन्तान के लिए भी होता है।

मन्त्र में प्रेमासक्ति के ४ दृष्टान्त दिये हैं, गृहिणी को यह दर्शाने के लिए कि बच्चों के प्रति तेरी भी प्रेमासक्ति इसी प्रकार होनी चाहिए। मन्त्र में चारों दृष्टान्त यद्यपि हीनोपमारूप हैं, परन्तु प्रेमासक्ति के दर्शाने में उपयोगी हैं, सार्थक हैं]।

ऋषिः—**काङ्कायनः**॥ देवता—**अघ्न्या**॥ छन्दः—**जगती**॥

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम्॥ २॥

अर्थ—(यथा) जैसे (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पग के अनुकल (पदम्) निज

पद को प्रेमवश हुआ (उद्युजे) उद्-युक्त करता है, चलते समय उठाता है, (यथा) जैसे (वृषण्यतः) कामाभिलाषी (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्त्री में (निहन्यते) प्रह्वीभूत हो जाता है, (एवा) इसी प्रकार (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये! (ते मनः) तेरा मन (वत्से अधि) वत्स में (निहन्यताम्) प्रह्वीभूत हो जाए। भाव पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[उद्युजे=उद्युङ्क्ते। "**लोपस्त आत्मनेपदेषु**" (अष्टा० ७.१.४१) द्वारा "त" का लोप तथा छान्दस विकरण का लुक् (सायण)]।

ऋषिः—**काङ्कायनः**॥ देवता—**अघ्न्या**॥ छन्दः—**जगती**॥

यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि। यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोधि वत्से नि हन्यताम्॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (प्रधिः) रथचक्र की नेमि, (यथा) जैसे (उपधिः) नेमि से सम्बद्ध रथचक्र का घेरा, वलय, जिस के साथ "अरे" लगे रहते हैं; (यथा) जैसे (नभ्यम्) रथचक्र की नाभि का फलक (प्रधौ अधि) प्रधि अर्थात् नेमि देश के साथ सम्बद्ध रहता है। (यथा) जैसे (वृषण्यतः) कामाभिलाषी (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्त्री में (निहन्यते) प्रह्वीभूत हो जाता है, (एवा) इसी प्रकार (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये! (ते मनः) तेरा मन (वत्से अधि) वत्स में (निहन्यताम्) प्रह्वीभूत हो जाए। भाव पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[निहन्यताम्=नि (नितराम्)+**हन** (**गतौ**, अदादिः), नितरां गतं भवतु, प्रह्वीभूतं भवतु। "प्रधिः प्रधीयत इति प्रधिः, रथचक्रस्य नेमिः। उपधिः उप तत्समीपे धीयत इत्युपधिः। नेमिसम्बद्ध अराणां सम्बन्धको वलयः। यथा प्रधिः उपधिना सम्बध्यते, उपधिश्च प्रधिना। यथा च नभ्यम् रथचक्रमध्यफलकं [परम्परया] प्रधावधि नेमिदेश सम्बध्यते। यथा एते परस्परं दृढसंबद्धाः, एवं हे अघ्न्ये त्वदीयं मनः वत्से दृढसंबद्धं भवतु"[१] (सायण)।

सूक्त ७१

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ १॥

अर्थ—(बहुधा) बहुत प्रकार से (विरूपम्) भिन्न-भिन्न रूपों वाला अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस (अन्नम्) अन्न (यद् अद्मि) जो मैं खाता हूँ; तथा (हिरण्यम्) सुवर्ण, (अश्वम्) अश्व (उत) और (गाम्, अजाम् अविम्) गौ, बकरी, भेड़ (यद् एव) जो ही (किं च) कुछ (अहम्) मैंने (प्रति जग्रह) दानरूप में ग्रहण किया है, (तत्) उस सब को (होता) दाता (अग्निः) परमेश्वर (सुहुतम्)

१. अघ्न्या का मन वत्स में किस प्रकार से सम्बद्ध रहना चाहिए, इस में रथ या शकट के चक्र अर्थात् पहिये का दृष्टान्त दिया है। पहिये के केन्द्र में काष्ठ का एक गोल फलक [नभ्य] होता है, जिस के साथ अरों का एक किनारा सम्बद्ध रहता है, और दूसरा किनारा पहिये की प्रधि अर्थात् परिधि के साथ लगा रहता है। और गोलाकार परिधि [प्रधि] भी गोलाकार में झुकी हुई उपधियों अर्थात् पुट्ठियों, अवयवों के जोड़ों द्वारा बनी होकर इन पुट्ठियों [उपधियों] के साथ सम्बद्ध रहती है। पहिये के इन अवयवों का परस्पर में जिस प्रकार दृढ़ सम्बन्ध होता है, वैसा दृढ़ सम्बन्ध माता का निज वत्स [पुत्र, पुत्री] के साथ होना चाहिए, यह भाव मन्त्र का है।

जाठराग्नि में उत्तमाहुतिरूप तथा दाता द्वारा उत्तम विधि पूर्वक दिया हुआ (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में दो प्रकार की वस्तुओं का वर्णन हुआ है खाद्यवस्तुओं का, तथा दान में गृहीत वस्तुओं का। "अद्मि" द्वारा खाद्य वस्तुओं का, तथा "प्रतिजग्रह" द्वारा दान में गृहीत वस्तुओं का। व्यक्ति सबके दाता अग्नि नामक परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि आगे से सदा सुहुत होने वाला सात्म्य अन्न मैं खाऊँ और धर्म विधि से दान में प्राप्त का ग्रहण करूँ ऐसी कृपा तू कर। परमेश्वर ज्ञानाग्निस्वरूप है, उससे एतद्विषयक ज्ञान प्राप्ति की भी अभिलाषा सूचित की है, ताकि व्यक्ति विवेकपूर्वक अन्न खा सके, और विवेकपूर्वक प्रतिग्रह कर सके। मनु ने तो कहा है कि "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः", कि "प्रतिग्रह श्रेष्ठ कर्म नहीं"। होता=**हु दाने** (जुहोत्यादिः)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ २॥

अर्थ—(पितृभिः) माता, पिता, आचार्यरूपी पिताओं द्वारा (दत्तम्) दिया गया (हुतम्) यज्ञाग्नि में हुत हुआ अर्थात् हुतशेष तथा (मनुष्यैः) मनुष्यों द्वारा (अनुमतम्) अनुज्ञात (यत्) जो (अहुतम्) यज्ञाग्नि में हुत न हुआ (मा आ जगाम) मुझे अन्न प्राप्त हुआ है, (यस्मात्) जिस अन्न से (मे मनः) मेरा मन (इव) मानो (उद् रारजीति) उद्धर्षित हुआ है, या राग युक्त हुआ है, (तत्) उसे (होता) सबका दाता (अग्निम्) परमेश्वर (सुहुतम्) उत्तम यज्ञशेषरूप (कृणोतु) करे।

[प्राप्त अन्न दो प्रकार का है, हुत और अहुत। पितरों द्वारा प्राप्त अन्न तो हुतरूप है। उस के ग्रहण करने से मन उद्दीप्त होता है, उद्धर्षित होता है [उद् **राजृ दीप्तौ**], और यज्ञ किये विना, परन्तु फिर भी सर्व साधारण मनुष्यों द्वारा अनुज्ञात अन्न, जो कि सेवन करने वाले को सांसारिक या धन के राग से रञ्जित कर देता है। इन दोनों प्रकार के अन्नों को, सुहुत करने अर्थात् जाठराग्नि में परिपक्व हो जाने की अभिलाषा प्रकट की गई है। उद्+**रञ्ज रागे**। रारजीति=यङ्लुगन्तरूप]।

ऋषिः—**ब्रह्माः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्॥ ३॥

अर्थ—(देवाः) हे दिव्य कोटि के पितरो! [मन्त्र २] (यत्) जो (अन्नम्) अन्न (अनृतेन) अनृत मार्ग से प्राप्त कर (अद्मि) मैं खाता हूँ; (दास्यन्) ऋण द्वारा प्राप्त अन्न को वापिस दूंगा (उत अदास्यन्) या न दूंगा तो भी (संगृणामि) मैं प्रतिज्ञा करता हूँ [कि दूंगा], (मह्यम्) मेरे लिए वह, सब कुछ, (वैश्वानरस्य) सब नर-नारियों के हितकारी (महतः) महान् परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा द्वारा, तथा वह (अन्नम्) प्राप्त अन्न (शिवम्) सुखप्रद तथा (मधुमत्) मधुर (अस्तु) हो। अथवा "दास्यन् अदास्यन्="दे सकूंगा, या न दे सकूंगा" [दानरूप में प्रतिज्ञात धन]।

[यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अनुचित काम करके भी उस के दुष्फल को प्राप्त करना नहीं चाहता, और तदनुरूप प्रार्थना भी परमेश्वर से करता है। ऐसी प्रार्थनाएँ भी अन्ततोगत्वा सुखप्रद हो जाती हैं। बार-बार प्रार्थनाओं के करते किसी समय प्रार्थी में अनुताप प्रकट हो जाता है और वह अनुचित कर्मों

के करने से उपरत हो जाता है]।

सूक्त ७२

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**शेपोऽर्कः**॥ छन्दः—**जगती**॥

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।

एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु॥ १॥

अर्थ—(यथा) जैसे (असुरस्य) प्राणप्रदाता परमेश्वर की (मायया) प्रज्ञा द्वारा, (असितः) बन्धन रहित अर्थात् सीमा रहित आकाश (प्रथयते) प्रथित होता है, विस्तृत होता है, और (वशान् अनु) कामनानुसार (वपूंषि) नानाविध शरीरों को (कृण्वन्) वह परमेश्वर पैदा करता है, (एवा) इसी प्रकार (सहसा) साहस द्वारा (ते) हे राजन्! तेरा (शेप) राज्य, (अयम् अर्कः) जोकि इस सूर्य की तरह ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित हुआ है, [प्रथयते] फैलता है, यह तेरा राज्य (अङ्गेन अङ्गम्[१]) राज्य के प्रत्येक अंग के साथ अन्य अंग को (सम्, सम्, अकम्) परस्पर संगत अर्थात् मेलयुक्त (कृणोतु) करे।

[असुरस्य=**असुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)+र (**रा दाने**, अदादिः)। असितः=अ+**षिञ् बन्धने** (स्वादिः)+क्तः। वशान्=**वश कान्तौ**, कान्तिः, इच्छा, कामना। शेपः=पसः=राष्ट्रम् यथा "**विड् वै गभो राष्ट्रं पसः** (श० ब्रा० १३.२.९.६)। कृण्वन् "भवति"]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**शेपोऽर्कः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्। यावत्परस्वतः पसस्तावत्ते वर्धतां पसः॥ २॥

अर्थ—[हे राजन्!] (यथा) जिस प्रकार कि (पसः) राष्ट्र (अरम्) पर्याप्त (तायात्) विस्तार को प्राप्त हो, [जैसे कि] (वातेन) वात द्वारा [पेट] (स्थूलभम्) स्थूलनिभ (कृतम्) कर दिया जाता है। (परस्वतः) पूर्व सृष्टिकाल के चक्रवर्ती राजा का (यावत्) जितना बड़ा (पसः) राष्ट्र था (तावत्) उतना बड़ा (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र (वर्धताम्) बढ़े।

[पसः=राष्ट्रम् (मन्त्र १)। तायात्=**तायृ सन्तानपालनयोः** (भ्वादिः)। सन्तान=सम्यक् विस्तार। सम्+**तनु विस्तारे** (तनादिः)। अरम्=अलम्, पर्याप्तम्। वातेन=वात, पित्त, कफ शरीर की धातुएँ हैं। वायुविकार द्वारा पेट स्थूल हो जाता है, फूल जाता है। परस्वतः=पूर्वकाल के चक्रवर्ती[२] राजा का]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**शेपोऽर्कः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।

यावदश्वस्य वाजिनस्तावत्ते वर्धतां पसः॥ ३॥

अर्थ—(यावद् अङ्गीनम्) जितने अवयवों वाला (पारस्वतम्=पारावतम्) कबूतर का, (हास्तिनम्) हाथी का, (च यत्) और जो (गर्दभम्) गर्दभ का, (यावत्) जितना (वाजिनः अश्वस्य) शक्तिशाली अश्व का (पसः) राष्ट्र या राज्य है [हे राजन्!] (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र या राज्य

---

१. यथा "विशो मेऽङ्गानि सर्वत" (यजु० २०.८), अर्थात् राष्ट्र में सर्वत्र फैली भिन्न-भिन्न प्रजाएँ मेरे अङ्गरूप हैं। ये शरीर के अङ्गों की तरह परस्पर मिली रहें।

२. इन्हें जनराट्, (यजुः० १०.१८, ९.४०); (अथर्व० २०.२१.९); तथा एकराट् (अथर्व० ३.४.१); (ऋ० ८.३७.३) कहा है। अर्थात् पृथिवी के सब जनों का एक राजा, चक्रवर्ती राजा।

(वर्धताम्) बढ़े, विस्तृत हो। पसः=राष्ट्र, मन्त्र (६.७२.१)।

[''पारस्वतम्'' छान्दस पाठ है, और लौकिक संस्कृत पाठ है ''पारावतम्''। ''सकार'' हलन्त का विकार ''अकार'' हुआ है। मन्त्र में ''हस्ती'' आदि सब अमानुष प्राणिवाचक पद हैं, अतः ''पारस्वतम्'' पद भी अमानुष प्राणिवाचक पद प्रतीत होता है, जो कि ''पारावतम्'' सम्भवत है। पारावत है कबूतर।

''पारावतम्'' आदि द्युलोकस्थ तारागणों की प्राण्याकृतियां अभिप्रेत हैं। इन आकृतियों में जितने-जितने तारा हैं वे उस-उस के अङ्ग हैं, अवयव हैं। प्रत्येक ''पारावत'' आदि जितनी डिगरियों [अंशों] में फैला हुआ है, विस्तृत हुआ है, उतने विस्तार वाला उस-उस का मानो राष्ट्र है, राज्य है। राजा के प्रति कहा है कि तेरा राष्ट्र या राज्य भी इन्हीं विस्तारों के सदृश विस्तृत हो। वर्तमान द्युलोक के चित्र अभिप्रेत वैदिक-चित्रों के सर्वथा अनुरूप नहीं हैं। चित्रों की व्याख्या परिशिष्ट में देखिए।

सप्तम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ८

सूक्त ७३

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।

अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः॥ १॥

अर्थ—(इह) यहां (आयातु) आए (वरुणः) वरुण राजा, (सोमः) सेनाध्यक्ष, (अग्निः) प्रधानमन्त्री। (बृहस्पतिः) बड़ी सेना का पति भी (इह) यहां (आ यातु) आए, (वसुभिः) वसुओं [रुद्रों, आदित्यों] के साथ। (सर्वे) ये तुम सब (सजाताः) एक साम्राज्य में उत्पन्न हुए, (संमनसः) एक मन हुए (अस्य) इस (उग्रस्य चेत्तुः) सदा सावधान रहने वाले उग्रसम्राट् की (श्रियम्) साम्राज्य की शोभा सम्पत् में (उप संयात) मिलकर उपस्थित होओ।

[वरुण के कथन से ''सम्राट्'' अर्थ आक्षिप्त होता है, यथा **'इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा'** (यजुः० ८.३७)। वरुण है एक राष्ट्र का राजा और सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति। सोम और बृहस्पति है सेना नायक तथा सेनाधिपति (यजुः० १७.४०)। अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री (निरुक्त ७.४.१४)। वसुभिः पद, रुद्रों और आदित्यों का उपलक्षक है। ये हैं साम्राज्य के विद्वान्[१] शिक्षक। मन्त्र में सम्राट् के दरबार का वर्णन है। साम्राज्य के शासन में परस्पर सांमनस्योत्पादनार्थ विचार के लिए, दरबार लगाया गया है, और अधिकारियों तथा विद्वानों को तदर्थ आमन्त्रित किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।

तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ २॥

अर्थ—(वः) तुम्हारे (हृदयेषु अन्तः) हृदयों के अन्दर (यः) जो (शुष्मः) शत्रुशोषक बल है, (वः) तुम्हारे (मनसि) एकीभूत मन में (या) जो (आकूतिः) कल्पना [अर्थात् संकल्प] (प्रविष्टा)

१. वसु, रुद्र और आदित्य तीन वैदिक उपाधियाँ हैं ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा प्राप्त विद्वानों की, देखो (छान्दोग्य उप० ३.१६); जैसे कि बी०ए०, एम०ए०, डॉक्टर। तथा प्राज्ञ, विशारद, शास्त्री आदि।

प्रविष्ट हुई है, (तान्) उन बलों और संकल्पों को (हविषा, घृतेन) यज्ञिय हवि और घृत द्वारा यज्ञ करके (सीवयामि) मैं सम्राट् संगठित करता हूँ, (सजाताः) हे एक साम्राज्य के पुत्रो! (वः) तुम्हारी (रमतिः) प्रेमासक्ति (मयि अस्तु) मुझ सम्राट् में हो।

[लगे दरबार में एकत्रित हुए अधिकारियों और शिक्षकों के प्रति सम्राट् का भाषण है। **शुष्मम् बलनाम** (निघं० २.९)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भूरिक् त्रिष्टुप्**॥

इहैव स्त मापं याताध्यस्मत्पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु।

वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ ३॥

अर्थ—[हे अभ्यागतो!] (इह एव) यहां ही [मेरे आतिथ्य में] (स्त) होओ, रहो, (मा अपयात) हम से जुदा न होओ। (पूषा) अन्नादि द्वारा पोषक अधिकारी (परस्तात्) हम से परे जाने में (वः) तुम्हारा (अपथम्) मार्गरोध (कृणोतु) करे। (वास्तोष्पतिः) राजकीय गृहों का स्वामी (अनु) निरन्तर (वः) तुम्हारा (जोहवीतु) बार-बार आह्वान करता रहे (सजाताः) ताकि हे साम्राज्य में उत्पन्न हुए साम्राज्य के पुत्रो! (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारी (रमतिः) प्रेमासक्ति (अस्तु) हो, बनी रहे।

[सम्राट् का भाषण है अभ्यागतों के प्रति, जो कि सम्राट् के दरबार में उपस्थित हुए हैं। सम्राट् कहता है कि साम्राज्य का पोषक-अधिकारी पोषकसामग्री द्वारा तुम्हारी इतनी सेवा करे कि वापिस जाने का तुम्हारा मार्ग और अधिक काल तक रुका रहे। तथा साम्राज्य का वास्तोष्पति तुम्हें पुनः-पुनः आने का आह्वान करता रहे, तुम्हें आमन्त्रित करता रहे। इस प्रकार तुम्हारी प्रेमासक्ति को मैं प्राप्त करता रहूँ।]

सूक्त ७४

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं वः पृच्यन्तां तन्व१ः सं मनांसि समु व्रता।

सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥ १॥

अर्थ—(वः) तुम्हारे (तन्वः) शरीर (सं पृच्यन्ताम्) परस्पर सम्पर्क किया करें, (मनांसि सम्) मन परस्पर सम्पर्क किया करें, (व्रता=व्रतानि) व्रत या कर्म (सम् उ) परस्पर सम्पर्क किया करें। (अयम् ब्रह्मणस्पतिः) यह वेदों का स्वामी परमेश्वर (वः) तुम्हें (सम् अजीगमत्) परस्पर संगत करे, (भगः) यह भजनीय परमेश्वर (वः) तुम्हें (सम्) परस्पर संगत करे।

[शरीरों, मनों, तथा व्रतों और कर्मों की दृष्टि से तुम आपस में मिले रहो, वेदों का स्वाध्याय करो और एक भजनीय परमेश्वर का भजन किया करो]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संज्ञपनं वो मनसोथो संज्ञपनं हृदः। अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥ २॥

अर्थ—(वः) तुम्हारे (मनसः) मनों का (संज्ञपनम्) सांमनस्य हो, (अथो) तथा (हृदः) हृदयों का (संज्ञपनम्) सांमनस्य हो। (अथो) तथा (भगस्य) भजनीय परमेश्वर का (यत्) जो (श्रान्तम्) तपोरूप वेदज्ञान है (तेन) उस द्वारा (वः) तुम्हें (संज्ञपयामि) हम एकमत वाले तथा सम्यक् ज्ञानसम्पन्न करते हैं।

[मनों का साम्मनस्य है एकविचार, हृदयों का साम्मनस्य है एकसदृश भावनाएँ। श्रान्तम्=**श्रमु तपसि खेदे च** (दिवादिः)। तथा '**यस्य ज्ञानमयं तपः**' (मुण्डक १.१.९)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमाञ्जनान्त्संमनसस्कृधीह॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (आदित्याः) आदित्यकोटि के विद्वान् (वसुभिः) वसु कोटि के विद्वानों के साथ (संबभूवुः) सांमनस्य में होते हैं, (उग्राः) उग्र बलवाले क्षत्रिय सेनाध्यक्ष (मरुद्भिः) मारने में कुशल सैनिकों के साथ (अहृणीयमानाः) विना लज्जा और संकोच के (संबभूवुः) सांमनस्य में होते हैं, (एवा) इसी प्रकार (त्रिणामन्)[1] तीन लोकों को अपने प्रति नमानेवाले, झुकानेवाले, उन्हें पराजित करनेवाले हे परमेश्वर! (अहृणीयमानः) विना संकोच किये तू (इमान्) इन (जनान्) प्रजाजनों को (संमनसः) परस्पर सांमनस्य वाले, तथा निज के साथ मिले मनोंवाले (इह) इस जगत् में (कृधि) कर।

[आदित्य उच्चकोटि के विद्वान् हैं, और वसु निचली कोटि के विद्वान् हैं, तब भी गुरुकुलों में परस्पर सांमनस्य में रहते हैं, प्रेमपूर्वक रहते हैं। उग्र सेनाध्यक्ष और सेनाधिपति तथा सैनिक एक-सैनिक स्थान में भी परस्पर सांमनस्य अर्थात् प्रेम में रहते हैं, इसी प्रकार नागरिक प्रजाजनों को भी परस्पर सांमनस्य अर्थात् प्रेम में रहना चाहिए, तथा उपास्य और उपासक में भी परस्पर अनुरागयुक्त होना चाहिए।]

सूक्त ७५

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति। नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरीत्॥ १॥

अर्थ—(अमुम्) उस शत्रु को (ओकसः) निज राष्ट्रगृह से (निर् नुदे) मैं वरुण-राष्ट्रपति निकाल देता हूँ, (यः) जो (सपत्नः) शत्रु कि (पृतन्यति) सेना द्वारा आक्रमण करना चाहता है। (इन्द्रः) सम्राट् (नैर्बाध्येन) नितरां बाधा डालने वाली (हविषा) युद्धयज्ञ में हविरूप सेना द्वारा (एनम्) इस सपत्न की (पराशरीत्) हिंसा करे।

[राष्ट्रपति 'वरुणराजा' निज राष्ट्र को निज ओकस् अर्थात् घर समझ कर उस की रक्षा करता है। इन्द्र है सम्राट्। सम्राट् के सम्बन्ध से राष्ट्रपति है वरुण-राजा। '**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**' (यजुः० ८.३७)।]

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा। यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥

अर्थ—(वृत्रहा) आवरण अर्थात् घेरा डालने वाले शत्रुदल का हनन करने वाला (इन्द्रः) सम्राट् (तम्) उसे (परमां परावतम्) दूर से दूर (नुदतु) धकेल दे, (यतः) जहां से (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वतकालसम्बन्धी वर्षों से भी (पुनः) फिर लौट कर (न आयति) न आये।

[अभिप्राय यह कि इन्द्र उसे मार डाले, जहां से लौटकर आना नहीं होता। मन्त्र में 'तम्' द्वारा शत्रु-

१. तथा ओ३म् के अ, उ, म् इन तीन अक्षरों द्वारा निर्दिष्ट नामों वाले! (माण्डू०उप०; तथा सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास)।

राजा का निर्देश हुआ है। परावतः दूरनाम (निघं० ३.२६)।]

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

एतु तिस्त्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति। एतु तिस्त्रोति रोचना
यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत्सूर्यो असद्दिवि॥ ३॥

अर्थ—शत्रु (परावतः) दूरवर्ती (तिस्त्रः) तीन भूमियों को (अति एतु) अतिक्रान्त कर जाए, (पञ्च जनान्) पांच जनों को (अति एतु) अतिक्रान्त कर जाए। (तिस्त्रः रोचनाः) तीन प्रदीप्त लोकों का (अति एतु) अतिक्रमण कर जाए, (यतः) जहां से (न पुनः आयति) न फिर आए, न लौट कर आए (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वतकालसम्बन्धी वर्षों से भी, अर्थात् (यावत्) जितने वर्षों तक (सूर्यः) सूर्य (दिवि) द्युलोक में (असद्) रहे।

[दूरवर्ती[१] तीन भूमियां हैं—बुध, बृहस्पति, शनैश्चर। पञ्चजन हैं चार वर्णों के जन और एक निषादरूपी, इस प्रकार पांच प्रकार के मनुष्य। शत्रु जब मर कर पृथिवी से दूर चला गया तो उसका सम्पर्क पृथिवीवासी पाञ्च जनों के साथ न रहा। तीन प्रदीप्त लोक हैं द्युलोक, स्वर्गलोक तथा नाकलोक। यथा "**येन द्यौरुग्रा, येन स्वः स्तभितं, येन नाकः**" (यजुः० ३२.६)।]

सूक्त ७६

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे। संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि॥ १॥

अर्थ—(ये) जो (एनम्) इस [क्षत्रिय, मन्त्र ३,४] के (परिषीदन्ति) चारों ओर बैठते हैं, और (चक्षसे) [अग्नि के] दर्शन के लिए (समादधति) समाहितचित्त होते हैं, उनकी (जिह्वाभिः) जिह्वाओं अर्थात् वाक्यों या भाषणों द्वारा (संप्रेद्धः) सम्यक् प्रदीप्त हुई (अग्निः) क्षात्राग्नि (हृदयात् अधि) क्षत्रिय के हृदय से (उदेतु) उद्गत हो, उठे।

[सूक्त के चारों मन्त्रों के वर्णन कविता में हैं और छायावादानुरूप हैं। जिह्वाभिः=**जिह्वा वाङ्नाम** (निघं० १.११)। शत्रुओं द्वारा किये गये आक्रमण को सह्य न जानते हुए, क्षत्रिय के हृदय से जो क्षात्राग्नि उद्गत होती है उसके दर्शन के लिए क्षत्रिय के चारों ओर बैठे सैनिकों के उत्साहजनक भाषणों द्वारा यह क्षात्राग्नि सम्यक् प्रदीप्त होकर क्षत्रिय के हृदय से उठती है और प्रजाजन इस अग्नि का दर्शन ध्यानपूर्वक करते हैं।]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे। अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः॥ २॥

अर्थ—[क्षत्रिय कहता है] (सांतपनस्य) शत्रु को सन्तप्त करनेवाली (अग्नेः) अग्नि के (पदम्) पैर को, चरण को (आयुषे) निज, प्रजाजन और राष्ट्र के जीवन के लिए, (अहम्) मैं (आरभे=आलभे) पकड़ता हूँ, छूता हूँ। (यस्य) जिस अग्नि के (धूमम्) धूएँ को (आस्यतः) मुझ क्षत्रिय के मुख से (उद्यन्तम्) उठते हुए को (अद्धातिः) सत्यान्वेषी, मेधावी मनुष्य (पश्यति) देखता है।

---

१. और समीप की तीन भूमियां हैं, पृथिवी जो कि हमारे अत्यन्त समीप है, शुक्र तथा मंगल।

[**श्रद्धा सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। **अद्धातयः मेधाविनाम** (निघं० ३.१५)। अग्नि जब सन्दीप्त होती है तो उस से धुआं उठता है, इसी प्रकार क्षात्राग्नि के मुख से धुआं उठता है। सम्भवतः यह मुख 'फेन' हो।]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम्। नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे॥ ३ ॥

अर्थ—(यः) जो प्रजाजन (अस्य) इस धर्मयुद्ध की अग्नि की (समिधम्) समिधा को (वेद) जानता है, जो कि (क्षत्रियेण) क्षत्रिय द्वारा (समाहिताम्) सम्यक् अर्थात् धर्मपूर्वक आधानरूप में स्थापित की जाती है, (सः) वह प्रजाजन (अभिह्वारे) कुटिल अर्थात् छल कपट की नीति में (पदम्) पैर को (न निदधाति) नहीं रखता, पदन्यास नहीं करता, और न (मृत्यवे) मृत्यु के लिए पदन्यास करता है।

[अभिह्वारे=अभि+**ह्वृ कौटिल्ये** (भ्वादिः)। कुटिल है छल-कपट से युद्ध करना। यह नीति सच्चे क्षत्रिय को नहीं भाती। सच्चा क्षत्रिय धर्मानुमोदित छल-कपट रहित युद्ध को अपनाता है। क्षत्रिय की समिधा है "एकीभूत-राष्ट्रसम्पत्ति" तथा सैन्यवर्ग। वह इन दोनों को युद्ध-यज्ञाग्नि में हुत कर देता है, परन्तु छलकपट का आश्रय नहीं लेता।]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति। अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे॥ ४ ॥

अर्थ—(पर्यायिणः) सब ओर घेरा लगाकर आये हुए शत्रु (एनम्) इस क्षत्रिय को (न घ्नन्ति) नहीं मार पाते, (न) और न (सन्नान्) घेरा डाले बैठे शत्रुओं को वह (अवगच्छति) अवगत ही करता है, इन्हें कुछ जानता ही है, न इन की परवाह ही करता है, (यः) जो (क्षत्रियः) क्षत्रिय (विद्वान्) युद्धविद्या या क्षात्रविद्या का विज्ञ हुआ (आयुषे) निज, प्रजाजन और राष्ट्र के दीर्घ जीवन के लिए (अग्नेः) क्षात्राग्नि का (नाम गृह्णाति) नाम ग्रहण करता है, नाम जपता है, इसे प्राप्तव्य देव जानकर इस की उपासना में रत रहता है।

[पर्यायिणः=परित आगन्तारः शत्रवः (सायण)। सन्नान्=सद्+क्तः (कर्तरि)। सीदन्तीति सन्नाः, तान्।]

सूक्त ७७

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम्॥ १ ॥

अर्थ—(द्यौः) द्युलोक (अस्थात्) स्वस्थान में स्थित है, (पृथिवी अस्थात्) पृथिवी स्वस्थान में स्थित है, (इदम्) यह (जगत्) गतिमान् (विश्वम्) विश्व (अस्थात्) स्वस्थान में स्थित है। (आस्थाने) निज स्थान में (पर्वताः) पर्वत (अस्थुः) स्थित हुए हैं, (स्थाम्नि) स्वस्व (अश्वान्)[१] रश्मियों से व्याप्त तारा-नक्षत्रों को (अतिष्ठिपम्) मुझ परमेश्वर ने स्थापित किया है।

[अश्वान्=**अशूङ् व्याप्तौ** (स्वादिः), रश्मियों द्वारा व्याप्त। वैदिकसिद्धान्तानुसार पृथिवी आदि सब

१. तथा अश्वः=आदित्यः। यथा "**एको अश्वो वहति सप्तनामा**" (ऋ० १.१६४.२)। "**एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः**" (निरुक्त ४.४.२७)।

चलायमान हैं, अपने-अपने कक्षावृत्तों में। इन्हीं कक्षावृत्तों में परमेश्वर ने इन्हें स्थित किया हुआ है, स्थापित कर रखा है। ये सब चलायमान हैं—यह दर्शाने के लिए मन्त्र में विश्व को 'जगत्' कहा है, गतिशील कहा है। जगत्[१]=**गम्लृ (गतौ)**+यङ् लुक्+अति प्रत्यय।]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्। आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (गोपाः) पृथिवी और वेदवाक् का रक्षक परमेश्वर (परायणम्[२]) दूर के मार्गों में (उदानट्) उत्कर्षरूप में व्याप्त है, (यः) जो (न्यायनम्[२]) नीचे के मार्गों में भी (उदानट्) उत्कर्षरूप में व्याप्त है। (यः) जो (आवर्तनम्) सर्जनकाल में सृष्टि में आवे और (निवर्तनम्) प्रलयकाल में सृष्टि से निवृत्त हो जाने को [उदानट्] उत्कृष्टतया प्राप्त करता है (तम्) उस परमेश्वर का (अपि) भी (हुवे) मैं [स्तुति-प्रार्थना में] आह्वान करता हूँ।

[उदानट्=**नशतिर्व्याप्तिकर्मा**। अस्मात् छान्दसे लुङि **'मन्त्रे घस'** (अष्टा० २.४.८०) इति च्लेर्लुक्। आडागमः। 'षत्वजश्त्वे' (सायण)। गोपाः=**गौः पृथिवीनाम, गौः वाङ्नाम** (निघं० १.१; १.११)+**पा रक्षणे** (अदादिः)। **'अपिः सम्भावनायाम्'** (सायण)।]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः। सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि॥ ३॥

अर्थ— (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों को जानने वाले परमेश्वर! (निवर्तय) हमारे राग-द्वेष आदि की निवृत्ति कर, ताकि (शतम्)[३] सौ (ते आवृतः) तेरे आगमन (सन्तु) हमारे हृदयों में हों। (ते) तेरे (सहस्रम्)[३] हजारों (उपावृतः) हमारी उपासनाओं में समीप आगमन हों, (ताभिः) उन आगमनों और उपागमनों द्वारा (पुनः) बार-बार (आ कृधि) आगमन और उपागमन कर।

सूक्त ७८

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः। जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम्॥ १॥

अर्थ—(तेन) उस (भूतेन) प्रभूत (हविषा) हविःरूप अन्न द्वारा (अयम्) यह पति (पुनः) फिर-फिर सेवन से (आप्यायताम्) वृद्धि प्राप्त करे, बढ़े। (याम् जायाम्) जिस पत्नी को (अस्मै) इस पति के लिए (आवाक्षुः) माता-पिता ने प्राप्त कराया है (ताम्) उसे (रसेन) दुग्ध, दधि, घृत तथा नानाविध रसों द्वारा (अभिवर्धताम्) पति बढ़ाए।

[भोज्य अन्न को हविः कहा है। इसे जाठराग्नि को यज्ञाग्नि समझकर उस में आहुतिरूप में आहुत करना चाहिए। और एक बार प्रभूत अन्न न खा कर बार-बार इसका सेवन करना चाहिए। ऐसे सेवक को आत्मयाजी कहते हैं। पत्नी ने सन्तानोत्पादन करना है, अतः उस का पोषण रसदार पौष्टिक भोज्यों द्वारा करते रहना पति का कर्त्तव्य है। अभिवर्धताम्=अभिवर्धयतु, णिलोपः (सायण)]।

---

१. जगत्=गच्छतीति, गम् धातोः जगादेशः तथा (उणा० २.८५)।

२. दूर के मार्ग=द्युलोक सम्बन्धी। नीचे के मार्ग=अन्तरिक्ष के और भूलोक सम्बन्धी।

३. ये दोनों पद "बहुत्व" के सूचक हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

अर्थ—[पति-पत्नी दोनों] (पयसा) दुग्धादि द्वारा (अभिवर्धताम्) बढ़ें, (राष्ट्रेणा) राष्ट्र या राष्ट्रिय भावना द्वारा (अभिवर्धताम्) बढ़ें। (इमौ) ये दोनों (सहस्रवर्चसा) अपरिमित तेजप्रद (रय्या) सम्पत्ति द्वारा (अनुपक्षितौ)[1] उपक्षीण न (स्ताम्) हों, इनकी सम्पत्ति बढ़ती रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्वष्टा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्वष्टा जायामजनयत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।

त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(त्वष्टा) शिल्पकारी रचयिता परमेश्वर ने (जायाम्) जाया अर्थात् पत्नी को (अजनयत्) पैदा किया, (त्वष्टा) शिल्पकारी रचयिता परमेश्वर ने (अस्यै) इस जाया के लिए (त्वाम्) तुझ (पतिम्) पति को पैदा किया। (त्वष्टा) शिल्पकारी रचयिता परमेश्वर ने (सहस्रम्) हजारों (आयूंषि) आयुएँ तुम्हारी कीं [भूतकाल में], वह (वाम्) तुम दोनों की (आयुः) [वर्तमान] आयु को (दीर्घम् कृणोतु) दीर्घ करे।

[त्वष्टा=**त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः** (निरुक्त ८.२.१४)। सहस्रम् आयूंषि=जन्म-जन्मान्तरों में हजारों आयुएँ त्वष्टा ने तुम्हारी कीं। अथवा हजार वर्षों की दीर्घ आयु तुम्हारी करे। आयुः=जीवनकाल]।

सूक्त ७९

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः ॥ १ ॥

अर्थ—(अयम्) यह (नभसस्पतिः) मेघ का पति (संस्फानः) सम्यक् वृद्धि करने वाला परमेश्वर (नः) हमारी (अभिरक्षतु) पूर्णतया रक्षा करे और (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (असमातिम्) मापरहित धान्य की रक्षा करे।

[मेघ के वर्णन से तदुत्पादित धान्य की असमाति अभिप्रेत है। असमाति का अर्थ है मापराहित्य अर्थात् प्रभुत्व। अ+स[2]+मातिः, माप=मापराहित्य। सं स्फानः=सम्+**स्फायी वृद्धौ** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

अर्थ—(नभसस्पते) हे मेघ के पति! (त्वम्) तू (नः गृहेषु) हमारे घरों में (ऊर्जम्) बलदायक और प्राणप्रद अन्न (धारय) स्थापित कर, जिस से (पुष्टम्) पुष्ट अन्न (आ एतु) आए, (वसु) और धन (आ एतु) आए।

[ऊर्जम्=**ऊर्क् अन्ननाम** (निघं० २.७)। **ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)। पुष्ट अन्न के विक्रय द्वारा वसु की प्राप्ति होती है]।

---

१. ये दोनों ऐसे अन्नादि का सेवन करें कि गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी इन का तेज बढ़ता रहे।

२. समातिः=समातिः माप सहित। असमातिः मापरहित।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**संस्फानम्**॥ छन्दः—**त्रिपदा प्राजापत्या गायत्री**॥

देव संस्फान सहस्त्रापोषस्येशिषे।

तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम॥ ३॥

अर्थ—(संस्फान) सम्यक् वृद्धि करने वाले (देव) हे दाता परमेश्वर! (सहस्त्रापोषस्य) हजार प्रकार के पोषक धन का (ईशिषे) तू अधीश्वर है, (तस्य) उस का भाग (नः) हमें (रास्व) दे, (तस्य) उस का भाग (नः) हमारे लिए (धेहि) धारित या पोषित कर [निर्धारित कर] (ते) तेरे (तस्य) उस अन्न के (भक्तिवांसः) भागवाले (स्याम) हम हों। अथवा उस तुझ की भक्तिवाले, भजन करने वाले हम हों, तेरे दिए अन्न के सेवन द्वारा जीवित हुए तेरा भजन करें।

सूक्त ८०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥ १॥

अर्थ—(अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष के मार्ग द्वारा (पतति) उड़ता है, (विश्वा भूता=विश्वानि भूतानि) सब भूत-भौतिक तत्त्वों का (अव) जो कि नीचे हैं उन्हें (चाकशत्) देखता है, उस (दिव्यस्य) द्युलोकस्थ (शुनः) श्वा का (यत्) जो (महः) तेज है (तेन हविषा) उस हविः द्वारा (ते) तेरी (विधेम) परिचर्या हम करते हैं।

[मन्त्र में परमेश्वर की परिचर्या का वर्णन है। **विधेम परिचरणकर्मा** (निघं० ३.५)। द्युलोकस्थ श्वा है Sirius जिसे Dogstar भी कहते हैं तथा canicula भी। द्युलोक में सर्वाधिक चमकीला यह तारा है जो कि cannis major में स्थित है। यह जब सूर्य के साथ उदित और अस्त होता है उन दिनों को Dogdays कहते हैं। यह सर्वाधिक चमकीला है इसलिए परमेश्वर की चमक को श्वा की चमक के सदृश कहा। चमक के कारण परमेश्वर को 'आदित्यवर्णम्' भी कहा है (यजुः० ३१.१८)। श्वा के महः अर्थात् तेज को हविः कहा है। इस तेज को लक्ष्य कर के परमश्वर की स्तुति करना परमेश्वर की परिचर्या है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः। तान्त्सर्वानह्व ऊतयेस्मा अरिष्टतातये॥ २॥

अर्थ—(ये) जो (त्रयः) तीन (कालकाञ्जाः) काल को अभिव्यक्त करने वाले (दिवि) द्युलोक में (देवाः) अन्य देवों अर्थात् द्योतमान तारा-नक्षत्रों (इव) के सदृश (श्रिताः) आश्रित हैं, (तान् सर्वान्) उन सब अर्थात् दोनों का (अह्वे) मैं आह्वान करता हूँ (ऊतये) रक्षा के लिए और (अस्मै अरिष्टतातये) इस अविनाश के करने के लिए या विस्तार के लिए।

[कालकाञ्जाः=काल+क (स्वार्थे)+**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः)। ये तीन हैं सूर्य, चन्द्रमा तथा सप्तर्षिमण्डल। तीनों द्वारा काल की अभिव्यक्ति होती है। राष्ट्रिय तथा सामाजिक और वैयक्तिक कालगणना के लिए इन तीनों[१] कालों का आह्वान करना चाहिए, इस से लेखे ठीक रहते हैं,

१. जैसे कि वर्तमान में विक्रम, ईसा, शक आदि कालों का प्रयोग होता है वैसे सौरकाल, चान्द्रकाल और सप्तर्षिकाल

उनका विनाश नहीं होता। अथवा कालकाञ्जाः=काल+कृ (डः औणादिकः (२.६७), डित्वात् टिलोपः)+अञ्जू (अभिव्यक्तिः)[२]]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥ ३॥

अर्थ—(अप्सु) मेघस्थ जलों में (ते) तेरा (जन्म) प्रादुर्भाव होता है, (दिवि) द्युलोक में (ते) तेरी (सधस्थम्) तारा आदि के साथ स्थिति है, (ते) तेरी (महिमा) महिमा (समुद्रे अन्तः) समुद्र के अन्दर, (पृथिव्याम्) और पृथिवी में है। (शुनो दिव्यस्य आदि) व्याख्या मन्त्र (१) के सदृश।

[मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन है यह दर्शाने के लिए कि तू ही सूर्य, चन्द्र तथा सप्तर्षिमण्डल का तथा इन द्वारा ज्ञेय काल का निर्माण करता है, तथा सर्वत्र तेरी अभिव्यक्ति तथा विद्यमानता है। जन्म=**जनी प्रादुर्भावे** (दिवादिः)]।

सूक्त ८१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम्॥ १॥

अर्थ—[हे पति] (यन्ता असि) तू गृहस्थ का नियन्ता है, (हस्तौ) नियन्त्रण के लिए तू अपने दोनों हाथों का सहारा (यच्छसे) देता है, (रक्षांसि) राक्षसी प्रवृत्तियों को तू (अप सेधसि) गृहस्थ जीवन से अपगत करता है, पृथक् करता है। (प्रजाम्) सन्तान (धनम् च) और धन का (गृह्णानः) संग्रह करता हुआ (अयम्) यह पति (परिहस्तः) पत्नी के हाथ का ग्रहण करनेवाला, पाणिग्रहण करनेवाला (अभूत्) हुआ है।

[मन्त्र में विवाहसम्बन्धी पाणिग्रहणविधि का संकेत, तथा पति के कर्त्तव्यों का वर्णन हुआ है। परिहस्तः=परिगृहीतहस्तः, जिस ने पत्नी के पाणि का ग्रहण किया है, पाणिग्रहण की विधि के अनुसार]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे। मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे॥ २॥

अर्थ—(परिहस्त) हे पत्नी के हस्त का ग्रहण करनेवाले पति! (गर्भाय धातवे) गर्भाधान के लिए (योनिम् विधारय) योनि का विशेषरूप में तू धारण-पोषण कर। (मर्यादे) और हे मर्यादे! (पुत्रमाधेहि) तू पुत्र का आधान कर, (तम्) उस पुत्र को (त्वम्) तू (आगमे) आगमनकाल में, प्रसवकाल में (आगमय) हमें प्राप्त करा।

[गर्भाधान से पूर्व पत्नी की योनि परिपुष्ट होनी चाहिए। निर्बलावस्था में गर्भाधान होने पर सन्तान निर्बल पैदा होती, और गर्भपात की आशङ्का होती है। गर्भाधान की मर्यादा से गर्भाधान होने पर पुत्रोत्पत्ति

का प्रयोग व्यवहार में चाहिए।

१. काल का निर्माण करने वाले तथा उसकी अभिव्यक्ति करने वाले तीन, सूर्य, चन्द्रमा, सप्तर्षिमण्डल।

होती है। मर्यादा की तिथियों का निर्देश मनुस्मृति में हुआ है। आगमनकाल है १० मासों का काल। परिहस्त=परिगृहीतहस्त, मध्यपदलोपी समास]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या। त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद्यथा पुत्रं जनादिति॥ ३॥

अर्थ—(पुत्रकाम्या) पुत्र की कामना वाली (अदितिः) अक्षतयोनि पत्नी ने (यम् परिहस्तम्) जिस हस्तग्रहण करने वाले पति को (अबिभः) धारित किया है, स्वीकृत किया है, (तम्) उसे (त्वष्टा) जगत् के रचयिता ने (अस्यै) इस पत्नी के लिए (आ बध्नात्) गठजोड़े की विधि में बान्ध दिया है, (यथा) ताकि (पुत्रम्, जनात्, इति) यह पत्नी पुत्र को पैदा करे, इसलिये।

[अदितिः=अ+**दो अवखण्डने** (दिवादिः)+क्तिन्। विवाह में पाणिग्रहण तथा पति-पत्नी में गठ-जोड़ किया जाता है]।

सूक्त ८२

ऋषिः—**भगः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः। इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः॥ १॥

अर्थ—(आयतः) सब प्रकार से प्रयत्नशील, उद्यमी, अथवा संयमी [मैं हूँ; विवाहार्थ]। (आगच्छतः) आ रहे, [अपितु] (आगतस्य) आ गये, (वृत्रघ्नः) विवाहमण्डप पर घेरा डालनेवाले विरोधियों का हनन करने वाले, (वासवस्य) प्रजा को बसानेवाले, (शतक्रतोः) प्रजासुखार्थ सैकड़ों यज्ञ करनेवाले (इन्द्रस्य) सम्राट् के (नाम) नाम को (गृह्णामि) मैं घोषित करता हूँ, (वन्वे) और उस से याचना करता हूँ [विवाह की सफलता के लिए]।

[आयतः=आ+**यती प्रयत्ने** (भ्वादिः)+अच्, अथवा आ+**यम उपरमे** (भ्वादिः) क्तः। सम्राट् भी विवाह में उपस्थित है विघ्नकारियों के हनन के लिए। 'राज्ञः वन्वे' (पैप्प० शाखा)। वन्वे=**वनु याचने,** तनादित्वात् 'उः' प्रत्ययः]।

ऋषिः—**भगः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा। तेन मामब्रवीद्भगो जायामा वहतादिति॥ २॥

अर्थ—(येन पथा) जिस मार्ग अर्थात् विधि द्वारा (अश्विना) घुड़सवार माता-पिता ने [पुत्र के लिए] (सावित्रीम्) जीवित पिता की पुत्री (सूर्याम्) सूर्या-स्नातिका को (ऊहतुः) [पुत्र के घर] प्राप्त किया, (तेन) उस मार्ग अर्थात् विधि द्वारा (भगः) ऐश्वर्यशाली इन्द्र (मन्त्र १) अर्थात् सम्राट् ने (माम्) मुझे (अब्रवीत्) कहा है कि (जायाम्) पत्नी का (आवहतात्) तू आवहन कर (इति) यह।

[सावित्री=जन्मदाता पिता की पुत्री, अर्थात् जीवित पिता की पुत्री। वेद ने जैसे अभ्रातिका भगिनी के विवाहसम्बन्ध को नियन्त्रित किया है [निरुक्त अ० २। पाद १। खण्ड १-६] वैसे जीवित-पितृका-पुत्री के विवाह को भी नियन्त्रित किया है (अथर्व० काण्ड १४, सूक्त १.२)। इस १४ वें काण्ड में विवाह की विधि भी निर्दिष्ट की है। जैसे आदित्य-स्नातक का विवाह सर्वोत्कृष्ट है वैसे सूर्या स्नातिका का विवाह भी सर्वोत्कृष्ट है। आदित्य-स्नातक के विवाह के लिए सूर्या-स्नातिका सुयोग्या है। अश्विनौ=अश्व+इनिः (**अत इनिठनौ,** अष्टा० ५.२.११५), अर्थात् घुड़सवार माता-पिता, वर के]।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः। तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (यः) जो (ते) तेरा (वसुदानः) सम्पत्ति का विभाग कर, देने वाला, (हिरण्ययः) सुवर्णनिर्मित (बृहत् अङ्कुशः) बड़ा राजदण्ड है, (तेन) उस द्वारा (मह्यम् जनीयते) मुझ पत्नी चाहने वाले के लिए (शचीपते) हे कर्मों और प्रज्ञा के पति सम्राट्! (जायाम्) पत्नी (धेहि) प्रदान कर।

[अङ्कुश=हाथी को हांकने के लिए लोहनिर्मित दण्डा। ऐसे प्रजा के शासन के लिए राजा[१] का दण्डा। इस राजदण्डे को sceptre कहते हैं। यह राजा का दण्डा है अतः वेदानुसार सुवर्णनिर्मित होना चाहिए, लोहनिर्मित नहीं। वसुदानः=(यजुर्वेद अ० ३०। मन्त्र ४) में वसुविभक्ता को "विभक्तारं हवामहे" द्वारा निर्दिष्ट किया है **शची=कर्मनाम, प्रज्ञानाम** (निघं० २.१; ३.९)। सूक्त में दर्शाया है कि वसुविभाग तथा विवाह, राजकीय नियमों द्वारा नियन्त्रित होने चाहिए]।

आठवाँ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ९

सूक्त ८३

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव। सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु॥ १॥

अर्थ—(अपचितः)[२] हे गले से आरम्भ करके नीचे की ओर सञ्चित हुई, फैली हुई गण्डमालाओ! [सायण], (प्रपतत) शीघ्र उड़ जाओ, (इव) जैसे कि (सुपर्णः) पक्षी (वसतेः) अपने निवास-स्थान से शीघ्र उड़ जाता है। (सूर्यः) सूर्य [की रश्मियां] (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोतु) करें, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (वः) तुम्हें (अप उच्छतु) स्थानच्युत करे।

[अपचितः=अपचयन की हुई गण्डमालाएं; अपचयन=बुरी तरह से चिनी गईं या [अपाक्] नीचे की ओर चिनी गईं गण्डमालाएँ। ये गण्डमालाएँ क्षय रोग की सूचिकाएँ हैं। सूर्य की रश्मियां सप्तविध होती हैं, जो कि वर्षा ऋतु में इन्द्रधनुष् में दिखाई देती हैं। सूर्य की रश्मियों द्वारा 'रश्मिचिकित्सा' अभिप्रेत है। चन्द्रमा की रश्मियों द्वारा भी गण्डमाला की चिकित्सा सूचित की गई है। अपोच्छतु=अप **उछी विवासे**]।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे। सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन॥ २॥

अर्थ—(एनी) ईषद्रक्तमिश्रित श्वेतरक्तवाली [सायण] गण्डमाला (एका) एक प्रकार की होती है, (श्येनी) अत्यन्त शुभ्रवर्णवाली गण्डमाला (एका) एक प्रकार की होती है, (कृष्णा) काली गण्डमाला (एका) एक प्रकार की होती है, (रोहिणी) लाल गण्डमालाएँ (द्वे) दो प्रकार की होती हैं। (सर्वासाम्) उन सब गण्डमालाओं के (नाम) नाम (अग्रभम्) मैंने कथित कर दिए हैं, (अवीरघ्नीः) हे अवीरों अर्थात् निर्बलों की हत्या करनेवाली गण्डमालाओ! (अपेतन) तुम अपगत हो जाओ, हट जाओ।

---

१. **दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः** (मनु)।
२. अपपचितः="अप" **चिञ् चयने**, अथवा "अपाक्" **चिञ् चयने**।

[गण्डमाला क्षय रोग है जो कि निर्बलों का हनन करती है। अतः पौष्टिक अन्न और औषधों के सेवन करने का विधान हुआ है।]।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असूतिका रामायण्यपचित्प्र पतिष्यति।

ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति॥ ३ ॥

अर्थ—(असूतिका) पूयस्राव न करती हुई (रामायणी) कृष्णा (अपचित्) गल-गण्डमाला (प्रपतिष्यति) शीघ्र उड़ जायगी, (ग्लौः) हर्षक्षय करनेवाली अर्थात् दुःखप्रदा गण्डमाला (इतः) इस रोगी से (प्रपतिष्यति) शीघ्र उड़ जाएगी, (सः) वह रोग (गलुन्तः) गल कर, स्रवित होकर (नशिष्यति) नष्ट हो जायगा।

[असूतिका=पीप पैदा न करनेवाली गण्डमाला। रामायणी[1]=रामा अर्थात् काली गण्डमाला (मन्त्र २) (निरुक्त १२.२.१३), यथा 'रामोऽधस्तात् कृष्णः'। गलुन्तः=गलन्तः, उकारः छान्दसः। **गल स्रवणे** (चुरादिः)+झच् (उणा० ३.१२६), **झोऽन्तः** (अष्टा० ७.१.३), अतः गलुन्तः या गलन्तः=गण्ड, जो कि स्रवित होता है, पीपवाला है। गलन्तः=गल्+अन्तः, यथा वसन्तः, भदन्तः, हेमन्तः आदि (उणा० ३.१२८-१३०)]।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**द्विपदा निचृदार्च्यनुष्टुप्** ॥

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि॥ ४ ॥

अर्थ—[हे अपचित्[2]-रोगी] (मनसा) मन से (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक तू (स्वाम् आहुतिम्) अपने भोज्यान्न को आहुतिरूप में (वीहि) खाया कर, [और संकल्प कर कि] (यद् इदम्) जो यह भोज्यान्न (जुहोमि) मैं जाठराग्नि में आहुतिरूप में देता हूँ, उसे (मनसा) विचारपूर्वक (स्वाहा) और स्वाहा-उच्चारणपूर्वक देता हूँ।

[मन्त्र २ में निर्दिष्ट किया है कि अपचित्-रोग निर्बलों का हनन करता है, यतः यह क्षय का ही रूप है, तदर्थ पौष्टिक अन्न का सेवन करना चाहिए। मन्त्र ४ में अतः निर्देश किया है कि भोज्यान्न को आहुतिरूप में जाठराग्नि में आहुत करना चाहिए, और दृढ़संकल्पपूर्वक भोज्यान्न का चुनाव करना चाहिए। अपचित् है 'गले के scrofulous glands का सूजन'। गण्डमाला के लिए देखो (अथर्व० ६.२५.१-३)]।

सूक्त ८४

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक् जगती** ॥

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।

भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः॥ १ ॥

अर्थ—(एषाम् बद्धानाम्) इन बद्ध शिष्यों के (अवसर्जनाय) बन्ध से छुटकारे के लिए (कम्

१. रामायणी=रामः कृष्णवर्णः, तस्य अयनम्, प्राप्तिः यस्यां गण्डमालायाम्, सा।

२. अथर्व० ६.२५.१-३ में "अपचितामिव" द्वारा अपचितों और गण्डमालाओं में उपमानोपमेय भाव दर्शाने से इन दोनों में अर्थ भेद ज्ञात होता है।

अभि) और मोक्षमुख की प्राप्ति को लक्ष्य कर, (यस्याः ते) जिस तुझ कृच्छ्रापत्ति के (घोरे) क्रूरे (आसनि) मुख में (जुहोमि) मैं आहुतियां देता हूँ, (त्वा) उस तुझ को (जनाः) सर्वसाधारण जन (भूमिः इति प्रमन्वते) भूमि मानते हैं, (अहम्) मैं (त्वा) तुझे (सर्वतः) सब ओर विद्यमान (निर्ऋतिः इति) कष्टापत्तिरूप (परिवेद) ठीक प्रकार से जानता हूँ।

[कृच्छ्रापत्ति अर्थात् कष्टापत्ति-एक उपाय है, जो कि व्यक्ति को संसार से विरक्त कर परमेश्वर की ओर प्रेरित करता है। इस निमित्त शिष्य सद्गुरु का आश्रय लेता है, और परमेश्वरनिमित्त यज्ञविधि द्वारा सद्गुरु उसे शरणागत कर लेता है। वर्णन कविताशैली में मन्त्र में हुआ है। आहुतियां तो यज्ञाग्नि के मुख में ही देनी हैं।[1] कम्=यथा **'कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत'** (निरुक्त २.४.१४)। भूमिरिति= प्रकृतिवादी यह मानते हैं कि हम भूमि से ही पैदा हुए, भूमि से ही पलते, भूमि में ही रहते, अतः भूमि ही 'निर्ऋति' है। 'निर्ऋति' वस्तुतः कृच्छ्रापत्ति है, कष्टापत्ति है, जो कि व्यक्ति और जनता अर्थात् जनसमुदाय के दुष्कर्मों का परिणाम है, फलरूप है]।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्ची बृहती** ॥

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु। मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ—(भूते) हे भूतकालसम्बन्धिनी कृच्छ्रापत्ति! (हविष्मती) हमारी हवि को ग्रहण करनेवाली (भव) तू हो जा, (एषः) यह हवि (ते भागः) तेरा भाग है [तेरा आंशिक स्वरूप है, तू ही तद्रूप है] (यः) जो कि (अस्मासु) हम में है। (इमान्) इन्हें अर्थात् शिष्यों को (अमून्) तथा उन्हें [जो कि इन से अतिरिक्त है] (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त कर दे, (स्वाहा) तदर्थ हम परमेश्वरार्पित आहुतियां प्रदान करते हैं।

[कृच्छ्रापत्ति को कवित्वशैली में सम्बोधित करके सद्गुरु कहता है कि 'इस में कृच्छ्रापत्ति विद्यमान है, वह तू ही आंशिकरूप में विद्यमान है। तू तो सर्वत्र व्याप्त प्राणियों में विद्यमान है। तेरे नाम पर हमने हवि प्रदान की है, उसे तू स्वीकार कर। और मेरे इन शिष्यों और उन भावी शिष्यों को पापकर्म करने से मुक्त कर, छुड़ा।' जैसे-जैसे यज्ञिय कर्म किये जाते हैं वैसे-वैसे पापकर्मों का क्षय होते जाना स्वाभाविक ही है]।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेनेहा त्वमयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ—(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ति! (अनेहा) पाप से छुड़ानेवाली (त्वम्) तू (एव उ) ही (सु) सुष्ठु प्रकार से (अस्मत्) हम से (अयस्मयान्) लोहे सदृश सुदृढ़ (बन्धपाशान्) बान्धने वाले फन्दों को (विचृत) खोल दे, या काट दे। (यमः) नियन्ता परमेश्वर (पुनः इत्) पुनः (त्वाम्) तुझ को (मह्यम्) मुझे (ददाति) देता है (तस्मै) उस (यमाय मृत्यवे) मृत्यु नामक नियन्ता के लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो।

[कृच्छ्रापत्ति पापों से छुड़ाती है एतदर्थ देखो मन्त्र (१) की व्याख्या। अनेहा तथा अनेहसम्=अपापाम् (सायण, अथर्व० ७.७.१)। पाशान्=ये फन्दे त्रिविध हैं, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

---

१. मोक्षाभिलाषी शिष्यों के सद्गुरु का कथन सूक्त ८४ में है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। इन फन्दों में जीवात्मा बन्धा हुआ है। यम और मृत्यु परमेश्वर के नाम हैं। यथा '**स उ एव महायमः** (अथर्व० १३.४(१).५), **स एव मृत्युः**' (अथर्व० १३.४(३).२५)। ददाति=तुझे फन्दों से छुड़ा कर पुनः मुझ गुरु को देता है]।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्।

यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

अर्थ—[हे निर्ऋति!] (अयस्मये) लोहसदृश सुदृढ़ (द्रुपदे) काष्ठनिर्मित पादबन्धन में (बेधिषे=वेधिषे) तू जब विद्ध कर देती है, तब (ये सहस्रम्) जो सहस्रविध मृत्युएँ हैं उन (मृत्युभिः) मृत्युओं के द्वारा (इह) इस भूलोक में (अभिहितः) जीवात्मा बद्ध हो जाता है। हे मुमुक्षु! (त्वम्) तू जब (यमेन) नियन्ता परमेश्वर और (पितृभिः) माता-पिता-आचार्यरूपी रक्षकों के साथ (संविदानः) ऐकमत्य को प्राप्त होता है तब हे निर्ऋति! तू (इमम्) इस [मुमुक्षु] को (उत्तमं नाकम्) सर्वोत्तम नाक पर (अधिरोहय) चढ़ा।

[जीवात्मा निर्ऋति के कारण विद्ध हो जाता है और नित्य होने के कारण अनादिकाल से हजारों योनियों में जन्म पा कर, सहस्रविध कृच्छ्रापत्तियों को भोगता, और अपने को बन्धा हुआ अनुभव कर मुमुक्षु हो जाता है और नियन्ता परमेश्वर और पितरों द्वारा प्रदत्त मति के साथ ऐकमत्य को प्राप्त हो जाता है, तदनुकूल अपनी मति बना लेता है; तब निर्ऋति इस मुमुक्षु को नाक अर्थात् मोक्ष पद पर अधिरूढ करती है। नाकम्=न+अ+कम् (सुखम्)। मोक्ष में न तो सांसारिक सुख होता है न किसी प्रकार सुखाभाव ही। अपितु मोक्ष में इन दोनों से भिन्न आनन्दानुभूति होती है। मोक्ष में जीवात्मा का संग परमेश्वर के साथ रहता है और वह परमेश्वरीय आनन्दमात्रा में लीन रहता है। परमेश्वर और पितरों की शिक्षानुसार तदनुरूप मति वाला हुआ भी मुमुक्षु जब तक सांसारिक सुख-दुःखों से विरक्त नहीं होता तब तक वह 'नाक' को प्राप्त नहीं होता। इसलिए 'नाक' पर अधिरोहण में अन्तिम कारण निर्ऋति कहा है। मन्त्र में अपेक्ष्य निर्ऋति पद स्त्रीलिङ्ग में है और 'संविदानः' पुंलिङ्ग में है। अतः मन्त्र में दो का वर्णन हुआ है एक का नहीं]।

सूक्त ८५

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।

यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ १॥

अर्थ—(अयम्) यह (देवः) दिव्यगुणों वाला (वरणः) वरण नाम वाला, या यक्ष्म का निवारण करनेवाला (वनस्पतिः) वनस्पति (वारयातै) यक्ष्म को निवारित करे। (यः) जो (यक्ष्मः) यक्ष्म अर्थात् क्षय रोग (अस्मिन्) इस क्षय रोगी में (आविष्टः) प्रविष्ट है (तम्) उसे (उ) निश्चय से (देवाः) दिव्यगुणी वैद्यों ने (अवीवरन्) निवारित किया है।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च। देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे॥ २॥

अर्थ—(इन्द्रस्य) विद्युत-सम्बन्धी, (मित्रस्य) सूर्यसम्बन्धी, (च) और (वरुणस्य) जलसम्बन्धी, (वचसा) वेदवाणी द्वारा (वयम्) हम [वैद्य] तथा (सर्वेषाम् देवानाम्) सब देवों सम्बन्धी (वाचा)

वेदवाणी द्वारा (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्म को (वारयामहे) निवारित करते हैं।

[अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वेदवाणी में प्रोक्त नाना दिव्य तत्त्वों विद्युत् आदि द्वारा यक्ष्म का निवारण सम्भव है। यह तत्तत् वेदवाणी में अनुसन्धेय है। जैसे कि मन्त्र ३ में भी वरुणसम्बन्धी जल को तथा वैश्वानर अग्नि को यक्ष्मनिवारण कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः। एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (वृत्रः) आवरण करनेवाले मेघ ने (विश्वधा) सब के धारण-पोषक (यतीः) तथा सर्वत्र गतिशील (इमाः आपः [अपः]) इन जलों को (तस्तम्भ) रोका है, (एव) इसी प्रकार (ते यक्ष्मम्) तेरे यक्ष्म को (वैश्वानरेण अग्निना) वैश्वानर अग्नि द्वारा (वारये) मैं निवारित करता हूं।

[वृत्रः=**'मेघ इति नैरुक्ताः'** (२.५.१६)। विश्वधा=विश्व+**डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। यतीः[१]=**इण् गतौ+शतृ** (स्त्रियाम्)[२]। वैश्वानर अग्नि—**'यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते'** (निरुक्त ७.७.३१)। वैश्वानर अग्नियां तीन हैं, पार्थिव अर्थात् यज्ञियाग्नि, वैद्युत तथा आदित्य (निरुक्त ७.६.२२,२३)। मन्त्र २ में 'सर्वेषां देवानाम्' के उदाहरणरूप में मन्त्र ३ में 'वैश्वानर अग्नि' पठित हैं]।

सूक्त ८६

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम्। वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव॥ १॥

अर्थ—(अयम्) यह परमेश्वर (इन्द्रस्य) विद्युत् का (वृषा) मुखिया है, (दिवः) द्युलोक का (वृषा) मुखिया है, (पृथिव्याः) पृथिवी का (वृषा) मुखिया है। (विश्वस्य) समग्र (भूतस्य) भूत भौतिक जगत् का (वृषा) मुखिया है, (त्वम्) हे राजन्! तू (एकवृषः) अकेला सब का मुखिया (भव) हो।

[वृषा का अभिप्रेत अर्थ है वीर्यवान्, अर्थात् शक्तिशाली; अतः एव मुखिया। इस अभिप्राय में मन्त्र २ में "ईशे" का प्रयोग हुआ है। अथवा "वृषा" का अर्थ है वर्षा करने वाला शक्ति का प्रदाता]।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी। चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव॥ २॥

अर्थ—(समुद्रः) समुद्र (ईशे=ईष्टे) अधीश्वर है (स्रवताम्) प्रवाहों नदियों का, (अग्निः) अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवी का (वशी) वशयिता अर्थात् स्वामी है, (चन्द्रमाः) चान्द (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों का (ईशे=ईष्टे) अधीश्वर है, (त्वम्) तू हे राजन्! (एकवृषः भव) अकेला सब का मुखिया हो। [ईशे= **"लोपस्त आत्मनेपदेषु"** (अष्टा० ७.१.४१) द्वारा "त" का लोप]।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)**॥ देवता—**एकवृषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम्। देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव॥ ३॥

---

१. यण् **"इणो यण्"** (अष्टा० ६.४.८१)। २. **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (अष्टा० ४.१.५)।

अर्थ—(असुराणाम्) असुरों का (सम्राट् असि) सम्राट् तू है, (मनुष्याणाम्) मनुष्यों में (ककुद्) सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ है। (देवानाम्) देवों का (अर्धभाग् असि) अर्धभागी है, (त्वम्, एकवृषो भव) पूर्ववत्।

[सम्राट् असुरों का भी सम्राट् है और मनुष्यों का भी। असुरों, मनुष्यों के संयुक्त साम्राज्य का वह सम्राट् है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार प्रजापति के तीन पुत्र हैं देव, मनुष्य और असुर। और तीनों ही मिल कर प्रजापति के आश्रम में ब्रह्मचारी रहे और विद्याध्ययन करते रहे (अध्याय ५. ब्राह्मण २)। अतः इन तीनों का संयुक्त साम्राज्य भी सम्भव है और एक सम्राट् भी। अतः देव, असुर और मनुष्य गुणकर्मकृत् हैं, जातिपरक नहीं। देवानाम्, अर्धभाग्=इस के नाना अर्थ हैं। (१) देवकोटि[1] के ऋषि-मुनियों के आसन में एकासन के अर्धभाग् का अधिकारी। (२) 'देवानाम्' के दो अभिप्राय हैं, विजिगीषु सैनिक, तथा व्यवहारी अर्थात् व्यापारी। '**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार**' आदि (दिवादिः)।

विजिगीषु सेना को देवसेना अथवा देवानां सेना कहा भी है। यथा '**देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**' (यजुः० १७.४०)। ये देवसेनाएँ शत्रुसेनाओं को परास्त कर जब उन्हें '**नैर्हस्तम्**' (अथर्व० ६.६५.२, ३) कर दें, तो युद्धस्थल में शत्रुसेनाओं की जो सम्पत्ति उपलब्ध हो, उस की आधी सम्पत्ति सम्राट् की, और शेष आधी सैनिकों की हो। इसी प्रकार व्यापारियों को व्यापार में जो लाभ हो उस का आधा-आधा सम्राट् और व्यापारियों का हो। यह आधा हिस्सा 'राजकर' अर्थात् टैक्स रूप में है। व्यापारियों के लाभ को 'उत्थितम्' कहा है, और मूलधन को 'चरितम्'[2] (अथर्व० ३.१५.४)।

सूक्त ८७

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ १ ॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (आहार्षम्) मैं लाया हूँ, (अन्तः अभूः) तू राष्ट्र के अन्दर का निवासी हुआ है। [राष्ट्र का असना प्रजाजन हुआ है], (ध्रुवः तिष्ठ) तू स्थिर रूप में [राजासन पर] स्थित हो, (अविचाचलत्) विना विचलित हुए। (सर्वाः विशः) सब प्रजाएँ (त्वा) तुझे (वाञ्छन्तु) चाहें, (राष्ट्रम्) राष्ट्र (त्वत् अधि) तुझ से (मा) न (भ्रशत्) अधःपतित हो, पतनोन्मुख न हो, अथवा छीना न जाए।

[वेदानुसार वंशपरम्परागत व्यक्ति राजा नहीं होता। किसी योग्य व्यक्ति का नाम प्रस्तावित होना चाहिए। मन्त्र प्रस्तावक के मुख से कहलाया है। भ्रशत्=**भ्रंशु अधःपतने**]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत्। इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥ २ ॥

अर्थ—(इह) इस राज्यासन पर (एव) ही (एधि) हो, (मा अप च्योष्ठाः) अपच्युत न हो, (पर्वतः इव) पर्वत के सदृश (अविचाचलत्) विना विचलित हुए। (इन्द्रः इव) सम्राट् के सदृश (इह) इस

---

१. यथा "देवाः=साध्याऽऋषयश्च" (यजुः० ३१.९)। साध्याः=योगसाधनासम्पन्नाः। ऋषयः=मन्त्रद्रष्टारः, या मन्त्रार्थद्रष्टारः।

२. चरित है मूलधन, जिसे कि व्यापार में लगाया है, और उस द्वारा प्राप्त लाभ है "उत्थित"। इस लाभ का आधा "कर" रूप है।

राज्यासन पर (ध्रुवः तिष्ठ) स्थिररूप में स्थित रह, (इह) इस राज्यासन पर स्थित हुआ (राष्ट्रम्) राष्ट्र का (धारय) धारण-पोषण कर।

[इन्द्र है सम्राट्, साम्राज्य का अधिपति। मन्त्र में एक राष्ट्र के राजा का वर्णन हुआ है। यथा **'इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा'** (यजुः० ८.३७)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्र॑ एतम॑दीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण॑ ह॒विषा॑। तस्मै॒ सोमो॒ अधि॑ ब्रवद॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॑ः॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् ने (ध्रुवेण हविषा) स्थिर 'राष्ट्रकर' द्वारा (एतम्) इस राष्ट्र के राजा को (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (अदीधरत्) धारित किया है। (तस्मै) उस राजा के लिए (सोमः) राष्ट्र का सेनानायक (च) और (अयम् ब्रह्मणस्पतिः) वेदों का विद्वान् (अधि) स्वाधिकार से (ब्रवत्) परामर्श कहा करें, दिया करें।

[राष्ट्राधिपति साम्राज्य का अंग है। अतः सम्राट् उस के स्थिर 'राज्यकर' का प्रबन्ध करता है। तथा राष्ट्र का सेनानायक (यजुः० १७.४०), और ब्रह्मणस्पति दोनों सम्राट् द्वारा अधिकृत हुए, स्वाधिकार से राजा को परामर्श देते हैं]।

सूक्त ८८

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृ॑थि॒वी ध्रुवं विश्व॑मि॒दं जग॑त्।
ध्रु॒वास॒ः पर्व॑ता इ॒मे ध्रु॒वो राजा॑ वि॒शाम॒यम्॥ १॥

अर्थ—(ध्रुवा) ध्रुव है (द्यौः) द्युलोक, (ध्रुवा) ध्रुव है (पृथिवी) पृथिवी लोक, (ध्रुवम्) ध्रुव है (इदम् विश्वम्) यह विश्व (जगत्) जो कि गतिमान् है। (ध्रुवासः) ध्रुव हैं (इमे पर्वताः) ये पर्वत, (ध्रुवः) ध्रुव है (अयम्) यह (विशाम् राजा) प्रजाओं का राजा।

[ध्रुव का अभिप्राय गतिरहित नहीं, अपितु स्व-स्वकार्यों में स्थिरता है। विश्व को जगत् अर्थात् गतिमान् कहा है, जगत्=गम् गतौ। राजा भी स्वकार्य में ध्रुव है, परन्तु चलता-फिरता है निश्चल नहीं, गतिमान् है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ध्रु॒वं ते॒ राजा॒ वरु॑णो ध्रु॒वं दे॒वो बृ॒हस्पति॑ः।
ध्रु॒वं त॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ रा॒ष्ट्रं धा॑रयतां ध्रु॒वम्॥ २॥

अर्थ—[हे प्रजाजन!] (ते) तेरे (राष्ट्र) को (वरुणः राजा) राष्ट्राधिपति राजा (ध्रुवम्) स्थिर करे, (देवः) दिव्यगुणी (बृहस्पतिः) साम्राज्य की बड़ी सेना का अधिपति (ध्रुवम्) स्थिर करे। (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (इन्द्रः) सम्राट् (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (च) और (अग्निः) साम्राज्य प्रधानमन्त्री, ये दोनों (धारयताम्) धारित करें।

[साम्राज्य के प्रत्येक राष्ट्र का धारण-पोषण राष्ट्रपति वरुणनामक राजा, तथा साम्राज्य के अधिकारी मिल कर करें। **'इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा'** (यजुः० ८.३७)। बृहस्पतिः (यजुः० १७.४०)। **अग्निः=अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ध्रुवोच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोधरान्पादयस्व।

सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ—हे सम्राट्! (ध्रुवः) तू स्थिररूप और (अच्युतः) च्युतिरहित हुआ (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणीहि) मार, (शत्रूयतः) और शत्रूता चाहनेवालों को (अधरान् पादयस्व) अपने नीचे कर। (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं के वासी प्रजाएँ (संमनसः) एक मनवाली, (सध्रीचीः) तथा तेरे साथ मिल कर चलनेवाली हों, (ध्रुवाय ते) स्थिररूप में विद्यमान तेरे लिए (इह) इस साम्राज्य में (समितिः) राष्ट्रों के राजाओं की सभा अर्थात् राजसभा (कल्पताम्)[१] सामर्थ्यसम्पन्न हो।

[सध्रीचीः=सह अञ्चन्त्यः, गतिमत्यः। समितिः=**'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः'** (यजुः० १२.८०)]।

सूक्त ८९

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इदं यत्प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्। ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

अर्थ—(इदम्) यह (प्रेण्यः) प्रणय[२] वाली पत्नी का (शिरः) शिरस्थ-प्रणय, (यत्) जो कि (वृष्ण्यम्) सुखवर्षी है, जो कि (सोमेन) जगदुत्पादक परमेश्वर ने (दत्तम्) दिया है, (ततः परिप्रजातेन) उस से उत्पन्न हुए प्रणय के कारण (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदयवर्ती चित्त को (शोचयामसि) हम शोकयुक्त करते हैं।

[मन्त्र में कारणवश कुपित-पत्नी के प्रति कथन हुआ है। उसे कहा है कि परमेश्वर द्वारा प्रदत्त प्रणय, जिसका स्थान सिर है, वह पति-पत्नी के प्रति सुखवर्षी रूप है; सिर से प्रकट हुए प्रणय द्वारा तेरे चित्त को हम गृहस्थवासी शोकयुक्त या सन्तप्त करते हैं, तुझे समझा कर तुझे प्रकोप करने के कारण प्रायश्चित्तरूप में दुःखित करते हैं, ताकि इस प्रकोप का तू परित्याग कर दे। शिरः=लक्षणया शिरःस्थ प्रणय। यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति'। सोमेन=**षु प्रसवे**। हार्दिम्=हृदयवर्ती चित्त। यथा **'हृदये चित्तसंवित्'** (योग० ३.३४)। सायणाचार्य के अनुसार सम्बोधन 'हे जायापत्योरन्यतर' द्वारा मन्त्र १ में भी जाया और पति में से अन्यतर का है, मन्त्र २ की व्याख्यानुसार। परन्तु मन्त्र तीन की व्याख्या में सायणानुसार सम्बोधन जायापरक है, यथा—'हे जाये']।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः।

वातं धूम इव सध्र्य१ङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

अर्थ—[हे पत्नी!] (ते) तेरे (हार्दिम्) हृदयगत चित्त को (शोचयामसि) हम शोकयुक्त करते हैं, (ते) तेरे (मनः) संकल्पविकल्पात्मक मन को (शोचयामसि) हम शोकयुक्त करते हैं। (धूमः) धुआं (इव) जैसे (वातम्) वायु के (सध्र्यङ्) साथ गति करता है वैसे (ते) तेरा (मनः) मन (माम् एव)

---

१. **कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः)।

२. प्रेण्यः=प्रेमप्रापकस्य यत् इदं शिरः (सायण)। तथा प्रेणा=प्रेम्णा (उद्गीथ तथा वेङ्कटमाधव; ऋ० १०.७१.१)।

मेरा ही (अनु एतु) अनुगमन करे।

[सध्र्यङ्='सह' को 'सध्रि' आदेश 'सहस्य सध्रिः' (अष्टा० ६.३.९५)+अञ्चु गतौ (भ्वादिः)।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती। मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम्॥ ३॥

अर्थ—(मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (त्वा) तुझे (मह्यम्) मुझ पति के लिए; तथा (मह्यम्) मुझ पति के लिए (देवी सरस्वती) दिव्य ज्ञान सम्पन्ना वेदवाणी (समस्यताम्) परस्पर सम्बद्ध करें। (मह्यम्) मुझ पति के लिए (भूम्याः मध्यम्) भूमि का मध्यभाग (उभौ अन्तौ) जैसे दोनों अन्त के भागों को (समस्यताम्) सम्बद्ध करता है, वैसे हम दोनों को परस्पर सम्बद्ध करे।

[भूमि का मध्यभाग अर्थात् भूमध्यरेखा [Equator] जैसे भूमि के प्रान्तभागों अर्थात् उत्तरध्रुवीय तथा दक्षिणध्रुवीय भागों को परस्पर सम्बद्ध करता है, वैसे मेरे मित्र तथा स्नेही मुख्यमन्त्री तथा वरणानात्मक राजा निज विवाह-सम्बन्धी नियमों द्वारा हम दोनों को परस्पर सम्बद्ध करे। तथा ज्ञानसम्पन्न वेदवाणी भी ज्ञान प्रदान कर हम दोनों को परस्पर सम्बद्ध करे]।

सूक्त ९०

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—रुद्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च। इदं तामद्य त्वद्वयं विषूचीं वि वृहामसि॥ १॥

अर्थ—[हे वाणविद्ध!] (ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अङ्गों के लिए, (च) और (हृदयाय) हृदय के लिए, (रुद्रः) रुद्र ने (याम्, इषुम्) जिस वाण को (आस्यत्) फैंका है, (ताम्) उसे (इदम्) यह (अद्य) आज या इस समय (त्वत्) तुझ से (विषूचीम्) विमुख करके (वयम् विवृहामसि) हम निकाल देते हैं।

[रुद्र है परमेश्वर जोकि कर्मानुसार रुलाता है, "रोदयतेर्वा" (निरुक्त १०.१.६) तथा (यजुः० अध्याय १६)। रोगादि रुद्र के इषु अर्थात् वाण हैं]।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—रुद्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः। तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि॥ २॥

अर्थ—(ते) तेरी (याः) जो (शतम्) सौ (धमनयः) रक्त नाड़ियां (अङ्गानि) अङ्गों (अनु) में (विष्ठिताः) विविध स्थानों में स्थित हैं, (ते) तेरी (तासाम्, सर्वासाम्) उन सब नाड़ियों के (विषाणि) विषों को (वयम्) हम (निर् ह्वयामसि) बाहर कर देते हैं।

[रोग अङ्गों में विष फैला देते हैं। धमनियां हैं, लाल रक्त-की-नाड़ियाँ, जिन में स्पन्दन होता रहता है]।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—रुद्रः॥ छन्दः—आर्षी भुरिगुष्णिक्॥

नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै। नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै॥ ३॥

अर्थ—(रुद्र) हे रुलाने वाले परमेश्वर! (अस्यते) रोगरूपी इषु फैंकते हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार हो, (प्रतिहितायै) धनुष पर स्थापित इषु के लिए (नमः) नमः हो। (विसृज्यमानायै) छोड़ जाते हुए इषु के लिए (नमः) नमः हो, (विपतितायै) लक्ष्य पर गिरे इषु के लिए (नमः) नमः हो।

[मन्त्र के प्रथम पाद में नमः द्वारा रुद्र-परमेश्वर को नमः अर्थात् नमस्कार किया है, शेष तीन पादों

में इषुरूप-रोगों के प्रति नमः कहा है। इन तीन पादों में रोग की तीन अवस्थाएँ निर्दिष्ट की हैं, रोग का पूर्वरूप, मध्यरूप, तथा रोग का आविर्भाव। इन तीन अवस्थाओं में रोग के अपाकारण के उपाय का वर्णन "नमः" द्वारा किया है। इन अवस्थाओं में "नमः" का अर्थ है "यथोचित अन्न" **नमः अन्ननाम** (निघं० २.७)। अन्नदोष से रोगोत्पन्न होते हैं। अतः अन्न पर नियन्त्रण का कथन तीन पादों में हुआ है। रोगों को नमस्कार करने से रोगों का शमन नहीं होता। इस लिए सूक्त ९१ में नाना औषधों के योगों का वर्णन भी हुआ है]।

सूक्त ९१

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः। तेना ते तन्वो३ रपोपाचीनमप व्यये॥ १॥

अर्थ—(इमम्) इस (यवम्) जौ को, (अष्टायोगैः) अष्टवर्ग के योगों के साथ (षड्योगेभिः) तथा षड्-औषधों के योगों के साथ (अचर्कृषुः) कृषि द्वारा पैदा किया है। (तेना=तेन) इस दोनों योगों से युक्त यव द्वारा, हे रुग्ण! हे रोगी! (ते तन्वः) तेरे शरीर के (रपः) पाप तथा तज्जन्य रोग को (अपाचीनम्) हटने वाला करके (अपव्यये) मैं पृथक् कर देता हूँ।

[मन्त्र में "यव" द्वारा भोज्यान्न का उत्पादन, तथा "योगैः" पदों द्वारा अष्टाङ्गवर्ग का, तथा अत्यावश्यक षडङ्ग-वर्ग की औषधों का उत्पादन, कृषि द्वारा कहा है। यव और व्रीहि दोनों भोज्यान्न होते हुए, औषधरूप भी है। यथा "**शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। एतौ यक्ष्मं विबाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः**" (अथर्व० ८.२.१८)। मन्त्र में व्रीहि और यव शिवौ, अवलासौ, मधुर, यक्ष्मनाशक, यक्ष्मोत्पादक पाप से मुक्त करने वाले कहा है। अबलासौ=अबल (बलाभव)+असौ (असु क्षेपणे, द्विवचन)।

तथा

अध्यात्मदृष्टि से क्षेत्र है शरीर। यथा "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" (गीता १३.१)। इस क्षेत्र में भी कृषि कर्म हो रहा है, कर्मबीज बोए जाते हैं। प्राणायाम तथा श्वास-प्रश्वास मानो हल जोते जा रहे हैं। यमनियमादि ८ योगाङ्ग बैल हैं, तथा ५ ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन ये षट् भी बैल हैं। इसीलिए इन छह के विषयों को गोचर कहते हैं जिन में कि गौएँ विचरती हैं। गौ=बैल। भोजन तो योगी को भी चाहिए, जिस का कथन "यव" शब्द द्वारा हुआ है। "यव" सात्त्विक और पौष्टिक तथा पापहारी अन्न जो कि तनू के अंहस् का नाशक है। अंहस् को मन्त्र में "रपः" कहा है। "**रपः रिप्रमिति पापनामनी**" (निरुक्त ४.३.२१)। इस प्रकार सात्त्विक भोजन, प्राणायाम तथा शुद्ध वायु में श्वास-प्रवास तनू के शोधक हैं]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न्य१ग्वातो वाति न्यक्तपति सूर्यः। नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः॥ २॥

अर्थ—(न्यक्) नीचे को (वातः) झञ्झा वायु (वाति) बहती है, (न्यक्) नीचे की ओर (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है। (अघ्न्या) गौ (नीचीनम्) नीचे की ओर झुक कर (दुहे) दुही जाती है, (ते) तेरा (रपः) पाप भी (न्यक् भवतु) नीचे की ओर से पृथक् हो जाए।

[मन्त्र में मनोबल द्वारा पापी के पाप को शान्त किया है। शरीर के उपरि भाग के पापों समेत नीचे की इन्द्रिय के पापों को पृथक् करने का निर्देश हुआ है]।

ऋषिः—भृग्वङ्गिरा॥ देवता—आपः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ३॥

अर्थ—(आपः) जल (इद् वै उ) ही निश्चय से (भेषजीः) चिकित्सक हैं, औषध हैं, (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोग और रोगजनक "अमीवा" नामक रोग कीटाणु के विनाशक हैं। (आपः) जल (विश्वस्य) सब रोग समूह के (भेषजीः) चिकित्सक हैं, औषध हैं, (ताः) वे जल (ते) तेरी (भेषजम्) चिकित्सा या औषध (कृण्वन्तु) करें।

[मन्त्र में "जलचिकित्सा" का वर्णन है। तथा देखो (अथर्व० १.४.४; १.५.१-४; १.६.१-४ आदि)। तथा आपः=शरीरगत रक्त। यथा—

को अस्मिन्नापो व्यदिधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।

तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥ अथर्व० १०.२.११॥

अर्थ—सिन्धु=हृदय। तीव्राः=स्वाद में। अरुणाः=ईषद् रक्त। लोहिनीः=अधिक लाल तथा लोहे वाली। ताम्रधूम्राः=ताम्बे के धूंए जैसे नीलवर्ण, अर्थात् सिराओं के कृष्णरक्त, पुरुष शरीर में ऊर्ध्व, नीचे की ओर तथा आड़े फैले हुए।

जैसे-जैसे खान-पान सात्त्विक होता जाता, और प्राणायाम तथा श्वास-प्रश्वास में शुद्ध वायु का सेवन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे रक्त रूपी "आपः" में रोगों के निरोध तथा शमन करने की शक्ति बढ़ती जाती है, यह दर्शाने के लिए "रक्तरूपी" आपः का यहां कथन किया है]।

सूक्त ९२

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—वाजी॥ छन्दः—जगती॥

वातरंहा भव वाजिन्युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः।

युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥ १॥

अर्थ—(वाजिन्) हे वेग वाले अश्व! (वातरंहाः) झंझा वायु के वेग वाला (भव) तू हो जा, (युज्यमानः) जुता जाता हुआ [तय्यार किया जाता हुआ] तू (इन्द्रस्य) सम्राट् की (प्रसवे) प्रेरणा पर (मनोजवाः) मनोवेगी हुआ (याहि) युद्धभूमि में जा। (विश्ववेदसः) समग्र युद्ध विद्या के जानने वाले (मरुतः) मारने में कुशल सैनिक (त्वा युञ्जन्तु) तुझे युक्त करें [संनाह साज द्वारा तय्यार करें] (त्वष्टा) कारीगर-परमेश्वर (ते) तेरे (पत्सु) पैरों में (जवम्) वेग (आ दधातु) स्थापित करे।

[**इन्द्रश्च सम्राट्** (यजुः० ८.३७)। मरुतः=**मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः** (उणा० १.९४; दयानन्द), तथा "**मरुतो यन्त्वग्रम्**" (यजुः० १७.४०)। मन्त्र में "वाजिन्" पद जात्येकवचन में है। युद्ध भूमि में तो वाजी पर्याप्त संख्या में चाहिएँ, एक अश्व विजय कैसे दे सकता है (मन्त्र २) "समने पारयिष्णुः"]।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—वाजी॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

जवस्ते अर्वन्निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत्परीत्तः।

तेन त्वं वाजिन्बलवान्बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः॥ २॥

अर्थ—(अर्वन्) हे अश्व! (ते) तेरी (गुहा) हृदय गुहा में (यः जवः, निहितः) जो वेग स्थापित हुआ है, (उत) तथा (यः) जो (परीत्तः) परमेश्वर द्वारा दिया गया (श्येने) श्येन पक्षी में, (वाते) और झंझा वायु में (अचरत्) विचरता है, (वाजिन्) हे वेग वाले अश्व! (तेन) उस (बलेन) बल द्वारा (बलवान् त्वम्) बलशाली हुआ तू (आजिम् जय) संग्राम को जीत, (समने) और संग्राम में (पारयिष्णुः) पार करने वाला हो।

[परीत्तः[1]=परि+दा+क्त; "**अच उपसर्गात्तः**" (अष्टा० ७.४.४७) द्वारा तादेश। **समनम् संग्रामनाम** (निघं० २.१७)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाजी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तनूष्टे वाजिन्तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात्॥ ३॥

अर्थ—(वाजिन्) हे वेग वाले अश्व! (ते तनूः) तेरी तनू अश्वारोही की (तन्वम्) तनू को (नयन्ती) युद्धभूमि में ले जाती हुई, (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (वामम्) सुन्दर रूप में (धावतु) दौड़े, (तुभ्यम्) जोकि तेरे लिए भी (शर्म) सुख पहुँचाए। (महः) महान् [सौर मण्डल] के (धरुणाय) धारण के लिए। (अह्रुतः) अकुटिल हुआ (देवः) द्युतिमान् सूर्य (इव) जैसे (दिवि) द्युलोक में या दिन में (स्वम्, ज्योतिः) निज ज्योति को (आ मिमीयात्) पूर्णतया प्राप्त होता है [वैसे हे अश्व! तू भी निज शक्ति को, वेग को प्राप्त हो]।

[देवाः=**दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा** (निरुक्त ७.४.१५)। **शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६)। दिवि=**दिवा अहर्नाम; दिवेदिवे अहर्नाम** (निघं० १.९)। मिमीयात्=**मी गतौ** (चुरादिः); गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। प्राप्त्यर्थ अभिप्रेत है]।

नवां अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक १०

सूक्त ९३

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलशिखण्डः।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान्॥ १॥

अर्थ—(यमः) सेना का नियन्ता, (मृत्युः) मृत्यु दण्ड का निश्चय करने वाला (अघमारः) व्यक्ति के पाप के अनुसार मृत्यु का निर्णय देने वाला, (निर्ऋथः) मृत्यु से भिन्न प्रकार के कष्ट देने वाला, (बभ्रुः) भरण-पोषण करने वाला (शर्वः) तलवार द्वारा मारने वाला (अस्ता) तामसास्त्र फैंकने वाला (नीलशिखण्डः) नीली ज्वाला देने वाला, (देवजनाः) ये देवजन हैं। युद्ध में (सेनया) सेना के साथ ये देवजन भी (उत्तस्थिवांसः) उठते[2] हैं, (ते) वे देवजन (अस्माकम्) हमारे (वीरान्) वीरों को (परिवृञ्जन्तु)

---

१. परीत्तः=परी=परि+त्=दा+क्त; परिदत्तः।

२. 'उत्स्थान' पारिभाषिक शब्द है। यथा "war, battle" (आप्टे)।

परित्यक्त कर दें। भ्रम से कहीं उन्हें न मारें।

[मन्त्र में मुख्य रूप में देवजनों का वर्णन है और सेना का वर्णन गौण है। देवजन सेना के भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष हैं। युद्ध में जो शत्रु पकड़ लिए जाते हैं उन के अपराधों के अनुसार दण्ड का निश्चय तो "अघमार" अधिकारी करता है, और जो निश्चित किये दण्ड को क्रियात्मक रूप देता है वह "मृत्यु" संज्ञक अधिकारी हैं, "बभ्रु" है सैनिकों को भरण-पोषण अर्थात् खान-पान की सामग्री पहुँचाने वाला अधिकारी; तलवार द्वारा युद्ध का व्यवस्थापक है "शर्वः" अधिकारी "**शॄ हिंसायाम्; क्र्यादिः**"; अस्ता है "तामसास्त्र" को शत्रु पर फैंकने वाला अधिकारी, **असु क्षेपणे;** "नीलशिखण्ड" है सूर्य की नीली शिखा, ज्वालारूपा सौर रश्मियों का देने वाला अधिकारी "नीलां शिखां ददातीति", सूर्य की नीली रश्मियां, शत्रु दल पर फैंकने से शत्रुदल जला दिया जाता है। सूर्य की शुक्ल रश्मि सात प्रकार की रश्मियों का समूहरूप होती है। ये सप्तविध रश्मियां वर्षा-ऋतु में इन्द्रधनुष् में सप्तविध, रश्मि पट्टियों में दृष्टिगोचर होती हैं। इसी लिए सूर्य को "सप्तरश्मिः" कहते हैं "**यः सप्तरश्मिः**" (अथर्व० २०.३४.१३), तथा "**एकोऽश्वी वहति सप्तनामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभि सं नामयन्ति**" (निरुक्त ४.४.२७)। सप्त रश्मि का संक्षिप्तनाम है "नीलरोहित", यथा "**नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि**" (अथर्व० ८.८.२४)। सूर्य की सप्त रश्मियों में एक ओर तो लोहित रश्मि होती है, दूसरी ओर नील (violet), और इन दोनों के मध्य में शेष ५ रश्मियाँ।

तामसास्त्र यथा—

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥ अथर्व० ३.२..६॥

अर्थ—यह तामसास्त्र शत्रु सेना पर फैंका जाता है ताकि शत्रु सेना अन्धकाराविष्ट हो कर मिथः हनन करती रहे। स्वकीय सेना भी इसी अन्धकार में शत्रु सेना के साथ युद्ध कर रही है। अतः हमारे सेनाधिकारी भ्रमवश कहीं निज सैनिकों का भी वध न कर दें, इस लिए "**अस्माकं परि वृजन्तु वीरान्**" द्वारा उन्हें सचेत किया गया है। मन्त्र में "मरुतः" हैं मारने में सिद्धहस्त सैनिक (यजुः० १७.४०)]।

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय।

नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु॥ २॥

अर्थ—(शर्वाय) शत्रुसेना के हिंसक के लिए, (अस्त्रे) तामसास्त्र फैंकनेवाले के लिए, (उत) तथा (भवाय राज्ञे) सुखसम्पत्ति के उत्पादक राजा के लिए, और (नमस्येभ्यः) नमस्कारयोग्य (एभ्यः) इन देवजनों के लिए (नमः कृणोमि) मैं नमस्कार करता हूँ, वे (मनसा) मननपूर्वक (होमैः) सैनिकों को आत्माहुतियों द्वारा (हरसा) शत्रुहारी (घृतेन) वीर्यशक्तिद्वारा (अघविषाः) घातक विष के प्रयोक्ताओं की सेना को (अस्मदन्यत्र) हम से भिन्न स्थानों में (नयन्तु) ले जायं, प्राप्त करा दें; **णीञ् प्रापणे** (भ्वादिः) पहुँचा दें।

[घृतेन=**रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्** (अथर्व० ११.८.२९)। अघविषाः=अघम् 'आहन्ति'+ विषम्; जो कि घातक विषवाली हैं]।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्राय॑ध्वं नो अ॒घवि॑षाभ्यो व॒धाद्विश्वे॑ देवा मरुतो विश्ववेदसः।

अ॒ग्नीषोमा॒ वरु॑णः पूतद॑क्षा वातापर्ज॒न्ययोः सुम॒तौ स्या॑म॥ ३ ॥

अर्थ—(विश्वे देवाः) हे राष्ट्र के सब दिव्य अधिकारियो! तथा (विश्ववेदसः) सब [वेदों] के वेत्ता (मरुतः) ऋत्विजो! (नः) हम प्रजाजनों को, (अघविषाभ्यः) घातक विषवाली प्रजाओं द्वारा किये गये (वधात्) वध से (त्रायध्वम्) सुरक्षित करो। तथा (अग्नीषोमा=अग्नीषोमौ) सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री और सेनाप्रेरक सेनानायक, (वरुणः)[१] राष्ट्र द्वारा चुना गया राजा, जो कि (पूतदक्षाः) पवित्र और वृद्धिकारक हैं, वे सब हमें सुरक्षित करें, ताकि (वातापर्जन्ययोः) वायुसदृश प्राणप्रद और पर्जन्यसदृश सुखवृष्टिप्रद परमेश्वर की (सुमतौ) सुमति में, अनुकूल मति में (स्याम) हम हों।

[अघविषाभ्यः=घातक विषधारी प्रजाओं से सुरक्षा। **मरुतः ऋत्विङ्नाम** (निघं० ३.१८)। यज्ञों में ऋत्विक् सामान्यतया ४ होते हैं। होता=ऋग्वेदवेत्ता, उद्गाता=सामवेदवेत्ता, अध्वर्यु=यजुर्वेदवेत्ता, ब्रह्मा=चतुर्वेदवेत्ता। यथा—

ऋ॒चां त्वः॒ पोष॑मास्ते पुपु॒ष्वान्गा॑य॒त्रं त्वो॑ गायति॒ शक्व॑रीषु।

ब्र॒ह्मा त्वो॒ वद॑ति जातवि॒द्यां य॒ज्ञस्य॒ मात्रां॒ वि मि॑मीत उ त्वः ॥ ऋ० १०.७१.११; निरुक्त १.३.८॥

ब्रह्मा=**सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति** (निरुक्त)। इस द्वारा ब्रह्मा=चतुर्वेदवेत्ता।

ऋत्विक् यज्ञों द्वारा वायुमण्डल को पवित्र करते, तथा मन्त्रोपदेशों द्वारा प्रजाओं को पवित्र विचार-आचारवान् करते हैं।

अग्निः=अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७.४.१४)। सोमः=सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०)। वरुणः=राजा (यजुः० ८.३७)। पूतदक्षाः=पवित्र तथा वृद्धिकारक; **दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)।

अथर्ववेद मे पूतदक्षाः सकारान्त पाठ है जो कि वरुणः का विशेषण है। पूतदक्षम् अकारान्त पाठ नहीं। ऋग्वेद में सकारान्त तथा अकारान्त द्विविध पाठ हैं। अतः ऋग्वेद में इन दोनों पाठों में अर्थभेद आवश्यक है]।

सूक्त ९४

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं वो॒ मनां॑सि॒ सं व्र॒ता समाकू॑तीर्नमामसि।

अ॒मी ये विव्र॑ता॒ स्थन॒ तान्व॒: सं न॑मयामसि॥ १ ॥

अर्थ—(वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सं नमामसि) परस्पर के प्रति हम नत करते हैं, झुकाते हैं, (व्रता=व्रतानि) व्रतों, कर्मों को (सम्) परस्पर के प्रति नत करते हैं, झुकाते हैं, (आकूतीः) संकल्पों को (सम् नमामसि) परस्पर के प्रति नत करते हैं, झुकाते हैं। (अमी) ये (ये) जो (विव्रताः) परस्पर विरोधी व्रतों, कर्मों वाले (स्थन) हों (तान् वः) उन तुम को (सं नमयामसि) परस्पर के प्रति हम नत करते हैं, झुकवाते हैं।

---

१. अथर्व० ५.२२.१ में भी पूतदक्षाः विशेषण है वरुणः का। यथा "वरुणः पूतदक्षाः"।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥ २॥

अर्थ—(अहम्) मैं (मनसा) मन द्वारा (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृभ्णामि) पकड़ता हूं, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के अनुकूल (चित्तेभिः) चित्तों के साथ (एत) आओ। (मम) मेरे (वशेषु) वशों में (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूँ, (मम) मेरे (यातम्, अनु वर्त्मानः) मार्ग के अनुसार मार्गवाले हुए (एत) आओ, अर्थात् ममानुगामी बनो।

[मन्त्र १, २ में अथर्व० ७.१३ (१२) सूक्त की भावनाएँ हैं। पकड़ता हूँ=इधर-उधर भटकने नहीं देता। यह कथन सभापति का है सभासदों के प्रति। मन्त्र १ में नत कराना या झुकवाना शासक-वर्ग के व्यक्ति (whip) द्वारा है]।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।

ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति॥ ३॥

अर्थ—जैसे (द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी (ओते) पट में ताने-बाने के सदृश परस्पर ओतप्रोत हैं, परस्पर सम्बद्ध हैं, और उनमें (देवी सरस्वती) जलदात्री मेघीया वाणी (ओता) ओत-प्रोत है, सम्बद्ध है। और उन्हीं में (इन्द्रः) अन्तरिक्षीय विद्युत् (च) तथा (अग्निः) पार्थिवाग्नि (ओतौ) ओतप्रोत हैं, वैसे (सरस्वति) ज्ञान-विज्ञान वाली हे वेदवाणि! (इदम्) इस राष्ट्र को प्राप्त कर (मे) मेरी (द्यावापृथिवी) नर-नारी प्रजा[1], (इन्द्रः) सम्राट् (च) और (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (ऋध्यास्म) हम सब ऋद्धि को प्राप्त हों, बढ़ें।[2]

[मन्त्र में वेद विद्या के प्रचार का फल दर्शाया है सर्वतो वृद्धिः। सरस्वती=**सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक्, नदी वा** (उणा० ४.१९०, दयानन्द)]।

सूक्त ९५

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—वनस्पतिः (कुष्ठः) ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ १॥

अर्थ—(इतः) यहां से (तृतीयस्याम्) तीसरे (दिवि) द्युलोक में (अश्वत्थ[3]:) अश्वत्थ है (देवसदनः) दिव्यगुणों का घर। (तत्र) उस अश्वत्थ में (अमृतस्य चक्षणम्)[4] अमृत की दृष्टि (देवाः) देवों ने की, और उसे (कुष्ठम्) कुष्ठरूप में (अवन्वत) याचित किया।

[अभिप्राय यह कि अश्वत्थ के भी वही गुण हैं, जोकि कुष्ठ के हैं। अवन्वत=**वनु याचने** (तनादिः)]।

---

१. यथा "**द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह संभवाव प्रजामाजनयावहै।**" (अथर्व० १४.२.७१)।

२. सूक्त ९४ में कथन, राष्ट्र के राजा द्वारा हुआ है, जिसे कि वरुण कहते हैं। (यजुः० ८.३७)।

३. गूलर?, Holy fig tree (आप्टे) ficus religiosa, अथवा पीपल।

४. **चक्षिङ् "अयं दर्शनेऽपि"** (अदादिः)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः (कुष्ठः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ २॥

अर्थ—(हिरण्ययी) सुवर्णमयी (हिरण्यबन्धना) सुवर्ण के रस्से से बन्धी हुई (नौः) नौका (दिवि) द्युलोक में (अचरत्) चली है, (तत्र) उस काल में (देवाः) देवों ने (अमृतस्य) अमृत की दृष्टि के रूप में (पुष्पम्) फूल को (कुष्ठम्) कूठ रूप (अवन्वत) याचित किया।

[अभिप्राय यह कि कुष्ठ के फूल के भी वही गुण हैं जोकि कुष्ठ के हैं। द्युलोकस्थ नौका के तारागण हिरण्यसदृश चमकते हैं, और उन की रश्मियां रस्सी रूप हैं जिन द्वारा तारा गण परस्पर बंधे हुए हैं, और नौका के नौकारूप को बनाए हुए हैं। रात्रीकाल में द्युलोक में यह नौका "विशेष समय" में दृष्टिगोचर होती है, नौका काल में कुष्ठ या कुष्ठ पुष्प का संग्रह करना चाहिए।

नौः अचरत्=पृथिवी निज धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर भ्रमण [Revolve] करती है, अतः द्युलोक पूर्व-से-पश्चिम की ओर गति करता प्रतीत होता है। नौका भी द्युलोकस्थ है, अतः वह भी द्युलोक रूपी-समुद्र में पूर्व-से-पश्चिम की ओर चलती हुई [अचरत्] प्रतीत होती है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः (कुष्ठः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गर्भो असि ओषधीनां गर्भो हिमवतामुत। गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि॥ ३॥

अर्थ—(ओषधीनाम्) ओषधियों का (गर्भः[1]) गर्भरूप (असि) तू है, (उत) तथा (हिमवताम्) हिम प्रदेशों वाले औषधों का (गर्भः) गर्भरूप है। (विश्वस्य भूतस्य) समग्र प्राणियों का (गर्भः) गर्भरूप है, (मे) मेरे (इमम्) इस रोगी को (अगदम्) रोगरहित (कृधि) तू कर।

[प्रकरण की दृष्टि से कुष्ठ-औषध का वर्णन प्रतीत होता है]।

सूक्त ९६

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १

अर्थ—(सोमराज्ञीः) सोम-औषधी जिन में राजा है, (बह्वीः) जो बहुत अर्थात् अनेकविध हैं, (शत-विचक्षणाः) सौ जिन में विख्यात हैं, (याः) ऐसी जो (ओषधः) ओषधियां (बृहस्पतिप्रसूताः) वेद विद्वान् द्वारा प्रेरित अर्थात् प्रयुक्त की जाती हैं (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

[शरीर में लगभग सौ [१०७] मर्मस्थल हैं अतः मर्मस्थलों की दृष्टि से लगभग सौ में ओषधियों को विभक्त किया है। बृहस्पतिप्रसूताः=बृहती वेदवाक्, तस्याः पतिः, तेन प्रसूताः, (प्र+**षू प्रेरणे,** क्तः)। रोग पैदा होते हैं पापों से, यह वेदमन्तव्य है। पाप से मुक्त हो जाने पर तज्जन्य रोगों से मुक्त हो जाता है]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत।

अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ २॥

अर्थ—ओषधियां (मा) मुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें (शपथ्यात्) शपथ से उत्पन्न पाप से, (अथो)

---

१. जैसे गर्भस्थ शिशु, माता के गर्भ से, पोषण तथा गुण ग्रहण करता है,वैसे कुष्ठ में मानो सब औषधों की पुष्टियां तथा गुण विद्यमान हैं।

तथा (वरुण्यात्) जलोदर रोग से, (उत) भी। (अथो) तथा (यमस्य) नियन्ता-परमेश्वर या मृत्यु के (पड्वीशाद्) पादबन्धन अर्थात् पाद रोग से, तथा (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) इन्द्रिय जन्य पाप से। देवाः=इन्द्रियाणि (महीधर, यजुः० ४०.४)।

[शपथ झूठी होती है। यह भी रोगरूप है। सत्यवादी शपथ नहीं करता। वरुण का अर्थ है मेघ। अतः वरुण्य है जलीय रोग, अर्थात् जलोदर। पड्वीश=है पादों में प्रविष्ट रोग, श्लीपद, Elephantiasis देव हैं इन्द्रियाँ। किल्बिष है पाप, जोकि निश्चय से विषरूप होता है, किल+विष]।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु॥ ३॥

अर्थ—(यत्) जो पाप (चक्षुषा) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, (मनसा) संकल्प-विकल्प द्वारा, (यत् च) और जो (वाचा) वाणी आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा (जाग्रतः) जागते हुए, (यत्) तथा जो (स्वपन्तः) स्वप्नावस्था में (उपारिम) हम ने उपगत किया है, प्राप्त किया है, (तानि नः) उन हमारे पापों को (सोमः) सोम-औषध, (स्वधया) स्वनिष्ठ शक्ति द्वारा, (पुनातु) पवित्र करे, उन का संशोधन करे।

[उपारिम=उप+**ऋ** (**गतौ**), लिटि। सोम पद द्वारा सोम, और सोम जिनका राजा है वे सैकड़ों ओषधियां अभिप्रेत हैं (मन्त्र १)]।

सूक्त ९७

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः॥ १॥

अर्थ—(यज्ञः) संग्राम यज्ञ या संग्राम विजयनिमित्त प्रारब्धयज्ञ (अभिभूः) शत्रु का पराभवकारी हो, (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (अभिभूः) पराभवकारी हो, (सोमः) सेनाध्यक्ष (अभिभूः) पराभवकारी हो, (इन्द्रः) सम्राट् (अभिभूः) पराभवकारी हो। (अहम्) मैं वरुण-राजा (विश्वाः पृतनाः) शत्रु की सब सेनाओं का (यथा अभि असानि) जिस प्रकार पराभवकर्त्ता होऊँ (एवा=एव) इस प्रकार (अग्निहोत्राः) युद्धाग्नि में आहुति देने वाले हम (इदम्) इस (हविः) आत्माहुति को (विधेम) समर्पित करें।

[**अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। सोमः=सेनाप्रेरक सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०)। इन्द्रः=**'इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा'** (यजुः० ८.३७)। यज्ञः=जिस प्रकार हविर्यज्ञ में यज्ञाग्नि में हविः की आहुतियां दी जाती हैं, इसी प्रकार युद्धारम्भ करने से पूर्व, सामूहिक रूप में, युद्धाग्नि में आत्माहुतियां देने के दृढ़ संकल्प किए जाते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत्क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ २॥

अर्थ—(विपश्चिता=विपश्चितौ) हे मेधावी (मित्रावरुणा=मित्रावरुणौ) स्नेही मुख्यमन्त्री! तथा वरुण-राजन्। (स्वधा) आत्मधारणयोग्य अन्न (अस्तु) राष्ट्र में हो, (इह) इस राष्ट्र में (क्षत्रम्) क्षात्रबल

को (प्रजावत्) सन्तान के तुल्य (मधुना) मधुर व्यवहार तथा मधुर जल द्वारा (पिन्वतम्) सींचा करो। (निर्ऋतिम्) कष्ट को (पराचैः) पराङ्मुख करने के उपायों द्वारा (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाया करो, (कृतं चित्) हम प्रजा द्वारा किये गये (एनः) पाप कृत्य को (अस्मत्) हम से (प्रमुमुक्तम्) छुड़ाया करो।

[विपश्चित् मेधाविनाम (निघं० ३.१५)। मित्रावरुणौ मेधावी हैं। अतः ये मनुष्य हैं। मित्र=**ञिमिदा स्नेहने** (भ्वादिः)। पिन्वतम्=**पिवि सेचने** (भ्वादिः, इत्येके)। निर्ऋतिः=कृच्छ्रापत्तिः (निरुक्त २.२.८)। (कृतम् एनः) किये गये एक भी पाप से मुक्ति की अभिलाषा प्रकट की गई है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

इ॒मं वी॒रमनु॑ हर्षध्वमु॒ग्रमिन्द्रं॑ सखायो॒ अनु॒ सं र॑भध्वम्।

ग्रा॒म॒जितं॑ गो॒जितं॒ वज्र॑बाहुं॒ जय॑न्त॒मज्म॑ प्रमृ॒णन्त॒मोज॑सा॥ ३॥

अर्थ—(इमम्) इस (वीरम्) वीर, (उग्रम्) उग्र, (ग्रामजितम्) ग्राम-ग्राम कर के जीतते हुए, (गोजितम्) शत्रु की पृथिवी को जीत लेने वाले, (वज्रबाहुम्) वज्रसमान कठोर बाहुओं वाले, (अज्म) संग्राम को (जयन्तम्) जीतते हुए, और (ओजसा) बल द्वारा (प्रमृणन्तम्) शत्रु सैनिकों को मारते हुए (इन्द्रम्) सम्राट् के (अनु) अनुकूल होकर (हर्षध्वम्) प्रसन्न होओ, और (सखायः) मित्रभूत सैनिको! (अनु) इसके अनुसार (संरभध्वम्) मिलकर युद्धारम्भ करो।

[**अज्म संग्रामनाम** (निघं० २.१७)। गोजितम्=**गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१), तथा गोपशु। इन्द्रम्=सम्राजम्, यद्वा इन्द्रः संग्रामाधिदेवता (सायण)]।

सूक्त ९८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै।

च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह॥ १॥

अर्थ—(इन्द्रः) सम्राट् (जयाति) विजयी हो या विजयी होता है (परा जयातै न) पराजित न हो, या पराजित नहीं होता, (अधिराजः) वह राजाधिराज (राजसु) राजाओं पर (राजयातै) राज्य करे या करता है। (चर्कृत्यः) वह अतिशय शत्रुछेदक है, (ईड्यः) स्तुत्य है, (वन्द्यः) अभिवादन योग्य है, (उपसद्यः) सेवनीय है, (इह) इस साम्राज्य में वह तू (नमस्यः) नमस्कार योग्य (भव) हो, बना रहे।

[मन्त्र के वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्र मनुष्य है, न कि चेतन अधिदेवता। "**अस्मिन् संग्रामे अस्य राज्ञः साहाय्यार्थम् आगत इन्द्रः, तदात्मको वा अयं राजा जयाति**" (सायण)। इस प्रकार विकल्प में सायण ने भी इन्द्र पद द्वारा मानुष राजा माना है, जोकि "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७) की भावना के अनुकूल है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भास्तारपङ्क्तिः**॥

त्वमि॑न्द्राधिरा॒जः श्र॑व॒स्युस्त्वं भू॑र॒भिभू॑ति॒र्जना॑नाम्।

त्वं दैवी॒र्विश॑ इ॒मा वि रा॒जायु॑ष्मत्क्ष॒त्रम॒जरं॑ ते अस्तु॥ २॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (त्वम्) तू (अधिराजः) राजाधिराज है, (श्रवस्युः) श्रवणीय कीर्तिमान् है, (त्वम्) तू (जनानाम्) सब जनों का (अभिभूतिः) पराभव कर्त्ता (भूः) है, [सब जनों में उत्कृष्ट है]। (त्वम्) तू (इमाः) इन (दैवीः विशः) दिव्यगुणों वाली प्रजाओं पर (विराज) विराजमान हो, शासन कर, (ते) तेरा (क्षत्रम्) क्षात्रबल (आयुष्मत्) चिरकाल तक बना रहे, और (अजरम्) जरा रहित, यौवनशक्ति सम्पन्न (अस्तु) हो।

[इन्द्राभेदेन राज्ञः स्तुतिः (सायणः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहञ्छत्रुहोऽसि।
यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा का (राजा असि) राजा है, (वृत्रहन्) हे वृत्रों अर्थात् घेरा डालने वालों का हनन करने वाले! (उत) और तू (उदीच्याः दिशः) उत्तर की दिशा के (शत्रुहः असि) शत्रुओं का हनन करने वाला है। (यत्र) जिस ओर (स्रोत्याः) प्रस्रवणशील जलप्रवाह (यन्ति) जाते हैं, प्रवाहित होते हैं (तत्) वह भी (ते) तेरा (जितम्) जीता हुआ है, (हव्यः) हम द्वारा आहूत अर्थात् व्यामन्त्रित हुआ तू (वृषभः) वर्षा करने वाले मेघ के सदृश सुखों की वर्षा करता हुआ, (दक्षिणतः) दक्षिण प्रदेश से (एषि) तू आता है।

[मन्त्र में पूर्व और उत्तर दिशाओं का वर्णन स्वशब्दों द्वारा हुआ है। पृथिवी के पश्चिम तथा दक्षिण दिशाओं का कथन "यत्र यन्ति स्रोत्याः" द्वारा किया है। पृथिवी की नदियों के प्रवाह प्रायः पश्चिम तथा दक्षिण के समुद्रों में होते हैं। इन्हें भी इन्द्र ने जीत लिया है। वर्षा ऋतु में मेघ पश्चिम तथा दक्षिण के समुद्रों से ही उठते हैं।

इन्द्र अर्थात् सम्राट् की राजधानी भी दक्षिण में होनी चाहिए। ऐसा निर्देश मन्त्र द्वारा मिलता है, जहां से कि सम्राट् आमन्त्रित होने पर आता है। इन्द्र अर्थात् मेघीय-विद्युत् भी दक्षिण दिशा से मेघ के साथ आती है।

इन्द्र समग्र पृथिवी का सम्राट् प्रतीत होता है, तभी इसे "अधिराजः, और राजसु राजयातै" द्वारा वर्णित किया है। वस्तुतः इन मन्त्रों में इन्द्र है इन्द्रेन्द्र। इन्द्रेन्द्र को ही संक्षेप में इन्द्र कहा है। जैसे कि देवदत्त को देव या दत्त कह दिया जाता है। इसी अभिप्राय को दृष्टिगत कर कहा है कि "कृत्स्नं भूमण्डलं त्वदायत्तमेवेत्यर्थः (सायण)। भूमण्डलव्यापी राज्यवालों को "चक्रवर्ती राजा" कहते हैं। अथर्ववेद में चक्रवर्ती राजा को "इन्द्रेन्द्र" कहा है। यथा "**इन्द्रेन्द्र मनुष्या[१]३ः परेहि**" (अथर्व० ३.४.६) इन्द्रेन्द्रः= इन्द्राणामिन्द्र। सम्राटों को सम्राट्! ऐसा ही अभिप्राय (अथर्व० ३.४.१-७) के मन्त्रों में प्रकट होता है]। मनुष्यान अथवा मनुष्याः=हे मनुष्य! (इन्द्रेन्द्र)।

१. अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में पाठ है, "मनुष्य"। इससे इन्द्रेन्द्र को मनुष्य कहा है। "मनुष्याः" पाठ अर्थसङ्गत नहीं होता। सायणाचार्य को भी "मनुष्याः" पाठ संगत नहीं प्रतीत हुआ। अतः उस ने मनुष्याः का अर्थ किया है "मनुष्यान्" तथा "यद्वा मनोरपत्यभूताः प्रजाः"। अथवा "मनुष्याः विशः"।

सूक्त ९९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे। ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम्॥ १ ॥

अर्थ—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य वाले परमेश्वर! (वरिमतः) सर्वव्यापक होने से (अंहूरणात्) हनन होने से (पुरा) पूर्व ही (त्वा) तुझे (अभि हुवे) स्वाभिमुख बुलाता हूँ। (उग्रम्) तुझ उग्र को, (चेत्तारम्) ज्ञानी को, (पुरुणामानम्) बहुत नामों वाले अथवा नाना शत्रुओं को नत करने वाले को, तथा (एकजम्) अकेले ही जगत् पैदा करने वाले को (ह्वयामि) मैं आह्वान करता हूँ।

[देवासुर-संग्राम में आसुर शक्तियों अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि द्वारा निज हनन को अनुभव करता हुआ उपासक, जगत् के कर्त्ता का, साक्षात् आह्वान करता है। वरिमतः=उरु+इमनिच्; वर् आदेश, "**प्रियस्थिर**" (अष्टा० ६.४.१५७) द्वारा। अंहूरणात्="**अंहुरः अंहस्वान्; अंहूरणमित्यप्यस्य भवति**" (निरुक्त ६.५.२७), तथा ४.४.२५); अंहूर=आ+हन+र। एकजम्=अथवा "**एकेन प्रकृतिरूपेण कारणेन जनयतीति**"। **एषामेक एकजः** (अथर्व० १०.८.५)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन्न उदीरते। इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः॥ २ ॥

अर्थ—(अद्य) आज (यः) जो (सेन्यः वधः) आसुरी सेना[1] का वधकारी आयुध, (नः जिघांसन्) हमारी हत्या चाहता हुआ (उदीरते) उठा है, (तत्र) उस अवस्था में (इन्द्रस्य) परमेश्वर की (बाहू) दो बाहुओं को (समन्तम्) अपने सब ओर (परिदद्मः) हम घेरे के रूप में धारित करते हैं।

[अद्य=उपासक जिस दिन आसुरी सेना से पूर्णतया व्यथित हो गया, वह दिन। मन्त्र में समूहोपासना का वर्णन है। बाहू=बल और वीरता; यश और बल]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः, सोमः सविता च**॥ छन्दः—**भुरिग् बृहती**॥

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये॥ ३ ॥

अर्थ—(त्रातुः) पालक (इन्द्रस्य) परमेश्वर की (बाहू) बाहुओं अर्थात् बल और वीरता, यश और बल को (समन्तम्) अपने सब ओर (परिदद्मः) हम घेरे के रूप में धारित करते हैं (नः) हमारी (त्रायताम्) वे पालना करें। अतः (देव) हे देव! (सवितः) हे प्रेरक! (सोम) हे सौम्य स्वभाव वाले! (राजन्) सब के राजा परमेश्वर! (मा) मुझ को (सुमनसम्) सुप्रन्नचित्त या शोभनमन वाला (कृणु) कर (स्वस्तये) कल्याण के लिए।

[सामूहिक उपासना में बैठ कर, प्रत्येक उपासक, परमेश्वर से पालना की याचना करता है जिस से कि आसुरी भावों द्वारा वह व्यथित न हो। आसुरी भावों से छुटकारा पा कर उपासक प्रसन्नचित्त हो जाता है, तथा शुभ मन वाला हो जाता है, और कल्याण मार्ग का पथिक हो जाता है। त्रातुः, त्रायताम् (**त्रैङ् पालने** (स्वादिः)]।

---

१. काम क्रोध लोभ आदि सब द्वारा आक्रमण।

सूक्त १००

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दे॒वा अ॑दुः सूर्यो॑ अदाद् द्यौर॑दात्पृथि॒व्य॑दात्।
ति॒स्रः सर॑स्वतीरदुः सचि॑त्ता विष॒दूष॑णम्॥ १॥

अर्थ—(देवाः अदुः) देवों ने दिया है, (सूर्यः अदात्) सूर्य ने दिया है, (द्यौः अदात्) द्युलोक ने दिया है, (पृथिवी अदात्) पृथिवी ने दिया है, (तिस्रः सरस्वतीः) तीन सरस्वतियों ने (सचित्ताः) एकचित्त हो कर (अदुः) दिया है (विषदूषणम्) विषनिवारक औषध।

[देवाः=साध्याः, ऋषयश्च। यथा "**तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये**" (यजुः० ३१.९)। साध्याः है योगसाधनाओं से सम्पन्न योगी और ऋषयः हैं मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रार्थद्रष्टा है। ये दोनों मनोबल तथा अध्यात्म शक्ति के द्वारा रोगों का विनाश कर सकते हैं, और विष का भी। इन की इन शक्तियों को विषदूषण-औषध कहा है। हस्त स्पर्श द्वारा ये महानुभाव रोगी में शक्ति का संचार कर उस के रोग का निवारण कर सकते हैं। हस्तस्पर्श चिकित्सा के लिए देखो (अथर्व० ३.११.२, ८); (अथर्व० २०.९६.७); (अथर्व० ४.१३.६, ७) आदि।

सूर्यः=सूर्य की सप्तविध रश्मियों द्वारा "रश्मिचिकित्सा" विषदूषण है।

द्यौः=द्युलोक असंख्य नानाविध शक्तियों वाले सूर्यों से भरा हुआ है। इन की शक्तियों के प्रयोगों को विषदूषण आदि में उपयुक्त करने का निर्देश किया है।

तिस्रः सरस्वतीः=सायणाचार्य के अनुसार ये तीन "त्रयी" रूपा हैं, ऋक्, यजुः, सामरूपा। यह त्रयी मानो एकचित्त होकर, परस्पर अविरोध रूप में विषदूषण के उपायों का ज्ञान देती है।

पृथिवी=पृथिवी तो औषधों का भण्डार है, जिस द्वारा समग्र रोगों का उपचार हो रहा है। बिच्छु, भिड, सांप आदि ने जहां काटा है वहां मिट्टी के प्रलेप द्वारा भी विषदूषण किया जा सकता है]।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्वो॑ दे॒वा उ॑पजी॒का आसि॒ञ्च॒न्धन्व॒न्युद॒कम्। तेन॑ दे॒वप्र॑सूते॒ने॒दं दू॑षयता वि॒षम्॥ २॥

अर्थ—(उपजीकाः) हे दीमको! (देवाः) दिव्य तत्त्वों ने (वः) तुम्हारे [मुखों में] (धन्वनि) मरु प्रदेश में (यत्) जो (उदकम्) मुखरस [Saliva] (आसिञ्चन्) सींचा है, (देवप्रसूतेन) दिव्य तत्त्वों द्वारा उत्पादित (तेन) उस उदक द्वारा (इदम् विषम्) इस विष को (दूषयता) दूषित कर दो, विकृत कर दो, विष के विषत्व को नष्ट कर दो।

[वैदिक वर्णन प्रायः कविता के शब्दों में होते हैं। कविता में ही दीमकों को सम्बोधित किया है। दीमकों को "उपजीकाः" कहा है। उपजीकाः=उप+**ज्या वयोहानौ** (क्र्यादिः) "ज्या" के यकार को सम्प्रसारण द्वारा इकार हो कर, दीर्घ+कन् (अल्पार्थे)। दीमक जिस के समीप लग जाती है उस के वयः की हानि कर देती है, उसे विनष्ट कर देती है।

संसार के दिव्य तत्त्वों द्वारा सब प्राणी, उन के अवयव, तथा उन अवयवों में जीवनीय रस पैदा होते हैं। इन्हीं तत्त्वों द्वारा दीमक के मुख में उदक अर्थात् मुख रस पैदा होता है। इस मुखरस को दीमकें जिस काष्ठ आदि पर सींचतीं हैं उसे बलमीक रूप में मिट्टी बना देती है। इस मुखरस द्वारा विष को भी दूषित

किया जा सकता है, विष के विषत्व को नष्ट किया जा सकता है। जैसे दीमक का मुखरस [उदक] काष्ठ आदि के स्वरूप को विकृत कर उसे रूपान्तर में परिवर्तित कर देता है, वैसे वह विष के स्वरूप को विकृत कर, उसे रूपान्तर में परिवर्तित कर, उस के विषत्व को नष्ट कर देता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा।

दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम्॥ ३॥

अर्थ—हे उपजीका! (असुराणाम्) असुरों की (दुहिता) बेटी (असि) तू है, (सा) वह तू (देवानाम्) देवों की (स्वसा) बहिन (असि) हैं। (दिवः पृथिव्याः) द्युलोक के ताप और प्रकाश, तथा जलतत्त्व से, तथा पृथिवी के पार्थिवतत्त्व के मेल से (सम्भूता) तू उत्पन्न हुई है, (सा) उस तूने (विषम्) विष को (अरसम्) नीरस, निर्वीर्य अर्थात् शक्तिरहित (चकर्थ) कर दिया है।

[कविता के शब्दों में भाव छिपा हुआ है। असुर हैं विनाशक। उपजीका अर्थात् दीमक भी वस्तु के वयस् की हानि करती है। दोनों के गुण समान है। अतः इन में जनक-जन्य भाव है। देव हैं दिव्यगुणी, और उपजीका अर्थात् दीमक भी दिव्यगुणों से सम्पन्न बल्मीक-मृत्तिका को उत्पन्न कर, तद्द्वारा विष का विनाश करती है। दोनों में दिव्यता समान है। इस दिव्यतागुण की समानता से देवों और दीमक को भाई-बहिन कहा है।]

सूक्त १०१

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च। यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि॥ १॥

अर्थ—हे पुरुष! (श्वसिहि) तू प्राणशक्तिसम्पन्न बन, (आवृषायस्व) और शक्तिशाली वृषभ के सदृश शक्तिशाली बन, (वर्धस्व) शरीर से बढ़, (प्रथयस्व) और परिवार को बढ़ा। (यथाङ्गम्) अन्य अङ्गों के सदृश (शेपः) तेरी प्रजनन इन्द्रिय (वर्धताम्) बढ़े, (तेन) उस बढ़ी इन्द्रिय के साथ (योषितम्) प्रीति करनेवाली पत्नी को (इत्) ही (जहि) जाया कर।

[मन्त्र में गृहस्थसम्बन्धी उत्तम शिक्षा दी गयी है। (१) श्वसिहि (श्वस प्राणने, अदादिः), प्राणशक्ति का सञ्चय शरीर में कर। (२) और शक्तिशाली बैल के सदृश शक्तिशाली बन। (३) अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों की दृष्टि से बढ़। (४) फिर अपने परिवार को फैला। (५) परन्तु परिवार फैलाने से पूर्व यह देख ले कि तेरी प्रजनन इन्द्रिय परिवार फैलाने योग्य अभी हुई है या नहीं। (६) यदि इस योग्य हो गयी हो तो निज पत्नी का ही प्रसङ्ग किया कर। अन्य स्त्रियों का कीर्तन तक भी नहीं करना, "**नान्यासां कीर्तयाश्चन**" (अथर्व ७.३८.४)। योषित्=**जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तुदादिः) जो प्रीति करे और सेवा करे वह पत्नी (उणा० १.९७)। **जहि=हन हिंसागत्योः**, गत्यर्थ अभिप्रेत है। जहि=गच्छ (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्। तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः॥ २॥

अर्थ—(येन) जिस उद्देश्य से (कृशम्) निर्बल को (वाजयन्ति) वाजीकरण द्वारा सबल करते हैं,

और (येन) जिस उद्देश्य से (आतुरम्) रोगार्त को (हिन्वन्ति) प्रीणित करते हैं, पोषित करते हैं, (तेन) उस उद्देश्य से (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के पति! (अस्य) इस प्रजननेन्द्रिय के रोगी की (पसः) जनन-इन्द्रिय को (धनुः इव) धनुष् के सदृश (आ तानय) विस्तारित कर दे, या तान दे।

[पति यदि रोगवश इन्द्रियरोगी हो जाए, और उसकी इन्द्रिय आनुपातिक दृष्टि से ह्रसित हो जाए, तो वेदज्ञ विद्वान् वेदोपदिष्ट विधि से इन्द्रिय को उचित परिमाण से सम्पन्न कर देता है। उद्देश्य है सन्तानोत्पादन और गृहस्थ धर्म का पालन, न कि कामवासना से प्रेरित भोग। हिन्वन्ति=**हिवि प्रीणने** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।

क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा॥ ३॥

अर्थ—(अहम्) मैं ब्रह्मणस्पति [मन्त्र २] (ते) तेरी (पसः) प्रजननेन्द्रिय को (आतनोमि) पूर्णतया विस्तारित करता हूँ, (धन्वनि अधि) धनुष् पर चढ़ाई (ज्याम् इव) ज्या अर्थात् डोरी के सदृश। (ऋशः) हरिण (इव) जैसे (रोहितम्) हरिणी की ओर, वैसे तू (क्रमस्व) [पत्नी की ओर] पग बढ़ा, (सदा अनवग्लायता) सदा ग्लानिरहित मन से, प्रसन्न चित्त से।

[रोहितम्=रोहित्+अम् (द्वितीया विभक्ति, पदानुक्रमणी)। अनवग्लायता=अ+नुट्+अव+**ग्लै हर्षक्षये** (भ्वादिः)+तृतीयैकवचन। क्रमस्व=**क्रमु पादविक्षेपे** (भ्वादिः)।

समग्र सूक्त में कोई अश्लीलता का अंशमात्र भी नहीं। गृहस्थधर्म में रोग का केवल वर्णन और उसकी निवृत्ति का कथनमात्र हुआ है। डॉक्टरी की पुस्तकों में भी ऐसे विषयों का वर्णन पाया जाता है, और पढ़ाया भी जाता है।]

सूक्त १०२

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते।

एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम्॥ १॥

अर्थ—(अश्विना=अश्विनौ) हे दो अश्वियो! (यथा) जैसे (अयम्) यह (वाहः) रथवाहक अश्व (समैति) [रथ में जुतने के लिए] सम्यक् प्रकार से, अर्थात् विना प्रतिरोध के आ जाता है, (च) और [मार्ग पर] (सम् वर्तते) सम्यक् प्रकार से वर्तता है, चलता है, (एवा) इसी प्रकार [हे पत्नी] (ते मनः) तेरा मन (माम् अभि) मुझ पति के अभिमुख (समैतु) सम्यक् प्रकार से आये, प्रवृत्त हो, (च) और (सम् वर्तताम्) सम्यक् बर्ताव करे।

[वाहः है अश्व। इसलिए अश्विनौ को सम्बोधित किया प्रतीत होता है। अश्विनौ सम्भवतः अश्वशिक्षक हैं। मन्त्र में रुष्ट हुई पत्नी को पति स्वाभिमुख करने का अभिलाषी है।]

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।

रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः॥ २॥

अर्थ—हे रुष्ट पत्नी! (ते मनः) तेरे मन को (अहम्) मैं पति (आ खिदामि) दैन्ययुक्त करता हूँ, (इव) जैसे (राजाश्वः) अश्वों का राजा अर्थात् शक्तिशाली अश्व (पृष्ट्याम्) अश्वा को दैन्ययुक्त करता है। तथा (यथा) जैसे (रेष्मछिन्नम्) प्रबल वायु से कटा (तृणम्) तिनका [वायु में] (वेष्टताम्) लिपट जाता है वैसे (ते मनः) तेरा मन (मयि) मुझ में (वेष्टताम्) लिपट जाए।

[पृष्ट्याम्=अथर्ववेद की कई प्रतिलिपियों में 'पृष्ठ्याम्' पाठ है। इस का अर्थ है अश्व के पृष्ठ के साथ संलग्न होकर रथ में जुती अश्वा घोड़ी। साथ-साथ जुते होने के कारण राजाश्व अश्वा को भोग के लिए दैन्ययुक्त कर देता है। 'आखिदामि' **खिद दैन्ये** (दिवादिः, रुधादिः), और अश्वा भोगार्थ राजा के अनुकूल हो जाती है। यही अवस्था पति, पत्नी के मन की कर देता है।

रेष्मच्छिन्नम्=**रिष हिंसायाम्+मन्** (औणादिक, १.१४०-१४४)+छिन्नम्। हिंसा करने वाली, वृक्षों, वनस्पतियों, तिनकों को छिन्न-भिन्न कर देने वाली, प्रबल वायु।]

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च। तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥ ३॥

अर्थ—(आञ्जनस्य) शरीर से शोभा वाला तथा तेरी कामना वाला, (मदुघस्य) मधुर वचनों का दोहन करनेवाला अर्थात् मधुरभाषी, (कुष्ठस्य) मेरे प्रति तेरी विरक्तता के कारण कुत्सितावस्था में स्थित, (च) और (नलदस्य) तुझे भाषण देने वाला अर्थात् तेरे साथ बोल रहा, (तुरः) तेरी कामनाओं को शीघ्र पूर्ण करने वाला, (भगस्य) तथा ऐश्वर्यसम्पन्न जो मैं हूँ, उस मेरे (हस्ताभ्याम्) निज हाथों द्वारा (अनुरोधनम्) तेरी कामना का (उद्भरे) मैं उद्धार करता हूँ, उसे पूर्ण करता हूँ।

[मन्त्र में हस्ताभ्याम् से पूर्व ''तस्य मम'' का अध्याहार अपेक्षित है। आञ्जनस्य=**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः) में अभिव्यक्ति और कान्ति अर्थात् कामना अभिप्रेत है। मदुघस्य= मधुदुघस्य। यथा मदुघात्=मधुदुघात्, **दुह प्रपूरणे**। मधुशब्दोपपदात्, अस्मात् ''**दुहः कब् घश्च**'' (अष्टा० ३.२.७०) इति कप् प्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन घत्वं च [हकारस्य]। मधुशब्दे धुलोपश्छान्दसः'' (सायण, अथर्व १.३४.४)। कुष्ठस्य=कु=(कुत्सितावस्था)+स्थ, अथवा ''कौ (पृथिव्याम्)+स्थितस्य'' अर्थात् जीवित। नलदस्य=नल च (भाषार्थः, चुरादिः)+दा दाने। तुरः=त्वरायुक्तस्य। अनुरोधनम्=**अनो रुध कामे** (दिवादिः)। उद्भरे=**हृग्रहोर्भः छन्दसि**।

दसवाँ अनुवाक समाप्त॥

अथ पञ्चदशः प्रपाठकः

अनुवाक ११

सूक्त १०३

ऋषिः—**उच्छोचनः**॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्। संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना॥ १॥

अर्थ—(वः) हे शत्रुओ! तुम्हारा (संदानम्) बन्धन (बृहस्पतिः) साम्राज्य की बड़ी-सेना का पति (करत्) करे, (संदानम्) बन्धन (सविता) सेना का प्रेरक सेनाध्यक्ष करे। (मित्रः) सब का मित्रभूत (अर्यमा) न्यायाधीश (सन्दानम्) बन्धन करे, (भगः) कोषाध्यक्ष तथा (अश्विना) दो अश्वी (संदानम्)

बन्धन करें।

[युद्ध में परास्त हुए शत्रुओं का बन्धन, विजयी राज्य का कोई भी अधिकारी निज आज्ञा द्वारा कर सकता है। अश्विनौ दो अधिकारी हैं अश्वारोहियों के तथा रथारोहियों के अश्वों के। संदानम्="**संपूर्वो द्यतिर्बन्धने वर्तते**" (सायण)]।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं पर॒मान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑मि मध्य॒मान्। इन्द्र॒स्तान्पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम्॥ २ ॥

अर्थ—(परमान्) शत्रु सेना के उत्कृष्ट अधिकारियों को [युद्धस्थल में] (सं द्यामि) मैं सेनाध्यक्ष बान्धता हूँ, (अवमान्) नीचे के अधिकारियों को (सम् द्यामि) बाँधता हूँ, (अथो) तथा (मध्यमान्) मध्यम अधिकारियों को (सम् द्यामि) बान्धता हूँ। परन्तु (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (तान्) उन अधिकारियों को (दाम्ना) रस्सी द्वारा (त्वम्) तू [स्थिर रूप में] (सं द्या) बान्ध। (इन्द्रः) सम्राट् (पर्यहाः) जिन्हें चाहे बन्धन से परित्यक्त कर दे।

[युद्धस्थल में सभी प्रकार के शत्रुसेना के अधिकारियों को बांध सकता है परन्तु उन्हें स्थिररूप में रस्सी द्वारा बांधे रखने का अधिकार प्रधानमन्त्री का है। उन बद्धों में से जिन्हें चाहे सम्राट् बन्धन से मुक्त कर सकता है। पर्यहाः=परि (पूर्णतया)+अ (अट् लुङि)+हा (**ओहाक् त्यागे,** जुहोत्यादिः)। "हरतेर्लुङि च्लेः सिच्। "**बहुलं छन्दसि**" (अष्टा० ७.३.९७) इति इडभावे, "**हल्ङ्याब्भ्यो**" (अष्टा० ६.१.६६) इत्यादिलोपे, "**रात् सस्य**" (अष्टा० ८.२.२४) इति सलोपः" (सायण)]।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒मी ये युध॑मा॒यन्ति॑ के॒तून्कृ॒त्वानी॑क॒शः। इन्द्र॒स्तान्पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम्॥ ३ ॥

(अमी) वे (ये) जो (केतून् कृत्वा) झण्डे लेकर, (अनीकशः) संघरूप में (युधम्) युद्ध के उद्देश्य से (आयन्ति) आते हैं (तान्) उन्हें (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (दाम्ना) रस्सी द्वारा स्थिर रूप में (त्वम्) तू (संद्य) बांध, (इन्द्रः) सम्राट् (तान्) उन में से जिन्हें चाहे (पर्यहाः) परित्यक्त कर दे।

सूक्त १०४

ऋषिः—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

आ॒दाने॑न स॒न्दाने॑ना॒मित्रा॒ना द्या॑मसि।

अ॒पा॒ना ये चै॑षां प्रा॒णा असु॒नासू॒न्त्सम॑च्छिदन्॥ १ ॥

अर्थ—(आदानेन) पकड़ने [arrest] द्वारा, (संदानेन) और बांधने [Binding] द्वारा (अमित्रान्) शत्रुओं को (आ द्यामसि) हम [विजेता] बांध लेते हैं। (च) और (एषाम्) इन अमित्रों के (ये) जो (अपानाः प्राणाः) प्राणापान हैं, श्वास-प्रश्वास हैं (तान् असून्) उन प्राणापानों को (असुना) प्राणवान् अर्थात् बलवान् वधक के द्वारा (समच्छिदन्) हमने काट दिया है [गले काट कर उन के श्वास-प्रश्वासों की गति रोक दी है]।

[युद्धस्थल में शत्रुओं को पकड़ कर उनके सामयिक बन्धन कर दिए हैं, तत्पश्चात् प्रधानमन्त्री की आज्ञा द्वारा उन्हें स्थिर[1] रूप में बांध दिया है। असुना=लक्षणा द्वारा असुना का अर्थ है असुमता, प्राणवता,

१. बन्धीकृत कर दिया है, जेल में बन्द कर दिया है।

बलवता पुरुषेण, वधकेन]।

ऋषिः—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम्।

अमित्रा येत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम्॥ २ ॥

अर्थ—(इदम्) इस (आदानम्) आदान-पाश अर्थात् शत्रु को पकड़ने के साधन का प्रयोग (अकरम्) मैं सेनाध्यक्ष ने किया है, जो कि (इन्द्रेण) सम्राट् ने (तपसा) तप के द्वारा (संशितम्) निर्मित किया है। (अत्र) इस संग्राम में (ये) जो (नः) हमारे (अमित्राः) शत्रु (सन्ति) हैं (तान्) उन्हें (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (त्वम्) तू (आ दय) बन्द[1]-दण्ड दे।

[यह आदान-पाश है जाल। यथा, अथर्व० ८.८.५,८,१२; १०.१.३०)। तपसा=परिश्रमेण]।

ऋषिः—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**सोमः, इन्द्रश्च** ॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

ऐनान्द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ।

इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः॥ ३ ॥

अर्थ—(इन्द्राग्नी) इन्द्र सम्राट् और अग्रणी प्रधानमन्त्री (मेदिनौ) स्नेही होकर, इसी प्रकार (सोमः) सेनाध्यक्ष (च) और (राजा) राष्ट्रपति वरुण नामक राजा भी (मेदिनौ) स्नेही होकर, (एनान्) इन शत्रुओं को (आ द्यताम्) बन्द करने का दण्ड दें। (मरुत्वान्) सेनाधिपति (इन्द्रः) सम्राट् (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिए (आदानम्) पकड़ने के जाल का प्रयोग (कृणोतु) करे।

[सम्राट्, प्रधानमन्त्री, सेनाध्यक्ष तथा वरुण राजा—ये चारों स्नेहार्द्रहृदय होकर बन्द करने के दण्ड का प्रयोग करें, विद्वेष भावना से नहीं। इन्द्रः राजा='**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा।**'' (यजुः० ८.३७) **अग्निः**=''**अग्रणीर्भवति**'' (निरुक्त ७.४.१४)। सोमः=सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०)। मरुतः=मारने में कुशल सैनिक (यजुः० १७.४०, ४१)। मेदिनौ=**ञिमिदा स्नेहने** (भ्वादिः, दिवादिः) स्नेहिनौ, न कि मेदस्विनौ=स्थूलकायौ]।

सूक्त १०५

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।

एवा त्वं कासे प्र पत मनसोनु प्रवाय्यम्॥ १ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (आशुमत्) वेगयुक्त (मनः) मन, (मनस्केतैः) निज मानसिक ज्ञानों द्वारा (परापतति) दूर के प्रदेशों तक गति करता है, (एव) इसी प्रकार (कासे) हे शासन व्यवस्था! (त्वम्) तू (मनसः) मन के (प्रवाय्यम्) दूर के गन्तव्य प्रदेशों के (अनु) अनुरूप (प्रपत) दूर तक गति कर, पहुँच। पत=**पत्लृ गतौ** (भ्वादिः)।

[मन्त्र में ''कासा'' का वर्णन है ''कासा'' का प्रसिद्ध अर्थ है ''खांसी''; **कासृ शब्दकुत्सायाम्** (भ्वादिः)। परन्तु सूक्त में खांसी अर्थ उपपन्न नहीं प्रतीत होता ।''कासा'' का अर्थ ''शासन व्यवस्था''

१. जेल में बन्द करने का दण्ड।

भी सम्भव है जोकि सूक्त में अधिक समन्वित होता है। ''कासा''=**कसि गतिशासनयोः, कस इत्येके** (अदादिः)। कस+घञ्+टाप्=शासन व्यवस्था। वर्तमान में जैसे भिन्न-भिन्न राज्यों की दृष्टि से समुद्र और वायुमण्डल में शासन-व्यवस्था लागू है, वैसे उस दूर की ऊर्ध्वदिशा में भी शासन-व्यवस्था लागू होनी चाहिए जहां तक कि मनुष्य पहुंच सकता है और मन की वास्तविक गति या पहुँच सम्भव है। ताकि मनुष्यों में वहां तक पहुँच कर भी युद्ध न हो सके, यह मन्त्र का अभिप्राय है। वर्तमान काल के "Starwar" को रोकना, इस व्यापी शासन व्यवस्था द्वारा सम्भव हो सकता है]।

ऋषिः—**उन्मोचनः**॥ देवता—**कासा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।

एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम्॥ २॥

अर्थ—(यथा) जैसे (सु संशितः) उत्तम-साधित (बाणः) शब्द (आशुमत्) शीघ्र (परा पतति) दूर के प्रदेशों तक गति करता है, पहुंच जाता है, (एव=एवम्) इस प्रकार (कासे) हे शासन व्यवस्था! (त्वम्) तू (पृथिव्याः) पृथिवी की (संवतम्) संप्राप्ति की (अनु) अनुकूलता तक (प्रपत) गति कर, पहुँच।

[बाणः=शब्द। यथा ''**बण शब्दार्थः**'' (भ्वादिः), अर्थात् वाणी। शब्द या वाणी, यन्त्रों द्वारा सुसाधित होकर शीघ्र दूर-दूर के प्रदेशों तक पहुँच जाती है, जैसे कि टेलीफोन तथा रेडियो और टेलीविजन द्वारा वर्तमानकाल में पहुँच रही है। इसी प्रकार शासन व्यवस्था को भी, समग्र पृथिवी पर, जहां तक पृथिवी की सम्यक्-प्राप्ति[१] है लागू करना चाहिए। संवतम्=सम्प्राप्तम् (सायण, अथर्व० ६.२९.३)।

ऋषिः—**उन्मोचनः**॥ देवता—**कासा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम्॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (सूर्यस्य रश्मयः) सूर्य की रश्मियां (आशुमत्) शीघ्रता से (परापतन्ति) दूर के प्रदेशों तक गति करती हैं, (एवा=एवम्) इसी प्रकार (कासे) हे शासनव्यवस्था! (त्वम्) तू (समुद्रस्य) समुद्र [की लहरों] के (विक्षरम्) विविध संचलन स्थानों को (अनु) लक्ष्य करके (प्र पत) शीघ्रता से पहुँच, वहां तक गति कर।

[सूक्त में, पृथिवी की ऊर्ध्वदिशा में, समुद्रों से घिरी पृथिवी पर, तथा समुद्रों पर शासन व्यवस्था को व्याप्ति का वर्णन हुआ है; विक्षरम्=वि+**क्षर संचलने** (भ्वादिः)]।

सूक्त १०६

ऋषिः—**प्रमोचनः**॥ देवता—**दूर्वा, शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।

उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्॥ १॥

अर्थ—हे शाला! (ते) तेरे (आयने) आने के मार्ग में, (परायणे) और जाने के मार्ग में (पुष्पिणीः) फूलों से पुष्पित (दूर्वाः) घास (रोहन्तु) उगें, (तत्र) वहां अर्थात् शाला में (वा) या तो (उत्सः) फुआरा

१. पृथिवी सब ओर से समुद्रों से घिरी हुई है, इन समुद्रों के भीतर पृथिवी की सम्प्राप्ति होती है। वेदों में समग्र पृथिवी पर शासन व्यवस्था को लागू करने वाले को ''एकराट्'' तथा ''जनराट्'' कहते हैं।

(जायताम्) हो, (वा) या (पुण्डरीकवान्) कमलों से युक्त (ह्रदः) तालाब।

[शाला (मन्त्र ३) आने और जाने के मार्ग अलग-अलग होने चाहिये, ताकि एक मार्ग द्वारा शाला आ सकें, और दूसरे मार्ग द्वारा शाला से वापिस जा सकें]।

ऋषिः—**प्रमोचनः**॥ देवता—**दूर्वा, शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।

मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि॥ २॥

अर्थ—शाला के समीप (१) या तो (इदम्) यह (अपाम्) जल का (न्ययनम्) नीचे गिराना अर्थात् जलप्रपात हो; (२) या (समुद्रस्य) समुद्र की (निवेशनम्) स्थिति हो; (३) या (नः) हमारे (गृहाः) घर (ह्रदस्य) ताल के (मध्ये) मध्य में हों। (मुखा=मुखानि) घरों में मुख (पराचीना=पराङ्मुखानि) परस्पर पराङ्मुख (कृधि) हे गृहस्थी तू कर।

[गर्मी के निवारणार्थ घरों के निर्माण स्थलों का निर्देश, मन्त्र में किया है। मुखानि का अभिप्राय है खिड़कियां और दरवाजे। ये परस्पर पराङ्मुख होने चाहिएँ, विरोधी दिशाओं में अर्थात् आमने-सामने की दिशाओं में होने चाहिएँ। निवेशनम्=अथवा सामुद्रिक जल का पृथ्वी में प्रवेश, खाड़ी (Inlet, Bay Gulf)]।

ऋषिः—**प्रमोचनः**॥ देवता—**दूर्वा, शाला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।

शीतह्रदा हि नो भुवोग्निष्कृणोतु भेषजम्॥ ३॥

अर्थ—(शाले) हे शाला! (त्वा) तुझे (हिमस्य) बर्फ के (जरायुणा) गर्भवेष्टन के सदृश वेष्टन द्वारा (परिव्ययामसि) हम सब ओर वेष्टित करते हैं, (नः) हमारे लिए (हि) निश्चय से (शीतह्रदा) ठण्डे तालाब के सदृश (भुवः) तू हो जा। (अग्निः) यज्ञियाग्नि (भेषजम्) हमारी रोग चिकित्सा (कृणोतु) करे।

[ऐसे शीतगृहों की आवश्यकता अत्यन्त गर्म प्रदेशों में ही सम्भव है। तदर्थ बर्फ जमा सकना वैज्ञानिकता का सूचक है।]

सूक्त १०७

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**विश्वजित्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।

त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ १॥

अर्थ—(विश्वजित्) हे विश्वविजयी परमेश्वर! (त्रायमाणायै) निज पालक शक्ति के प्रति (मा) मुझे (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (त्रायमाणे) हे पालक शक्ति! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दो पायों (च) और (चतुष्पात्) चौपायों की, (च) और (यत् स्वम्) जो धनादि सम्पत्ति है उस की (रक्ष) रक्षा कर।

[परमेश्वर की नाना शक्तियाँ हैं, न्यायानुकूल कर्मफल देने की, तथा संहार की शक्ति आदि। परन्तु

उसकी पालक शक्ति भी है। वर्षा प्रदान, अन्न प्रदान, प्राण प्रदान आदि शक्तियाँ पालक शक्तियाँ हैं। प्रार्थी, परमेश्वर की पालक शक्तियों के प्रति, प्रार्थी को ले लेने की प्रार्थना करता है। पुत्र-पुत्रियां, दोहते-दुहितियाँ, पोते-पोतियाँ आदि द्विपात् हैं; गौएँ, अश्व, बैल आदि चतुष्पात् हैं।]

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**विश्वजित्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ २॥

अर्थ—(त्रायमाणे) हे पालक शक्ति! (मा) मुझे (विश्वजिते) विश्वविजयी परमेश्वर के प्रति (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (विश्वजित्) हे विश्वविजयी परमेश्वर! (शेष पूर्ववत्, मन्त्र १)।

[धन-अन्न आदि के हो जाने पर मनुष्य परिपालित हो कर प्रायः निज पालक परमेश्वर को भूल जाते हैं, उस से पराङ्मुख हो जाते हैं। अतः मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि परमेश्वरप्रद पालक शक्तियां हमें विश्वजित् के आधीन ही रखे, उस से विमुख न होने दे।]

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**विश्वजित्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वजित्कल्याण्यै मा परि देहि।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ ३॥

अर्थ—(विश्वजित्) हे विश्वविजयी परमेश्वर! (कल्याण्यै) निज कल्याणी शक्ति के प्रति (मा) मुझे (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (कल्याणि) हे परमेश्वरीय कल्याणी शक्ति (शेष पूर्ववत्, मन्त्र १)।

[त्रायमाणा-शक्ति द्वारा पालित हो कर प्रार्थी, परमेश्वर की कल्याणकारिणी शक्ति का प्रार्थी है। पालित होकर प्रार्थी, कल्याण मार्ग पर ही चलने का अभिलाषी है। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि कल्याण मार्ग और गृहस्थ-जीवन में विरोध नहीं। सन्तानों, पशुओं, तथा धन-सम्पत् की प्राप्ति में भी व्यक्ति कल्याण-मार्गी हो सकता है। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।]

ऋषिः—**शन्तातिः**॥ देवता—**विश्वजित्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि।
सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ ४॥

अर्थ—(कल्याणि) हे परमेश्वरीय कल्याणकारिणी शक्ति! (सर्वविदे) सर्ववेत्ता परमेश्वर के प्रति (मा) मुझे (परिदेहि) प्रदान कर, सुपुर्द कर, समर्पित कर। (सर्वविद्) हे सर्ववेत्ता परमेश्वर! (यत्) जो (नः) हमारे (द्विपात्) दोपाये (च) और (चतुष्पात्) चौपाए हैं उन (सर्वम्) सब की (रक्ष) रक्षा कर (च) और (नः) हमारी (स्वम्) धन-सम्पत् की रक्षा कर।

[चार मन्त्रों में परमेश्वर को विश्वजित् तथा सर्वविद् द्वारा निर्दिष्ट किया है, और उसकी शक्तियों को त्रायमाण तथा कल्याणी पदों द्वारा निर्दिष्ट किया है। परमेश्वर की त्रायमाणा शक्ति द्वारा परिपालित हो कर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को परमेश्वर की कल्याणी शक्ति के प्रति समर्पित कर दे, और कल्याण मार्ग पर चलता हुआ सर्वविद् परमेश्वर के प्रति अपने-आप को समर्पित कर दे।

इन मन्त्रों में आध्यात्मिक-और-गृहस्थ जीवनों में समन्वय दर्शाया है, अत: वेदानुसार परमेश्वर की प्राप्ति के लिए गृहस्थत्याग आवश्यक नहीं। गृहस्थ में रहता हुआ मनुष्य यदि गृहस्थ के नियमों के अनुसार गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है, तो वह गृहस्थ में ही परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।]

सूक्त १०८

ऋषि:—**शौनक:** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

त्वं नो॑ मेधे प्रथ॒मा गोभि॒रश्वे॑भि॒रा ग॑हि।

त्वं सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒स्त्वं नो॑ असि य॒ज्ञिया॑॥ १ ॥

अर्थ—(मेधे) हे मेधा शक्ति! (त्वम्) तू (न:) हमारे लिए (प्रथमा) प्रथम उपादेया है, तू (गोभि: अश्वेभि:=अश्वै:) गौओं और अश्वों के साथ (आ गहि) आ। (त्वम्) तू (सूर्यस्य रश्मिभि:) सूर्य की रश्मियों के साथ आ, अर्थात् प्रात:काल में आ, (त्वम्) तू (न:) हमारे लिए (यज्ञिया) सत्कार योग्य और संगतियोग्य (असि) है।

[मेधा है धारणाशक्ति। जो गुरुमुख से सुना और स्वयं पढ़ा उसे चित्त में स्थिर रखना। प्रात:काल स्वाध्याय का श्रेष्ठ समय है, क्योंकि यह सात्त्विक काल है। गृहस्थ जीवन के लिए गौओं और अश्वों का भी उपार्जन करना आवश्यक है।]

ऋषि:—**शौनक:** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्द:-**उरोबृहती** ॥

मे॒धाम॒हं प्र॑थ॒मां ब्रह्म॑ण्वतीं॒ ब्रह्म॑जूता॒मृषि॑ष्टुताम्।

प्रपी॑तां ब्रह्मचा॒रिभि॑र्दे॒वाना॒मव॑से हुवे॥ २ ॥

अर्थ—(ब्रह्मण्वतीम्) ब्रह्मसम्बन्ध, अर्थात् आस्तिक, (ब्रह्मजूताम्) वेद द्वारा प्रेरित, (ऋषिष्टुताम्) ऋषियों द्वारा स्तुत, (ब्रह्मचारिभि:) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्रपीताम्) प्रकर्षरूप में पी गई या प्रवर्धित हुई (प्रथमाम्) श्रेष्ठ (मेधाम्) वेद विद्या सम्बन्धी धारणावती बुद्धि को (हुवे) मैं आह्वान करता हूँ, प्राप्त करता हूँ, (देवानाम्) दिव्यगुणों की (अवसे) रक्षा के लिए।

[जूताम्=**जवति गतिकर्मा** (निघं० २.१४), तथा जूति: गति: प्रीति: वा (निरुक्त १०.३.२८)। प्रपीताम्=प्र+**पा पाने** (भ्वादि:), अथवा प्र+ओप्यायी वृद्धौ (भ्वादि:),+**प्याय: पी** (अष्टा० ६.१.२८)।]

ऋषि:—**शौनक:** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्द:—**पथ्या बृहती** ॥

यां मे॒धामृ॒भवो॑ वि॒दुर्यां मे॒धामसु॑रा वि॒दु:।

ऋष॑यो भ॒द्रां मे॒धां यां वि॒दुस्तां मय्या वे॑शयामसि॥ ३ ॥

अर्थ—(याम् मेधाम्) जिस मेधा को (ऋभव:) ऋभु लोग (विदु:) जानते हैं, (याम् मेधाम्) जिस मेधा को (असुरा:) असुर (विदु:) जानते हैं, (याम्) जिस (भद्राम्) सुखकारिणी और कल्याणी (मेधाम्) मेधा को (ऋषय:) मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रार्थद्रष्टा (विदु:) जानते हैं, (ताम्) उस वेदानुमोदित मेधा को (मयि) मुझ में (आवेशयामसि) हम प्रविष्ट करते हैं।

[समूह में बैठे मेधार्थी हैं (आवेशयामसि); उन में से प्रत्येक (मयि) मेधावेशन का इच्छुक है। ऋभव=शिल्पी लोग, तथा सत्यानुष्ठान को ज्योति द्वारा प्रकाशमान् महात्मा। यथा "**ऋभव उरु भान्तीति वा। ऋतेन भान्तीति वा। ऋतेन भवन्तीति वा**" (निरुक्त ११.२.१५)।

असुराः="**असुः प्राणनाम, तेन तद्वन्तः**"। प्राणवाले अर्थात् बलिष्ठ (निरुक्त ३.२.८), पञ्चजनाः की व्याख्या में। तथा "**असुः प्रज्ञानाम**" (निघं० ३.९); असुराः प्रज्ञावन्तः।]

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु॥ ४॥

अर्थ—(भूतकृतः) सत्यकर्मों के करने वाले (ऋषयः) ऋषि, तथा (मेधाविनः) मेधावाले प्रज्ञानी; (याम् मेधाम्) जिस मेधा को (विदुः) जानते हैं, (तया मेधया) उस मेधा द्वारा (अग्ने) हे ज्ञानमय परमेश्वर! (माम्) मुझे (अद्य) आज (मेधाविनम्) मेधासम्पन्न प्रज्ञानी (कृणु) कर।

[भूत=भू सत्तायाम् (भ्वादिः)+क्तः। अग्निः=परमेश्वर, यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यः**" (यजुः० ३२.१)।]

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**मेधा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि। मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे॥ ५॥

अर्थ—(मेधाम्) मेधा को (सायम्) सायंकाल में, (मेधाम्) मेधा को (प्रातः) प्रातःकाल में, (मेधाम्) मेधा को (मध्यन्दिनं परि) मध्याह्न काल के आस-पास, (मेधाम्) मेधा को (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) रश्मियों के साथ अर्थात् सूर्योदय काल में, (वचसा) वेदवाणी के [स्वाध्याय] द्वारा (आवेशयामहे) हम चित्त में आविष्ट करते हैं, स्थापित करते हैं।

[स्वाध्याय काल का क्रम है, सूर्योदय, प्रातः, मध्यन्दिन, सायम्।]

सूक्त १०९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पिप्पली**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥ १॥

अर्थ—(पिप्पली) पिपली (क्षिप्तभेषजी) विक्षिप्त चित्त की, या शरीराङ्गों के विक्षेप अर्थात् हिलते-जुलते रहने की, (उत) तथा (अतिविद्धभेषजी) बाण आदि द्वारा गहरा वेध हो जाने की औषध है। (देवाः) दिव्यगुणी वैद्यों ने (ताम्) उस पिप्पली को (समकल्पयन्) सामर्थ्ययुक्त माना कि (इयम्) यह (जीवितवै) जीने के लिए (अलम्) पर्याप्त है।

[जीवितवै=तुमर्थे "तवै" प्रत्ययः। जीवित रखने के लिए। सम् अकल्पयन्=**कृपू सामर्थ्ये** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पिप्पली**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥

पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥ २॥

अर्थ—(जननात् अधि) उत्पत्तिस्थान से (आयतीः) आती हुई (पिप्पल्यः) पिप्पलियों ने (सम्) परस्पर मिल कर (अवदन्त) कहा कि (यम्) जिस (जीवम्) जीवित को (अश्नवामहै) विशेषतया हम प्राप्त हो जाएँ, (सः) वह (पूरुषः) पुरुष (न रिष्याति) न हिंसित हो।

[पिप्पल्यः=बहुवचन द्वारा पिप्पली के नाना भेद सूचित किये हैं। आयतीः="जनन स्थान से आती हुई" द्वारा पिप्पलियों के ताजापन को सूचित किया है। पुरानी पिप्पली की अपेक्षया ताजी पिप्पली गुणाधिक है। हिंसित होना=विनष्ट होना, मरना।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः-**अनुष्टुप्** ॥

असुरास्त्वा न्यखिनन्देवास्त्वोदवपन्पुनः।

वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्॥ ३॥

अर्थ—(वातीकृतस्य) वातविकार द्वारा उत्पन्न रोग की (भेषजीम्) औषध रूप, और (क्षिप्तस्य) चैत्त—विक्षेप अर्थात् उन्माद या अङ्गविक्षेप रोग की (भेषजीम्) औषध रूप (त्वा) हे पिप्पली तुझे उद्देश्य कर के, (असुराः) प्राणवान् अर्थात् शरीरबल वालों ने (न्यखनन्) भूमि को खोदा, और (देवाः) व्यवहारी भूमिस्वामियों ने (त्वा) तुझे (पुनः) तदनन्तर (उद् अवपन्) उत्तम बीज को उत्तम विधि से बोया।

[मन्त्र में पिप्पली के कृषिकर्म का वर्णन है। बलवान् मजदूर तो भूमि को खोदते हैं, और भूमिस्वामी बीज बोते हैं। उदवपन्=उद्+**डुवप् बीजसन्ताने छेदने च** (भ्वादिः)।]

सूक्त ११०

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।

स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व॥ १॥

अर्थ—(हि) निश्चय से [अग्निः, परमेश्वर] (अध्वरेषु) हिंसारहित [आध्यात्मिक] यज्ञों में (ईड्यः) स्तुत्य है, (प्रत्नः) वह पुराना है, [पुरातनकाल से विद्यमान है] (सनात् च) और सनातन काल का (नव्यः च) तथा अभिनवकाल का (होता) दाता है। (सत्सि) तू हमारे हृदयों में स्थित है। (अग्ने) अग्निनामक परमेश्वर! (स्वाम्, तन्वम्) निज विस्तृत स्वरूप को (पिप्रायस्व) हमारे हृदयों में पूर्णरूप में प्रकट कर, (च) और (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (सौभगम्) सौभाग्य (आ यजस्व) आध्यात्मिक यज्ञ में प्रदान कर।

[कम्=पदपूरणः, "**पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु अनर्थकाः कम्, ईम्, इत्, उ इति**" (निरुक्त १.३.९)। अथवा "कम्" सुखस्वरूप परमेश्वर "ईड्यः" स्तुत्य है। अध्वरेषु="**ध्वरतिर्हिंसाकर्मा** [अकारः] **तस्यः प्रतिषेधः**" (निरुक्त १.३.८)। होता=दाता, **हु दानादनयोः** (जुहोत्यादिः)। अग्ने=परमेश्वर (यजुः० ३२.१)। पिप्रायस्व=**प्रा पूरण** (अदादिः)। आ यजस्व=**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।

अत्येनं नेषद्दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ २॥

अर्थ—(ज्येष्ठघ्न्याम्) जेठ का हनन करने वाली पत्नी में (जातः) पैदा हुआ है, (एनम्) इसे (यमस्य) मृत्यु के (विचृतोः) विशिष्ट दो हिंसकों सम्बन्धी (मूलबर्हणात्) मूल पुरुष की हिंसा से (परि पाहि) हे परमेश्वर! [मन्त्र १] तू सर्वतः सुरक्षित कर। (एनम्) इसे (विश्वा=विश्वानि दुरितानि) सब दुष्फलों से (अतिनेषत्) वह परमेश्वर अतिक्रान्त करे, छुड़ा दे, (दीर्घायुत्वाय) दीर्घायु के लिए, (शतशारदाय) सौ शरद्-ऋतुओं की प्राप्ति के लिए।

[मन्त्रोक्ति देवर की पत्नी की है। पत्नी है जेठ की पत्नी जिस ने कि जेठ का हनन किया है। उससे

पुत्र पैदा हुआ है। उसकी सुरक्षा अभीष्ट है, क्योंकि वह मूलपुरुष है भावी वंश परम्परा का। विचृतौ हैं दो तत्त्व, जो कि उत्पन्न पुत्र के हिंसक हैं। वे हैं रजोगुण और तमोगुण। यथा "**रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः**" (अथर्व० ८.२.१)। मन्त्र में ज्येष्ठ शब्द है, जिसे कि "जेठ" कहते हैं, "ज्येष्ठा" शब्द नहीं, जिस का अर्थ "ज्येष्ठा-नक्षत्र" किया जा सके।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्याघ्रेह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।

स मा वधीत्पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्॥ ३॥

अर्थ—(वीरः) वीर-पुत्र (व्याघ्रे) व्याघ्र सदृश गर्म स्वभाव वाले (अहनि) दिन में (अजनिष्ट) पैदा हुआ है। (नक्षत्रजाः) अक्षतवीर्य-पिता से उत्पन्न हुआ वह (जायमानः) पैदा होता हुआ (सुवीरः) उत्तम-वीर होता है। (सः) वह (मा वधीत्) न वध करे (पितरम्) पिता का (वर्धमानः) आयु में बढ़ता हुआ, (मा) न (जनित्रीम्) जन्मदात्री (मातरम्) माता की (प्रमिनीत्) हिंसा करे। मिनीत्=**मीञ् हिंसायाम्** (क्र्यादिः)।

[माता ने ज्येष्ठ अर्थात् देवर की पत्नी के जेठ का हनन किया है (मन्त्र २), जिस से कि वीर या सुवीर पैदा हुआ है। सम्भवतः निज जन्मदात्री माता का बदला लेने की दृष्टि से वीर-पुत्र उस के वध के लिए तय्यार हो जाए, अतः उसे कहा है कि जन्मदात्री माता की तू हिंसा न कर, और न पितृ समान सम्बन्धी किसी पिता का ही वध कर। नक्षत्रजाः=न+क्षत्-वीर्य+"र" वाले से+जाः (उत्पन्न); यथा "**अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः**" (अथर्व० १४.१.२), सोम=उत्पादक वीर्य; (semen) जायमानः सुवीरः=अक्षतवीर्य पिता से उत्पन्न होता हुआ ही वह सुवीर रूप में पैदा होता है, वर्धमान होता हुआ वह निज सुवीरता को प्रकट करता है।]

मन्त्र २, ३ के प्रसिद्धार्थों में—

(१) ज्येष्ठ=ज्येष्ठा नक्षत्र जो कि अथर्व० १९.७.३ के अनुसार १५ वां नक्षत्र है। अथर्ववेद की नक्षत्र गणना कृत्तिका-नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। वर्तमान, नक्षत्र गणनानुसार ज्येष्ठा १८वां नक्षत्र[1] है।

(२) विचृतौ=ये दो तारे हैं (काण्ड २.८.१; ३.७.४; ६.१२१.३)। इन की व्याख्याएँ भी यथास्थान कर दी जाएँगी। ये दो तारे वृश्चिक राशि में हैं, मूलबर्हणात् (मन्त्र २) में मूलनक्षत्र भी वृश्चिक राशि की पूंछ में स्थित है। काण्ड ६.२ में "विचृतोः" का, और "विचृतौ" दो ताराओं का परस्पर अर्थ में भेद है।

सूक्त १११

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**परानुष्टुप् त्रिष्टुप्**॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।

अतोधि ते कृणवद्भागधेयं यदानुन्मदितोसति॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (मे) मेरे (इमम्, पुरुषम्) इस पुरुष को (मुमुग्धि) मुक्त कर दे, (यः)

---

१. अथर्ववेद में २८ नक्षत्र माने हैं। यथा "**अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे**" (१९.८.२)। यतः अथर्ववेद में "अभिजित्" नक्षत्र अधिक माना है (१९.७.४)। नक्षत्र २७ माने जाते हैं।

जो (अयम्) यह (बद्धः) बंधा हुआ, (सुयतः) ठीक जकड़ा हुआ (लालपीति) प्रलाप करता रहता है। (अतः अधि) अब से (ते) तेरे लिए हे अग्नि! (भागधेयम्) भाग (कृणवत्) दिया करेगा, (यदा) जबकि (अनुन्मदितः) यह उन्माद से रहित (असति) हो जायगा।

[उन्माद=काम, क्रोध, भय आदि द्वारा चित्तसम्मोह, पागलपन, चित्तविभ्रम, बुद्धिस्खलन हो जाता है। मन्त्र में यज्ञिय अग्नि को कविता शैली में सम्बोधित किया है। यदानुन्मदितः=उन्मादावस्था में तो हे यज्ञियाग्नि! यह तेरे लिए हविर्भाग देने में असमर्थ है। उन्माद से रहित हो कर यह उन औषधों से आहुतियां तेरे प्रति नियमतः दिया करेगा जिससे उन्माद का पुनः आक्रमण न हो सके। औषधों की आहुतियों से उत्थित धूम फेफड़ों में जाकर रक्त में मिल जाता है, जिससे उन्माद आदि रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान्भेषजं यथानुन्मदितोऽससि॥ २॥

अर्थ—(अग्निः) यज्ञियाग्नि (ते) हे उन्मादरोगी, तेरे उन्माद को (निशमयतु) नितरां शान्त करे, (यदि ते मनः) यदि तेरा मन (उद्युतम्) उत्तेजित है। (विद्वान्) उन्माद चिकित्सा का जानने वाला मैं तेरे लिए (भेषजम्) औषध (कृणोमि) तय्यार करता हूँ, (यथा) जिस प्रकार कि (अनुन्मदितः) उन्माद से रहित (अससि) तू हो जाए।

[अग्नि और भेषज शब्दों द्वारा यह प्रतीत होता है कि अग्नि की सहायता द्वारा औषध तय्यार करनी है। वह है अग्नि में औषध की आहुतियों से उत्थित धूम रूप औषध। इस धूम को नासिका के श्वासों द्वारा गृहीत करना है। इस से धूम विशुद्धरूप में और शीघ्र रक्त में मिल कर उन्माद को शीघ्र निवृत्त कर देता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि। कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति॥ ३॥

अर्थ—(देवैनसात्) देवों अर्थात् इन्द्रियों द्वारा किये पाप से (उन्मदितम्) उन्माद प्राप्त को, तथा (रक्षसस्परि) राक्षसी स्वभाव और कर्मों से [अथवा परमेश्वर द्वारा प्रदत्त पापफल से] (उन्मत्तम्) उन्मादों को लक्ष्य करके (विद्वान्) ज्ञानी चिकित्सक मैं (भेषजम्, कृणोमि) भेषज करता हूँ (यदा=यथा) जिस प्रकार (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) वह हो जाए।

[देव=इन्द्रियाँ "**देवा द्योतनात्मकाश्वसुरारीन्द्रियाणि**" महीधर (यजुः० ४०.४)। राक्षसः="**स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः**" (अथर्व० १३.४(३).२५)। इस उद्धरण में परमेश्वर को "रक्षस्" कहा है। परमेश्वर रक्षक है। वह दुष्कर्मों का दुष्फल देकर मनुष्य को सुपथ पर चलाता है, इस प्रकार वह रक्षा करता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः। पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोऽससि॥ ४॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (अप्सरसः) अप्सराओं ने (पुनः) फिर (दुः) दिया है, (इन्द्रः) इन्द्र ने (पुनः)

फिर, (भगः) भग ने (पुनः) फिर, (विश्वे देवाः) सब देवों ने (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (दुः) मेरे प्रति दिया है, (यथा=यदा) जब कि (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (अससि) तू हो गया है।

[मन्त्र में प्राकृतिक और अध्यात्म शक्तियों की सहायता द्वारा उन्माद से रहित होने का कथन हुआ है। अप्सरसः="**अग्निः गन्धर्वः, ओषधयः अप्सरसः। सूर्यः गन्धर्वः, मरीचय अप्सरसः। चन्द्रमा गन्धर्वः, नक्षत्राणि अप्सरसः। वातः गन्धर्वः, आपः अप्सरसः। यज्ञः गन्धर्वः, दक्षिणा अप्सरसः। मनः गन्धर्वः, ऋक्सामानि अप्सरसः**" (यजुः० १८.३८-४३)। इन्द्रः=विद्युत्। विद्युत् के प्रयोग द्वारा या तत्कृत वर्षा जल द्वारा चिकित्सा। इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानी देवता है (निरुक्त १०.१.८)। भगः="**तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्**" (निरुक्त १२.२.१३)। अर्थात् सूर्योदय से पूर्व का सूर्य का काल, यह प्रभात काल है। इस काल में भ्रमण करने से भी उन्माद से राहित्य हो जाता है। प्रभात काल में भ्रमण से "सप्त आपः" दिव्यगुणी हो कर पाप प्रवृत्ति से प्रमुक्त कर देते हैं (अथर्व० १४.२.४३-४८)। उन्माद पाप का ही तो परिणाम है (मन्त्र ३) ["सप्त आपः" के लिए देखो अथर्व भाष्य (१४.२.४५)। अप्सरसः=ओषधयः, मरीचयः, आपः, ऋक्सामानि।]

सूक्त ११२

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री! (अयम्) यह छोटा भाई (एषाम् ज्येष्ठम्) इन अन्य भाइयों में बड़े भाई का (मा वधीत्) वध न करे, अतः (मूलबर्हणात्) वंश परम्परा के मूलभूत भाई की हिंसा से (एनम्) इसे (परिपाहि) सर्वतः सुरक्षित कर। (प्रजानन्) इस घटना को जानता हुआ तू हे प्रधानमन्त्री! इस प्रकार कर कि (सः) वह तू (ग्राह्याः) जकड़ने वाली न्याय व्यवस्था के (पाशान्) फंदों को (विचृत) विशेषतया ग्रथित कर, संगठित कर, (तुभ्यम्) इस कार्य में तुझे (विश्वे देवाः) सब दिव्य अधिकारी (अनुजानन्तु) अनुज्ञा दें, स्वीकृति दें।

[छोटे भाई द्वारा ज्येष्ठ भाई के वध की सम्भावना में, अग्रणी की आज्ञा द्वारा छोटे भाई को पाशों में बाँध दिया है। माता-पिता के स्वर्गवास हो जाने पर गृह प्रबन्ध ज्येष्ठ भाई के अधिकार में होता है, इसे सहन न कर छोटा भाई उस की हत्या करना चाहता है, इस लिए उसे पाशों में बांध दिया है। परिपाहि=सुरक्षित करने का अभिप्राय है कि इसे बन्दीगृह में सुरक्षित कर, ताकि छोटा भाई यह दुष्कर्म न कर सके। विचृत=वि+**चृती हिंसाग्रन्थनयोः** (तुदादिः)। मन्त्र में ग्रन्थन अर्थ अभिप्रेत है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान्॥ २॥

अर्थ—(अग्ने) हे सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्री! (त्वम्) तू (एषाम्) इन पिता-पुत्र और माता के (पाशान्) फंदों को (उन्मुञ्च) खोल दे, (येभिः त्रिभिः) जिन तीन पाशों द्वारा (त्रयः) तीन, पिता, पुत्र और माता (उत्सिताः) बन्धे हुए (आसन्) थे। (प्रजानन्) इन्हें निरपराधी जानता हुआ (सः) वह तू (ग्राह्याः

पाशान्) जकड़न के फंदों को (विचृत) काट दे, (पिता-पुत्रौ मातरम् सर्वान्) पिता, पुत्र, माता और शेष सबको (मुञ्च) फंदों से मुक्त कर दे।

[तीनों को तीन पाशों द्वारा बान्धा हुआ था, अर्थात् प्रत्येक को एक-एक पाश द्वारा। उत्सिताः=उत्+**षिञ् बन्धने**+क्तः। विचृत=वि+**चृती हिंसायाम्,** हिंसा है पाशों को काट देना।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च।

वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ ३॥

अर्थ—(परिवित्तः) परिवेदना वाला (येभिः पाशैः) जिन पाशों द्वारा (विबद्धः) विशेषतया बन्धा हुआ था, और (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्ग में (आर्पितः) आर्ति अर्थात् कष्ट को प्राप्त हुआ-हुआ था, (उत्सितश्च) तथा बन्धा हुआ था, (ते) हे बन्धे हुए! तेरे बन्धन (विमुच्यन्ताम्) विमुक्त हो जाएँ, (विमुचः हि सन्ति) क्योंकि तुझे विमुक्त करने वाले [राजनियम] हैं। (पूषन्) हे प्रजापोषक प्रधानमन्त्री। (भ्रूणघ्नि) भ्रूण की हत्या करने वाली स्त्री में (दुरितानि) दुष्फल रूपी दण्डों को (मृक्ष्व) धोकर तू डाल दे।

[परिवेदना=अतिवेदना, अतिकष्ट। भ्रूणघ्नि=भ्रूणहनि (सायण) सूक्त में ज्येष्ठ की हत्या के प्रकरण में भ्रूण हत्या करने वाली स्त्री का भी कथन किया है, यह दर्शाने के लिए कि राजनियमों द्वारा भ्रूणहत्यारी दण्डनीया है। भ्रूण=भ्रृ+ऊन=भरण-पोषण में जो अभी न्यून है ऐसा गर्भस्थ शिशु। छोटा भाई बन्धा हुआ था सम्भावनीय बधक के रूप में। उसे निरपराधी जान कर विमुक्त कर दिया है।]

सूक्त ११३

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।

ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ १॥

अर्थ—(देवाः) विद्वानों ने (त्रिते) तीन अवयवों वाले विस्तृत प्रकृतितत्त्व में (एतत् एनः) इस पाप को (अमृजत) झाड़ कर विशुद्ध कर लिया, (त्रितः)[1] त्रित नामक प्रकृतितत्त्व ने (एनत्) इस पाप को (मनुष्येषु) मनुष्यों में (ममृजे) झाड़ कर अपने को विशुद्ध कर लिया। (ततः) उन मनुष्यों में से (यदि) यदि (ग्राहिः) पाप की जकड़न ने (त्वा) तुझे (आ नशे) आ घेरा है, तो (ते ताम्) तेरी उस ग्राही को, जकड़न को, (देवाः) वैदिक विद्वान् (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (नाशयन्तु) नष्ट कर दें।

[**विद्वांसो वै देवाः** (शत० ३.७.३.१०), अर्थात् वैदिक विद्वान्। इन वैदिक विद्वानों ने स्वनिष्ठ पाप को वैदिकविधान द्वारा नष्ट कर दिया, और कहा कि पाप प्रकृति तत्त्व का परिणाम है। जीवात्मा तो विशुद्ध है, उस के साथ जब प्रकृति-तत्त्व का सम्बन्ध होता है तब जीवात्मा पाप में प्रवृत्त होता है। परन्तु प्रकृति-तत्त्व ने, पाप करने में अपराधी मनुष्यों को माना। प्रकृतितत्त्व तो जड़ है। जब चेतन का सम्पर्क जड़ प्रकृति-तत्त्व के साथ होता है तब ही पाप हो सकता है। इस प्रकार पाप करने वाले मनुष्यों के साथ जब

१. त्रितः=त्रि+तन् (विस्तारे)+डः (औणादिकः), डित्त्वात् टिलोपः। प्रकृतितत्त्व तीन अवयवों में विस्तृत है, सत्त्व, रजस् और तमस् अवयवों में।

संसार में नवागत मनुष्य का सम्पर्क होता है तब उसे भी पापग्राही आ घेरती है। वैदिक विद्वान् वैदिक शिक्षा द्वारा तब उस के पाप को विनष्ट कर देते हैं, यह भाव मन्त्र का है। आ नशे=**नशत् व्याप्तिकर्मा** (निघं० २.१८)। अमृजत, ममृजे=**मृजूष् शुद्धौ** (अदादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मरीचीर्धूमान्प्र विशानु पाप्मन्नुदारान्गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान्वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ २॥

अर्थ—(पाप्मन्) हे पाप! तू (मरीचीः, धूमान्) मरीचियों और धूमों में (प्रविश) प्रवेश कर, (अनु) तत्पश्चात् (उदारान् गच्छ) उदारों को जा (उत वा) अथवा (नीहारान्) नीहारों को जा। (नदीनाम्) नदियों के (तान् फेनान्) उन फेनों को (विनश्य) प्राप्त कर। (अनु) तत्पश्चात् (पूषन्) हे पुष्टिदायक परमेश्वर! (दुरितानि) [सब के] दुष्फल पापों को (भ्रूणघ्नि) भ्रूण अर्थात् भरण-पोषण किये जा रहे उदरस्थ बच्चे का हनन करने वाली स्त्री में (मृक्ष्व) धो डाल। इस द्वारा "भ्रूण हनन" को महापाप सूचित किया है।

[मन्त्रप्रतिपादित 'मरीचीः धूमान्, तथा नीहारान्' आध्यात्मिक घटनाएँ हैं। यथा "**नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे**" (श्वेताश्व-२.११)। मन्त्र और उपनिषद् में "मरीचीः, धूम, नीहार" घटनाएँ समान हैं। मन्त्रगत मरीची और उपनिषद् गत अर्क अर्थात् सूर्य, और शशी अर्थात् चान्द की रश्मियां, ये दोनों तत्त्व भी समान हैं। मन्त्र पठित नीहारान् और उपनिषद्-गत नीहार भी एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। ये उक्त तत्त्व योगाभ्यास में प्रकट होते हैं जोकि ब्रह्माभिव्यक्ति के पूर्वरूप हैं। उपनिषद् में अनल अर्थात् अग्नि और अनिल अर्थात् वायु, खद्योत अर्थात् ताराओं, विद्युत् तथा स्फटिक की अनुभूतियों का भी वर्णन हुआ है, जिन्हें कि मन्त्र में निर्दिष्ट नहीं किया। मन्त्रोक्त अध्यात्मतत्त्वों के प्रकट हो जाने पर, पाप विनष्ट हो जाते हैं—यह वस्तुतः सत्य है। परन्तु कामनावश गर्भपात करना ऐसा पाप है जो कि वैदिक दृष्टि में विनष्ट नहीं होता। इस दुरित को तो गर्भघातिनी को भुगतना ही पड़ता है। फेनान्=फेनवत् अल्पकालावस्थायी। उदारान्[1]=उदार महात्मा।

तथा

मन्त्र में पाप करने की मानसिक प्रवृत्ति, इन्द्रियों और शरीर द्वारा किये गये पापकर्म, और पापकर्मजन्य रोग—इन सब की निवृत्ति के प्राकृतिक उपायों का भी निर्देश किया है। "मरीचीः" द्वारा सूर्यरश्मि चिकित्सा का, "धूमान्" द्वारा यज्ञपूर्वक यज्ञोत्थ धूम का नासिका द्वारा सेवन का, और "नीहार" द्वारा जल को सूचित कर जलचिकित्सा का निर्देश हुआ है। तथा सूक्त के मन्त्र (१) में वर्णित "ग्राहि" पद द्वारा अङ्गों की जकड़न को सूचित कर "गठिया" रोग का निर्देश किया है। इस की निवृत्ति के उपाय भी मरीचीः आदि ही हैं। इन उपायों के साथ उदारचेतस् वैद्यों का परामर्श भी आवश्यक है।]

---

१. उदारान्=उदारचेतस् महात्माओं के पास तू जा, पाप विनाश के लिए। यथा "**आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम**" (अथर्व० २.११.१-५)। विनश्य=वि+**नशत् व्याप्तिकर्मा** (निघं० २.१८), व्याप्तिः=वि+आप्तिः, प्राप्तिः।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।

ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ ३॥

अर्थ—(त्रितस्य) तीन अवयवों वाले विस्तृत प्रकृतितत्त्व का (अपमृष्टम्) मार्जन द्वारा पृथक् हुआ पाप है (मनुष्यैनसानि) मनुष्यनिष्ठ नाना पाप और यह अपमृष्ट पाप (द्वादशधा) १२ प्रकार से (निहितम्) मनुष्यों में स्थापित हुआ है। (ततः) उन मनुष्यों के सम्पर्क से (त्वा) तुझे (यदि, ग्राहिः, आनशे) यदि पाप की जकड़न प्राप्त हुई है, तो (ते) तेरी (ताम्) उस ग्राहि को (देवाः) वैदिक विद्वान् (ब्रह्मणा) वेद विधि द्वारा अर्थात् वेदोपदेश द्वारा (नाशयन्तु) विनष्ट करें।

[त्रितः=तीन अवयवों वाला विस्तृत प्रकृति तत्त्व। तीन अवयव हैं सत्त्व, रजस् और तमस् और यह प्रकृति तत्त्व संसार में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं तथा आकाश गङ्गा आदि रूपों में फैला हुआ है। त्रितः=त्रि+तन् (विस्तारे)+डः (औणादिकः), डित् होने से टि का लोप। शेष व्याख्या सूक्त के मन्त्र (१) में कर दी है। द्वादशधा=५ पाप ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, ५ कर्मन्द्रियों द्वारा, १ मानसिक विचारों द्वारा, और १ माता पिता के रजस् और वीर्य द्वारा प्राप्त। यह "पित्र्य" एनस् है।]

ग्यारहवाँ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक १२

सूक्त ११४

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत॥ १॥

अर्थ—(देवाः) हे विद्वानो! (देवासः वयम्) हम विद्वानों ने (यत्) जो (देवहेडनम्) परस्पर देवों अर्थात् विद्वानों का अनादर (चकृम) किया है, या हम करते हैं, (आदित्याः) हे आदित्य कोटि के विद्वानो! (यूयम्) तुम (नः) हमें (तस्मात्) उस अनादर कर्म से (ऋतस्य ऋतेन) सत्य अर्थात् सदा सत्ता वाले वेद के सत्य ज्ञान द्वारा (मुञ्चत) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[देवाः=विद्वांसः। हेडनम्=अनादर; **हेडृ अनादरे** (भ्वादिः)। ऋतस्य=**ऋतम् सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। मन्त्ररूप वेद सत्य है, सदा सत्तावान् है, नित्य है। उस द्वारा प्रतिपादित ज्ञान भी सत्य है, यथार्थ है, असत्य नहीं। "**ऋतम् सत्यं परं ब्रह्म, तत्सम्बन्धिना प्रणवादिरूपेण मन्त्रेण साधनेन नः अस्मान् मुञ्चत वियौजयत**" (सायण)। आदित्याः=आदित्य कोटि के ब्रह्मचारी चारों वेदों के विद्वान् होते, तथा सदाचार के विज्ञ और स्वयम् सदाचारी होते हैं, अतः विद्वानों ने उन से प्रार्थना की है।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः। यज्ञं यद्यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम॥ २॥

अर्थ—(यजत्राः) पूजनीय (आदित्याः) आदित्य कोटि के हे विद्वानो! (इह) इस जीवन में (ऋतस्य ऋतेन) सत्य अर्थात् सदा सत्ता वाले वेद के, सत्यः ज्ञान द्वारा [यज्ञ न करने के पाप से] (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त कर दो (यद्) जोकि (यज्ञवाहसः) यजनीय कर्मों का वहन अर्थात् सम्पादन करने वाले हे आदित्यो! (यज्ञम् शिक्षन्तः) शक्य यज्ञ को करना चाहते हुए भी हम (न उपशेकिम) उसे कर

सकने में समर्थ नहीं हो सके।

[शिक्षन्तः=**शक्लृ शक्तौ** अस्मात् सनि, अचः स्थाने इस् आदेशः, अभ्यासलोपः (अष्टा० ७.४.५६), (सायण)।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः।

अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम॥ ३॥

अर्थ—(यजमानाः) हम यज्ञ करने वाले, (मेदस्वता) आज्य द्वारा स्निग्ध (स्रुचा) जुहू द्वारा (आज्यानि) आज्यों अर्थात् घृतों की (जुह्वतः) आहुतियां देते हुए, जो (अकामाः) निष्काम हो कर, (विश्वे देवाः[1]) हे सब देवो! (वः) तुम्हारे उपदेशानुसार (शिक्षन्तः) यज्ञानुष्ठान करना चाहते हुए भी (न उपशेकिम) हम निष्काम यज्ञानुष्ठान करने में शक्त नहीं हुए [उस पाप से हमें छुड़ाओ]।

[मेदस्वता[2] स्रुचा=**मिदि स्नेहने** (चुरादिः)। आज्य द्वारा वार-वार यज्ञों के करने से जुहुएँ स्निग्ध हो गई हैं। माता, पिता, आचार्य तथा महात्मा उपदेश देते हैं कि यज्ञानुष्ठान निष्काम भावना से किया करो, परन्तु फिर भी यज्ञानुष्ठान हम सकाम हो कर ही करते हैं। इन माता आदि के सदुपदेशों का भंग करना पाप है। इस पाप से हम छुटकारा चाहते हैं।]

सूक्त ११५

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।

यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः॥ १॥

अर्थ—(यद्) जिस पाप को (विद्वांसः) जानते हुए, (यद्) जिस पाप को (अविद्वांसः) न जानते हुए, (वयम्) हम ने (चकृम) किया है, (एनांसि) उन सब पापों को (विश्वे देवाः) हे सब देवो! (सजोषसः) हमारे साथ प्रीति करने वाले (यूयम्) तुम, (नः) हमें (तस्मात्) उस पाप से (मुञ्चत) छुड़ा दो।

[विश्वे देवाः=देखो सूक्त ११४, मन्त्र ३ की टिप्पणी। मुञ्चत=हमें सदुपदेशों द्वारा भविष्य में ऐसे पापों के करने से बचाओ।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदि जाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।

भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥ २॥

अर्थ—(यदि जाग्रत्) यदि जागते हुए, (यदि स्वपन्) यदि सोते हुए [स्वप्नावस्था में] (एनस्यः) पापी मैंने (एनः) पाप (अकरम्) किया है, तो [यूयम्] तुम हे विश्वे देवो! (मा) मुझे (तस्मात्) उस (भूतम्) भूत में हो चुके पाप से (च) और (भव्यम्) भविष्य में हो सकने वाले पाप से (मुञ्चताम्)

१. विश्वेदेवाः=मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव, अतिथिदेव, आदित्यदेव आदि।

२. मेदस्वता स्रुचा=मेदस्वत्या स्रुचा। अथवा "मेदस्वता स्निग्धेन तिलादिवस्तुना यागं निष्पादयन्तः, स्रुचा च आज्यानि च जुह्वतः"।

छुड़ाओ (द्रुपदात् इव) जैसे कि काष्ठनिर्मित पादबन्धन से पाद मुक्त हो जाता है।

[यदि="एनस्य" को स्मरण नहीं कि उस ने जागते या सोते कोई पाप किया है, परन्तु फिर भी कोई पाप अनजाने हो गया हो, या भविष्य में हो जाए, तो ऐसे पाप से भी मुझे बचाओ। द्रुपदात्=पाप के कारण शासक वर्ग से यदि मेरे पाद में पादबन्धन लग गया हो तो दण्डावधि समाप्त हो जाने पर जैसे पाद-बन्धन से पाद छूट जाता है, वैसे मुझे पाप से छुड़ाओ।]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥ ३॥

अर्थ—(द्रुपदात् इव) पादबन्धन से जैसे (मुमुचानः) मुक्त हुआ, (स्नात्वा) स्नान करके (इव) जैसे (स्विन्नः) पसीने से पसीजा हुआ, (मलात्) मल से तथा (पवित्रेण) छाननी द्वारा (इव) जैसे (आज्यम्) घृत शुद्ध हो जाता है वैसे (विश्वे) हे सब देवो! [यूयम्] तुम (मा) मुझे (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) छुड़ा कर शोभायमान कर दो, या शुद्ध कर दो।

[पवित्रेण=यज्ञ में कुशाघास द्वारा आज्यशोधक पवित्र बनाया जाता है।]

सूक्त ११६

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**विवस्वान्**॥ छन्दः—**जगती**॥

यद्यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥ १॥

अर्थ—(अन्नविदः) अन्न का लाभ करने वाले (कार्षीवणाः) कृषकों अर्थात् किसानों ने (न विद्यया) न जाने अर्थात् अज्ञानवश, (अग्रे) प्रारम्भ में (निखनन्तः) भूमि का विदारण करते हुए (यद्) जो (यामम्) यमसम्बन्धी दण्डनीय कर्म (चक्रुः) किया है तदर्थ (वैवस्वते) विवस्वान् अर्थात् सूर्य के (राजनि) राजा परमेश्वर के निमित्त, (तत्) उस अन्न को (जुहोमि) मैं आहुति पूर्वक समर्पित करता हूँ, (अथ) तदनन्तर (यज्ञियम्) यज्ञपूर्वक प्राप्त (नः) हमें (अन्नम्) अन्न (मधुमत्) मधुर (अस्तु) हो जाए।

[निखनन्तः=**खनु अवदारणे** (भ्वादिः) अवदारण=विदारण, हल द्वारा भूमि का विदारण। कार्षीवणाः="कृषिं वनन्ति सम्भजन्ते" इति कृषिवणाः, ते एव कार्षीवणाः, स्वार्थे अण्। विवस्वान्=सूर्य, विवासयति रात्र्याः अन्धकारम्। विवासन अर्थात् स्थान से च्युत करना। अन्न पकने पर प्रथम, यज्ञ द्वारा अन्नाहुतियां परमेश्वर को समर्पित करनी चाहिएँ, तब कृषक यम सम्बन्धी दण्ड से मुक्त हो जाते हैं। भूमि का विदारण करते समय भूमिष्ठ कीटों का हनन होता है, हनन पाप कर्म है, अतः दण्डनीय है। परमेश्वर "महायम" है (अथर्व० १३.४.५)।]

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**विवस्वान्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैवस्वतः कृणवद्भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति।
मातुर्यदेन इषितं न आगन्यद्वा पितापराद्धो जिहीडे॥ २॥

अर्थ—(वैवस्वतः) विवस्वान् के राजा ने (भागधेयम्) अन्न का भाग (कृणवत्) हमें प्रदान किया है, यह भाग (मधुभागः) मधुर भाग हो गया है; परमेश्वर (मधुना) इस मधुर अन्न भाग के साथ (सं सृजाति) हमारा संसर्ग करता रहे। (मातुः) माता से (इषितम्) प्रेषित हुआ (यत्) जो (एनः) पाप (नः) हमें (आगन्) प्राप्त हुआ है (वा) या (यत्) जो पाप (अपराद्धः) अपराधी (पिता) पिता ने (जिहीडे) क्रोधपूर्वक प्रेषित किया है।

[मन्त्र के पूर्वार्ध का सम्बन्ध मन्त्र (१) के साथ है, और उत्तरार्ध का सम्बन्ध मन्त्र (३) के साथ है।

मन्त्र के उत्तर-अर्ध का अभिप्राय निम्नलिखित प्रतीत होता है। परिवार के वे व्यक्ति जोकि अन्न प्राप्ति के लिए परवश हैं, उन का कथन मन्त्र में है। मन्त्रगत "एनः" है पापयुक्त अन्न। अन्न जिसे कि यज्ञपूर्वक परमेश्वर के प्रति समर्पित न कर खाया जाता है वह पापयुक्त अन्न है। वह माता से प्राप्त हो या पिता से—है पापयुक्त। उस अन्न को, अन्न के लिए परवशियों ने ग्रहण करना स्वीकृत नहीं किया, तब पिता क्रुद्ध हो गया। पिता अपराधी है, क्योंकि पिता ने परमेश्वर के प्रति समर्पित किये बिना अन्न का भोग किया है। यही अभिप्राय मन्त्र (३) का भी है। जिहीडे=हेडः क्रोधनाम (निघं० २.१३)। एनः=पाप। एनः आगन्=पाप आया है। अभिप्राय है "पापयुक्त अन्न" आया है। पाप पद का प्रयोग पापी अर्थात् "पापयुक्त" के लिए होता है। यथा "**समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयाऽमुया**" (अथर्व० २०.७४.५) में "पापिन स्त्री" को "पापा" कहा है। तथा "**अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयाऽमुया**" (अथर्व० १४.१.२७) में "पापा" द्वारा "रजस्वला पत्नी" का कथन हुआ है। अर्थात् पाप है रजस्, तद्द्वारा पापा है रजस्वला पत्नी।]

ऋषिः—**जाटिकायनः**॥ देवता—**विवस्वान्**॥ छन्दः—**जगती**॥

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्।
यावन्तो अस्मान्पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥ ३॥

अर्थ—(यदि) यदि (इदम्) यह (एनः) पापयुक्त अन्न (चेतसः) ज्ञानवाली (मातुः) माता से, (यदि वा) अथवा (पितुः) पिता से, (परि भ्रातुः) भ्राता से, (पुत्रात् च) और पुत्र से (नः) हमें (आगन्) आया है, प्राप्त हुआ है, (यावन्तः) जितने भी (पितरः[१]) रक्षक अर्थात् हमारे पालक (अस्मान् सचन्ते) हमारे सम्बन्धी हैं (तेषाम् सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) हमारे प्रति किया क्रोध (शिवः[२]) कल्याणकारी अर्थात् सुखदायक (अस्तु) हो, अर्थात् हमारे लिए दुःखदायक न हो।

[चेतसः का सम्बन्ध माता, पिता, भाई, पुत्र, इन सब के साथ है, अर्थात् ये सब यह जानते हैं कि कृषि से प्राप्त अन्न की आहुतियां प्रथम परमेश्वर को समर्पित कर कृष्यन्न का भोग करना चाहिए। परन्तु इन सब ने जानते हुए भी समर्पण नहीं किया। अतः इन द्वारा प्राप्त अन्न एनः है, पापयुक्त है। ऐसा अन्न न ग्रहण करने पर, अन्न के लिए परवशी हम, इन सब के मन्यु के पात्र बने हैं। **शिवम् सुखनाम** (निघं० ३.६)।]

---

१. यह कथन स्वभावसिद्ध है। वे हमारे पितर हैं, रक्षक है, अतः उन का मन्यु ऐसा न होगा, जो कि दुःखदायक हो।
२. इदं तत् अनृणः=अयं सः अहम् अनृणः। "इदानीं तेन ऋणेन अनृणः" (सायणः)।

सूक्त ११७

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्विचृतं वेत्थ सर्वान्॥ १॥

अर्थ—(अपमित्यम्) वापिस कर देने योग्य, (अप्रतीत्तम्) परन्तु जिसे वापिस नहीं दिया [ऐसे ऋण वाला] (यदस्मि) जो मैं हूँ, (येन बलिना) और जिस बलवान् ऋण के कारण (यमस्य) यम के वश में हुआ (चरामि) मैं विचरता हूँ, (अग्ने) हे अग्नि नामक परमेश्वर! (इदम् तत्) यह वह (अनृणः भवामि) ऋण रहित मैं होता हूँ [ऋण प्रदान करता हूँ], हे अग्नि! (त्वम्) तू (सर्वान् पाशान्) सब पाशों को (विचृतम्) काट देना (वेत्थ) जानता है।

[ऋण है अन्नरूपी ऋण, धान्य का ऋण (मन्त्र २)। अपमित्यम्=अप+**मेङ् प्रणिदाने** (भ्वादिः) क्यप् छान्दसः। अप्रतीत्तम्=अ+प्रति+दा+क्तः। धातोः तकारादेशः (**अच उपसर्गात्तः**, अष्टा० ७.४.४७); उपसर्गस्य दीर्घः (''**दस्ति**'' अष्टा० ६.३.१२४)। ऋण बली है बलवान् है। इसे वापिस न करने पर मुकदमें हो जाते, और उत्तमर्ण द्वारा लड़ाई तथा मार-पीट हो जाती है।]

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं१ यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥ २॥

अर्थ—(इह एव) यहां ही (सन्तः) विद्यमान रहते (एनत्) इस ऋण को (प्रति दद्मः) वापिस हम दे देते हैं, (जीवाः) जीवित हम (जीवेभ्यः) जीवित ऋण दाताओं के लिए (एनत्) इस ऋण को (निहरामः) नियम से या सम्पूर्णतया चुका देते हैं। (धान्यम्) धान्य को (अपमित्य) मापपूर्वक आहृत करके (अहम्) मैंने (यत्) जो धान्य (जघस) खाया है (अग्ने) हे अग्निनामक परमेश्वर! (इदम् तत्) यह वह मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) होता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम॥ ३॥

अर्थ—(अनृणाः) ऋण रहित हों (अस्मिन् लोके) इस ब्रह्मचर्य लोक में, आश्रम में, (अनृणाः) ऋणरहित हों, (परस्मिन्) परले लोक में, गृहस्थाश्रम में। (तृतीये) तीसरे लोक में, वानप्रस्थाश्रम में (अनृणाः) ऋण रहित (स्याम) हम हों। (ये) जो (देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान और पितृयान लोक हैं (सर्वान् पथः) इन सब पथों में (अनृणाः) ऋण रहित हुए (आ क्षियेम) अगले-अगले आश्रम में आ कर हम वास करें।

[अभिप्राय यह है कि किसी भी आश्रम में हम किसी से ऋण ग्रहण न करें। पितृयाण-पथ है गृहस्थाश्रम, शेष आश्रम हैं देवयानपथ। अनृणाः=दो प्रकार के ऋण होते हैं लौकिक और वैदिक। लौकिक ऋण है धान्यादि का या नकद रुपयों का। वैदिक ऋण तीन हैं ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। मनुष्य के जन्म लेते ही वह इन तीन ऋणों का ऋणी हो जाता है। यथा ''**जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणवान्**

जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः" (तै० ६.३.१०.५)।]

सूक्त ११८

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः॥ १॥

अर्थ—(अक्षाणाम्) इन्द्रियों के (गत्नुम्) गन्तव्य, प्रापणीय विषयों की (उपलिप्समानाः) उपलब्धि चाहते हुए, (हस्ताभ्याम्) हाथों द्वारा (यत्[1]) जो (किल्बिषाणि) पाप (चकृम) हम ने किये हैं, (उग्रं-पश्ये) उग्र अर्थात् सच्चाई पूर्वक देखने वाली, तथा (उग्रजितौ) तथा सच्चाई पूर्वक विजय पाने वाली (अप्सरसौ) रूपवती दो महिलाएँ (अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन (नः) हमारे (ऋणम्) ऋण को (अनु) राजकीय नियमानुसार (दत्ताम्) उत्तमर्णों को दे दें।

[मन्त्र में दो अप्सराओं का वर्णन है। ये हैं दो रूपवती महिलाएँ। यथा "**अप्स इति रूपनाम, तद्रा भवति रूपवती**" (निरुक्त ५.३.१५; उर्वशी पद (४७)। ये दोनों राष्ट्र द्वारा नियुक्त न्यायाधीश हैं। ये दोनों राष्ट्र में हुए "ऋण के आदान और प्रतिदान या प्रत्यादान सम्बन्धी विवादों की निर्णायिकाएँ हैं। दोनों मिलकर फैसला करती हैं, दोनों न्यायसभा रूप (Court) हैं। उग्रंपश्ये=प्रथमा विभक्ति द्विवचन का रूप है जो कि "अप्सरसौ" का विशेषण है। इसी प्रकार उग्रजितौ भी "अप्सरसौ" का विशेषण है। ऋत अर्थात् सत्य है उग्र। यथा "**ऋतमुग्रम्**" (अथर्व० १२.१.१)। **ऋतम् सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। ये दो महिलाएँ ऋण के दाता और ग्रहीता में ऋण सम्बन्धी विवाद में सत्य को देख कर फैसला कर देती हैं, अतः सत्य के कारण इन की सदा विजय होती है, इनके दिए फैसले को अन्तिम फैसला माना जाता है, और कहीं अपील नहीं होती। "अनुदत्तामृणम्" का यह अभिप्राय है कि फैसले की ऋणराशि को अदालत में जमा कर दिया जाता है और न्यायाधीश स्वयं ऋणराशि उत्तमर्ण को दे देते हैं। उत्तमर्ण है ऋणदाता और अधमर्ण है ऋणग्रहीता। मन्त्र में विषयोपलब्धि, पाप कर्म, और धन का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। असंयमी व्यक्ति ऋण द्वारा प्राप्त धन का भी पापकर्म में प्रयोग कर देता है।]

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥ २॥

अर्थ—(उग्रंपश्ये) उग्र अर्थात् ऋतपूर्वक, सत्यपूर्वक देखने वाली, (राष्ट्रभृत्=राष्ट्रभृतौ) तथा राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाली [अप्सरसौ (मन्त्र १),] (किल्बिषाणि) ऋण सम्बन्धी पापों के (अनु) अनुसार जो पाप हमने किये हैं, और (अक्षवृत्तम्, अनु) न्यायालय सम्बन्धी वर्ताव के अनुसार (यत्) जो ऋण सम्बन्धी पाप हम ने किया है, (नः) हमारे (एतत्) इस पापसम्बन्धी ऋण को। (दत्तम्) तुम दोनों उत्तमर्ण को दे दो। (नः) हमारी (ऋणात् एर्त्समानः) ऋणराशि से आक्षिप्त हुई अर्थात् स्वतः प्राप्त तथा शोभा से युक्त (ऋणम्) सूद को चाहता हुआ उत्तमर्ण, (यमस्य) नियन्ता अर्थात् न्यायाधीश के (लोके) न्यायालय में (अधिरज्जुः) हाथ में रज्जु अर्थात् रस्सी ले कर (न आयत्) न आए।

१. यत्=यानि किल्विषाणि।

[अक्ष:=Legal, Procedure, a law suit (आप्टे) एर्त्समान:=एच्छमान: (सायण)। अथवा **ईर क्षेपे** (चुरादि:)+**तसि भूष अलङ्कारे** (चुरादि:)+शप्+मुक् [**आने मुक्** (अष्टा० ७.२.८२)+शानच्] क्षेपे=आक्षिस[१] हुई। उग्रंपश्ये=प्रथमाविभक्ति द्विवचनान्त। राष्ट्रभृत्=राष्ट्रभृतौ। दोनों अप्सराएँ फैसले सच्चाई पूर्वक करती हैं, अतः राष्ट्र का भरणपोषण करती है।]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्मा ऋणं यस्य जायामुपैमि यं याचमानो अभ्यैमि देवाः।

ते वाचं वादिषुर्मोत्तरां मद्देवपत्नी अप्सरसावधीतम्॥ ३ ॥

अर्थ—(यस्मै) जिस प्रयोजन के लिए (याचमानः) ऋण की याचना करता हुआ, (यस्य) जिस की (जायाम्) पत्नी के (उप) पास (एमि) मैं जाता हू, तथा (देवाः) हे व्यवहार[२] कुशल व्यापारियो! (यम्) जिस पुरुष के (अभि) संमुख (एमि) मैं जाता हूँ, (ते) वे [देव] (मा=माम्) मुझे लक्ष्य करके (उत्तराम्) उत्कृष्ट (वाचम्) वाणी (वादिषुः) बोलें, (मत्) मुझ ऋणयाचक से कथित इस कथन को (देवपत्नी) हे देवों की पत्नी (अप्सरसौ) दो रूपवती महिलाओ, न्यायाधीशो! (अधीतम्) स्मरण रखो।

[मैं जिस भी प्रयोजन के लिए, जिस किसी महिला से, या जिस किसी पुरुष से ऋणयाचना करुं, इस सम्बन्ध में मेरी कोई निन्दा न करे, अपितु प्रशंसा ही करे कि अपनी उन्नति के लिए ही यह ऋण याचना कर रहा है। यह मेरा निजकर्त्तव्य है कि मैं अपनी और अपने परिवार की उन्नति के लिए ऋण लेता हूँ। यदि कोई इस सम्बन्ध में मेरी निन्दा करता है तो वह दण्डनीय हो—यह सदा स्मरण रखो।]

सूक्त ११९

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि।

वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ १ ॥

अर्थ—(अदीव्यन्) व्यापार न करता हुआ (अहम्) मैं (यद् ऋणम्) जो ऋण (कृणोमि) करता हूँ, लेता हूँ (अग्ने) हे अग्नि! अग्रणी! (अदास्यन्) जानता हुआ कि इसे वापिस न कर सकूंगा, फिर भी (संगृणामि) प्रतिज्ञा कर देता हूं [कि वापिस कर दूंगा], (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हित करने वाला ज्ञानाग्नि सम्पन्न, (अधिपाः) सर्वाधिष्ठातृ रूप होकर पालक, (वसिष्ठः) सर्वत्रवासी परमेश्वर, (नः) हमें (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों के लोक को प्राप्त करने में (इत्) निश्चय से (उन्नयाति) समुन्नत करे।

[आर्थिक कष्टापन्न व्यक्ति, निज आवश्यकता से बाधित होकर, ऋण लेता है, और ऋण दाता के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि मैं ऋण राशि को वापिस कर दूंगा, यद्यपि वह जानता है कि शायद मैं वापिस न कर सकूं, ऐसी परिस्थिति में वह परमेश्वर से समुन्नति की आशा प्रकट करता है।]

---

१. उत्तमर्ण द्वारा दिये गये ऋण और उस पर के सूद को उत्तमर्ण को वापिस कर देना, यह राजकीय नियम तथा सामाजिक प्रथा द्वारा स्वतः सिद्ध है।

२. देवाः=**दिवु क्रीडाविजिगीषा "व्यवहार"** आदि (दिवादिः), व्यवहार=व्यापार।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु।
स एतान्पाशान्विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम॥ २॥

अर्थ—(यदि) यदि (देवतासु) देवताओं के नामों पर (ऋणम्) ऋण के उद्देश्य से (संगरः) प्रतिज्ञा मैंने की है तो उसे (वैश्वानराय) सब नर-नारियों का हित करने वाले परमेश्वर के लिए (प्रतिवेदयामि) मैं विज्ञापित कर देता हूँ, (सः) वह वैश्वानर (एतान् सर्वान् पाशान्) इन सब पाशों को (विचृतम्) काटना (वेद) जानता है, (अथ) विज्ञापना के पश्चात् (पक्वेन) निजकर्मों के परिपक्व फल के (सह) साथ (संभवेम) हम संगत हों।

[वैश्वानर सब पाशों को काटना तो जानता है, परन्तु है वह न्यायकारी। कर्मों का फल वह न्यायपूर्वक देता है। जो हम ने देवताओं के नामों पर प्रतिज्ञाएँ कीं, जिन्हें कि वैश्वानर को विज्ञापित कर दिया, वैश्वानर उन्हीं के आधार पर हमें कर्मफल देगा, अतः हमें निजार्जित कर्मफलों को पा कर संतुष्ट रहना चाहिए, यह अभिप्राय है।]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत्संगरमभिधावाम्याशाम्।
अनाजानन्मनसा याचमानो यत्तत्रैनो अप तत्सुवामि॥ ३॥

अर्थ—(पविता) पवित्र करने वाला (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हित करने वाला परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे, (यत्) जो कि (संगरम्) ऋण वापिस कर देने की प्रतिज्ञा को, तथा (आशाम्) ऋणप्राप्त करने की आशा को (अभि) लक्ष्य करके (धावामि) दौड़धूप मैं करता हूँ। (मनसा) मन से (अनाजानन्) पूर्णतया न जानता हुआ भी [कि मैं ऋण को वापिस करूँगा या नहीं] जो मैं (याचमानः) ऋण याचना करता हूँ (तत्र) उस सम्बन्ध में (यत्) जो (एनः) पाप है (तत्) उसे (अपसुवामि) मैं दूर प्रेरित करता हूँ, हटाता हूँ।

[अप सुवामि=अप+**षू प्रेरणे** (तुदादिः)। "अनाजानन्" होते हुए भी, "वापिस कर दूंगा" यह प्रतिज्ञा करके ऋणग्रहण करना, ऋणदाता को धोखा देना है, यह पाप है। इसे भविष्य में न करने का संकल्प ऋणग्रहीता करता है, और इस निमित्त वह "पुनातु मा" द्वारा "पविता" परमेश्वर से मानसिक पवित्रता की अभिलाषा करता है।]

सूक्त १२०

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम।
अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ १॥

अर्थ—(यत्) जो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष सदृश पालनकर्त्ता भाई को [मन्त्र २], (पृथिवीम्) पृथिवी सदृश (मातरम्) निर्माण करने वाली माता को, (उत) तथा (यद् वा) अथवा (द्याम्) द्युलोक सदृश बीज प्रदाता (पितरम्) पिता को (जिहिंसिम) हमने कष्ट दिया है, (तस्मात्) उस पाप से (अयम्) यह (गार्हपत्यः) ब्रह्माण्डगृह का पति (अग्निः) वैश्वानर अग्नि [सूक्त ११९ मन्त्र १-३] (नः) हमें

(सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मी वर्ग के लोक की ओर (उत् इत् नयाति) पाप कर्म से उठाकर अवश्य ले जाये, या ले जाता है, पहुँचा दे, या पहुँचा देता है।

[हमारे शरीर पार्थिव हैं, पृथिवी से निर्मित हुए हैं, हमारे शरीरों का निर्माण भी माताओं के शरीरों से हुआ है। इस निर्माण में बीज, पिताओं से मिलता है। अथर्ववेद (१४.२.७१) में **''द्यौरहं पृथिवी त्वम्''** द्वारा वर, वधू को कहता है कि मैं द्यौ हूँ और तू पृथिवी है। इसका भी अभिप्राय यह है कि मैं बीज प्रदाता हूँ, और तू बीज का ग्रहण करने वाली है।]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

भूमिर्माताऽदितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः।

द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात्॥ २॥

अर्थ—(भूमिः माता) भूमि सदृश [पालिका] माता, जो कि (नः) हमें (जनित्रम्) शारीरिक जन्म देने वाली (अदितिः) तथा दीनता के भावों से रहित है, स्वावलम्ब स्वभाव वाली है, तथा (अन्तरिक्षम्, भ्राता) अन्तरिक्ष सदृश भरण-पोषण करने वाला भाई (नः) हमें (अभिशस्त्या) मिथ्या अपवादों से [सायण] सुरक्षित करें। (द्यौः) द्युलोक के सदृश (पिता) पिता हमें (पित्र्यात्) पिता से प्राप्त होने वाले दोष से हटा कर (शम् भवाति) सुखदायक हो। [हे पुत्रः] हे पुत्र! दोषों से रहित और (जामिम् ऋत्वा) कुलस्त्री को विवाह विधि से प्राप्त करके तू (लोकात्) सुकर्मी वर्ग के लोक से (मा) न (अवपत्सि) अवपतन कर, गिरावट को न प्राप्त हो।

[अदितिः=अदीना, देवमाता, देवसदृश पुत्रों की माता। शरीर इन्द्रियां तथा चित्त में जब रजस्-तमस् का प्राधान्य हो जाता है तो अभिशस्ति होती है, प्रकृति के सत्त्वगुण के अतिरेक में अभिशस्ति, अर्थात् निन्दा नहीं होती। अन्तरिक्ष वर्षा द्वारा जल प्रदान कर, भ्राता के सदृश भरण-पोषण करता है। जामिः **''स्वसा कुलस्त्री वा''** (उणा० ४.४४, दयानन्द) माता और भाई का समुचित आदर न करना, और प्रकृति के राजस-तामस भोगों में लिप्त रहना—यह है अभिशस्ति, लोकापवाद, निन्दा का कारण।]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।

अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ ३॥

अर्थ—(स्वायाः) अपनी (तन्वः) तनू के (रोगम्) रोगों को (विहाय) त्याग कर, (सुहार्दः) उत्तम हृदयों वाले, (सुकृतः) सुकर्मी (यत्र) जहां (मदन्ति) मोद-प्रमोद करते हैं, (अश्लोणाः[१]) पङ्गुपन से रहित, और (अङ्गैः) अङ्गों से (अह्रुताः[१]) अकुटिल हुए (तत्र) उस (स्वर्गे) स्वर्ग में (पितरौ) माता-पिता का (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (पश्येम) हम देखें।

[सुहार्दः=जिनके हृदयों में भक्ति, प्रेम का निवास है। सुकृतः=परोपकार, यज्ञ याग आदि करने वाले। ''माता, पिता, तथापि पुत्रों को स्वर्ग में देखें''—इस कथन से प्रतीत होता है कि मन्त्र में ''गृहस्थ'' को स्वर्ग कहा है। महर्षि दयानन्द के अनुसार पृथिवीलोक से अतिरिक्त लोकलोकान्तरों में भी मनुष्य आदि का निवास है, (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८; पृ० ३६०, रामलालकपूर ट्रस्ट, द्वितीय

१. मन्त्रानुसार तनू के रोगियों, और विकृत अङ्ग वालों को गृहस्थ का निषेध किया है।

संस्करण)।]

सूक्त १२१

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विषाणा पाशान्वि ष्याध्यस्मद्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।

दुःष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ १॥

अर्थ—हे जीवात्मन्! तेरी शक्ति (विषाणा) दुःखान्तकारिणी है, (अस्मत्, अधि) हम से (पाशान्) पाशों अर्थात् फन्दों को (विष्य) काट दे, उनका अन्त करदे, (ये) जो पाश कि (उत्तमाः अधमाः) उत्कृष्ट और निकृष्ट हैं, (ये) जो (वारुणाः) वरुण परमेश्वर ने [हमारे कर्मों के अनुसार] हम पर डाले हैं। (अस्मद्) हमसे (दुःष्वप्न्यम्[१]) बुरे स्वप्नों से होने वाले (दुरितम्) दुष्फल को (अस्मत् निःस्व) हमसे निर्गमय, निकाल दे, पृथक् कर दे, (अथ) तदनन्तर (सुकृतस्य) सुकर्मियों के (लोकम्) लोक को (गच्छेम) हम जाएँ प्राप्त हों। (निष्व=निः स्व=निः+**षू प्रेरणे** (तुदादिः)।

[विषाणा=वि+**षो अन्तकर्मणि** (दिवादिः) वरुण और उसके पाशों के वर्णन के लिए देखो (अथर्व० ४.१६.१-९)। **सुकृतस्य लोकम्=''सुकृतस्य पुण्यस्य फलभूतं लोकम्, इमं च अमुं च गच्छेम प्राप्नुवाम''** (सायण)। ''इमम्'' द्वारा ऐहलौकिक, तथा ''अमुम्'' द्वारा पारलौकिक अर्थात् दो ''सुकृत लोक'' सायणाचार्य को अभीष्ट हैं। मन्त्र में जीवात्मा की आत्मिक शक्ति को सूचित किया है, जीवात्मा की आध्यात्मिक शक्ति के जागरण का परिणाम दर्शाया है।]

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यद्दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद्भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा।

अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ २॥

अर्थ—हे जीवात्मन्! (यद्) जो (दारुणि) दारुवत् ज्वलनीय स्थूल शरीर में (बध्यसे) तू बन्धा हुआ है, (यत् च) और जो (रज्ज्वाम्) स्थूल शरीर की नस-नाड़ीरूप रस्सी में बन्धा हुआ है, (यद्) जो (भूम्याम्) भूमि में अर्थात् पार्थिव-भोगों में (बध्यसे) तू बन्धा हुआ है, (यत् च) और जो (वाचा) वाक् आदि इन्द्रियों द्वारा तू बंधा हुआ है, (तस्मात्) उस प्रत्येक बन्धन से (अयम्) यह (गार्हपत्यः अग्निः) ब्रह्माण्डगृह के पति द्वारा प्रदत्त ज्ञानाग्नि (नः) हमें या हमारे सम्बन्धी तुझ को, (उद्) उत्कृष्ट करके, (सुकृतस्य लोकम्) सुकृत के लोक की ओर (नयाति) ले चले, या ले जाती है। अथवा ब्रह्माण्ड-गृह का स्वामी अग्निनामक परमेश्वर नयाति।

[समग्र सूक्त में ''प्रतीयमान आध्यात्मिक भावनानुसार'' मन्त्रार्थ किया गया है। मन्त्र (३) में ''अमृतस्य'' पद, सूक्त की आध्यात्मिकता का सूचक है। अमृत है मोक्ष, जन्म-मरण से मुक्त हो जाना, छूट जाना।]

---

१. दुःष्वप्न्य दो प्रकार का है जाग्रद् दुःष्वप्न्यं स्वप्ने दुःष्वप्न्यम् (अथर्व० काण्ड १६, अनुवाक २, पर्याय सूक्त २, मन्त्र ९)। अर्थात् एक तो जाग्रत् अवस्था का दुःष्वप्न्य और दूसरा स्वप्नावस्था में होने वाला दुःष्वप्न्य। स्वप्नावस्था का दुःष्वप्न्य तो बुरे संस्कारों का परिणाम है, और ये बुरे संस्कार जाग्रद् अवस्था के परिणाम हैं। जाग्रद् दुःष्वप्न्य हैं जाग्रद् अवस्था की दुर् अनुभूतियाँ बुरे कर्म, तथा बुरे विचार और बुरे संकल्प। अतः दुःष्वप्न्य-दुरितों को दूर करने के लिए जाग्रद्-दुःष्वप्न्यों का संयम चाहिए।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रैतु बद्धकमोचनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(भगवती) सौभाग्य वाले (विचृतौ) दो विचृत (नाम) नाम (तारके) तारे (उदगाताम्) उदित हुए हैं, वे (इह) इस जीवन में (अमृतस्य) न मरने का [सौभाग्य] (प्रयच्छताम्) प्रदान करें, (बद्धक) बन्धे हुए [जीवात्मा को] (मोचनम्) मुक्ति (प्रैतु) प्राप्त हो।

[भगवती=भगवत्यौ; यतः "तारके" द्विवचन में है। विचृतौ दो तारे वृश्चिक राशि में हैं, इन्हें मूल नक्षत्र कहते हैं। यथा "मूलनक्षत्रस्य विचृत् इति संज्ञा (सायण); (अथर्व० १९.७.३) में भी "मूल" नक्षत्र कहा है। यथा "अरिष्टमूलम्"। अरिष्ट का अर्थ है अहिंसक। इसलिए मूल-तारा को भगवती कहा है, सौभाग्य वाली। यह "बद्धकमोचन[१]" है, अतः जीवात्मा के लिए सौभाग्यप्रदा है। बद्धक में स्वार्थ में "कन्" है।

परन्तु "विचृतौ" का पूर्वदिशा में उदय तो प्रतिवर्ष होता है, तब तो भूमिष्ठ सब जीवित प्राणियों की मुक्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा हो नहीं रहा। अतः "विचृतौ" तारों का कुछ और ही अभिप्राय है। योगदर्शन में "तारक" का वर्णन है। यथा "**तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रम चेति**" (विभूतिपाद ५४)। "तारक[२]" ज्ञान भवसागर में तैरा देता है। मन्त्र पठित "तारके"[२] भी तैराने वाले हैं; "तारके" दो तारा। योगदर्शन कथित "तारक" ज्ञान भी द्विविधरूप वाला है, एक है "विवेकज ज्ञान", और दूसरा है "योग प्रदीप" जो कि विवेकज-ज्ञान का अंशरूप है जिसे कि मधुमतीभूमिक कहते हैं। यह है "ऋतम्भरा प्रज्ञा" (योगदर्शन समाधिपाद, ४८)। तारकज्ञान की विशेष व्याख्या के लिए देखो व्यासभाष्य। "तारके" को विचृतौ कहा है। विचृतौ=वि (विशेषणे)=चृतौ (हिंसाग्रन्थनयोः), हिंसार्थ अभिप्रेत है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की हिंसा अर्थात् नष्ट हो जाना, और जीवात्मा का कैवल्य हो जाना, उस अकेले का बचा रहना। "विचृतौ तारके" के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो मन्त्र भी विशेष प्रकाश डालते हैं। यथा—

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ अथर्व० २.८.१॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥

अथर्व० ३.७.४॥

इन दो मन्त्रों से दो पाशों से मुक्ति का कथन हुआ है। अधम पाश है स्थूलशरीर, और उत्तमपाश है कारण शरीर। इन दोनों के मध्य में है सूक्ष्म शरीर। अधम और उत्तम शरीर रूपी दो पाशों से मुक्ति की याचना द्वारा मध्यशरीर रूपी पाश से मुक्ति स्वतः सम्पादित सिद्ध है।]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वि जिहीष्व लोकं कृणु बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्।
योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वाँ अनु क्षिय ॥ ४ ॥

---

१. बद्ध है जीवात्मा, तीन शरीरों में, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर में। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर से तो कालिक मोचन हो जाता है। परन्तु शेष दो शरीरों में जीवात्मा बन्धा रहता है, इनसे भी मोचन है मुक्ति अर्थात् मोक्ष।

२. तारक भी द्विविध हैं, और तारके भी दो हैं, दोनों का अर्थ है "तैराने वाले"।

अर्थ—(विजिहीष्व) [हे अविद्या!] तू विगत हो जा, हट जा, (लोकम् कृणु) और हे तारक ज्ञान तू आलोक अर्थात् प्रकाश कर, (बद्धकम्) बन्धे जीवात्मा को (बन्धात्) शारीरिक बन्ध से (मुञ्चासि) तू मुक्त कर। हे जीवात्मन्! तू (सर्वान् पथः) सब पथों में (अनुक्षिय) गमन कर, तथा उनमें निवास कर, (इव) जैसे कि (योन्याः) माता की योनि से (प्रच्युतः) च्युत हुआ, पैदा हुआ (गर्भः) नवजात शिशु [अनिरुद्धगति से] हिलता जुलता है।

[जैसे नवजात शिशु स्वयमेव अनिरुद्ध गति करता है, वैसे तू भी अनिरुद्धगति से सब पथों में गमन कर। पथ नाना हैं सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र आदि की गतियों के पथ नाना हैं, इन पथों में तू गमन कर। मुक्त जीवात्मा स्वेच्छापूर्वक इन मार्गों में गति करता है। विजिहीष्व=+**ओहाङ् गतौ** (जुहोत्यादिः)। क्षिय=**क्षि निवासगत्योः** (तुदादिः)। "पथः अनु क्षिय" पर ऋग्वेद के निम्न मन्त्र विशेष प्रकाश डालते हैं। यथा—

मुनयो वातरशना.....वातस्यानु ध्राजिं यन्ति॥ १०.१३६.२॥

मुनि वायुरूपी रस्सी द्वारा, वायु की गति के अनुसार अन्तरिक्ष में विचरते हैं।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्॥ १०.१३६.३॥

मुनिभाव में अति मोद प्राप्त करते हुए हम वायुओं पर आस्थित हुए हैं।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् मुनिः॥ १०.१३६.४॥

मुनि अन्तरिक्ष द्वारा उड़ता है, और सब रूपों को जो कि नीचे भूमि पर हैं, उन्हें देखता है।

वातस्याश्वो वायोः सखा.....उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥ १०.१३६.५॥

वायु इसका अश्व है, वायु का यह सखा है। ये दोनों समुद्रों पर आ निवास करता है, जो कि पूर्व का समुद्र है और अपर अर्थात् पश्चिम का है।

[ये उद्धरण ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १३६; मन्त्र १ से ७ में से हैं। इन द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि मुनि या योगी अन्तरिक्ष में भिन्न-भिन्न पथों में गति कर सकते हैं।]

सूक्त १२२

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वकर्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान्विश्वकर्मन्प्रथमजा ऋतस्य।
अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम॥ १॥

अर्थ—(विश्वकर्मन्) हे विश्व के कर्त्ता! तू (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (प्रथमजाः=) प्रथमजनयिता है, (विद्वान्) यह जानता हुआ (एतम्, भागम्) इन भाग को (परिददामि) [तेरे नाम पर] मैं दान में देता हूँ। (अस्माभिः) हम पारिवारिकजनों द्वारा (दत्तम्) दिया गया यह भाग, (जरसः परस्तात्) हमारी जरावस्था के पश्चात् भी, (अच्छिन्नम्, तन्तुम्) छिन्न न होवे, तानों के विस्तार रूप में रहे, (अनु) तत्पश्चात् (सं तरेम) हम सब दाता, भवसागर तैर जाएँ।

[परिवार की आमदनी का एक निश्चित भाग, परिवार का मुखिया दान रूप में देता है, और परमेश्वर के नाम पर गुप्तरूप में देता है, निजनाम प्रकाशित नहीं करता। यह सात्त्विक दान है। जरावस्था के पश्चात् भी शेष पारिवारिकजन अच्छिन्नरूप में दान देने की पारिवारिक प्रथा को जारी रखते हैं, और

जरापन्न व्यक्ति गृहत्याग कर या गृह में ही रहते हुए, मोक्ष साधक जीवन चर्या कर, भवसागर से तैर जाने के अभिलाषी हैं।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।

अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव॥ २॥

अर्थ—(एके) कई, दाने के (ततम्) विस्तृत [न करें, अच्छिन्न मन्त्र १] (तन्तुम्) तान्ते के (अनु) अनुसार (तरन्ति) तैर जाते हैं, (येषाम्) जिन्होंने कि (आयनेन) उत्तराधिकार मार्ग से प्राप्त (पित्र्यम्) पैतृक धन को (दत्तम्) दान में दे दिया है। (एके) और कई (अबन्धु) जो कि बन्धुरहित हैं वे (ददतः) पैतृक धन को देते हुए (प्रयच्छन्तः) सत्कार पूर्वक देते हुए तैर जाते हैं, (चेत्) यदि (दातुम् शिक्षान्) इच्छापूर्वक देने में शक्ति रखते हों। यह द्विविध (सः) वह प्रसिद्ध (स्वर्गः एव) स्वर्ग ही है, अर्थात् ऐसे सात्त्विक सर्वस्वदानी व्यक्ति जिस गृहस्थ में रहते हैं वह गृहस्थ स्वर्ग ही है।

[मन्त्र में पूर्वार्ध में बन्धुओं वाले दानियों का, और उत्तरार्ध में बन्धुरहित दानियों का वर्णन हुआ है। ये यतः बन्धुरहित हैं, अकेले हैं, स्वयं धनोपार्जन में समर्थ हैं, या नहीं, इसलिए इनके सम्बन्ध में "दातुं चेत् शिक्षान्" इन पदों का प्रयोग हुआ है।

शिक्षान्="**शक्लृ शक्तौ** इत्यस्मात् सनि, '**सनि मीमा**' (अष्टा० ७.४.५४) इत्यादिना अचः स्थाने इस् आदेशः। '**अत्र लोपोऽभ्यासस्य**' (अष्टा० ७.४.५८) इति अभ्यासलोपः। "**इतश्च लोपः परस्मैपदेषु**" (अष्टा० ३.४.९७) इति इकारलोपः, लेट्लकार, 'आट्' आगम (सायण)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।

यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ ३॥

अर्थ—हे दम्पती! (अनु आरभेथाम्) स्वर्गानुकूल जीवनचर्या आरम्भ करो; (अनु संरभेथाम्) तदनुल दोनों मिलकर जीवनचर्या आरम्भ करो, (श्रद्दधानाः) श्रद्धावाले (एतम्) इस (लोकम्) स्वर्गलोक का (सचन्ते) सेवन करते हैं, या इस लोक के साथ अपना सम्बन्ध करते हैं। (वाम्) तुम दोनों का (यत्) जो (पक्वम्) पका अन्न (अग्नौ) अग्नि में (परिविष्टम्) प्रविष्ट हुआ है, और ब्रह्मवेत्ताओं की जठराग्नि के निमित्त परोसा गया है, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा के लिए, (दम्पती) हे जाया और पति तुम दोनों (संश्रयेथाम्) परस्पराश्रित होओ, या परस्पर की सेवा करो।

[सम्भवतः मन्त्र में पूर्वमन्त्रोक्त दानप्रधान गृहस्थ जीवन का निर्देश किया हो; और उसे स्वर्गलोक कहा हो। "पक्वम्" पद द्वारा सम्भवतः "वैश्वदेव" यज्ञ निर्दिष्ट किया हो। "वैश्वदेव" यज्ञ में पके अन्न की आहुतियां गृह्याग्नि में देनी होती हैं, और साथ ही ब्राह्मभोज कराने का भी निर्देश किया हो। सचन्ते=**षच समवाये, सेवने च** (भ्वादिः)।

श्रिञ् सेवायाम् (भ्वादिः)। दम्पती=अथवा "**दमे गृहनाम**" (निघं० ३.४), गृहस्थ के गृह के दोनों पति अर्थात् स्वामी। गृहस्थ के गृह पर दोनों का समान अधिकार।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात्तृतीये नाके सधमादं मदेम॥ ४॥

अर्थ—(बृहन्तम्) महान् (यज्ञम्) गृहस्थ-साध्य-यज्ञ को (मनसा) विचार या मनन द्वारा (यन्तम् अनु) चालू करने के पश्चात्, (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (आरोहामि) मैं स्वर्गीय जीवन के पथ पर आरूढ़ होता हूं, और (सयोनिः) जगद् की योनिरूप ब्रह्म के साथ वास करता हूं। (अग्ने) हे अग्रणी ब्रह्म! (जरसः परस्तात्) जरावस्था के पश्चात् (उपहूताः) तुझ द्वारा समीप बुलाये गये हम, (तृतीये नाके) तीसरे लोक में (सधमादम्) तेरे साथ रहते हुए तुझ आनन्दमय को प्राप्त कर (मदेम) हम आनन्दित रहें।

[इन मन्त्रों में "पक्वम्, अग्नौ, परिविष्टिम्, यज्ञम्, बृहन्तम्" शब्दों द्वारा गृहस्थ जीवन के "पञ्चमहायज्ञ" सूचित होते हैं। सयोनिः=योनि है जगद् की योनिः "ब्रह्म"। तृतीये नाके=नाक का अर्थ है "**कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत**" (निरुक्त २.४.१४), अर्थात् नाक है वह जिस में न सुख है न सुखाभाव अर्थात् दुःख। सुख है ऐन्द्रियिक। परमेश्वर आनन्दस्वरूप है, उसमें न ऐन्द्रियिक सुख है, न इन्द्रिय सम्बन्धी सुखाभाव, दुःख। अथवा द्यौः, स्वः, तथा नाक[१] में नाक है (तृतीय)। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, तथा वानप्रस्थ में वानप्रस्थ है (तृतीय)। प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा में परमात्मा है (तृतीय)। नाकम्=सब दुःख रहित मुक्तिसुख (यजुः० ३१.१६, दयानन्द)। अथवा "ब्राह्मः त्रिभूमिको लोकः, प्राजापत्यः ततो महान्, माहेन्द्रः स्वरित्युक्तः दिविताराः भुवि प्रजा (योग, व्यासभाष्य, **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**, विभूतिपाद, सूत्र २६), सम्भवतः "ब्राह्मः त्रिभूमिको लोकः"=तृतीयलोक अर्थात् तृतीय नाक। इस लोक में केवल ब्रह्म ही है, प्राकृतिक जगत् की सत्ता नहीं। ये विकल्प विचारार्थ लिखे हैं।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ ५॥

अर्थ—(इमाः) इन (शुद्धाः) शरीर से शुद्ध, (पूताः) विचारों में पवित्र, (यज्ञियाः) विवाह यज्ञ के योग्य,[२] (योषितः) प्रीति तथा सेवा करने वाली पुत्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मवेत्ताओं के (हस्तेषु) हाथों में (प्र) प्रत्येक में (पृथक्) पृथक्-पृथक् (सादयामि) मैं पिता स्थापित करता हूँ। (यत्कामः) जिस कामना वाला मैं पिता (वः) हे ब्रह्मवेत्ताओ! तुम्हें (अहम्) मैं पिता (इदम्) यह या जल (अभिषिञ्चामि) अभिषेक रूप में सींचता हूँ, (मरुत्वान्) मनुष्यजाति का स्वामी या मरणधर्मा प्राणियों का स्वामी (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (तत्) उस कामना की पूर्ति (मे) मुझे (ददातु) प्रदान करे।

[मोक्षाभिलाषी पिता आश्रम-परिवर्तन करने से पूर्व, निज पुत्रियों का विवाह कर देना चाहता है। पुत्रियां शारीरिक-भोग की दृष्टि से शुद्ध हैं। ब्रह्मणाम्=ब्रह्म अर्थात् वेद, वेदों के विद्वान् ब्राह्मण। हस्तेषु=पाणिग्रहण संस्कार द्वारा। पिता निज हाथ द्वारा पुत्री का हाथ वर के हाथ में प्रदान करता है। अभिषिञ्चामि=घट के जल को कुशा द्वारा वर-वधू पर छिटकना होता है। पिता की कामना है विवाहानन्तर

---

१. "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः**" (यजुः० ३२.६), तथा "**ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**" (यजुः० ३१.१६)।

२. अक्षतयोनि युवतियां हैं, योग्या, अर्थात् विवाह योग्य।

पतियों के गृहों में पुत्रियों का सुखपूर्वक निवास। योषिता=**जुष प्रीतिसेवनयोः**+इति (उणा० १.९७)। **इदम् उदकनाम** (निघं० १.१२)। मरुत्=मनुष्यजातिः (उणा० १.९४, दयानन्द)।]

सूक्त १२३

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।

अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमिन्॥ १ ॥

अर्थ—(सधस्थाः) परमेश्वर के साथ स्थित, परमेश्वरस्थ हे महात्माओ! (एतम्) इस (शेवधिम्) धन की निधि अर्थात् खजाने को— (यम्) जिसे कि (जातवेदाः) जातवेद परमेश्वर ने (आवहात्[1]) मुझे प्राप्त कराया है, (वः) तुम्हारे लिए (परिददामि) पूर्णतया मैं प्रदान करता हूँ। (अनु) तत्पश्चात् (यजमानः) दानयज्ञ का या ध्यानयज्ञ का करने वाला (स्वस्ति) कल्याण मार्ग की ओर (आगन्ता), (तम्) उसे (परमे व्योमन्) परमरक्षक परमेश्वर में स्थित हुआ (जानीत) तुम जानो।

[सधस्थाः=सह तिष्ठन्तीति, सह को सध आदेश (अष्टा० ६.३.९६)। शेवधिः=दाता, शेवधि को अध्यात्म मार्ग में बाधक अनुभव करता है। यथा "**जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्** (कठोपनिषद् २.१०)। जातवेदाः="**जातानि वेद, जाते जाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञः**" (निरुक्त ७.५.१९)। व्योमन्=वि+अव् (ऊठ्)+मनिन्। आगन्ता=आङ्+गम् (लुट् लकार)।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जानीत स्मैनं परमे व्योमिन्देवाः सधस्था विद लोकमत्र।

अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै॥ २ ॥

अर्थ—(सधस्थाः देवाः) हे दिव्यगुणी सधस्थो! (एनम्) इस यजमान को (परमे व्योमन्) परमरक्षक परमेश्वर में स्थित (जानीत) जानो, (अत्र) इस परमेश्वर में (लोकम्) इसका लोक (विद=विदथ) जानो। (यजमानः) दानयज्ञ या ध्यानयज्ञ करने वाला (अनु) दान के पश्चात् (स्वस्ति) कल्याण मार्ग की ओर (आगन्ता) आएगा, (अस्मै) इसके लिए हे दिव्य सधस्थो! (इष्टापूर्तम्) इसके अभीष्ट [मोक्ष] की पूर्ति (आविः कृणुत) करो।

[सधस्थाः देवाः=मन्त्र (१) में कथित महात्मा। लोकम्=परमेश्वर रूपी आश्रय, निवास स्थान।]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**द्विपदा साम्न्यनुष्टुप्** ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि॥ ३ ॥

अर्थ—(देवाः) देव हैं (पितरः) माता-पिता आदि, (पितरः) माता-पिता आदि हैं (देवाः) देव। (यः) जो (अस्मि) मैं हूँ, (सः) वह (अस्मि) मैं हूँ।

[मन्त्र (२) में "देवाः" पद पठित है। उसका अभिप्राय है पितरः[2] आदि। **मातृदेवो भव,**

---

१. या जिसे कि परमेश्वर प्राप्त कराता है, लेट् लकार, आट् आगम।

२. जिनमें रक्षा करने की शक्ति है, वे हैं "पितरः" **पा रक्षणे** (अदादिः), मृतों में रक्षा शक्ति नहीं होती अतः वे पितरः नहीं। उन्हें पितरः कहा जाता है "भूतपूर्व रक्षक होने से"।

पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव, आचार्यदेवो भव आदि में ''देव'' पद द्वारा जीवित देवों का अभिप्राय है। यजमान अभी गृहस्थ आश्रम में निवास कर रहा है। इसलिए वह कहता है कि जो मैं गृहस्थी हूँ, वह मैं अभी तक गृहस्थी ही हूँ। यह अभिप्राय मन्त्र (४) द्वारा स्पष्ट है।]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**द्विपदा प्राजापत्या भुरिगनुष्टुप् (एकावसना)**॥

स प॑चामि॒ स द॑दामि॒ स य॑जे॒ स द॒त्तान्मा यू॑षम्॥ ४॥

अर्थ—(सः) वह (पचामि) मैं पकाता हूँ, (सः) वह (ददामि) मैं दान करता हूँ, (सः) वह (यजे) मैं यज्ञ करता हूँ, (सः) वह मैं (दत्तात्) दान से (मा) न (यूषम्) पृथक् होऊं।

[पकाना, और पक्व अन्न का बलिवैश्वदेव में, तथा अतिथियज्ञ में प्रदान करने का कथन मन्त्र में हुआ है। यदि गृह में पत्नी नहीं, तो भी गृहस्थी स्वयं पका कर अन्न द्वारा यज्ञ सम्पादन करें। यूषम्=यु+च्लेः सिच् ह्रस्व, उकारस्य दीर्घ ऊकारः।]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नाके॑ राज॒न्प्रति॑ तिष्ठ॒ तत्रै॒तत्प्रति॑ तिष्ठतु।

वि॒द्धि पू॒र्तस्य॑ नो राज॒न्त्स दे॑व सु॒मना॑ भव॥ ५॥

अर्थ—(राजन्) हे परिवार के शासक! (नाके) मोक्षसाधन में (प्रतितिष्ठ) तू दृढ़तापूर्वक स्थित हो जा, (तत्र) उस मोक्षसाधन में (एतत्) यह [मन्त्र ४ में कथित कर्मकलाप भी] (प्रतितिष्ठतु) स्थिर रहे। (राजन्) हे शासक! (नः) हमारे (पूर्तस्य) पूर्तकर्म को भी (विद्धि) जानता रह, (देव) हे पितृदेव! (सः) वह तू (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (भव) हो।

[मोक्षाभिलाषी अभी तक घर में ही है। उसे पारिवारिकजन आश्वासन दे रहे हैं, ताकि मोक्षसाधन में वह प्रसन्नचित्त रहे, और इसकी भी उसे सूचना मिलती रहे कि परिवार में पूर्तकर्म यथावत् हो रहा है। पूर्तस्य=कर्मणि षष्ठी। पूर्त=**वापीकूपतटाकनिर्माणादि पूर्तम्** (सायण)। ये कर्म सामाजिक सेवारूप हैं।]

सूक्त १२४

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दिव्या आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दि॒वो नु मां बृ॑ह॒तो अ॒न्तरि॑क्षाद॒पां स्तो॒को अ॒भ्य॑पप्त॒द्रसे॑न।

समि॑न्द्रि॒येण॒ पय॑सा॒हम॑ग्ने॒ छन्दो॑भिर्य॒ज्ञैः सु॒कृतां॑ कृ॒तेन॑॥ १॥

अर्थ—(दिवः) द्युलोक से, (बृहतः अन्तरिक्षात्) बड़े अन्तरिक्ष से, (अपाम्) जल का (स्तोकः) स्वल्पांश भी (नु) शीघ्र (माम् अभि) मेरे प्रति (रसेन) रस के साथ (अपप्तत्) यदि वर्षारूप में गिरा है, तो (अहम्) मैं (इन्द्रियेण) धन से, (पयसा) दूध से, (छन्दोभिः) वैदिक छन्दों से, (यज्ञैः) यज्ञों से, (सुकृताम् कृतेन) सुकर्मियों के कर्म से अथवा उत्तम कर्मों के करने से (अग्ने) हे परमेश्वर! (सम्) सम्बद्ध हो जाऊँ।

[सूक्त १२३ के मन्त्र ५ से, ''राजन्'' का सम्बन्ध, सूक्त १२४ में समझना चाहिए। राष्ट्र में वर्षा न होने के कारण प्रजा दुःखी है। इसलिए राजा वर्षा जल के स्वल्पांश का भी अभिलाषी है। वर्षा जल द्वारा वृक्षों, वनस्पतियों में नानाविध रसों का संचार होता है, और धनसम्पत्ति बढ़ती है, खाद्य-पेय प्राप्त होते, वेदाध्ययन तथा यज्ञादि सुकर्मों का सम्पादन होता है।

यजुर्वेदानुसार "राजा" अपने शरीर तथा शरीराङ्गों के सदृश राष्ट्र और प्रजा को जानकर शासन करता है। यथा "**पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः**" (यजु० २०.८)। इसलिए राजा मन्त्र में राष्ट्र और प्रजा का निर्देश "मे" द्वारा करता है। इन्द्रियेण=**इन्द्रियम् धननाम** (निघं० २.१०) दिवः अन्तरिक्षत्=द्युलोकस्थ सूर्य के ताप द्वारा भौमजल वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्ष में जाता, और अन्तरिक्ष से वर्षारूप में भूमि पर आकर नानाविध रसों आदि के रूप में प्रकट होता, और सुकर्मों के कराने में हेतु होता है। नु=क्षिप्रम् (निरुक्त ११.४.५० रोदसी पद (३६)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दिव्या आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यदि वृक्षादभ्यपप्तत्फलं तद्यद्यन्तरिक्षात्स उ वायुरेव।
यत्रास्पृक्षत्तन्वो३ यच्च वाससः आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः॥ २॥

अर्थ—(यदि वृक्षात्) यदि वृक्ष से (अभि) मेरी ओर (फलम्) फल [स्वयं पककर[1]] (अपसत्) गिरा है (तत्) तो वह, और (यदि अन्तरिक्षात्) यदि अन्तरिक्ष से [अल्पवर्षा जल] भी गिरा है तो (सः) वह (उ) निश्चय से, (वायुः एव) प्राणप्रदवायु के सदृश ही है। तथा (तन्वः) शरीर के (यत्र) जिस अंग में (च) और (वाससः) वस्त्र के जिस स्थान में (यत्) जो अपवित्र वस्तु (अस्पृक्षत्) स्पर्श कर गई है, लग गई है तो उस (निर्ऋतिम्) कष्टप्रद वस्तु को (आपः) शुद्ध जल (पराचैः) पृथक् कर देने की विधियों द्वारा (नुदन्तु) पृथक् कर दें।

[मन्त्र में स्वास्थ्य सम्बन्धी निर्देशों का कथन हुआ है। वृक्ष से स्वयं फल का गिरना उसकी परिपक्वावस्था का सूचक है। उसका सेवन प्राणप्रद वायु के सदृश प्राणप्रद है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष से वर्षाजल का गिरना भी वायुसमान प्राणप्रद है। वर्षाजल शुद्ध होता है, और भूमि पर गिरकर वह अशुद्ध हो जाता है, उसमें भूमि के तत्त्वों का मिश्रण हो जाता है। इस लिए इन शुद्ध जलों द्वारा शरीर और वस्त्र के मल को धोने का वर्णन हुआ है। यह मल निर्ऋति है, कृच्छ्रापत्ति है। **निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः** (निरु० २.२.८; निर्ऋति पद)। अपसत्=**पत्लृ गतौ,** लृदित्त्वात् च्लेः अङ् आदेशः "पतः पुम्" (अष्टा० ७.४.१९) इति पुम् आगमः (सायण)। अस्पृक्षत्=स्पृशतेश्छान्दसो लुङ्, च्लेः क्सादेशः (अष्टा० ३.१.४५), (सायण)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दिव्या आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव।
सर्वा पवित्रा विततध्यस्मत्तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः॥ ३॥

अर्थ—(अभ्यञ्जनम्) मलने का तैल, (सुरभि) सुगन्धित चन्दन आदि (सा समृद्धिः) वह समृद्धिरूप हैं, (हिरण्यम्) सुवर्ण और (वर्चः) शारीरिक तेज (तत् उ) वे (पूत्रिमम् एव) पवित्रता के साधन ही हैं। (सर्वा पवित्रा=सर्वाणि पवित्राणि) सब पवित्र कर्म (अस्मात् अधि) हम से (वितता=विततानि) विस्तृत हुए हैं, (तत्) अतः (मा) न (निर्ऋतिः) कष्टापत्ति (तारीत्) हमें दबाए, (मो) न (अरातिः) अदान भावना दबाए।

[हिरण्य[2]=सुवर्णभस्म। यह रोगों का विनाश करके शरीर को नीरोग करती है, नीरोगता ही पवित्रता

---

१. कृत्रिम विधि से पकाए फल उतने गुणकारी नहीं होते जितने कि शाखा पर पके गुणकारी होते हैं।
२. होम्योपेथी में विशुद्ध हिरण्य का भी प्रयोग होता है जिसे कि "Aurum metallicum" कहते हैं।

है। शारीरिक नीरोगता से शारीरिक तेज या बल बढ़ता है। शारीरिक बल की वृद्धि से रोग शरीर पर आक्रमण नहीं करते, शरीर के स्वस्थ रहते [सूक्त १२४, मन्त्र १ में प्रोक्त] छन्दों का स्वाध्याय आदि शुभकर्मों के कारण न कृच्छ्रापत्ति अर्थात् शारीरिक कष्ट दबाते हैं, न कंजूसी आदि मानसिक दुर्भावनाएँ दबाती हैं। तारीत्=अतिक्रामतु (सायण)।]

बारहवाँ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक १३

सूक्त १२५

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑।
गोभि॒ः संन॑द्धो असि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि॥ १॥

अर्थ—(वनस्पते) राष्ट्र के वनों के स्वामी हे राजन्! (वीड्वङ्गः) प्रबल युद्ध नीति के अङ्गों वाला (हि) ही (भूयाः) तू हो जा, (अस्मत्सखा) हम प्रजाजनों का मित्रभूत तू (प्रतरणः) कष्टों से तैराने वाला, (सुवीरः) तथा उत्तमवीर योद्धाओं वाला तू है। (गोभिः) वज्रों से (संनद्धः) सुसज्जित (असि) तू है, (वीडयस्व) तू पराक्रम कर (ते आस्थाता) तुझ पर आस्था अर्थात् श्रद्धा रखने वाला सेनापति (जेत्वानि) जेतव्य परकीय सैन्यों पर (जयतु) विजय पाए।

[सूक्त में राजा, सेनापति और सैन्यरथ का मिश्रित वर्णन है। युद्ध नीति के अङ्ग=सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैध—ये युद्ध नीति के ६ अङ्ग हैं (मनुस्मृति ७.१६०)। गोभिः—गौः=पशु, इन्द्रियम्, सुखम्, किरणः, "वज्रम्", चन्द्रमाः, भूमि, वाणी, जलं वा (उणा० २.६८, दयानन्द)। अथवा राष्ट्र के ८ अङ्ग=स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, दुर्ग और सैन्य, तथा प्रजावर्ग। **वीडु बलनाम** (निघं० २.९)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः पर्योज॒ उद्भृ॑तं॒ वन॒स्पति॑भ्य॒ः पर्याभृ॑तं॒ सहः॑।
अ॒पामो॒ज्मानं॒ परि॒ गोभि॒रावृ॑त॒मिन्द्र॑स्य॒ वज्रं॑ ह॒विषा॒ रथं॑ यज॥ २॥

अर्थ—(दिवस्पृथिव्याः) द्युलोक और पृथिवी से (उद्भृतम्) उद्धृत (ओजः) ओजस् रूप, (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियों से (आभृतम्) आहृत (सहः) बल रूप (परि=पञ्चम्यर्थानुवादी); (अपाम् ओज्मानम्) जल के ओजस् रूप, (गोभिः) गोचर्मों द्वारा (परि) सब ओर (आवृतम्) आच्छादित, (इन्द्रस्य) विद्युत् के (वज्रम्) वज्ररूप (रथम्) सैन्यरथ को (हविषा) आत्माहुति द्वारा (यज) सुसंगत कर।

[गोभिः=गोचर्मभिः। यथा "**अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति, "गोभिः श्रीणीत मत्सरमिति**" पयसः (२.२.५ निरुक्त), अर्थात् गोसम्बन्धी मन्त्रों में तद्धितार्थ अर्थात् भव, अवयव, विकार में, पूर्ण गोपद का प्रयोग होता है। यथा "गोभिः" श्रीणीत मत्सरम्" में गोभिः का अभिप्राय है पयः अर्थात् दुग्ध। अर्थात् दूध के द्वारा सोम ओषधि को पकाओ। मन्त्र में रथ के निर्माण का वर्णन है। रथ का निर्माण पञ्चभूतों की सहायता से होता है। वनस्पति का बीज पृथिवी में अङ्कुरित होता, द्युलोकस्थ सूर्य के ताप प्रकाश द्वारा, और अन्तरिक्ष के वर्षाजल द्वारा सींचा जाकर बढ़ता, और वृक्षरूप होकर वृक्ष

के काष्ठ से निर्मित होता है। चलने में अधिक वेग वाला होने से, और शत्रुओं के विनाश में सहायक होने से रथ वैद्युतवज्ररूप है। **यज=देवपूजासङ्गतिकरणादानेषु** में सङ्गतिकरण अभीष्ट है।

वनस्पतियां किन तत्त्वों से पैदा होती तथा बढ़ती हैं, इसका भी परिज्ञान मन्त्र द्वारा होता है।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥ ३॥

अर्थ—(देव रथ) हे दिव्य या विजयैषी[1] सैन्य रथ! तू (इन्द्रस्य) सम्राट् का (ओजः[2]) ओजरूप है, (मरुताम्) शत्रुओं के मारने वाले योद्धाओं का (अनीकम्) जीवनरूप है, (मित्रस्य) मित्र राजा का (गर्भः) मातृगर्भाशयवत् रक्षक है, (वरुणस्य) सम्राट् के अधीन वरुणनामक राजा का (नाभिः) मातृनाभिवत् पालन करने वाला है। (सः) वह तू हे सैन्यरथ! (नः) हमारे (हव्यदातिम्) जीवनरूपी हव्यों के दान का (जुषाणः) सेवन करता हुआ (हव्या=हव्यानि) हमारे जीवनरूपी हव्यों को (प्रति गृभाय) ग्रहण कर, स्वीकार कर।

[इन्द्रस्य="**इन्द्रश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति। अतः यह शक्तिशाली है। ओजः=उब्ज आर्जवे (तुदादिः), ओजः वह बल है जिसके होते शत्रु नम हो जाता है और विद्वेष या आक्रमण करने का साहस नहीं करता। मरुताम्=शत्रुओं को मारने में कुशल योद्धागण (यजुः० १७.४०)। अनीकम्=**अन प्राणने** (अदादिः), **अनिति जीवयतीति, अनीकम्** (उणा० ४.१८, दयानन्द)। सैन्य रथ सैनिकों के जीवन का हेतु है, सैन्यरथों द्वारा युद्ध करने वाले हैं रथारोही-सैनिक, इन्हें जीवनीय भृति, सैन्यरथों के कारण मिलती है। मित्रस्य=निर्बल मित्र राजा, जोकि आत्मरक्षार्थ इन्द्र अर्थात् सम्राट् का आश्रय लेता है, सम्राट् का सैन्यरथ उसका रक्षक होता है, जैसे कि मातृगर्भाशय, तन्निष्ठ गर्भ का रक्षक होता है। वरुणस्य=वरुण है राष्ट्राधिपति जो कि सम्राट् के साम्राज्य का अङ्ग है। सम्राट् की सैन्यरथ शक्ति इसका पालन इस प्रकार करती है जैसे कि माता का गर्भनाल गर्भस्थशिशु का पालन करता है। नाभिः=**नह बन्धने**। नाभिनाल से शिशु बन्धा रहता है जिस द्वारा कि शिशु को जीवनीय रस मिलता रहता है।]

सूक्त १२६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥ १॥

अर्थ—(दुन्दुभे) हे सैन्य-ढोल! तू (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्यौ को (उपश्वासय) गुञ्जा दे, (पुरुत्रा) बहुत प्रदेशों में (विष्ठितम्) विविध स्थानों में स्थित (जगत्) जङ्गम मनुष्य तथा अन्य प्राणी (ते) तेरे घोष की (वन्वताम्[3]) याचना करें, चाहें। (सः) वह तू (इन्द्रेण) सम्राट् के साथ तथा (देवैः) विजिगीषु सैनिकों के (सजूः) साथ मिलकर (शत्रून्) शत्रुओं को (दूराद् दवीयः) दूर से दूर (अपसेध) धकेल दे, भगा दे।

---

१. **दिवु क्रीडा-विजिगीषा** आदि (दिवादिः)।
२. ओजस् है सिंह में, और बल है हाथी में।
३. **वनु याचने** (तनादिः)।

[अपसेध=**षिधु गत्याम्** (भ्वादिः)। सैनिकरथ और सैनिक दुन्दुभि सैनिक अङ्ग हैं (निरुक्त अ० ९, पा० २, खण्ड ११, १२)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः।

अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व॥ २॥

अर्थ—(दुन्दुभे) हे सैन्यढोल! (आक्रन्दय) तू शत्रुओं का आह्वान कर, उन्हें ललकार, (नः) हमारे लिए या हम में (बलम्, ओजः, आधाः) बल[1] और ओजस्[1] का आधान कर, (दुरिता=दुरितानि) शत्रुओं द्वारा सम्भाव्यमान दुष्परिणामों को (बाधमानः) हटाता हुआ (अभिष्टन) तू गर्ज। (इतः) इस हमारी भूमि से (दुच्छुनाम्) दुःखकारी शत्रु सेना को (अप सेध) अपगत कर, भगा दे, (इन्द्रस्य) सम्राट् की (मुष्टिः) मुट्ठी (असि) तू है, (वीडयस्व) तू बलकृति या वीरता कर।

[यद्यपि है तो सैन्यढोल का वर्णन, परन्तु है यथार्थ वर्णन। ढोल गोल होता है अतः उसे मुट्ठी कहा है। मुट्ठी भी गोल होती है। इन्द्र है साम्राज्य का मुखिया। उसके सैन्यढोल का गर्जना मानो शत्रुसेना का ललकारना है, और निज सेना में बल और ओजस् का स्थापन करना है। शत्रु, गर्जना सुनते, अपगत हो जाते हैं और युद्धजन्य किसी दुष्परिणाम को पैदा करने का साहस नहीं करते। अभि ष्टन=अभि+**स्तन गदी देवशब्दे** (चुरादिः); देवशब्द=बादल का गर्जन। दुच्छुना=दुः+**शुनम् सुखनाम** (निघ० ३.६)। वीडयस्व= **वीडु बलनाम** (निघं० २.९), अथवा वीरयस्व, रलयोरभेदः, डलयोरभेदः।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**पुरोबृहतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

प्रामूं जयाभी३मे जयन्तु केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीतु।

समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु॥ ३॥

अर्थ—(अमूम्) उस शत्रुसेना को (इन्द्र) हे सम्राट् (प्रजय) जीत, (इमे) ये हमारे सैनिक (अभि) अभिमुख हुई शत्रुसेना को (जयन्तु) जीत लें। इस विजय को (केतुमत्) झण्डों समेत (दुन्दुभिः) सैन्यढोल (वावदीतु) बार-बार उद्घोषित करे। (नः) हमारे (नरः) घुड़सवार नर (अश्वपर्णाः) अश्वरूपी पङ्खों वाले हुए, (संम् पतन्तु) युगपत् शत्रुसेना पर पतन करें, धावा करें, और (अस्माकम्) हमारे (रथिनः) रथारोही सैनिक भी (जयन्तु) विजय प्राप्त करें।

[अश्वपर्णाः=अश्वरूपी पंखों वाले। अश्वारोही सैनिकों को पक्षिरूप कहा है, अश्व मानो उनके पङ्ख हैं। वे मानों वेग से उड़कर शत्रुसेना पर सम्पात करें, मिलकर धावा करें, आक्रमण करें। वावदीतु=वद्+यङ्लुकि+लोट् लकार।

विशेष वक्तव्य—सूक्त १२५ में रथ का, और सूक्त १२६ में दुन्दुभि का वर्णन कवितामय शब्दों में हुआ है। इन दोनों का सम्बन्ध राजा के साथ है। ये दोनों युद्ध के उपकरण हैं, साधन हैं। "**राजसंयोगात् युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति**" (निरुक्त ९.२.११)। रथ के पश्चात् निरुक्त में दुन्दुभिः, इषुधिः आदि युद्धोपकरणों का वर्णन हुआ है। एतदनुसार सूक्त १२५, १२६ में "वनस्पते, आस्थाता, इन्द्रस्य, मरुताम्, मित्रस्य, वरुणस्य, इन्द्रेण", आदि पदों के अर्थ राजसम्बन्धी किये हैं। सूक्त

१. बल होता है हाथी में, और ओजस् होता है सिंह में।

१२५, मन्त्र ३ में मित्रस्य का अर्थ "मित्र राजा" किया है, "An ally, The next neighbour of a King" (आप्टे)।]

सूक्त १२७

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते। विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥

अर्थ—(विद्रधस्य) विदारण[1] शील व्रण विशेष के, (बलासस्य) बलक्षयी खांसी आदि के, (लोहितस्य) रक्त-सम्बन्धी रोगों के, (विसल्पकस्य) विशेष सर्पण करने वाले खाज के (वनस्पते ओषधे) हे वनस्पति रूप ओषधि! तू (पिशितम् चन) मांस को भी (मा उच्छिषः) न शेष रहने दे।

[रोगों के स्वरूप सायणाचार्य के भाष्य के अनुसार कथित किये हैं। पिशितम्=मांस। रोगों का देही रूप में वर्णित जानकर उनके मांस का कथन हुआ है। अभिप्राय यह कि कथित वनस्पति ओषधि रोगों के किसी अंश को भी शेष न रहने दे, सब अंशों का विनाश कर दे। अथवा पिशितम्=**पिश अवयवे** (तुदादिः), इन रोगों के किसी भी अवयव को, अंश को शेष न रहने दे।]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ। वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ—(बलासः) हे बलक्षयकारी रोग [खांसी तथा श्वास रोग] (ते) तेरे (यौ) जो दो विकार (कक्षे) कोख अर्थात् बाहुमूल में (तिष्ठतः) स्थित रहते हैं, और (मुष्कौ) दो अण्डों में (अपश्रितौ) आश्रित रहते हैं, (तस्य) उस विकार की (भेषजम्) औषध को (अहम्, वेद) मैं जानता हूँ, [वह है] (चीपुद्रुः) चीपद्रुः (अभिचक्षणम्) जो कि रोग का साक्षात् दर्शन कर [उसका निवारण कर देती है], **चक्षिङ् अयं दर्शनेऽपि** (अदादिः)। मुष्कौ=**मुष स्तेये** (क्र्यादिः), ये हैं दो अण्ड, जो कि अण्डकोष में छिपे रहते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदा जगती** ॥

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्। परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

अर्थ—(यः) जो (विसल्पकः) विविध अङ्गों में सर्पण करने वाला रोग (अङ्ग्यः) शरीर के अङ्गों में पैदा होता है, (यः) जो (कर्ण्यः) कानों में पैदा होता है, (यः) जो (अक्ष्योः) दो आंखों में पैदा होता है, उस (विसल्पकम्) विसल्पक रोग का (विवृहामः) हम उद्यमन अर्थात् मूलोच्छेद करते हैं। तथा (विद्रधम्=विद्रथम्) विद्रथरोग को, (हृदयामयम्) हृदय के रोग को, तथा (तम्) उस (अज्ञातम्) अप्रकटित लक्षणों वाले (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को, (अधराञ्चम्) जो कि अधराङ्गों में विचरता है (परा सुवामसि) हम परे प्रेरित करते हैं। **षू प्रेरणे** (तुदादिः)। विसल्पकम्=विसर्पकम्, रलयोरभेदः। इस प्रकार के "वर्ण विकार" उच्चारण में प्रायः हो जाते हैं। वर्ण विकार को निरुक्त में "व्यापत्तिः" कहा है। व्यापत्तिः=वर्णव्यापत्तिः।

---

१. सम्भवतः यह कार्बङ्कल (carbuncle) व्रण हो। इसमें छाननी की तरह पास-पास बहुत से छेद होते हैं, मधुमक्षिका के छत्ते की तरह।

सूक्त १२८

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत। भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति॥ १॥

अर्थ—(नक्षत्राणि) नक्षत्रों ने (यद्) जो (शकधूमम्) शक्तिशाली धूम को (राजानम्) अपना राजा (अकुर्वत) किया, तो उन्होंने (अस्मै) इस योगी के लिए (भद्राहम्) सुखदायक और कल्याणकारी दिन मानो (प्रायच्छन्) प्रदान किया, ताकि (इदम्) यह (राष्ट्रम्) राष्ट्र भी (भद्राहम्[1]) सुखदायक तथा कल्याणकारी दिनों वाला (असात् इति) हो जाए, इसलिये।

[मन्त्र का विषय योग-साधना का है। यथा "**नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिक-शशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योग॥**" (श्वेता० उप० २.११)। कोहरा, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, तारे, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा—ये रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने के पूर्वरूप हैं। इनमें खद्योत अर्थात् आकाश के द्युतिमान् तारे नक्षत्र कहे हैं। इन्होंने "धूम" को मित्र राजा माना, क्योंकि इस धूम के प्रकट हो जाने के पश्चात् ही शेष रूप सूर्य आदि प्रकट होते हैं। इन्होंने नीहार अर्थात् कोहरे को राजा नहीं माना। कोहरा तो चक्षु के दबाने पर भी प्रकट हो जाता है। अतः यह योगाभ्यास में अङ्ग नहीं। जिस योगाभ्यासी को "धूम" प्रकट हो जाता है मानो उसके लिए भद्र दिन का उदय हुआ, और उसके राष्ट्र के लिए भी भद्र दिन का उदय हुआ। यह "धूम" "शक" है शक्तिशाली है, क्योंकि अन्य आध्यात्मिक सूर्य आदि के प्रकटीकरण में यह शक्ति रखता है। भद्राहम्=भद्रं च तत् अहश्चेति भद्राहः, समासान्तः टच् (अष्टा० ५.४.९१)।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥ २॥

अर्थ—(भद्राहम्) सुखदायक और कल्याणकारी दिन हो (नः) हमारे लिए (मध्यन्दिने) मध्याह्न में, (भद्राहम्) भद्रदिन (अस्तु) हो (नः) हमारे लिए (सायम्) सायंकाल में। (भद्राहम्) भद्रदिन हो (नः) हमारे लिए (अह्नाम् प्रातः) दिनों के प्रातःकाल में, (भद्राहम्) भद्रदिन हो (नः) हमारे लिए (रात्री) रात्री काल में।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्। भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि॥ ३॥

अर्थ—(शकधूम राजन्) हे राजा रूप शक्तिशाली धूम! (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात से, (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों से, (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा से (त्वम्) तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (भद्राहम्) भद्रदिन (कृधि) कर[2]।

---

१. **भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)।

२. अथवा "प्रतिदिन-रात आध्यात्मिक खद्योतों से, आध्यात्मिक सूर्य-चन्द्रमा से सुखदायक तथा कल्याणकारी दिन, हे शकधूम! तू हमारे लिए कर। आध्यात्मिक खद्योत हैं अभ्यास में चमकते तारागण, आध्यात्मिक सूर्य है अर्क, और आध्यात्मिक चन्द्रमा है शशी" (श्वेता० उप० २.११)।

[अस्मभ्यम्=हम राष्ट्रजनों के लिए (मन्त्र १)। योगाभ्यासी में शकधूम के प्रकट हो जाने पर राष्ट्र के जनों के लिए प्राकृतिक शक्तियां सुखदायक हो जाती हैं[1]।]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा। तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ—(नक्षत्रराज) हे खद्योतों के राजा (शकधूम) शक्तिशाली धूम! (यः) जिस तूने (नः) हमारे लिए (सायम्, नक्तम्, अथो दिवा) सायंकाल, रात्री और दिन में (भद्राहम्) भद्रदिन (अकरः) कर दिए हैं, (तस्मै ते) उस तेरे लिए, (सदा नमः) हम सदा नम्रीभूत[2] हों।

[खद्योत हैं योगाभ्यास में आध्यात्मिक ताराओं का चमकना (श्वेता० उप० २.११)। आध्यात्मिक "शक्तिधूम" है योगाभ्यास में प्रकट "धूम" (श्वेता० उप० २.११)।]

सूक्त १२९

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना। कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

अर्थ—(मेदिना) स्नेही (इन्द्रेण साकम्) विद्युत् के सङ्ग, (शांशपेन=शिंशपा+अण् [तस्येदम्]) "शिंशपा" वृक्ष सम्बन्धी (भगेन[3]) ऐश्वर्य द्वारा (मा) मुझ अर्थात् अपने आप को (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणोमि) मैं करता हूँ, (अरातयः) अदान आदि शत्रु (मा अप) मुझसे अवगत होकर (द्रान्तु) कुत्सित गति को प्राप्त हों।

[मेदिना=**मिदि स्नेहने** (चुरादिः), वर्षा जल द्वारा स्निग्ध इन्द्र अर्थात् विद्युत्। यथा "**वायुर्वा, इन्द्रो वा मध्यस्थानः**" (निरुक्त १०.१.१, १२.४.४१)। इन्द्र मध्यस्थानी अर्थात् अन्तरिक्षस्थानी है, अतः विद्युत् है। शांशपेन=शिंशपा की समिधा रूपी भग द्वारा। मा=आहुतिप्रदाता मैं, अपने आप को। इन आहुतियों द्वारा विद्युत् की वृद्धि होकर, विद्युत् वर्षा करती है, और ऐश्वर्य बढ़ता है। द्रान्तु=**द्रा कुत्सायां गतौ** (अदादिः) [अथवा "**द्राति गतिकर्मा**" (निघं० २.१४), अतः अपद्रान्तु=अपगच्छन्तु। भगेन= **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥** "शिंशपा" सम्भवतः शीशमवृक्ष है। सभी वृक्ष विद्युत्-जन्य वर्षा से उत्पन्न होते हैं। शीशम बहुमूल्य वृक्ष होता है। अतः शीशमरूपी ऐश्वर्य की प्राप्ति से अदान आदि अराति अपगत हो जाते हैं। यह भावना मन्त्र में प्रतीत होती है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह। तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

अर्थ—हे इन्द्र [विद्युत्] (येन, भगेन, वर्चसा, सह) जिस निज ऐश्वर्य और दीप्ति के साथ तू (वृक्षान्) वृक्षों को (अभ्यभवः) अभिभूत, पराभूत करता है, (तेन) उस द्वारा (मा) मुझे (भगिनम्)

---

१. पूर्णयोगी को प्राकृतिक शक्तियों पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। वह राष्ट्र के लिए प्राकृतिक शक्तियों द्वारा सुख प्रदान करा सकता है (योगा ३.४४, ४८, ४९)।

२. नम्रीभूत होना इसलिए कि यह आध्यात्मिक "धूम" ब्रह्माभिव्यक्ति में प्रथम सोपान है, यह ब्रह्माभिव्यक्ति में मार्गदर्शक है।

३. **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**

ऐश्वर्य-वाला (कृणु) कर, (अरातयः अपद्रान्तु) अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र १)।

[इन्द्र अर्थात् विद्युत् के प्रपात द्वारा जङ्गल जल कर कोइला हो जाते हैं। कोइला ऐश्वर्य रूप है। इस ऐश्वर्य की प्राप्ति से, अदान आदि अराति अपगत हो जाते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भगः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः। तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः॥ ३॥

अर्थ—हे इन्द्र [विद्युत्]! (यः) जो (अन्धः भगः) अन्नरूपी भग अर्थात् ऐश्वर्य, तथा (यः) जो (पुनःसरः) बार-बार सरण करता हुआ आता है, जो (वृक्षेषु) वृक्षों में (आहितः) स्थित होता है, (तेन) उस द्वारा (मा) मुझे (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अप द्रान्तु अरातयः) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र १॥

[यह अन्नरूपी भग है, नानाविध फल। ये ऐश्वर्यरूप हैं, और बार-बार सरण करते हुए प्रतिवर्ष वृक्षों पर आते हैं। वर्ष के पश्चात् आते हैं, अतः इनके आने की गति को सरण करना कहा है। सरण है शनैः-शनैः गति करना, सरकना। **अन्धः अन्ननाम** (निघं० २.७)। अन्धः="**अन**" **प्राणने**+"**धा**" **धारण-पोषणयोः** जिस द्वारा प्राण का शरीर में धारण होता, और शरीर पुष्ट होता है, वह अन्धस् है फलरूपी अन्न है।]

सूक्त १३०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**विराट् पुरस्ताद् बृहती**॥

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ १॥

अर्थ—(रथजिताम्) शरीर-रथ पर विजय पाने वाली, (राथजितेयीनाम्) शरीर रथ पर विजय पाने वालों की सम्बन्धिनी, (अप्सरसाम्) रूपवती पत्नियों सम्बन्धी (अयम्) यह (स्मरः) स्मरण या कामवासना है। (देवाः) हे दिव्य शक्तियो! (स्मरम्) स्मरण या कामवासना को (प्रहिणुत) प्रेरित या प्रबुद्ध करो (असौ) ताकि वह [मेरा पति] (माम्) मुझ को अर्थात् मेरा (अनु) अनुस्मरण कर (शोचतु) शोकान्वित हो।

[सूक्त १३०, १३१, १३२ में स्मरण या स्मर का वर्णन है। गृह कलह के कारण पति रुष्ट होकर गृह त्याग कर चला गया है, तब पत्नी के उद्गारों का वर्णन इन तीन सूक्तों में किया गया है। वैदिक पत्नियां अपने शरीर रथों पर विजय पाई हुई हैं, और शरीर रथों पर विजय पाए पतियों की पत्नियां हैं अतः वे निजपतियों के प्रति ही अनुराग वाली हैं। अतः कारणवश पति वियोग में पति के वापिस आ जाने की कामना करती रहती हैं। रूपवती होती हुई भी पर पुरुष की कामना नहीं करतीं, ऐसा अभिप्राय इन तीन सूक्तों का है। मन्त्र में "देवाः"[1] का अभिप्राय इन सूक्तों में स्पष्ट हो जाएगा। रथ=शरीर "**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु**" (कठ० ३.३)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २॥

अर्थ—(असौ) वह (मे) मुझे (स्मरतात् इति) स्मरण करे, (प्रियः) मेरा प्रिय (मे) मुझे (स्मरतात्

---

१. सूक्त में देवाः=मरुतः, मानसून वायुएँ आदि (सूक्त १३०.४)। कवि सम्प्रदायानुसार वर्षर्तु मेघ गर्जन, तथा तत्सामयिक मोहक दृश्य, स्मरोद्रेक पैदा कर वियोगी पति-पत्नी को व्याकुलित कर उन में सांमनस्य पैदा कर देते हैं। देवाः का अर्थ मादक-दृश्य भी हैं। **दिवु क्रीडामोद**"**मद**" आदि (दिवादिः)।

इति) स्मरण करे, (देवाः) हे दिव्य शक्तियो! (स्मरम्) कामवासना को (प्रहिणुत) उसमें प्रेरित तथा प्रवृद्ध करो, (असौ) ताकि वह (माम् अनु) मेरा अनुस्मरण करके (शोचतु) शोकान्वित हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (असौ) वह [पति] (मम स्मरात्) मेरा स्मरण करे, परन्तु (अहम्) मैं [पत्नी] (अमुष्य) उसका (न) न (कदाचन) कभी भी [स्मरण करुं], इसलिए (देवाः······शोचतु) अर्थ पूर्ववत् मन्त्र (१)।

[पति के दुर्व्यवहार अर्थात् गृहत्याग द्वारा प्रकुपित हुई पत्नी का कथन मन्त्र में है। पत्नी नहीं चाहती कि स्मर का उद्रेक उसमें हो ताकि वह पति का स्मरण करे। इसमें वह अपनी पराजय समझती है। इसलिए वह चाहती है कि स्मर का उद्रेक उसके पति में हो जिससे प्रेरित होकर वह गृह में वापिस लौट आए। मम स्मरात्=कर्मणि षष्ठी; "**अधीगर्थ**" (अष्टा० २.३.५२)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय। अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु॥ ४॥

अर्थ—(मरुतः) हे मानसून वायुओ! (उन्मादयत) उन्मत्त करो [स्मर के उद्रेक द्वारा], (अन्तरिक्ष) हे मेघाच्छन्न अन्तरिक्ष (उन्मादय) तू भी उसे उन्मत्त करदे। (अग्ने) हे मेघ में चमकने वाली वैद्युताग्नि! (त्वम्) तू भी (उन्मादय) पति को उन्मत्त कर, ताकि (असौ) वह पति (माम्) मेरा (अनु) अनुस्मरण करके (शोचतु) शोकग्रस्त हो जाए।

[कविसम्प्रदायानुसार वर्षा ऋतु स्मरोद्दीपिका है। अतः विरहिता पत्नी मरुतः को सम्बोधित करती है, पति के वापिस लौट आने के लिए। मरुतः (अथर्व० ४.२७.४; ५)।]

सूक्त १३१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ १॥

अर्थ—(शीर्षतः) हे पति! मेरे सिर में (आध्यः) चिन्ताओं को (नि तिरामि) मैं पत्नी नितरां प्राप्त कराती हूँ, (पत्ततः) पैरों में अर्थात् शरीर के अधोभाग में (नि) नितरां चिन्ताएँ प्राप्त कराती हूँ। (देवाः······शोचतु) अर्थ पूर्ववत्, सूक्त (१३०)।

अर्थ—शीर्षतः पत्ततः=सार्वविभक्तिकः तसिः, सप्तम्यर्थे। पत्नी निज चिरन्तन विरह द्वारा पति के अङ्गों में चिन्ताएँ प्राप्त कराती है, और देवों से स्मरोद्दीपन की याचन द्वारा स्मरोद्रेक कर पति को वापिस आ जाने में बाधित करती है। तिरामि="**तिरः सत इति प्राप्तस्य**" (निरुक्त ३.४.२०)। पत्ततः=एकः "तः" छान्दसः, "पत्तः" इति स्यात्।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनुमतेन्विदं मन्यस्वाकूते समिदं नमः। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु॥ २॥

अर्थ—(अनुमते) हे अनुकूल मति वाले [पति]! (अनुमन्यस्व) तू मेरे अनुकूल मति वाला हो जा,

(आकूते) हे पतिनिष्ठ संकल्प! (इदम्) इस अनुमनन को (सम् नमः) सम्यक् प्रकार नम्रीभूत कर दे। (देवाः·····शोचतु) अर्थ पूर्ववत्।

[अनुमतिः=अनुमन्यते इति; कर्तरि क्तिन्।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता॥ ३॥

अर्थ—(यत्) जो (त्रियोजनम्) तीन योजनों में परिमित दूर देश में (धावसि) तू चला गया है, (पञ्च योजनम्) या पांच योजनों में परिमित दूर देश में, अथवा (आश्विनम्) अश्व द्वारा प्रापणीय दूर देश में तू चला गया है, तो भी (ततः) वहां से (त्वम्) हे पति! तू (पुनः आ अयसि) फिर वापस आ जा, और (नः) हमारे अपने (पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता असः) पिता हो जा, रक्षक हो जा।

[योजन=८ या ९ मील (आप्टे)। त्रियोजन=२४ या २७ मील। पञ्च योजन=४० या ४५ मील। धावसि=चला गया है, या दौड़ गया है।]

सूक्त १३२

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**त्रिपादनुष्टुप्**॥

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ १॥

अर्थ—(देवाः) मादक[1] प्राकृतिक तत्त्वों ने (यम्, स्मरम्) जिस स्मर को, (आध्या सह) मानसिक चिन्ता के साथ (शोशुचानम्) शोकित करते हुए, (अप्सु अन्तः) शारीरिक जलों के भीतर (असिञ्चन्) सींच दिया है (ते, तम्) तेरे उस स्मर को (वरुणस्य) जलाधिपति वरुण के (धर्मणा) धर्म द्वारा (तपामि) मैं पत्नी सन्तापकारी करती हूं।

[अप्सु अन्तः=जलों के भीतर। यह जल साधारण जल नहीं, अपितु शारीरिक जल है—रक्त रूपी जल। इन जलों में स्मर और मानसिक चिन्ताओं का निवास है, जो कि स्त्री-पुरुष को शोक युक्त करता है। पत्नी निज विरह के द्वारा, पति को और अधिक स्मर-संतापयुक्त करती है, ताकि वह निज संताप के शासन के लिए पत्नी के पास लौट आए। वरुण रक्तरूपी जल का भी अधिपति है, और विरह में इस जल द्वारा संतापित करना उसका स्वाभाविक धर्म है। मन्त्र में कोई अश्लील भावना नहीं। ये तो गृहस्थ धर्म की अङ्गीभूत स्वाभाविक भावनाएँ हैं।]

---

१. देवाः=**दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोद 'मद' स्वप्नकान्तिगतिषु** (दिवादिः)। ये देव शक्तियां हैं। जिसका प्रतिपादन "क्रीड़ा आदि द्वारा हुआ है। "अप्सु अन्तः" द्वारा शारीरिक जल भी अभिप्रेत हो सकते हैं। यथा—

को अस्मिन्नापो व्यदधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥ अथर्व० १०.२.११॥

मन्त्र में, पुरुषे आपः, तीव्राः, करुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः आदि पद शारीरिक रक्तरूपी जल के सूचक हैं। मन्त्र की विशेष व्याख्या के लिए मत्कृत अथर्ववेद भाष्य देखो (अथर्व० १०.२.११)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**(महा) बृहती**॥

यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।

तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ २॥

अर्थ—(विश्वे देवाः) संसार के अन्य 'मादक-तत्त्व' जो कि जीवन के घटक हैं, यथा पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्राएँ, इन्द्रियां, तथा मन। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।

तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा की चेतनता। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)। इन्द्र=जीवात्मा (अष्टा० ५.२.९३)।

[जीवात्मा की चेतनता शरीर को चेतन सा बनाए रखती है, जीवात्मा जब शरीर का त्याग कर देता है तो शरीर में चेतनता भी नहीं रहती। शरीर की चेतनता की सत्ता में, शरीर में स्मर की भी सत्ता होती है। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**(महा) बृहती**॥

यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।

तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्राग्नी) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा, और उसकी अग्नि अर्थात् ज्ञानाग्नि। जीवात्मा की राजस और तामस ज्ञानाग्नियां शरीर में स्मर का सञ्चार करती हैं। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**(महा) बृहती**॥

यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।

तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ५॥

अर्थ—(मित्रावरुणा) प्राण और अपान। शेष पूर्ववत् मन्त्र (१)।

[प्राण है बाहर की वायु का नासिका द्वारा फेफड़ों और शरीर में प्रवेश तथा अपान है शरीर से उसका अपगत होना। अपान द्वारा शरीर के मल के निकल जाने से शरीर की शुद्धि होती रहती है। इस दृष्टि से गुदा द्वारा वायु भी अपगत हुई पेट को शुद्ध करती है। अतः इस वायु को भी अपान कहते हैं। प्राण और अपान की सत्ता में शरीर में स्मर की सत्ता होती है। प्राण अपान सर्व प्राणियों में विद्यमान रहते हैं, अतः स्मर की सत्ता भी सर्वप्राणिसमान है।]

विशेष—सूक्त १३०, १३१, १३२ में किसी ऐतिहासिक वृत्त का कथन नहीं। पति-पत्नी के परस्पर मनोमालिन्य में गृहजीवन में जो स्थिति प्रायः उपस्थित हो जाती है, उसी का कथन इन सूक्तों में हुआ है।

सूक्त १३३

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात्स उ नो वि मुञ्चात्॥ १ ॥

अर्थ—(यः देवः) जिस आचार्य देव ने (इमाम् मेखलाम्) इस मेखला को (आबबन्ध) [हम से पूर्व के ब्रह्मचारियों को] बान्धा, (यः) जिसने (सं ननाह) वर्तमान में सन्नद्ध किया, तय्यार किया, और (यः) जिसने (उ) ही (नः) हमारे साथ (युयोज) उसे संयुक्त किया; (यस्य) और जिस (देवस्य) आचार्य देव के (प्रशिषा) प्रशासन द्वारा (चरामः) हम ब्रह्मचर्याश्रम में विचरते हैं, (सः) वह (पारम्) ब्रह्मचर्य-समुद्र से पार करना (इच्छात्) चाहे, (सः उ) वह ही (नः) हमें (विमुञ्चात्) मेखला से विमुक्त करे।

[कौशिक सूत्र ५७.१ में उपनयन कर्म में सूक्त का विनियोग किया है। "आचार्यदेवो भव" के अनुसार मन्त्रोक्त "देव" आचार्य देव है। ब्रह्मचर्याश्रम रूपी समुद्र है, जिससे ब्रह्मचारी को आचार्य पार करता है, और इस समुद्र से पार होते हुए ब्रह्मचारी को मेखला से नियुक्त करता है। मेखला है ब्रह्मचर्य की सूचिका। ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर ब्रह्मचारी ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना है। अतः आचार्य ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की सूचिका मेखला से वियुक्त करता है।]

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम्। पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले॥ २ ॥

अर्थ—[हे मेखले!] (अभिहुतः) ब्रह्मचारी के प्रति दी गई तू, (आहुता असि) ब्रह्मचारी की तपस्-रूपी अग्नि में आहुति रूप हुई है, (ऋषीणाम्) ऋषियों का (आयुधम्) शस्त्र रूप (असि) तू है। (व्रतस्य) ब्रह्मचर्यव्रत के सम्बन्ध में (पूर्वा) पहिले [ब्रह्मचारी को] (प्राश्नती) विशेषतया प्राप्त होती हुई तू (मेखले) हे मेखला! (वीरघ्नी) वीरों को प्राप्त होने वाली (भव) हो।

[अभिहुता=अभि+**हु (दाने,** जुहोत्यादिः)। ऋषि हैं मन्त्रद्रष्टा तथा मन्त्रार्थद्रष्टा। वेदाविर्भावकाल में चार ऋषियों को वेद आविर्भूत हुए थे, वे हैं मन्त्रद्रष्टा; तदनन्तर के ऋषि वेदार्थद्रष्टा हैं। ऋषियों का सम्बन्ध मन्त्रों अर्थात् वेदों के साथ है। ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी वेदों का स्वाध्याय करते हैं, इसमें बाधक है ब्रह्मचर्य का विप्लुत होना। मेखला का बन्धन उन्हें अविप्लुत ब्रह्मचारी होने के व्रत का स्मरण कराता रहता है, इस दृष्टि से मेखला शस्त्र का काम करती है। प्राश्नती=प्र+**अशूङ् व्याप्तौ**। व्याप्तिः=वि+आप्तिः (प्राप्तिः)। वीरघ्नी=वीर+**हन् (हिंसागत्योः)** यहां गत्यर्थ अभिप्रेत है। गतेः त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। वीरघ्नी पद में प्राप्ति अर्थ अभिप्रेत है। वे ब्रह्मचारी वीर हैं जो कि १२ वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन कर ब्रह्मचर्याश्रमरूपी समुद्र से पार हो जाते हैं। शास्त्र अनुसार "**द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण**" का विधान है।]

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन्भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥ ३ ॥

अर्थ—(यत्) जो (मृत्योः[१]) मृत्यु का (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अहम् अस्मि) मैं हूँ, (अहम्) वह मैं (यमाय) यम-नियमों के पालन के लिए, (भूतात्) सत्स्वरूप परमेश्वर से (पुरुषम्) पुरुष=मनुष्य की (निर्याचन्) याचना करता हुआ, (तम्, एनम्) इस पुरुष=मनुष्य को (ब्रह्मणा) वेदाध्ययन द्वारा, (तपसा) तपश्चर्या द्वारा, (श्रमेण) परिश्रम द्वारा, तथा (अनया मेखलया) इस मेखला द्वारा (सिनामि) मैं बान्धता हूँ अपने साथ सम्बद्ध करता हूँ।

[ब्रह्मचर्याश्रम के आचार्य का कथन मन्त्र में है। आचार्य स्वयं भी ब्रह्मचारी है। यथा "**आचार्यो ब्रह्मचारी**" (अथर्व० ११.५. १६)। ब्रह्मचारी, आचार्य है, गृहस्थोत्तर वानप्रस्थी। ब्रह्मचारियों का गुरु भी ब्रह्मचारी हो, यह आदर्श सिद्धान्त है। वह मृत्यु अर्थात् परमेश्वर का ब्रह्मचारी है। परमेश्वर को वह निज गुरु मानता है, आश्रम के चलाने में पथदर्शक मानता है। मृत्यु है परमेश्वर, यथा "**स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभवं स रक्षः**" (अथर्व० १३.४(३).२५)। भूतात्=**भू सत्तायाम्**+क्तः (कर्तरि), भूतः=भवति, सत्तावान् इति। परमेश्वर सत्तावान् है, सत्स्वरूप है।]

ऋषिः—**अगस्त्यः**॥ देवता—**मेखला**॥ छन्दः—**जगती**॥

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च॥ ४॥

अर्थ—[मेखला] (श्रद्धायाः) श्रद्धा की (दुहिता) पुत्री है, (तपसः अधि) तपस् से (जाता) पैदा हुई है, (भूतकृताम्) सत्स्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर्मों के करने वाले (ऋषीणाम्) ऋषियों की (स्वसा) बहिन (बभूव) हुई है। (सा) वह तू (मेखले) हे मेखला! (नः) हमारे लिए या हम में (मतिम्) मननशक्ति का (आधेहि) आधान कर, (मेधाम्) मेधा का आधान कर, (अथो) तथा (तपः) तपश्चर्या, (च) और (इन्द्रियम्) आत्मिक बल का (नः) हमारे लिए या हम में (धेहि) आधान कर।

[मन्त्र में मेखला का वर्णन है जो कि ब्रह्मचर्य की सूचिका है। श्रद्धावान् व्यक्ति ही ब्रह्मचर्यपूर्वक तपश्चर्या द्वारा वेदाध्ययन कर सकते हैं। मेखला मानो दुहिता के सदृश ब्रह्मचारियों की कामनाओं को पूर्ण कर सकती है; दुहिता=**दुह प्रपूरणे** (अदादिः) मेखला ऋषियों की स्वसा अर्थात् बहिन है, तद्वत् उपकारिणी है। स्वसा="स्व" अर्थात् स्वीय ऋषियों की ओर सरण करने वाली। भूतकृताम्="मध्यपदलोपी समास", अर्थात् सत्स्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करने वाले। मति=मनन शक्ति। मेधा=श्रुत का धारण करने वाली शक्ति। इन्द्रियम्=इन्द्र जीवात्मा, उसका बल, अर्थात् आत्मिक बल।]

ऋषिः—**अगस्त्यः**॥ देवता—**मेखला**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मा दीर्घायुत्वाय मेखले॥ ५॥

अर्थ—(याम् त्वा) जिस तुझ को (पूर्वे) पूर्वकाल के, (भूतकृतः) सत्स्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करने वाले (ऋषयः) ऋषियों ने (परि बेधिरे) कटि भाग के चारों ओर बान्धा, (सा) वह (त्वम्) तू (मेखले) हे मेखला! (मा) मुझे (परिष्वजस्व) कटिभाग के चारों ओर आलिङ्गित कर, (दीर्घायुत्वाय) मेरी दीर्घ आयु के लिए।

---

१. देखो नचिकेता और मृत्यु का संवाद (कठ-उपनिषद्)।

[पूर्वे ऋषयः=पूर्व सृष्टि के ऋषि, या मुझसे पूर्वकाल के ऋषि। बेधिरे=निज ब्रह्मचर्य कालों में। दीर्घायुत्वाय=मेखला ब्रह्मचर्य को सूचित करती है। ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान् और नीरोग होकर दीर्घायु वाला होता है। मेखला=तड़ागी, कटिबन्ध।

तपसा

तपस् के सम्बन्ध में योगदर्शन में उल्लेख। यथा—

नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्मोहमापद्यते इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेना-सेव्यमिति मन्यते (साधनपाद, सूत्र १)।

''अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता। अनादि कर्मों और क्लेशों की वासनाओं से चित्रित, अत एव विषय जाल वाली अशुद्धि, विना तप के छिन्न-भिन्न नहीं हो सकती, इसलिए तप का कथन किया है। वह तप वहीं तक करना चाहिए जहां तक कि चित्त की प्रसन्नता बनी रहे।''

तपः द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघांत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च। (साधनपाद, सूत्र ३२ पर व्यास भाष्य)। काष्ठमौन=इशारे द्वारा भी निज अभिप्राय को प्रकाशित न करना। आकारमौन=वाणी द्वारा न बोलना। स्थानासने=खड़ा होना और बैठना।]

सूक्त १३४

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वज्रः**॥ छन्दः—**परानुष्टुप् त्रिष्टुप्**॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १॥

अर्थ—(अयम्, वज्रः) यह वज्र (ऋतस्य राष्ट्रम्) सत्य पर आश्रित राष्ट्र को (तर्पयताम्) तृप्त करे, और (अस्य) इस शत्रु के (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (अप हन्तु) नष्ट करे, (जीवितम्) और इसके जीवन को (अप हन्तु) नष्ट करे। (ग्रीवाः) शत्रु की ग्रीवा की अस्थियों को (शृणातु) काट दे, (उष्णिहाः) और रक्तस्नात नाड़ियों को (प्र शृणातु) काट दे, (इव) जैसे (शचीपतिः) इन्द्र [अर्थात् विद्युत्] (वृत्रस्य) अन्तरिक्ष को घेरे हुए मेघ के अवयवों को काटता है। [उष्णिहाः=उत्स्नातास्तत्रत्या धमनीः (सायण)।]

[सूक्त में वज्रपद द्वारा वज्रवत् कठोर या वज्रधारी सेनापति का वर्णन, अथवा कविता में वज्र का ही वर्णन जानना चाहिए। **ऋतम् सत्यनाम** (निघं० ३.१०)।]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वज्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिपदा गायत्री**॥

अधरोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत्। वज्रेणावहतः शयाम्॥ २॥

अर्थ—(उत्तरेभ्यः) उत्कृष्ट राजाओं से (अधरः) नीच और (अधरः) अति नीच यह शत्रु राजा (गूढः) पृथिवी से ढका हुआ, (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्) ऊपर (सृपत् मा) सर्पण न करे। (वज्रेण) वज्र द्वारा (हतः) मारा हुआ (अव) पृथिवी के नीचे (शयाम्=शेताम्) सोया पड़े।

[उत्तरेभ्यः=उत्कृष्ट राजा वे हैं जिनके सम्बन्ध में ''तर्पयताम्'' (मन्त्र १) कहा है। शयाम्=**लोपस्त आत्मनेपदेषु** (अष्टा० ७.१.४१) द्वारा ''त्'' का लोप।]

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—वज्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि।

जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय॥ ३ ॥

अर्थ—(यः) जो (जिनाति) हमारी वयोहानि करता है (तम्) उसे (अन्विच्छ) तू ढूंढ, (यः) जो (जिनाति) हमारी वयोहानि करता है (तम्) उसको (इत्) ही या अवश्य (जहि) मार। (वज्र) हे वज्रधारी! (त्वम्) तू (जिनतः) वयोहानि करने वाले के (सीमन्तम्) सिर के मध्यदेश को (अन्वञ्चम्) नीचे की ओर झुका कर (अनु पातय) तदनुसार गिरा दे।

[सीमन्तम्=सीम्नः अन्तः तम्, शिरसो मध्यदेशम् (सायण)।]

सूक्त १३५

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—वज्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे। स्कन्धानमुष्य शातयन्वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १ ॥

अर्थ—(यत्) जो (अश्नामि) मैं खाता हूँ, (बलम्, कुर्वे) और बल को प्राप्त करता हूँ या व्यायाम करता हूँ, (इत्थम्) इस प्रकार (वज्रम्) वज्र का (आददे) मैं ग्रहण करता हूँ। (शचीपतिः) इन्द्र [विद्युत्] (इव) जैसे (वृत्रस्य) मेघ के (स्कन्धान्) अवयवों को काटता है, वैसे मैं (अमुष्य) उस शत्रु के स्कन्ध आदि अवयवों को (शातयन्) काटता हुआ होऊं।

[मन्त्र में पुरुषविधि में शत्रु का वर्णन हुआ है, पुरुषविधि का अभिप्राय है "Personification", अर्थात् जड़ पदार्थों में मनुष्य के गुण आरोपित करना। इस विधि को वेदों में प्रायः अपनाया है। तथा देखो निरुक्त (७.२.६.७)। मन्त्र में शत्रु हैं काम, क्रोध, लोभ आदि। मन्त्र २, ३ में भी शत्रु ये ही जानने चाहिएँ। वज्र का अभिप्राय है "ब्रह्मचर्य"।

वृत्रस्य=**तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः** (निरुक्त २.५.१६)। नैरुक्त दृष्टि में जब वृत्र है मेघ, तब उसके स्कन्ध आदि अवयव वास्तविक संभव नहीं हो सकते, वे काल्पनिक ही हैं। इसी प्रकार काम, क्रोध, मोह आदि आध्यात्मिक शत्रुओं के अङ्गों की सत्ता भी काल्पनिक ही है।]

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—वज्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यत्पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः।

प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम्॥ २ ॥

अर्थ—(यत्) जो (पिबामि) मैं पीता हूँ (सं पिबामि) सम्यक् रूप में पीता हूँ, (समुद्रः इव) समुद्र की तरह (सं पिबः) सम्यक् रूप में पीता हूँ, (अमुष्य) उस शत्रु के (प्राणान्) प्राणों को (संपाय) सम्यक् रूप में पीकर (वयम्) हम (अमुम्) उसे भी (सं पिबामः) सम्यक् रूप में या मिलकर पी जाते हैं।

[काम, क्रोध, लोभ आदि आध्यात्मिक शत्रुओं के प्राण हैं तत्सम्बन्धी वासनाएँ। इन वासनाओं को पीने का अभिप्राय है इन वासनाओं का भी नियन्त्रण करना, नष्ट करना। इन वासनाओं के नष्ट हो जाने पर इन वासनाओं के विषय स्वतः प्रभावरहित हो जाते हैं, सत्तारहित सदृश हो जाते हैं। यथा "**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**" (गीता)। निराहारस्य=इन्द्रियों

द्वारा विषयों का सेवन न करने वाले के विषय निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु इन विषयों के रस अर्थात्—वासनाएँ बनी रहती हैं, जिन का विनिवर्तन केवल आध्यात्मिक उपायों द्वारा ही होता है। स पिबः=पिबतेः कर्तरि "शः"+पिबादेशः।]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यद्गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः। प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम्॥ ३ ॥

अर्थ—(यद् गिरामि) जो मैं निगलता हूँ (सं गिरामि) सम्यक् रूप में निगलता हूं, (समुद्रः इव) समुद्र की तरह (सं गिरः) सम्यक् रूप में निगलता हूँ, (अमुष्य) उस कामादि शत्रु के (प्राणान्) प्राणों को (सं गीर्य) सम्यक् रूप में निगल कर, (अमुम्) उसे भी (वयम्) हम (सं गिरामः) सम्यक् रूप में या मिलकर निगल जाते हैं।

[काम, क्रोध आदि शत्रु के प्राण हैं तत्सम्बन्धी वासनाएँ। वासनाओं के अभाव में तत्सम्बन्धी विषय स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं। मन्त्रों में अश्नामि, पिबामि, गिरामि द्वारा भोजन के खाने के प्रकारों का वर्णन हुआ है। "अश्नामि" खाना है चबाना, और "गिरामि" है गले द्वारा पेट में अन्न पहुँचाना, और इसके लिए "पिबामि" है जल पीना। कामादि को खाना, पीना, निगलना, निरुक्त प्रदर्शित "पौरुषविधि"[१] द्वारा उपपन्न होता है।]

सूक्त १३६

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)** ॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि॥ १ ॥

अर्थ—(ओषधे) हे ओषधि! (देवी, देव्याम्, पृथिव्यामधि) देवी तू दिव्यगुणों वाली, पृथिवी में (जाता असि) पैदा हुई है, (नितत्नि) हे नितरां या नीचे फैलने वाली! (तां त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः) केशों के लिए (दृंहणाय) दृढ़ीकरणार्थ (खनामसि) हम खोदते हैं।

[ओषधि=काचमाची प्रभृति (सायण)। नितत्नि=नि+तन् (विस्तारे+क्रिः[२], द्विर्वचनम्। मन्त्रों में प्रायः ओषधियों के गुणधर्मों का कथन होता है, ओषधि के नाम का निर्देश नहीं होता। गुणधर्मों के अनुसार ओषधि का ज्ञान करना होता है। अथवा "देवी" पद द्वारा ओषधि के नाम का ही कथन किया है। यथा "सहदेवी" ओषधि के नाम में "देवी" पद है, वैसे सम्भवतः किसी ओषधि के अर्धनाम को देवी पद द्वारा सूचित किया हो, जैसे देवदत्तः है देवः या दत्तः। अथवा "देवी" पद ही ओषधि का नाम हो।]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)** ॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥
छन्दः—**द्विपदा साम्नी बृहती (एकावसाना)** ॥

दृंह प्रत्नाञ्जनयाजाताञ्जातानु वर्षीयसस्कृधि॥ २ ॥

अर्थ—हे ओषधि! (प्रत्नान्) पुराने केशों को तू (दृंह) दृढ़ कर, (अजातान्) अनुत्पन्नों को

---

१. यथा "**चेतनावद् हि स्तुतयो भवन्ति, अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथा अक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि**" (निरुक्त ७.२.७)।

२. "**आदृगमहन**" (अष्टा० ३.२.१७१) द्वारा "किः" लिड्वद्भावात् द्विर्वचनम् (सायण)।

(जनय) पैदा कर, (जातान् उ) और उत्पन्नों को (वर्षीयस:) प्रवृद्ध (कृधि) कर।

ऋषि:—**वीतहव्य: (केशवर्धनकाम:)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते। इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा॥ ३॥

अर्थ—(ते) तेरा (य:) जो (केश:) केश (अव पद्यते) टूट कर नीचे गिर जाता है, (य: च) और जो (समूल:) जड़ समेत (वृश्चते) कट जाता है, (इदम्) इसे और (तम्) उसे (विश्वभेषज्या) केशों के सब रोगों की ओषधि रूप (वीरुधा) वीरुध् द्वारा (अभिषिञ्चामि) मैं सींचता हूँ।

[विश्वभेषजी सम्भवत: ओषधि का नाम हो, जिसे कि मन्त्र (१) में देवी कहा है। अथर्व० (६.५२.३) में विश्वभेषजी के सम्बन्ध में सायणाचार्य ने कहा है कि "शान्तौषधीं" "शमीम्" वा। "अभिषिञ्चामि" द्वारा "विश्वभेषजी" वीरुध् के रस द्वारा केशों को सींचने का कथन हुआ है।]

सूक्त १३७

ऋषि:—**वीतहव्य: (केशवर्धनकाम:)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यां जमदग्निरखनद्दुहित्रे केशवर्धनीम्। तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्य:॥ १॥

अर्थ—(केशवर्धनीम्) केशों को बढ़ाने वाली (याम्) जिस ओषधि को (जमदग्नि:) प्रज्वलित अग्नि वाले वानप्रस्थी (दुहित्रे) दुहिता सदृश कन्याओं के लिए (अखनत्) खोदा, (ताम्) उस ओषधि को (असितस्य) काले सांपों के (गृहेभ्य:) घरों अर्थात् जङ्गलों से, (वीतहव्य:) विगतहविष्क संन्यासी ने, (आ अभरत्=आ अहरत्) प्राप्त किया।

[काले सांप अति विषैले होते हैं, प्राय: जङ्गलों में होते हैं। वानप्रस्थी भी वनों में रहते हैं। उदारहृदय परोपकारी वानप्रस्थी केशवर्धनी ओषधि को कन्याओं के केश रोग के निवारण के लिए खोद रखते हैं, और परोपकारी संन्यासी जब प्रचारार्थ गृहस्थों के घरों में जाते हैं तो उस ओषधि को कन्याओं में बांट देते हैं। असितस्य=अ+सित (श्वेत), काला सांप। मन्त्र में असितस्य, दुहित्रे, जमदग्नि:, वीतहव्य:—ये जात्येकवचन के प्रयोग हैं। कन्याओं के यदि केश न हों, वे गञ्जी हों तो उनका विवाह नहीं हो सकता। अत: केशवर्धनी ओषधि को खोद कर, उसका संग्रह कर रखना, और उसका वितरण करना सामाजिक अत्युपकार है। वानप्रस्थियों के लिए यज्ञ करने की विधि है, संन्यासी वीतहव्य होते हैं, हवियों से विगत होते हैं।]

ऋषि:—**वीतहव्य: (केशवर्धनकाम:)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अभीशुना मेया आसन्व्यामेनानुमेया:।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिता: परि॥ २॥

अर्थ—(केशा:) जो केश (अभीशुना) अङ्गुलियों द्वारा (मेया:) मापने योग्य (आसन्) थे, वे (अनु) ओषधि के प्रयोग के पश्चात् (व्यामेन) व्याम द्वारा (मेया:) मापने योग्य हो गये हैं। (ते) तेरे (शीर्ष्ण: परि) सिर के चारों ओर (असिता:) काले केश (नडा: इव) नड़ की तरह (वर्धन्ताम्) बढ़ें।

[**अभीशव:, अङ्गुलिनाम** (निघं० २.५)। व्यामेन=प्रसारित बाहु और प्रसारित हस्ताङ्गुलियों के कानों तक की लम्बाई (आप्टे)। असितस्य=काला सांप (मन्त्र १), और असिता:=काले केश।]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)** ॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे।

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥ ३ ॥

अर्थ—(ओषधे) हे ओषधि! (मूलम्) केशों की जड़ को (दृंह) तू दृढ़ कर, (अग्रम्) केशों के अग्रभाग को (आ यच्छ) लम्बा कर, (मध्यम्) केशों के मध्य भाग को (वि यामय) विशेषतया नियन्त्रित कर सुदृढ़ कर (केशाः नडा इव.....परि), अर्थ, मन्त्र (२) की तरह।]

सूक्त १३८

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे। इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि॥ १ ॥

अर्थ—(ओषधे) हे ओषधि! (त्वम्) तू (वीरुधाम्) लताओं में (श्रेष्ठतमा) सर्वश्रेष्ठ (अभिश्रुता) प्रसिद्ध (असि) है, (अद्य) आज (मे) मेरे (इमम्) इस (पूरुषम्) व्यभिचारी पुरुष को (क्लीबम्) नपुंसक अर्थात् हिजड़ा, और (ओपशिनम्) ओपश वाला (कृधि) कर।

[मन्त्र में ओषधि का नाम नहीं दिया। "अद्य" का अर्थ है आज। ओषधि शीघ्र प्रभावकारिणी है जोकि एक ही दिन में सफलता दे सकती है। ओपश है स्त्रियों के सिर का आभूषण। व्यभिचारी पुरुष के क्लीब हो जाने पर उसे ओपश पहना दिया जाए ताकि सर्वसाधारण को यह ज्ञात हो जाए कि यह व्यभिचारी है, अतः क्लीब कर दिया गया है। यह ओषधि वीर्य का नाश कर देती है। वीर्य के नाश होने से पौरुष-शक्ति वाला पुरुष क्लीब हो जाता है।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि। अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ॥ २ ॥

अर्थ—व्यभिचारी को (क्लीबम्) नपुंसक (कृधि) कर दे, (अथो) और (ओपशिनम्) ओपश वाला, (कुरीरिणम्) कुरीरयुक्त (कृधि) कर दे, (अथ) तदनन्तर (इन्द्रः) सम्राट् (ग्रावभ्याम्) दो ग्रावाओं द्वारा (अस्य) इसके (उभे अण्ड्यौ) दोनों अण्डों के भीतरी भागों को (भिनत्तु) तोड़ दे।

[ओपश और कुरीर स्त्रियों के आभूषण हैं। व्यभिचारी के दोनों अण्डों को तोड़कर उसे नपुंसक अर्थात् वीर्यहीन करके, स्त्रियों के दो आभूषण पहिना देने का विधान हुआ है। इन्द्रः=सम्राट्, "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)। अण्डभेदन राजाज्ञा के विना नहीं होना चाहिए—यह इन्द्र पद द्वारा सूचित होता है। मन्त्र में आण्ड्यौ के भेदन का विधान है, आण्ड्यौ का अभिप्राय है दो अण्डों में स्थित-नाड़ी समूह। ग्रावभ्याम्=दो पत्थरों से।]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्।

कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि॥ ३ ॥

अर्थ—(क्लीब) हे नपुंसक! (त्वा) तुझे (क्लीबम्) नपुंसक (अकरम्) मैंने कर दिया है, (वध्रे) हे बधिया! (त्वा) तुझे (वध्रिम्) वधिया [षण्डक] (अकरम्) मैंने कर दिया है, (अरस) हे वीर्यरस विहीन! (त्वा) तुझे (अरसम्) इस रस से विहीन (अकरम्) मैंने कर दिया। (अस्य) इसके (शीर्षणि

अधि) सिर पर (कुरीरम्, कुम्बम्) ये दो स्त्री आभूषण (निदध्मसि) हम स्थापित करते हैं।

[कुरीर और कुम्ब स्त्रियों के सिरों के आभूषण हैं।] वध्रिः=Eunuch.

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ये ते॑ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॑स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म्।

ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑॥ ४॥

अर्थ—(ते) तेरी (ये) जो (देवकृते) परमेश्वर निर्मित (नाड्यौ) दो नाड़ियाँ हैं, (ययोः) जिन दो में (वृष्ण्यम्) वीर्य (तिष्ठति) स्थिति को प्राप्त करता है, (ते) तेरी (ते) उन दोनों का, (शम्यया) शम्या काम वाली शम्या कील द्वारा, (अमुष्याः अधि) उस शिला पर स्थापित (मुष्कयोः) दो अण्डों में संलग्न (ते) तेरी (ते) उन दो नाड़ियों का (भिनद्मि) मैं भेदन करता हूँ।

[नाड्यौ=नडवत् सच्छिद्र दो शुक्रवह नाड़ियां। शम्या=सम्भवतः शमी वृक्ष के काष्ठ द्वारा निर्मित, भोगवासना को शान्त कर देने वाला कील।

अमुष्याः अधि=अमुष्याः प्रसिद्धायाः शिलायाः अधि उपरि (सायण)। मन्त्र (२) में "ग्रावभ्याम्" द्वारा दो पत्थरों का कथन हुआ है, इसका स्पष्टीकरण मन्त्र (५) में हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा॑ न॒डं क॒शिपु॑ने॒ स्त्रियो॑ भि॒न्दन्त्यश्म॑ना।

ए॒वा भि॑नद्मि॒ ते॒ शेपो॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑॥ ५॥

अर्थ—(स्त्रियः) स्त्रियां (यथा) जैसे (कपिशुने) चटाई के लिए (अश्मना) पत्थर द्वारा (नडम्) नड़ का (भिन्दन्ति) भेदन करती हैं, (एव) इसी प्रकार (अमुष्याः अधि) उस शिला पर स्थापित (मुष्कयोः) दो अण्डों में संलग्न (ते शेपः) तेरी प्रजननेन्द्रिय का (भिनद्मि) मैं भेदन करता हूँ (अश्मना)]।

[मन्त्र २ में ग्रावभ्याम् द्वारा दो पत्थर कहे हैं, एक पत्थर है शिला, और दूसरा है अश्मा।]

सूक्त १३९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदा विराड् जगती**॥

न्य॒स्तिका॑ रुरोहिथ सुभग॒ंकर॑णी॒ मम॑।

श॒तं तव॑ प्रता॒नास्त्रय॑स्त्रिंशन्निता॒नाः। तया॑ सहस्रप॒र्ण्या हृद॑यं शोषयामि ते॥ १॥

अर्थ—[हे पारमेश्वरी माता!] (न्यस्तिका) तू नितरां [काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को] फैंक देती है, उन्हें निरस्त कर देती है, (रुरोहिथ) तू हृदय में आरोहण किये हुए है, (मम, सुभगंकरणी) मेरे सौभाग्यों को उत्पन्न करने वाली है। (तव) तेरे (प्रतानाः) ऊपर की ओर विस्तार (शतम्) सैकड़ों हैं, (नितानाः) नीचे की ओर फैलाव (त्रयस्त्रिंशत्[१]) ३३ हैं, (सहस्रपर्ण्या) हजारों का पालन करने वाली

१. ३३ देवता भी हैं। यथा "**यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्ग गात्रा विभेजिरे**" (अथर्व० १०.७.२७)। ये ३३ देवता हैं, ८ वसवः, ११ रुद्राः, १२ आदित्याः, यज्ञ और प्रजापतिः। वेद में "तिस्रः दिवः" द्वारा ३ द्युलोक कहे हैं। एक दृश्यमान, तथा दो इस दृश्यमान द्युलोक से ऊपर के द्युलोक।

सम्भवतः इस द्विविध-विभाग को "शतम् प्रतानाः, और त्रयस्त्रिंशत् नितानाः" द्वारा सूचित किया हो। यह विषय अनुसन्धान योग्य है।

(तया) उस माता द्वारा (ते) [हे पत्नी!] तेरे (हृदयम्) हृदय को (शोषयामि) मैं पति, सांसारिक विषय भोगों के लिए सूखा देता हूँ।

[सूक्त में सात्त्विक-प्रकृति वाले गृहस्थ पति-पत्नी का वर्णन है। परमेश्वर माता भी है, वह उपासक के कामादि को, मातृस्नेह वाली होकर, दूर कर देती है। सदा हृदयवासिनी है। द्युलोक में उसके विस्तार सैकड़ों हैं, द्युलोक से नीचे की ओर उसके विस्तार ३३ हैं। बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, चन्द्रमा और सूर्य, ८ ग्रह; तथा रुद्र ११; और मास १२; यज्ञ और प्रजापति २। पारमेश्वरी माता, उपासकपति के सौभाग्यों को पैदा कर चुकी है। सौभाग्य हैं षड्विध, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य। पति निज पत्नी को भी इस आध्यात्मिक मार्ग की ओर लाना चाहता है, और हजारों का पालन करने वाली माता के द्वारा, पत्नी के हृदय को सूखा देता है, विषय भोगों के लिए प्रेमरस से रहित कर देता है। पर्णी=**पॄ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम्।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ २॥

अर्थ—(मयि) मेरे सम्बन्ध में भी (ते) तेरा (हृदयम्, शुष्यतु) हृदय प्रेम-रस की दृष्टि से सूख जाए। (अथो) तथा (आस्यम्) मुख भी (शुष्यतु) रसीली बातें करने की दृष्टि से सूख जाए। (अथो) और (कामेन) काम-वासना की दृष्टि से (माम्) मुझको (निशुष्य[१]) नितरां सूखा कर, (अथो) तदनन्तर (शुष्कास्या) रसीली बातों से रहित हुई (चर) गृहकार्यों में तू विचर।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद। अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि॥ ३॥

अर्थ—(बभ्रु) हे भरण-पोषण करने वाली! (कल्याणि) हे कल्याण करने वाली पारमेश्वरी माता। (संवननी) तू सम्यक् रूप से हमारी भक्ति चाहती है, (समुष्पला) सम्यक् रूप में [कामादि] का दहन कर हमें गति प्रदान करती है, तू हम पति-पत्नी को (संनुद) सम्यक् मार्ग में प्रेरित कर। (अमूम् च) उस मेरी पत्नी को, (माम् च) और मुझ पति को (सं नुद) सम्यक् मार्ग में प्रेरित कर, (समानम् हृदयम् कृधि) हमारे दोनों के हृदयों को ''एक'' कर दे, या समान भावनाओं वाले कर दे।

[सं वननी=सम्+**वन (संभक्तौ,** भ्वादिः); **वनु याचने** (तनादिः)। समुष्पला=सम+**उष (दाहे)**+**पल (गतौ,** भ्वादि)।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथोदकमपपुषोपशुष्यत्यास्यम्। एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ ४॥

अर्थ—(यथा) जैसे (उदकम्) जल को (अपपुषः) न पिये पिपासु का (आस्यम्) मुख (अप शुष्यति) सूख जाता है, (एवा=एवम्) इसी प्रकार (कामेन) कामवासना की दृष्टि से (माम्) मुझ पति को (निशुष्य) नितरां सूखा कर, (अथो) तदनन्तर (शुष्कास्या) सूखे मुख वाली हुई तू (चर) गृहकार्यों में विचर।

---

१. नि शुष्य=नितरां शोषयित्वा।

[जब पति की कामवासना सूख गई, और पत्नी ने निज वैराग्यभावना से इस वासना को सुखा दिया, उससे उसे रहित कर दिया, तब पत्नी निज सुख द्वारा पति के साथ प्रेमरस कथा नहीं करती, प्रेमरस सम्बन्धी वचन नहीं बोलती और वे दोनों गृहजीवन मात्र के लिए गृह में विचरते हैं।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा नकुलो विच्छिद्य सन्दधात्यहिं पुनः।

एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥ ५॥

अर्थ—(यथा) जैसे (नकुलः) न्यौला (अहिम्) सांप को (विच्छिद्य) दो[1] टुकड़ों में करके (पुनः) फिर, तदनन्तर (संदधाति) अपने-आप को समाहित अर्थात् शान्त कर लेता है, (एव) इस प्रकार (वीर्यावति) हे शक्तिमती पत्नी! तू (कामस्य) काम को (विच्छिन्नम्) छिन्न-भिन्न करके (संधेहि) अपने-आप को समाहित अर्थात् शान्त कर। [कामस्य=कर्मणि षष्ठी; अथवा, कामस्य भावं संस्कारं वा विच्छिन्नं कृत्वा।]

सूक्त १४०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः**॥ छन्दः—**उरोबृहती**॥

यौ व्याघ्रावव॑रूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च।

तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः॥ १॥

अर्थ—(व्याघ्रौ) व्याघ्रनामक या व्याघ्रवत् काटने वाले (यौ) जो दो दान्त (अवरूढौ) ऊपर के हनु में अवाङ्मुख होकर उत्पन्न हुए हैं, (च) और (पितरम्, मातरम्) पितृत्व तथा मातृत्व शक्ति सम्पन्न प्राणियों को (जिघत्सतः) खाने की इच्छा करते हैं, (तौ दन्तौ) उन दो दान्तों को, (जातवेदः ब्रह्मणस्पते) हे सर्वज्ञ वेद स्वामी! (शिवौ) सुखकारी (कृणु) कर।

[काटना सामने के दो दान्तों द्वारा होता है और प्रथमोत्पन्न ऊपर के दो दान्त काटकर खाने के लिए परमेश्वर उत्पन्न करता है। ये दान्त, प्राणि-पशुपक्षियों को काट कर खाने के लिए नहीं दिए, अपितु [मन्त्र (२)] में कथित वस्तुओं को काट कर खाने के लिए परमेश्वर ने दिए हैं। दन्तारोहण के काल में शिशु पीड़ा अनुभव करते और रुग्ण हो जाते हैं, अतः परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह इस काल को शिशु के लिए सुखकारी करे।]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः, दन्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिष्मती त्रिष्टुप्**॥

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।

एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ २॥

अर्थ—[हे दो दान्तो!] (व्रीहिम्, अत्तम्) चावल खाओ, (यवम्, अत्तम्) जौं खाओ, (अथो) और (माषम्) माष को, (अथो) और (तिलम्) तिल को खाओ। (दन्तौ) हे दो दान्तो! (रत्नधेयाय) रमणीय फल को धारण करने के लिए, (वाम्) तुम दो के लिए, (एषः, भागः) यह भाग (निहितः) स्थापित किया है, (पितरम्, मातरम् च) और पितृशक्ति सम्पन्न तथा मातृशक्ति सम्पन्न प्राणियों की (मा

१. **छिदिर् द्वैधीकरणे** (रुधादिः)।

हिंसिष्टम्) [खाने के लिए] हिंसा न करो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

उप॑हूतौ स॒युजौ॑ स्यो॒नौ दन्तौ॑ सुम॒ङ्गलौ॑।

अ॒न्यत्र॑ वां घो॒रं त॒न्व१॒ः परै॑तु दन्तौ॒ मा हिं॑सिष्टं पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥ ३॥

अर्थ—(सयुजौ) साथ-साथ लगे हुए, (स्योनौ) सुखकर, (सुमङ्गलौ) उत्तममङ्गलकारी (दन्तौ) दो दान्त (उपहूतौ) मानो उत्सुकता पूर्वक बुलाये गये हैं। (दन्तौ) हे दो दान्तो! (वाम्) तुम दो का (घोरम्) क्रूर-कर्म अर्थात् काटना (तन्वः) शरीर से (अन्यत्र) व्रीहि आदि को (परैतु) प्राप्त हो, अर्थात् (पितरम्, मातरम् च) पितृशक्ति सम्पन्न और मातृशक्ति संपन्न प्राणियों की (मा हिंसिष्टम्) हिंसा न करो।

[उत्पन्न हुए शिशु के दान्त कब निकलते हैं, इसकी प्रतीक्षा माता-पिता उत्सुकता पूर्वक करते रहते हैं, इसलिए मानो माता-पिता ने इन दो दान्तों का स्वयं आह्वान किया है।]

सूक्त १४१

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वा॒युरे॑नाः स॒माक॑र॒त्त्वष्टा॒ पोषा॑य ध्रियताम्।

इन्द्र॑ आ॒भ्यो॒ अधि॑ ब्रवद्रु॒द्रो भू॒म्ने चि॑कित्सतु॥ १॥

अर्थ—(वायुः) वायुसमान शोधक अधिकारी (एनाः) इन प्रजाओं को (समाकरत्) सम्यक् तथा पूर्णतया शुद्ध करे, (त्वष्टा) त्वष्टा नाम वाला अधिकारी (पोषाय) अन्न द्वारा पुष्टि के लिए (ध्रियताम्) धारित अर्थात् नियुक्त किया जाए। (इन्द्रः) सम्राट् (आभ्यः) इन प्रजाओं के लिए (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रवत्) जीवनमार्ग का उपदेश दे, कथन करे, (रुद्रः) रुद्र अधिकारी (भूम्ने) प्रजा की वृद्धि के लिए (चिकित्सतु) प्रजा की चिकित्सा अर्थात् रोगापनयन करे।

[वायु सदा गति करती है, और निजगति द्वारा शुद्धि करती रहती है अतः शुद्धिकर्त्ता अधिकारी को वायु कहा है। त्वष्टा है सूर्य जो कि मेघों का निर्माण कर, वर्षा द्वारा अन्नोत्पादन कर, प्रजा को पोषण करता है, अतः पोषण के अधिकारी को त्वष्टा कहा है। इन्द्र है सम्राट् "**इन्द्रश्च सम्राड्**" (यजुः० ८.३७)। रुद्र है चिकित्सा का अधिकारी, जिसके सम्बन्ध में "चिकित्सतु" पद का प्रयोग हुआ है। चिकित्सतु=**कित निवासे रोगापनयने च** (भ्वादिः)। ब्रवत्=बोलना मनुष्य धर्म है, अतः इन्द्र मनुष्य है। इसके साथी भी, शासन कर्म में, मनुष्य होने चाहिएँ, अतः वायु आदि के अर्थ तदनुरूप किये हैं।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

लोहि॑तेन॒ स्वधि॑तिना मिथु॒नं कर्ण॑योः कृधि।

अक॑र्ताम॒श्विना॒ लक्ष्म॒ तद॑स्तु प्र॒जया॑ ब॒हु॥ २॥

अर्थ—[हे वैद्य!] (लोहितेन स्वधितिना) सुवर्ण के, लोहे के, या लाल ताम्बे के शस्त्र द्वारा (कर्णयोः) दोनों कानों का (मिथुनम्) वेध (कृधि) कर। (लक्ष्म) कर्ण वेध चिह्न को (अश्विना) देवों के दो भिषक् (अकर्ताम्) निजनिरीक्षण में करें। (तद्) वह वेध चिह्न (प्रजया) प्रजा की बहुत्व संख्या द्वारा (बहु) बहुसंख्यक (अस्तु) हो।

[**लोहम् हिरण्यनाम** (निघं० १.२)। मिथुनम्=**मिथृ मेथृ हिंसायाम् इत्येके** (भ्वादिः)। कर्णवेध

एक प्रकार से कर्ण की हिंसारूप ही है। कर्णवेध बाल-बालिका दोनों का होना चाहिए। कर्णवेध में नानारोग निवृत्त हो जाते हैं। बाल और बालिका के कानों के [किस-किस स्थान में वेध करना चाहिए इसे कुशल वैद्य ही जान सकते हैं। कर्णवेध तीसरे या पांचवें वर्ष में होने का विधान है। कर्णवेध के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान के लिए देखो ''संस्कार चन्द्रिका'', द्वारा डॉक्टर सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, विजयकृष्ण लखन पाल, ४/२४ आसफ अली रोड, दिल्ली-१।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत। एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जिस प्रकार (देवासुराः) देव अर्थात् ब्राह्मण तथा असुर=क्षत्रिय, और वैश्य, (उत) तथा (मनुष्याः) शेष मनुष्य अर्थात् शूद्र (चक्रुः) कर्णवेध करते रहे हैं, (एवा=एवम्) इस प्रकार (सहस्रपोषाय) कर्णवेध द्वारा हजारों प्रजाजनों की पुष्टि के लिए (अश्विना=अश्विनौ) हे देवों के दो भिषजौ! दो चिकित्सको! तुम (लक्ष्म) कर्णवेध चिह्न (कृणुतम्) करो [निज निरीक्षण में]।

[देव पद ब्राह्मणों को सूचित करता है। ब्राह्मणों को ''भूदेवाः'' तथा ''भूसुराः'' कहते हैं, अर्थात् पृथिवी के देव। असुराः के दो अर्थ हैं—(१) असु अर्थात् प्राण अर्थात् बल वाले क्षत्रिय, तथा, (२) वसु अर्थात् धन वाले वैश्य। यथा ''असुरिति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः, असुराः'' (निरुक्त ३.२.८) क्षत्रिय। असुराः=वसुराः, धनवन्तः, वैश्याः। असुरत्वम्=वादिलुप्तम्; आदि ''व्'' का लोप (निरुक्त १०.३.३४); ''त्वष्टा'' पद की व्याख्या में। जब वेदानुयायी चारों वर्ण कर्णवेध संस्कार करते हैं, और कर्णवेध द्वारा नानाविध रोगों के निवर्तन द्वारा शरीर पुष्टि सम्भव है, तब ''सहस्रपोषाय'' पद सार्थक ही है।]

सूक्त १४२

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत्॥ १॥

अर्थ—(यव) हे मिश्रण तथा अमिश्रण करने वाले! तथा यव अर्थात् कृषि धान्य जौं की तरह संसार के बीजरूप परमेश्वर! (उच्छ्रयस्व) तू उत्कृष्ट आश्रयरूप हमारा बन, (स्वेन महसा) अपने तेज द्वारा (बहुः भव) बहुप्रकाशमान हो। (विश्वा पात्राणि[1]) उन सबको जोकि अकेले खाते-पीते हैं (मृणीहि) मार, (दिव्या अशनिः) मेघीय दिव्य वज्रपात, (त्वा) तेरा (मा वधीत्) वध नहीं करता[2]।

[मन्त्र (२) में ''आशृण्वन्तं यवं देवम् वदामसि'' द्वारा ''यव'' को देव तथा सुनने वाला कहा है, और उस के प्रति बोलने अर्थात् कथन करने का भी निर्देश हुआ है इससे प्रतीत होता है कि ''यव'' ''चेतन'' है, न कि जड़ ''जौं''। सायणाचार्य ने भी ऐसा ही मान कर व्याख्या की है। यथा ''आभिमुख्येनास्मदुक्तमाकर्णयन्तं यवं, यवधान्यरूपेण अवस्थितं देवम्''।

---

१. **मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः ''सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य''। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥** (ऋ० १०.११७.६)। तथा ''**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्**'' गीता।

२. मेघीय दिव्य वज्रपात यवधान्य का तो वध करता है, तुझ परमेश्वर रूप यव का नहीं।

यव=**यु मिश्रणामिश्रणयोः** (अदादिः)। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति में मिश्रण और अमिश्रण दोनों होते हैं। यव अर्थात् जौं से जब अंकुर की उत्पत्ति होती है तब जौं के साथ मिट्टी, जल आदि का मिश्रण होता है, और ज़ौं के निज तत्त्वों का अमिश्रण अर्थात् उससे अलग होकर अंकुर रूप में उनका निर्माण होता है। इस मिश्रण और अमिश्रण का कर्त्ता परमेश्वर है। इसलिए उसे "यव" कहा है। तथा परमेश्वर संसार के उत्पादन का बीज भी है, कारण भी है।

पात्राणि=पा+ष्ट्रन् (उणा० ४.१६०)। **पा पाने, पा रक्षणे**। जो केवल अपनी ही रक्षा के लिए खाते-पीते हैं। पात्राणि=पातृणि।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि। तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥

अर्थ—(आशृण्वन्तम्) सब की वार्ताओं को सुनते हुए, जिस (यवम्) मिश्रण तथा अमिश्रण करने वाले, (यत्र) जिस किसी हृदय में प्रकट होने वाले, (त्वा देवम्) तुझ देव को (अच्छा वदामसि) अभिमुख होकर हम करते हैं कि (तत्=तत्र) वहां अर्थात् हृदय में (उत् श्रयस्व) उत्कृष्टरूप में तू हमारा आश्रय बन। (द्यौः[१] इव) द्युलोक की तरह, (अक्षितः) अक्षीण प्रकाश वाला हुआ (एधि) तू हो, तथा (समुद्रः इव) समुद्र की तरह (अक्षितः) अक्षीण सम्पत्ति वाला हो।

[परमेश्वर सब की वार्ताओं को सुनता है, यथा "**द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः**" (अथर्व० ४.१६.२) अर्थात् दो बैठकर जो मन्त्रणा करते हैं राजा वरुण उसे जानता है तीसरा हो कर। तथा "**पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः**" (उपनिषद्)। द्यौ प्रकाश की दृष्टि से अक्षीण है, और समुद्र जल की दृष्टि से अक्षीण है। परमेश्वर निज प्रकाश और सब सम्पत्तियों की दृष्टि से अक्षीण है।]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः। पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (ते) तेरे (उपसदः) उपासक (अक्षिताः सन्तु) क्षीण न हों, (राशयः) तेरी सम्पत्ति राशियां (अक्षिताः) क्षीण न हों, (पृणन्तः) तेरे प्रसादार्थ पर-पालक (अक्षिताः सन्तु) क्षीण न हों, (अत्तारः) तेरे अन्नरूप का भोग करने वाले (अक्षिताः सन्तु) क्षीण न हों।

[अक्षिताः=संख्या में क्षीण न हों, बहुसंख्यक हों, तथा शक्तिशाली हों, उपसदः="उप+सदः" अर्थात् उपासकः="उप+आसकाः" (**आस उपवेशने,** अदादिः)। पृणन्तः=पृ पालने (क्र्यादिः)। अत्तारः=परमेश्वर अन्न[२] है और अन्नाद[२] है। उपासक उसके अन्नरूप का भोग करते हैं, उस के आनन्द रस का पान करते हैं, यह पान ही अन्नभोग है। प्रलय काल में परमेश्वर जगत् का मानो प्राशन करता है। अतः वह अन्नाद है। तथा "**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः**" (उपनिषद्)। "ब्रह्म क्षत्र" पद उपलक्षक हैं सब प्राणियों और जड़ जगत् के।[३]

---

१. जैसे द्यौ प्रकाश की दृष्टि से अक्षीण है, वैसे हे परमेश्वर तू हमारे हृदयों में अक्षीण प्रकाशमान हो।
२. **अहमन्नम्, अहमन्नादः** (तैत्ति० उप० ३.१०.६)।
३. यजुर्वेद ५.२६ में भी "यव" का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में हुआ है। यथा "**यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीः**", अर्थात् तू यव है, अमिश्रण करनेवाला है, पृथक् करने वाला है, पृथक् कर हम से द्वेष को, पृथक् कर अराती अर्थात् अदान भावनाओं को, कंजूसी को।

तथा

यव=कृष्यन्न जौं। पृथिवी में बोया गया यव का बीज अंकुरित हो कर उत्थान करता है, निज तेज या महिमा के कारण बहुसंख्यक यव बीजों का प्रदान करता है। यव इतना पैदा हो जाता है कि कुसूल, कोष्ठ आदि को इतना भर देता है कि यव के दबाव के कारण ये पात्र फटने लगते हैं (मृणीहि), कविता में वर्णन। दिव्या अशनिः=रुद्र का वज्रपात।]

तेरहवाँ अनुवाक समाप्त॥

षष्ठ काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

''हे मनुष्य तू (यवय) उत्तम गुणों से पदार्थों का मेल कर, तू भी ईर्ष्या आदि दोष वा (अरातीः) शत्रुओं को (यवय) दूर कर'' (दयानन्द)। तथा ''**यवानां भागोऽसि, अयवानामाधिपत्यम्**'' (यजुः० १४.२६), पर भाष्य है ''**पूर्वपक्षाणां त्वं भागोऽसि, अयवानामपरपक्षाणां त्वयि आधिपत्यम्**'' (महीधर)। इस प्रकार ''यव'' के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। अतः प्रकरणानुसार ''यव'' के अर्थ सूक्त में किये गये हैं, जो कि सूक्त के सब मन्त्रों में एकवाक्यता के उपपादक हैं।

परिशिष्ट[1]

(काण्ड ६, सूक्त ७२)

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु॥ १॥

अर्थ—(यथा) जैसे (असितः) सीमारहित द्युलोक, (वशान् अनु) परमेश्वर की इच्छाओं के अनुसार (वपूंषि[2]) निज शरीरों अर्थात् तारारूपी शरीरावयवों का (कृण्वन्) निर्माण करता हुआ, (असुरस्य मायया) प्रज्ञावान् परमेश्वर की प्रज्ञा द्वारा (प्रथयते) अपने आप को विस्तारित करता है, (एवा=एव) इसी प्रकार (ते शेपः) तेरा निर्माण करने वाला (अयम्) यह (अर्कः) सूर्य सदृश प्रताप वाला राजा [हे प्रधानमन्त्री!] तेरे राष्ट्र को अर्थात् (सहसा) निज बल द्वारा, शक्ति द्वारा, (अङ्गेन अङ्गम्) राष्ट्र के एक अङ्ग के साथ अन्य अङ्ग को, (सम्, सम्, अकम्) परस्पर संगत (कृणोतु) करे।

[द्युलोक असीम है, सीमारहित है, बन्धन रहित है, फैलता जाता है (अ+सितः=**षिञ् बन्धने,** बन्धन रहित)। यह द्युलोक असीम आकाश में फैलता जा रहा है। फैलता-फैलता इतना फैल जाएगा कि परस्पर के आकर्षण से रहित होकर ध्वस्त हो जाएगा, प्रलय हो जाएगी। संसमकम्=सम्, सम्, अकम् (**अक कुटिलायां गतौ**), परस्पर संगत करना। अङ्गेन अङ्गम्=राष्ट्र को "सप्ताङ्गं राज्यम्" कहते हैं (आप्टे)। राज्य या राष्ट्र के इन सप्ताङ्गों में परस्पर संगत करना अभिप्रेत है।

पसः=**विड् वै गभो राष्ट्रं पसः** (शतपथ १३.२.९.६) अर्थात् प्रजा है गभ और "पस" है राष्ट्र (सत्यार्थप्रकाश)। असुरस्य=**असुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। **माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)।

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्। यावत्परस्वतः पसस्तावत्ते वर्धतां पसः॥ २॥

अर्थ—(यथा) जैसे कि (पसः) राष्ट्र (अरम्) पर्याप्त परिमाण में (तायात्) फैले, (वातेन) वायु द्वारा (स्थूलभम्) स्थूलसदृश (कृतम्) किया गया जैसे गुब्बारा या बैलून]। (यावत्) जितने परिमाण वाला (परस्वतः) परस्वत् का (पसः) राष्ट्र है (तावत्) उतने परिमाण वाला [हे प्रधानमन्त्री!] (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र (वर्धताम्) बढ़े।

[तायत्=**तायृ सन्तानपालनयोः** (भ्वादिः) लेट् लकार, आट् आगम। सन्तान=सम्यक् विस्तार, **तनु विस्तारे** (तनादिः)। वातेन=जैसे कि वायु द्वारा फुटबाल, या गुब्बारा अथवा बैलून स्थूलनिभ अर्थात् स्थूल सदृश किया जाता है। परस्वतः=पारावत अर्थात् कपोत पक्षी का। वर्णागम वर्णविकार, वर्णनाश द्वारा परस्वतः=पारावतः।]

---

१. काण्ड ६, सूक्त ७२ की पूर्वकृत व्याख्या की ही विस्तृत व्याख्या परिशिष्ट में की गई है।

२. द्युलोक के नए तारा आदि जो कि "गैलक्सीज" से निर्मित होते रहते हैं, वे द्युलोक के वपूंषि रूप हैं, और द्युलोकरूपी महाशरीर के शरीरावयव रूप हैं।

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत्ते वर्धतां पसः॥ ३॥

अर्थ—(यावत्) जितने (अङ्गीनम्) अङ्ग वाला (पारस्वतम्) परस्वान्[1] सम्बन्धी अर्थात् पारावत सम्बन्धी, कपोत सम्बन्धी अङ्ग है, (हास्तिनम्) हस्ती सम्बन्धी, (च) और (यत्) जो (गार्दभम्) गर्दभ सम्बन्धी, (यावत्) तथा जितने अङ्ग वाला (वाजिनः अश्वस्य) बलवान् अश्व सम्बन्धी अंग है, (तावत्) उतने अङ्ग वाला [हे प्रधानमन्त्रिन्!] (ते) तेरा (पसः) राष्ट्र (वर्धताम्) बढ़े।

[**अङ्गीनम्**=जितने अङ्ग वाला, परिमाण वाला, परस्वान् आदि का प्रदेश है, उतने अंग अर्थात् परिमाण वाला, प्रदेश वाला, प्रधानमन्त्री का राष्ट्र बढ़े।

पारस्वतम्=पारावत सम्बन्धी, कपोत सम्बन्धी प्रदेश। संलग्न द्युलोक सम्बन्धी चित्र में पारावत का प्रदेश है "कपोतप्रदेश"[2] अर्थात् कपोतमण्डल। चित्र के ऊपर की रेखा की संख्या ५-६ अंशों के नीचे की समाप्ति पर 'कपोतमण्डल' है। इस मण्डल में १,२,३,४ संख्याओं द्वारा ४ तारा दर्शाये हैं।

हास्तिनम्=यह "करिमुण्ड मण्डल" है, जो कि कन्याराशि की कन्या के पैर, और "सारमेय युगल मण्डल" के मध्य संलग्न चित्र में १२, १३, १४ डिगरी अर्थात् अंशों में दर्शाया गया है। 'करिमुण्ड' का अर्थ है हाथी का सिर। तथा—

हास्तिनम् का अर्थ "हस्तमण्डल" भी सम्भव है। हस्त+इनि (**अत इनिठनौ,** अष्टा० ५.२.११५)+अण् (स्वार्थे)। हस्तमण्डल है कन्याराशि में कन्या का हाथ। इसे चित्र में "करतलमण्डल" तथा "हस्तनक्षत्र" द्वारा दर्शाया है।

गार्दभम्=गर्दभमण्डल, गर्दभ-तारा रविमार्ग में स्थित है। रविमार्ग चित्रसंख्या में, विषुव-रेखा को काटता हुआ गोलाकृति में दर्शाया है। रविमार्ग में गर्दभ-तारा की स्थिति है। तथा 'रविमार्ग' Passes through, or by the star स्वाहा, अनिल, "गर्दभ" ख्याति, चित्रा (Popular Hindu Astronomy [पृष्ठ ४] by कालिनाथ मुखेरजी)। गर्दभ-तारा का प्रदेश गर्दभ-मण्डल है। चित्र में गार्दभ-मण्डल को नहीं दर्शाया है।

अश्वस्य वाजिनः=अश्विनी नक्षत्र को चित्र में अश्वाकृति में, अंश २, ३ के नीचे दर्शाया है। यह आश्विन-मण्डल है।

नोट—१. दिया गया चित्र "Popular Hindu Astronomy" से लिया गया है, और चित्रों की व्याख्या भी इसी पुस्तक के अनुसार की गई है।

२. चित्र में मण्डलों के परिमाण अल्प प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं ये अति व्यापी। अतिदूरता के कारण अल्पता है, जैसे कि सूर्य अतिमहा परिमाण वाला होता हुआ भी लगभग १० करोड़ मीलों की दूरता के कारण स्थाली-परिमाण वाला प्रतीत होता है।]

---

१. पारावत को परस्वान् इसलिए कहा है कि परस् अर्थात् भूलोक से परे अर्थात् दूर के द्युलोक में स्थित है।
२. कपोत=कबूतर, Pigeon, dove। कपोत को पारावत भी करते हैं।

सप्तम काण्ड

अथ षोडशः प्रपाठकः

अनुवाक १

सूक्त १

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धीती वा ये अनयन्वाचो अग्रं मनसा वा येवदन्नृतानि।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः॥ १॥

अर्थ—(ये, वा) जो या (धीती) ध्यानाभ्यास द्वारा (वाचः) वेदवाणी सम्बन्धी (अग्रम्) श्रेष्ठ प्रजापति-ब्रह्म को (अनयन्) हृदय में लाए हैं, उसका ध्यान करते हैं, (वा) अथवा (मनसा) मनन पूर्वक अर्थात् सत्यासत्य विवेक पूर्वक (ये) जिन्होंने (ऋतानि) सत्यवचन (अवदन्) सदा बोले हैं, [वे दोनों] (तृतीयेन ब्रह्मणा) तृतीय ब्रह्म अर्थात् प्रजापति [की कृपा] द्वारा (वावृधानाः) वृद्धि को प्राप्त होते हुए, (तुरीयेण) चतुर्थ ब्रह्म [की कृपा] द्वारा (धेनोः) दुधारू-गो-सदृश वेदवाणी द्वारा प्रतिपादित (नाम) ओ३म्-नाम का (अमन्वत) मनन करते रहते हैं।

[मन्त्र में "वा" पद विकल्पार्थक प्रतीत होता है। अतः प्रजापति-ब्रह्म-ध्यानी या विवेक पूर्वक सत्यवाणी बोलने वाले को समकक्ष का आध्यात्मिक सूचित किया है। तृतीय ब्रह्म अर्थात् प्रजापति इन दोनों की वृद्धि करता है। अथवा "वा"=चार्थे[१]। यथा "**अथापि [वा] समुच्चयार्थे भवति, वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा**" (तै० संहिता १.७.७.२; निरुक्त १.२.५)। समुच्चयार्थ में तृतीय ब्रह्म अर्थात् प्रजापति उन की वृद्धि करता है जो कि प्रजापति-ब्रह्म को हृदय में लाते और साथ ही सत्यवचन सदा बोलते हैं। तृतीय ब्रह्म है, प्रजापति-ब्रह्म, जगत् का कर्त्ता और पालक ब्रह्म। ध्यानाभ्यास में प्रजापति ब्रह्म तृतीय धाम है। प्रथम धाम हैं भ्रूमध्य, नासिकाग्र आदि। द्वितीय धाम है जीवात्मा, इसके प्रत्यक्ष करने में ध्यानियों की स्थिति। जो अभी जीवन्मुक्त नहीं हुए उन मुमुक्षुओं की स्थिति तृतीयधाम में होती है। यथा "**यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त**" (यजुः० ३२.१०)। नाम धेनोः=धेनु अर्थात् वेदवाणी का साक्षात् तथा परम्परया प्रतिपाद्य नाम है ओ३म्। यथा "**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्**" (कठ० उप० २.१५)। **धेनुः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। तथा जीवन्मुक्त मुमुक्षु, चतुर्थ ब्रह्म की कृपा से ओ३म् में लीन रहते और ओ३म् का ही जप करते रहते हैं। ये शरीर त्याग के पश्चात् तुरीय ब्रह्म में ही विचरते, और उसी में मग्न रहते हैं। परन्तु ध्यानी और सत्यवक्ता का जीवन यतः संसारी होता है, वे अभी जीवन्मुक्तावस्था में नहीं होते, अतः वे प्रजापति ब्रह्म के साक्षात्कार में रत रहते हैं, जो प्रजापति-ब्रह्म कि प्रजाओं के उत्पादन और पालन के साथ सम्बद्ध रहता है, इस संसार के साथ सम्बद्ध रहता है]।

---

१. चार्थे=समुच्चयार्थे।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत्स भुवत्पुनर्मघः।

स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत्स आभवत्॥ २॥

अर्थ—(सः पुत्रः) वह पुत्र परमेश्वर (पितरम्) द्यौ पिता को, (सः मातरम्) वह पृथिवी माता को (वेद) जानता है, (सः सूनुः) वह जगत् का प्रेरक (भुवत्) हुआ है, (सः) वह (पुनर्मघः) बार-बार ऐश्वर्यवान् (भुवत्) हुआ है। (सः) वह (द्याम्, अन्तरिक्षम् स्वः) द्युलोक को, अन्तरिक्ष और स्वर्लोक को (और्णोत्) निज व्याप्ति द्वारा आच्छादित किये हुआ है। (सः) वह (इदम्, विश्वम्) इस विश्व को (अभवत्) प्राप्त है, (सः) वह (आ अभवत्) सर्वत्र सत्तावान् हुआ है, विद्यमान है।

[परमेश्वर, द्यौ पिता और पृथिवी माता का पुत्र है, इन दोनों की विविध घटनाओं द्वारा परमेश्वर की सत्ता का परिज्ञान होता है, अतः परमेश्वर को द्यौ और पृथिवी का पुत्र कहा है। सूनुः का अर्थ पुत्र नहीं, क्योंकि पुत्र का कथन पूर्व हो चुका है, अतः सूनुः का अर्थ है प्रेरक, **षू प्रेरणे** (तुदादिः)। अभवत्=**भू प्राप्तौ** (चुरादिः) आ अभवत्=आ (सर्वत्र)+अभवत् (**भू सत्तायाम्,** भ्वादिः) पुनर्मघः=मघ का अर्थ है धन अर्थात् ऐश्वर्य। प्रलय काल में परमेश्वर जगत्‌रूपी धन से रहित हो जाता है, और जगत् को पैदा कर वह पुनः मघवान् हो जाता है। यह अवस्था बार-बार के प्रलय और सृष्टि में होती रहती है। परमेश्वर को ''मघवा'' भी कहते हैं, मघवा=मघवाला, धन वाला]।

सूक्त २

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।

य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ १॥

अर्थ—(अथर्वाणम्) निश्चल अर्थात् कूटस्थ, (पितरम्) जगत् के उत्पादक (देवबन्धुम्) सूर्य-चन्द्र आदि द्योतमान पदार्थों को [नियत स्थानों में] बान्धने वाले, (मातुर्गर्भम्) पृथिवी माता के गर्भरूप, (पितुः असुम्) पितृरूप द्यौ के प्राणभूत, (युवानम्) सदा युवा (इमम्) इस (यज्ञम्) यजनीय अर्थात् देवरूप में पूजनीय परमेश्वर को (यः) जो (मनसा) मनन पूर्वक (चिकेत) सम्यक्तया जानता है, वह (नः) हमें (प्रवोचः) उस का प्रवचन करे, (तम्) उसे (इह, इह) इन-इन विविध स्थानों में (ब्रवः) कहे।

[वोचः=वक्तुः ब्रवः=ब्रवीतु, पुरुषव्यत्यय। अथर्वा=''**थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः**'' (निरुक्त ११.२.१९)। वह अथर्वा—परमेश्वर पृथिवी माता में गर्भरूप से विद्यमान है। मातृगर्भस्थ शिशुपिण्ड का स्वरूप अज्ञायमान होता है। और समय पर प्रकट होकर वह ज्ञातस्वरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर पृथिवी माता में विद्यमान होता हुआ भी अज्ञातरूप में रहता है, और समय पर किसी ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा में प्रकट हो कर ज्ञातस्वरूप हो जाता है।

''पितुः असुम्'', पिता है द्यौ। द्युलोक का वह असु है, प्राणरूप है। परमेश्वरीय-प्राण के कारण द्युलोक नियम पूर्वक मानो चेष्टावान् हुआ है]।

सूक्त ३

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत॥ १॥

अर्थ—(अया=अनया) इस (विष्ठा=विष्ठया) विविध स्थिति के कारण (कर्वराणि) जगत् के कर्मों को (जनयन्) पैदा करता हुआ (सः हि) वह [अथर्वा-परमेश्वर] ही (घृणिः) दिन के समान चमकता है, (उरुः) और वह सर्वाच्छादक है। (वराय) वह वरण किये गये उपासक के लिए (गातुः) मार्ग प्रदर्शक होता है। (सः) वह परमेश्वर (धरुणम्) हमारा धारण करने वाले सूर्य के (प्रति उदैत्) प्रति सदा उदित रहता है, सूर्य जो कि (मध्वः अग्रम्) जल आदि पदार्थों या मधुर अन्नों के उत्पादन में अग्र है, मुखिया है। (स्वया तन्वा) परमेश्वर निज विस्तार द्वारा (तन्वम्) विस्तृत ब्रह्माण्ड को (ऐरयत) प्रेरित करता है।

[अया= तृतीयाया याजादेशः (सायण)। कर्वराणि=**कर्वरम् कर्मनाम** (निघं० २.१)। **घृणिः अहर्नाम** (निघं १.९); घृ दीप्तौ (जुहोत्यादिः)। दिन प्रदीप्त ही होता है। उरुः=**ऊर्णुञ् आच्छादने** (अदादिः)। मध्वः, **मधु उदकनाम** (निघं० १.१२), अथवा मधुर अन्न। धरुणम्=सूर्य हमारा धारण करता है, और परमेश्वर सूर्य का धारण करता है, एतदर्थ वह सूर्य में मानो सदा उदित रहता है। जैसे कि कहा है **''योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म''** (यजुः० ४०.१७)। तन्वा, तन्वम्=**तनु विस्तारे** (तनादिः)। परमेश्वर विविध पदार्थों में स्थित होकर उन के कर्मों को नियन्त्रित करता है]।

सूक्त ४

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च॥ १॥

अर्थ—(सुहुते) उत्तम आहुतियों को प्राप्त परमेश्वर की प्राप्ति के लिए, (वियुग्भिः) [शरीर-रथ के साथ] विशेषरूप में जुती हुईं (एकया च दशभिः च) एक और दस अर्थात् ११ शक्तियों समेत, (च) और (इष्टये) इच्छा की पूर्ति के लिए, (द्वाभ्याम्, विंशत्या) दो के साथ बीस अर्थात् २२ शक्तियों समेत; (च) और (वहसे) शरीर-रथ के वहन के लिए (तिसृभिः च त्रिंशता च) तीन तथा तीस अर्थात् ३३ शक्तियों समेत (वायो) हे वायुनामक परमेश्वर! [मैं तेरे प्रति आत्माहुति, आत्मसमर्पण करता हूं] (ताः) उन समग्र शक्तियों को (इह) इस जीवन में (विमुञ्च) मुझ से विमुक्त करदे, छुड़ा दे।

(१) सुहुते, इष्टये, वहसे, तीनों पद चतुर्थ्येकवचनान्त हैं। सुहुते=सु+हुत् (हु, क्विप् तुक्)+ङे (चतुर्थी विभक्ति का एकवचन)। वहसे=वह्+असुन्+ङे (चतुर्थी विभक्ति का एकवचन)। इष्टये=यह स्पष्टतया चतुर्थी विभक्ति का एकवचनान्त रूप है। इन तीनों पदों की चतुर्थी विभक्ति ''तुमुन्'' अर्थ में है। अतः इन के अर्थ ''प्राप्ति के लिये''। तथा ''पूर्ति के लिये'' किये हैं। यथा ''फलाय गच्छति ग्रामम्'' का अभिप्राय है ''फलानि, आहर्तुम्, गच्छति ग्रामम्''। ''आहर्तुम्'' तुमुन् प्रत्ययान्त है।

(२) ''वियुग्भिः'' और ''विमुञ्च'' प्रयोगों द्वारा शरीर-रथ को सूचित किया, जिस के साथ

शक्तियों को परमेश्वर ने जोता है, और जिससे उन्हें वह विमुक्त करता है। "इष्टये" द्वारा इच्छा प्रकट की है मोक्ष के लिए, जिसे कि "विमुञ्च" पद द्वारा विमुक्ति या मुक्ति सूचित की है।

(३) एक और दशशक्तियाँ हैं, १ मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां—ये शरीर रथ के साथ जुती हुई हैं। इन ११ शक्तियों को उपनिषद् में "हय" कहा है। यथा "**इन्द्रियाणि हयानाहुः**" (कठ० ३.४)। इसलिए शरीर है रथ, जिस के साथ कि इन्द्रिय-हय अर्थात् अश्व जुते हुए हैं। इसलिए शरीर को रथ कहा है। यथा "**आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु**" (कठ० ३.३)।

(४) एकादश शक्तियाँ हैं कारण शरीर की। २२ शक्तियाँ हैं—११ कारणशरीर की+११ सूक्ष्म शरीर की। ३३ शक्तियाँ हैं—११ कारण शरीर की+११ सूक्ष्म शरीर की+११ स्थूल शरीर की। ये शक्तियाँ कारण शरीर में अनभिव्यक्तावस्था में, सूक्ष्मशरीर में सूक्ष्मरूप में, और स्थूलशरीर में पूर्णरूप से अभिव्यक्तावस्था में रहती हैं। शक्तियाँ तो केवल ११ ही हैं, परन्तु त्रिविध शरीरों में इन की त्रिविध स्थितियों के कारण इन्हें ३३ कहा है, ११+११+११=३३। ये ३३ आध्यात्मिक देव हैं, जिन्हें कि वैदिक साहित्य में ३३ देवता कहा है।

(५) एकतया, द्वाभ्याम्, तिसृभिः—द्वारा मन को सूचित किया है। सात्त्विक शक्तिसम्पन्न मन कारण शरीर में, सात्त्विक और राजसिक शक्तियों से सम्पन्न मन सूक्ष्मशरीर में, तथा सात्त्विक-राजसिक-तामसिक शक्तियों से सम्पन्न मन स्थूलशरीर में प्रेरणाएँ देता है।

(६) विशेष—मन्त्र में शब्द तो स्पष्ट हैं, परन्तु रहस्यार्थक हैं। इस रहस्य को यथामति मैंने प्रकट किया है। विचारभेद अवश्य सम्भव है। अथर्ववेद (१०.७.२७) के अनुसार ३३ देवों के यथार्थ स्वरूपों को कतिपय वेदवेत्ता या ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। यथा "**यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः**"॥ अतः ३३ देवों के स्वरूप रहस्यमय ही हैं। तथा ३३ देवों का विभाग, ग्यारह-ग्यारह के समूहरूप में, द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी में दर्शाया है। यथा "**ये देवा दिव्येकादश स्थ**"; "**ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ**"; "**ये देवाः पृथिव्यामेकादश स्थ**" (अथर्व० १९.२७.११,१२,१३)। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी ग्यारह-ग्यारह के समूहरूप में ३३ देवों की स्थिति "दिवि, पृथिव्याम्, अप्सु" द्वारा दर्शाई है (७.१९), अप्सु=अन्तरिक्षे। यथा "**आपः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३) "दिव्, अन्तरिक्ष, पृथिवी" आधिदैविक स्थान हैं ३३ आधिदैविक देवों के। आध्यात्मिक दृष्टि से "कारणशरीर" द्यौ है, "सूक्ष्म शरीर" अन्तरिक्ष है, तथा "स्थूल शरीर" पृथिवी है। तथा इसी प्रकार अध्यात्म दृष्टि से सिर है दिव्, जो कि ज्ञानप्रकाश का स्थान है, छाती है अन्तरिक्ष, जिस में श्वास-प्रश्वास की वायु सदा प्रवाहित होती रहती है, तथा पेट है पृथिवी, जो कि अन्न का स्थान है। वायु=सर्वगति वाला परमेश्वर। वा गतिगन्धनयोः (अदादिः), तथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१) में परमेश्वर को "वायु" भी कहा है।

सूक्त ५

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १॥

अर्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञेन) ज्ञानयज्ञ से (यज्ञम्) पूजनीय ईश्वर की (अयजन्त) पूजा करते हैं, (तानि) वे ईश्वर की पूजा आदि (धर्माणि) धर्म (प्रथमानि)अनादिरूप से मुख्य (आसन्) हैं। (ते) वे विद्वान् (महिमानः) महत्त्व से युक्त हुए (यत्र) जिस सुख में (पूर्वे) इस समय से पूर्व हुए (साध्याः) साधनों को जीतते हुए (देवाः) प्रकाशमान विद्वान् (सन्ति) हैं, उस (नाकम्) सब दुःख रहित मुक्ति सुख को (ह) ही (सचन्त) प्राप्त होते हैं। (यजुः० ३१.१६) के दयानन्द के भाष्य के अनुसार अर्थ लिया है।

अथवा

(देवाः) दिव्यगुणी उपासक (यज्ञेन) देवत्वेन पूजन, संगतिकरण, तथा आत्मसमर्पण की विधि द्वारा (यज्ञम्) यजनीय-परमेश्वर को (अयजन्त) पूजते रहे हैं, (तानि) वे (धर्माणि) धर्मकृत्य (प्रथमानि) मुख्य तथा श्रेष्ठ (आसन्) रहे हैं। (ते) वे उपासक (महिमानः) महिमा को प्राप्त हुए (ह) निश्चय से (नाकम्) दुःखरहित स्थान को (सचन्त) प्राप्त होते हैं, (यत्र) जिस स्थान में (पूर्वे) पूर्वसृष्टिकाल के (साध्याः) साधनीय योगसाधनों को सिद्ध किये (देवाः) दिव्यगुणी उपासक (सन्ति) विद्यमान हैं।

[यज्ञेन=**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (भ्वादिः), परमेश्वर को मुख्य देव जान कर उसी देव की पूजा करनी, उस के साथ ध्यानाभ्यासपूर्वक निज संग प्राप्त करना, उसके प्रति आत्मसमर्पण करना—ये मुख्य तथा श्रेष्ठ धर्म कृत्य हैं, जिन्हें कि "तानि" द्वारा निर्दिष्ट किया है। "नाकम्" पद दुःख रहित स्थान विशेष का सूचक है। यथा "**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम**" (यजुः० ३२.६) में द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्षरूप आधिदैविक लोकों के साथ "नाकः" पद पठित है, अतः "नाकः" भी आधिदैविक स्थान विशेष प्रतीत होता है, इसी प्रकार "स्वः" भी आधिदैविक स्थान विशेष ही है। पूर्वे=अथवा सद्गुणों द्वारा परिपूर्ण। सद्गुण हैं देवपूजा आदि, पुर्व पूरणे (भ्वादिः)। महिमानः=उपासना द्वारा महिमा को प्राप्त। साध्याः=साधकाः, अर्श आदित्वात् अच् प्रत्ययः (सायण)]।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु॥ २॥

अर्थ—(यज्ञः) यजनीय परमेश्वर (बभूव) सत्तावान् है, (सः) वह (आ बभूव) सर्वत्र सत्तावान् हुआ है, (सः) वह (प्र जज्ञे) प्रज्ञानी है, (सः उ) वह ही (पुनः) बार-बार सृष्टि में (वावृधे) गुण-कर्मों की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। (सः) वह (देवानाम्) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि देवों का (अधिपतिः बभूव) स्वामी हुआ है, (सः) वह (अस्मासु) हम में (द्रविणम्) आध्यात्मिक तथा आधिदैविक धन (आ दधातु) स्थापित करे।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

यद्देवा देवान्हविषायजन्तामर्त्यान्मनसामर्त्येन।
मदेम तत्र परमे व्योमन्पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य॥ ३॥

अर्थ—(देवाः) दिव्यगुणी उपासक, (हविषा) आत्मसमर्पण रूपी हवि द्वारा (अमर्त्येन मनसा)

अमर्त्य मन द्वारा (यत्) जो (अमर्त्यान् देवान्) अमर्त्य दिव्य गुणों को (अयजन्त[1]) अपने साथ सुसंगत करते हैं, सम्बद्ध करते हैं, (तत्र) उस अवस्था में (परमे व्योमन्) परमरक्षक परमेश्वर में [स्थित हुए] (मदेम) हम उपासक हर्ष को प्राप्त हों, और (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदित होने पर [प्रातःकाल के] ध्यान में (पश्येम) परमेश्वर को साक्षात् हम देखें।

[मनसा="मन" मानो अमर्त्य है, जब तक मोक्ष नहीं होता आत्मा के साथ मन रहता है। अथवा मोक्ष हो जाने पर भी उन मुक्तात्माओं के साथ मन बना ही रहता है जो कि परोपकारार्थ पुनर्जन्म के अभिलाषी होते हैं। यथा "**स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च**" (ऋ० १.२४.१)। व्योमन्=वि=अव् (रक्षणे)+मन् (उणा० १.१४२); मन् प्रत्ययस्य टिलोपो धातोरुपधावकारयोरूठ् (दयानन्द)। देवान्="**देवाः पुरुषमाविशन्**"; (अथर्व० ११.८.२९); तथा "**आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः। चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन्** (अथर्व० ११.८.२७); तथा "**सत्यं यज्ञो यशो बृहत्। बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन्** (अथर्व० ११.८.२०) इत्यादि। ये देव हैं जिन को कि उपासक अपने में सुसंगत करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत। अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे ॥ ४ ॥

अर्थ—(देवाः) दिव्य उपासक (यत्) जो कि (पुरुषेण) ब्रह्माण्ड-पुरी में शयन करने वाले या उस में निवास करने वाले परमेश्वररूपी (हविषा) हवि द्वारा (यज्ञम्) ध्यान यज्ञ का (अतन्वत) विस्तार करते हैं, (तस्मात्) इस कारण (नु) निश्चय से (ओजीयः) ध्यानयज्ञ अधिक ओजस्वी (अस्ति) है, (यत्) यतः (विहव्येन) द्रव्ययज्ञ के बिना (ईजिरे) वे यज्ञ करते हैं।

[पुरुषेण=पुरि शेते, वसति वा। मन्त्र में द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा से ध्यानयज्ञ को अधिक ओज वाला कहा है। यथा—"**श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप**" (गीता ४.३३) तथा (यजुः० ३१.१६)। अतन्वत, ईजिरे प्रयोग वर्तमानार्थक हैं, यथा "**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**" (अष्टा० ३.४.६) द्वारा लुङ् आदि का प्रयोग वर्तमान में भी किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

अर्थ—(मुग्धाः) मोह अर्थात् अज्ञान से ग्रस्त (देवाः) वे मदान्वित यजमान हैं जो कि (शुना उत) श्वा द्वारा भी (अयजन्त) यज्ञ करते हैं, (उत गोः अङ्गैः) तथा गौ के अङ्गों द्वारा भी (पुरुधा) बहुत प्रकार से (अयजन्त) यज्ञ करते हैं। (यः) जो कोई (इमम् यज्ञम्) इस द्विविध यज्ञ को (मनसा) मनन पूर्वक (चिकेत) सम्यक् रूप में जानता है (तम्) उस ज्ञानी को (नः) हमारे प्रति (प्रवोचः) तू कह; (तम्) उस [के नाम] को (इह इह) इन नाना स्थानों में (ब्रवः) तू घोषित कर।

[मुग्धाः=**कार्याकार्यविवेकरहिताः, देवाः यजमानाः** (सायण)। मुग्धाः=**मुह वैचित्ये** (दिवादिः)। वैचित्यम्=वि+**चिती (संज्ञाने,** भ्वादिः) अर्थात् सम्यक् ज्ञान से रहित। देवाः=मदान्विताः। दिवु मदार्थक

---

१. **यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु**। मन्त्र में "संगतिकरण" अर्थ अभिप्रेत है।

(दिवादि:) मन्त्र में "इमं यज्ञं मनसा चिकेत" शब्द द्वारा "शुना और गोभि:" शब्दों के प्रतीयमान अर्थों में अरुचि प्रकट की गई है। "शुना" का वास्तविक अर्थ है, "वायु द्वारा" यथा "शुनासीरौ" में "शुन" का अर्थ वायु है (निरुक्त ९.४.४०)। "शुनेन" की तृतीया-सुप्-विभक्ति को "डा" आदेश होकर "टि" का लोप हुआ है (अष्टा० ७.१.३९)। अत: शुनेन=शुना, वायुना। वायु को पशु कहा भी है, जिसके द्वारा कि यज्ञ किया जाता है, सम्पन्न होता है। यथा "**अग्नि: पशुरासीत्तेनायजन्त। वायु: पशुरासीत्तेनायजन्त। सूर्य: पशुरासीत्तेनायजन्त** (यजु:० २३.१७)। इस प्रकार पशुयज्ञ है, अग्नि, वायु, और सूर्य द्वारा यज्ञ करना। "गोभि:" पद द्वारा गौ के दुग्ध का कथन हुआ है। यथा "**अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति" गोभि: श्रीणीत मत्सरम् "इति पयस:**" (निरुक्त २.२.५)। इस प्रकार गौ के दूध, दधि, आज्य द्वारा किया गया यज्ञ गौ के अङ्गों द्वारा किया गया यज्ञ है। तथा गौ का अर्थ है पृथिवी। "**गौरिति पृथिव्या नामधेयम्**" (निरुक्त २.२.५) पृथिवी के अङ्ग हैं, नानाविध अन्न, ओषधियां, वनस्पतियाँ। पृथिवी के इन नानाविध अङ्गों द्वारा किया गया यज्ञ, "गोरङ्गै:" द्वारा किया गया यज्ञ है]।

सूक्त ६

ऋषि:—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकाम:)**॥ देवता—**अदिति:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र:।
विश्वे देवा अदिति: पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ १ ॥

अर्थ—(द्यौ:) द्युलोक (अदिति:) अक्षीणा-देवमाता प्रकृति है, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अदिति:) अदिति है, (माता अदिति:) माता अदिति है, (स: पिता) वह पिता [अदिति:] है, (स: पुत्र:) वह पुत्र [अदिति:] है। (विश्वे देवा:) सब सूर्यादि द्योतमान पदार्थ (अदिति:) अदिति हैं, (पञ्चजना:) पांच जन (अदिति:) अदिति हैं, (जातम्) उत्पन्न जगत् और (जनित्वम्) जो उत्पन्न होगा (अदिति:) वे सब अदिति हैं।

["**अदितिरदीना देवमाता**" (निरुक्त ४.४.२२), अदिति पद (४९)। अर्थात् प्रकृति माता किसी के प्रति दीन नहीं है, तथा वह अक्षीणा, अनश्वरा है, नित्या है। अ+**दीङ् क्षये** (दिवादि:)। पञ्चजना:=उत्पन्न पञ्चभूत, पृथिवी अप्, तेज:, वायु, आकाश। चेतन और जड़ पदार्थ जो उत्पन्न हुए हैं, और जो उत्पन्न होंगे उन्हें अदितिरूप कहा है। अदिति इन सब देवों की माता है, निर्माण करती है। अत: ये सब अदिति माता की सन्तानें हैं। सन्तानों को मातृ-स्वरूप कहा जाता है। यथा "**आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरद: शतम्**" (शत० ब्राह्मण २४.९.८.२६) इसलिए द्यौ: आदि को "आदिति:" कहा है]।

ऋषि:—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकाम:)**॥ देवता—**अदिति:** ॥ छन्द:—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥ २ ॥

अर्थ—(महीम्) पूजनीया, (सुव्रतानाम् मातरम्) उत्तम-व्रतों वालों की माता (ऋतस्य) सत्य की (पत्नीम्) पालयित्री पालन करने वाली, (तुविक्षत्राम्) बहुविध धनों की स्वामिनी, (अजरन्तीम्) न जीर्ण होने वाली या जरारहित, (उरूचीम्) विस्तृत आकाश में व्याप्त, (सुशर्माणम्) उत्तम-सुख से सम्पन्न या (ऊषु) उत्तम-आश्रयरूप, (सुप्रणीतिम्) उत्तम प्रणय वाली (अदितिम्) अदीना या अक्षीणा देवमाता का

(अवसे) निजरक्षार्थ (सुहवामहे) हम उत्तम प्रकार भक्ति पूर्वक आह्वान करते हैं।

[महीम्=**मह पूजायाम्** (भ्वादि:)। **ऋतम् सत्यनाम** (निघं० ३.१०)। **तुवि बहुनाम** (निघं० ३.१)। **क्षत्रम् धननाम** (निघं० २.१०)। उरूचीम्=उरु+**अञ्चु गतौ। शर्म सुखनाम** (निघं ३.६); तथा **गृहनाम** (निघं० ३.४)। अदितिः=अ+दीङ्क्षये (दिवादि:)+क्तिन्।

प्रणय=प्रेम। अदितिम्=मन्त्र में अदिति द्वारा अक्षीणा देवमाता पारमेश्वरी माता अभिप्रेत है।]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्त्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ ३॥

अर्थ—(सुत्रामाणम्) उत्तम त्राण करने वाली, (पृथिवीम्) विस्तीर्ण (द्याम्) द्योतमान (अनेहसम्) पापरहित, (सुशर्माणम्, अदितिम्, सु प्रणीतिम्) अर्थ मन्त्र ७.६.२; (स्वरित्राम्) उत्तम चप्पुओं वाली, (दैवीं) देवसम्बन्धी (अस्त्रवन्तीम्) स्त्रवण न करने वाली, (नावम्) नौका पर, (अनागसः) पापरहित हम (स्वस्तये) कल्याण के लिए (आरुहेम) आरोहण करें।

[मन्त्र में जलीय नौका, तथा अदितिरूप पारमेश्वरी-मातृरूप नौका का मिश्रित वर्णन हुआ है। "अनेहसम्" का अर्थ है पापरहित, इसका साक्षात् सम्बन्ध परमेश्वर माता के साथ है, वह पापरहिता है, जलीय नौका के साथ इस का सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार "अनागसः" का सम्बन्ध भी पारमेश्वरी-नौका के साथ है। उपासक पापरहित होकर ही पारमेश्वरी-नौका पर आरोहण कर सकते हैं, जलीय नौका पर तो पापी, निष्पापी सभी आरोहण कर सकते हैं। परमेश्वर नौकारूप है। श्वेता० उप० (अ० २। खण्ड ८) में परमेश्वर को "ब्रह्मोडुप" कहा है, यथा—"**ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि**", अर्थात् अध्यात्मविद्-उपासक ब्रह्मरूपी-उडुप द्वारा सब भयावह स्रोतों को तैर जाए। भयावह स्रोत हैं, इन्द्रिय स्रोत। उडुप का अर्थ है नौका।

परमेश्वर-माता भी त्रायमाणा है, रक्षिका है, पृथिवी के सदृश विस्तीर्णा है, द्यौ की तरह द्योतमाना है, और सुप्रणीति अर्थात् विशेषतया प्रणय वाली है। वह "स्वरित्रा" माता है, कामक्रोध आदि अरियों से सुगमता से त्राण करती है। वह नौका है इसलिए इस पर आरोहण भी सम्भव है। जलीय-नौका भी विस्तीर्ण [पृथिवीम्] होनी चाहिए, तथा उसमें प्रकाश का प्रबन्ध होना चाहिए [द्याम्], तथा उस में उत्तम गृह भी होने चाहिएँ [**शर्म गृहनाम** निघं० ३.४] ताकि यात्री उनमें विश्राम कर सकें तथा वह छिद्ररहित होनी चाहिए [अस्त्रवन्तीम्] ताकि नदी या समुद्र का जल उसमें स्त्रवण न कर सके]।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्वन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्॥ ४॥

अर्थ—(वाजस्य) बल अर्थात् शक्ति के (नु) शीघ्र (प्रसवे) उत्पादन के निमित्त, (अदितिम् नाम) अदिति नाम वाली (महीम्, मातरम्) पूजनीया परमेश्वर-माता को (वचसा) स्तुति-प्रार्थना-वचनों द्वारा (करामहे) हम स्वकीया करते हैं, अपनाते हैं। (यस्याः) जिसकी (उपस्थे) गोद में (उरू) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है, (सा) वह अदिति-माता (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन-गृहों व्यापी (शर्म)

सुख (नियच्छात्) प्रदान करे।

[**वाजः बलनाम** (निघं० २.९)। **वरूथम् गृहनाम** (निघं० ३.४)। त्रिवरूथम्=तीन गृह=कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीर, जो कि जीवात्माओं के निवास के लिए गृहरूप हैं। **शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६)] (४)।

तथा

(वाजस्य) अन्न के (प्रसवे) उत्पादन के निमित्त, (महीम्) महती (अदितिम्, मातरम्) पृथिवी माता को (वचसा) वेदोक्त विधि द्वारा (करामहे) अन्नोत्पादनयोग्या हम करते हैं। (यस्याः) जिस पृथिवी माता के (उपस्थे) उपस्थ में अर्थात् उस क़ी समीप स्थिति में (उरू) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है, (सा) वह पृथिवी-माता (त्रिवरूथम्) तीन मंजिलों वाला (शर्म) गृह (नः) हमें (नियच्छात्) प्रदान करे।

[**वाजः अन्ननाम** (निघं० २.७)। **अदितिः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)। **शर्म गृहनाम** (निघं० ३.४)। **वरूथम् गृहनाम** (निघं० ३.४)। वरूथम्=**वृञ् आवरणे,** आवृत, घिरा हुआ, इष्टकाचयन द्वारा दीवारों से घिरा हुआ गृह। "प्रसवे, उपस्थे" इन शब्दों द्वारा तथा अदिति के साथ अन्तरिक्ष के सम्बन्ध दर्शाने द्वारा, अदिति और अन्तरिक्ष में, पत्नी-पतिभाव सूचित किया है। पतिरूप अन्तरिक्ष से वर्षाजल को, पुरुष-शक्ति रूप में, निर्दिष्ट किया है, जिसे प्राप्त कर पत्नीरूप अदिति, अन्नरूपी-सन्तान, प्राप्त करती है। वेद में वर-वधू या पति-पत्नी के भाव को "द्यौः पृथिवी" द्वारा भी सूचित किया है। यथा "**द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह सं भवाव, प्रजामा जनयावहै**" (अथर्व० १४.२.७१)।

सूक्त ७

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**आर्षी जगती**॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन॥ १॥

अर्थ—(दितेः) दिति के (पुत्राणाम्) पुत्रों अर्थात् दैत्यों के (धाम) स्थान को (अकारिषम्) मैंने कर दिया है। (देवानाम्) देवों के पुत्रों के लिए, जो देव कि (बृहताम्) गुणों में महान् हैं, और (अनर्मणाम्) अर्म अर्थात् क्षति नहीं पहुँचाते।

[हे अदिति-माता] (अव) अतः मेरी रक्षा कर। (तेषाम्) उन दिति के पुत्रों का (धाम) स्थान (समुद्रियम्) हृदय-समुद्र[1] में था, (गभिषक्) और गम्भीर या गहरा[2] था, अतः (एनान्) इन देवों या देवपुत्रों को [मैंने स्वीकृत किया है] (नमसा) नम्रतापूर्वक। क्योंकि (कश्चन) कोई भी [दिति का पुत्र] (परः) इन से उत्कृष्ट (न अस्ति) नहीं है।

[ऋग्वेद (१०.३६.११) मन्त्र निम्नलिखित है। यथा "महदद्य महतामा वृणीमहेऽवो देवानां बृहतामनर्वणाम्" इस मन्त्र में "देवानाम्" पद से पूर्व "अवः" पद पठित है, जोकि रक्षार्थक है। इस लिए व्याख्येय मन्त्र के "अव" पद को, "अव" धातु, लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन मान कर अर्थ किया है। दिति के पुत्र हैं, प्रकृति में[3] रममाण संसारी मनुष्यों के, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि भाव। इन

१. हृदय में रक्तरूपी जल भरा रहता है, अतः इसे समुद्र कहा है। २. हृदय के अन्तःस्थल में था।

३. प्रकृति है दिति, खण्डित होने वाली, क्षीण होने वाली, और अदिति है परमेश्वर-माता जोकि अनश्वर और अक्षीण

का स्थान हृदय-समुद्र में था और गहरा था। इन्हें इस स्थान से प्रच्युत करके, इस स्थान को, मैंने देवों या देवपुत्रों के लिए अर्पित कर दिया है। देव या देवपुत्र हैं—सत्य, श्रद्धा, पवित्रता, देवपूजन, परोपकार आदि। देव मेरे हृदय-समुद्र में बसे रहें, एतन्निमित्त मैं हे अदिति-माता! तेरे से निज रक्षार्थ प्रार्थना करता हूँ। मैंने नम्रतापूर्वक इन देवों या देवपुत्रों को स्वीकृत किया है। समुद्र-हृदय-समुद्र (सिन्धुसृत्याय अथर्व० १०.२.११)। स्वीकृत किया है—यह अर्थ ऋग्वेद १०.३६.११ के "वृणीमहे" के अनुकूल है, जिसका अर्थ है "हम वरण करते हैं"। धाम=**धामानि त्रयाणि भवन्ति, नामानि, स्थानानि, जन्मानि** (निरुक्त ९.३.२८)।

सूक्त ८

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम्॥ १॥

अर्थ—(भद्रात् अधि) भद्रमार्ग से (श्रेयः) श्रेयमार्ग की ओर (प्रेहि) तू जा, (बृहस्पतिः) बृहद्-ब्रह्माण्ड का पति परमेश्वर (ते) तेरा (पुरएता) अग्रगामी (अस्तु) हो, मार्गदर्शक हो। (अथ) तदनन्तर हे बृहस्पति! (इमम्) इस श्रेयमार्गी को (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (वरे) उत्कृष्ट स्थान में (आ) पूर्णतया (कृणुहि) स्थापित कर, और (सर्ववीरम्) सब प्रबल शक्तियों समेत (शत्रुम्) इसके शत्रु को (आरे) दूर (कृणुहि) कर।

[सूक्त (७) के मन्त्र में दैत्यभावों के स्थान में दिव्यभावों को हृदय में स्थापित करने का वर्णन हुआ है। यह है। भद्रमार्ग। इस भद्रमार्ग से श्रेयमार्ग की ओर जाने का कथन इस मन्त्र में हुआ है। श्रेयमार्ग की और जाने में परमेश्वर को अगुआ कर उसका पदानुगामी बनना चाहिए, ताकि श्रेयमार्गी पथभ्रष्ट न हो जाए। इस श्रेय मार्ग पर चलते हुए कामादि शत्रु, निज प्रबल शक्तियों सहित, इसे श्रेयमार्ग से विचलित करने की चेष्टा करते हैं, उन्हें परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना पूर्वक दूर करते रहना चाहिए]।

सूक्त ९

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्॥ १॥

अर्थ—(पथाम्) मार्गों में से (प्रपथे) श्रेष्ठमार्ग पर चलते हुए, (पूषा) पोषक परमेश्वर (अजनिष्ट) प्रकट होता है, (दिवः) अर्थात् दिव्य (प्रपथे) श्रेष्ठ मार्ग पर, तथा (पृथिव्याः) पार्थिव (प्रपथे) श्रेष्ठ मार्ग पर [चलते हुए को]। (उभे) ये दोनों मार्ग (प्रियतमे) अत्यन्त प्रिय लगते हैं, (सधस्थे) और जीवन में साथ-साथ स्थित रहते हैं। (प्रजानन्) प्रज्ञानी व्यक्ति (अभि) इन दोनों मार्गों को संमुख कर (आ च) इधर के अर्थात् प्रेय के मार्ग की ओर, (परा च) और परले अर्थात् श्रेयमार्ग की ओर [युगपत्] (चरति) चलता है।

है। दिति=**दो अवखण्डने** (दिवादिः)।

[जीवन के दो मार्ग हैं, दिव् का मार्ग अर्थात् देवों का मार्ग, श्रेयमार्ग, और पार्थिव जीवन का मार्ग, प्रेयमार्ग। इन दोनों मार्गों पर साथ-साथ चला जा सकता है (सधस्थे) यदि इन दोनों मार्गों पर उत्कृष्टरूप में—अर्थात् दोनों मार्गों के लिए निर्दिष्ट समन्वित निज कर्त्तव्यों का पालन करते हुए, चला जाए, (प्रपथे) तो दोनों मार्गों में परमेश्वर की प्राप्ति हो सकती है। परमेश्वर पूषा है, वह दोनों मार्गों पर युगपत् चलने वाले को पुष्टि प्रदान करता रहता है]।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥ २॥

अर्थ—(पूषा) पुष्टिदायक परमेश्वर (सर्वाः इमाः आशाः) हमारी सब आशाओं, इच्छाओं को (अनु) निरन्तर (वेद) जानता है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) सर्वथा भय रहित मार्ग द्वारा (नेषत्) ले चले, [हमारा नेता बन कर उस मार्ग पर हमें चलाए]। वह (स्वस्तिदाः) कल्याण-प्रदाता है, (आघृणिः) ज्ञानदीप्ति सम्पन्न है, (सर्ववीरः) सबका विशेषतया प्रेरक है, वह (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद किये, (प्रजानन्) सर्वज्ञ होता हुआ (पुरः एतु) हमारा पुरोगामी अर्थात् अगुआ होकर (एतु) आए, हमें प्राप्त हो।

[आशाः=**आङः शासु इच्छायाम्** (अदादिः)। आघृणिः=**घृ दीप्तौ** (जुहोत्यादिः)। सर्ववीरः=' सर्व+वि+ईरः; प्रेरक। अप्रयुच्छन् अर्थात् सर्वदा सावधान हुआ]।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षी गायत्री** ॥

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्त इह स्मसि॥ ३॥

अर्थ—(पूषन्) हे पुष्ट करने वाले परमेश्वर! (तव) तेरे (व्रते) व्रत में वर्तमान (वयम्) हम (कदाचन) कभी भी (न रिष्येम) न हिंसित हों। (इह) इस जीवन में (ते) तेरा (स्तोतारः) स्तवन करने वाले (स्मसि) हम हैं।

["तव व्रते", मन्त्र (२) के अनुसार पूषा का व्रत "अप्रयुच्छन्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। इस व्रत को धारण करते हुए हम उपासक भी हिंसित नहीं होते, क्योंकि विना प्रमाद के सर्वदा सावधान हुए हम निज कर्त्तव्य पालन करते हैं और परमेश्वर का स्तवन करते हैं]।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि॥ ४॥

अर्थ—(परस्तात्) परात्पर वर्तमान (पूषा) पोषक परमेश्वर, (दक्षिणम्, हस्तम्) वृद्धिकारक हमारे दाहिने हाथ को (परिदधातु) परिपुष्ट करे। ताकि (नष्टम्) नष्ट हुआ धन (नः) हमें (पुनः) फिर (आ अजतु) प्राप्त हो, और (नष्टेन) नष्ट हुए धन के साथ (संगमेमहि) हम संग करें।

[नष्ट हुए धन की पुनः प्राप्ति के लिए दाहिने हाथ में शक्ति चाहिए, ताकि परिपुष्ट हाथ द्वारा परिश्रम करके हम पुनः धन प्राप्त कर सकें। धन से अभिप्राय है "कृषिधन", जिसका विनाश अवर्षा, अत्युष्णता और विद्युत्प्रपात द्वारा हो जाता है। (सूक्त १२, मन्त्र १)। दक्षिणम्=**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)।

परिदधातु=परि+**डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। परस्तात्="**पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः**" (कठ० उप० ३.११)।

सूक्त १०

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।

येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥ १॥

अर्थ—(सरस्वति) हे ज्ञानसम्पन्ना पत्नी! (ते) तेरा (यः स्तनः) जो स्तन (शशयुः) शिशु को शयन कराने वाला है, (यः मयोभूः) जो उसे सुखदायक है, (यः सुम्नयुः) जो उसके मन को प्रसन्न करने वाला है, (सुहवः) शिशु द्वारा सुगमता से आह्वान योग्य है, प्राप्त किया जा सकता है (सुदत्रः) जो उत्तम दुग्ध देता है, (येन) जिस द्वारा (विश्वा वार्याणि) सब वरणीय अर्थात् श्रेष्ठ गुणों को [शिशु में] (पुष्यसि) तू पुष्ट करती है, (तम्) उस स्तन को (इह) इस गृहस्थ जीवन में (धातवे) शिशुपानार्थ (कः) परिपुष्ट कर।

[सरस्वति, "सरस्=विज्ञानम्" (उणा० ४.१९०, दयानन्द)। **मयः सुखनाम** (निघं० ३.६)। सुम्नयुः=सु+मनस्+या (प्रापणे)+डुम् (औणादिक प्रत्यय)। धातवे=**धेट् पाने** (भ्वादिः)+तुमर्थे तवेन् प्रत्यय। सुदत्रः=सु+दा (दाने)+त्रैङ् (पालने), उत्तम दुग्ध देकर पालन करने वाला]।

सूक्त ११

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्।

मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य॥ १॥

अर्थ—(यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) अन्तरिक्ष में विस्तृत (स्तनयित्नुः) गर्जता मेघ है, (यः) जोकि (ऋष्वः) महाविस्तारी, (दैवः) द्योतमान (केतुः) उत्पन्न होने वाले कृष्यन्न का ज्ञापक है, और (इदम्, विश्वम्, आभूषति) इस सब भूमण्डल को भूषित करता है [अन्न प्रदान द्वारा], (देव) हे [पूषा] देव (विद्युता) विद्युत्प्रपात द्वारा (नः) हमारे (सस्यम्) कृष्यन्न को (मा) न (वधीः) नष्ट कर, (उत) तथा (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों द्वारा (मा वधीः) न नष्ट कर।

[दैवः=देवः; स्वार्थे अण्। **ऋष्वः महत् नाम** (निघं० ३.३)। केतुः=**किती संज्ञाने**। विद्युत-प्रपात द्वारा तथा सूर्य की प्रतप्त रश्मियों द्वारा कृषि नष्ट हो जाती है। मन्त्र में प्रकरण प्राप्त पूषा का सम्बोधन अभिप्रेत है। दैवः=देवः="**दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा**" (निरुक्त ७.४.१५)।

सूक्त १२

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**सभा, समितिः, पितरश्च**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।

येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ १॥

अर्थ—(प्रजापतेः) प्रजा-के-पति सम्राट् की (दुहितरौ) दो दुहिताओं के सदृश उस की अभिलाषाओं

को पूर्ण करने वाली, (संविदाने) और एकमत हुईं, (सभा च समितिः[१] च) सभा और समिति (मा) मेरी (अवताम्) रक्षा करें। (येन) जिस [सभ्य और सामित्य का] (संगच्छै) संग करुं (सः) वह (उप) मेरे पास आकर (मा) मुझे (शिक्षात्) शिक्षित करे, निज सम्मति प्रदान करे, (पितरः) हे पितरो! (संगतेषु) तुम लोगों के संगमों में (चारु) रुचि कर शब्द (वदानि) मैं बोलता हूँ या बोलूं।

[७.१३.३ में "इन्द्र" पद है। इन्द्र है सम्राट्। यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। मन्त्र में वक्ता है "सभापति" जिसे सम्राट् ने नियुक्त किया है, जो सभा-समिति का संचालन करता है। सभा है लोकसभा, प्रजा द्वारा चुनी गई; और समिति है राजसभा, वारुणसभा प्रादेशिक राजाओं की सभा। यथा "**राजानः समिताविव**" (यजुः० १२.८०)। संगतेषु=सभा समिति के संयुक्त अधिवेशन। दुहितरौ=**दुह प्रपूरणे** (अदादिः)। दुहिताएँ जैसे पिता की इच्छानुसार चलकर पिता की अभिलाषाओं को पूर्ण करती हैं, वैसे सभा-समिति सम्राट् की अभिलाषाओं को पूर्ण करे। सभा-समिति के जिस सदस्य को सभापति सम्मत्यर्थ बुलाए वह सभापति के पास जा कर अपनी सम्मति प्रदान करे। सभा-समिति के सदस्यों को सभापति, उनके संमानार्थ "पितर" कहता है, वे साम्राज्य के रक्षक हैं, अतः पितरः हैं। शाखान्तर में "वदानि" के स्थान में "वदामि" भी पाठ है।

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**सभा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वि॒द्म ते॑ सभे॒ नाम॑ न॒रिष्टा॒ नाम॒ वा अ॑सि।

ये ते॒ के च॑ सभा॒सद॒स्ते मे॑ सन्तु॒ सवा॑चसः॥ २॥

अर्थ—(सभे) हे लोकसभा! (ते) तेरे (नाम) नाम को (विद्म) हम जानते हैं, (वे) निश्चय से (नरिष्टा नाम) साम्राज्य के नर-नारियों द्वारा तू इष्ट (असि) है, चाही हुई है। (ते) तेरे (ये के च) जो कोई भी (सभासदः) सभासद् हैं (ते) वे (मे) मुझ सभापति के लिए (सवाचसः) एक वाणी वाले (सन्तु) हों।

[मन्त्र में लोकसभा का वर्णन है। वह "नरिष्टा" है, "नृ+इष्टा" नर-नारियों को अभीष्ट है, उन द्वारा चाही हुई है। सवाचसः=संविदानाः (मन्त्र १)। एकवाणी=सब की एक सम्मति]।

ऋषिः—**शौनकः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ए॒षाम॒हं स॒मासी॑नानां॒ वर्चो॑ वि॒ज्ञान॒मा द॑दे।

अ॒स्याः सर्व॑स्याः सं॒सदो॒ मामि॑न्द्र भ॒गिनं॑ कृणु॥ ३॥

अर्थ—(एषाम्) इन (समासीनानाम्) निज स्थानों में इकट्ठे बैठे हुए सभासदों के (वर्चः) तेज को, (विज्ञानम्) और निश्चय को (अहम्) मैं सभापति (आददे) स्वीकार करता हूँ। (इन्द्र) हे सम्राट्! (माम्) मुझे (अस्याः सर्वस्याः) इस सब (संसदः) संसद् का (भगिनम्) भागी (कृणु) कर।

[वर्चः=तेज, और विज्ञान है इन ज्ञानियों का निश्चय। सभापति सम्राट् को कहता है कि मैं यह

---

१. सभा, समिति, आमन्त्रण—ये तीन नागरिक सस्थाएँ हैं, जिनका कि उत्तरोत्तर क्रम से उत्क्रमण हुआ है (अथर्व० ८.१०.१-१३)। अतः "समिति" सैनिक संस्था नहीं। "समिति" यतः "राजसमिति" है, अतः युद्धकर्म या सैनिकविभाग की संचालक-संस्था "समिति" कही जा सकती है। इस दृष्टि से भी समिति नागरिक ही हैं। वेद की दृष्टि में युद्ध के लिए निश्चय करना, सैनिक-संस्था का काम नहीं है।

स्वीकार करता हूँ कि संसद् में समासीन सब वर्चस्वी हैं, वैदुष्य से सम्पन्न हैं, तथा विज्ञान से सम्पन्न हैं। अतः इनके सम्मत-परामर्श को मैं स्वीकार करूँगा। अतः इस संसद् का मुझे भागी अर्थात् अधिकारी बना। वर्चः=वैदुष्यसम्पन्न प्रभावविशेष (सायण)।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा। तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥ ४॥

अर्थ—हे सदस्यो! (यद्) जो (वः) तुम्हारा (मनः) समुदित मन (परागतम्) [प्रस्तुत विषय से] परे गया हुआ है, पराङ्मुख हुआ-हुआ है, या (यद् इह वा इह वा) जो इधर-उधर [के विषय के साथ] (बद्धम्) बन्धा हुआ है, संलग्न है, (वः) तुम्हारे (तत्) उस समुदित मन को (आवर्तयामसि) [मैं सभापति तथा मन्त्रीगण] लौटाते हैं, ताकि (वः) तुम्हारा समुदित (मनः) मन (मयि) मुझ सभापति [द्वारा प्रस्तावित विषय] में (रमताम्) रमण करे।

[वेदानुसार स्त्रियों को भी संसद् की सदस्या होने का अधिकार ज्ञात होता है[१]]।

सूक्त १३

ऋषिः—**अथर्वा (द्विषो वर्चो हर्त्तुकामः)** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे॥ १॥

अर्थ—(उद्यन् सूर्यः) उदित होता हुआ सूर्य (यथा) जैसे (नक्षत्राणाम्) ताराओं के (तेजांसि) तेजों, दीप्तियों का (आददे) अपहरण करता है, (एवा=एवम्) इस प्रकार (स्त्रीणां च) द्वेषियों की स्त्रियों के (द्विषतां, पुंसाम् च) द्वेष करते हुए पुरुषों के (वर्चः) प्रभावविशेष का (आददे) मैं अपहरण करता हूँ।

[मन्त्र में वक्ता निर्दिष्ट नहीं हुआ। सम्भवतः सूक्त (१६) में निर्दिष्ट सभापति अभिप्रेत हो, और सभा-समिति के संसदों में से शासकदल के विरोधी दल के स्त्री-सदस्यों और पुरुष-सदस्यों को द्विषतां द्वारा निर्दिष्ट किया हो, अथवा सभापति द्वेषी राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में कथन कर रहा है]।

ऋषिः—**अथर्वा (द्विषो वर्चो हर्त्तुकामः)** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे॥ २॥

अर्थ—(सपत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने तुम (आयन्तम्) आते हुए (मा) मुझ को (प्रतिपश्यथ) प्रतिकूल रूप में देखते हो, उन (द्विषताम्) द्वेष करने वालों के (वर्चः) प्रभावविशेष का (आ ददे) मैं अपहरण करता हूँ, (इव) जैसे कि (उद्यन् सूर्यः) उदय को प्राप्त होता हुआ सूर्य (सुप्तानाम्) सोए हुओं के वर्चस् का अपहरण करता है।

[अभिप्राय पूर्वगत मन्त्रवत् है। "आयन्तम् मा" द्वारा सम्भवतः संसद् के अधिवेशन में आते हुए सभापति का निर्देश हुआ है। अथवा इन दोनों मन्त्रों में यह इन्द्र अर्थात् सम्राट् का कथन हुआ है। इन्द्र अर्थात् सम्राट् (सूक्त १३.३)। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि सूर्य के उदय-काल में सोए हुओं का वर्चस्

१. इस अधिकार के लिए मन्त्र १२.३.५२ द्रष्टव्य है। इस मन्त्र में "समित्याम्" द्वारा स्त्री तथा पुरुष के समिति में अनृतभाषण की चर्चा हुई है।

नष्ट हो जाता है। यह काल सन्ध्याकाल है, सोए रहने का काल नहीं]।

प्रथम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक २

सूक्त १४

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।

अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्॥ १॥

अर्थ—(ओण्योः) द्युलोक और पृथिवीलोक के (सवितारम्) उत्पादक, (कविक्रतुम्) कवियों की प्रज्ञा या कर्म वाले, (सत्यसवम्) सत्य के प्रेरक या सत्यज्ञान के प्रेरक, (रत्नधाम्) रमणीय गुणों के धारण करने वाले, (प्रियम्) प्रिय, (मतिम्) मननीय या ज्ञानस्वरूप (त्यम् देवम्) उस परमेश्वर देव को (अभि) लक्ष्य कर उसकी (अर्चामि) मैं स्तुति करता हूँ, या पूजा करता हूं।

[ओण्योः; **ओण्यौ द्यावापृथिवीनाम** (निघं० ३.३०)। "**अवतेः' औणादिको निः प्रत्ययः**, "**ज्वर-त्वर०**" (अष्टा० ६.४.२०) **इत्यादिना ऊठ्, गुणः** (सायण)। **क्रतुः प्रज्ञानाम; कर्मनाम** (निघं० ३.९;२.१)। परमेश्वर कवि है। यथा "**कविर्मनीषी**" (यजुः० ४०.८), तथा परमेश्वर का काव्य है वेद। "**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**" (अथर्व० १०.८.३२)। अर्चामि=**ऋच् स्तुतौ; अर्च पूजायाम्** (तुदादिः; भ्वादिः)। सवम्=**षू प्रेरणे** (तुदादिः)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि। हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात्स्वः॥ २॥

अर्थ—(यस्य) जिस की (सवीमनि) प्रेरणा में (अमतिः) व्यापन शीला (भाः) दीप्ति (ऊर्ध्वा) ऊपर की ओर (अदिद्युतत्) चमक रही है, (हिरण्यपाणिः) सुवर्णमय हाथों वाले सूर्य के सदृश जो मानो निज हाथों द्वारा हिरण्य आदि प्रदान कर रहा है, (सुक्रतुः) उस सुकर्मा परमेश्वर ने (कृपात्) कृपा से (स्वः) स्वर्गीय सुख का (अमिमीत) निर्माण किया है।

[सवीमनि=**षू प्रेरणे**। अमतिः= अमतिः=व्यापनशीला (सायण)। अभिप्राय यह कि जो परमेश्वर ऊर्ध्व दिशा में सूर्य, तारागण आदि को प्रदीप्त कर रहा है, वह ही सुवर्ण आदि धन प्रदान कर हमें सुखी कर रहा है। "कृपात्"[१]; "कृपा" कृपू सामर्थ्ये क्विप् (सायण)। अथवा "कृप्+कः+पञ्चम्येकवचन"। यथा "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (अष्टा० ३.१.१३५)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै।

अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः॥ ३॥

अर्थ—(देव) हे परमेश्वर देव! (अस्मै) इस (प्रथमाय) मुख्य (पित्रे) पिता के लिए, (अस्मै) इस पिता के लिए (वर्ष्माणम्) सुखवर्षी तथा स्नेही (वरिमाणम्) तथा श्रेष्ठ पुत्र (सावीः) प्रेरित अर्थात्

१. सायणभाष्य में "कृपात्" के स्थान में "कृपा" पाठ है। कृपात्=सम्भवतः कृप+पञ्चम्येकवचन।

प्रदान कर। (अथ) तदनन्तर (अस्मभ्यम्) हमें (सवितः) हे प्रेरक (देव) देव! (दिवोदिवः) प्रतिदिन (वार्याणि) वरणीय फल तथा (भूरि=भूरीन्) प्रभूत (पश्वः) पशु (आसुव हि) निश्चय से प्रदान कर।

[अस्मै-अस्मै=इस-इस मुख्य पिता के लिए, अर्थात् प्रत्येक गृह में जो-जो मुख्य पिता हैं, उन्हें। वर्ष्माणम्=सुखवर्षी या स्नेह (**वर्ष स्नेहने,** भ्वादिः)। गृहस्थ में जो-जो मुखिया हैं, उन में से प्रत्येक को सुखवर्षी तथा स्नेही पुत्र के प्रदान की प्रार्थना की गई है। तदनन्तर ही अन्य गृहवासियों को श्रेष्ठ प्रतिफल मिल सकते हैं। उन पुत्रों के पालन-पोषण के लिए गौ आदि प्रभूत पशुओं की प्राप्ति भी प्रार्थित की गई है। वरिमा=Excellance, superiority (आप्टे)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**जगती**॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि।

पिबात्सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥ ४॥

अर्थ—(दमूनाः) दानी मन वाला, (वरेण्यः) वरणीय, (सविता देवः) उत्पादक परमेश्वर-देव (पितृभ्यः) माता पिताओं के लिए (रत्नम्, दक्षम्, आयूंषि) रत्न, बल तथा आयु को (दधत्) प्रदान करता हुआ, (सोमम्) इनके उत्पन्न भक्तिरस का (पिबात्) पान करे, (इष्टे) और ध्यानेष्टि में (एनम्) इस प्रत्येक ध्याता को (ममदत्) प्रसन्न करे, (अस्य) इस परमेश्वर के (धर्मणि) धारण-सामर्थ्य में (ज्मा चित्) पृथिवी भी (परिक्रमते) परिक्रमा कर रही है।

[दमूनाः=**दानमनाः** (निरुक्त ४.१.५) दधत्=विदधत्। **दक्षः बलनाम** (निघं० २.९)। सोमम्=उत्पन्न भक्तिरस। ज्मा=पृथिवी (निघं० १.१)। पृथिवी की परिक्रमा द्वारा परमेश्वर के सामर्थ्य को प्रकट किया है]।

सूक्त १५

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्।

यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय॥ १॥

अर्थ—(सवितः) हे उत्पादक परमेश्वर! (सत्यसवाम्) सत्य की प्रेरिका, (सुचित्राम्) महनीया, पूजनीया, (विश्ववाराम्) सब द्वारा वरणीया अर्थात् स्वीकरणीया (तां सुमतिम्) उस उत्तम-मति की (अहम्) मैं (आवृणे) याचना करता हूँ, (अस्य) इस परमेश्वर की (प्रपीनाम्) ज्ञानवृद्धा, तथा (सहस्रधाराम्) हजारों को धारण करने वाली या हजारों धाराओं वाली (याम्) जिस वेदवाक् या सुमति को (महिषः कण्वः) महान् मेधावी ने (भगाय) निज सौभाग्य के लिए (अदुहत्) दोहा है। अदुहत्=वर्तमाने लङ्। "**छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**" (अष्टा० ३.४.६)।

[अदुहत्, प्रपीनाम्, सहस्रधाराम्" द्वारा गौः अर्थापन्न होती है। यह मन्त्र "तै० सं०" में भी पठित है (४.२.५.५); वहां "**महिषो भगाय**" के स्थान में "पयसा महीं गाम्" पाठ है। इससे भी ज्ञात होता है कि व्याख्येय मन्त्र में "गौ" अभिप्रेत है, जिससे कि सुमति का दोहन हुआ है। वह गौ है वेदवाक्, वेदवाणी। **गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। वेदवाक् "प्रपीना" है ज्ञानवृद्धा है, **प्यायी वृद्धौ** (भ्वादिः)। वह "सहस्रधारा" भी है, सुमति दुग्ध प्रदान द्वारा हजारों का धारण-पोषण करती है। "दुह" धातु

द्विकर्मक है। इस लिए भी "सुमतिम्" और "गाम्" [वेदवाक्] ये दो "कर्म" पद अपेक्षित हैं]।

सूक्त १६

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय।

संशितं चित्सन्तरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

अर्थ—(बृहस्पते) हे बृहती अर्थात् महती-वेदवाक् के पति! (सवितः) हे उत्पादक परमेश्वर! (एनम्) इस [कण्व] की (वर्धय) वृद्धि कर, (एनम्) इसे (महते सौभगाय) महा-सौभाग्य के लिए (ज्योतय) ज्ञानज्योति प्रदान कर। (संशितम्) तीक्ष्ण बुद्धि वाले को (चित्) भी (संतरम्) सम्यक् अतिशय रूप में (संशिशाधि) ज्ञान ज्योति द्वारा सम्यक् तथा तीक्ष्ण बुद्धि वाला कर, ताकि (विश्वे देवाः) सब विद्वान् (एनम्, अनु) इसे अनुकूलरूप में प्राप्त कर, (मदन्तु) हर्षित हों।

['बृहस्पते'; बृहस्पति द्वारा वेद प्रकट हुए (ऋ० १०.७१.१)। इस से कण्व (१६.१) वेदस्वाध्यायी ज्ञात होता है। "संशिशाधि" पद "**शो तनूकरणे**" (दिवादिः) का लोट् लकार में रूप है। तनूकरण का अभिप्राय है तीक्ष्ण करना। अतः "कण्व" अर्थात् मेधावी (निघं० ३.१५) की मेधा को तीक्ष्ण करने का कथन "संशिशाधि" द्वारा हुआ है, और वह सात्त्विक तीक्ष्णता वेद के अधिक स्वाध्याय द्वारा अभिप्रेत है। अतः कण्व है ब्रह्मचारी वेदाध्यायी। इस प्रकार (१६.१) का सम्बन्ध (१७.१) के साथ प्रकरणानुकूल हो जाता है। "मदन्तु देवाः" का सम्बन्ध भी ब्रह्मचारी के साथ उपपन्न है। यथा "**तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः**" (अथर्व ११.५.३), अर्थात् उस ब्रह्मचारी को देखने के लिए देव लोग उसकी ओर मिलकर जाते हैं]।

सूक्त १७

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**धात्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षी गायत्री** ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

अर्थ—(धाता) धारण-पोषण करने वाला (ईशानः) ईश्वर (नः) हमारे (रयिम्) धन को (दधातु) परिपुष्ट करे (जगतस्पतिः) जो कि जगत् का स्वामी है (सः) वह (पूर्णेन) भरपूर धन के [प्रदान] के साथ-साथ (नः) हमें (यच्छतु) उपरामवृत्ति भी प्रदान करे।

[यच्छतु=**यम उपरमे** (भ्वादिः)। दधातु=**डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। अभिप्राय यह कि ईश्वर हमें भरपूर धन के साथ-साथ उपराम वृत्ति भी दे, ताकि उस धन के होते हम उस में लिप्त न हो जाएँ]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**धात्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।

वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

अर्थ—(धाता) धारण-पोषण करने वाला परमेश्वर, (दाशुषे) दान करने वाले के लिए, (प्राचीम्) प्रगतिदायक, (अक्षिताम्) न क्षीण होने वाली (जीवातुम्) जीवनकारिणी सम्पत्ति (दधातु) दे, या उसे

परिपुष्ट करता रहे। (वयम्) हम (विश्वराधसः) सब को धन देने वाले (देवस्य) परमेश्वर की (सुमतिम्) इस सुमति का (धीमहि) ध्यान करें।

[मन्त्र (१) में प्रभूत धन के होने पर भी उपराम वृत्ति का वर्णन हुआ है। ''दाशुषे'' द्वारा भी धन प्राप्त करने वाले की दान भावना द्वारा उपरामवृत्ति को सूचित किया है। यह उपराम वृत्ति सुमति है, जिसे कि ''विश्वराधस्'' ने प्रदान किया—इसे हमें सदा ध्यान में रखना चाहिए। **राधः धननाम** (निघं० २.१०)]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**धात्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥ ३॥

अर्थ—(प्रजाकामाय) प्रजा की कामना वाले, (दाशुषे) दानवृत्तिवाले के लिए (दुरोणे) उस के गृह में (धाता) धारण-पोषण करने वाला परमेश्वर (विश्वा) सब प्रकार के (वार्या) वरणीय धन (दधातु) दे, और उन्हें परिपुष्ट करे। (तस्मै) उसके लिए (देवाः) देव, (विश्वेदेवाः) अर्थात् सब देव, तथा (सजोषाः) प्रेममयी (अदितिः) अदीना पारमेश्वरी देवमाता (अमृतम्) अविनाशी मोक्ष सुख (संव्ययन्तु) प्रदान करें।

[प्रजा की कामना वाले गृहस्थी को भी दान देना चाहिए। इस दान वृत्ति वाले गृहस्थी को गृहस्थ में भी मोक्षसुख प्राप्त हो जाता है, और मोक्षसुख की प्राप्ति में सब देव और परमेश्वर उसके सहायक हो जाते हैं। देव हैं दिव्यगुणी विद्वान्। संव्ययन्तु=**व्येञ् संवरणे** (भ्वादिः)। संवरण=ढांपना। अर्थात् ऐसे गृहस्थी को मोक्षसुख के आवरण द्वारा सब देव और अदिति मिल कर ढांप देते हैं, ढांप कर सुरक्षित कर देते हैं जिससे लोभादि कुवृत्तियों की मार से वह बचा रहता है]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**धात्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु॥ ४॥

अर्थ—(धाता) कृषि विभाग, (रातिः) दान विभाग, (सविता) तथा राष्ट्र की उत्पत्तियों और उन से प्राप्त लाभों का अधिकारी, ये तीनों अधिकारी, (इदम्) प्रजा द्वारा प्राप्त इस धन का (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें, [निर्दय पूर्वक इस धन का उपयोग न करें]; (अग्निः) और राष्ट्र का अग्रणी अर्थात् मुखिया-नेता (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक या स्वामी राजा (नः) हम प्रजाजनों का (निधिपतिः) निधि रक्षक हो; (त्वष्टा) राष्ट्र की रूप सम्पत्ति का अधिष्ठाता, (विष्णुः) तथा यज्ञादि धार्मिक कर्मों का अधिकारी (प्रजया संरराणः) प्रजा के साथ रममाण हुआ, (यजमानाय) राष्ट्रयज्ञ के कर्ता प्रजाजन के लिए, (द्रविणम्) धन को (दधातु) परिपुष्ट करे।

[धाता=जीवनकारिणी अन्न सम्पत्ति प्रदाता (अथर्व० ७.१८.१)। रातिः=**रा दाने**। सविता= प्रसवानामधिपतिः (अथर्व० ५.२४.१)। अग्निः=**अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। **विष्णुर्वै यज्ञः** (मै० ४.४.७) त्वष्टा=**तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति** (यजुः० ३१.१७) तथा (ऋ० १०.११०.९)।

सूक्त १८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पृथिवी, पर्जन्यः**॥ छन्दः—**चतुष्पाद्भुरिगुष्णिक्**॥

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः।

उत्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम्॥ १॥

अर्थ—(पृथिवि) हे विस्तृत अन्तरिक्ष! (प्र नभस्व) तू प्रकर्ष में हिंसित हो जा, और (इदम्) इस (दिव्यम्, नभः) दिव्य मेघ का (भिन्द्धि) भेदन कर। (धातः) हे धारण-पोषण करने वाले (ईशानः) अधीश्वर! तू (दिव्यस्य उत्नः) दिव्य उदक की (दृतिम्) चमड़े की थैली के सदृश मेघरूपी थैली को (नः) हमारे लिए (आ विष्य) खोल दे।

[पृथिवि=**प्रथ विस्तारे,** यथा "**प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी**" (उणा० १.१५०); तथा "पृथिवी अन्तरिक्षनाम" (निघं० १.३)। अन्तरिक्ष मेघीय विद्युत् द्वारा हिंसित होता है, ताड़ित होता है—यह कल्पना की गई है। प्रतिक्रिया या बदले में अन्तरिक्ष विद्युत् के गृहभूत मेघ का भेदन करता है। इस से दिव्य उदक प्रवाहित होने लगता है जैसे कि चर्म की थैली के फटने पर उस से उदक प्रवाहित होने लगता है। दृतिः=Leather bag (आप्टे)। दिव्यम्=विभवम्। नभस्व=**णभ हिंसायाम्** (भ्वादिः)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पृथिवी, पर्जन्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।

आपश्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम्॥ २॥

अर्थ—[पृथिवी को] (घ्रन्) ग्रीष्म काल ने (न तताप) नहीं तपाया (हिमः) हेमन्त ऋतु में (न जघान) न इस का हनन किया है, (जीरदानुः) जीवनप्रदा (पृथिवी) पृथिवी [न] (प्रनभताम्) न हिंसित हो। (आपः चित्) जल भी (अस्मै) इस पृथिवी के स्वामी के लिए (घृतम् इत्) घृत ही (क्षरन्ति) क्षरित करते हैं, (यत्र) जिस स्थान में (सोमः) जल होता है (तत्र) वहाँ (सदम्, इत्) सदा ही (भद्रम्) सुख और कल्याण होता है। सोमः=Water (आप्टे)।

[मन्त्र ७.१८.१ में पृथिवी का अर्थ है अन्तरिक्ष, और ७.१८.२ में अर्थ है भूमि। घ्रन्=**घृ दीप्तौ** (जुहोत्यादिः)। घ्रन्=घृ+शतृ। अभिप्राय यह गीष्म ऋतु प्रखर गर्मी द्वारा जब पृथिवी को नहीं तपाती, और न हेमन्त अर्थात् बर्फीली-ऋतु इस का हनन करती है तब पृथिवी जीवनीय अन्नादि का प्रदान करती है। परन्तु वर्षा ऋतु जब जल प्रदान करती है तब मानो वह जल नहीं प्रदान करती, अपितु जलरूप में घृतादि पदार्थ प्रदान कर रही होती है। जहां जल होता है वहाँ ओषधियाँ, वनस्पतियाँ प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होकर सुख प्रदान करतीं और प्रजा का कल्याण करती हैं। जघान का अभिप्राय है कि हेमन्त ऋतु में बर्फ के कारण अतिशीत होने से ओषधियां, वनस्पतियाँ मुर्झा जाती हैं यह पृथिवी का हनन है]।

सूक्त १९

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**प्रजापतिः, धाता**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः।

संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु॥ १॥

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रत्येक गृहस्थ प्रजा का पति (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (जनयति) उत्पन्न करता है, (धाता) धारण करने वाला (सुमनस्यमानः) सुप्रसन्न मन वाला होकर (दधातु) प्रजाओं का धारण-पोषण करे। (सयोनयः) एक राष्ट्रगृह में उत्पन्न हुए प्रजाजन (संजानानाः) ऐकमत्य को प्राप्त हुए (संमनसः) मानो एक मन वाले हों, (पुष्टपतिः) पुष्ट अन्न का पति, अर्थात् भूमि में उत्पन्न अन्न का स्वामी अर्थात् प्रत्येक भूमिपति (मयि) मुझ राजा में (पुष्टम्) पुष्ट अन्न (दधातु) स्थापित करे, दिया करे।

["प्रजापति" द्वारा प्रत्येक भूमिपति गृहस्थी का वर्णन अभिप्रेत है, प्रत्येक गृहस्थी राष्ट्र के लिए उत्कृष्ट सन्तानें पैदा करे। "धाता" है राष्ट्र का अधिकारी जो कि प्रजाजनों के धारण-पोषण का निरीक्षक है। "सयोनयः" द्वारा एक-राष्ट्र-गृह के प्रजाजन अभिप्रेत हैं, "**योनिर्गृहनाम**" (निघं० ३.४)। "पुष्टम्" द्वारा पुष्ट अन्न के "करांश" का वर्णन हुआ है। "करांश" का अभिप्राय है राष्ट्र द्वारा निश्चित टैक्स रूप में प्रदेय अन्नांश। मन्त्र ७.१८.२.. में "जीरदानुः" द्वारा जीवनीय अन्नादि का वर्णन हुआ है, जिसे कि व्याख्येय मन्त्र में "पुष्टम्" द्वारा कथित किया है]।

सूक्त २०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्। अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम॥ १॥

अर्थ—(अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन (अनुमतिः) अनुकूल मति वाली पत्नी (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञकर्म को (देवेषु) वायु आदि देवों में (अनुमन्यताम्) अनुकूलरूप में माने, (च) और (मम) मेरी (अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (दाशुषे) मुझ दाता के लिए (हव्यवाहनः) हव्यों का वहन करनेवाली [हो], (भवताम्) [इस प्रकार से दोनों मेरे यज्ञ को सफल करने वाले] हों। दोनों=अनुमति पत्नी और यज्ञाग्नि।

[नः=गृहस्थ के सदस्य। अनुमति है पति-पत्नी के विचारों में अनुकूलता, सांमनस्य, न कि वैमनस्य। "अद्य" का अभिप्राय है—प्रतिदिन]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥ २॥

अर्थ—(अनुमते) हे अनुकूल मति वाली पत्नी! (त्वम्) तू (अनुमंससे इत्) अनुकूल रूपता को ही अनुकूलरूप मानती है, (च) और इस प्रकार (नः) हमें तू (शम्) सुख-शान्ति (कृधि) प्रदान कर। (देवि) हे देवि! पत्नी! (आहुतम्) आहुतिरूप में आहुत हुई (हव्यम्) वीर्यरूपी हवि की (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक रक्षा कर, (नः) और हमें (प्रजाम्) प्रशस्त अपत्य (ररास्व) प्रदान कर।

[प्रजाम्=प्र (प्रशस्त)+जाः (अपत्यनाम निघं० १.२)। आहुतम् "**पञ्चम्यामाहुतौ, आपः पुरुषवचसो[१] भवन्ति**" (छान्दोग्य ५.९.१)। मन्त्र में गर्भाधानाहुति अभिप्रेत है, गर्भाधान संस्कारविधिपूर्वक। निरुक्त में भी "अनुमति" आदि को देवपत्नीरूप में माना है, न कि चन्द्रमा की कलाविशेष। यथा "**अनुमतिः राकेति देवपत्न्यौ**" इति नैरुक्ताः। "**पौर्णमास्यौ**" **इति याज्ञिकाः** (निरुक्त ११.३.३०)।

१. योषा वाव गौतमाग्निः, तस्या उपस्थ एव समित्, यदुपमन्त्रयते स धूमः, योनिरर्चिः, यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः, अभिनन्दा विस्फुलिङ्गा॥ १॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति॥ २॥ इत्यष्टमः खण्डः॥ इति तु पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्तीति। स उल्वावृतो गर्भो दश वा नव वा मासान् अन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते॥ १॥

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्।
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम॥ ३॥

अर्थ—(अनुमन्यमानः) [अनुमति-पत्नी द्वारा] अनुकूलरूप में माना गया पति, (प्रजावन्तम्) प्रजासमेत (अक्षीयमाणम् रयिम्) न क्षीण होने वाले अर्थात् प्रभूत धन की (अनुमन्यताम्) स्वीकृति हमें प्रदान करे। (तस्य) उस पति के (हेडसि) क्रोध में (अपि) भी (वयम्) हम गृहवासी (मा भूम) न हों, (अस्य) ताकि इस पति द्वारा (सुमृडीके) प्रदत्त उत्तम-सुख में, तथा [इस की] (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों।

[२१ वें सूक्त के "सायण" प्रदिष्ट पाठों, तथा शाखान्तर प्रदिष्ट पाठों में बहुत भेद पाया जाता है। इस लिए अर्थ अनिश्चित है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

यत्ते नाम सुहवं सुप्रणीतेनुमते अनुमतं सुदानु।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम्॥ ४॥

अर्थ—(सुप्रणीते) उत्तम प्रणय वाली! (अनुमते) तथा अनुकूलमति वाली हे पत्नी! (यत्) जो (ते) तेरा (नाम) "अनुमति" रूप नाम है, जो कि (सुहवम्) सुखपूर्वक आह्वान योग्य, (अनुमतम्) सब द्वारा अनुमत अर्थात् अभिमत है, (सुदानु) और सुखदायी है, (तेन) उस नाम द्वारा (नः यज्ञम्) हमारे गृहस्थ यज्ञ को (पिपृहि) तू पालित कर। (विश्ववारे) हे सब द्वारा वरणीया (सुभगे) उत्तम भगों वाली अनुमति! (नः) हमें (सुवीरम्, रयिम्) उत्तम वीर सन्तानरूपी धन (धेहि) प्रदान कर।

[पत्नी का नाम है अनुमति। वह पति के प्रति अनुकूला है। पति के साथ वैमनस्या नहीं होती। यह नाम सुगमता पूर्वक आह्वान योग्य है। अनुमति प्रणय वाली है, प्रेममयी है यह नाम सर्वानुमत है, और सुखदायक है, तथा सब गृहस्थियों द्वारा वरणीय है, ग्रहण योग्य है सभी चाहते हैं कि उन की पत्नियाँ अनुमतिवाली हों, पतियों के अनुकूल मतियों वाली हों। ऐसी पत्नियाँ उत्तम सन्तानरूपी धन प्रदान करती हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा॥ ५॥

अर्थ—(इमम्, यज्ञम्) इस गृहस्थ यज्ञ में (अनुमतिः) अनुकूलमति वाली पत्नी (आ जगाम) आई है, जो गृहस्थ-यज्ञ (सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै) सुक्षेत्रपन के लिए और उत्तम वीरता के लिए (सुजातम्) उत्तम [विवाह-विधि से] पैदा हुआ है। (अस्याः) इस अनुमति की (भद्रा) सुखप्रदा तथा कल्याणकारी (प्रमतिः) शोभना मति (हि) निश्चय (बभूव) प्रकट हुई है। (सा) वह अनुमति पत्नी (देवगोपा) पति के माता, पिता आदि देवों द्वारा सुरक्षित हुई (इमम्, यज्ञम्) इस गृहस्थ-यज्ञ की (अवतु) रक्षा करे।

["सुक्षेत्रतायै" क्षेत्रों अर्थात् सन्तानों के उत्तम शरीर पैदा करने के लिए तथा उन शरीरों में वीरता

प्रदान करने के लिए। अनुमति-पत्नी के ये दो कर्त्तव्य दर्शाए हैं। क्षेत्र हैं शरीर। यथा "**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**" (गीता १३.१)। शरीरों को सुक्षेत्र बना कर उनमें सद्गुणरूपी बीज बोने चाहिएँ, और वीरता की भावनाएँ भरनी चाहिएँ। देव हैं विवाहित अनुमति के श्वशुर आदि]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**अतिशाक्वरगर्भा जगती**॥

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत्तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति।

तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः॥ ६॥

अर्थ—(यत् तिष्ठति) जो स्थित है, (चरति) चलता है, (यद्, उ, च) और जो (विश्वम्) सब ब्रह्माण्ड (एजति) प्रदीप्त हो रहा है, या कम्पित हो रहा है, (इदम्, सर्वम्) यह सब (अनुमतिः) अनुमति परमेश्वर मातारूप (बभूव) है। (देवि) हे परमेश्वर-मातृदेव! (ते) तेरी (तस्याः) उस (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों, या रहें। (अनुमते) हे अनुमति मातः! (नः) हमें (अनु हि मंससे) अपनी अनुकूलता में मान।

[अनुमति है, समग्र ब्रह्माण्ड में अनुकूलरूप में वर्तमान परमेश्वर माता। वह किसी के प्रतिकूल नहीं है, अपितु सब के प्रति अनुकूलरूप में वर्तमान है, सब की उन्नत्ति चाहती अभिप्राय यह है कि जैसे माता पुत्र[1] रूप में प्रकट होती है, यथा "**आत्मा वै पुत्रनामासि**" (निरुक्त ३.१.४), वैसे परमेश्वर माता भी ब्रह्माण्ड-रूप में प्रकट हो रही है। प्रलय काल में ब्रह्म, प्रकृति और जीवात्मा निष्क्रिय थे। ब्रह्म की सक्रियता में ब्रह्माण्ड पैदा हुआ। अतः मानो ब्रह्म, ब्रह्माण्डरूप में प्रकट हुआ। उस परमेश्वर-माता की सुमति में रहने की प्रार्थना हुई है, या इच्छा प्रकट हुई है। साथ ही यह कहा है कि हम तेरी अनुकूलता में वर्तमान हैं—यह तू मान, अतः हमारी सदा उन्नति कर। एजति=**एजृ दीप्तौ,** तथा **एजृ कम्पने,** दोनों धातुएँ (भ्वादिः)। कम्पित होना=गतिशील होना। मंससे=लेट् लकार "सिप्"]।

सूक्त २१

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**शक्वरीविराड्गर्भा जगती**॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।

स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्तं वर्तनिरनु वावृत एकमित्पुरु॥ १॥

अर्थ—(विश्वे) हे सब लोगो! (समेत) परस्पर इकट्ठे होओ, (वचसा) स्तुति वचन द्वारा (दिवः पतिम्) द्युलोक के पति परमेश्वर की [स्तुति करो], जो परमेश्वर कि (एकः) एक है, (विभूः) सर्वव्यापक है, और (जनानाम्) उपासक जनों का (अतिथिः) अतिथि है। (सः) वह (पूर्व्यः) सनातन, (नूतनम्) नवीन-नवीन ब्रह्माण्ड में (आ विवासत्) आ-आ कर निवास करता रहता है। (तम्, एकम्, इत्, अनु) उस एक परमेश्वर के ही अनुकूल हुई (वर्तनिः) पृथिवी (पुरु) बार-बार (वावृते) वृत्ताकार चक्र में घूमती है।

[अतिथिः; जैसे गृहस्थों में अतिथि कभी-कभी आता है, वैसे उपासक जनों में भी परमेश्वर कभी-कभी प्रकट होता है।]।

---

१. माता के गुण जैसे सन्तति में प्रकट होते हैं, वैसे परमेश्वर-माता के गुण सृष्टिकर्तृत्व, न्यायकारित्व, अनुग्रह आदि ब्रह्माण्ड में प्रकट हो रहे हैं।

सूक्त २२

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः, (ब्रध्नः)**॥ छन्दः—**द्विपदा विराड् गायत्री (एकावसाना)**॥

अ॒यं स॒हस्र॒मा नो॑ दृ॒शे क॑वी॒नां म॒तिर्ज्योति॒र्विध॑र्मणि॥ १॥

अर्थ—(अयम्) यह परमेश्वर (कवीनाम् मतिः) कवियों की मतिरूप है, और (विधर्मणि) विविध प्रकार धारण करने वाली वस्तुओं में (सहस्रम् ज्योतिः) हजार ज्योतिरूप है, वह (आ नः) पूर्णतया हमारे (दृशे) दृष्टिगोचर हुआ है।

[परमेश्वर कवि है, वेद उस के काव्य हैं, वह आदि कवि है, उससे पूर्व कोई कवि नहीं हुआ, कविता करने की मति उसी ने दी, अतः वह कवि के लिए मतिरूप है। ब्रह्माण्ड में धारक वस्तुएँ हजारों हैं; सूर्य, चन्द्र, अग्नि विद्युत्, नक्षत्र और तारागण असंख्य हैं। परमेश्वर इन हजारों ज्योतियों में चमकता है। परन्तु वह है एकज्योतिरूप ही। "**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**" (मुण्डक २.२.१०)। वह परमेश्वर जिसे कि सूक्त (२२) में अतिथि कहा है, हम कवियों में वह पूर्णतया दृष्टिगोचर हो गया है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः (ब्रध्नः)**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽनुष्टुप्**॥

ब्र॒ध्नः स॒मीची॑रु॒षसः॒ समै॑रयन्। अ॒रे॒पसः॒ सचे॑तसः॒ स्वस॑रे म॒न्युम॑त्तमाश्चि॒ते गोः॥ २॥

अर्थ—(ब्रध्नः) महाब्रह्म (समीचीः) समीचीन (अरेपसः) पाप विनाशनी, (सचेतसः) सचेत करने वाली (मन्युमत्तमाः) अत्यन्त चमकीली (उषसः) [आध्यात्मिक] उषाओं को (स्वसरे) किसी भी दिन (समैरयन्) प्रेरित करता [भवति] हो जाता है, (गोः चिते) जबकि स्तुति वाणियों का चयन[1] होता है।

[ब्रध्नः=महान् (उणा० ३.५, दयानन्द) [परमेश्वर]। मन्यु=**मन्यते कान्तिकर्मा** (निघं० २.६)। गोः चिते=**गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। स्तुति वाणियों का जब चयन हो जाता है, चित्त में संचय हो जाता है, तब परमेश्वर उषाओं को भेजता है। ये उषाएँ परमेश्वर प्राप्ति के पूर्वरूप हैं। श्वेता० उप० (२.११) में पूर्वरूप निम्नलिखित कहे हैं। यथा "**नीहारधूमार्का नलानिलानाम्। खद्योतविद्युत्स्फटिक-शशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरस्सराणि[2] ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे**" मन्त्र में चित्त में उषाओं[3] का चमकना भी पुरस्सर अर्थात् पूर्वरूप दर्शाया है]।

सूक्त २३

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दौः॑ष्वप्न्यं॒ दौर्जी॑वित्यं॒ रक्षो॑ अ॒भ्व॑मरा॒य्यः॑।
दु॒र्णाम्नीः॒ सर्वा॑ दु॒र्वाच॒स्ता अ॒स्मन्ना॑शयामसि॥ १॥

अर्थ—(दौःष्न्यम्) दुःस्वप्न और दुःस्वप्न की बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) दुराचार का जीवन और उससे प्राप्त कष्ट, (रक्षः) राक्षसी भाव, (अभ्वम्) योगज विभूति का अभाव (अराय्यः) अदान अर्थात्

१. चयन की भावना को "**भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम**" द्वारा भी सूचित किया है (यजुः० ४०.१६)।
२. कोहरा, धुआं, सूर्य, आग, वायु, सितारे या जुगनू, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा।
३. ये आध्यात्मिक-उषाएँ चमकती हैं, जब भी योगी ध्यानावस्थित हो जाए। प्राकृतिक उषाएँ तो केवल सूर्योदय से पूर्व कुछ काल के लिए ही चमकती हैं।

कंजूसी की भावनाएँ (दुर्णाम्नीः) बुरे नामों वाली व्याधियां, (दुर्वाचः) दुर्वचन, (ताः सर्वाः) इन सबको (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं, दूर करते हैं।

मन्त्र (२२.१,२) में परमेश्वर की स्तुति और तद्द्वारा आध्यात्मिक उषाओं का वर्णन हुआ है। इस योग-विभूति की प्राप्ति होने पर मन्त्र सूक्त (२३) की भावनाएँ चरितार्थ होती हैं। अभ्वम्=अ+भू+प्रथमैकवचन। "**इको यणचि**" द्वारा उकार को वकार। अराय्य,=अ+रा (दाने)+युक्+ङी+प्रथमा बहुवचन। दुर्वाचः=असत्य भाषण, कटुवचन, परकीय निन्दा वचन आदि]।

द्वितीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ३

सूक्त २४

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यन्न इन्द्रो अखनद्यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत्स्वर्काः।

तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात्॥ १॥

अर्थ—(नः) हमारे (इन्द्रः) सम्राट् ने (यत्) जो खनिज पदार्थ (अखनत्) खोदा, (यत्) जो (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने, (यत्) जो (विश्वे देवाः) वैश्य प्रजा ने, (स्वर्काः) चमकीले वस्त्रों वाले या चमकीले वस्त्रधारी (मरुतः) सैनिकों ने खोदा, (तत्) उस सब को—(सविता) प्रेरक, (सत्यधर्मा) सत्य-धर्म वाला (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति राजा, (अनुमतिः) हम प्रजाओं के अनुकूल मति वाला हो कर (अस्मभ्यम्) हम प्रजाजनों को (नियच्छात्) नियम पूर्वक प्रदान कर दे।

[मन्त्र में राष्ट्र की खनिज सम्पत्ति का वर्णन हुआ है। राष्ट्र में कोई भी खनिज सम्पत्ति को खोदे, उस पर स्वामित्व राष्ट्र की प्रजा का है। राजा वह सम्पत्ति नियम पूर्वक प्रजा को प्रदान, करता रहे। फिर प्रजा के निर्णय पर सम्पत्ति का वितरण किया जाए। विश्वे देवाः=विड् [वैश्य], विश्वेदेवाः (श० ब्रा० १०.४.१.९)। मरुतः="**देवसेनानामभि भञ्जतीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**" (यजुः० १७.४०)। स्वर्काः= सु+अर्कः (तपने, चुरादिः) **अर्कः वज्रनाम** (निघं० २.२०)]।

सूक्त २५

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**विष्णुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा।

यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः॥ १॥

अर्थ—(ययोः) जिन दो के (ओजसा) ओज द्वारा (रजांसि) लोक-लोकान्तर (स्कभिता=स्कभितानि) थमे हुए हैं, (यौ) जो दो (शविष्ठा=शविष्ठौ) शक्तिशाली हैं, और (वीर्यैः) शक्तियों द्वारा (वीरतमा=वीरतमौ) सर्वाधिक शक्तिशाली हैं, (यौ) जो दो (पत्येते) ऐश्वर्यशाली हैं, (सहोभिः) अपनी-अपनी शक्तियों द्वारा (अप्रतीतौ) अज्ञायमान हैं, (विष्णुम्) रश्मियों द्वारा व्याप्त सूर्य को, (वरुणम्) और वरणीय परमेश्वर को, (पूर्वहूतिः) स्तुति में मेरा प्रथम-आह्वान (अगन्) प्राप्त हो। पत्येते=**पत्यते ऐश्वर्यकर्मा** (निघं० २.२१)।

[ब्रह्माण्ड को थामने में दो मुख्य पदार्थ हैं, "वरुण परमेश्वर" (अथर्व० ४.१६.१-९), और सूर्य। ब्रह्माण्ड में सूर्य असंख्य हैं, जो कि अपने-अपने सौर-मण्डल में मुख्यशक्ति रूप हैं। मन्त्र में "सूर्यम्"

जात्येकवचन है। ये दोनों अत्यन्त शक्तिशाली हैं, अतः "वीरतमौ" हैं। ये दोनों किस प्रकार ब्रह्माण्ड को थाम रहे हैं यह यथार्थ में अप्रतीत है, अज्ञात[1] है। अगन्=गमेः छान्दसे लुङि, च्लेः लुकि **"मो नो धातोः"** (अष्टा० ८.२.६४) इति मकारास्य नत्वे रूपम् (सायण)]।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः।

पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

अर्थ—(यस्य) जिस [विष्णु और वरुण] के (प्रदिशि) निर्देश अर्थात् आज्ञा में (यत् इदम्) जो यह सब (विरोचते) विशेषतया प्रदीप्त हो रहा है, (च) और (प्र अनति) प्राण ले रहा है, (च) और (शचीभिः) कर्मों और प्रजाओं द्वारा (विचष्टे) देख रहा है, तथा (देवस्य) जिस देव [विष्णु और वरुण] के (धर्मणा) धारण द्वारा तथा (सहोभिः) बलों द्वारा (पुरा) पुराकाल से [यह सब प्रदीप्त हो रहा है] उस (विष्णुम्, वरुणम्) रश्मियों द्वारा व्याप्त सूर्य को, और वरणीय परमेश्वर को (पूर्वहूतिः) मेरा पूर्व-आह्वान (अगन्) प्राप्त हो।

[**विचष्टे पश्यतिकर्मा** (निघं० ३.११)। **शची कर्मनाम; प्रज्ञानाम** (निघं० २.१; ३.९)। "विरोचते" द्वारा जड़-जगत् का; तथा "प्रानति" और "विचष्टे" द्वारा चेतन-जगत् का वर्णन हुआ है]।

सूक्त २६

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

अर्थ—(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (नु कम्) (वीर्याणि) बलों का (प्र अवोचम्) मैंने प्रवचन किया है, (यः) जिसने कि (पार्थिवानि) पृथिवी और अन्तरिक्ष के (रजांसि) लोकों का (विममे) निर्माण किया है तथा (यः) जिस (उरुगायः) महा स्तुति वाले ने (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकार से पराक्रम करते हुए (उत्तरम्) ऊपर के (सधस्थम्) सह स्थान को (अस्कभायत्) थामा है।

[पृथिवी=भूलोक तथा अन्तरिक्ष (निघं० १.१; तथा निघं० १.३)। सधस्थम्=नक्षत्रों और तारागणों की सहस्थिति का स्थान, द्युलोक। तीन प्रकार से=तीन लोकों में]।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

परावत आ जगम्यात्परस्याः ॥ २ ॥

---

१. जैसे दो दलों के सांमुख्य में रस्से के माध्यम द्वारा समतुलन होता है वैसे किस शक्ति द्वारा इन गतिमान् लोक-लोकान्तरों में समतुलन हो रहा है, यह वस्तुतः अज्ञात है। वैज्ञानिक कहते हैं कि इन में समतुलन ईथर द्वारा हो रहा है, जोकि कल्पना मात्र है। क्या यह इतना सुदृढ़ है जो कि लोक-लोकान्तरों के पारस्परिक खिचाव में टूटता नहीं। वैदिक सिद्धान्त में इन लोक-लोकान्तरों की "विधृति" अर्थात् स्थिति परमेश्वर द्वारा हो रही है, जो परमेश्वर सूर्यों में भी व्याप्त हुआ इन का नियमन कर रहा है। यथा—**'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म'** (यजुः० ४०.१७)।

अर्थ—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर (तत्=तानि) उन निज (वीर्याणि) सामर्थ्यों को (प्रस्तवते) स्वयं प्रस्तुत करता है। (मृगः न) सिंह के सदृश वह (भीमः) न्याय की दृढ़ता या कर्मफल के प्रदान में भयानक है, (कुचरः) वह पृथिवी में विचर रहा है, (गिरिष्ठाः) पर्वत में स्थित है, तथा मेघ में स्थित है। (परावतः परस्याः) दूर देश की द्यौ से भी दूर देश से (आ जगम्यात्) वह आ जाता है।

[परमेश्वर अपने सामर्थ्यों का स्वयं स्तवन करता है, अन्यथा उसके सामर्थ्यों का परिज्ञान हम अल्पज्ञों को कैसे सम्भव था। वह कर्मानुसार न्याय करने और नियन्त्रण में भयानक है, सुदृढ़ है। तभी कहा है कि "**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः**"। "कुचरः"=कु (पृथिवी)+चरः। गिरिष्ठाः=गिरि पर्वते[1], तथा मेघे तिष्ठति (निघं० १.१०)। आजगम्यात्=वह दूर से दूर तक और समीप से समीप में व्याप्त है, अतः सबको दर्शन दे सकता है]।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**विष्णुः**॥ छन्दः—**षट्पदा विराड् गायत्री**॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर॥ ३॥

अर्थ—(यस्य) जिस के (उरुषु) विस्तृत (त्रिषु विक्रमणेषु) तीन विक्रमणों में (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (अधिक्षियन्ति) वसते हैं, (विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर! (उरु) और विस्तृत (विक्रमस्व) विक्रम कर, (नः क्षयाय) हमारे निवास के लिए (ऊरु) विस्तृत (कृधि) कर। (घृतयोने) हे घृतोत्पत्ति के कारणरूप विष्णु! (घृतं पिब) हमारी घृताहुतियों का पान कर, और (यज्ञपतिम्) यज्ञ के पति यजमान को (प्रतिर) बढ़ा, (प्र) और अधिक बढ़ा।

[तीन विक्रमण हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक, और ये हैं भी विस्तृत। प्रार्थी इन तीनों से परे और विस्तार चाहता है। परमेश्वर तो है भी सर्वव्यापक। प्रार्थी मोक्षावस्था पाकर तीन विस्तृत लोकों से भी परे विहरण चाहता है, जहां-जहां कि विष्णु विद्यमान है, अतः विष्णु की सत्ता सर्वत्र हो यह अभिलाषा प्रकट की गई है। जिस विष्णु ने घृतादि भोज्य पदार्थ उत्पन्न किये उस के प्रति पूर्वाहुतियाँ देने के पश्चात् ही व्यक्ति को उसका उपभोग करना विहित है। घृत का नाम यह दर्शाने के लिए पठित है कि "**आयुर्वै घृतम्**" घृत आयुवर्धक है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**विष्णुः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा। समूढमस्य पांसुरे॥ ४॥

अर्थ—(विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (इदम्) यह ब्रह्माण्ड (विचक्रमे) विक्रान्त किया है (त्रेधा) उसने तीन प्रकार से (पदा) पादों को (निदधे) स्थापित किया है (अस्य) इसके तीन पाद (पांसुरे) मानो धूली वाली भूमि में (समूढम्) छिपे हुए हैं। समूढम् पदम्=पदजातम्, अन्तर्हितम्, अज्ञातरूपम्।

[अभिप्राय यह कि विष्णु है तो तीनों लोकों में व्यापक परन्तु अस्मदादि सामान्य मनुष्यों को उसकी सत्ता का स्पष्ट भान नहीं होता, ऐसा ही भान होता है जैसे धूलिधूसरित पाद का। "ऋषि दयानन्दकृत

---

१. **गिरिः मेघनाम** (निघं० १.१०)। अथवा गिरिष्ठाः=वेदवाणी में स्थित, व्याप्त, व्याख्यात। गीः=**गीः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। तथा '**उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत**' (यजुः० २६.१५); अतः गिरिष्ठाः=उपह्वरे गिरीणाम्।

यजुर्वेदभाष्य में उन्होंने ''त्रेधा पदा'' का भाव दर्शाया है, प्रथम प्रकाश वाले सूर्यादि, दूसरा प्रकाशरहित पृथिवी आदि, और जो तीसरा परमाणु आदि अदृश्य जगत् है उस सबको कारण से रचकर अन्तरिक्ष में स्थापन किया है'' (५.१५)। समूढम्=मोहसमन्वितम्, अज्ञातरूपम्। मूढम्=**मुह वैचित्ये** (दिवादिः)+क्तः (भावे)]।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। इतो धर्माणि धारयन्॥ ५॥

अर्थ—(गोपाः) रक्षक, (विष्णुः) सर्वव्यापक (अदाभ्यः) अपराभवनीय परमेश्वर ने (त्रीणि पदा) तीन पादों का (विचक्रमे) विक्षेप किया। (इतः) इन पादों द्वारा (धर्माणि) ब्रह्माण्ड के धारक तत्त्वों का (धारयन्) धारण करते हुए।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ ६॥

अर्थ—(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (कर्माणि) जगत् के कर्मों को (पश्यत) देखो, (यतः) जिन से (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (युज्यः सखा) योग्य मित्र जीवात्मा ने (व्रतानि) निज कर्त्तव्यकर्मों या व्रतों को (पस्पशे) देखा या अपने साथ दृढ़बद्ध किया।

[प्राकृतिक-शासनविधि को देखा करो, और उसे निज व्रतों में ढाला करो, तभी विष्णु के योग्य सखा बन पाओगे। जीवात्मा और विष्णु—ये दोनों आपस में सखा हैं। यथा ''**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**'' (ऋ० १.१६४.२०; अथर्व० ९.९.२०-२१)]।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ ७॥

अर्थ—(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (तत्) उस (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (पदम्) प्रापणीय स्वरूप को, (सूरयः) मेधावी उपासक (सदा पश्यन्ति) सदा देखते हैं, सदा साक्षात् करते हैं, (दिवि) द्युलोक में (आततम्) रश्मियों द्वारा फैली हुई (चक्षुः इव) सूर्यरूपी आंख के सदृश।

[पदम्=पद्यते गम्यते प्राप्यते इति पदम्। दिवि=अधिकरण में सप्तम्यन्त पद; दिव् अर्थात् द्युलोक चक्षुः (सूर्य) का आधार है। चक्षुः=सूर्य, यथा ''**चक्षोः सूर्योऽअजायत**'' (यजुः० ३१.१२)।

अभिप्राय यह कि मेधावी उपासक जब भी चाहें वे ध्यानावस्थित होकर विष्णु का दर्शन पा सकते हैं, जैसे कि साधारण व्यक्ति दिन के समय जब भी चाहें तो सूर्य का दर्शन कर सकते हैं। सूर्य को चक्षु कहा है, जो चक्षु कि द्युलोक में है। जैसे चक्षु गोल है वैसे सूर्य भी गोल है, जैसे चक्षु प्रकाशमय और पदार्थों का दर्शन कराती है, वैसे सूर्य भी प्रकाशमय तथा पदार्थों के दर्शन कराने में चक्षु का भी सहायक है। यजुर्वेद में आदित्य में परमेश्वर की स्थिति कही है। यथा—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥ यजुः० ४०.१७॥

परमेश्वर इस मन्त्रार्थ द्वारा स्वयं अपनी स्थिति का निर्देश करता है कि ''जो वह आदित्य में पुरुष है वह मैं हूँ, ओ३म् खं ब्रह्म''। इस प्रकार परमेश्वर प्रत्येक आदित्य द्वारा उस-उस के आदित्य परिवार का शासन तथा नियन्त्रण करता है]।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।

हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्॥ ८ ॥

अर्थ—(विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर! (दिवः) द्युलोक से, (उत वा) अथवा (पृथिव्याः) पृथिवी से, (विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर! (महः, उरोः) महाविस्तृत (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (बहुभिः वसव्यैः) बहुत धनराशि द्वारा (हस्तौ[१]) दोनों हाथ (पृणस्व) भर ले, और (दक्षिणात्) दाएँ हाथ से (आ प्रयच्छ) दे, (उत) तथा (सव्यात्) बाएँ से (आ प्रयच्छ) दे।

[वसव्यैः=वसूनां समूहैः "**वसोः समूहे च**" (अष्टा० ४.४.१४०) इति यत्प्रत्ययः। परमेश्वर के हाथ कविता में हैं, क्योंकि हाथों से दिया जाता है। अथवा "दे उतना धन जितना कि कोई दाएं-बाएँ हाथों द्वारा अञ्जलि भर कर देता है"]।

सूक्त २७

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**इडा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।

घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी॥ १ ॥

अर्थ—(इडा एव) वेदवाणी ही (व्रतेन) व्रतकर्मों द्वारा (अस्मान्) हमें (अनु वस्ताम्) निरन्तर आच्छादित[२] करती रहे, (यस्याः) जिस वेदवाणी सम्बन्धी (पदे) प्रतिपाद्य परमेश्वर [की प्राप्ति] के निमित्त, (देवयन्तः) परमेश्वर-की कामना वाले (पुनते) [अपने-आप को] पवित्र करते हैं। (घृतपदी) वेदवाणी के "पद" प्रकाशमय हैं, (शक्वरी) वह शक्ति प्रदान करती, (सोमपृष्ठा) जगदुत्पादक परमेश्वर उसकी पीठ पर है, वह (वैश्वदेवी) सब देवों का वर्णन करती है, (यज्ञम्) हमारे यज्ञकर्म में (उप अस्थित) उपस्थित हुई है।

[व्रतेन=व्रतकर्मों द्वारा पवित्रता होती है, और देव कामना वाले उपासक पवित्र होकर परमेश्वर की प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य है परमेश्वर। यथा "**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति**" (ऋ० १.१६४.३९), अर्थात् ऋचाएँ पढ़कर भी जो परमेश्वर को नहीं जानता या प्राप्त होता वह ऋचाओं से क्या करेगा? घृतम्=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः)। सोम=**षु प्रसवे या षू प्रेरणे** (भ्वादिः; तुदादिः)। शक्वरी=शक्+क्वनिप्+ङीप्+र। **इळा वाङ्नाम** (निघं० १.११)। सोमपृष्ठा; सोमः=**षु प्रसवे, उत्पादने**; सोमः=उत्पादकः]।

सूक्त २८

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**वेदः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति।

हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम्॥ १ ॥

---

१. अथवा "हमारे दोनों हाथ भर दे, और इस निमित्त हमारे दाहिने तथा बाएँ पार्श्वों से हमें प्रदान कर"।

२. वेदप्रोक्त व्रतों द्वारा हम अपने को निरन्तर आच्छादित करते रहें, ताकि आसुरी कर्म हम पर प्रहार न कर सकें।

अर्थ—(वेदः स्वस्तिः) वेद कल्याणकर हो, (द्रुघणः) द्रुम अर्थात् वृक्ष काटने वाला (परशुः) कुल्हाड़ा (स्वस्तिः) कल्याणकर हो, (वेदिः) यज्ञभूमि, (परशुः) तथा कुशा को काटने वाला फरसा (नः) हमें (स्वस्ति) कल्याणकर हो, (हविष्कृतः) हवि को तैयार करने वाले ऋत्विक्, (यज्ञिया) यज्ञ के योग्य यजमान, (यज्ञकामाः) तथा यज्ञ की कामना वाले अन्य लोग (ते) वे सब (देवासः) देव कोटि के विद्वान्, (इमम् यज्ञम्) इस यज्ञ का (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें।

[मन्त्र में यज्ञ के उपकरणों, यज्ञ के अधिकारियों, ऋत्विजों, तथा अन्य उपस्थित विद्वानों का वर्णन हुआ है]।

सूक्त २९

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**अग्नाविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्नाविष्णू महि तद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात्॥ १॥

अर्थ—(अग्नाविष्णू) हे अग्नि और विष्णु! [सूर्य!] (वाम्) तुम दोनों की (तत्) वह (महि महित्वम्) महामहिमा है कि तुम (गुह्यस्य घृतस्य) छिपे घृत के (नाम) नाम अर्थात् नमन, प्रह्वीभाव जिसमें होता है उस दुग्ध का (पाथः) पान करते हो। (दमे दमे) घर-घर में (सप्त) सात (रत्ना=रत्नानि) रत्नों को (दधानौ) धारित-पोषित करते हुए (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जिह्वा (घृतम्) छिपे घृत की (प्रति) ओर (आचरण्यात्) गति करती है।

[विष्णुः=सूर्यः, **विष्लृ व्याप्तौ**। व्याप्तरश्मियों के द्वारा सूर्य व्याप्त है। घृत दूध में छिपा होता है। उस समय उसका नाम दूध होता है, घृत नहीं। "पाथः" द्वारा भी दूध का ही वर्णन प्रतीत होता है, यह पिया भी जाता है। दुग्धाहुति वैदिक साहित्य सम्मत है। अग्नि को "सप्तजिह्व" कहते हैं। यह दुग्ध की आहुतियों का पान निज ज्वालारूपी जिह्वाओं द्वारा करती है, और सूर्य रश्मिरूपी जिह्वाओं द्वारा पान करता है। जब घर-घर में दुग्धाग्निहोत्र हों, तो यज्ञधूम के सात परिणाम होते हैं, जिन्हें कि सप्त रत्न कहा है। यथा—(१) सुगन्ध; (२) वायुशुद्धि; (३) रोग कीटाणुओं [germs] का हनन=रक्षोहा (अथर्व० ४.२३.३); (४) अमीवचातन [रोगनाश] (५) स्वास्थ्य, (६) दीर्घायुः, (७) सामयिकवर्षा। मन्त्र में "गुह्य" का अर्थ है गुहा में निहित। घृत की गुहा है दुग्ध, इस में घृत गुह्यरूप में छिपा रहता है। अतः दुग्धाहुतियों द्वारा "गुह्य" घृत की आहुतियाँ सम्पन्न हो जाती हैं। मन्त्र में "पाथः" का "कर्म" है "नाम", न कि गुह्यघृत]।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**अग्नाविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात्॥ २॥

अर्थ—(अग्नाविष्णू) हे अग्नि और विष्णु [सूर्य] (वाम्) तुम दोनों का (महि धाम) महातेज (प्रियम्) प्रिय है, तुम दोनों (घृतस्य) घृत के (गुह्या=गुह्यानि) अप्रसिद्ध चरु पुरोडश आदि पदार्थों का (जुषाणौ) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए (वीथः) भक्षण करते हो। (दमे दमे) घर-घर में (सुष्टुत्या=सुष्टुत्यौ) उत्तम विधि से स्तुति प्राप्त करते हो, (वावृधानौ) हमें बढ़ाते हो (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जिह्वा

(घृतम् प्रति) घृत की ओर [आ कर] इसे (उच्चरण्यात्) ऊर्ध्वगति प्रदान करे।

[घृत द्वारा तैयार किये गये हव्यों की आहुतियाँ अग्नि के तेज में, तथा सूर्य के उदित होने पर देनी चाहिएँ। ये दोनों तेजावस्थाएँ आहुतियों के निमित्त प्रिय हैं। "सुष्टुत्या" का अभिप्राय है कि मन्त्रोच्चारण पूर्वक आहव्य देवों के गुणधर्मों का कथन करते हुए आहुतियाँ देना। आहुतियों द्वारा घर-घर में वृद्धि होती है। "उच्चरण्यात्" अग्नि में आहुति देने, तथा सूर्य के उदित हुए आहुति देने से यज्ञधूम की गति ऊर्ध्व अन्तरिक्ष में जा कर फैल जाती है। "उच्चरण्यात्"=उत् (ऊर्ध्वम्)+चरण्यात् (**चरण गतौ**, कण्ड्वादिः)]।

सूक्त ३०

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**द्यावापृथिवी, मित्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सविता च**॥ छन्दः—**बृहती**॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।

स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत्॥ १॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा पृथिवी ने (मे=माम्) मुझे (स्वाक्तम्) अच्छे प्रकार तथा पूर्णतया कान्तिसम्पन्न (अकः) किया है, (अयम्, मित्रः) इस "दिन के काल" ने (स्वाक्तम्) कान्तिसम्पन्न किया है। (ब्रह्मणस्पतिः) अन्न के पति मेघ ने (मे[1]=माम्) मुझे (स्वाक्तम्) कान्तिसम्पन्न किया है, तथा (सविता) प्रातःकालीन सूर्य ने (स्वाक्तम्) कान्तिसम्पन्न (करत्) किया है।

[स्वाक्तम्=सु+आ+**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः)। अकः=करोतेः छान्दसे लुङि, च्लेर्लुकि, गुणे, तिपो लोपे रूपम्; करत्=करोतेःलुङि च्लेः अङ् (सायण)।

द्युलोक ने ताप-प्रकाश प्रदान द्वारा, पृथिवी ने खान-पान आश्रय-प्रदान द्वारा, दिन के समय ने आजीविका-प्रदान द्वारा, मेघ ने वर्षा द्वारा जल और तद्द्वारा अन्न-प्रदान द्वारा तथा प्रातःकालीन सूर्य ने उषा-प्रदान द्वारा कान्ति सम्पन्न किया है। मित्रः "**मित्रावरुणौ अहोरात्रौ**" (तां० २५.१०.१०)।

ब्रह्मणस्पति का अभिप्राय वेदपति विद्वान् या परमेश्वर भी सम्भव है। वेद द्वारा नैतिक तथा व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा प्रदान द्वारा कान्ति सम्पन्न करना। **ब्रह्म अन्ननाम** (निघं० २.७); तथा ब्रह्म का अर्थ मन्त्र या वेद तो प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं। ब्रह्मणस्पतिः=मेघः ("अश्मास्यम्", ऋ० २.१४.४); (निरुक्त १०.१.१३)]।

सूक्त ३१

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व।

यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु॥ १॥

अर्थ—(मघवन्, शूर इन्द्र) हे धनवाले और शूर सम्राट्! (यावत्) जितने भी (श्रेष्ठाभिः) श्रेष्ठ (बहुलाभिः) और संख्या में बहुत (ऊतिभिः) रक्षा साधनों द्वारा सम्भव हो [उतने रक्षा साधनों द्वारा] (अद्य) आज (नः) हमारी [रक्षा कर], (जिन्व) और हमें प्रीणित अर्थात् प्रसन्न तथा संतुष्ट कर। (यः) जो (नः) हमारे साथ (द्वेष्टि) द्वेष करता है (सः) वह (अधरः) नीचे (पदीष्ट) पतित हो, (यमु) और

१. अथवा "मेरे लिए द्यौः आदि ने कान्ति प्रदान की है"। स्वाक्तम्=सु+आ+अञ्ज्+क्तः (भावे)।

जिसके साथ (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं (तमु) उसे (प्राणः जहातु) प्राण छोड़ जाए।

[इन्द्र=सम्राट्, संयुक्त राष्ट्रों का राजा, साम्राज्याधिपति। यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। अद्य=प्रतिदिन। जिन्व=**जिवि प्रीणनार्थः** (भ्वादिः)। साम्राज्य में नाना राजाओं के नाना राष्ट्र सम्मिलित होते हैं। जो शत्रुराष्ट्र साम्राज्य के साथ द्वेष करता है, या जिस शत्रुराष्ट्र के साथ बहुसंख्यक हम राजा लोग द्वेष करते हैं, उस राष्ट्र के राजा को प्राणदण्ड देना चाहिए, यह वेदाज्ञा है]।

सूक्त ३२

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्। अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १ ॥

अर्थ—(प्रियम्) प्रिय, (पनिप्नतम्) स्तुत्य तथा व्यवहारकुशल, (युवानम्) युवा तथा (आहुतीवृधम्) यज्ञाहुतियों द्वारा बढ़ाने वाले [सम्राट्] को (उप अगन्म) हम प्राप्त हुए हैं (नमः) नमस्कार या अन्न को (बिभ्रतः) धारण करते हुए; वह [सम्राट्] (मे) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम् कृणोतु) दीर्घ करे।

[सूक्त (३२) से "इन्द्र" का अनुवर्त्तन हुआ है। सम्राट् ऐसा होना चाहिए जो प्रत्येक प्रजाजन को प्रिय हो, जो यज्ञकर्मों द्वारा प्रजा की आयु को बढ़ाए, युवा तथा व्यवहारकुशल हो। **नमः अन्ननाम** (निघं २.७) अर्थात् साम्राज्य में उत्पन्न अन्न का षष्ठांश भाग, "कररूप" में स्वेच्छया प्रदान करते हुए। पनिप्नतम्=**पण व्यवहारे स्तुतौ च। पन च** (भ्वादिः), यङ्लुकि रूपम् (सायण)]।

सूक्त ३३

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मरुतः, पूषा, बृहस्पतिः, अग्निश्च** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।

सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १ ॥

अर्थ—(मा) मुझे (मरुतः) मानसून वायुएँ (संसिञ्चन्तु) [जल द्वारा] सम्यक् सींचें, (पूषा) रश्मियों से पुष्ट सूर्य (सं=संसिञ्चतु) [रश्मियों द्वारा] सींचे, (बृहस्पतिः) विद्युत् या वायु भी (सं=संसिञ्चतु) जल और शुद्ध वायु द्वारा सींचे। (मा) मुझे (अयम्, अग्निः) यह अग्नि (संसिञ्चतु) यज्ञधूम द्वारा सींचे, (प्रजया च) प्रजा और (धनेन च) धन द्वारा सींचे, और (मे) मेरी (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे।

[मरुतः=मानसून वायुएँ (अथर्व० ४.२७.४,५)। पूषा=**यद् रश्मिपोषं पुष्यति** (निरुक्त १२.२.१६)। बृहस्पतिः (निरुक्त १०.१.१०)]।

सूक्त ३४

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अग्ने जातान्प्र णुदा मे सपत्नान्प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व।

अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोनागसस्ते वयमदितये स्याम॥ १ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रीन्! (मे) मेरे (जातान् सपत्नान्) पैदा हुए शत्रुओं को (प्र नुदा=नुद) परे धकेल, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ प्रधानमन्त्री! (अजातान्) जो अभी शत्रुरूप में पैदा नहीं हुए उन्हें (प्रति) अपनी ओर (नुदस्व) प्रेरित कर, अपनाने का यत्न कर। (ये) तथा जो (पृतन्यवः)

सेना द्वारा युद्धेच्छु हैं उन्हें (अधस्पदम्) निज पैरों तले (कृणुष्व) कर ताकि (ते वयम्) वे हम (अनागसः) निष्पाप हुए (अदितये) अविनाश के लिए (स्याम) हों।

[प्रजाजन या सम्राट् की उक्ति अग्रणी के प्रति है (ते वयम्) "वे हम" अर्थात् प्रजावर्ग और शासक। शत्रुओं के न रहते हम धर्मकृत्य करके निष्पाप होकर अविनाश के लिए हों। अदितये= अ+**दीङ् क्षये**+क्तिन्। **जातवेदाः=जातप्रज्ञानः** (निरुक्त ७.५.१९)]।

सूक्त ३५

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जातवेदाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः॥ १॥

अर्थ—(अन्यान् सपत्नान्) सूक्त (३५) में कथित सपत्नों से भिन्न प्रकार के सपत्नों का (सहसा) साहसपूर्वक (प्रसहस्व) पराभव कर, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ प्रधानमन्त्री! (अजातान्) जो अभी शत्रुरूप में पैदा नहीं हुए उन्हें (प्रति) अपनी ओर (नुदस्व) प्रेरित कर, अपनाने का यत्न कर। (इदम् राष्ट्रम्) इस निज राष्ट्र को (सौभगाय) सौभाग्य प्राप्ति के लिए (पिपृहि) पालित तथा सुख सामग्री से पूरित कर। ताकि (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब देव (एनम्, अनु) इस राजा को अनुकूलरूप पाकर (मदन्तु) हर्षित हों।

["अन्यान् सपत्नान्"—ये हैं राष्ट्र के आभ्यन्तर-सपत्न, प्रचलित शासन के विरोधी दल। एक पति राजा की द्विविध प्रजाएँ हैं—शासनानुकूल प्रजा, तथा शासनविरोधी प्रजा। शासनविरोधी प्रजा का पराभव साहसपूर्वक करना चाहिए, इसमें ढील न होनी चाहिए। पिपृहि=**पॄ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः) **ह्रस्वान्तोऽमित्येके**]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जातवेदाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत। तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम्॥ २॥

अर्थ—[हे स्त्री!] (इमाः याः ते) ये जो तेरी (शतम्, हिराः) सौ सिराएँ हैं, (उत) और (सहस्रम् धमनीः) हजार धमनियाँ हैं, (ते) तेरी (तासाम् सर्वासाम्) उन सब सिराओं और धमनियों के (बिलम्) मुखों को (अहम् अपि अधाम्=पि अधाम्) मैंने बन्द कर दिया है, जैसे कि (अश्मना) पत्थर द्वारा (बिलम्) बिल को बन्द कर दिया जाता है।

[हिराः का अर्थ है गर्भाशय की सिराएँ, नीले रक्त की नाड़ियां। और धमनीः का अर्थ है धम-धम शब्द करती हुई शुद्धरक्त की गर्भस्थ नाड़ियां। इन्हें Veins and Arteries कहते हैं। शतम्, सहस्रम् शब्द अज्ञात संख्या के निर्देशक हैं। इन्हें बन्द करने का प्रयोजन यह है ताकि इन में रक्त का प्रवाह न हो, और न "रजःकणों" का ही प्रवाह हो। रजःकणों के अभाव में गर्भस्थिति नहीं होती]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जातवेदाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः।
अस्वं त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि॥ ३॥

अर्थ—(ते) तेरी (योनेः) योनि के (परम्) पहले भाग को (अवरम्) नीचे की ओर (कृणोमि)

मैं करता हूँ, [इस प्रकार] (त्वा अभि) तुझे लक्ष्य करके (मा प्रजा भूत्) न कन्या हो, (उत) और (मा सूनुः) न पुत्र हो। (त्वा) तुझे (अस्वम्) प्रसूतिरहित (अप्रजसम्) अर्थात् प्रजारहित (कृणोमि) मैं करता हूँ, (अश्मानं ते अपिधानं कृणोमि) तेरे मार्ग को मैं बन्द कर देता हूँ जैसे कि पत्थर द्वारा बिल को बन्द कर दिया जाता है। मन्त्र २, ३ में "ते" पद एकवचन में है। इसलिए जो कोई नारी सन्तान-प्रतिबन्ध चाहे उसके लिए इन प्रयोगों का विधान हुआ है, अनिच्छुक पर नहीं। योनि के पैन्दे और योनि के मुख के व्यत्यास में पौरुषप्रसङ्ग नहीं हो सकता। ये प्रयोग, अल्पकालिक भी हो सकते हैं, और स्थिर भी। अपिधानम्=पिधानम्, बन्द करना[1]]।

सूक्त ३६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अक्षि, मनः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अक्ष्यौ॑ नौ मधु॑संकाशे अनी॑कं नौ स॒मञ्ज॑नम्।

अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॑ स॒हास॑ति॥ १॥

अर्थ—(नौ) हम दोनों की (अक्ष्यौ) दोनों-दोनों आखें (मधुसंकाशे) मधु के सदृश [मधुर] हों, (नौ) हम दोनों के (अनीकम्) मुख (समञ्जनम्) सम्यक् कान्तिसम्पन्न हों। (माम्) मुझे (हृदि अन्तः) हृदय के भीतर (कृणुष्व) कर, (नौ) हम दोनों का (मनः इत्) मन भी (सह) परस्पर सहकारी (असति) हो।

[यह सूक्त विवाह संस्कार में विनियुक्त हुआ है। पति-पत्नी के जीवनों में मधुरता, प्रसन्नता तथा अनुराग दर्शाया है। समञ्जनम्=सम् (सम्यक्)+**अञ्जू (व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु;** रुधादि)। इस द्वारा वर-वधू में पारस्परिक प्रसन्नता प्रकट की है। 'हृदि अन्तः' द्वारा वर और वधू दोनों एक-दूसरे को सदा अपने-अपने हृदय के भीतर रखने का संकल्प करते हैं। इस द्वारा पारस्परिक अनुराग द्योतित किया है। असति=अस् (भुवि), लेट् लकार+अट् का आगम]।

सूक्त ३७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वासः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अ॒भि त्वा॒ मनु॑जातेन॒ दधा॑मि॒ मम॒ वास॑सा। यथासो॒ मम॒ केव॑लो॒ नान्यासां॑ की॒र्तया॑श्च॒न॥ १॥

अर्थ—(मनुजातेन[2]) मनोऽनुराग द्वारा उत्पादित (मम) मेरे अर्थात् अपने (वाससा) वस्त्र द्वारा [हे पति! या वर!] (त्वा) तुझे मैं (अभि दधामि) बान्धती हूं। (यथा) जिस प्रकार कि-तू (मम केवलः) केवल मेरा ही (असः) हो, और (अन्यासाम्) अन्य नारियों का (न कीर्त्तयाः चन) कीर्तन न करे।

[यह मन्त्र भी विवाह संस्कार सम्बन्धी है। वधू निज मनोऽनुराग पूर्वक जिस वस्त्र को बुनकर तय्यार करती है उस वस्त्र के द्वारा स्वयं, न कि पुरोहित, पति को बान्धती है, उस के वस्त्र के साथ अपने वस्त्र का गठजोड़ करती है। और इस विधि द्वारा पति को केवल अपना पति घोषित करती है। असः=अस् (भुवि), लेट् लकार+सिप् (इकारलोप, "**इतश्च लोपः परस्मैपदेषु**")+अट् का आगम]।

---

१. गर्भपात धर्मविरुद्ध है। परन्तु राष्ट्रिय आवश्यकता, महिमा और व्यक्ति के स्वास्थ्य की दृष्टि से सन्तान-निरोध अनुपादेय नहीं। अपितु उपादेय है। सन्तान निरोध के लिए ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ उपाय है।

२. अथवा "मननपूर्वक तय्यार किये गये" वस्त्र द्वारा। मन्त्रेण जातेन, मनोर्वा निष्पन्नेन" (सायण)]।

सूक्त ३८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम्। परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम्॥ १॥

अर्थ—(इदम्) इस (भेषजम्) औषध को (खनामि) मैं खोदती हूँ, (मां पश्यम्) जो कि मुझे देखती है, अर्थात् मेरे स्वार्थ को दृष्टि में रखती है, (अभिरोरुदम्) और [मेरे वियोग में पति को] रुला देती है, जो (परायतः) दूर गये पति को (निवर्तनम्) लौटा लाती है, (आयतः) और लौट आए के (प्रति नन्दनम्) के प्रति आनन्दकारी होती है।

[यह भेषज कोई वानस्पतिक वस्तु नहीं, अपितु पत्नी का पति के प्रति गाढ़ अनुराग है। किसी भी वनस्पति को आखें नहीं होतीं जिन द्वारा कि वह पत्नी को निज-अनुकूलता में देखे। खनामि द्वारा हृदय के अन्तःस्थल में विद्यमान गाढ़-अनुराग का प्रकटीकरण ही अभिप्रेत है, यही महाभेषज है, जो कि पत्नी के वियोग में पति को रुला देती है, विह्वल कर देती है, गये को लौटा लाती और लौटा आए को प्रसन्न कर देती है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि। तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेसानि सुप्रिया॥ २॥

अर्थ—(आसुरी) प्रज्ञावान् पति की प्रज्ञावती पत्नी (येन) जिस भेषज द्वारा (देवेभ्यः परि) [पति की] इन्द्रियों को वर्जित करके, (इन्द्रम्) पति की आत्मा को (निचक्रे) वश में करती रही है, (तेन) उस भेषज द्वारा (अहम्) मैं पत्नी (त्वाम्, निकुर्वे) तुझे वश में करती हूँ, (यथा) ताकि (ते) तेरी (सुप्रिया) अत्यन्त प्रिया (असानि) मैं हो जाऊं।

[**असुः प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। असुरः=प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। आसुरी=बुद्धिमान् की बुद्धिमती पत्नी। तथा असुरत्वम्=प्रज्ञावत्त्वम् (निरुक्त १०.३.३४) पद त्वष्टा (२१)। देवेभ्यः=**देवाः इन्द्रियाणि** (यजुः० ४०.४) यथा "**नैनद् देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्षत्**"। परि=**अपपरी वर्जने** (अष्टा० १.४.८८) इति परिः कर्मप्रवचनीयः, **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (अष्टा० २.३.१०) इति पञ्चमी; देवेभ्यः परि=देवान् वर्जयित्वा (सायण)। अभिप्राय यह कि जहां पति और पत्नी दोनों बुद्धिमान् हों वहां परस्पर में प्रेम बना रहता है। वहां ऐन्द्रियिक शृङ्गारविषय की परवाह न होकर आत्मिक सम्बन्ध की अधिक परवाह होती है। इन्द्र=जीवात्मा। यथा "**इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम०**" (अष्टा० ५.२.९३)। निकुर्वे, निकारः=Subjugation (आप्टे)=स्वाधीनं कुर्वे, वशीकरोमि]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)**॥ छन्दः—**चतुष्पदा उष्णिक्**॥

प्रतीची सोममसि प्रतीच्युत सूर्यम्। प्रतीची विश्वान्देवान्तां त्वाच्छावदामसि॥ ३॥

अर्थ—[हे पत्नी!] (सोमम्) चन्द्रमा की (प्रतीची) प्रतिरूपता को प्राप्त हुई (असि) तू है, (उत) तथा (सूर्यम्) सूर्य की (प्रतीची) प्रतिरूपता को प्राप्त तू है। (विश्वान् देवान्) सब देवों की (प्रतीची) प्रतिरूपता को प्राप्त तू है, (ताम्, त्वा) उस तुझ के (अच्छ) संमुख (आवदामसि) हम सब यह कहते हैं।

[मन्त्र में पति के सम्बन्धियों ने पत्नी की प्रशंसा में कहा है कि तू सौन्दर्य में चांद और सूर्य के

प्रतिरूप है, और दिव्यगुणों में देवपुरुषों के सदृश है। प्रतीची=प्रतिरूपताम् अञ्चति प्राप्नोति इति। अच्छ=अच्छाभी आभिमुख्ये]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अहं वदामि नेत्त्वं सभायामह त्वं वद। ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ ४॥

अर्थ—(अहम्) मैं पत्नी (वदामि) [गृह्य व्यवहारों में] बोला करूँ, (नेत् त्वम्) न कि तू; (त्वम्) तू (सभायाम् अह) राजकीय तथा सामाजिक सभा में (वद) बोला कर। (त्वम्) तू (मम इत्) मेरा ही (केवलः) केवल (असः) हो, (अन्यासाम्) अन्य नारियों का (न, कीर्तयाः चन) कीर्तन भी न किया कर।

[मन्त्र में पत्नी ने आपस में कार्यविभाग का कथन किया है। गृह्यकार्यों और गृह्य व्यवहारों में वह निज अधिकार मानती है, और सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों में अधिकार पति का। इस प्रकार दोनों प्रकार की व्यवस्थाएँ बनी रहती हैं, और पारस्परिक प्रेम दृढ़ होता जाता है। पति को यह भी परामर्श देती है कि तूने पत्नीव्रत का ध्यान रखना है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्यस्तिरः। इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत्॥ ५॥

अर्थ—[हे पति!] (यदि वा) यदि (तिरोजनम्) किसी जनता या जनपद द्वारा तू तिरोहित अन्तर्हित (असि) हुआ है, (यदि वा) अथवा (नद्यः) नदियाँ (तिरः) तेरी तिरोधायक हुई हैं, तो (इयम्, ओषधिः) यह ओषधि (त्वाम्) तुझ को (बद्ध्वा इव) मानो बाँध कर, (मह्यम्) मेरे लिए, (ह) निश्चय से (न्यानयत्) वापिस लाएगी, या लाए।

[ओषधि है पत्नी के अन्तःहृदय में पति के प्रति अनुराग। वैमनस्य के कारण पति कहीं चला गया प्रतीत होता है। पत्नी को विश्वास है कि उसका अनुरागाविष्ट सततानुचिन्तन पति को वापिस ले आएगा। सूक्त में भेषज और ओषधि शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यजुर्वेद में भी भेषज शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—"**भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै**" (यजु० ३.५९)। इस पर "उवट" लिखते हैं कि "**हे रुद्र! यस्त्वं स्वभावत एव भेषजमौषधं भवसि**"। तथा महीधर लिखते हैं कि "**हे रुद्र! त्वं भेषजमसि, औषधवत्सर्वोपद्रवनिवारकोऽसि**"। तिरः=अन्तर्धानम्। यथा "**तिरोऽन्तर्धौ**" (अष्टा० १.४.७०)। न्यानयत् नितरां आनयत्]।

तृतीय अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ४

सूक्त ३९

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति॥ १॥

अर्थ—(दिव्यम्) दिव्यगुणों वाले, (सुपर्णम्) उत्तम पंखों वाले पक्षी के सदृश उड़ने वाले, (पयसम्) जलमय, (बृहन्तम्) महाकाय, (अपाम्, गर्भम्) जलों के गर्भरूप, (ओषधीनाम्, वृषभम्) ओषधियों पर

वर्षा करने वाले, (अभीपतः) सूर्य को अभिमुख करके उसके चारों ओर उड़ने वाले ग्रहों को (वृष्ट्या, तर्पयन्तम्) वृष्टि द्वारा तृप्त करने वाले, (रयिष्ठाम्) सम्पत्ति के उत्पादनार्थ [अन्तरिक्ष में] स्थित [मेघ[१] को], (नः गोष्ठे) हमारे गोशाला आदि स्थान में [परमेश्वर] (स्थापयाति) स्थापित करे, या करता है।

[भौमजल की अपेक्षा मेघस्थ जल दिव्यगुणों वाला होता है, उसमें भौम पदार्थ मिश्रित नहीं होते, वह स्वच्छ होता है। अन्तरिक्ष में मेघस्थ जल वायु द्वारा इधर-उधर उड़ता रहता है। मेघ के कारण अन्नादि सम्पत्ति प्राप्त होती है। गोष्ठ पद उपलक्षक है निवास स्थान, खेत आदि का]।

सूक्त ४०

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**सरस्वान्**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्टप॒ति॒र्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे॥ १॥

अर्थ—(यस्य व्रतम्) जिस के व्रत का (सर्वे पशवः) सब प्राणी (यन्ति) अनुगमन करते हैं, (यस्य व्रते) जिसके व्रत [के अनुसार] (आपः) जल (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित होते हैं [नदी आदि में]। (यस्य) जिस के (व्रते) व्रत में (पुष्टपतिः) पुष्ट अन्नों का पति [मेघ] (निविष्टः) [अन्तरिक्ष में] नियम से प्रविष्ट होता है (तम्) उस (सरस्वन्तम्) सरण करने वाले मेघों के स्वामी [सूर्य] को, (अवसे) रक्षार्थ (हवामहे) हम बुलाते हैं।

[सूर्य व्रती है। नियमानुसार उदितास्त होता और ऋतुओं का सर्जन करता है। यह उसका व्रत है, इसका वह उल्लंघन नहीं करता। सब प्राणी तथा जल आदि सूर्य के व्रतानुसार चलते हैं। पुष्टपति है मेघ। वह भी सूर्य निर्दिष्ट व्रतानुसार समय पर अन्तरिक्ष में आ प्रविष्ट होता है। "हवामहे" द्वारा यह सूचित किया है कि अनावृष्टि की अवस्था में यज्ञिय साधन आदि द्वारा सूर्य की शक्ति का आह्वान करना चाहिए। पैप्पलाद शाखा में "हवामहे" के स्थान में "जुहुवेम" पाठ है]।

तथा

जिस के नियम में सब प्राणी चलते हैं, जिसके नियम में जल उपस्थित होते हैं। जिसके नियम में पुष्ट अन्नादि का पति पूषा सूर्य द्युलोक में निर्दिष्ट है उस विज्ञानवान् परमेश्वर को रथार्थ, हम पुकारते हैं।

[आपः=वर्षा के जल का बरसना, नदियों आदि के जलों का प्रवहण हो कर तत्तद् स्थानों में उपस्थित होना परमेश्वर के रचे नियमानुसार हो रहा है। प्राणी भी नियम में बन्धे शयन-जागरण तथा अन्य कर्म करते हैं। सूर्य भी द्युलोक में निविष्ट हुआ नियम पूर्वक अन्नों तथा फलों का विपाक ऋत्वनुसार करता है। परमेश्वर सरस्वान् है। सरः विज्ञानम्[२], तद्वान् है। आत्मरक्षार्थ स्तुति-प्रार्थना-उपासना विधि द्वारा निज जीवनों में उस का आह्वान करना चाहिए]।

---

१. पृथिवी से अतिरिक्त अन्य ग्रहों में भी बर्फ के रूप में जल की सत्ता है। प्रत्येक ग्रह का निज वैयक्तिक अन्तरिक्ष है, वहां स्थित मेघों द्वारा उन पर वृष्टि होती है, या हुई है।

२. **सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक्, नदी वा** (उणा० ४.१९०) दयानन्द। अतः सरः=विज्ञानम् तद्वान् परमेश्वरः सरस्वान्।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वांसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम्।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम्॥ २॥

अर्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रतिपदार्थ में प्राप्त, (दाशुषे) आत्मसमर्पक के लिए (दाश्वांसम्)सद्‌गुणों के प्रदाता, (सरस्वन्तम्) विज्ञान[1] धन, (पुष्टपतिं) परिपुष्ट पूषा [सूर्य] के पति, (रयिष्ठाम्) ऐश्वर्यों में स्थित अर्थात् ऐश्वर्यशाली, (रायस्पोषम्) भक्तों की सद्‌गुणरूपी सम्पत्ति के पोषक, (श्रवस्युम्) भक्तों की प्रार्थना को सुनना चाहते हुए, (रयीणाम्) सद्‌गुणरूपी सम्पत्तियों की (सदनम्) आगार परमेश्वर को (वसानाः) निज जीवनों में बसाते हुए, (इह) यहां निज जीवनों या इस पृथिवी पर (आहुवेम) हम उसका आह्वान करते हैं]।

सूक्त ४१

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**श्येनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः।
तरन्विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात्॥ १॥

अर्थ—(नृचक्षाः) नर-नारियों का निरीक्षक, (श्येनः) प्रशंसनीय गति वाला परमेश्वर, (अवसानदर्शः) जो कि जगत् के अवसान का द्रष्टा है वह (धन्वानि अति) मरुस्थलों का अतिक्रमण कर, (अपः अति) और समुद्रादि जलों का अतिक्रमण कर (ततर्द) सब जगत् की हिंसा अर्थात् विनाश प्रलय करता रहा है, या कर देता है। वह (विश्वानि अवरा रजांसि तरन्) समग्र अवर कोटि के लोकों को पार करता हुआ, (सख्या इन्द्रेण) निज सखा जीवात्मा के साथ वर्तमान हुआ (शिवः) कल्याण करता है, (आ जगम्यात्) वह हमें प्राप्त हो।

[मन्त्र के पूर्वार्ध में परमेश्वर की संहार शक्ति का कथन हुआ है, और उत्तरार्ध में उस के शिवस्वरूप का। श्येनः="**शंसनीयं गच्छति**" (निरुक्त ४.४.२४; जसुरि पद ५१); तथा "**श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः**" (निरुक्त १३(१४)। २(१).७२(१४))। इन्द्र=जीवात्मा (अष्टा० **इन्द्रियमिन्द्र-लिङ्गमित्यादि**; ५.२.९३)। सब लोक परमेश्वर की शक्ति की अपेक्षा शक्ति में अवर कोटि के हैं, तभी परमेश्वर उन का तर्दन कर सकता है। तर्दन और अवसान समानाभिप्रायक हैं]।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**श्येनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद्वसु यत्पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत्॥ २॥

अर्थ—(श्येनः) देखो मन्त्र (१), (नृचक्षाः) नर-नारियों का निरीक्षक, (दिव्यः) दिव्यगुणी, (सुपर्णः) उत्तम पालक (सहस्रपात्) हजारों पैरों वाला या हजारों का रक्षक (शतयोनिः) सैकड़ों का योनिरूप (वयोधाः) अन्नों का धारण करने वाला, उन का स्वामी (सः) वह परमेश्वर (नः) हमें (नियच्छात्) नितरां देवे (वसु) धन; (यत्) जो धन कि (पराभृतम्) दूर से भी लाया गया हो, वह धन (अस्माकम्

---

१. **सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक्, नदी वा** (उणा० ४.१९०) दयानन्द। अतः सरः=विज्ञानम् तद्वान् परमेश्वरः सरस्वान्।

पितृषु) हमारे माता-पिता आदि में (स्वधावत् अस्तु) आत्मधारण शक्ति प्रदायक हो।

[सुपर्णः=सु+**पॄ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः)। सहस्रपात्=सहस्रपात् (यजुः० ३१.१), सर्वगतिकः, या सहस्र+**पा रक्षणे**। पराभृतम्=परस्मात् स्थानात्+आहृतम्]।

सूक्त ४२

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश।

बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ १ ॥

अर्थ—(सोमारुद्रा) हे सोम-और-रुद्र! (विषूचीम्) विस्वक् अर्थात् फैलने वाले रोग को (विवृहतम्) विनष्ट करो, (या अमीवा) जो अमीवा कि (नः गयम्) हमारे घर में या शरीरों में (आ विवेश) प्रविष्ट हो गया है। (पराचैः) दूर करने के निज साधनों द्वारा (निर्ऋतिम्) कष्टापत्तिरूप विषूची को (दूरम्) दूर कर (बाधेथाम्) इस का नाश करो, (कृतं चित् एनः) और किये पाप को भी (अस्मत्) हम से (प्रमुमुक्तम्) मुक्त करो, छुड़ाओ।

[विषूची=विषूचिका=Cholera (आप्टे)। वृहतम्=विनाशयतम् (सायण)। अमीवा=**अम रोगे** (चुरादिः)। "अमीवा" रोगकीटाणु भी है। "**गयः गृहनाम** (निघं० ३.४)। सोम=जल, और रुद्र=विद्युत्। यथा "**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्**" (अथर्व० १.६.२), सोम का सम्बन्ध आपः के साथ है, और आपः में सब भेषज हैं, और अग्नि है जो कि सब रोगों को शान्त करती है। यह अग्नि विद्युत् है। सोमः=Water (आप्टे)। **निर्ऋतिः=कृच्छ्रापत्तिः** (निरुक्त २.२.८)। जब रोग समाप्त हो गया, तो यह रोग, जिस पाप का परिणाम था वह भी दूर गया, क्योंकि उस पाप का फल भुक्त हो चुका]।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद्विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।

अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत्तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्॥ २ ॥

अर्थ—(सोमारुद्रा) हे सोम-और-रुद्र! (युवम्) तुम दोनों (अस्मत् तनूषु) हमारे देहों में (एतानि विश्वा भेषजानि) इन सब भेषजों को (धत्तम्) स्थापित करो। (यत्) जो (कृतम्, एनः) किया पाप (नः तनूषु) हमारे देहों में (बद्धम्) बन्धा पड़ा (असत्) है, (तत्) उसे (अस्मत्) हम से (अवस्यतम्) अवसित करो, उस का अवसान करो, (मुञ्चतम्) उसे छुड़ाओ।

["तनूषु बद्धम्" और "तनूषु" पदों की दृष्टि से पूर्व के मन्त्र में "गय" का अर्थ शरीर गृह किया है]।

सूक्त ४३

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।

तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्तासामेका वि पपातानु घोषम्॥ १ ॥

अर्थ—[हे पुरुष!] (ते) तेरी (एकाः) एक प्रकार की [वाचः] वाणियाँ (शिवाः) कल्याणमयी

हैं, (ते) तेरी (एका:) अन्य प्रकार की वाणियाँ (अशिवा:) अकल्याणरूप हैं; (सुमनस्यमान:) सुप्रसन्न हुआ (सर्वा:) उन सब वाणियों को (बिभर्षि) तू अपने में धारण करता है। (अस्मिन् अन्त:) इस पुरुष के भीतर (तिस्रः वाचः निहिता:) तीन वाणियाँ निहित रहती हैं, (तासाम्) उन में से (एका) एक वाणी (घोषम् अनु) ध्वनि के साथ (विपपात) बाहिर गिरती है।

[सायण ने चार वाणियों का निर्देश मन्त्र-व्याख्या में किया है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। और इनकी विस्तृत व्याख्या भी की है। मन्त्र के तीसरे पाद में "तिस्रः वाच:" द्वारा पुरुष में तीन वाणियों का निधान अर्थात् स्थिति कही है, और उनमें से एक "ध्वनि" रूप वाणी का मुख से पतन कहा है। वाणी "संस्कार रूप" में चित्त में निहित रहती है। यह "संस्कारमयी" वाणी है। यह संस्कारमयी वाणी पदवाक्यरूप में, बोलते समय, प्रथम चित्त में स्थित होती है, प्रकट होती है। इसका उच्चारण करे या न करे, वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है। परन्तु जब वह बोलता है तो चित्तस्थ वाणी ध्वनि के साथ मुख से गिरती है। इस तृतीयावस्था की वाणी को "वैखरी" कहते हैं। वैखरी वाणी तालु, ओष्ठ आदि स्थानों में अभिव्यक्त हुई मुख द्वारा उच्चरित होती है। चित्तस्थ वाणी "पश्यन्ती" है, इसकी स्थिति को पुरुष विना मुख द्वारा उच्चारण किये भी जान रहा होता है। संस्कारमयी वाणी "परावाणी" है, जो कि वक्ता की इच्छा के विना चित्त में भी अभिव्यक्त नहीं होती। इन अन्त की द्विविध वाणियों का सम्बन्ध तालु-ओष्ठ आदि के साथ नहीं होता। मन्त्र में "मध्यमा" वाणी का प्रसंग नहीं। यद्यपि **"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि"** (अथर्व० ९.१०.२७) चतुर्विध वाक्-पदों का कथन हुआ है]।

सूक्त ४४

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः, विष्णुः** ॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्** ॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ १ ॥

अर्थ—(विष्णो) हे विष्णु! (इन्द्रः च) और इन्द्र तुम (उभा) दोनों (जिग्यथु:) विजयी होते हो, (न पराजयेथे) पराजित नहीं होते, (एनयो:) इन दोनों में से (कतरः चन) कोई एक [अकेला] भी (न पराजिग्ये) कभी पराजित नहीं हुआ या होता। (यत्) जब (अपस्पृधेथाम्[1]) दोनों किसी के साथ स्पर्धा करते हैं (तत्) तब (त्रेधा) तीन प्रकार से (सहस्रम्) हजारों शत्रुसैनिकों को (व्यैरयेथाम्) ये तितर-बितर

---

१. "स्पर्धा" यतः चेतनधर्म है, साथ ही मन्त्र में जय-पराजय का कथन हुआ है, इसलिए इन्द्र अर्थात् सम्राट् का सहयोगी विष्णु सेनापति समझा जा सकता है।

अथवा आधिदैविक दृष्टि में इन्द्र द्वारा अन्तरिक्षस्थ विद्युत् समझी जा सकती है। यथा **"वायुर्वा, इन्द्रो वा, अन्तरिक्षस्थान:"** (निरुक्त ७.२.५), और विष्णु तो प्रसिद्ध सूर्य ही है। "स्पर्धा" आदि के सम्बन्ध में निरुक्तकार का कथन है कि **"यथो एतच्चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्तीति, अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते"** (७.२.७) समाधानरूप हो सकता है। "सहस्रम्" पद द्वारा हजारों रोगकीटाणु समझने चाहिएँ जिनका कि विनाश सूर्य करता है। यथा **"उद्यन् सूर्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः"** (अथर्व० २.३२.१)। उदित तथा अस्त होते सूर्य की लाल रश्मियों में रोगकीटाणुओं के हनन करने का निर्देश मन्त्र ने किया है। सूर्यरश्मि-चिकित्सा द्वारा भी हनन सम्भव है। वेदों में अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और मेघरूपी वृत्रासुरों के युद्धों का भी वर्णन होता है। वर्षर्तु में भिन्न-भिन्न स्थानों की दृष्टि से मेघ-वृत्रासुरों की संख्या कई हजार होती ही है। सम्भवतः मन्त्र में विद्युत्-चिकित्सा का निर्देश भी हो जिस द्वारा हजारों रोगकीटाणुओं का हनन हो सके।

कर देते हैं।

[व्यैरयेथाम्=**वि+ईर गतौ कम्पने च** (अदादिः)। इन्द्र=सम्राट्, साम्राज्याधिपति। "**इन्द्रश्च सम्राट्**" (यजुः० ८.३७)। विष्णु [सम्भवतः मुख्य सेनापति?]। त्रेधा=स्थल, जल और अन्तरिक्ष में तीन प्रकार के युद्धों में, या जल स्थल और पर्वतीय युद्धों में। "**इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्**" (ऋ० १.२२.१७) में विष्णु अर्थात् सूर्य के [आधिदैविकार्थ में] "त्रेधा विक्रमों" और "त्रेधा पदनिधानों" का वर्णन हुआ है। राजनैतिक [आधिभौतिक] अर्थ में विष्णु, सम्भवतः मुख्य सेनापति द्वारा तीन स्थानों पर "त्रेधा" द्वारा युद्ध का वर्णन अभिप्रेत हो। सायणाचार्य ने ७.४२.३ की व्याख्या में "विष्णो" का अर्थ सूर्य न कर "**व्यापनशीलस्य इन्द्रस्य वा**" अर्थ किया है। इस प्रकार प्रकरणानुसार कहीं-कहीं यौगिक पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है।]।

सूक्त ४५

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**ईर्ष्यापनयनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्याभृतम्। दूरात्त्वा मन्य उद्धृतमीर्ष्याया नाम भेषजम्॥ १॥

अर्थ—(विश्वजनीनात् जनात्) सब जनों का हित करने वाले जन से, तथा (सिन्धुतः परि) सिन्धु से (आभृतम्) लाई गई, तथा (दूरात्) दूर के स्थान से भी (उद्भृतम्) पृथिवी से उद्धृत की गई (त्वा) तुझ को (ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या का (भेषजम्, नाम) प्रसिद्ध औषध (मन्ये) मैं मानता हूँ।

[सर्वहितकारी वैद्य से लाई गई ओषधि, या सर्वहितकारी योगी महात्मा से प्राप्त आध्यात्मिक मानसिक अनुशासन; तथा सिन्धु से प्राप्त सैन्धव आदि; तथा पृथिवी को खोदकर प्राप्त खनिज पदार्थ, तथा वानस्पतिक जड़, ईर्ष्यावृत्ति की औषध है।

वैद्य से प्राप्त दवाई, या योगी महात्मा से प्राप्त मानसिक अनुशासन, ईर्ष्या को दूर कर सकते हैं। ईर्ष्या मानसिक रोग है जो कि हितकारी वैद्य द्वारा प्रदत्त औषधि से शान्त हो सकता है। यह ईर्ष्या मानसिक-वृत्ति है जो कि अन्य मानसिक वृत्तियों के निरोध के सदृश, योगोपायों द्वारा निरुद्ध हो सकती है, और इस प्रक्रिया को योगीजन दर्शा सकते हैं। ईर्ष्या के निरोध के लिए सिन्धु से, तथा पृथिवी से भी उद्धृत औषधों का प्रयोग करना चाहिए। मन्त्र में किसी विशिष्ट औषध का नाम नहीं लिया। केवल औषध प्राप्ति के उपाय तथा साधन दर्शा दिए हैं। प्रत्येक रोगी के निज स्वभाव तथा मानसिक लक्षणों के अनुसार एक ही रोग के लिए ओषधि भिन्न-भिन्न हो जाती है। इसलिए मन्त्रों में प्रायः साधनों का निर्देश किया जाता है किसी विशिष्ट औषध का नहीं]।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**ईर्ष्यापनयनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्। एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय॥ २॥

अर्थ—(अग्नेः इव) अग्नि के सदृश (दहतः) दग्ध करते हुए (अस्य) इस ईर्ष्यालु के (एताम् ईर्ष्याम्) इस ईर्ष्याभाव को, तथा (पृथक्) इस से भिन्न, (दहतः) दग्ध करती हुई (दावस्य) प्रचण्ड वनाग्नि के सदृश प्रचण्ड (एतस्य) इसके ईर्ष्याभाव को (शमय) हे विश्वजन हितकारी! तू शान्त कर दे, (इव) जैसे कि (उद्ना) जल द्वारा (अग्निम्) अग्नि को शान्त किया जाता है।

सूक्त ४६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ १॥

अर्थ—(सिनीवालि) हे अन्नवाली अथवा प्रेम से बान्धने वाली, तथा सुन्दर बालों वाली, केशों वाली! (पृथुष्टुके) प्रथित स्तुति वाली! अथवा विस्तृत केशगुच्छवाली! (या देवानाम् स्वसा असि) जो तू देवों अर्थात् दिव्यकोटि के विद्वानों की बहिन है, वह तू (आहुतम्, हव्यम्) गर्भाधान संस्कार में आहुतिरूप में दिए वीर्य हव्य की (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवा कर, सुरक्षा कर (देवि) हे दिव्यगुणों वाली! (नः) हम पारिवारिक जनों को (प्रजाम् दिदिड्ढि) उत्तम अपत्य प्रदान कर।

[याज्ञिक सम्प्रदायानुसार सिनीवाली है पूर्वा-अमावास्या अर्थात् दृष्टचन्द्रा अमावास्या अर्थात् दृष्टेन्दुकृष्णा चतुर्दशी। परन्तु निरुक्तानुसार सिनीवाली और तत्सम्बन्धी कुहू हैं "देवपत्न्यौ" (११.३.३१; पद २२)। अतः मन्त्रव्याख्या निरुक्तानुसार की गई है। मन्त्र में सिनीवाली को देवों की स्वसा कहा भी है। अतः सिनीवाली मानुषी है। साथ ही यह अपत्योत्पादन भी करती है। अन्नभण्डार की स्वामिनी भी है "**सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि**" (निरुक्त) अथवा सिनम्=षिञ् बन्धने (स्वादिः) प्रेमपाश द्वारा बान्धने वाली। स्तुका=**स्तौतेः निष्ठातकारस्य वर्णोपजनः छान्दसः** (सायण)। प्रजाम्=प्र (प्रकृष्ट)+जा[१] (अपत्यनाम), "विजामातुः" शब्द की व्याख्या में (निरुक्त ६.२.९)। दिदिड्ढि=दिश् या दिह् का लोट्]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी। तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन॥ २॥

अर्थ—(या) जो (सुबाहुः) शोभन बाहुओं वाली, (स्वङ्गुरिः) उत्तम अङ्गुलियों वाली, (सुषूमा) उत्तम प्रसवा अर्थात् सुगमता से, विना कष्ट के, सन्तानोत्पादन करने वाली, (बहुसूवरी) नाना सन्तानों का उत्पादन करने वाली है, (तस्यै) उस (विश्पत्न्यै) वैश्यपत्नी (सिनीवाल्यै) सिनीवाली के लिए (हविः जुहोतन) हवि की आहुतियाँ दो [गर्भाधान संस्कार में]।

[बाहु, अङ्गुलि, सन्तानोत्पन्न करने की शक्ति के वर्णन से सिनीवाली मानुषी ही प्रतीत होती है। यह "सिनी" है, अन्नभण्डार की स्वामिनी है, अतः वैश्य वर्ण की है। विश्पति में "विश्" पद वैश्यवाचक है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।

विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व॥ ३॥

अर्थ—(सहस्रस्तुका) हजारों बालों के केशगुच्छे वाली, (अभियन्ती) [विवाह निमित्त] यज्ञशाला की ओर आती हुई, (या) जो (विश्पत्नी देवी) तू वैश्यपत्नी देवी (इन्द्रम्) वैश्यपति (प्रतीची) के प्रति आती है, वह तू (विष्णोः पत्नि) हे [व्यापारार्थ] सर्वत्र जाने वाले पति की पत्नी! (तुभ्यम्) तुझे

---

१. **जा अपत्यनाम** (निघं० २.२)।

(हवींषि) अन्न के भण्डार (राता=रातानि) दिए हैं, सौंप दिए हैं, (देवि) हे देवि! (पतिम्) पति को (राधसे) धनोपार्जन के लिए (चोदयस्व) प्रेरित करती रह।

[इन्द्र=वणिक्, वैश्य। यथा "**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि**" (अथर्व० ३.१५.१), ३.१५ का यह समग्र सूक्त व्यापारपरक है। इस द्वारा सवर्णी विवाह का निर्देश हुआ है, पति भी इन्द्र अर्थात् वणिक् है और पत्नी भी वैश्यवर्ण की है। पति को व्यापारार्थ देश-विदेश जाना पड़ता है अतः इसे विष्णु कहा है "**विष्लृ व्याप्तौ**" व्यापारार्थ इस की सर्वत्र व्याप्ति होती है, विविध स्थानों में प्राप्ति होती है। अतः पति के कृषिजन्य-हवियों के प्रबन्ध का अधिकार पत्नी को सौंपा गया है। अथर्व० ३.१५ में वणिक् को हवाई जहाजों द्वारा व्यापारार्थ देश-विदेश जाने का भी निर्देश दिया है, और कहा है कि "**यथा क्रीत्वा धनमाहराणि**" (३.१५.२) कि "खरीद कर मैं धन लाऊँ"। अथर्व० ३.१५ का समग्र सूक्त पठनीय है]।

सूक्त ४७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कुहूः**॥ छन्दः—**जगती**॥

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि।
सा नो रयिं विश्ववारं नियच्छाद्ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥ १॥

अर्थ—(कुहूम्) पृथिवी में शब्दनीया, कथनीया (सुकृतम्) सुकर्मों वाली (विद्मनापसम्) गृह्यकृत्यों को जानने वाली, (सुहवाम्) सुगमता से बुलाई जा सकने वाली (देवीम्) कुहू-देवी को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (जोहवीमि) मैं पति बार-बार बुलाता हूँ। (सा) वह तू (नः) हम [पारिवारिक जनों] को (रयिम्) धन (नियच्छात्) दे, अर्थात् ऐसा पुत्र दे जो कि (विश्ववारम्) सब द्वारा वरणीय हो, चाहने योग्य हो, और (शतदायम्) सैकड़ों को दान देने वाला (उक्थ्यम्) और प्रशंसनीय हो, (वीरम्) ऐसा वीर पुत्र (ददातु) हमें दे।

[कु=पृथिवी; कु=earth (आप्टे)+**ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च** (भ्वादिः)। विद्मनापसम्=विद्मन (गृह्य)+**अपः कर्मनाम** (निघं० २.१.) कुहू=पृथिवी में कथनीय, सद्गुणों में प्रशंसनीय। यज्ञे=गृहस्थयज्ञे। कुहू पत्नी सुहवा है, हठीली नहीं। शेष गुण मन्त्रार्थ में स्पष्ट हैं। जोहवीमि=**ह्वयतेरिदं रूपं जुहोतेर्वा** (सायण)। निरुक्त के अनुसार कुहू देवपत्नी है, अतः स्वयं देवी। याज्ञिकों के अनुसार कुहू "नष्टचन्द्रा अमावास्या" है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कुहूः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु॥ २॥

अर्थ—(देवानाम्) देवों में से (अमृतस्य) अमृत व्यक्ति की (पत्नी कुहूः) पत्नी कुहू है, (हव्या) सत्कारपूर्वक आह्वानीया है, (अद्य) इस समय (नः अस्य हविषः) हमारे इस हविष्यान्न का (जुषेत) सेवन करे, भोजन करे। (शृणोतु) हमारी प्रार्थना को सुने, (यज्ञमुशती) गृहस्थयज्ञ की कामना वाली, (चिकितुषी) तथा सम्यक्-ज्ञानवाली विदुषी, (नः) हमें (रायस्पोषम्) निज ज्ञानरूपी सम्पत्ति (दधातु) प्रदान करे।

[कुहू के दो स्वरूप[1] हैं, एक तो मन्त्र (१) में वर्णित गृहस्थ के कार्यों की विज्ञता, भोज्यान्न की व्यवस्था का करना, तथा सन्तानोत्पादन; और (मन्त्र २) में वर्णित जीवन्मुक्त की पत्नी का होना, अध्यात्मतत्त्वों का सम्यक्-ज्ञानवाली होना, और इन ज्ञान सम्पति का दान करना तथा सन्तानोत्पत्ति से विरत रहना। दोनों प्रकार की "कुहू" पत्नियाँ पृथक्-पृथक् पतियों के साथ विवाहयोग्या हैं]।

सूक्त ४८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**राका**॥ छन्दः—**जगती**॥

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥ १॥

अर्थ—(सुहवाम्) शोभन शब्दों द्वारा बुलाई जाने वाली (राकाम्) दानशीला पत्नी को (सुष्टुती) उत्तम स्तुतिपूर्वक (अहं हुवे) मैं पति बुलाता हूँ, (सुभगा) उत्तम ऐश्वर्यों वाली वह (नः शृणोतु) हमारी बात सुने, और (त्मना) स्वयम् [हमारे अभिप्राय को] (बोधतु) जान ले। (अच्छिद्यमानया सूच्या) और अटूट सुई द्वारा (अपः) गृहस्थ के कर्म-पट को (सीव्यतु) सीया करे, (शतदायम्, उक्थ्यम्, वीरम् ददातु) और सैकड़ों को दान देने वाला प्रशस्त वीर पुत्र दे। राका=**रा दाने** (अदादिः)+कृ+टाप्।

[राका=रां (दानम्) करोतीति (कृ+ङः) स्त्रीलिङ्ग। राका दानशीला देवपत्नी है। और सुभगा[2] है, ऐश्वर्यों की स्वामिनी है। पति के कथन को ध्यान से सुनती और कथन के अभिप्राय को जान लेती है। गृह्यकर्मों का सिलसिला जारी रखती, उसे छिन्न-भिन्न नहीं होने देती, सम्भवतः गृह्यवस्त्रों को भी सीती। तथा दानी और प्रशस्त वीर अपत्य की माता भी बनती]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**राका**॥ छन्दः—**जगती**॥

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा॥ २॥

अर्थ—(राके) हे दानशीले देवपत्नी! (याः ते) जो तेरी (सुमतयः) उत्तम मतियाँ हैं, जोकि (सुपेशसः) घर को सुन्दर रूप में रखतीं, और (याभिः) जिन सुमतियों द्वारा प्रेरित हुई तू (दाशुषे) दानी मनुष्यों को (वसूनि) नानाविध धन (ददासि) देती है, (ताभिः) उन सुमतियों के संग, (सुमनाः) प्रसन्नचित्त वाली तू, (अद्य) आज (नः उपागहि) हमारे समीप आ, (सुभगे) हे उत्तमैश्वर्यों से सम्पन्ने! (सहस्रापोषम्) हजारों को पोषकधन (रराणा) देती हुई।

[राका सम्पत्तिशालिनी है, और दानशीला है। सुमति द्वारा प्रेरित हुई यह दान और महादान भी करती है। सदा प्रसन्न रहती। इसे सामाजिक हित के लिए निमन्त्रित किया है। इन मन्त्रों में "अनुमति" का वर्णन नहीं हुआ, यह भी देवपत्नी है, और याज्ञिकों के अनुसार इस का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ है]।

---

१. "कुहू" स्त्रियाँ द्विविधा हैं, गृहस्थ की प्रवृत्ति वाली, और अध्यात्मप्रवृत्ति वाली। विवाहित दोनों हैं। परन्तु प्रवृत्तिभेद है। जैसे कि याज्ञवल्क्य की स्त्रियाँ थीं, एक कात्यायनी और दूसरी गार्गी। दोनों में प्रवृत्तिभेद था (बृहदा० उपनिषद् अ० ४। ब्रा० ५। कण्डिका १-१५)।

१. **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।**

सूक्त ४९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवपत्न्यः**॥ छन्दः—**आर्षी जगती**॥

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु॥ १॥

अर्थ—(उशतीः) रक्षा करने की कामनाओं वाली (देवानाम् पत्नीः) देवों की पत्नियाँ, (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें, (तुजये) बलप्रदान के लिए, और (वाजसातये) अन्नप्रदान के लिए (नः) हमारी (प्रावन्तु) बार-बार रक्षा करें। (याः) जो पत्नियाँ (पार्थिवासः) पार्थिक जीवन वाली हैं, (याः) तथा जो (अपाम्) आपः सम्बन्धी अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, और १ बुद्धि इनके नियन्त्रण के (व्रते अपि) व्रत में भी हैं, (ताः) वे दोनों प्रकार की (सुहवाः) सुगमता से बुलाई जा सकने वाली (देवीः) देवियाँ (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छन्तु) प्रदान करें।

[देवियाँ दो प्रकार की कही हैं। पार्थिव भोगों वाली, और इन्द्रियों, मन और बुद्धि का निरोध करने वाली। जैसे याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं, कात्यायनी और गार्गी। पहली सांसारिक भावनाओं वाली थी, और दूसरी अध्यात्मपरायणा थी (बृहदा० उप०)। **तुजि=हिंसाबलादाननिकेतनेषु** (चुरादिः)। **वाजः अन्ननाम** (निघं० २.७)। **शर्म सुखनाम** (निघं० ३.६)।

आपः=सप्त आपः="**षडिन्द्रियाणि, विद्या सप्तमी आत्मनि**" (निरुक्त १२.४.३८), "सप्त ऋषयः" मन्त्र की व्याख्या में (यजुः० ३४.५५)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवपत्न्यः**॥ छन्दः—**चतुष्पदा पङ्क्तिः**॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ २॥

अर्थ—(उत) तथा (ग्नाः) विदुषी (देवपत्नीः) देवपत्नियां, देवों अर्थात् विद्वानों की पत्नियाँ (व्यन्तु) प्रजननसम्पन्ना हों, (इन्द्राणी) सम्राट् की पत्नी, (अग्नायी) अग्रणी प्रधानमन्त्री की पत्नी, (अश्विनी) दो अश्विनौ में प्रत्येक की पत्नी "अश्विनी"। (रोदसी) रुद्र अर्थात् सेनाधिपति की पत्नी, (वरुणानी) माण्डलिक राजा की पत्नी—इन में से प्रत्येक (राट्) जिसका कि राज्य-व्यवस्था के साथ सम्बन्ध है, वह प्रत्येक (आशृणोतु) हमारी प्रार्थनाओं को ध्यानपूर्वक सुने, और यथाकाल (देवीः) ये देवियाँ (व्यन्तु) प्रजननसम्पन्ना हों, (यः) जो (ऋतुः) ऋतुकाल (जनीनाम्) इन जननशक्तिसम्पन्न देवियों का है।

[इन्द्र, वरुण="**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३०)। **रोदसी=रुद्रस्य पत्नी** (निरुक्त १२.४.४६)। अग्निः=**अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। अश्विनी=**पुण्यकृतौ राजानौ, अश्विनौ** (निरुक्त)। "अश्विनौ" दो हैं, इन में से प्रत्येक की पत्नी अश्विनी है। गत ८ मन्त्रों में आधिभौतिक पत्नियों का वर्णन हुआ है, अतः व्याख्येय मन्त्र की भी व्याख्या प्रकरणानुसार, आधिभौतिक की गई है। व्यन्तु=**वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु** (अदादिः)। मन्त्र में "प्रजन" अभिप्रेत है। अश्विनौ हैं, सम्भवतः राष्ट्र का नागरिक प्रजाविभाग, तथा युद्धविभाग के दो मुखिया]।

सूक्त ५०

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति। एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति॥ १ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे (अशनिः) बिजुली, (अप्रति) विना प्रतिरोध के, (विश्वाहा) सब दिनों के अर्थात् सर्वदा (वृक्षम्) वृक्ष को (हन्ति) नष्ट करती है, (एवा) इसी प्रकार (अद्य) आज, (अप्रति) विना प्रतिरोध के, (अहम्) मैं (कितवान्) जुआरियों का, (अक्षैः) अभियोगों द्वारा, (बध्यासम्) वध करूँगा।

[''अहम्'' द्वारा कोई राज्याधिकारी प्रतीत होता है, जोकि जुआरियों पर कड़ी दृष्टि रखता है और उन्हें पकड़ कर न्यायालय में उपस्थित कर अभियोगों द्वारा उन्हें वधदण्ड दिलाकर उन का वध करता है। अक्ष=Leagal Procedure a law suit (आप्टे)। न्यायालय को ''धर्मसभा'' तथा न्यायाध्यक्ष को ''सभाचर'' कहा है, (यजुः० ३०.६), यथा ''धर्माय सभाचरम्''। जूआ सम्बन्धी राज्याधिकारी को ''अक्षराज'' कहा है जो कि जूए की प्रक्रिया को जानता है, यथा ''अक्षराजाय कितवम्'' (यजुः० ३०.१८)। इसी प्रकार दण्डित के वध करने वाले को ''उपमन्थिता'', तथा वकील को सम्भवतः ''प्रश्नविवाक'' [प्राड्विवाक] कहा है, यथा ''वधायोपमन्थितारम्'' तथा ''मर्यादायै प्रश्नविवाकम्'' (यजुः० ३०.१५; १०)। दो पाठ मिलते हैं, वध्यासम् और बध्यासम्। अतः दो अभिप्राय हैं वध करूँगा, या कारागार में बन्द करूँगा]।

विशेष वक्तव्य—सूक्त में ९ मन्त्र हैं। ये मन्त्र एकविषयक नहीं, अपितु परस्परासम्बद्ध भिन्न-भिन्न विषयों के प्रतिपादक हैं। इस तथ्य को अथर्ववेद के अंग्रेजी में अनुवादकर्त्ता ''विलियम ह्विट ह्विटर्नी'' ने भी कहा है। यथा "The hymn is plainly made up of hetroganeous parts".

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्। समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम॥ २ ॥

अर्थ—(तुराणाम्) त्वरया अर्थात् शीघ्रतापूर्वक अर्थात् सहसा काम करने वाली, (अतुराणाम्) न शीघ्रतापूर्वक अर्थात् सोच विचार कर काम करने वाली, (अवर्जुषीणाम्[१]) परन्तु द्यूतकर्म से वर्जित न होने वाली [सायण](विशाम्) [उभयविध] प्रजाओं का (भगः) ऐश्वर्य अर्थात् धन (विश्वतः) सब ओर से (समैतु) मुझे सम्यक्तया प्राप्त हो जाए, क्योंकि (कृतम्[१]) यह काम (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) हाथों में है। अवर्जुषीणाम्=अथवा अवः[२] (अर्थस्वामित्व के लिये)+जुषीणाम् (द्यूत को सेवित करने वाली) विशाम्।

[राज्याधिकारी द्यूत क्रीड़ा के लिए सब ओर बैठे जुआरियों को आदेश देता है कि तुम लोग जो धन द्यूतक्रिया के लिए लाए हो वह सब मुझे सौंप दो। इस प्रकार का अधिकार मेरे हाथों में है। पैप्पलाद शाखा में ''अन्तर्हस्त्यं कृतं मनः'' पाठ है, ''कृतं मनः''=''मनः कृतम्'' मैंने निश्चय किया है, जो निश्चय

---

१. मन्त्रोक्त ''कृतम्'' के नानार्थ सम्भव हैं। (यजुः० ३०.१८) में कृत, त्रेता तथा द्वापर शब्दों में ''कृत'' ''सत्ययुग'' वाचक प्रतीत होता है। ऋग्वेद में ''**अक्षैर्मा दीव्यः**'' (१०.३४.१३) द्वारा द्यूतक्रीड़ा की निषेधविधि है। वेदों में परस्पर विरोधी विधियाँ नहीं हो सकतीं। अतः सूक्त (५०) के मन्त्रार्थ विवेक पूर्वक किये हैं।

२. ''अव'' धातु के नाना अर्थों में ''स्वाम्यर्थ याचन'' अर्थ भी है (भ्वादिः)।

करना मेरे हाथ में हैं ? राज्याधिकारी ''अक्षराज'' ने मानो द्यूत स्थान पर छापा मार कर कितवों को आदेश दिया है]।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ईडे॑ अ॒ग्निं स्वाव॑सुं॒ नमो॑भिरि॒ह प्र॑स॒क्तो वि च॑यत्कृ॒तं नः॑।

रथै॑रिव॒ प्र भ॑रे वा॒जय॑द्भिः प्रदक्षि॒णं म॒रुतां॒ स्तोम॑मृध्याम्॥ ३ ॥

अर्थ—(स्वावसुम्) समग्र सम्पत्ति जिसकी अपनी है उस (अग्निम्) सर्वाग्रणी की (नमोभिः) नमस्कारों पूर्वक (ईडे) मैं स्तुति करता हूँ, (इह) इस जीवन में (प्रसक्तः) संसर्गप्राप्त अर्थात् सम्बद्ध हुआ वह सर्वाग्रणी (नः) हमारी (कृतम्) कर्मशक्ति का (विचयत्) विशेष चयन करे। (वाजयद्भिः) अन्न संग्रह करने वाले (रथैः) रथों द्वारा (इव) जैसे (प्रभरे) मैं अन्न संग्रह करता हूँ, वैसे सैन्यरथों द्वारा मैं (प्रदक्षिणम्) प्रवृद्ध, (मरुताम्, स्तोमम्) सैनिकों-की-धनराशि को (ऋध्याम्) और बढ़ाऊँ।

[वाजयद्भिः=**वाजम् अन्नं कुर्वद्भिः, वाजशब्दात् करोत्यर्थे णिच्** (सायण)। प्रदक्षिणम्=प्र+**दक्ष वृद्धौ** (भ्वादिः)। मरुताम्=**म्रियते मारयति वा स मरुत्** (उणा० १.९०), तथा ''**देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**'' (यजुः० १७.४०) में मरुतः=सैनिकाः। स्तोमम्=समूहम्, धनसमूहम्।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती**॥

व॒यं ज॑येम॒ त्वया॑ यु॒जा वृत॑म॒स्माक॒मंश॒मुद॑वा॒ भरे॑भरे।

अ॒स्मभ्य॑मिन्द्र॒ वरी॑यः सु॒गं कृ॑धि॒ प्र शत्रू॑णां मघव॒न्वृष्ण्या॑ रुज॥ ४॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! या सेनापति! (त्वया युजा) तुझ सहायक द्वारा (वयम्, जयेम) हम सैनिक विजयी हों, (भरेभरे) संग्राम-संग्राम में (वृतम्) घेरे हुए (अस्माकम्, अंशम्) हमारे धनांश को (उदव) उद्गमय, समुन्नत कर। (अस्मभ्यम्) हम सैनिकों के लिए (वरीयः) विस्तृत अर्थात् लम्बा मार्ग (सुगम्) सुगम (कृधि) कर दे, (मघवन्) हे सम्पत्तिशाली! (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (वृष्ण्या) बलों को (प्ररुज) पूर्णतया भग्न कर दे।

[इन्द्र के दो अर्थ मन्त्र में है, सम्राट् और सेनापति। वरीयः=युद्धस्थल यदि दूर हो तो रथों द्वारा उसे सुगम्य कर देना चाहिए, ताकि सैनिक युद्ध से पूर्व थकावट अनुभव न करें। सैनिक, शत्रु की जिस धन राशि को घेर लें उस का कतिपय अंश सैनिकों का भी होना चाहिए ताकि उन की धनवृद्धि होती जाए। **भरेभरे=संग्रामनाम** (निघं० २.१७)। ''कृतम्'' का अर्थ यदि द्यूताक्ष किया जाए तो उस द्वारा क्या सांग्रामिक विजय प्राप्त हो सकता है ?]।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अजै॑षं त्वा॒ संलि॑खित॒मजै॑षमु॒त सं॒रुध॑म्।

अविं॒ वृको॒ यथा॒ मथ॑दे॒वा म॑थ्नामि ते कृ॒तम्॥ ५ ॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (अजैषम्) मैंने जीता है (संलिखितम्) परस्पर—लिखी शर्त के अनुसार, (उत) तथा (अजैषम्) मैंने जीता है (संरुधम्) अवरुद्ध किये [किले आदि] को। (यथा) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविम्) भेड़ को (मथत्) मथता है, (एवा) इस प्रकार, (ते) तेरे (कृतम्) किये [शत्रुता के] कर्म को (मथ्नामि) मैं मथता हूँ।

[संरुधम्=सम्यक्‌तया अवरुद्ध किये को। अवरोध:=siege (आप्टे)]।

ऋषि:—**अङ्गिरा: (कितववधकाम:)**॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।

यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं राय: सृजति स्वधाभि:॥ ६॥

अर्थ—(उत) तथा (अतिदीवा) अतिविजिगीषु अर्थात् प्रबल सैन्यशक्तिसम्पन्न सेनापति, (प्रहाम्) रण को त्याग कर भागे हुए को, (जयति) सुगमता से जीत लेता है, (श्वघ्नी इव) निज भविष्य के हन्ता के सदृश [शत्रु] (कृतम्) किये शत्रुत्व को (काले) समय पर (विचिनोति) विचारता है। (य:) जो (देवकाम:) अग्निदेव की कामना वाला [मन्त्र ३] (धनम्) धन को [द्यूतकर्म में] (न रुणद्धि) नहीं रोकता (तम्) उसे [अग्नि, मन्त्र ३] (स्वधाभि:) निज धारण-पोषण शक्तियों द्वारा (राय: संसृजति, इत्) सम्पत्ति के साथ सम्बद्ध करता ही है।

[प्रहाम्=प्र+**ओहाक् त्यागे** (जुहोत्यादि:), प्रबल सैन्यशक्ति को देख कर जो युद्धभूमि को त्याग कर भाग जाता है, उसे "जयति"। (श्वघ्नी=श्व: घ्नी, "कल" अर्थात् भविष्य का हनन करने वाला, अथवा श्वघ्नी=स्वध्नी, निज स्व अर्थात् धन का हनन करने वाला, (द्यूतकर्म में)। राय:=राया (ऋग्वेद १०.४२.९)। विचिनोति; विचय:=search; looking out; investigation (आप्टे)।

ऋषि:—**अङ्गिरा: (कितववधकाम:)**॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम॥ ७॥

अर्थ—(गोभि:) गौओं [के दूध] द्वारा (दुरेवाम्) दुष्परिणामी (अमतिम्) मननशक्ति के अभाव का, मति की जड़ता का (तरेम) हम परिहार करें, (वा) तथा (पुरुहूत) हे बहुतों द्वारा पुकारे गये परमेश्वर! (विश्वे) हम सब (यवेन) जौ द्वारा (क्षुधम्) क्षुधा को (तरेम) निवारित करें। (राजसु) राजाओं में [निहित] (प्रथमा धनानि) प्रथम कोटि के श्रेष्ठ धनों को, (अरिष्टास: वयम्) हिंसित न हुए हम [प्रजाजन के नेता] (वृजनीभि:) बलशाली प्रजाओं द्वारा (जयेम) जीतें।

[गोभि:="**अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति "गोभि: श्रीणीत मत्सरम्"** (ऋ० ९.४६.४), इति पयस:" (निरुक्त २.२.५)। इस प्रकार "गोभि:" का अर्थ है गौओं के दूध द्वारा। गौ का दूध, गोघृत, तथा गोदधि मति की जड़ता को दूर करते हैं। "यव" शब्द व्रीहि का भी उपलक्षक है। ये दोनों क्षुधानिवृत्ति के लिए कहे गये हैं। राजा लोग स्वार्थवृत्ति से यदि प्रजा द्वारा प्राप्त धनों का संग्रह करते जाएँ, तो प्रजा के नेता बलशाली प्रजाशक्ति द्वारा राजाओं ने धन छीन लें—यह वेदाज्ञा है। **वृजनम् बलनाम** (निघं० २.९)। व्याख्येयमन्त्र में न कितव, न अक्ष, न कृत, शब्द ही पठित हैं, न किसी प्रकार मन्त्र का सम्बन्ध द्यूतक्रीड़ा के साथ है। तो भी सायणाचार्य ने "राजसु" का अर्थ "**नृपेषु, राजमानेषु दीव्यत्सु वा पुरुषेषु**" कर, मन्त्र का सम्बन्ध द्यूतक्रीड़ा के साथ कर दिया है]।

ऋषि:—**अङ्गिरा: (कितववधकाम:)**॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित:।

गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित्॥ ८॥

अर्थ—(कृतम्) कर्मशक्ति (मे) मेरे (दक्षिणे हस्ते) दाहिने हाथ में है, तो (जयः) विजय (मे) मेरे (सव्ये) बाएँ हाथ में (आहितः) निहित है। (गोजित्) गौओं को जीतने वाला, (अश्वजित्) अश्वों को जीतने वाला, (धनंजयः) धनविजयी, (हिरण्यजित्) सुवर्णविजयी (भूयासम्) मैं होऊं।

[दक्षिणे कृतम्=लिखने, खाने, भार उठाने आदि में दाहिना-हाथ कामकारी होता है। कर्मशक्ति द्वारा परिश्रम कर गौ, अश्व, धन, हिरण्य आदि की प्राप्ति होती है। बिना काम किये नहीं]।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव।

सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत॥ ९॥

अर्थ—(अक्षाः) हे अक्षो! (फलवतीम् द्युवम्) फलवाली क्रीड़ा (दत्त) मुझे देओ, जोकि (क्षीरिणीम् गाम्) दुग्धवाली गौ के (इव) सदृश हो। (कृतस्य) "कृत" की (धारया) धारा द्वारा (मा) मुझे (स नह्यत) संनद्ध करो, (इव) जैसे कि (धनुः) धनुष् को (स्नाव्ना) तान्त द्वारा संनद्ध किया जाता है।

["अक्षाः" के दो अर्थ हैं—(१) द्यूतक्रीड़ा के पासे; (२) न्यायालय के अभियोग, मुकद्दमे (देखो मन्त्र १)। फलसम्बन्धी व्यग्रता या चिन्ता दोनों पक्षों में समान है, "अक्षाः" का सम्बोधन भी उभयपक्ष में समान है। परन्तु "धारा" द्वारा जो प्रवाह सूचित होता है वह "कर्म[१]" में तो सम्भव है, परन्तु परिमाण में परिमित "अक्ष" अर्थात् पासे में नहीं। "स्नाव" भी लम्बी होती है, अतः उसे भी धारारूप समझा जा सकता है। अतः मन्त्रपठित "कृतस्य" का अर्थ "कर्मणः" उचित प्रतीत होता है। "द्युवम्" शब्द भी जहाँ "द्यूतक्रीड़ा" का वाचक है, वह साथ ही "विजयेच्छा" का भी वाचक हो सकता है। यथा "**दिवु क्रीडाविजिगीषा**" आदि (दिवादिः)]।

सूक्त ५१

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।

इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु॥ १॥

अर्थ—(बृहस्पतिः) बृहती-सेना-का-पति, (अघायोः) हत्यारे शत्रु से (नः) हमारी (परिपातु) सब ओर से रक्षा करे, (पश्चात्) पश्चिम से, (उत) तथा (उत्तरस्मात्) उत्तर से, (अधरात्) दक्षिण से (पुरस्तात् उत) और पूर्व से (इन्द्रः) सम्राट् (मध्यतः) मध्यस्थान्तः शत्रुओं से (नः) हमारी [रक्षा करे], वह इन्द्र (सखिभ्यः सखा) सखाओं के लिए सखा है, वह हमारे लिए (वरीयः) वरणीय श्रेष्ठ सुख (कृणोतु) प्रदान करे।

[बृहस्पति सेनापति है (यजुः० १७.४०)। इन्द्र है सम्राट्, साम्राज्याधिपति "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। अथवा "**इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतः**" पातु]।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त॥

---

१. एक काम को लगातार करते रहना यही उस काम की धारा है, प्रवाह है।

अनुवाक ५

सूक्त ५२

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सौमनस्यम्, अश्विनौ**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः। संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥ १॥

अर्थ—(स्वेभिः) स्वकीय जनों के साथ (नः) हमारा (संज्ञानम्) ऐकमत्य अर्थात् समझौता हो, (अरणेभिः) जिन के साथ हमारी बोल-चाल नहीं उन के साथ भी (संज्ञानम्) ऐकमत्य अर्थात् समझौता हो। (अश्विना) हे दो अश्विन-राजाओ! (युवम्) तुम दोनों (इह अस्मासु) यहां हम में [स्व और अरणों में] (संज्ञानम्) ऐकमत्य अर्थात् समझौता (नि यच्छतम्) नियत करो, सुदृढ़ करो।

[**अरणेभिः=अरमणैः अनुकूलम् अवदद्भिः। रणतिः शब्दार्थः। प्रतिकूलैः पूरुषैः। अथवा अरातिभिः** (सायण)। **अश्विनौ="राजानौ पुण्यकृतौ"** (निरुक्त १२.१.१)। स्वकीय और परकीय राज्यों के दो राजा, जो कि प्रत्येक पुण्यकर्मा हैं, धर्मात्मा हैं, उन के द्वारा पारस्परिक ऐकमत्य]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्, अश्विनौ**॥ छन्दः—**जगती**॥

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते॥ २॥

अर्थ—(मनसा) मन द्वारा (संजानामहै) हम संज्ञान अर्थात् ऐकमत्य को प्राप्त हों, (चिकित्वा) सम्यक्-ज्ञान द्वारा (सम्) हम संज्ञान अर्थात् ऐकमत्य को प्राप्त हों, (दैव्येन मनसा) इस दिव्य मन और सम्यक्-ज्ञान से (मा युष्महि) हम वियुक्त न हों। (बहुले विनिर्हते) महाघाती युद्ध में (घोषाः) आवाजें (मा उत् स्थुः) न उठें। (अहनि आगते) युद्ध का दिन आ जाने पर भी (इन्द्रस्य) सम्राट् की या सेनापति की (इषुः) इषु [बाण] (मा पप्तत्) युद्धस्थल में न गिरे।

[मनसा अर्थात् विचारपूर्वक, और चिकित्सा अर्थात् सम्यक्-ज्ञानपूर्वक संज्ञान होना चाहिए ताकि यह संज्ञान स्थिरता प्राप्त कर सके। चिकित्वा=चिकित्वना]।

सूक्त ५३

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अमुत्रभूयादधि यद्यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥ १॥

अर्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति! तूने (अमुत्र भूयात् अधि) 'अमुत्र' अर्थात् उस परलोक में "भूयात्" अर्थात् सम्भाव्य उत्पत्ति से तथा (यमस्य) मृत्यु सम्बन्धी (अभिशस्तेः) विनाश से (यत्) जो (अमुञ्चः) तूने हमें मुक्त कर दिया है, तो (अग्ने) हे सर्वाग्रणी! [आप की प्रेरणा द्वारा] (देवानाम् भिषजौ) देवों में के चिकित्सक (अश्विनौ) दो अश्वी (अस्मत्) हम से (मृत्युम्) शीघ्र मृत्यु को भी (शचीभिः) वचनों द्वारा (प्रत्यौहताम्) निवारित करें।

[बृहस्पति है परमेश्वर, बृहतः ब्रह्माण्डस्य पतिः, अथवा बृहत्याः वेदवाचः पतिः। बृहस्पति ही अग्नि है, सर्वाग्रणी है। "अमुञ्चः" द्वारा प्रतीत होता है कि आयु के प्रार्थी जीवन्मुक्तावस्था में हैं, वे

शतवर्षों तक की आयु के लिए प्रार्थी हैं, या और भी दीर्घायु के लिए प्रार्थी हैं।

अश्विनौ=अश्विनौ को नासत्यौ भी कहते हैं (ऋ० ७.३६.४)। नासत्यौ="**नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा**" (निरुक्त ६.३.१३)। नासिका से पैदा होते हैं प्राण-और-अपान। ये दो दिव्य पदार्थों—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि पदार्थों में—चिकित्सकरूप हैं, भिषक् हैं। प्राण-अपान क्रिया द्वारा वायु फुफ्फुसों [फेफड़ों] में जाकर रक्त को शुद्ध करती है, और शुद्ध रक्त शरीर में प्रवाहित होकर शरीर के रोगों का उपचार करता और शक्ति प्रदान करता है, इसलिए अश्विनौ मृत्यु से रक्षा करते हैं। इन्हीं प्राण-अपानों का वर्णन सूक्त के शेष मन्त्रों में हुआ है। प्राणापानौ देवानां भिषजौ]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सं क्रा॑मतं॒ मा ज॑हीतं॒ शरी॑रं प्राणापा॒नौ ते॑ स॒युजा॑वि॒ह स्ता॑म्।

श॒तं जी॑व श॒रदो॒ वर्ध॑मानो॒ग्निष्टे॑ गो॒पा अ॑धि॒पा वसि॑ष्ठः॥ २॥

अर्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण-अपान! (संक्रामतम्) शरीर में तुम संक्रमण करो, (शरीरम्) शरीर को (मा) न (जहीतम्) त्यागो। [हे आयु के प्रार्थी!] (ते) तेरे प्राण-अपान (इह) इस तेरे शरीर में (सयुजौ) परस्पर मिले हुए (स्ताम्) हों। (वर्धमानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू (शतम्, शरदः जीव) सौ शरद्-ऋतुएँ जीवित रह। (अग्निः) यज्ञाग्नि तथा तेरी शारीरिक अग्नि (ते) तेरी (गोपाः) रक्षक, (अधिपाः) अधिपति, तथा (वसिष्ठः) तुझे शरीर में निवास कराने वाली हो।

[मन्त्र (१) में कथित बृहस्पति मन्त्र-प्रवक्ता है। यज्ञाग्नि आयुर्वर्धक है। "**आयुर्यज्ञेन कल्पताम्**" (यजुः० ९.२१; १८.२९.; २२.३३)। तथा शारीरिक अग्नि=शारीरिक तापमान। गोपाः=**गुपू रक्षणे**। वसिष्ठः=वासयितृतमः]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

आयु॒र्यत्ते॒ अति॑हितं परा॒चैर॑पा॒नः प्रा॒णः पुन॒रा तावि॑ताम्।

अ॒ग्निष्टदाहा॒र्निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒त्तदा॒त्मनि॒ पुन॒रा वे॑शयामि ते॥ ३॥

अर्थ—(पराचैः) पराङ्मुख हो कर चली गई शारीरिक शक्तियों के कारण (यत्) जो (ते आयुः) तेरी आयु (अतिहितम्) तुझे अतिक्रान्त कर चली गई है, (तौ अपानः प्राणः) वे अपान-प्राण (पुनः) फिर (आ इताम्) उसे वापिस ले आएँ। (अग्निः) अग्नि (तत्) उस आयुः को (निर्ऋतेः उप स्थात्) कृच्छ्रापत्ति की गोद से (आ अहाः) छीन लाई है, (तत्) उस आयु को (ते आत्मनि) तेरे शरीर में (पुनः) फिर (आवेशयामि) मैं प्रविष्ट करता हूँ।

[मन्त्रप्रवक्ता है बृहस्पति। अग्नि (मन्त्र २) के सदृश। अतिहितम्=अति+हि (गतौ, स्वादिः)। आहाः=आ, अहाः (आ+अट्+**हृ हरणे**), लुङ्। आहाः=आहार्षीत]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भार्षी पङ्क्तिः**॥

मेमं प्रा॒णो हा॑सी॒न्मो अ॑पा॒नो॑वि॒हाय॒ परा॑ गात्।

स॒प्त॒र्षिभ्य॑ एनं॒ परि॑ ददामि॒ त ए॑नं स्व॒स्ति ज॒रसे॑ वहन्तु॥ ४॥

अर्थ—(इमम्) इसे (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न त्यागे, (अपानः) अपान (अवहाय) इसे त्याग कर (मा उ) न (परा गात्) परे चला जाए। (सप्तर्षिभ्यः) सप्तर्षियों के लिए (एनम्) इसे (परि ददामि)

मैं सौंपता हूँ (ते) वे (एनम्) इसे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (जरसे) जरावस्था तक (वहन्तु) ले चलें।

[हासीत्=**ओहाक् त्यागे,** लुङ्। अवहाय=अव+**हाक् त्यागे**+ल्यप्। सप्तर्षय:=५ इन्द्रियां, १ मन, १ विद्या अर्थात् बुद्धि (यजु:० ३४.५५, तथा निरुक्त १२.४.३८), सप्त ऋषय: पद (२५)। ये सप्तऋषि सूक्ष्म शरीर के घटक हैं, जो कि जीवात्मा के साथ मृत्यु पर शरीर से उत्क्रान्त कर जाते हैं। जब तक ये शरीर में रहते हैं, तब तक इनकी सत्ता के कारण प्राण-अपान पुन: सशक्त होकर शरीर में प्रविष्ट किये जा सकते हैं]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयु:, बृहस्पति:, अश्विनौ च**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।

अयं जरिम्ण: शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥ ५॥

अर्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण-अपान! (प्रविशतम्) तुम दोनों शरीर में प्रवेश करो, (इव) जैसे कि (अनड्वाहौ) शकटवहन-समर्थ दो बैल (व्रजम्) बैलशाला में करते हैं। (अयम्) यह (जरिम्ण:) जरा का (शेवधि:) निधि अर्थात् खजाना (अरिष्ट:) अहिंसित हुआ (इह) इस शरीर या लोक में (वर्धताम्) बढ़े समृद्ध हो।

[अनड्वाहौ के दृष्टान्त द्वारा प्राण-अपान की सशक्तता तथा बलशालिता दर्शाई है]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयु:, बृहस्पति:, अश्विनौ च**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते। आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्य:॥ ६॥

अर्थ—(ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (आ सुवामसि) हम तेरी ओर प्रेरित करते हैं, (ते) तेरे (यक्ष्मम्) यक्ष्मा आदि रोग को (परा सुवामि) मैं पराङ्मुख प्रेरित करता हूँ। (वरेण्य:) वरणीय (अयम्) यह (अग्नि:) यज्ञाग्नि (न:) हमारे रोगी की (आयु:) आयु को (विश्वत:) सब प्रकार से (दधत्) पुन: स्थापित कर दे।

[सुवामसि, सुवामि=**षू प्रेरणे** (तुदादि:)]।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयु:, बृहस्पति:, अश्विनौ च**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ७॥

अर्थ—(उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) नाक की ओर (उत् रोहन्त:) आरोहण उत्क्रमण करते हुए (वयम्) हम, (तमस:[1] परि) अन्धकार को त्याग कर (देवत्रा देवम्) देवों में देव (उत्तमम्, ज्योति:)

---

१. **विशेष व्याख्या**—(तमस: परि) तमस् के परे अर्थात् तमस् का परित्याग कर (उत्तमम् नाकम्) उत्तम नाक की ओर (उत् रोहन्त:) ऊपर आरोहण करते हुए (वयम्) हम (देवत्रा देवम्) देवों में देव (उत्तमम्, ज्योति:) उत्तम ज्योति (सूर्यम्) सूर्य को (अगन्म) पहुँचे हैं। तमस् के दो अभिप्राय हैं प्रकृति और अज्ञानान्धकार, अविद्या। मन्त्र में नाक और सूर्य दोनों को उत्तम ज्योति: कहा है। ''नाक'' है दु:ख से रहित ''मोक्षसुख'' अथवा ''स्थानविशेष'' जिसके नीचे स्व: है, स्व: के नीचे द्यौ:, और द्यौ: के नीचे सूर्य अर्थात् आदित्य। सूर्य सौर परिवार का द्योतक है जिसमें ग्रह, उपग्रह, केतु और अस्मदादि प्राणी-जगत् का समावेश है। यजुर्वेदानुसार (४०.१७) इस सूर्य अर्थात् आदित्य में ''ओ३म् खं ब्रह्म'' का निवास है, जिसकी प्राप्ति ''अगन्म'' द्वारा दर्शाई है। और यह ''ओ३म्, खं, ब्रह्म'' वस्तुत: उत्तम है। जीवन की दृष्टि से नाम अर्थात् मोक्ष भी उत्तम है। ''**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्व: स्तभितं येन नाक:**'' (यजु:० ३२.६) में, द्यौ:, स्व:, और नाक:—तीनों स्थानविशेष प्रतीत होते हैं]।

उत्तम-ज्योति (सूर्यम्) सूर्य को (अगन्म) हम पहुँचे है।

[मन्त्र से प्रतीत होता है कि "नाक" सूर्य से परे है। मन्त्र का सम्बन्ध पूर्व के ६ मन्त्रों के साथ विचारणीय है। सम्भवतः सम्बन्धी के पुनरुज्जीवन के कारण, सम्बन्धियों की प्रसन्नता का यह उद्गार है। सम्बन्धी के उग्ररोग के कारण उस के सम्बन्धी शोक-तमस् से घिरे हुए थे। नाक और सूर्य की ज्योति, सम्बन्धियों की प्रसन्नता की प्रदर्शिका है]।

सूक्त ५४

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋक्सामनी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः॥ १॥

अर्थ—(ऋचम्, साम) [आश्रित्य] ऋग्वेद और सामवेद के आश्रय (यजामहे) हम यज्ञ करते हैं, (याभ्याम्) जिन दो द्वारा (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वते) मनुष्य करते हैं, (एते) ये दोनों (सदसि) संसद् में (राजतः) प्रदीप्त होते हैं, चमकते हैं, और (यज्ञम्) यज्ञ को (देवेषु) वायु, जल, ओषधि आदि में (यच्छतः) प्रदान करते हैं, स्थापित करते हैं।

[कर्माणि=यज्ञ, अभ्युदय-तथा-निःश्रेयस सम्बन्धी कर्म। राजतः=ऋक् और सामगान की शोभा संसदों में होती है, संसद् के सदस्य सामगान की प्रशंसा करते हैं, यह सामगान की शोभा है। "साम" स्वरूप है, जिसे ऋचा पर गाया जाता है। यथा "ऋच्यधिरुढं साम गीयते", इस लिए ऋक् और साम दोनों का कथन हुआ है]।

सूक्त ५५

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम्।

एष मा तस्मान्मा हिंसीद्वेदः पृष्टः शचीपते॥ १॥

अर्थ—(ऋचम्, साम) ऋग्वेद और सामवेद से (यत्) जो (हविः, ओजः) हवि और ओज के सम्बन्ध में, और (यजुः) यजुर्वेद से (बलम्) बल के सम्बन्ध में, (अप्राक्षम्) मैंने पूछा है, (तस्मात्) उस पूछने के कारण (पृष्टः) पूछा गया (एषः वेदः) यह वेद (मा) मुझे (मा) न (हिंसीत्) हिंसित करे (शचीपते) हे वेदवाक् के स्वामी परमेश्वर! **शची वाङ्नाम** (निघं० १.११)।

[स्वर और वर्ण का ठीक ध्यान कर वेद के स्वाध्याय द्वारा यज्ञिय हवि[१], ओज और बल आदि का यथार्थज्ञान हो सकता है। परन्तु विपरीत स्वाध्याय द्वारा अयथार्थ ज्ञान होने पर स्वाध्यायी की मानो हिंसा होती है। यथा **"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्-वज्रो यजमानं**

---

१. ऋग्वेद के याज्यामन्त्रों द्वारा हविः की आहुति दी जाती है, सामगान के लिए ओजस् की आवश्यकता है और याज्ञिक क्रियाओं के सम्पादक यजुर्वेद से बल की आवश्यकता है। यह बल है शारीरिकबल, और ओजम् है प्राणबल। याज्ञिक क्रियाएँ यथा "वेदि के लिए भूमिपरिष्कार, वेदिनिर्माण के लिए मिट्टी लाना और परिमाणनुसार वेदि की रचना, आज्य के लिए गोदोहन तथा पुरोडाश और हवि के लिए व्रीहि-अवहनन आदि यजुर्वेद की क्रियाएँ हैं, इत्यादि अन्य क्रियाओं के लिए शारीरिक बल की आवश्यकता है, अतः इस बल का सम्बन्ध यजुर्वेद के साथ दर्शाया है। अप्राक्षम्=**प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्** (तुदादिः)। ज्ञीप्सा=जानने की इच्छा। प्रत्येक व्यक्ति को हविः आदि के ज्ञान के लिए ऋग्वेदादि को स्वयं पढ़ने की इच्छा "अप्राक्षम्" द्वारा प्रकट की गई है]।

हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्''। वेद से पूछने का अभिप्राय है, वेद-स्वाध्याय द्वारा ज्ञेय का ज्ञान साक्षात् वेद से ही प्राप्त करना। वेद तो काव्य है, अतः काव्य की रीति से वेद में वस्तुवर्णन होता है]।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्**॥

ये ते पन्थानोव दिवो येभिर्विश्वमैरयः। तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो॥ २॥

अर्थ—(वसो) हे वसाने वाले! (ये ते पन्थानः) जो तेरे मार्ग (दिवः) द्युलोक के (अव) अवस्तात् अर्थात् अधोदेश में है, (येभिः) जिन द्वारा (विश्वम्) सब सौर परिवार को (ऐरयः) तू प्रेरणा दे रहा है, (तेभिः) उन मार्गों द्वारा (नः) हमें (सुम्नया) सुख में (धेहि) स्थापित कर।

[अव दिवः=शतपथब्राह्मण के ''अग्निचयन'' प्रकरण में ''विराजं दिवम्'' को पञ्चमी चिति कहा है, और इस के नीचे ''ऊर्ध्वमन्तरिक्षात् अर्वाचीनं दिवः'' द्वारा आदित्य और आदित्य-परिवार को चतुर्थी चिति कहा है, जिसे कि व्याख्येयमन्त्र में ''अव दिवः'' कहा है। इस समग्र-आदित्य परिवार (solar system) की प्रेरणा वसुनामक परमेश्वर करता है, जिसे कि मन्त्र (१) में ''शचीपति'' भी कहा है। शची का अर्थ ''कर्म'' भी है, यथा ''**शची कर्मनाम**'' (निघं० २.१)। मन्त्र में ''ऐरयः'' द्वारा प्रेरणा का कथन हुआ है, अतः प्रेरक को कर्माधिपति होना चाहिये। पाँच चितियों का वर्णन मत्कृत ''शतपथस्थ अग्निचयन समीक्षा'' में निम्न प्रकार है। यथा प्रथमा चितिः पृ० ६३; द्वितीया चितिः पृ० १०४; तृतीय चितिः पृ० ११५; चतुर्थी चितिः पृ० १२४; पञ्चमी चितिः पृ० १५०। चतुर्थी चिति को ''अवदिवः'' कहा है। इस चतुर्थी चिति का सम्बन्ध अस्मदादि प्राणियों के साथ है। सुम्नया=सुम्ने, सप्तमी के स्थान में याच् आदेश। **सुम्नम् सुखनाम** (निघं० ३.६)। सुम्नम्=जिस द्वारा मन सुप्रसन्न होता है, वह सुख है]।

सूक्त ५६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम्। तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत्॥ १॥

अर्थ—(तिरश्चिराजेः) टेढी रेखाओं वाले सर्प से, (असितात्) काले सर्प से, (पृदाकोः परि) अजगर सांप से (संभृतम्) प्राप्त तथा (कङ्कपर्वणः) कङ्कपर्व से प्राप्त (तत् विषम्) उस विष को (इयम्, वीरुत्) इस लता या ओषधि ने (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है।

[तिरश्चिराजि आदि ४ सर्पविशेष हैं। इनके विष की नाशिका ''विरुद्'' कही है। सायण के अनुसार ओषधि ''मधुक या मधुका'' है। सम्भवतः इस ओषधि का वर्णन मन्त्र (२) में हुआ है। ''कंक'' है सारस या बगुला, कङ्कपर्व का स्वरूप ज्ञातव्य है। असित अर्थात् काले सांप के काटे के लिए ''परवल'' की जड़ के चूर्ण की नस्य देने का विधान ''चक्रदत्त'' में हुआ है। यथा ''**कूलिकामूलनस्येन कालदष्टोपि जीवति**'' (सर्पदष्ट चिकित्सा)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः। सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी॥ २॥

अर्थ—(इयम्) यह (वीरुत्) ओषधि (मधुजाता) मधु की जड़ से या मधुरूप पैदा हुई है, (मधुश्चुत्) मधुस्राविणी है, (मधुला) मधुमती है, (मधूः) मधू नामवाली है। (सा) वह (विह्रुतस्य) अंग को कुटिल कर देने वाले विष की (भेषजी) चिकित्सिका है, (अथो) तथा (मशकजम्भनी) मच्छरों

को मारने वाली है।

[चक्रदत में "मधुक" [मौरेठी] का प्रयोग, सर्पविषचिकित्सा के लिए, अन्य कई ओषधियों के योग के साथ "महागर" नामक प्रयोग में हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यतो दुष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि। अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम्॥ ३॥

अर्थ—(यतः) जिस स्थान में (दष्टम्) मच्छर ने डसा है, (यतः) जिस स्थान से (धीतम्) उसने रक्त पिया है, (ते) तेरे (ततः) उस स्थान से (निः ह्वयामसि) हम उसके विष को निकाल देते हैं। (अर्भस्य) अल्पकाय (तृप्रदंशिनः) तृप्ति पूर्वक डसने वाले (मशकस्य) मच्छर का (विषम्) विष (अरसम्) नीरस हो जाए।

[मन्त्र में मच्छर के काटने का वर्णन है। वह जहां काटता है वहां से रक्त तृप्तिपूर्वक पीता है। वह अर्भक है, अल्पकाय होता है। अतः मन्त्र में सर्प के काटने का वर्णन नहीं। तृप्र=**तृप तृप्तौ**+क्विप् (भावे)+रः मत्वर्थीयः। धीतम्=**धेट् पाने**]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः (विषभैषज्यम्)**॥ छन्दः—**विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः॥ ४॥

अर्थ—(यः अयम्) जो यह तू [हे सर्पदष्ट पुरुष] (वक्रः) कुटिलावयव, (विपरुः) शिथिल सन्धि (व्यङ्गः) विकृताङ्ग हुआ (मुखानि) निज मुखावयवों को (वक्रा) विकृत तथा (वृजिना) वर्जनीयरूपी (कृणोषि) कर लेता है, (तानि) उन अङ्गों को (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के विज्ञ! (त्वम्) तू (सं नमः) सम्यक् प्रकार से नम्र अर्थात् ऋजु कर दे, (इषीकाम् इव) जैसे टेढ़े सरकण्डे को नम्र अर्थात् ऋजु किया जाता है।

[बृहस्पति=वेदोक्त विषविद्या का ज्ञाता वेदविद्वान्]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः। विषं ह्य१स्यादिष्यथो एनमजीजभम्॥ ५॥

अर्थ—(अरसस्य) निर्वीर्य (नीचीनस्य) नीचे पृथिवी पर विचरते हुए, (उपसर्पतः) समीप आते हुए (अस्य शर्कोटस्य[१]) इस बिच्छू? के (विषम् हि) विष को (आ अदिषि) मैंने खण्डित कर दिया है (अथो) तथा (एनम्) इसे (अजीजभम्) मार दिया है।

[मन्त्र (६-८) से शर्कोट बिच्छू प्रतीत होता है, यत यह पूंछ में विष वाला है। अदिषि=लुङ् लकार, **दो अवखण्डने** (दिवादिः)। अजीजभम्=**जभि नाशने** (चुरादिः)]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम्॥ ६॥

---

१. "शर्कोटः" शर् शृ (हिंसायाम्)+कः (करोति)+अट् (अटति), हिंसा करता हुआ जो विचरता है।

अर्थ—(न ते बाह्वोः बलम्) न तेरी बाहुओं में बल (अस्ति) है, (न शीर्षे) न सिर में, (उत न) और न (मध्यतः) मध्यावयव में है। (अथ किम्) तो क्यों (अमुया पापया) उस पापमयी भावना या चाल द्वारा (पुच्छे) पूंछ में (अर्भकम्) अत्यल्प विष को (बिभर्षि) तू धारण करता है?

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम्॥ ७॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (पिपीलिकाः) चूंटियाँ (अदन्ति) खाती हैं, (मयूर्यः) मोरनियाँ (विवृश्चन्ति) तुझे छिन्न-भिन्न कर देती हैं। (सर्वे) सब (ब्रवाथ) तुम कहो कि (भल) भला हुआ कि (शार्कोटम्) शर्कोट का (विषम्) विष (अरसम्) नीरस हुआ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत्॥ ८॥

अर्थ—(यः) जो (उभाभ्याम्) दोनों द्वारा (प्रहरसि) तू प्रहार करता है, (पुच्छेन) पूंछ द्वारा (च) और (आस्येन च) मुख द्वारा (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (न विषम्) विष नहीं है (किमु) क्या ही (ते) तेरे (पुच्छधौ) पुच्छनिष्ठ काँटे में (असत) हो।

[बिच्छु मुख और पुच्छ दोनों द्वारा प्रहार करता है। मुख द्वारा निज भोज्य पर, और पुच्छधि द्वारा प्राणी पर। सर्प के मुख में विष होता है, बिच्छु के मुख में विष नहीं होता। इसकी पूंछ में विष होता है, वह भी अत्यल्प न के बराबर, नगण्य। पुच्छधौ=पुच्छे धीयते इति पुच्छधिः; तस्मिन्, पुच्छ में निहित काण्टे में]।

सूक्त ५७

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**जगती**॥

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन॥ १॥

अर्थ—(आशसा) आशापूर्वक (वदतः) [भिक्षा के लिए] बोलते हुए (यत्) जो (मे) मेरा मन (विचुक्षुभे) विक्षुब्ध हुआ है, संचलित हुआ है, (यद् याचमानस्य) तथा याचना करते हुए (जनान् अनु) जन-जन के पीछे-पीछे (चरतः) चलते हुए [मेरा मन (यत्) जो विक्षुब्ध हुआ है]। (मे) मेरी (तन्वः आत्मनि) तनू सम्बन्धी आत्मा में (यद्) जो (विरिष्टम्) चोट लगी है, (सरस्वती) ज्ञानसम्पन्ना पारमेश्वरी माता (तद्) उस सब को (आ पृणत्) आपूरित कर दे, (घृतेन) जैसे कि चोट को घृत द्वारा आपूरित किया जाता है, भरा जाता है।

[चुक्षुभे=**क्षुभ संचलने** (भ्वादिः, दिवादिः, क्र्यादिः)। सरस्वती=सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती। प्रतीत होता है कि भिक्षार्थी को किसी ने कुछ दिया नहीं, अतः उस की आत्मा में चोट लगी है, और वह पारमेश्वरी माता से तदर्थ शान्ति चाहता है]।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।

उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः॥ २॥

अर्थ—(शिशवे) शरीर में शयन किये हुए (मरुत्वते) प्राणों के स्वामी, (पित्रे) पितृवत् शरीर के रक्षक जीवात्मा के लिए [जब] (पुत्रासः) पुत्रभूत (सप्त) सात प्राण (क्षरन्ति) प्रवाहित होते हैं, और (ऋतानि) सत्यमार्गों का (अपि) भी (अवीवृतन्) व्यवहार में अवलम्बन कर लेते हैं [तब] (उभे इत्) दोनों ही, [पृथिवी और द्यौः] (अस्य) इस के हो जाते हैं, (अस्य) इसके [लिये] (उभे) दोनों (राजतः) ऐश्वर्यसम्पन्न हो जाते हैं, (उभे) दोनों (यतेते) यत्न करते हैं, (उभे) दोनों (अस्य) इसके [लिये] (पुष्यतः) पोषण करने लगते हैं।

[सप्त=५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, १ बुद्धि। ये जब सत्यमार्गों का अवलम्बन कर लेते हैं, सब समग्र जगत् इस देही का अपना हो जाता है, और इस के सुख तथा परिपोषण में तत्पर हो जाता है। इस द्वारा भिक्षार्थी को यह सुझाया है कि तेरे "सात" असन्मार्गी हैं, जिस से तुझे भिक्षा में चोट सहनी पड़ रही है। तू सत्यमार्गों का अवलम्बन कर तो समग्र जगत् तेरा हो जायेगा, और तेरा पोषण करने लग जायेगा। **राजतिः ऐश्वर्यकर्मा** (निघं० २.२१)। शिशवे=अनृतमार्गियों के जीवात्मा मानो सोये हुए होते हैं, और ऋतमार्गियों के जागरित अर्थात् प्रबुद्धावस्था में होते हैं]।

सूक्त ५८

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ।

युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये॥ १॥

अर्थ—(इन्द्रावरुणा) हे सम्राट्-तथा-माण्डलिक राजन्! (सुतपौ) तुम दोनों अभिषुत सोम ने पीने वाले (इमम्, सुतम्, सोमम्) इस अभिषुत सोम को (पिबतम्) पीओ, (मद्यम्) जो सोम कि हर्षप्रद है, (धृतव्रतौ) तुम दोनों जिन्होंने प्रजापालन का व्रत धारण किया है। (युवोः) तुम दोनों का (अध्वरः) अहिंसनीय अर्थात् सुदृढ़ (रथः) रथ, (स्वसरम् प्रति) हमारे गृहों के प्रति (उपयातु) आए, (देववीतये) तुम्हारे दिव्य भोज के लिए, (पीतये) तथा सोमपान के लिए।

[इन्द्रावरुणा=इन्द्रावरुणौ, "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। शिष्ट व्यक्तियों का सत्कार दिव्यभोज, तथा हर्षप्रद सोमरस द्वारा करना चाहिए। मद्यम्=**मदी हर्षे**]।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्।

इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयेथाम्॥ २॥

अर्थ—(वृषणा=वृषणौ) हे सुखों की वर्षा करने वाले (इन्द्रावरुणा) सम्राट् और माण्डलिक राजन्! तुम दोनों (मधुमत्तमस्य) अति मधुर (वृष्णः) वीर्यवर्धक (सोमस्य) सोमरस का (आ वृषेथाम्) यथेच्छ पान करो। (वाम्) तुम दोनों के लिए (इदम्, अन्धः) यह भोज्य अन्न भी (परिषिक्तम्) परोस दिया है, (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) महाशाला में (आसद्य) बैठकर (मादयेथाम्) अपने आप को तृप्त करो, या

प्रसन्न करो।

[**बर्हिषि महन्नाम** (निघं ३.३)। सम्राट् आदि विशिष्ट व्यक्तियों के सत्कार और भोजनादि की व्यवस्था के लिए स्थान खुला और बड़ा चाहिए, जिसमें सम्राट् आदि अङ्गरक्षक तथा परिवार बैठाए जा सकें। अतः महाशाला चाहिए। अथर्व० ९.३.२१ में महाशाला का वर्णन भी है। **अन्धः अन्नम्** (निघं० २.७)।

सूक्त ५९

ऋषिः—**बादरायणिः**॥ देवता—**अरिनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्। वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु॥ १॥

अर्थ—(अशपतः नः) शाप न देते हुए हमें (यः) जो (शपात्) शाप देवे, (च) और [प्रत्युत्तर में] (यः) जो (शपतः नः) शाप देते हुए हमें (शपात्) [पुनः] शाप देवे, वह (विद्युता हतः) विद्युत् द्वारा मारे गये (वृक्षः इव) वृक्ष के सदृश (आ मूलात्) मूल से (अनु) अनुक्रमपूर्वक (शुष्यतु) सूख जाए।

[शाप=सनिन्द उपालम्भ (सायण)। शपात्=निन्दावाक्यैः भर्त्सयेत् (सायण)। वृक्ष पर जब विद्युत्पात होता है तो वह जड़ समेत सूख जाता है, इसी प्रकार शाप देने वाला भी सूख जाए, ऐसी भावना प्रकट की गई है। शाप देने वाले का मूल या तो सिर अभिप्रेत है, या पाद। तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के विनाश से है। सामाजिक जीवन प्रेममय हो जाता है। तथा "यः" और "नः" में व्यक्ति और समाज का भी ध्यान रखना होता है]।

पञ्चम अनुवाक समाप्त॥

अथ सप्तदशः प्रपाठकः

अनुवाक ६

सूक्त ६०

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गृहाः,वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**परानुष्टुप् त्रिष्टुप्**॥

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥ १॥

अर्थ—(ऊर्जम् बिभ्रत्) बलप्रद अन्न धारण करता हुआ, (वसुवनिः) धन का विभाग करने वाला, (सुमेधाः) उत्तम मेधा वाला, तथा (अघोरेण) प्रेममयी तथा (मित्रियेण) मैत्री भरी (चक्षुषा) चक्षु के साथ (गृहान्) घरवासियों के पास (ऐमि[1]) मैं आता हूँ। (सुमनाः) सुप्रसन्न मन वाला मैं, (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ [आता हूँ], (रमध्वम्) तुम सुखी होओ, (मत्) मुझ से (मा बिभीत) भय न करो।

[वर्णन से प्रतीत होता है कि गृहपति, धनार्जन के लिए, बहुकाल तक घर से बाहर रहा है, और उसकी मुखाकृति आदि में पर्याप्त अन्तर आ गया है। इसलिए वह निज परिवार को गृहपति होने का विश्वास दिला रहा है]।

---

१. ऐमि, आयतः नः=एक वचन तथा बहुवचन एक ही व्यक्ति के निर्देशक हैं, '**अस्मदो द्वयोश्च**' (अष्टा० १.२.५९)।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गृहाः, वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः। पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥ २॥

अर्थ—(ऊर्जस्वन्तः) अन्न रस वाले (पयस्वन्तः) दूधसम्पन्न, (वामेन) शोभन वस्तुओं से (पूर्णाः) भरपूर हुए (तिष्ठन्तः) स्थित (इमे गृहाः) ये घर (मयोभुवः) सुखदायी होते हैं, (ते) वे गृह अर्थात् गृहवासी (आयतः नः[१]) आते हुए हमें (जानन्तु) जान लें, पहचान लें।

[गृहाः पद द्व्यर्थक है, शालारूप, तथा गृहवासी[२]। गृहवासियों के सम्बन्ध में "जानन्तु" शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा "तात्स्थ्यात्" गृहाः=गृहवासिनः। सुख है ऐन्द्रियिक, और मयः है मानसिक सन्तोष रूपी। सुखम्=सुहितं खेभ्यः, इन्द्रियेभ्यः]।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गृहाः, वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः। गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥ ३॥

अर्थ—(प्रवसन्) प्रवासी पुरुष (येषाम्) जिन का (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन में (बहुः) बहुत (सौमनसः) सौमनस्य है, (गृहान्) उन गृहों अर्थात् गृहवासियों को (उप ह्वयामहे) हम आदरपूर्वक बुलाते हैं, (ते) वे (आयतः नः[३]) हम आते हुओं को (जानन्तु) जान लें, पहिचाने लें।

[सौमनसः=मन की प्रसन्नता, प्रीत्यतिशय]।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गृहाः, वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ४॥

अर्थ—(भूरिधनाः) बहुधनी, (स्वादुसंमुदः) स्वादु भोजनों में हर्ष का अनुभव करने वाले (सखायः) सखा (उपहूताः) सत्कारपूर्वक निमन्त्रित किये हैं, (गृहाः) हे गृहवासियो! (मा अस्मत् बिभीतन) हमारे इस काम से भयभीत न होओ, (अक्षुध्याः अतृष्याः स्त) तुम क्षुधा और तृषा से पीड़ित न होओ।

[गृहपति प्रवास से बहुत धनोपार्जन कर (मन्त्र १) घर आया है। उस ने बहुधनी तथा स्वादुभोजन चाहने वाले मित्रों को निमन्त्रित किया है। इस निमन्त्रण में बहुत धन का व्यय होगा, यह जानकर, गृहवासी भयभीत हो गये। गृहपति उन्हें विश्वास दिलाता है कि तुम किसी प्रकार भी क्षुधा तृष्णा से पीड़ित न होओगे, मैं पर्याप्त धनोपार्जन कर लाया हूँ]।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गृहाः, वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥ ५॥

अर्थ—(इह) इन [घरों में] (गावः उपहूताः) गौएँ लाई गई हैं, (अजावयः) बकरियाँ और भेड़ें (उपहूताः) लाई गई हैं, (अथो) तथा (अन्नस्य कीलालः) अन्न और अन्नों के विविध रस (नः गृहेषु) हमारे गृहों में (उपहूताः) लाये गये हैं।

१,३. द्र०, पृष्ठ ६९४, टि० १।
२. यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति"=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति।

[गृहपति गृहवासियों को कहता है कि तुम्हें किसी भी प्रकार से भयभीत न होना चाहिए। देखो, दूध के लिए गौएँ, कृषि के लिए बैल, दूध के लिए बकरियां, ऊन के लिए भेड़ें, विविध अन्न, और उनके पेयरस—सभी कुछ हमारे घरों में विद्यमान है]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः। अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ६॥

अर्थ—(गृहाः) हे गृहवासियो! (सूनृतावन्तः) परस्पर प्रिय तथा सत्य वाणी बोलने वाले, (सुभगाः) सौभाग्य वाले, (इरावन्तः) प्रभूत अन्न वाले, (हसामुदाः) हंसते तथा मोद-प्रमोद युक्त (अतृष्याः, अक्षुध्याः) तृषा और क्षुधा से अपीड़ित (स्त) तुम होओ, (मा अस्मत्, बिभीतन) पुनः हमारे प्रवास में जाने पर भयभीत न होओ।

[मन्त्र (७) के अनुसार गृहपति धनोपार्जन के लिए पुनः प्रवास अर्थात् गृह से बाहिर जाना चाहता है। इस प्रवास से होने वाले, गृहवासियों के भय का परिहार गृहपति करता है। **इरा अन्ननाम** (निघं० २.७)]।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया॥ ७॥

अर्थ—(इह एव) यहां ही (स्त) तुम रहो, (मा अनु गात) मेरा अनुगमन न करो, अर्थात् मेरे साथ प्रवास में गमन न करो, (विश्वा रूपाणि) सब रूपाकृतियों वालों का (पुष्यत) परिपोषण करते रहो। (ऐष्यामि) मैं लौट आऊँगा (भद्रेण सह) कल्याणकारी तथा सुखप्रद धन के साथ, तब (मया) मुझ समेत (भूयांसः भवत) अधिक समृद्ध हो जाओगे।

[विश्वा रूपाणि=पुत्र, पुत्रियाँ, गौएँ, अजाः, अवयः—इन सब का परिपोषण मेरे पीछे करते रहना। भद्रेण=**भदि कल्याणे सुखे च** (भ्वादिः)]।

सूक्त ६१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः। प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न आचार्य (तपसा) तप की विधि के अनुसार (यत् तपः) जो तप (उपतप्यामहे) तेरे समीप रहकर हम करते हैं, उस द्वारा (श्रुतस्य) आप से श्रवण किये वेद के (प्रियाः) प्यारे (भूयास्म) हम हों, ताकि (आयुष्मन्तः) दीर्घ और स्वस्थ आयु वाले तथा (सुमेधसः) उत्तम मेधा वाले हम हों।

[सूक्त ६१ का विनियोग उपनयन कर्म में हुआ है। योगदर्शन (२.३२) में "तपः और स्वाध्याय" को योगाङ्गभूत नियमों का अङ्ग कहा है। तथा तपः का फल कहा है "कायसिद्धिः" अणिमा आदि तथा "इन्द्रियसिद्धिः" दूरात् श्रवण, दर्शनादि। तप द्वारा रजस् और तमस् का क्षय हो जाने पर ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। (योग २.४३) तप की विधि यथा "**तच्च चित्तप्रसादनम् अबाधमानम् अनेन आसेवितव्यम् इति मन्यन्ते** (क्रियायोग २.१)। अर्थात् "तप उतना ही करना चाहिए जिस से शारीरिक धातुओं में वैषम्य

पैदा न हो" (वाचस्पति)। **तपः, द्वन्द्वसहनम् द्वन्द्वश्च शीतोष्णे, जिघत्सापिपासे** आदि (योग २.३२)]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः। श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः॥ २ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न आचार्य! (वयम् तपः तप्यामहे) हम तप करते हैं, (उप) तेरे समीप रह कर (तपः तप्यामहे) तप करते हैं, ताकि (श्रुतानि, शृण्वन्तः) वेदों को सुनते हुए, (आयुष्मन्तः) दीर्घ और स्वस्थ आयु वाले, और (सुमेधसः) उत्तम मेधा वाले हम हों।

[मेधा=धारणाशक्तिः (सायण); **मेधा आशुग्रहणे** (कण्ड्वादिः)]।

सूक्त ६२

ऋषिः—**मरीचिः काश्यपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत्पुरोहितः।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ते पृतन्यवः॥ १ ॥

अर्थ—(अयम्) यह (अग्निः) अग्रणी-प्रधानमन्त्री (सत्पतिः) प्रजा का सच्चा रक्षक है, (वृद्धवृष्णः) प्रवृद्ध बलशाली, तथा (पुरोहितः) अगुआ हो कर हितकारी है, (रथी इव) रथयोद्धा के सदृश (पत्तीन्) पदाति-सैनिकों पर (अजयत्) विजय पाता है। (पृथिव्याम्) राष्ट्रभूमि में (नाभा=नाभौ) केन्द्रस्थान में (निहितः) स्थापित हुआ (दविद्युतत्) तेज में चमकता है। (ये) जो शत्रु (पृतन्यवः) सेना द्वारा हमारे साथ संग्राम चाहते हैं उन्हें (अधस्पदम्) हमारे पादों तले (कृणुताम्) करे।

सूक्त ६३

ऋषिः—**मरीचिः काश्यपः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद्देवोऽति दुरितान्यग्निः॥ १ ॥

अर्थ—(पृतनाजितम्) सेनाविजयी, (सहमानम्) पराभवकारी अथवा सहनशील (अग्निम्) अग्रणी को (परमात् सधस्थात्) दूर देश से भी (उक्थैः) स्तुतिवचनों द्वारा (हवामहे) हम बुला लाते हैं। (सः) वह (नः) हमें (विश्वा दुर्गाणि) सब दुर्गम कष्टों से (अति पर्षत्) पार करे, (अग्निः देवः) वह अग्रणी-देव (दुरितानि) हमारे कष्टों को (अति क्षामत्) पूर्णतया क्षीण कर दे।

[राष्ट्र के विपत्तिग्रस्त होने पर दूरदेशस्थ योग्य व्यक्ति को भी प्रार्थित-कर ले आना चाहिए। क्षामत्= **क्षै क्षये** (भ्वादिः)+क्तः। "**क्षायो मः**" (अष्टा० ८.२.५३) द्वारा क्त के "त" को "म"। "**तत् करोति**" अर्थ में णिच्, लेट्, तिप् के "इ" का लोप (**इतश्च लोपः०** अष्टा० ३.४.९७) अट् "णि" का लोप (सायण)]।

सूक्त ६४

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत्।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः॥ १ ॥

अर्थ—(शकुनिः) शक्तिशाली (कृष्णः) काले तमोगुण ने (निष्पतन्) [मन के] गहरे स्तर से निकल कर, मानो उड़ कर (अभि) मेरी ओर आते हुए, (इदं यत्) यह जो (अपीपतत्) मुझे पतित कर दिया है, (तस्मात्, सर्वस्मात्) उस सब (दुरितात्) दुष्परिणामी (अंहसः) पाप से, (आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर (मा) मुझे (पान्तु) सुरक्षित करे।

[अंहसः="अंहः" का अर्थ पाप होता है। काला पक्षी कौआ, व्यक्ति को घायल तो कर सकता है, पाप में प्रवृत्त नहीं कर सकता। अतः "कृष्णः शकुनिः" का अभिप्राय "शक्तिशाली तमोगुण" प्रतीत होता है। तमोगुण को 'कृष्णः' कहा भी है। यथा "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**" (श्वेत० उप० ४.५)। अजा अर्थात् अजन्मा प्रकृति "सत्त्वरजस्तमसरूप" होने के कारण शुक्ल, लाल और कृष्णा है। तमोगुण है भी "शकुनि" अर्थात् शक्तिशाली। जड़ जगत् सब तमोगुणप्रधान है। प्राणिजगत् भी बहुधा तमोगुणप्रधान है। अतः तमोगुण शक्तिशाली है। मन सत्त्वगुणी भी होता है, रजोगुणी भी, और तमोगुणी भी। सत्त्वगुणी मन में भी कभी-कभी दबा हुआ तमोगुण प्रकट होकर सत्त्वगुणी व्यक्ति को पतनोन्मुख कर देता है। यह है तमोगुण का उड़कर आ प्रकट होना।

आपः=**आप्लृ व्याप्तौ**=व्यापक परमेश्वर। यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः** (यजुः० ३२.१)]

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**न्यङ्कुसारिणी बृहती**॥

इदं यत्कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु॥ २॥

अर्थ—(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ति! (ते मुखेन) तेरे मुख द्वारा (इदं यत्) यह जो (कृष्णः शकुनिः) शक्तिशाली काला तमोगुण (अवामृक्षत्) मेरे निचले अङ्गों में आ लगा है, (तस्मात् एनसः) उस पाप से (गार्हपत्यः अग्निः) ब्रह्माण्ड गृह का पति अग्नि [भस्मीभूत कर] (मा) मुझे (प्रमुञ्चतु) प्रमुक्त कर दे, छुड़ा दे।

[मुखेन=प्रेरणा द्वारा। मुख द्वारा प्रेरणा दी जाती है, मानो कृच्छ्रापत्ति ने हे तमोगुण! तुझे प्रेरित किया है। अव=नीचे के अङ्ग=मूत्राङ्ग तथा जङ्घा-पाद आदि। पापकर्म के लिए पापस्थान पर चलकर जाना होता है। अग्नि=परमेश्वर (यजुः० ३२.१)। आपः द्वारा पाप=मल धोया जाता है, अग्नि द्वारा वह भस्मीभूत किया जाता है। अवामृक्षत्=अव+अट् (लुङ् लकार)+**मृश आमर्शने** (छूना)+क्सः (अष्टा० ३.१.४५)]।

सूक्त ६५

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**अपामार्गः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ। सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः॥ १॥

अर्थ—(अपामार्ग) हे दोषशोधक औषध! (हि) यतः (त्वम्) तू (प्रतीचीनफलः) प्रतीचीनफल हुई (रुरोहिथ) प्रादुर्भूत हुई है, (मत् अधि) मुझ से (सर्वान् शपथान्) सब शपथों को (इतः) इस फल द्वारा (वरीयः यावय) दूर तक पृथक् कर दे।

[प्रतीचीनफलः=प्रत्यङ्मुखफल[1] वाली औषध या वीरुद् (सायण)। शपथान्=शपथ अर्थात् सौगन्ध,

१. "प्रत्यङ्मुखफल" का अभिप्राय अस्पष्ट है।

कसम। सौगन्ध सदा झूठी होती है, यह मनोविकार है। सम्भवत: अपामार्ग इस मनोविकार का शोधन कर देता हो। अपामार्ग=अप+**मृजूष् शुद्धौ** (अदादि:) दोष को अपगत करके मार्जन करने वाली, शुद्ध करने वाली। अपामार्ग=Achyranther asper। यह औषध होम्योपेथिक Aconite के समान गुणों वाली है जिसका प्रयोग नाना मानसिक विकारों में होता है]।

ऋषि:—**शुक्र:**॥ देवता—**अपामार्ग:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यद्दुष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया। त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे॥ २॥

अर्थ—(यत्) जो (दुष्कृतम्) दुष्टकर्म, (यत्) जो (शमलम्) शान्तिनाशक मलिन पाप, (यत् वा) या जो (पापया) पापिन स्त्री के संग (चेरिम) हम विचरे हैं, (विश्वतोमुख[1]) हे सब ओर मुखवाली (अपामार्ग) अपामार्ग औषध! (त्वया) तुझ द्वारा (तत्) उस सब दोष को (अपमृज्महे) हम दूर कर शुद्ध कर देते हैं। शमलम्=शम् (शान्ति)+अलम् (वारणम्, भ्वादि:)।

ऋषि:—**शुक्र:**॥ देवता—**अपामार्ग:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ३॥

अर्थ—(श्यावदता) श्याव दाँत वाले, (कुनखिना) विकृत नखों वाले, (बण्डेन) गलिताङ्ग वाले पुरुष के (सह) साथ (यत्) जो (आसिम या आशिम) हम उठे-बैठे या खाए-पिए हैं, (अपामार्ग) हे शोधन करने वाली अपामार्ग औषध (त्वया) तुझ द्वारा (तत् सर्वम्) उस सब [दोष] को (वयम्) हम (अपमृज्महे) पृथक् कर शुद्ध कर देते हैं।

[श्यावदता=श्याव और कृष्ण वर्ण में भेद है। श्याव=कुछ कालिमा वाला भूरा (Darkbrown), मटियाला (Dusty); भूरा (Brown); [आप्टे]। बण्डेन=**बडि विभाजने** (भ्वादि:, चुरादि:)। मन्त्र में विभाजन का अभिप्राय है विभक्त हो जाना, टूटकर अलग हो जाना, अङ्ग का कट जाना। मन्त्रकथित रोगी कुष्ठ रोगी है। कुष्ठ leprosy। कुष्ठ १८ प्रकार का होता है (आप्टे)। विगलत्कुष्ठ में अंगुलियों तथा पैरों के अङ्ग गलकर टूट जाते हैं। कुष्ठ रोग संक्रामक (Contageous) भी होता है। अत: कुष्ठरोगी के साथ बैठना या खाना हानिकारक है। आशिम (सायण)। दाँतों में वर्णविकृति तथा नखों की विकृति—यह भी एक प्रकार का कुष्ठ है। अपामार्ग औषध कुष्ठनिवारक है यह मन्त्र से प्रतीत होता है]।

सूक्त ६६

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्राह्मणम्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदश्रवन्पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु॥ १॥

अर्थ—(यदि अन्तरिक्षे) यदि अन्तरिक्ष में, (यदि वाते) यदि चलती वायु में (यदि वृक्षेषु) यदि वृक्षों के समीप, (यदि वा) अथवा (उलपेषु) झाड़ियों के समीप (आस, ब्राह्मणम्) ब्रह्म-पाठ हुआ था, (यद्) जिस का (उद्यमानम्) उच्चारण (पशव:[2] अश्रवन्) पशुओं ने सुना है, (तत्) तो वह ब्रह्म-पाठ

१. सर्वत: प्रसृतशाखायुक्त! (सायण)।

२. पशुओं के समीप अर्थात् गोशाला आदि के समीप ब्रह्मयज्ञ करने से पशुओं की आवाजें विघ्नकारी हो जाती है। ''पशव: अश्रवन्'' द्वारा पशुओं की समीपता अभिप्रेत है।

(अस्मान्) हमें (पुन:) फिर (उपैतु) प्राप्त हो।

[मन्त्र में "ब्राह्मणम्" द्वारा "ब्रह्मयज्ञ" का वर्णन हुआ है। इसे सन्ध्योपासन तथा वेदपाठ भी कहते हैं। सन्ध्योपासन एकान्त देश में होना चाहिए। मनुस्मृति (२.१०४) में कहा है कि "**सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहित:**"। "अरण्यम्" के अभिप्राय को मन्त्र में "वृक्षेषु, उलपेषु" द्वारा प्रकट किया है। देखो "सत्यार्थप्रकाश" तृतीय समुल्लास। ब्राह्मणम् का अर्थ है "ब्रह्मण: इदम्" अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी पाठ। ब्रह्म का अर्थ है वेद। ब्राह्मण शब्द द्वारा ब्राह्मणग्रन्थ अभिप्रेत नहीं। ब्राह्मणग्रन्थ तो ब्रह्म अर्थात् वेद या वेदमन्त्रों के व्याख्यानरूप हैं। उनका निर्देश मूलवेद में सम्भव नहीं।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मयज्ञ नियतसमय में करना चाहिए इस में कालातिपात नहीं होना चाहिए। उपासक कहीं भी हो उसे नियत काल में चाहे खुले अन्तरिक्ष में, चाहे बहती वायु में, चाहे वृक्षों और झाड़ियों के समीप, चाहे गोशाला के समीप—जब भी ब्रह्मयज्ञ का काल उपस्थित हो जाए सन्ध्योपासन, और वेदपाठ के लिए बैठ जाना चाहिए। और यदि कारणवश ब्रह्मयज्ञ में विघ्न उपस्थित हो गया हो, और ब्रह्मयज्ञ ठीक प्रकार न हुआ हो तो "पुन:" विघ्न-बाधा से रहित स्थान में ब्रह्मयज्ञ कर लेना चाहिए, यह "पुनरस्मान् उपैतु" का अभिप्राय प्रतीत होता है]।

सूक्त ६७

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्द:—**पुर:परोष्णिग्बृहती**॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥ १॥

अर्थ—(पुन:) फिर (मा) मुझे (इन्द्रियम्) ज्ञानेन्द्रिय समूह (ऐतु) प्राप्त हो, (पुन: आत्मा) फिर आत्मा, (द्रविणम्) बल, (च) और (ब्राह्मणम्) वेदमन्त्र [प्राप्त हों]। (पुन:) फिर (धिष्ण्या: अग्नय:) अग्निरूप धिषणा अर्थात् वाक् आदि कर्मेन्द्रिय समूह (यथास्थाम) यथास्थान अर्थात् अपने-अपने स्थान में (कल्पयन्ताम्) सामर्थ्यवान् हो जाये, (इह एव) इस ही जीवन में।

[**धिषणा वाङ्नाम** (निघं० १.११)। **द्रविणम् बलनाम** (निघं० २.९)। वाक् वक्ता के अभिप्राय को प्रकाशित करती है अत: अग्नि है। हाथ भी इशारा कर अभिप्राय को प्रकाशित करता है। हाथ कर्मेन्द्रिय है। ब्राह्मणम्=ब्रह्म एव ब्राह्मणम्, स्वार्थे अण्। ब्रह्म=मन्त्र। मन्त्र में मूर्च्छासन्न व्यक्ति की अभिलाषा प्रकट की है]।

सूक्त ६८

ऋषि:—**शन्ताति:**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व न:॥ १॥

अर्थ—(सरस्वति देवि) हे ज्ञान-विज्ञान वाली देवि! (ते) तेरे (दिव्येषु धामसु) दिव्य स्थानों अर्थात् विद्यालयों में, तथा (व्रतेषु) सारस्वत-व्रतों में (आहुतम्, हव्यम्) आहुतियों में दी हवि को (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक तू स्वीकार कर, (देवि) और हे देवी! (न:) हमें (प्रजाम्) विद्यार्थीरूपी सन्तानें (ररास्व) प्रदान कर।

[सरस्वती=सरो विज्ञानं तद्वती, ज्ञान-विज्ञानवाली वेदवाक्। (धामसु=**धामानि त्रयाणि भवन्ति,**

स्थानानि नामानि जन्मानि (निरुक्त ९.३.२८)। यहाँ स्थानार्थ का ग्रहण है, विद्यालयों और महाविद्यालयों के स्थान। विद्यालयों और महाविद्यालयों के सत्रारम्भ में सारस्वत-यज्ञ होना चाहिए, जिस में विद्यार्थियों को विद्याप्राप्ति तथा गुरुसेवा आदि सम्बन्धी व्रत ग्रहण करने चाहिएँ। गुरुवर्ग इन्हें व्रत ग्रहण कराएँ। गुरुवर्ग भी प्रविष्ट विद्यार्थियों के साथ निज प्रजा अर्थात् सन्तानों का सा व्यवहार करें। विद्यालयों और महाविद्यालयों को दिव्यधाम जान कर इनकी पवित्रता को बनाए रखना चाहिए।

यह सरस्वती नदीरूपा नहीं, अपितु वाग्-रूपा है। **सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक्** (उणा० ४.१९०, दयानन्द)। परन्तु आहुतियाँ वागधिपति-परमेश्वरोद्देश्यक हैं। वह वेदवाक् का अधिपति है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं१ यत्।

इमानि त उदिता शन्तमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥ २॥

अर्थ—(सरस्वति) हे ज्ञान-विज्ञानवाली वेदवाक् (इदम्) यह (घृतवत् हव्यम्) घृतमिश्रित (ते) तेरे लिए है, और (इदम्) यह (हविः, [घृतवत्]) घृतपरिपक्व) हवि अर्थात् अन्न (पितॄणाम्) पितरों का है, (यत्) जो कि (आस्यम्) उन के मुख सम्बन्धी खाने के लिए है। हे सरस्वती! (ते) तेरे लिए (इमानि) ये (शंतमानि) शान्ति-या-सुखप्रदायी वेदमन्त्ररूपी वचन (उदिता=उदितानि) कहे हैं। (तेभिः) उन वचनों द्वारा (वयम्) हम सारस्वत-यज्ञ करने वाले (मधुमन्तः) मधु वाले (स्याम) हों।

[सारस्वत-यज्ञ में हवि घृतमिश्रित होनी चाहिए, और वेदमन्त्रों के उच्चारण पूर्वक हवि की आहुतियाँ देनी चाहिएँ। यज्ञ की समाप्ति पर पितरों अर्थात् सारस्वत-गुरुओं का सत्कार घृतपरिपक्व मिष्टान्न द्वारा होना चाहिए। हविः=**हु दानादनयोः** (जुहोत्यादिः) यज्ञाग्नि के लिए हवि का दान अर्थात् त्याग, और गुरुओं के लिए उन के अदन अर्थात् भक्षण के योग्य अन्न का प्रदान। वेदमन्त्रों के उच्चारण द्वारा मानो मुख मधुर हो जाता है]।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम सन्दृशः॥ ३॥

अर्थ—(सरस्वति) हे ज्ञान-विज्ञानवाली पारमेश्वरी मातः! (नः) हमारे लिए (शिवा) तू सुखरूपा, (शंतमा) अत्यन्त सुखरूपा; तथा (सुमृडीका) शोभनसुखप्रदा (भव) हो। हम (ते) तेरी (संदृशः) सम्यक् कृपा दृष्टि से अथवा तेरे सम्यक्-दर्शन से (मा) न (युयोम) पृथक् हों, वञ्चित हों। अथवा कविता में वेदवाणी का वर्णन हुआ है।

[सायणाचार्य के अनुसार यह मन्त्र पृथक् सूक्तरूप है]।

सूक्त ६९

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सुखम्** ॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः** ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः।

अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु॥ १॥

अर्थ—(वातः) वायु (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकर (वातु) बहे, (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे

लिए (शम्) सुखकर (तपतु) तपे (अहानि) दिन (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकर (भवन्तु) हों, (रात्री) रात्री (शम्) सुख (प्रति धीयताम्) प्रदान करे, (नः) हमारे लिए (उषाः) उषा (शम्) सुखकर (व्युच्छतु) चमके।

सूक्त ७०

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यत्किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य॥ १॥

अर्थ—(असौ) वह [परराष्ट्ररूपी शत्रु] (यत् किं च) जो कुछ (मनसा) मन द्वारा, (यत् च) और जो (वाचा) वाणी द्वारा, (यज्ञैः) और हमारी सेना के साथ संग्राम करने वाले, भिड़ने वाले सेनाओं के प्रेरकों द्वारा, (हविषा) सैनिकरूपी हवि द्वारा, (यजुषा) तथा यजुर्वेदोक्त अन्य साधनों या विधियों द्वारा (जुहोति) युद्ध-यज्ञ में आहुतियाँ देता है, (अस्य) इस परराष्ट्ररूपी शत्रु के (तत्) उस कर्म को (आहुतिम्) अर्थात् युद्ध-यज्ञ में दी जाने वाली आहुति को (सत्यात् पुरा) इन के सद्रूप होने से पहिले ही (मृत्युना) मृत्यु के साथ (संविदाना) ऐकमत्य को प्राप्त (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति (हन्तु) इन्हें नष्ट कर दे।

[मनसा=युद्ध के लिए मानसिक विचार। वाचा=युद्ध के लिए वाचिक घोषणा! (यज्ञैः) (यजुः० १७.४०) में "यज्ञः सोमः", द्वारा यज्ञ को सोम अर्थात् युद्धाधिकारी कहा है, जो कि सेना के आगे-आगे चलता हुआ सेना का प्रेरक होता है, सोमः (**षू प्रेरणे**[1])। "यज्ञैः" में बहुवचन द्वारा युद्ध में नाना सैनिकदलों को सूचित किया है, और प्रत्येक दल के अधिकारी को "यज्ञः सोमः" कहा है। युद्ध होने से पूर्व शत्रुराष्ट्र को कृच्छ्रापत्तियों द्वारा घेर लेना चाहिए, और इसी घेरे द्वारा सम्भावित उनकी मृत्यु कर देनी चाहिए, ताकि शत्रु युद्ध करने ही न पाए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भा जगती**॥

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति॥ २॥

अर्थ—(यातुधाना) यातनाओं का जिस में निधान है ऐसी (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति, (आत् उ) तथा (रक्षः) जो राक्षसरूपी व्याधि-कीटाणु हैं (ते) वे, (अस्य) इस शत्रु के (अनृतेन) अनृतमार्ग[2] द्वारा (सत्यम्) सद्रूप होने वाले युद्धकर्म को (घ्नन्तु) नष्ट कर दें। (इन्द्रेषिताः) इन्द्र अर्थात् सम्राट् द्वारा प्रेषित (देवाः) विजिगीषु सैनिक (अस्य) इस शत्रु के (आज्यम्) आजि अर्थात् युद्धसम्बन्धी कर्म को (मथ्नन्तु) मथ डालें, ताकि (तत्) वह युद्धकर्म (मा संपादि) न सम्पन्न हो, (यत्) जिस के लिए (असौ) वह शत्रु (जुहोति) युद्ध-यज्ञ में आहुतियाँ देता है। [रक्षः=रक्षांसि, जात्येकवचन। देवाः=**दिवु क्रीडाविजिगीषा** आदि (दिवादिः), अर्थात् विजिगीषु सैनिक।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरःककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव। आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति॥ ३॥

१. यथा "**इन्द्र आसां नेता, बृहस्पतिः दक्षिणा, यज्ञः पुर एतु सोमः**" (यजुः० १७.४०)।
२. लोभाक्रान्त होकर परराष्ट्र पर आक्रमण करना "अनृतमार्ग" है।

अर्थ—(अजिराधिराजौ) अजिर अर्थात् शत्रुसेना का क्षेपण करने वाला सेनापति, और अधिराज, (संपातिनौ) युगपत् [शिकार पर] पतन करने वाले (श्येनौ) दो श्येनों की (इव) तरह, (पृतन्यतः) संग्राम-चाहने वाले शत्रु के (आज्यम्) आजिकर्म अर्थात् युद्धकर्म का (हताम्) हनन करें, (यः) तथा जो (कश्च) कोई भी शत्रु (नः) हमारे (अभि) अभिमुख होकर (अघायति) हमारी हिंसारूपी पापकर्म करना चाहता है, उस का भी हनन करें।

(अजिरः=**अज गतिक्षेपणयोः** (भ्वादिः) जो शीघ्रगतिक हो कर शत्रुदल के **क्षेपण** में समर्थ हो ऐसा सेनापति। अधिराजः=राज्ञामधिपतिः, अर्थात् सम्राट्। यथा "**अधिराजो राजसु राजयातै**" (अथर्व० ६.९८.१)। अघायति=अघं हननमिच्छति, अघ+क्यच् (परेच्छायाम्) छन्दसि। हताम्=युद्ध में हनन करें, अजिर और अधिराज मिलकर।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपा॑ञ्चौ त उ॒भौ बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म्। अ॒ग्नेर्दे॒वस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेऽवधिषं ह॒विः॥ ४॥

अर्थ—[हे शत्रु राजन्!] (ते) तेरी (उभौ बाहू) दोनों बाहुओं को (अपाञ्चौ) गतिरहित करता हूँ, बान्ध देता हूँ, तथा (ते आस्यम्) तेरे मुख को (अपि) भी (नह्यामि) मैं बाँध देता हूँ। तथा (अग्नेः देवस्य) अग्रणी देव अर्थात् प्रधानमन्त्री के (तेन, मन्युना) उस कोप द्वारा (ते) तेरी (हविः) युद्ध सम्बन्धी हवि अर्थात् सेना का भी (अवधिषम्[१]) मैंने वध कर दिया है। अपाञ्चौ=अप (अपगत)+**अञ्चु गतौ,** गतिरहित।

[शत्रु राजा की बाहुओं और मुख को बाँध देने से वह स्वयं युद्ध करने में असमर्थ हो जाता है, और युद्धकर्म में आज्ञा देने से भी रहित हो जाता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपि॑ नह्यामि ते बा॒हू अपि॑ नह्याम्या॒स्य॑म्। अ॒ग्नेर्घो॒रस्य॑ म॒न्युना॒ तेन॑ तेऽवधिषं ह॒विः॥ ५॥

अर्थ—[हे शत्रु राजन्] (ते) तेरी (बाहू) बाहुओं को (अपि नह्यामि) मैं बाँधता हूँ, (आस्यम्) तथा तेरे मुख को (अपि) भी (नह्यामि) मैं बाँधता हूँ। (अग्नेः घोरस्य) घोर अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री के (तेन मन्युना) उस कोप के कारण (ते) तेरी (हविः) युद्धसम्बन्धी हवि अर्थात् सेना का भी (अवधिषम्) मैंने वध कर दिया है।

सूक्त ७१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि। धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑तः॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (सहस्य) हे बलशाली! (त्वा विप्रम्) तुझ मेधावी को (वयम्) हम (पुरम् परि धीमहि) दुर्ग के सदृश परिधिरूप करते हैं, (धृषद् वर्णम्) तुझ धर्षकरूप को, (दिवेदिवे) प्रतिदिन (भङ्गुरावतः) नियम भङ्ग करने वालों के (हन्तारम्) हननकर्त्ता को।

[पुर=दुर्ग, उपमावाचक पद लुप्त। जैसे राजवर्ग द्वारा स्वरक्षार्थ दुर्ग का आश्रय लिया जाता है, वैसे हम प्रजाजन प्रधानमन्त्री का आश्रय लेते हैं]।

---

१. अवधिषम्=हनिष्यामि (सायण)।

सूक्त ७२

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्। यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन॥ १॥

अर्थ—[हे सेवको!] (उत् तिष्ठत) उठो, तैय्यार होओ, और (ऋत्वियम्) काल प्राप्त (इन्द्रस्य) सम्राट् के (भागम्) सेवनीय भोजन की (अव पश्यत) देखभाल करो। (यदि श्रातम्) यदि भोजन पक गया है तो (जुहोतन) [बलिवैश्वदेव सम्बन्धी] आहुतियाँ दो, (यदि अश्रातम्) यदि नहीं पका तो (ममत्तन) राजस्तुति सम्बन्धी गान करो। [राजा के रसोई के अध्यक्ष का कथन मन्त्र में है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्॥ २॥

अर्थ—(हविः) हविष्यान्न (श्रातम्) पक गया है, (इन्द्र) हे सम्राट् (उ, सु, प्र=आ याहि=प्रायाहि) निश्चय से सुगमतापूर्वक आइये, (सूरः) सूर्य (अध्वनः) आकाशमार्ग के (विमध्यम्) मध्य के समीप (जगाम) पहुँच गया है, अर्थात् भोजन का मध्याह्न काल होने वाला है। (सखायः) आमन्त्रित मित्र (निधिभिः) उपहारों अर्थात् भेंटों के साथ (त्वा) तेरे भोजनासन के (परि) चारों ओर (आसते) उपविष्ट हैं, बैठे हुए हैं, (न) जैसे कि (चरन्तम्) भोजन करते हुए (व्राजपतिम्) गृहपति के चारों ओर (कुलपाः) कुलरक्षक पारिवारिक जन उपविष्ट होते हैं।

[भोज्य-पदार्थ को हवि कहा है, क्योंकि उस द्वारा बलिप्रदान तथा बलि-वैश्वदेव-यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती हैं, अथवा "हविः"=**हु दानादनयोः** (जुहोत्यादिः), अर्थात् अदन योग्य अन्न के परिपक्व होने की सूचना हविः पद द्वारा दी गई है। मन्त्र में मध्याह्न-काल के भोजनकाल को सूचित किया गया है। इन्द्र है सम्राट् यथा "**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। सखा हैं आमन्त्रित वरुण नामक राजा लोग, या नागरिक सदस्य अथवा उभयविध। चरन्तम्=**चर गतिभक्षणयोः** (भ्वादिः); यहां "चर" भक्षणार्थक है। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि यदि किसी शिष्ट व्यक्ति को मिलने जाना हो तो कुछ भेंट लेकर जाना चाहिए]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः॥ ३॥

अर्थ—(ऊधनि) गौ के ऊधस् में वर्तमान दुग्ध को (श्रातम्) पका हुआ (मन्ये) मैं मानता हूँ (अग्नौ) अग्नि में (श्रातम्) पके पदार्थ को भी पका हुआ मानता हूँ, (तत्) उस (ऋतम्) सत्य को (सुश्रृतम्) उत्तम पका हुआ (मन्ये) मैं मानता हूँ जो कि (नवीयः[१]) अन्य पक्वों की अपेक्षा सदा नवीन नवतर रहता है। (पुरुकृत्) हे नानाविध कर्मों के करने वाले (वज्रिन् इन्द्र) सम्राट्! तू (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक (माध्यन्दिनस्य) मध्याह्नकाल के (सवनस्य) दोहे गये दूध सम्बन्धी (दध्नः) दधि मट्ठे को

१. "सत्यज्ञान" तीनों कालों में एकरूप रहता है, अतः वह सदा नवीन है, कभी पुराना नहीं होता।

(पिब) पीया कर।

[मन्त्र में पक्व पदार्थों की तीन जातियाँ कही हैं—(१) ऊधस् पक्व दूध; (२) अग्निपक्व दाल-भात आदि तथा सौराग्नि पक्व फलादि; (३) सत्यज्ञान। तीसरा पक्व सदा नीवन रहता है, यह कभी पुराना नहीं होता। पेय पदार्थों में माध्यन्दिन में दोहे गये दूध की दधि से मथे गये मट्ठे का पान श्रेष्ठ माना है। सूक्त ७५ में सम्राट् के भोजन का वर्णन हुआ है, और सूक्त ७६ में माध्यन्दिन में भोजन के साथ मट्ठे के पान का भी विधान हुआ है]।

सूक्त ७३

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**जगती**॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।

वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः॥ १॥

अर्थ—(दिवः रथी) दिव्यरथ वाला (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्त हुआ है। (वृषणा) हे सुखों या बाणों की वर्षा करने वाले (अश्विना) अश्वविभाग के दो अधिकारियो! (वाम्) तुम दोनों (इषे) अन्न के लिए (मधु) मधुर (तप्तः घर्मः) गर्म क्षरित दूध (दुह्यते) दोहा जा रहा है। (पुरुदमासः) महागृहों वाले अथवा अन्नों से भरपूर गृहों वाले (वयम्) हम (कारवः) तुम्हारी स्तुति करने वाले, (वाम्) तुम दोनों को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं, (सधमादेषु) हर्षप्रद सहभोजों में। "दमे गृहनाम (निघं० ३.४)। तप्तः=दोहा गया ताजा दूध गर्म होता है।"

[सूक्त ७७ मन्त्र (९) के अनुसार "अग्नि" राष्ट्राधिकारी प्रतीत होता है। अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि "**अग्ने! विश्वा अभियोक्त्रीः परसेनां विशेषेण हत्वा, शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां, भोजनानि आहर**" (सायण)। तथा देखो मन्त्र (१०)। इस प्रकार सूक्तवर्णित अग्नि राष्ट्राधिकारी "अग्रणी", प्रधानमन्त्री प्रतीत होता है। युद्धकाल में उसका प्रदीप्त होना, शत्रुओं के प्रति कोप प्रकट करना स्वाभाविक है। युद्धार्थ तय्यारी करने वाले अश्विनौ के मानार्थ प्रजाजन उन्हें आमन्त्रित करते हैं, और उन्हें बलकारी अन्न तथा पान द्वारा सत्कृत करते हैं। अश्विनौ[१] का यहाँ अर्थ है अश्वविभागों के दो अधिकारी, अश्वारोही-सेना, तथा रथारोही-सेना विभाग के दो अधिकारी]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम्।

दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः॥ २॥

अर्थ—(अग्निः) अग्रणी (समिद्धः) सम्यक्-प्रदीप्त हो गया है, (अश्विना) हे अश्विनौ (वाम्) तुम दोनों के लिए (घर्मः[२]) क्षरित दूध (तप्तः) प्रतप्त हो गया है, (आ गतम्) आओ। (वृषणा) हे सुखों या बाणों की वर्षा करने वाले! (दस्रा) हे शत्रुओं का क्षय करने वाले अश्विनौ! (इह नूनम्) इस आमन्त्रित शाला में (धेनवः) दुधार गौएँ (दुह्यन्ते) दोही जाती हैं, (वेधसः) अन्य शत्रुवेधक सैनिक भी (मदन्ति) यहां आकर तृप्त होते हैं।

---

१. अश्विनौ="अश्वैः=तद्वन्तौ"। घर्मः=घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहोत्यादिः)। **इषे अन्ननाम** (निघं० २.७)।

२. घर्मः आज्यम् (सायण)।

[अग्नि और अश्विनौ, मन्त्र (१) में व्याख्यात हो चुके हैं। "दस्रौ" विशेषण साभिप्राय पठित है "**दसु उपक्षये**" (दिवादिः)। **दस्रौ शत्रूणाम् उपक्षयितारौ अश्विनौ** (सायण)। इस से भी प्रतीत होता है कि सूक्त (७७) राजनीतिविषयक है। वेधसः=**व्यध ताडने,** बेंधना, बाणों द्वारा बेधने वाले सैनिक। दुह्यन्ते द्वारा दुग्ध का प्रत्यग्ररूप प्रकट किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति॥ ३॥

अर्थ—(यः यज्ञः) जो सत्कार-यज्ञ (अश्विनोः) दो अश्वियों के (चमसः) खाने का साधन है और इन (देवपानः) दो देवों के पान के लिए है, वह (शुचिः) पवित्र यज्ञ (देवेषु) अन्य विजिगीषु अधिकारियों के निमित्त भी (स्वाहाकृतः) खाद्य आहुतिप्रदान पूर्वक किया गया है। (विश्वे) सब (अमृतासः) मरण-रहित [विजिगीषु अन्य अधिकारी भी] (तम् उ) उस सत्कार यज्ञ का (जुषाणाः) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए, उसमें सम्मिलित हुए, (गन्धर्वस्य) पृथिवी-धारक राजा के (आस्ना) मुख द्वारा, स्वीकृति द्वारा (प्रतिरिहन्ति) खान-पान का आस्वादन करते हैं।

[जैसे सैन्यविभाग के अश्वों के दो अधिकारियों का सत्कार खान-पान द्वारा किया जाता है (मन्त्र १), वैसे ही सत्कार-यज्ञ पूर्वक अन्य अधिकारियों का भी सत्कार करना चाहिए। इस सत्कार के लिए राजा की मौखिक स्वीकृति चाहिए। "अमृतासः" द्वारा सेनाधिकारियों का युद्धकौशल दर्शाया है कि वे पर सैनिकों को मारते हुए स्वयं मृत्यु से बचे रहते हैं। गन्धर्वस्य=गो (पृथिवी)+धृ (धारणे)+वः। चमसः=**चमु अदने** (भ्वादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**जगती**॥

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोयं स वामश्विना भाग आ गतम्।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः॥ ४॥

अर्थ—(यत्) जो (घृतम्, पयः) घृत और दूध (उस्रियासु) गौओं में (आहुतम्) परमेश्वर द्वारा प्रदत्त है (अयम्, सः) यह वह (भागः) भाग, (अश्विना वाम्) हे दो अश्वियो! तुम दोनों के लिए है, (आ गतम्) आओ। (माध्वी) हे मधुर दुग्ध का सेवन करने वाली! (विदथस्य) राष्ट्रयज्ञ के (धर्तारा) हे धारण करने वालो! (सत्पती) हे सच्चे रक्षको! (दिवः रोचने) दिन के प्रकाश में (तप्तम् घर्मम्) गर्म और क्षारित दूध को (पिबतम्) तुम पिओ।

[**विदथः यज्ञनाम** (निघं० ३.१७)। माध्वी=मधुमन्तौ (ऋ० ५.७५.१, वेंकट माधव)। उस्रिया गौः (सायण), (निघं० २.११)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः॥ ५॥

अर्थ—(अश्विना) हे दो अश्वियो! (वाम्) तुम दोनों को (तप्तः) प्रतप्त (घर्मः) क्षारित दुग्ध

(नक्षतु) प्राप्त हो, (स्वहोता[१]) स्वयं प्रदान करने वाला (अध्वर्युः) अहिंसामय दान-यज्ञ का करने वाला, (पयस्वान्) दुग्ध वाला सेवक (वाम्) तुम दोनों के [सत्कार के] लिए (प्र चरतु) विचरे।

हे अश्वियो! (उस्रियायाः) गौ के, (तनायाः) और गोसन्तति के (मधोः) मधुर (दुग्धस्य) दूध का (वीतम्) भक्षण करो, और (पयसः) पेयदुग्ध का (पातम्) पान भी करो।

[स्वहोता=स्वयम् होता, प्रदान करने वाला (हु दाने)। अध्वर्युः=**ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः अध्वरः, तं युनक्ति इति अध्वर्युः। नक्षति गतिकर्मा; व्याप्तिकर्मा** (निघं० २.१४; २.१८)। तनायाः="तना"[२] का षष्ठ्येकवचन। तना=तनयेन (अथर्व० ८.४.१०; सायण)। अभिप्राय यह है कि हे अश्वियो! तुम गौ और गोसन्तति के दुग्ध का सदा सेवन किया करो। मन्त्र में 'वीतम्' तथा "पातम्" दो पद पठित हैं, जिनके अभिप्राय हैं, खाना और पीना। दुग्ध द्रव होता है, अतः इसकी पेयरूपा तो स्पष्ट है, खाद्यरूप में दुग्ध, दधि रूप और आमिक्षारूप जाना जा सकता है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**जगती**॥

उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥ ६॥

अर्थ—(गोधुक्) हे गौ दोहने वाले! (ओषम्[३]=आ उषम्) उषा काल तक (पयसा) दोहे दुग्ध के साथ (उपद्रव) हमारे समीप आ जा, और (उस्रियायाः पयः) गौ के दुग्ध को (घर्मे) तप्त आज्य में (आ सिञ्च) डाल दे। (सविता[४]) सविता ने (नाकम्) [नाक सहित] द्युलोक को (वि अख्यत्) प्रकाशित कर दिया है, (वरेण्यः) श्रेष्ठ सविता (उषसः) उषा के (प्रयाणम् अनु) प्रयाण के अनन्तर (विराजति) विराजमान होता है।

[तपे आज्य में प्रत्यग्र दूध के सिञ्चन का कथन मन्त्र में हुआ है। यह विधि उषाकाल में सविता के उदय होने से पूर्व हो जानी चाहिए। आज्य-मिश्रित प्रतप्त दूध अश्वियों का प्रातः पेय है, यह पेय बलकारी है। उषा काल के प्रयाण के बाद का काल, सविता का काल है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत्॥ ७॥

अर्थ—(सुदुघाम्) सुगमता से दोही जाने वाली (एताम्) इस (धेनुम्) गौ को (उपह्वये) मैं समीप बुलाता हूँ। (सुहस्तः उत) और दोहने में कुशल हस्त वाला (गोधुक्) गोदोग्धा (एनाम्) इसे (दोहत्) दोहे। (सविता) सविता (नः) हमें (श्रेष्ठम्) प्रशस्ततम (सवम्) क्षारित सोमरस के समान दुग्ध (साविषत्) प्रेरित करे, प्रदान करे, (घर्मः) आज्यमिश्रित दुग्ध (अभीद्धः) प्रदीप्त हो गया है (तत्) उस के सम्बन्ध

---

१. स्वहोता=स्वयं प्रदाता; हु दाने (जुहोत्यादिः)।
२. अथवा **"तना धननाम"** (निघं० २.१०), उस्रिया अर्थात् गौ धनरूप है। **उस्रा गोनाम** (निघं० २.११)। उस्रिया=उस्रा+इयाड्।
३. ओषम्=अथवा तप्तम्, **उष दाहे**, ताजा दूध गर्म होता है।
४. उषा के प्रयाण के समनन्तर उदित सूर्य सविता है।

में (सु) ठीक (प्रवोचत्) दुग्ध सेक्ता ने सूचित किया है।

[उषाकाल में दुग्ध दोहा गया है मन्त्र (६), और प्रतप्त आज्य में दुग्ध को सींच दिया है (६)। वह सविता के काल में परिपक्व हो गया है, इसकी सूचना प्राप्त हो गई है। सविता के काल में दो अश्वी इसका पान करेंगे, मानो सविता ने यह पेय उन्हें प्रदान किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्।

दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥ ८॥

अर्थ—(हिङ्कृण्वती) वत्स के प्रति "हिङ्" करती हुई, (वसूनाम्) वसुओं में (वसुपत्नी) वसुरूप दुग्ध की स्वामिनी (मनसा) मन से (वत्सम्) वत्स को (इच्छन्ती) चाहती हुई धेनु, (न्यागन्) नितरां आई है। (इयम्) यह (अघ्न्या) न हनन योग्या धेनु (अश्विभ्याम्) दो अश्वियों के लिए (पयः) दुग्ध (दुहाम्) दोहरूप में, प्रदान करे, (सा) वह (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिए (वर्धताम्) समृद्ध हो।

[आगन्=गम् (लुङ्)+च्लि का लुक्+"**मो नो धातोः**" (अष्टा० ८.२.६४) द्वारा "गम्" धातु के मकार को नकार (सायण)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।

विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ ९॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (जुष्टः) प्रीत तथा सेवाई (दमूना) शम-दम सम्पन्न मन वाला (अतिथिः) अतिथि (दुरोणे) जैसे गृहस्थी के घर में आता है, वैसे तू (विद्वान्) राज्यव्यवस्था का जानने वाला (नः) हमारे (इमम्, यज्ञम्) इस राष्ट्र-यज्ञ में (उप याहि) उपस्थित हो जा। और (विश्वाः अभियुजः) सब आक्रमणकारी परकीय सेनाओं का (विहत्य) विशेष हनन करके (शत्रूयताम्) हमारे साथ शत्रुता चाहने वालों के (भोजनानि) भोजनों को (आभर=आहर) छीन ले।

[अग्ने=**अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरुक्त ७.४.१४)। मन्त्रवर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अग्नि, यज्ञाग्नि नहीं; अपितु वह राजनीतिज्ञ सर्वाग्रणी व्यक्ति है जो कि शत्रुओं का हनन कर, उनके भोजनों को छीनकर उन्हें भूखे मरने देता है। अतः मन्त्र में यज्ञ का अभिप्राय है "राष्ट्रयज्ञ"। अभियुजः="हमारे सम्मुख जुटी हुई" परसेनाएँ]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः,अश्विनौ,प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।

सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि॥ १०॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी! (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिए (शर्ध) तू दयार्द्रहृदय हो जा (तव) तेरे (द्युम्नानि) यश (उत्तमानि) समुन्नत (सन्तु) हों। (जास्पत्यम्) पति-पत्नी सम्बन्ध को (सुयमम्) सुनियन्त्रित (सम् आ कृणुष्व) भली प्रकार से कर (शत्रूयताम्) शत्रूता चाहने वालों के

(महांसि) तेजों को (अभितिष्ठ) पदाक्रान्त कर, अभिभूत कर।

[शर्ध=**शृधु मृधु उन्दने** (भ्वादिः)। **द्युम्नम्=द्योततेः "यशो वा अन्नम् वा"** (निरुक्त पद ३३; ५.१.५)। जास्पत्यम्=जाया और पति का सम्बन्ध सुयमम्=यज्ञिय वैवाहिक अग्नि द्वारा जाया पति का सम्बन्ध वैधानिक तो हो जाता है, परन्तु यह अग्नि इस सम्बन्ध को "सुयम" अर्थात् सुनियन्त्रित नहीं कर सकती, और न शत्रुओं के तेजों का पराभव कर सकती है। वैवाहिक सम्बन्ध का सुनियन्त्रण तो राष्ट्र की अग्नि [अग्रणी] ही एतत्सम्बन्धी नियमों के निर्माण द्वारा कर सकती है, और राष्ट्राग्नि ही शत्रुओं के तेजों का पराभव कर सकती है। तथा न वैवाहिक अग्नि के साथ दयार्द्रता का ही सम्बन्ध सम्भव है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूयवसाद्भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।

अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ ११॥

अर्थ—(सूयवसाद्) उत्तम घास खाने वाली, (भगवती) दूधरूपी ऐश्वर्य वाली (हि) निश्चय से (भूयाः) तू हो, (अधा) तदनन्तर (वयम्) हम (भगवन्तः) दूधरूपी ऐश्वर्य वाले (स्याम) हो। (अघ्न्ये) हे अवध्ये! (विश्वदानीम्) सदा (तृणम्) घासादि तृणों को (अद्धि) तू खा, और (आचरन्ती) सर्वत्र विचरती हुई (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को (पिब) पी।

[सूयवसाद्=सु+यवस[1] (घास)+**अद्** (भक्षणे)। विश्वदानीम्=कालार्थे **"दानीं च"** (अष्टा० ५.३.१८), यद्यपि "दानीम्" प्रत्यय "तत् और इदम्" शब्दों से होता है, तो भी "विश्व" को "दानीम्" प्रत्यय छान्दस है (सायण)]।

षष्ठ अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ७

सूक्त ७४

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।

मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम्॥ १॥

अर्थ—(लोहिनीनाम्) लोहित वर्ण वाली (अपचिताम्) गण्डमालाओं की (माता) माता (कृष्णा) काली गण्डमाला है, (इति शुश्रुम) यह हम ने सुना है। (ताः सर्वाः) उन सब को (अहम्) मैं (विध्यामि) वींधता हूँ, विदारित करता हूँ, (मुनेर्देवस्य[2]) "वेणुदार्भूष" संज्ञक वृक्ष की (मूलेन) जड़ द्वारा।

[सायणाचार्य ने "वेणुदार्भूष" वृक्ष की जड़ का कथन किया है। "चक्रदत्त" में "हस्तिकर्णपलाश" की जड़ को गण्डमाला को शान्त करने वाली कहा है। सम्भवतः लोहित वर्ण वाली गण्डमालाओं में लाल रक्त की सूक्ष्म नाड़ियाँ अधिक सक्रिय हों, और कृष्ण वर्ण वाली गण्डमालाओं में कृष्ण रक्त की नाड़ियाँ

१. सम्भवतः "यवस" द्वारा यव (जौ) के तृण अभिप्रेत हों।

२. देवस्य=देवदारु, यथा देवदत्तो देवः या दत्तः। (चक्रदत, गण्डमालाधिकार, श्लोक १६, २९, ३५)। मुनेः=**मूङ्, मूञ् बन्धने** (भ्वादिः, क्र्यादिः) जोकि गण्डमाला को फैलने में बन्ध लगा देता है, उसे फैलने नहीं देता। मू+निः, कित् (उणा० ४.१२४), दीर्घोकारस्य ह्रस्वोकारः।

अधिक सक्रिय हों, और कृष्ण गण्डमालाएँ पहिले उभरती हों, और लोहिनी गण्ड मालाएँ तत्पश्चात् पैदा होती हों। अतः कृष्णा को माता कहा है। गण्डमालाओं के वर्णन के लिए देखो अथर्व० (६.८३), इस सूक्त में गण्डमाला के ५ भेद कहे हैं—(१) एनी=ईषद्रक्तमिश्रित श्वेतवर्णा; (२) श्येनी=श्वेतवर्णा; (३) कृष्णा; (४-५) दो रोहिणी=दो लाल]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्। इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव॥ २॥

अर्थ—(आसाम्) इन अपचितों अर्थात् गण्डमालाओं में (प्रथमाम्) मुख्या को (विध्यामि) मैं बींधता हूँ, विदारित करता हूँ, (उत) तथा तदनन्तर (मध्यमाम्) मध्यमा गण्डमाला को (विध्यामि) मैं बींधता हूँ। (आसाम्) इन गण्डमालाओं में (इदम्) अब (जघन्याम्) सुसाध्या गण्डमाला को (आच्छिनद्मि) मैं सुगमता से छेद देता हूँ, (स्तुकाम् इव) जैसे कि ऊन के गुच्छे को सुगमता से काट दिया जाता है।

[प्रथमा=अधिकदोषयुक्ता। मध्यमा=साम्यदोषयुक्ता। जघन्या=अल्पदोषयुक्ता (गण्डमाला)। अथवा स्थानभेद से प्रथमा, मध्यमा और जघन्या गण्डमाला। जैसे कि अपचितः के सम्बन्ध में कहा है कि "**अपाक् चीयमाना गलादारभ्य अधस्तात् कक्षादिसन्धिस्थानेषु प्रसृताः गण्डमालाः अपचितः**" (सायण)]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्। अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि॥ ३॥

अर्थ—(पते) हे पति! (त्वाष्ट्रेण, वचसा) जगत् के घड़ने वाले परमेश्वर के वचन अर्थात् मन्त्र द्वारा (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (अहं वि अमीमदम्) मदरहित मैंने कर दिया है। (अथो) तथा (यः ते मन्युः) जो तेरा क्रोध है, (तम् उ ते) उस तेरे क्रोध को (शमयामसि) हम शान्त कर देते हैं।

[त्वष्टा है, जगत् को प्रकृति से घड़कर रचने वाला परमेश्वर, जैसे कि तष्टा अर्थात् बढ़ई, तर्खान, लकड़ी से वस्तुओं को घड़ निकालता है। "**त्वष्टा त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः**" (निरुक्त, त्वष्टा पद (११); ८.२.१४)। त्वक्षू तनूकरणे (भ्वादिः)। यथा "**य इमे द्यावापृथिवी जनित्रीरूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्**" (ऋ० १०.११०.९)। अभिप्राय यह कि त्वष्टा अर्थात् जगद्रचयिता के मन्त्रों में ईर्ष्या के निराकरण सम्बन्धी प्रदर्शित विधियों द्वारा हे पति! हम तेरी ईर्ष्या के मद अर्थात् उद्रेक को निवारित करते हैं; तथा तेरे मन्यु को अनुनय-विनय द्वारा हम शान्त कर देते हैं। सम्भवतः ईर्ष्यास्वभाव और गण्डमाला का परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध हो]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—जातवेदाः ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे॥ ४॥

अर्थ—(व्रतपते) व्रत की रक्षा करने वाले हे पति! (त्वाम्) तू (व्रतेन) व्रत द्वारा (समक्तः) सम्यक् स्निग्ध हुआ (विश्वाहा) सब दिन अर्थात् सर्वदा (सुमनाः) सुप्रसन्नचित्त हुआ (इह) इस घर में (दीदिहि) चमक। और (जातवेदः) हे जातवेदः अग्नि! (तम्) उस (समिद्धम्) सम्यक् प्रदीप्त (त्वा) तेरे (उप) समीप (वयम्) हम (प्रजावन्तः) प्रजाओं वाले (सर्वे) सब (सदेम) बैठा करें।

[समक्तः=सम्यक्+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः)। म्रक्षण=Annoint, smear (आप्टे), अर्थात् प्रेम द्वारा स्निग्ध। अभिप्राय यह कि जब तेरे क्रोध को हमने शान्त कर दिया मन्त्र (३), तब तू व्रतधारण कर कि फिर मैं क्रोध नहीं करूँगा, इस प्रकार सुप्रसन्नचित्त होकर घर में प्रसन्नता से चमकता रह। और हम सब मिलकर, सन्तानों समेत, यज्ञिय जातवेदा-अग्नि के समीप बैठा करें]।

विशेष वक्तव्य—सूक्त ७८ में ४ मन्त्र हैं। प्रथम के दो मन्त्रों में "गण्डमाला" का वर्णन है, और शेष दो मन्त्रों में पति की ईर्ष्या और मन्यु के शमन का और तदनन्तर उसके "सुमनाः" होने का वर्णन हुआ है। इस प्रकार प्रथम "द्विक" का उत्तर "द्विक" के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्भवतः ईर्ष्या, द्वेषा, मन्यु आदि मानसिक विकारों और गण्डमाला का परस्पर सम्बन्ध हो।

सूक्त ७५

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**अघ्न्याः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ १॥

अर्थ—(प्रजावतीः) बछड़े-बछड़ियों वाली (सूयवसे) उत्तम घास वाले स्थान में (रुशन्तीः) चमकती हुई (सुप्रपाणे) उत्तम जलाशय में (शुद्धाः, अपः पिबन्तीः) शुद्ध जल पीती हुईं (वः) तुम पर [हे गौओ] (स्तेनः) चोर (मा ईशत) अधीश्वर न हो, (मा अघशंस) न वधकारी अधीश्वर हो, (वः) तुम्हें (रुद्रस्य) रुद्र का (हेतिः) वज्र (परिवृणक्तु) सर्वथा त्याग दे, अर्थात् रुद्रकर्मा पुरुष तुम पर प्रहार न करे।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**अघ्न्याः**॥ छन्दः—**पञ्चपदा भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः**॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः। उप मा देवीर्देवेभिरेत।
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत॥ २॥

अर्थ—(पदज्ञाः) निज गन्तव्य मार्ग को जानने वाली (स्थ) तुम हो, (रमतयः) हमारे गृहों या गोष्ठों में रमण करने वाली, अथवा हमें प्रसन्न करने वाली, (संहिताः) परस्पर साथ रहने वाली, (विश्वनाम्नीः) भिन्न-भिन्न नामों वाली (देवीः) हे दिव्यगुणवालियो! (देवेभिः) दिव्यगुणी सन्तानों के साथ (एत) आओ। (इमम् गोष्ठम्) इस गोशाला, (इदम् सदः) इस बैठने के स्थान के (मा उप) मेरे समीप आओ, (घृतेन) घृत-दुग्ध द्वारा (अस्मान्) हमें (समुक्षत) सम्यक् सींचो।

सूक्त ७६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अपचिद् भैषज्यम्**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः। सेहोररसतरा लवणाद्विक्लेदीयसीः॥ १॥

अर्थ—(सुस्रसः) पीप का अतिस्राव करने वाली गण्डमाला की अपेक्षा (आसुस्रसः) पूर्णतया स्रवणशील गण्डमाला हो जाएँ, (असतीभ्यः) सत्तारहित वस्तुओं की अपेक्षा भी (असत्तराः) अधिक असद् रूप गण्डमाला हो जाएँ। (सेहोः) पराभवनीय अर्थात् भङ्गुर वस्तु की अपेक्षा भी (अरसतराः) अधिक रसरहित अर्थात् निःसार गण्डमाला हो जाएँ, (लवणात्) नमक से भी (विक्लेदीयसीः) अधिक क्लेद वाली गण्डमाला हो जाएँ।

[लवण वायु में रखा स्वयं क्लिन्न हो जाता है, इसी प्रकार गण्डमालाएँ भी स्वयं क्लिन्न होकर

पीपरहित होकर सूख जाएँ। अथवा "लवणाद् विक्ले दीयसी:" का यह अभिप्राय है कि गण्डमाला के फोड़ों पर लवण तथा अन्य योगों वे साथ लवण का लेप करने से फोड़े पीप के स्राव द्वारा सूखकर शीघ्र ठीक हो जाते हैं (चक्रदत्त गण्डमालाधिकार, श्लोक ५,१४,३५,५८,६०)]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अपचिद् भैषज्यम्**॥ छन्द:—**परोष्णिक्**॥

या ग्रैव्या अपचितोथो या उपपक्ष्या:। विजाम्नि या अपचित: स्वयंस्रस:॥ २॥

अर्थ—(या:) जो (ग्रैव्या:) ग्रीवा में उत्पन्न (अपचित:) गण्डमालाएँ हैं, (अथो) तथा (या:) जो (उपपक्ष्या:) पक्ष अर्थात् कोख के समीप उत्पन्न हैं, (या:) जो (अपचित:) गण्डमालाएँ (विजाम्नि) अपत्योत्पत्ति स्थान के समीप अर्थात् उरुओं की सन्धियों में उत्पन्न हुई हैं, वे (स्वयंस्रस:) स्वयं स्रवित हो जाएँ।

[स्वयंस्रस:=किसी प्राकृतिक औषध के विना, केवल मनोबल तथा हस्तस्पर्श द्वारा गण्डमाला की ग्रन्थियों का स्राव होकर सूख जाना (अथर्व० ४.१३.५-७)]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्या**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

य: कीकसा: प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं य: कश्च ककुदि श्रित:॥ ३॥

अर्थ—(य:) जो क्षयरोग (कीकसा:) छाती की अस्थियों को (प्रशृणाति) जीर्ण-शीर्ण करता है, जो (तलीद्यम्) तलीद्य में (अवतिष्ठति) स्थित हो जाता है, (तम्, सर्वं, जायान्यम्) उस सब जायान्य रोग को, तथा (य: कश्च) जो कोई क्षयरोग (ककुदि) ककुद् में (श्रित:) आश्रय पा लेता है उसे (निर् हा:) तू नि:सारित कर।

[तलीद्यम्=अस्थि के समीप का मांस (सायण)। पैप्पलाद शाखा में "तलाभ्याम्" पाठ है, जिसका अभिप्राय है पैरों के तलुए। "अवतिष्ठति" में "अव" का अर्थ है "अवस्तात्" अर्थात् "नीचे" इस द्वारा पैरों के दो तलुए सूचित होते हैं। "जायान्यम्" **निरन्तरं जायासंभोगेन जायमानं क्षयरोगम्**" (सायण) अर्थात् अतिजायासंभोग से उत्पन्न क्षयरोग]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्या**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

पक्षी जायान्य: पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयो: सुक्षतस्य च॥ ४॥

अर्थ—(जायान्य: पक्षी) जाया से उत्पन्न रोग अर्थात् यक्ष्मा या क्षयरोग (पतति) मानो उड़ता है, (स:) वह मानो उड़कर (पूरुषम्) पुरुष में (आविशति) आकर प्रविष्ट हो जाता है। (तत्) वह (भेषजम्) औषध है (उभयो:) दोनों का (अक्षितस्य) अल्पक्षयरोग का (सुक्षतस्य च) और समुन्नत क्षयरोग का।

[अक्षितस्य=अ (नञ् अल्पार्थे, यथा अनुदरी कन्या=अल्पोदरी कन्या)+क्षित (**क्षि क्षये,** भ्वादि:)। भेषजम् (मन्त्र ५ देखो)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्या**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।

कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥ ५॥

अर्थ—हे जायान्य! इस निश्चय से तेरे जन्म को जानते हैं, जहां से हे जायान्य! तू जन्म लेता है, पैदा होता है। उसे[१] कैसे तू हनन करे, जिसके गृह में हम हविः [प्रदान] करते हैं।

[जायान्य=जाया के अतिभोग से उत्पन्न क्षय रोग। अग्नि में यक्ष्मनिवर्तक ओषधियों की आहुतियों से उत्पन्न धूम के सूंघने से क्षय रोग या यक्ष्मा की निवृत्ति शीघ्र हो जाती है। ओषधियों से उत्पन्न धूम, सूंघने द्वारा, ओषधि-धूम फेफड़ों में जाकर रक्त को ओषधि युक्त कर शरीरस्थ रोग का शीघ्र शमन कर देता है, ओषधि के खाने से रोगशमन देर से होता है। जायान्यः=जायायाः आनेयः, अथवा जायायाः जन्यः, ''जकार'' का लोप, क्षयरोग, यक्ष्मरोग]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।

माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि॥ ६॥

अर्थ—(इन्द्र) हे जीवात्मन्! (धृषत्) कामादि वासनाओं का धर्षण करता हुआ, (कलशे) शरीररूपी कलश में स्थित (सोमम्) वीर्य का (पिब) तू पान कर, (वृत्रहा) तू ने वृत्र भावनाओं का हनन कर दिया है, (शूर) हे शूर! हे पराक्रमशील! (वसूनाम्) श्रेष्ठगुणों की प्राप्ति के (समरे) देवासुर संग्राम के निमित्त [तू पराक्रम कर]। (माध्यन्दिने) मध्याह्न काल के (सवने) सवन में (आ वृषस्व) शरीर में सोम सींच, (रयिष्ठानः) और सद्गुणरूपी सम्पत्तियों का तू अधिष्ठान बन, और (अस्मासु) हम में (रयिम्) सद्गुण सम्पत्ति (धेहि) धारण करा।

[''पुरुष निश्चय से यज्ञरूप है। २४ वर्षों की आयु तक उस का प्रातःसवन है। ४४ वर्षों की आयु तक उसका माध्यन्दिन सवन है; और ४८ वर्षों की आयु तक उसका तृतीय सवन है। इन आयु कालों में यदि उसे कामवासना आदि दुर्भावनाएँ प्रतप्त करें, सताएँ तो वह सद्गुणों का संकल्प करता हुआ, इस यज्ञमय जीवन का विलोप न करे'' (यह संक्षिप्त भाव प्रदर्शित किया है, छान्दोग्य उपनिषद् के सन्दर्भ का; छान्दोग्य ३.१६)। व्याख्येय मन्त्र में ''माध्यन्दिन सवन'' का कथन हुआ है। जीवनयज्ञ में ''माध्यन्दिनकाल'' है ४४ वर्षों की आयु का काल, जब कि कामादि दुर्व्यसन व्यक्ति को संतप्त कर सकते हैं, और ''देवासुर-समर'' में देव विजयी होते हैं या असुर यह संशयास्पद हो जाता है। जायान्य रोगाक्रान्त व्यक्ति के जायान्य-दुष्परिणामों का हनन मन्त्र ४, ५ द्वारा हो गया है। तदनन्तर मन्त्र में रोगरहित हुए व्यक्ति की आत्मशक्ति को उद्-बोधित कर, अवशिष्ट जीवन में, उसे देवासुर संग्राम के लिए संनद्ध किया है। मन्त्र में सोम है वीर्य। उसका पान है ''ऊर्ध्वरेतस्'' होना। सोम है वीर्य—इसके लिए देखो, ग्रन्थकार का अथर्ववेदभाष्य (१४.१.१-५)। सोमाः=सोमन् (''मन्'' प्रत्ययान्त+''सु'') जिस का अर्थ है उत्पत्ति। अग्रेजी भाषा में वीर्य को "semen" कहते हैं। सोमन् और semen में श्रुतिसाम्य भी है, और अर्थसाम्य भी]।

---

१. अथवा उस घर में तू किसी को भी कैसे मारे जिस के कि घर में हम हवि प्रदान करते हैं।

सूक्त ७७

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा गायत्री** ॥

सान्तपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः॥ १ ॥

अर्थ—(सान्तपनाः) संतप्त सूर्य के सदृश [अस्त्र-शस्त्रों द्वारा] द्योतमान (मरुतः) हे सैनिको! (इदम्) यह तुम्हारा सैन्य (हविः) युद्धयज्ञ में हविरूप है, (तत्) उस हवि का (जुजुष्टन) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। और (अस्माकोती) हम प्रजाजनों की रक्षा के लिए (रिशादसः) हिंसाकारी शत्रुओं का क्षय करो।

[संतपनः सूर्यः, तत्सदृशाः मरुतः, स्वार्थे, या "**तस्येदम्**" द्वारा अण्। हविः पद द्वारा राष्ट्रनिमित्त युद्ध को यज्ञ कहा है। मरुतः=मारने में शूर-वीर सैनिक। मन्त्र (३) में मरुतः को "मानुषासः" अर्थात् मनुष्य कहा है, अतः मरुतः सैनिक प्रतीत होते हैं। "**मरुत् मारयतीति वा मनुष्यजातिः**" (उणा० २.९५, दयानन्द)। तथा "**मरुतः मितरोचिनो वा**" (निरुक्त ११.२.१३)। तथा यजुः० (१७.४०)]।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान्प्रति मुञ्चतां स तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्॥ २ ॥

अर्थ—(वसवः) प्रशस्त (मरुतः) हे सैनिको! (यः) जो (दुर्हृणायुः) दुष्टक्रोधी (मर्तः) मरणधर्मा परराष्ट्र राजा (तिरः) छिपे उपायों द्वारा (नः) हमारे (चित्तानि) चित्तों को (जिघांसति) क्षुब्ध करना चाहता है, (सः) वह (द्रुहः) जिघांसा-सम्बन्धी (पाशान्) फन्दों को (प्रतिमुञ्चताम्) धारण करे (तम्) उसे (तपिष्ठेन) अत्यन्त तापी (तपसा) तापक-आयुध द्वारा (आहन्तन) मार डालो।

["मरुतः" के दो अर्थों को लेकर सूक्त में द्विविध अर्थ हुए हैं। मानसून वायुओं की दृष्टि में सूक्त के प्रथम मन्त्र का अर्थ किया है, और सैनिकार्थ की दृष्टि से मन्त्र २,३ के अर्थ किये हैं। मरुतः का अर्थ "मारने वाले सैनिक" भी होता है। यथा "**इन्द्रऽआसां नेता, बृहस्पतिर्दक्षिणा, यज्ञः पुरऽएतु सोमः। देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**" (यजुः० १७.४०)। "**हृणिः क्रोधकर्मा**" (निघं० २.१३; २.१२)। द्रुहः=**द्रुह जिघांसायाम्** (दिवादिः)। हत्या करने की इच्छा वाले राजा को फन्दों द्वारा जकड़ कर, मार देना चाहिए। मरुतः को "मानुषासः" (मन्त्र ३) में कहा है। इसलिए मनुष्य सैनिक भी सूक्त में अभिप्रेत हैं। तथा मरुत्=**म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः, पवनो वा** (उणा० १.९४ दयानन्द)]।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—जगती ॥

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः।
ते अस्मत्पाशान्प्र मुञ्चन्त्वेनसः सान्तपना मत्सरा मादयिष्णवः॥ ३ ॥

अर्थ—(संवत्सरीणाः) प्रतिवर्ष सत्कार को प्राप्त हुए, (स्वर्काः) उत्तम पोशाकों तथा शस्त्रास्त्रों द्वारा सूर्यवत् चकमने वाले, (उरुक्षयाः) शत्रुओं का महाक्षय करने वाले, (सगणाः) गणों सहित, (मानुषासः) मनुष्यों के संघस्वरूप (सांतपनाः[१]) शत्रुओं को तपाने वाले, (मत्सराः) हर्षपूर्वक विचरने वाले,

१. हे शत्रुओं को तपाने वाले सैनिको! (इदम् हविः) युद्ध यज्ञ में इस आत्मसमर्पण रूपी हवि को तुम प्रेमपूर्वक स्वीकार करो। हमारी रक्षा के लिए तुम हिंसक शत्रुओं का उपक्षय करो॥ १ ॥ जुजुष्टन=**जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तुदादिः)। ऊतिः रक्षा, **अव रक्षणे** (भ्वादिः)।

(मादयिष्णवः) हमें प्रसन्न करने वाले (ते) वे (मरुतः) सैनिक, (अस्मत्) हम से (एनसः) पापजन्य (पाशान्) फन्दों को (प्रमुञ्चन्तु) खोल दें।

[पाशान्=शत्रु ने हमारी कमजोरी या पापमयी प्रवृत्तियों के कारण जो फंदे हम पर डाल दिए हैं उन से छुटकारा पाना]।

सूक्त ७८

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम्। इहैव त्वमजस्त्र एध्यग्ने॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (ते) तेरी (रशनाम्) रस्सी को (विमुञ्चामि) मैं [तुझसे] पृथक् कर देता हूँ, (योक्त्रम्) जोतने के साधन को (वि) पृथक् कर देता हूँ, (नि योजनम्) नियोजन को (वि) पृथक् करता हूँ। (त्वम्) तू (इह एव) यहां ही (अजस्त्रः) अताडित हुआ (एधि) हो, विद्यमान रह।

[मन्त्र में रशना आदि के वर्णन द्वारा रथ में बद्ध[1] अश्व का वर्णन प्रतीत होता है। "अग्नि" पद द्वारा सम्भवतः अश्व की वेगशक्ति को सूचित किया है। मन्त्र में "अन्योक्ति" अलंकार द्वारा शरीररथ के साथ, त्रिविध पाशों द्वारा त्रिधाबद्ध, जीवात्मा अभिप्रेत है। और "अग्नि[2]" द्वारा उसकी भावी ज्ञानाग्नि को सूचित किया है। यथा "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन**" (गीता)। त्रिविध पाश="**उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा**" (ऋ० १.२४.१५)। जीवात्मा के तीन शरीर होते हैं, कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा स्थूलशरीर। स्थूलशरीर तो जीवात्मा का रथ है, और अवशिष्ट दो शरीरों के तीन तत्त्व, तीन पाश हैं, बन्धन हैं। वे हैं बुद्धि "व्यवसायात्मिका" अहंकार अर्थात् अस्मिता और मन जोकि संकल्प-विकल्प, इच्छा आदि का आश्रय हैं। मन अधम पाश है, और शेष दो उत्तम तथा मध्यम पाश हैं। जीवात्मा मनरूपी पाश से बद्ध हुआ नाना योनियों तथा सांसारिक जीवनों में विचरता है। यथा "**निण्यः संनद्धो मनसा चरामि**" (ऋ० १.१६४.३७)। मन्त्र में अध्यात्मगुरु, ज्ञानाग्नि के इच्छुक अभ्यासी शिष्य को, त्रिविध पाशों से छुड़ा कर, जीवन्मुक्त अवस्था में, पृथिवी में विद्यमान रहने का कथन करता है, ताकि अग्निसम्पन्न हुआ वह अन्यों को भी शक्ति प्रदान कर सके। इस का वर्णन मन्त्र (२) में हुआ है। यथा—

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु॥ २॥

अर्थ—(अस्मै) इस [क्षत्रिय] के लिए (क्षत्राणि) क्षात्रबल (धारयन्तम्) प्रदान करते हुए (अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न! [शिष्य] (त्वा) तुझे (दैव्येन) देवाधिदेव (ब्रह्मणा) ब्रह्म के साथ (युनज्मि), मैं अध्यात्मगुरु योगविधि द्वारा सम्बद्ध करता हूँ। (दीदिहि) तू प्रदान कर (इह) इस राष्ट्र में (अस्मभ्यम्)

---

१. रथ में जोते समय अश्व के तीन बन्धन होते हैं। यथा "**ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि**" (ऋ० ४.४०.४)। इन तीन बन्धनों को रशना, योक्त्र, तथा नियोजन द्वारा निर्दिष्ट किया है।

२. सायण ने अग्नि पद द्वारा "अग्निवद् अग्निः" कह कर, अग्निवद् दीप्यमान रोगान्मुक्त पुरुष अर्थ किया है। तथा "पत्नी वा सम्बोध्यते" भी कहा है। सायण ने भी अधियज्ञ दैवत अर्थ के स्थान में आधिभौतिक "पुरुष" अग्नि का अर्थ माना है।

हम प्रजाजनों को (द्रविणा=द्रविणानि) सुपथ द्वारा अर्जितधन, तथा (भद्रम्) कल्याण और सुखप्रद जीवन। तथा (हविर्दाम्) प्रजाओं को हविष्यान्न प्रदान करने वाले (इमम्) इस राजा को (देवतासु) राष्ट्र की विद्वत्समाज में (प्रवोचः) प्रख्यात कर।

[अध्यात्मशिष्य को ज्ञानाग्निप्रदान (मन्त्र १) करने वाला अध्यात्म गुरु शिष्य के प्रति कहता है कि मैं ब्रह्म के साथ भी तुझे योगयुक्त करता हूँ, तू राजा को क्षात्रधर्म के साथ ब्रह्मज्ञान भी प्रदान किया कर, और राजा को यह भी उपदेश दे कि वह प्रजाओं के भोजन के लिए उन्हें हविष्यान्न प्रदान किया करे, जिससे प्रजाजन सात्त्विक हो सकें। देवतासु=''**विद्वांसो वै देवाः**'')]।

सूक्त ७९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अमावास्या**॥ छन्दः—**जगती**॥

यत्ते देवा अकृण्वन्भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम्॥ १॥

अर्थ—(अमावास्ये) हमारे हृदयगृहों में हमारे साथ बसने वाली पारमेश्वरी मातः! (महित्वा) योगजन्य महिमा के कारण (संवसन्तः) तेरे साथ बसते हुए (देवाः) दिव्य उपासक, (ते) तेरे लिए (यत्) जो (भागधेयम्) भक्तिभाग (अकृण्वन्) समर्पित करते रहे हैं, या करते हैं, (तेन) उस समर्पण के कारण (नः) हमारे (यज्ञम्) योगयज्ञ को (पिपृहि) पालित कर, सुरक्षित कर (विश्ववारे) हे विश्व द्वारा वरणीय मातः। (सुभगे) हे उत्तम भगों[1] से सम्पन्न मातः। (नः) हमें (सुवीरम्) उत्तम वीर पुत्ररूपी (रयिम्) धन (धेहि) प्रदान कर।

[अमा=**अमा गृहनाम** (निघं० ३.४), तथा अमा=सह (सायण)। पिपृहि=**पृ पालनपूरणयोः** (जुहोत्यादिः)। पारमेश्वरीमाता के सहवासी योगी जन, सुवीर पुत्रों को माता से प्राप्त कर, भूमि को स्वर्ग बना देते हैं। सुवीर=धर्मकृत्यों के करने में सुवीर]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अमावास्या**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे॥ २॥

अर्थ—(अहम्) मैं पारमेश्वरी-माता (एव) ही (अस्मि) हूँ (अमावास्या), अमावास्या (इमे सुकृतः) ये सुकर्मी (माम्) मुझे आश्रय बनकर (आवसन्ति) पूर्णतया बसते हैं, (मयि) और मुझ में बसते हैं। (मयि) मुझे में (उभये) दोनों प्रकार के (देवाः) देव अर्थात् (साध्याः) साध्य (च) और ऋषि (इन्द्रज्येष्ठाः) जिन में कि इन्द्र अर्थात् ऐन्द्रशक्ति आत्मशक्ति प्रधान है, (सर्वे) वे सब (समगच्छन्त) संगत हुए हैं, या होते हैं।

[पारमेश्वरी माता कहती है कि अमावास्या ''अदृष्टचन्द्रमा'' वाली रात्री नहीं अपितु मैं ही अमावास्या हूँ। पारमेश्वरीमाता ने निज अमावास्या नाम की व्याख्या मन्त्र में स्वयं कर दी है—''माम् आवसन्ति, तथा मयि आवसन्ति'' द्वारा। देवाः=साध्याः ऋषयः च। यथा ''**तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये**'' (यजुः० ३१.९)। साध्ययोगसम्पन्नाः (अर्श-आद्यच्)]।

---

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आगन्रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।

अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन्॥ ३॥

अर्थ—(वसूनाम्) वसुओं का (सङ्गमनी) परस्पर सङ्गम करने वाली, (ऊर्जम्) बल और प्राण, तथा (पुष्टम् वसु) परिपुष्ट अध्यात्म सम्पत् को (आवेशयन्ती) हम में प्रविष्ट करती हुई (रात्री) शुभरात्री (आगन्) आई है। इस शुभरात्री में (अमावास्यायै) हमारे हृदयगृहों में हमारे साथ बसने वाली पारमेश्वरीमाता के लिए (हविषा) आत्मसमर्पणरूपी हवि द्वारा (विधेम) हम परिचर्या प्रदान करें, यह माता (पयसा) दूध के साथ वर्तमान गौ के सदृश (नः) हमें (ऊर्जम्) बल और प्राणरूपी दोह (दुहाना) दुग्धरूप में प्रदान करती हुई (आगन्) आई है।

[वसूनाम्="**अष्टौ वसवः, अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षम्, आदित्यश्च द्यौश्च, चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च, एते वसवः**" (बृहदा० ३.९.३)। इन वसुओं में परस्पर संगम अर्थात् सम्बन्ध पैदा करने वाली शुभरात्री आई है [जब कि उपासक का निवास पारमेश्वरीमाता में हो जाता है]। उपासना के लिए रात्रीकाल[1] शुभकाल होता है। रात्रीकाल शान्तकाल होता है, अतः उपासना के लिए शुभकाल है। ऊर्जम्=**ऊर्ज बलप्राणनयोः** (चुरादिः)]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ४॥

अर्थ—(अमावास्ये) हे अमावास्या! [मन्त्र ३] (त्वत्=त्वत्तः) तुझ से (अन्यः) भिन्न किसी ने (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) सब रूपयुक्त, भूतभौतिक वस्तुओं को (न जजान) नहीं पैदा किया, (परिभूः) तू ही इन सब के सब ओर विद्यमान है। (यत्कामाः) जिस कामना वाले (वयम्) हम (ते) तुझे (जुहुमः) आत्माहुति देते हैं, (नः) हमें (तत्) वह काम्य वस्तु (अस्तु) प्राप्त हो, (रयीणाम् पतयः स्याम) अर्थात् हम रयिओं [धनों] के स्वामी हो जाएँ।

[परिभूः=जैसे दुर्ग की रक्षा के लिए, उसके चारों ओर खाई होती है, वैसे आप भूतभौतिक जगत् की रक्षा के लिए उसके सब ओर विद्यमान हैं, "परि (सब ओर)+भूः (सत्तायाम्)"। "सब ओर" का अभिप्राय है चारों ओर, ऊपर-नीचे, तथा पार्श्वों में। (रयीणाम्=प्राकृतिक तथा आत्मिक सम्पत्तियां)]।

सूक्त ८०

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पौर्णमासी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।

तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम॥ १॥

अर्थ—(पौर्णमासी) पौर्णमासी के सदृश (पश्चात्) पश्चिम में (पूर्णा) पूर्णप्रकाश वाली, (पुरस्तात्,

---

१. यथा "**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी**" (गीता २.६९)। तथा "**पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्**" (ऋ० ५.७७.२), अर्थात् उषाकाल से जितना पूर्व के काल में उपासक उपासना करता है वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ होता है। तथा अथर्व० (१०.७.३१)।

उत मध्यत:) पूर्व तथा दोनों दिशाओं के मध्य[1] में (पूर्णा) पूर्ण प्रकाश वाली पारमेश्वरीमाता (उत् जिगाय=उज्जिगाय) सर्वोत्कर्षेण विद्यमान है। (महित्वा) तथा प्राप्त महिमा के कारण (तस्याम्) उस पारमेश्वरी माता में (देवै:) अन्य देवों के साथ (संवसन्त:) मिल कर वास करते हुए (नाकस्य पृष्ठे) दु:ख से रहित नाकलोक की पीठ पर (इषा) आनन्दरसरूपी अन्न द्वारा (सम् मदेम) हम सुमुदित हों।

[मन्त्र में पौर्णमासी के दृष्टान्त द्वारा पारमेश्वरी माता के सर्वत्र पूर्ण प्रकाश का द्योतन किया है। पारमेश्वरीमाता के प्रकाश को प्राप्त करने से महिमायुक्त हुए योगी जन, नाक की पीठ पर, मोक्षावस्था में अन्य मुक्तात्मा-देवों के साथ मिलकर आनन्दरस के पान द्वारा संमुदित रहते हैं। पौर्णमासी के प्रकाश को प्राप्त कर मोक्षावस्था का आनन्दरस अलभ्य है। अत: पौर्णमासी के दृष्टान्त द्वारा पारमेश्वरीमाता के पूर्ण प्रकाश का ही वर्णन मन्त्र में अभिप्रेत है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**पौर्णमासी**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे। स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम्॥ २॥

अर्थ—(वृषभम्) आनन्दरस की वर्षा करने वाले, (वाजिनम्) बलशाली, (पौर्णमासम्) पूर्णमासी के चन्द्रमा के सदृश प्रकाश वाले परमेश्वर का (वयं यजामहे) हम यजन करते हैं, उसकी पूजा, उसका संग, तथा उस के प्रति आत्मसमर्पण करते हैं। (स:) वह परमेश्वर (न:) हमें (अक्षिताम्) न क्षीण होने वाली, (अनुपदस्वतीम्) अविनाशिनी (रयिम्) सम्पत्ति (ददातु) दे।

[वाजिनम्=**वाज: बलनाम** (निघं० २.९)। यजामहे=**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु** (भ्वादि:)। रयिम्=मोक्षसुख। ''पौर्णमासम्'' द्वारा परमेश्वर को शीतल प्रकाश वाला कहा है, और यजु:० ३१.१८ में ''आदित्यवर्णम्'' द्वारा उग्रप्रकाशवान् कहा है। परमेश्वर के ये दोनों रूप समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं]।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**प्रजापति:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ३॥

अर्थ—(प्रजापते) प्रजापति द्वारा परमेश्वर को प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक कहा है। शेष अर्थ मन्त्र ७.७९.४, के सदृश है। तथा (यजु:० १०.२०; २३.२४)।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**पौर्णमासी**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृत: प्रविष्टा:॥ ४॥

अर्थ—(अह्नाम्) दिनों और (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरेषु) अतिशर्वर कालों में (पौर्णमासी)

१. अभिप्राय यह कि पौर्णमासी का चन्द्रमा जब पूर्व में उदित होता है, तो पूर्ण कलाओं से ही युक्त होता है, और जब पश्चिम में प्राप्त होता है तब भी पूर्ण कलाओं से ही युक्त होता है। तथा पूर्व और पश्चिम के मध्याकाश में गति करता हुआ भी पूर्ण कलाओं से ही युक्त रहता है। परन्तु पौर्णमासी के उत्तरकाल से उसकी कलाओं में ह्रास होने लगता है। परन्तु परमेश्वर का प्रकाश पौर्णमासी के प्रकाश की तरह सदा एक-सा रहता है, उसके प्रकाश में ह्रास नहीं होता।

पौर्णमासी के सदृश प्रकाशमयी पारमेश्वरी माता (प्रथमा) सर्वप्रथम (यज्ञिया) यज्ञयोग्या (आसीत्) रही है। (यज्ञिये) हे यजनयोग्या मातः! (ये) जो (त्वाम्) तुझे (यज्ञैः) यज्ञियकर्मों द्वारा (अर्धयन्ति) निज हृदयों में तेरी वृद्धि करते हैं (ते अमी) वे ये (सुकृतः) सुकर्मी (नाके) दुःखरहित लोक में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट हुए-हुए हैं। अर्धयन्ति=**ऋधु वृद्धौ**।

[मन्त्र में ''अतिशर्वरेषु'' पाठ है न कि ''अतिशर्वरीषु''। ''शर्वरी'' का अर्थ रात्री होता है, न कि शर्वन का। शर्वर का अर्थ है हिंसा, विनाश अर्थात् समाप्ति, **शॄ हिंसायाम्**। ''अह्नाम् अतिशर्वरेषु'' का अर्थ है ''दिनों की अति हिंसाओं, अर्थात् समाप्तियों में'', सायंकालों में। तथा ''रात्रीणाम् अतिशर्वरेषु'' का अर्थ है ''रात्रियों की अति हिंसाओं अर्थात् समाप्तियों में'' प्रातःकालों में। सायंकालों और प्रातःकालों में ध्यान द्वारा यज्ञिया-परमेश्वर का पौर्णमासी की तरह पूर्ण प्रकाश होता है। परमेश्वर माता यज्ञिया हैं, पूजनीया, संगतियोग्या, तथा आत्मसमर्पणयोग्या है **(यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु)** इस प्रक्रिया के अनुसार ही, यजनकर्त्ता, माता के समृद्ध-दर्शन को पाता है, और नाक में प्रविष्ट होकर पूर्वप्रविष्ट दिव्य मुक्तात्माओं के संग को प्राप्त करता है (यजुः० ३१.१६)।

सूक्त ८१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः॥ १॥

अर्थ—(शिशू) दो शिशुओं के सदृश (क्रीडन्तौ) क्रीडा करते हुए, (एतौ) ये दो सूर्य और चन्द्र, (मायया) परमेश्वरीय प्रज्ञा द्वारा प्रेरित हुए, (पूर्वापरम्) आगे-पीछे (अर्णवम्) अन्तरिक्ष-समुद्र के (परि) पार तक (यातः) जाते हैं तथा, (चरतः) विचरते हैं। (अन्यः) इन दो में से एक सूर्य (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (विचष्टे) देखता है, (अन्यः) दूसरा हे चन्द्रमा! तू (नवः) नया-नया (जायसे) पैदा होता है (ऋतून् विदधत्) ऋतुओं का विधान करता हुआ। (तथा अथर्व० १४.१.१३; गृहस्थ)।

[**माया प्रज्ञानाम** (निघं० ३.९)। ऋतून्=सप्ताह, अर्धमास और मास का विधान करता हुआ चन्द्रमा ऋतुओं का निर्माण करता है। दो मास ही तो ऋतु हैं। मन्त्र, विवाह के मन्त्रों में भी पठित है (अथर्व० १४.१.२३)। अतः मन्त्र में सूर्य=पति; और चन्द्रमा=पत्नी। पत्नी प्रतिमास ऋतुधर्म को प्रकट करती हुई, नव-नव सन्तानरूप में नव-नव रूपों वाली होती रहती है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नवोनवो भवसि जायमानोह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥ २॥

अर्थ—हे चन्द्रमा! एकैक कला के आधिक्य द्वारा तू (नवः नवः) नवीन-नवीन (जायमानः भवसि) पैदा होता रहता है। (अह्नां केतुः[१]) तू मानो दिनों [तिथियों] का ज्ञापक है (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) आगे-आगे, पहिले (एषि) तू आता है। (आयन्) आता हुआ (देवेभ्यः[२]) देवों के लिए (भागम्) देय भाग का (विदधासि) तू विधान करता है, (चन्द्रमः) हे चन्द्रमा! तू (आयुः) आयु को

१. **कित संज्ञाने**। २. दर्शपौर्णमास तथा अष्टमी के यज्ञों में वायु आदि देवों के लिए यज्ञभाग प्रदान।

(दीर्घम्) दीर्घ (प्रतिरसे) करता है, बढ़ाता है।

[मन्त्र में शुक्लपक्ष के चन्द्रमा का वर्णन है जो कि प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदित होता है। मन्त्र में पत्नी का वर्णन भी अभिप्रेत है। एक-एक सन्तान की वृद्धि द्वारा वह मानो प्रतिसन्तान में नवीन-नवीन रूप में प्रकट होती रहती है, यथा "**आत्मा वै पुत्रनामासि**" (निरुक्त ३.१.४; श० ब्रा० १४.९.८.२६) कि हे पुत्र! तू मेरा रूप ही है। पत्नी दिन में उषाकाल से पूर्व जाग जाती है। वह सास-ससुररूपी देवों का सत्कार करती है। यथा "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव"। तथा अग्निहोत्र में सूर्य, अग्नि आदि देवों के प्रति आहुतिभाग प्रदान करती है, यथा "**गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम्**" (अथर्व० १४.२.२०), तथा "**गार्हपत्याय जागृहि**" (अथर्व० १४.१.२१), तथा "**गार्हपत्यं सपर्य**" (अथर्व० १४.२.१८)। गृहकार्यों में पत्नी की सक्रियता में गृहवासी प्रसन्न रह कर दीर्घायु हो जाते हैं (अथर्व० १४.१.२४)]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोमस्यांशो युधां पतेनूनो नाम वा असि। अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च॥ ३॥

अर्थ—(सोमस्य) वीर्य के (अंशो) अंशुरूप, ज्योतिरूप, तथा (युधां पते) योद्धाओं या युद्धों के स्वामी! [क्षत्रिय रूप!] (वा=वै) निश्चय से (अनूनः[१] नाम असि) सद्गुणों में न्यून तू नहीं है। (दर्श[२]) हे दर्शनीय! (मा) मुझ पत्नी को (प्रजया च धनेन च) प्रजा और धन द्वारा (अनूनम्[३]) न्यूनतारहित (कृधि) कर।

[मन्त्रोक्ति पत्नी द्वारा हुई है। सोम=वीर्य (अथर्व० १४.१.१-५)। तथा सोम [सोमन्, उणा० १.१४०] तथा वीर्य (Semen) में श्रुति तथा अर्थ का भी साम्य है। अंशु=किरण, रश्मि। यथा "सहस्रांशुः"=सूर्य। मन्त्र १,२ में चन्द्रमा के कथन द्वारा पत्नी का वर्णन हुआ है। मन्त्र ३ में "सोमांशुरूप" पति का वर्णन अभिप्रेत है "युधां पते" द्वारा पति क्षत्रिय है, सेनापति है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोसि समन्तः।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन॥ ४॥

अर्थ—हे क्षत्रिय! या सेनापति! (दर्शः असि) तू दर्शनीय है, (दर्शतः असि) राष्ट्र के कार्यों की देखभाल करता है, (समग्रः[४] असि) सद्गुणों से सम्पूर्ण है, (समन्तः) तू सद्गुणों की सीमा है। मैं भी (गोभिः) गौओं द्वारा, (अश्वैः) अश्वों द्वारा, (प्रजया) प्रजा द्वारा (पशुभिः) पशुओं द्वारा (गृहैः) गृहों द्वारा, (धनेन) धन द्वारा (समग्रः, समन्तः) समग्ररूप तथा समग्रता की सीमारूप (भूयासम्) हो जाऊं।

---

१. तथा सोम=चन्द्रमा। यह कलाओं के न्यूनाधिक्य के कारण न्यूनाधिक प्रतीत होता है। वस्तुतः निजस्वरूप में चन्द्रमा अनून हैं, न्यून नहीं होता।

२. दर्श है शुक्लपक्ष में अमावास्या रात्री के पश्चात् एककलायुक्त दृष्ट-चन्द्रमा।

३. यतः मन्त्रों में पत्नी को चन्द्रमा से रूपित किया है, इस कारण पत्नी के सम्बन्ध में पुल्लिङ्ग पदों का प्रयोग हुआ है।

४. चन्द्रमा-पक्ष में "अनून" [समग्र] होने की इच्छा "दर्श" अवस्था के चन्द्रमा से की गई है, न कि "पूर्णिमा" के चन्द्रमा से। दर्श के चन्द्रमा ने कलाओं की वृद्धि द्वारा पूर्णता को प्राप्त करना है, और पूर्णिमा के चन्द्रमा ने कलाओं के क्षय द्वारा अमावास्या की शून्यता की ओर प्रयाण करना है। दर्श के चन्द्रमा ने प्रकाशमार्ग का ग्रहण किया है, अतः वह सद्गुणी भी है।

समन्तः=संगतः अन्तेन।

[राष्ट्र के प्रजाजनों द्वारा मांग हुई है, प्रजाजनों द्वारा सामूहिक मांग है, अतः एकवचन प्रयोग हुआ है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**स्वराडास्तारपङ्क्तिः**॥

योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व।

आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन॥ ५॥

अर्थ—हे क्षत्रिय या सेनापति! (यः) जो परकीय राजा (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम्) हम [प्रतिक्रिया में] (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, (तस्य प्राणेन) उसके प्राण द्वारा अर्थात् उसके प्राण का अपहरण कर, उसे मार कर (त्वम्) तू (आप्यायस्व) वृद्धि को प्राप्त कर। और (वयम्) हम प्रजाजन (गोभिः....) गौओं, अश्वों, प्रजा, पशुओं, गृहों, धनों द्वारा (आप्याशिषीमहि) पूर्णतया वृद्धि प्राप्त करें।

[मृतराजा की राष्ट्रसम्पत्तियों गौओं आदि का अपहरण कर समृद्धि प्राप्त करना]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यं देवा अंशुमाप्यायर्यन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति।

तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्यायर्यन्तु भुवनस्य गोपाः॥ ६॥

अर्थ—(यम् अंशुम्[१]) जिस वीर्यांशु को (देवाः) दिव्यकोटि के व्यक्ति (आप्याययन्ति) प्रवृद्ध करते हैं, और (यम्) जिस (अक्षितम्) क्षीण न हुए को, (अक्षिताः) अक्षितवीर्यवाले ब्रह्मचारी (भक्षयन्ति) गृहस्थ में भोगते हैं, (तेन) उस वीर्य की प्राप्ति द्वारा (इन्द्रः) सम्राट् (वरुणः) माण्डलिक राजवर्ग, (बृहस्पतिः) साम्राज्य की बृहती सेना का अधिपति (अस्मान्) हमें (आप्याययन्तु) समृद्ध करे, ये जो कि (भुवनस्य) समग्रभूमि के (गोपाः) रक्षक हैं।

[वीर्य की वृद्धि एकदम नहीं होती, वृद्धि अंश-अंशरूप में होती रहती है, अतः इन अंशों की रक्षा देवजन करते हैं, और अक्षितवीर्य वाले ऊर्ध्वरेतस्-ब्रह्मचारी गृहस्थ में इसका उपभोग करते हैं। अथवा इस को निजशरीर में लीन करते हैं]।

सप्तम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक ८

सूक्त ८२

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।

इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ताम्॥ १॥

अर्थ—(देवताः) हे दिव्य उपासको! (सुष्टुतिम्) उत्तम स्तुतियोग्य परमेश्वर की (अभि) साक्षात्

१. तथा चन्द्रमा के जिस अंशु को अक्षीण सूर्य-रश्मियाँ आप्यायित करती हैं शुक्ल पक्ष में, और कृष्णपक्ष में मानो उसका भक्षण करती हैं।

(अर्चत) अर्चना करो, स्तुति करो, (अस्मासु) हम में (गव्यम्) वेदवाणी का ज्ञानदुग्ध, (आजिम्) देवासुरसंग्राम, (भद्रा=भद्राणि) कल्याणकारी तथा सुखप्रद (द्रविणानि) धन (धत्त) स्थापित करो। (इमम् यज्ञम्) हमारे इस अर्चना यज्ञ को (नयत) उन्नति की ओर ले चलो, ताकि (घृतस्य) प्रकाशमयी (धाराः) धाराएँ (मधुमत्) मधुररस से उपेत हुईं (नः) हम में (पवन्ताम्) प्रवाहित हों।

[गव्यम्=**गौः वाङ्नाम** (निघं० १.११); गोसम्बन्धी है ज्ञानदुग्ध, अर्थात् **याज्ञदैवते, देवताध्यात्मे वा** (निरुक्त १.६.२०), अर्थात् यज्ञज्ञान तथा देवताज्ञान; तथा अग्नि आदि देवता का ज्ञान तथा आध्यात्मिक आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान। एतदर्थ देखो "**उत त्वं सख्ये**" (ऋ० १०.७१.५) की नैरुक्त व्याख्या इस मन्त्र में वेदवाणी को "धेनु" अर्थात् गौ कहा है। **धेनुः वाङ्नाम** (निघं० १.११)। आजिम्=देवासुरसंग्राम। हम लोग पाप करते हैं, परन्तु पापरूपी असुर के साथ देव बनकर संग्राम नहीं करते, इसलिए पापासुर के वशीभूत हो जाते हैं। इसलिए "देवासुरसंग्राम" के लिए याचना मन्त्र में की गई है। आजिः=संग्राम।

घृतस्य=**घृ क्षरणदीप्त्योः** (जुहोत्यादिः), यहां दीप्ति अर्थ अभिप्रेत है। **घृतस्य धाराः** (यजुः० १७.९३)। परमेश्वरीय प्रकाश की अथवा चैत्तप्रकाश की धाराएँ (योगभाष्य १.३६)]।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीबृहती**॥

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम्॥ २॥

अर्थ—(क्षत्रेण) क्षात्रभावना, (वर्चसा) अध्यात्म तेज, (बलेन) तथा शारीरिक बल के (सह) साथ (अग्रे) प्रथम (मयि) मुझ में, अपने में (अग्निम्) परमेश्वराग्नि को (गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूँ। (मयि) मुझ में अर्थात् अपने में (प्रजाम्) उत्पादक वीर्य को (मयि) मुझमें अर्थात् अपने में (आयुः) आयु को (दधामि) मैं स्थापित करता हूँ, (स्वाहा) स्वाहा के उच्चारण पूर्वक (मयि) मुझ में अर्थात् अपने में (अग्निम्) परमेश्वराग्नि को मैं स्थापित करता हूँ।

["अग्नि" यह परमेश्वर का नाम भी है। यथा "**तदेवाग्निस्तदादित्यः**" (यजुः० ३२.१)। अग्नि को जीवन में धारण करने के लिए क्षात्रदृढ़ता चाहिए, अध्यात्मतेज तथा शारीरिक बल चाहिए। प्रजा= प्रजोत्पादक वीर्य[१]। परमेश्वर को अपने में धारण करने के लिए वीर्यशक्ति की आवश्यकता है। तभी योगाभ्यास द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार सम्भव है। योग में वीर्यनिग्रह चाहिए। यथा "**श्रद्धावीर्यस्मृति-समाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्**" (योग १.२०)। वीर्यनिग्रह से आयु भी बढ़ती है और सुखदायी होती है। मन्त्र में भौतिक अग्नि अभिप्रेत नहीं]।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचित्ता निकारिणः।

क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः॥ ३॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि! (इह एव) इस ही जीवन में (रयिम्) अध्यात्मसम्पत् (अधि धारय) मुझ में मेरे अधिकाररूप में, स्थापित कर, (पूर्वचित्ताः निकारिणः) पूर्वकाल की विकृत मेरी चित्तवृत्तियाँ (त्वा) तुझे हे अग्नि! (मा निक्रन्) विकृत न करें, मुझसे पराङ्मुख या विमुख न करें। (अग्ने) हे अग्नि!

१. वीर्य कारण है और प्रजा है कार्य। कारण में कार्योपचार है। यथा "**आयुर्वै घृतम्**"।

(तुभ्यम्) तेरे लिए (क्षत्रेण) क्षात्रदृढ़ता द्वारा (सुयमम्) सुनियन्त्रित [मेरा चित्त] (अस्तु) हो, (ते) तेरे (उप) समीप (सत्ता) उपासनाविधि से बैठने वाला (अनिष्टृतः) अहिंसित हुआ (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो, बढ़े।

[मन्त्र में अग्नि पद द्वारा परमेश्वराग्नि ही अभिप्रेत है, भौतिकाग्नि नहीं। यजुर्वेद (२७.४) में "पूर्वचित्ताः" के स्थान में "पूर्वचितः" पाठ है, जिसका अभिप्राय सम्भव है "पूर्व संचित"। अनिष्टृतः= काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि द्वारा अहिंसित, इन वृत्तियों द्वारा अनाच्छादित हुआ। अनिष्टृतः=अ+नि (नितराम्)+ष्टृतः, **स्तृञ् आच्छादने** (क्र्यादिः)।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ४॥

अर्थ—(जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों को जानने वाला, (प्रथमः अग्निः) अनादि, सर्वाग्रणी परमेश्वर (उषसाम्, अग्रम्) उषाओं के पूर्व के काल को (अनु अख्यत्) अनुकूलरूप में प्रख्यापित करता है, (अहानि) दिनों को (अनु) अनुकूलरूप में [प्रख्यापित किया है], (सूर्यः) सूर्यस्थित अग्नि ने या सूर्य के समान प्रकाशमान उस अग्नि ने (उषसः) उषाओं को (अनु) अनुकूलरूप में [प्रकाशित किया है] (रश्मीन्) रश्मियों को (अनु) अनुकूलरूप में प्रकाशित करने वाला परमेश्वर (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी में (आविवेश) सर्वत्र प्रविष्ट हुआ है। अख्यत्=अन्तर्भावितण्यर्थः।

[अभिप्राय यह कि परमेश्वराग्नि[१] ने उषाकाल के पूर्व के काल को, दिनों, उषाओं, और रश्मियों को प्रकाशित किया है। वह परमेश्वराग्नि सूर्य में प्रविष्ट है, या सूर्यसदृश स्वतः प्रकाशमान है, आदित्यवर्णी है। वह द्युलोक में प्रविष्ट होकर नक्षत्रों-ताराओं को प्रकाशित कर रहा है, और पृथिवी में पार्थिव अग्नि को प्रकाशित कर रहा है। यह सब कुछ हमारे जीवनों के लिए अनुकूलरूप है। क्योंकि यह सब जगत् हमारे भोग और अपवर्ग के लिए है, अतः हमारी उन्नति के लिए अनुकूल है। "**भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्**" (योग २.१८)]।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत्प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान॥ ५॥

अर्थ—(अग्निः) परमेश्वराग्नि ने (प्रति) प्रत्यक्षरूप में (उषसाम्, अग्रम्) उषाओं के पूर्व के काल को (अख्यत्) प्रकाशित किया है, (प्रथमः जातवेदाः) अनादि, सर्वज्ञ[२] ने (प्रति) प्रत्यक्षरूप में (अहानि) दिनों को [प्रकाशित किया है], (च) और (प्रति) प्रत्यक्षरूप में (पुरुधा) बहुत प्रकार की (सूर्यस्य रश्मीन्) सौर-रश्मियों को [प्रकाशित किया है], (प्रति) प्रत्यक्षरूप में, उसने (द्यावापृथिवी) द्यौः और

---

१. मन्त्र यजुर्वेद में भी किंचित् पाठभेद से पठित है (११.१७)। व्याख्या में महीधराचार्य ने अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि "**सर्वप्रकाशको लोकस्त्रष्टा अग्निः, तं पश्येम**" इस प्रकार महीधर ने भी अग्नि द्वारा परमेश्वर ही माना है।

२. **जातवेदाः=जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यत इति वा। जातवित्तो वा जातधनः। जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः** (निरुक्त ७.५.१९)।

पृथिवी को (आततान) फैलाया है।

[पुरुधा रश्मीन्=वेदानुसार सूर्यरश्मियाँ सप्तविध हैं, अतः पुरुधा हैं। परमयोगी को मन्त्रकथित तत्त्वों की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है]।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।

घृतं ते देवीर्नप्त्य आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने॥ ६॥

अर्थ—(अग्ने) हे परमेश्वराग्नि! (दिव्ये) दिव्य (सधस्थे ते) सहवास के स्थान में स्थित तेरे निमित्त (घृतम्) घृताहुतियाँ हों, (मनुः) प्रत्येक मनुष्य (अद्य) प्रतिदिन (त्वाम्) तुझे (घृतेन) घृताहुतियों द्वारा (समिन्धे) सम्यक् प्रकाशित करता है। (देवीः) दिव्यगुणों वाली (नप्त्यः) हमारी नातीपुत्रियाँ (ते) तेरे लिए (घृतम्) घृताहुतियाँ (आ वहन्तु) प्राप्त कराएँ (अग्ने) हे परमेश्वराग्नि! (गावः) गौएँ (तुभ्यम्) तेरे लिए (घृतम्) घी (दुह्रताम्) दुग्धरूप में प्रदान करें।

[दिव्य सधस्थ है हृदय। यह सहवास का स्थान है। हृदय में जीवात्मा तथा ईश्वर सहवास करते हैं, इकट्ठे रहते हैं। हवियों में श्रेष्ठ हवि है, घृत। घृत की आहुतियों द्वारा यज्ञिय-अग्नि को प्रदीप्त कर, इस अग्नि में प्रविष्ट परमेश्वराग्नि प्रदीप्त करनी चाहिए। यथा "**अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः**" (अथर्व० ४.३९.९)। घृताहुति के लिए गोघृत चाहिए, भैंस आदि का घृत नहीं। मन्त्र में दैनिक अग्निहोत्र का वर्णन है]।

सूक्त ८३

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अप्सु ते राजन्वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः।

ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु॥ १॥

अर्थ—(वरुण) हे वरणीय (राजन्) ब्रह्माण्ड के राजा! (अप्सु) जलों में (ते) तेरा (हिरण्ययः) हिरण्यमय (गृहः) घर है, (मिथः) जो कि हम दोनों के निवास के लिए है। (धृतव्रतः, राजा) व्रतधारी वह वरुण राजा (ततः) उस गृह से (सर्वा धामानि) सब धामों में आश्रित पाशों को (मुञ्चतु) मुक्त कर दे, खोल दे।

[आपः हैं हृदयस्थ रक्त (अथर्व० १०.२.११)। हिरण्ययः=(अथर्व० १०.२.३१-३३)। मिथः=जीवात्मा और वरुण का सहवास का स्थान। (धामानि=स्थानानि)। यथा "**धामानि त्रयाणि भवन्ति, नामानि, स्थानानि जन्मानि**" (निरुक्त ९.३.२८)। पाशों के स्थान तीन हैं, (१) उत्तमपाश का स्थान, (२) अधमपाश का स्थान, (३) मध्यमपाश का स्थान (मन्त्र ३.४) धृतव्रतः=वरुण का व्रत है पाशों को खोल देना, व्यक्ति को पाशों से उन्मुक्त कर देना। कई पाण्डुलिपियों में "धामानि" के स्थान में "दामानि" पाठ है। दाम=रस्सी, पाश। यह पाठ उत्तम है]।

ऋषिः—**शुनःशेपः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**पथ्या पङ्क्तिः**॥

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः।

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः॥ २॥

अर्थ—(वरुण, राजन्) हे वरणीय राजा! (इतः) इस (धाम्नः, धाम्नः[1]) प्रत्येक स्थान से (नः) हमारे पाशों को (मुञ्च) खोल दे। (यद्) जो (आपः अघ्न्याः इति) व्यापक अनश्वर हे परमेश्वर! इस प्रकार और (यद्) जो (वरुण इति) हे वरणीय परमेश्वर! इस प्रकार (ऊचिम) हमने तुझे पुकारा है, (ततः) उस कारण (वरुण) हे वरणीय परमेश्वर! (नः) हमारे पाशों को (मुञ्च) खोल दे।

[परमेश्वर तो पाशों के मोचन का व्रत धारण किये हुए है, परन्तु व्यक्ति पाशों से मुक्त नहीं हुए, अतः वे परमेश्वर का आह्वान करके, उसे पुकार कर कहते हैं कि हमारे पाशों को खोल दे। मन्त्र में दो "इति" द्वारा दो सम्बोधन प्रतीत होते हैं, (१) "आपः अघ्न्याः" (२) वरुण। तीन नहीं। "आपः, अघ्न्याः" पद विशेष्य-विशेषण रूप हैं। "आपः" हे व्यापक परमेश्वर, **आप्लृ व्याप्तौ**; तथा "**ताः आपः स प्रजापतिः**" (यजुः० ३२.१)। अघ्न्यः=न हन्तव्यः, अनश्वर परमेश्वर। पाण्डुलिपियों में "दाम्नः दाम्नः" भी पाठ है। जिसका अर्थ है प्रत्येक दाम से, रस्सी से, पाश से]।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ३ ॥

अर्थ—(वरुण) हे वरणीय परमेश्वर! (उत्तमम् पाशम्) हमारे उत्तम पाश को (अस्मत्) हम से (उत् श्रथाय) शिथिल कर, (अधमम्) अधम पाश को (अव श्रथाय) शिथिल कर, (मध्यमम्) मध्यम पाश को (विश्रथाय) शिथिल कर। (अधा) तदनन्तर (आदित्य) हे आदित्यनिष्ठ परमेश्वर! (तव व्रते) तेरे व्रत के निमित्त (वयम्) हम (अनागसः) पापरहित हुए (अदितये) अविनाश के लिए (स्याम) हो जाएँ।

[अदितये=अ+**दीङ् क्षये**+क्तिन्; अथवा "**दो अवखण्डने**"+क्तिन्। अविनाश=पापजन्य शीघ्र नाश का अभाव, १०० वर्षों की आयु से पूर्व न मरना। वरुण का व्रत है पाशों का विमोचन। इस निमित्त व्यक्ति पापों से रहित होकर अविनाश के लिए हो जाते हैं। मन्त्र में आदित्य है तन्निष्ठ परमेश्वर यथा "**योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म**" (यजुः० ४०.१७)।

पाश तीन हैं, उत्तम, मध्यम और अधम। सम्भवतः (१) त्रिविध दुःख आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। (२) त्रिविध भोग, मानसिक भोग, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा भोग। (३) त्रिविध शरीर, कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर। (४) बुद्धितत्त्व अहंकार (अस्मिता), मन]।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुःष्वप्न्यं दुरितं निः ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ ४॥

अर्थ—(वरुण) हे वरणीय परमेश्वर! (अस्मत्) हम से (सर्वान् पाशन्) सब पाशों को (प्रमुञ्च) छुड़ा दे, (ये) जो कि (उत्तमाः अधमाः) उत्तम और अधम हैं, (ये वारुणाः) और जो वरणीय आप परमेश्वर द्वारा [कर्मानुसार] डाले गये हैं। (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों में उत्पन्न (दुरितम्) पाप को (अस्मत् निःष्व) हम से निकाल दे, (अथ) तत्पश्चात् (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों के

१. दाम्नोदाम्नः (पाठान्तर)।

लोक[१] में (गच्छेम) हम जाएँ। [निःष्व=निः, षू प्रेरणे लोट् लकार। "दुःष्वप्न्यम्" द्वारा मानसिक भोगरूपी पाश का कथन हुआ है]।

सूक्त ८४

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम्॥ १ ॥

अर्थ—(जातवेदाः) राष्ट्रिय घटनाओं को जानने वाले (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (अनाधृष्यः) अपराभवनीय, (अमर्त्यः) राष्ट्र के मर्त्यों अर्थात् मनुष्यों से भिन्न प्रकार का, (विराट्) विविध अधिकारों से प्रदीप्त, (क्षत्रभृत्) क्षात्रशक्ति को भी धारण करता हुआ तू (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहि) प्रदीप्त हो। राष्ट्र को (विश्वाः अमीवाः) सब प्रकार के रोगों से (प्रमुञ्चन्) मुक्त करता हुआ तू (मानुषीभिः) मनुष्यसम्बन्धी (शिवाभिः) शिव [रक्षाओं] द्वारा (अद्य) आज (नः) हमारे (गयम्) राष्ट्र गृह की (परिपाहि) सब प्रकार से रक्षा कर।

[**मर्त्याः मनुष्यनाम** (निघं २.३)। जातवेदाः=**जातानां वेदिता** (सायण)। **दीदयति ज्वलतिकर्मा** (निघं० १.१६)। क्षत्रभृत्=अथवा प्रजा को, क्षतों से त्राण करने की भावना को, शासक वर्ग में परिपुष्ट करने वाले। भृत्=**डुभृञ् धारणपोषणयोः** (जुहोत्यादिः)। यथा "**क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः**" (रघुवंश २.५३)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम्॥ २ ॥

अर्थ—(चर्षणीनाम् वृषभ) हे मनुष्यों पर सुखों की वर्षा करने वाले (इन्द्र) सम्राट्! (क्षत्रम्) क्षतों से त्राण करने वाले, (वामम्) याचनीय या संभजनीय (ओजः अभि) ओज को अभिलक्ष्य कर के (अजायथाः) तू उत्पन्न हुआ है। (अमित्रायन्तम्) शत्रुवत् आचरण करने वाले (जनम्) जनसमूह को (अपानुदः) दूर धकेल, और (देवेभ्यः) साम्राज्य के देवों के लिए (उरुम् लोकम्) विस्तृत लोक (अकृणोः उ) कर।

[अजायथाः द्वारा मन्त्र राजसूय पद्धति का निर्देश करता है। (अथर्व० ४.८.१; ११.९.७)। वामम्=**वनु याच्ञायाम्** (तनादिः), तथा **वन संभक्तौ** (भ्वादिः)। देवेभ्यः=विद्वानों, विजिगीषुओं, व्यापारियों आदि के लिए। **चर्षणयः मनुष्यनाम** (निघं० २.३)]।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व॥ ३ ॥

---

१. सुकर्मियों के समाज में जाने के योग्य हम हो सकें। अथवा "नाकलोक" में जाने के अधिकारी हो सकें (यजु० ३१.१६)।

अर्थ—(मृगः न) सिंह के सदृश (भीमः) भयङ्कर, (कुचरः) पृथिवी पर विचरने वाला, (गिरिष्ठाः) तथा पर्वतों पर जाकर स्थित होने वाला सम्राट् (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर के स्थान से (आजगम्यात्) सम्राट् पद के लिए आ जाए। (इन्द्र) हे सम्राट्! (सृकम्) सरणशील (तिग्मम्, पविम्) तीक्ष्ण वज्र को (संशाय) सम्यक्-तीक्ष्ण कर के (शत्रून्) शत्रुओं पर (विताढि) प्रहार कर, और (मृधः) संग्रामकारियों को (विनुदस्व) साम्राज्य से परे धकेल।

[**पविः वज्रनाम** (निघं० २.२०)। **ताढि वधकर्मा** (निघं० २.१९)। **तड आघाते** (चुरादिः)। अभिप्राय यह कि सम्राट् पद के लिए योग्य व्यक्ति, चाहे कहीं भी रहता हो, उसे स्वीकृत करना चाहिए]।

सूक्त ८५

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**तार्क्ष्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १॥

अर्थ—(त्यम्, उ) उस (तार्क्ष्यम्) अश्व के सदृश वेगवान्, (सुवाजिनम्) बलवान् (देवजूतम्) राष्ट्रिय देवों द्वारा प्रिय, (सहोवानम्) पराभवशील (रथानाम्) रथयुद्ध में (तरुतारम्) तैराने वाले, (अरिष्टनेमिम्) रथों की सुदृढनेमियों वाले, (पृतनाजिम्) शत्रुसेनाविजयी, (आशुम्) क्षिप्रकारी, रथाध्यक्ष को, (इह) इस राष्ट्र में (स्वस्तये) कल्याण के लिए (आहुवेम) आदर पूर्वक हम आमन्त्रित करते हैं।

[वाजिनम्, **वाजः बलनाम** (निघं० २.९)। देवजूतम्=**देवप्रीतं वा** (निरुक्त० १०.३.२८)। पृतनाजिम्=शत्रुसेनाविजयी। तार्क्ष्यम्=**तृक्ष गतौ** (भ्वादिः), तथा **तार्क्ष्यः अश्वनाम** (निघं० १.१४)]।

सूक्त ८६

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्कृणोतु॥ १॥

अर्थ—(त्रातारम्) रक्षा करने वाले (इन्द्रम्) सम्राट् को, (अवितारम्) वृद्धि करने वाले (इन्द्रम्) सम्राट् को, (हवे हवे) प्रत्येक आह्वान में (सुहवम्) सुगमता से आहूत किये जा सकने वाले (शूरम्) शूर-वीर (इन्द्रम्) सम्राट् को (शक्रम्) शक्तिशाली, (पुरुहूतम्) बहुतों द्वारा आहूत हुए (इन्द्रम्) सम्राट् को (नु) शीघ्रता से, आसानी से (हुवे) आह्वान करता हूँ, ताकि (मघवान् इन्द्रः) धनवान् सम्राट् (नः) हमारा (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में आह्वान करने वाला प्रजा का प्रतिनिधि, या प्रधानमन्त्री है। अवितारम्=**अव वृद्धौ** (भ्वादिः)]।

सूक्त ८७

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**जगती**॥

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥ १॥

अर्थ—(यः रुद्रः) जो रुद्र (अग्नौ) अग्नि में (यः) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर, (यः) जो

(वीरुधः) विविध रूप में प्रादुर्भूत हुआ (ओषधीः) ओषधियों में (आविवेश) प्रविष्ट है। (यः) जिसने (इमा=इमानि, विश्वा=विश्वानि) इन सब (भुवनानि) भुवनों को (चाक्लृपे) रचा है, (तस्मै अग्नये) उस सर्वाग्रणी (रुद्राय) रुद्र के लिए (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

[रुदः=रोदयतीति रुद्रः। जो कि कर्मानुसार प्राणियों को रुलाता है]।

सूक्त ८८

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**बृहती**॥

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि। विषे विषमपृक्था विषमिद्वा अपृक्थाः।
अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि॥ १॥

अर्थ—[हे गरुड़!] (अपेहि) तू जा, (अरिः असि) [सांप का] शत्रु तू है, (अरिः वै असि) निश्चय से तू शत्रु है। (विषे) साँप के विष में (विषम्) अपना विष (अपृक्थाः) तूने मिला दिया है, (विषम्, इत्, वै अपृक्थाः) निश्चय से अपना विष तू ने मिला दिया है। (अहिम्, एव) सांप को ही (अभि) लक्ष्य कर के (अपेहि) तू जा, (तम्) उसे (जहि) मार डाल।

[गरुड़, यह सांप को मार देता है। गरुड़ स्वयं अपने आप को सम्बोधित करता है, और अपना विष साँप के विष में मिला देता है। चोंच द्वारा सांप को क्षत-विक्षत कर देना यह गरुड़ का विष है। इसके पश्चात् सांप मर जाता है।

गरुड़=गरुत्मान्=परमेश्वर। यथा "**अग्निं मित्रं वरुणम्**" (ऋ० १.१६४.४६) की व्याख्या में "**गरुत्मान् गरणवान्, गुर्वात्मा महात्मेति वा**" (निरुक्त ७.५.१८) "गरणवान्" का अर्थ है निगीर्ण करने वाला, (**गॄ निगरणे,** तुदादिः)। परमेश्वर पाप-अहि को निगलता है, मानो नष्ट करता है, अतः पाप-अहि का अरि है, शत्रु है। वह पाप-अहि के विष अर्थात् दुरित को, विष अर्थात् जल के सम्पर्क द्वारा, जल चिकित्सा द्वारा उपासक से विनष्ट करा कर अन्त में पाप-अहि को मार डालता है, पृथक् कर देता है। **विषम् उदकनाम** (निघं० १.१२)]

सूक्त ८९

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि। पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ १॥

अर्थ—(दिव्याः) दिव्य (अपः) "आपः" नामक परमेश्वर की (अचायिषम्) मैंने पूजा की है, (रसेन) आनन्दरस से (समपृक्ष्महि) हम सब पूजा करने वाले सम्पृक्त हुए हैं। (अग्ने) हे "अग्नि" नामक परमेश्वर! (पयस्वान्) आनन्दरस वाला (आगमम्) मैं तेरी शरण में आया हूँ, (तम् मा) उस मुझ को (वर्चसा) तेज के साथ (संसृज) संयुक्त कर।

[आपः तथा अग्नि—परमेश्वर के नाम हैं (यजुः० ३२.२)। अचायिषम्=**चायृ पूजानिशामनयोः** (भ्वादिः)।]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः॥ २॥

अर्थ—(अग्ने) हे "अग्नि" नामक परमेश्वर! (मा) मुझे (वर्चसा) तेज के साथ (संसृज) संयुक्त कर, (प्रजया) प्रकृष्ट-सन्तान के साथ (सम्) संयुक्त कर, (आयुषा) स्वस्थ और दीर्घ आयु के साथ (सम्) संयुक्त कर। (अस्य मे) इस मुझ की स्थिति को (देवाः) राष्ट्र के विद्वान् (विद्युः) जानें, तथा (इन्द्रः) सम्राट् (ऋषिभिः सह) ऋषिकोटि के मन्त्रियों समेत (विद्यात्) जाने।

[मैं परमेश्वर की पूजा और उसके आनन्दरस को प्राप्त करने के परिणामरूप में वर्चस्, प्रकृष्ट सन्तान, तथा स्वस्थ और दीर्घ आयु से सम्पन्न हुआ हूँ, इस रहस्य को राष्ट्र के देव आदि जानें। ताकि वे इस तथ्य का प्रसार राष्ट्र में तथा साम्राज्य में कर सकें। यह दर्शाया है कि मन्त्री ऋषिकोटि के होने चाहिएं, धन लोलुप तथा पद लोलुप नहीं]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्॥ ३ ॥

अर्थ—(आपः) हे जलो! (इदम्) इसे (प्रवहत) प्रवाहित कर दो (यत् च) जो (अवद्यम्) अकथनीय पाप (च) और जो (मलम्) शारीरिक मल या मानसिक तमोगुणरूपी मल है, (यत् च) और जो (अभिदुद्रोह) मुझ में द्रोहभावना है, और जो (अनृतम्) असत्यभाषण है उसे (यत् च) और जो (अभीरुणम्) निडर अर्थात् बहादुर व्यक्ति को (शेपे) मैंने शाप दिया है, उसे [प्रवाहित कर दो]।

["प्रवाहित" करने द्वारा नदी के प्रवाह का वर्णन अभिप्रेत है। नदी के प्रवाह में बैठकर जलचिकित्सा द्वारा पाप, मल, द्रोहभावना, असत्य भाषण, और शाप के हेतुभूत क्रोध, द्वेषभावना का उपचार करने का विधान हुआ है।

अभीरुणम्=अनपराधिनम् (महीधर, यजुः० ६.१७)। अभीरुणम्=अभीरुम्; नुमागम छान्दस। आपः द्वारा परमेश्वरार्थ में (यजुः० ३२.१) तो सर्वशक्तिमान् की कृपा से सब बुराइयों का नाश होना सर्वथा सम्भव है]।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिपदा निचृत्परोष्णिक्** ॥

एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥ ४ ॥

अर्थ—(एधः) प्रवृद्ध (असि) [हे अग्नि, मन्त्र १] तू है, (एधिषीय) मैं भी वृद्धि प्राप्त करूँ, (समिद् असि) सम्यक्-प्रदीप्त तू है (सम् एधिषीय) मैं भी प्रदीप्ति द्वारा प्रवृद्ध होऊं। (तेजः असि) तू तेजोरूप या तेजस्वी है, (तेजः मयि धेहि) तेज मुझ में स्थापित कर।

[एधः=**एध वृद्धौ** (भ्वादिः)। एधिषीय=**एध वृद्धौ,** आशीर्लिङ् सीयुट्। समिद्=सम्+**इन्धी (दीप्तौ,** रुधादिः)। मन्त्रवर्णन भौतिकाग्नि में सम्पन्न नहीं होता]।

सूक्त ९०

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम्। ओजो दासस्य दम्भय॥ १ ॥

अर्थ—(इव) जैसे (व्रततेः) लता के (गुष्पितम्) गुच्छे को काटा जाता है उस प्रकार (पुराणवत्) प्राचीन-विधि के अनुसार (दासस्य) उपक्षयकारी [व्यभिचारी पुरुष के अण्डकोष या लिङ्ग] को (अपि वृश्च) काट दे। और (दासस्य) उपक्षयकारी के (ओजः) वीर्यजन्य ओज को (दम्भय) विनष्ट कर दे।

[व्याभिचारी के लिङ्ग के "**अपि नह्याम्यस्य मेढ्रम्**" द्वारा लिङ्ग-बन्धन का भी वर्णन हुआ है (७.९९.३)। जम्भय; **जम्भयतिर्वधकर्मा इति यास्कः**; तथा (निघं० २.१९; सायण)। वेदानुसार व्यभिचारी को ऐसा दण्ड, पुराणविधि है। ओजः=**बलं प्रजननसमर्थं वीर्यं वा जम्भय विनाशय** (सायण)]।

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विराड् पुरस्ताद्बृहती**॥

व॒यं तद॑स्य॒ संभृ॑तं॒ वस्विन्द्रे॑ण॒ वि भ॑जामहै।

म्ला॒पया॑मि भ्र॒जः शि॒भ्रं वरु॑णस्य व्र॒तेन॑ ते॥ २॥

अर्थ—(अस्य) इन व्यभिचारी के (तत्) उस (सम्भृतम्) एकत्रित किये (वसु) धन को (इन्द्रेण) सम्राट् की आज्ञानुसार (वयम्) हम (विभजामहै) विभक्त कर लेते हैं। (ते) हे व्यभिचारी! तेरे (शिभ्रम्=शुभ्रम्) शुक्ल, (भ्रजः) दीप्त वीर्य को (वरुणस्य) राष्ट्रपति के (व्रतेन) नियमानुसार (म्लापयामि) हर्षक्षयकारी कर देता हूँ।

["इन्द्रेण, वरुणस्य—"**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः० ८.३७)। इन्द्र है साम्राज्याधिपति[१] और वरुण है साम्राज्य के अङ्गभूत राष्ट्र[१] का अधिपति। "लिङ्गच्छेद तथा धन का विभाग" सम्राट् तथा जिस राष्ट्र का निवासी वह व्यभिचारी है उस राष्ट्र के अधिपति—इन दोनों के निर्णय के अनुसार होना चाहिए। म्लापयामसि=**म्लै हर्षक्षये** (भ्वादिः)। वीर्य और लिङ्ग के अभाव में भोगजन्य हर्ष प्राप्त नहीं हो सकता]।

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**षट्पदा भुरिग्जगती**॥

यथा॒ शेपो॒ अपाया॑तै स्त्री॒षु चास॒दना॑वयाः। अ॒व॒स्थस्य॑ क्न॒दीव॑तः

शाङ्कु॒रस्य॑ नितो॒दिनः॑ यदात॑त॒मव॒ तत्त॑नु॒ यदुत्त॑तं॒ नि तत्त॑नु॥ ३॥

अर्थ—(यथा) जैसे ही (शेपः) व्यभिचारी की स्त्रीभोगसम्बन्धी इन्द्रिय (अपायातै) अपगत हो जाए, तब ही यह (स्त्रीषु च) स्त्रियों में (अनावयाः) न गति करने, न विचरने वाला (असत्) हो जाए। (अवस्थस्य) हिंसा में स्थित, (क्नदीवतः=क्रदीवतः) क्रन्दन करने वाले, (शाङ्कुरस्य) शङ्कु की तरह पीड़ित करने वाले, (नितोदिनः) नितरां मानसिक व्यथाप्रद व्यभिचारी का (यत्) जो (आततम्[२]) फैला हुआ बल है (तत्) उसे (अवतनु) हे राजन्! तू संकुचित कर, (यत्) और जो (उत्तमम्) समुन्नत बल है (तत्) उसे (नि तनु) नीचा कर दे।

[अपायातै=अप+**अय** (गतौ)+आट्+ऐ, "**वैतोऽन्यत्र**" (अष्टा० ३.४.९६)। अनावयाः=अ+नुट्+आ+**वय्** (गतौ)+असुन्। अवस्थस्य=**अव** (**हिंसायाम्**, भ्वादिः)+रथ। क्नदीवतः=क्रन्दन करने वाले, पापकर्मों के कारण रोने वाले (**क्रदि रोदने च**, भ्वादिः)।

आठवाँ अनुवाक समाप्त॥

---

१. साम्राज्य है "संयुक्त राज्य", जिस में कई राष्ट्र स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होते हैं। राष्ट्राधिपति को "वरुण" कहते हैं, जो कि निज राष्ट्र की प्रजा द्वारा निर्वाचित होता है। व्रियते इति वरुणः।

२. आततम्=वाममार्ग का अधिक विस्तार, फैल जाना। उत्ततम्=उस का अत्युग्रता में हो जाना।

अनुवाक ९

सूक्त ९१

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ १॥

अर्थ—(सुत्रामा) उत्तमरक्षक (स्ववान्) धनवान् या स्वजात्य-स्वसाम्राज्योत्पन्न (इन्द्रः) सम्राट् (अवोभिः) रक्षासाधनों द्वारा (सुमृडीकः) उत्तम-सुखप्रदाता (भवतु) हो, (विश्ववेदाः) वह साम्राज्य के सब महकमों का ज्ञानवान् हो। (द्वेषः बाधताम्) हमारे द्वेषियों का हनन करे, और (नः) हम प्रजाजनों को (अभयम्) भयरहित (कृणोतु) करे (सुवीर्यस्य) ताकि उत्कृष्ट वीरता के (पतयः) स्वामी (स्याम) हम हों।

सूक्त ९२

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥ १॥

अर्थ—(सुत्रामा) उत्तमरक्षक (स्ववान्) धनवान्, स्वजात्य-स्वसाम्राज्योत्पन्न (स इन्द्रः) वह सम्राट्, (द्वेषः) द्वेषियों को (सनुतः) अन्तर्हित करके (अस्मत्) हमसे (आरात् चित्) दूर और (युयोतु) पृथक् करे। (यज्ञियस्य) पूजनीय (तस्य) उस इन्द्र की (भद्रे सुमतौ) कल्याणकारी तथा सुखप्रद सुमति में, (अपि) तथा उसकी (सौमनसे) मानसिक प्रसन्नता में (वयं स्याम) हम हों, रहें।

[यज्ञियस्य=**यज देवपूजा** (भ्वादिः), अतः पूजनीय। इन्द्र जिस प्रकार की सुमति दे, तदनुरूप प्रजा रहे, और इन्द्र के मन को प्रसन्न करे। भद्रे=**भदि कल्याणे सुख च** (भ्वादिः)]।

सूक्त ९३

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः। घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति॥ १॥

अर्थ—(इन्द्रेण) सम्राट् [की सहायता, द्वारा], (मन्युना) तथा साम्राज्य-प्रजा के मननपूर्वक क्रोध द्वारा, (वयम्) हम राष्ट्रिय-प्रजाजन या राष्ट्राधिकारी वर्ग (पृतन्यतः) युद्धेच्छुक शत्रु का (अभि स्याम) पराभव करें, (वृत्राणि) राष्ट्र का आवरण करने वाले, घेरा डालने वाले शत्रुओं का (अप्रति) उन द्वारा विना प्रतिपक्ष हुए (घ्नन्तः) हनन करते हुए।

सूक्त ९४

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि। यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत्॥ १॥

अर्थ—(ध्रुवेण) स्थिर (हविषा) सैनिक-हवि द्वारा, (ध्रुवम्) युद्ध में ध्रुवरूप (सोमम्) परकीय-सेनानायक का (अवनयामसि) हम अवपात करते हैं (यथा) ताकि (इन्द्रः) सम्राट् (नः) हम (विशः)

प्रजाओं को (केवलीः) शत्रुरहित या पारस्परिक सेवा वाली, (संमनसः) और एक मन वाली (करत्) करे।

[वेदानुसार स्वरक्षार्थ किया युद्ध यज्ञरूप है, और इस युद्धयज्ञ में सैनिक हविरूप हैं। परकीय सेना का सेनाध्यक्ष जब ध्रुव होकर युद्ध लड़ रहा हो, तब आत्मरक्षार्थ युद्ध में ध्रुवरूप में, स्थिररूप में, सैनिक प्रदान करते रहना चाहिए, ताकि परकीय सेनानायक का अधोनयन किया जा सके।

सोम=सेनानायक। यथा "**इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः। देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्**" (यजुः० १७.४०)। इस मन्त्र में इन्द्र है सम्राट्; बृहस्पति है बृहती सेना का पति; और सोम है सेनाध्यक्ष जो कि युद्ध-यज्ञ को करता है। केवलीः=**केवृ सेवने** (भ्वादिः)। अवनयामसि=अव (अवस्तात्)+नी (नयने), अधोनयन]।

सूक्त ९५

ऋषिः—**कपिञ्जलः**॥ देवता—**गृध्रौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः। उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः॥ १॥

अर्थ—(इव) जैसे (गृध्रौ) दो गीध (द्याम्) द्युलोक की ओर (उत् पेततुः) उड़े हैं, वैसे (अस्य) इन पुमान् [मन्त्र ३] के (श्यावौ) श्याववर्ण वाले, (विथुरौ) व्यथादायक गर्धाशील दो लोभ और मोह, द्यौः अर्थात् सिर की ओर, (हृदः[१]) हृदय से उड़े हैं, जो कि (अस्य) इस पुमान् के हृदय को (उत्, शोचनौ प्रशोचनौ) शोकित तथा संतापित कर देते हैं, तथा जो लोभ-मोह (उच्छोचनौ) स्वभावतः शोकित तथा संतापित करने वाले हैं।

[हृदः=पञ्चम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त पद। दोनों अर्थ मन्त्र में अभिप्रेत हैं। गीध वृक्ष से द्युलोक की ओर उड़ता है। इसी प्रकार लोभ-मोह हृदय से उठ कर सिर की ओर उड़ते हैं, सिर के मस्तिष्क को विकृत कर देते हैं। द्यौः द्वारा सिर को सूचित किया है। यथा "**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**" (यजुः० ३१.१३) में द्यौः और सिर का परस्पर सम्बन्ध सूचित किया है। श्यावौ द्वारा लोभ-मोह का मिश्रित वर्ण वाले सूचित किया है। लोभ-मोह तमोगुण और रजोगुण के मिश्रण के परिणाम होते हैं। भाव को स्पष्ट करने के लिए मन्त्रार्थ व्याख्यामिश्रित किया है]।

ऋषिः—**कपिञ्जलः**॥ देवता—**गृध्रौ**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव। कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव॥ २॥

अर्थ—(अहम्) मैंने (एनौ) इन दोनों "लोभ मोह" को (उदतिष्ठिपम्) इस के हृदय और मस्तिष्क से उठा दिया है [बहिष्कृत कर दिया है], (इव) जैसे कि (श्रान्तसदौ) थककर बैठी (गावौ) दो गोओं को, (इव) जैसे (कूजन्तौ) घुरघुराते (कुर्कुरौ) दो कुत्तों को, तथा (इव) जैसे (उदवन्तौ) मुख में लाररूपी उदक वाले (वृकौ) दो भेड़ियों को जबरदस्ती उठा दिया जाता है।

[मन्त्र में प्रवक्ता है अध्यात्मशक्तिसम्पन्न व्यक्ति, जो कि निज दृढ़ मनोभावना द्वारा लोभ-मोह को

---

१. पक्षियों के निवास स्थान हैं वृक्ष, जो कि अन्तरिक्ष की ओर उठे होते हैं, इस अन्तरिक्ष से वे द्यौः की ओर उड़ते हैं, इसी प्रकार हृदय अन्तरिक्षस्थानी है। छाती में फेफड़ों में वायु तथा हृदय में रक्तरूपी जल होता है। अन्तरिक्ष में भी वायु और मेघरूपी जल होता है। इस हृदयरूपी अन्तरिक्ष से लोभ-मोहरूपी दो पक्षी, सिर या मस्तिष्करूपी द्यौः की ओर उड़ते हैं। वैदिक साहित्यानुसार सिर है द्यौः, छाती है अन्तरिक्ष और अन्नाधार पेट है अन्नाधारा पृथिवी।

हृदय और मस्तिष्क से बहिष्कृत कर देता है, उठा देता है। तीन दृष्टान्तों द्वारा लोभ-मोह के तारतम्य को सूचित किया है। गौ, कुत्ते, तथा वृक में उत्तरोत्तर लोभ-मोह की मात्रा अधिक बढ़ती जाती है। कुत्ते के खाने के लोभ को Canina-Hunger द्वारा प्रकट किया जाता है। तथा वृक के लोभ-लालच को "उदवन्तौ" द्वारा मन्त्र में सूचित किया है, जिस के मुख से खाने के लिए लार बहती रहती है]।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**गृध्रौ** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथो सन्तोदिनावुत।

अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमाञ्जभार॥ ३ ॥

अर्थ—लोभ-मोह (आतोदिनौ) पूर्णतया व्यथादायी हैं। (अथो) और (नितोदिनौ) नितराम् व्यथादायी हैं। (उत) और (संतोदिनौ) ये दोनों मिल कर, या सम्यक् रूप में व्यथादाई हैं। (यः पुमान्) जिस पुमान् ने (इतः) यहाँ से [अर्थात् इस राष्ट्र में] (स्त्री-स्त्रीम्, स्त्रियम्) स्त्री का (जभार) अपहरण किया है, (अस्य) इसके (मेढ्रम्) लिङ्ग को (अपि) भी (नह्यामि) मैं राजा बान्ध देता हूँ।

[मन्त्र में "अस्य, यः, मेढ्रम्" पदों द्वारा पुमान् ही अपराधी है अतः उसे ही लिङ्ग-बन्धनरूपी दण्ड मिला है। अतः "स्त्री" पद "जहार" क्रिया का "कर्म" होना चाहिए। स्त्रीपद में "अम्" रूपी सुप् का छान्दसलोप है। स्त्रीसंभोगकामना, लिङ्गेन्द्रिय सम्बन्धी प्रातिस्विक लोभ है। प्रत्येक इन्द्रिय सम्बन्धी प्रातिस्विक लोभ पृथक्-पृथक् है]।

सूक्त ९६

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**वयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असदन्गावः सदनेऽपप्तद्वसतिं वयः।

आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम्॥ १ ॥

अर्थ—(गावः) गौएँ (सदने) गोशाला में (असदन्) बैठ गई हैं, (वयः) पक्षी (वसतिम्) निज निवास-स्थान [वृक्ष] में (अपप्तत्) उड़ कर आ बैठा है, (पर्वताः) पर्वत (आस्थाने) स्वकीय स्थान में (अस्थुः) स्थित हैं, (स्थाम्नि) स्थान में (वृक्कौ) दोनों गुर्दों को (अतिष्ठिपम्) मैंने स्थापित कर दिया है।

[मन्त्र में शल्यचिकित्सक की उक्ति है। रात्री के प्रारम्भकाल या सायंकाल में गौओं और पक्षियों का निजस्थानों में स्थित हो जाने, और पर्वतों का निजस्थान में सदा स्थित रहने का कथन दृष्टान्तरूप में मन्त्र में हुआ है। वृक्कौ हैं दो गुर्दे (Kidneys)। ये अकस्मात् जन्मतः निज स्वाभाविक स्थान में स्थानान्तर में भी पैदा हो जाते हैं। इन्हें शल्यक्रिया द्वारा निज स्थानों में कर देने का निर्देश हुआ है]।

सूक्त ९७

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह।

ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान्यज्ञमुप याहि सोमम्॥ १ ॥

अर्थ—(चिकित्वन्) ज्ञानवान् (होतः) हे होता! (यत् अद्य) जो आज (अस्मिन्) इस (प्रयति) प्रवर्तमान (यज्ञे) यज्ञ में (इह) इस स्थान में (त्वा) तुझे (अवृणीमहि) हम ने वरण किया है, चुना है,

तो (शविष्ठ) हे बलवान्! (प्रविद्वान्) इस वरण को पूर्व से ही जानता हुआ तू (ध्रुवम् अयः) निश्चय से तू आ, (उत) तथा (ध्रुवम्) निश्चय से (सोमं यज्ञम्) सोमयज्ञ को लक्ष्य कर (उप) हमारे समीप (याहि) प्राप्त हो।

[सोमयज्ञ है ब्रह्मचर्य यज्ञ (सोम=वीर्य, अथर्ववेद भाष्य कां० १४.१.१०)। इह=ब्रह्मचर्याश्रम, जिसकी कि स्थापना हो रही है। अभ्यगत होता है अग्नि, अर्थात् साम्राज्य का अग्रणी[1] प्रधानमन्त्री, जिसे कि यज्ञ की तिथि का पूर्वतः ज्ञान है। प्रयति=प्र+**इण्(गतौ)**+शतृ (सप्तम्येकवचन; "**इणो यण्**" द्वारा "यण्"। शविष्ठ=**शवः बलनाम** (निघं० २.९)+इष्ठन्=अति बलवान्, बलवत्तम]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या।

सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम्॥ २॥

अर्थ—(इन्द्र) हे साम्राज्याधिपति सम्राट्! (नः) हम आश्रमवासियों को (मनसा) ज्ञान तथा अवबोधन, और (गोभिः) गौओं के साथ (संनेष) सम्बद्ध कर, (हरिवन्) हे अश्वारोही! (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर, (स्वस्त्या) उत्तम स्थिति के साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर। (ब्रह्मणा) वेदविद्या के साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर, (यद्) जो (देवहितम् अस्ति) देवहितकर वस्तु है उसके साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर, (यज्ञियानाम्) सोमयज्ञ के योग्य (देवानाम्) विद्वानों और दिव्यगुणी सज्जनों की (सुमतौ) सुमति में [सं नेष] हमारा नयन कर।

[मन्त्र (१) में अग्नि द्वारा साम्राज्य के प्रधानमन्त्री का वर्णन हुआ है। मन्त्र (२) में सम्राट् का वर्णन हुआ है। आश्रमवासियों ने निज आवश्यकताओं की माँग सम्राट् से की है। आश्रम के गुरुओं तथा कर्मचारियों के खान-पान के लिए "गोभिः" द्वारा गौ आदि की व्यवस्था मांगी है। मनसा=**मन ज्ञाने** (दिवादिः), तथा **मनु अवबोधने** (तनादिः) द्वारा आश्रम में ज्ञान-अवबोधन की प्रधानता को सूचित किया है। मन है ज्ञान-अवबोधन का साधन, और ज्ञान-अवबोधन है मन द्वारा साध्य। साध्य में साधन का उपचार हुआ है। "यज्ञियानाम्, देवानाम्" द्वारा आश्रमवासियों ने आश्रम के संचालन में इन की सुमति अर्थात् शुभ परामर्श की अभ्यर्थना प्रदर्शित की है]।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यानावह उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।

जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि॥ ३॥

अर्थ—(अग्ने देव) हे साम्राज्य के अग्रणी, देवभूत प्रधानमन्त्री! (उशतः) कामना वाले अर्थात् स्वेच्छा वाले (यान्) जिन (देवान्) गुरुदेवों को (आ अवहः) तूने [आश्रय में] प्राप्त कराया है, नियुक्त किया है, (तान्) उन्हें (स्वे) अपने (सधस्थे) सह निवासस्थान आश्रम में (प्रेरय) निवास के लिए प्रेरित कर। (वसवः) हे वसुकोटि के गुरुओ! (मधूनि) मधुर (जक्षिवांसः, पपिवांसः) भोज्यों और पेयों का खाना-पीना कर के, (वसूनि) निज ज्ञानधन (अस्मै) इस आश्रम के लिए (धत्त) प्रदान करो।

[आ अवहः=लङ् लकार, **वह प्रापणे** (भ्वादिः)। उषतः=जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक सेवा करना स्वीकार

१. निरुक्त (७.४.१४)।

किया है, उन्हें। वसवः=आश्रम की स्थापना की प्रारम्भिक अवस्था में प्रविष्ट बच्चों की शिक्षा के लिए प्राथमिक कोटि के वसु-गुरुओं की ही आवश्यकता होती है, रुद्र और आदित्य कोटि के गुरुओं की नहीं। ये "वसु", विद्या, सदाचार, सत्कर्मों और योगाभ्यास की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम के लिए अधिक उपादेय हैं। इन गुरुओं के खान-पान आदि की व्यवस्था आश्रमाधीन है, जिसका कि प्रबन्ध राज्य द्वारा होने का विधान हुआ है। "सधस्थ" है सहस्थान, आश्रम; जिसमें कि गुरुदेव सहनिवास करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु॥ ४॥

अर्थ—(देवाः) हे गुरुदेवो! (वः) तुम्हारे लिए (सुगा) सुगम्य (सदना=सदनानि) गृह (अकर्म) हमने तय्यार कर दिए हैं, (ये) जो तुम कि (सवने) सोमयज्ञ में—(मा जुषाणाः) मेरी प्रीतिपूर्वक सेवा करने वाले (आजग्म) आए हो। तुम (स्वा=स्वानि) अपने (वसूनि) ज्ञान-धनों को (वहमानाः) अपने साथ वहन करते हुए (भरमाणाः) और उनका पोषण करते हुए, (वसुम्) निवासप्रदायी (घर्मम्) प्रदीप्त आदित्य पर, (अनु) और तत्पश्चात् (दिवम्) द्युलोक पर (आरोहत) आरोहण करो।

[सुगा=सुगानि; गृह ऐसे होने चाहिएँ जिस में जाना-आना सुगम हो, कपाट बड़े हों, छत्तें ऊंची हों, तथा मध्यवर्ती स्थान अच्छा खुला हो। ब्रह्मचर्य ३ प्रकार का होता है। वसुकोटि का ब्रह्मचर्य प्रातःसवन है, रुद्रकोटि का ब्रह्मचर्य माध्यन्दिनसवन है, तथा आदित्यकोटि का ब्रह्मचर्य तृतीयसवन है (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, तथा छान्दोग्योपनिषद् ३.१६)। व्याख्येय मन्त्र (४) में "सवन" प्रातःसवन है, जोकि वसुकोटि के ब्रह्मचर्य का सूचक है। वसुकोटि के आचार्यों से निवेदन किया है कि वे निज ज्ञानभण्डार को अपने साथ लाएँ, और उस ज्ञान-भण्डार को बढ़ाते रहें और जीवन की समाप्ति पर वे ऊर्ध्वारोहण करें। घर्मम्=**घृ दीप्तौ** (जुहोत्यादिः), इस द्वारा आदित्य अभिप्रेत है, जिसमें कि "ओ३म् खं ब्रह्म" का निवास है (यजुः० ४०.१७) अन्त में मुक्तात्माओं की स्थिति "नाक" में होती है। यथा "**ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**" (यजुः० ३१.१६)। नाक में चतुष्पाद् ब्रह्म का साक्षात् भान होता है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षी भुरिग् गायत्री** ॥

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ। स्वां योनिं गच्छ स्वाहा॥ ५॥

अर्थ—(यज्ञ) हे सोमयज्ञ अर्थात् ब्रह्मचर्ययज्ञ! (यज्ञम्) यज्ञनामक यष्टव्य-परमेश्वर की शरण में (गच्छ) तू जा, (यज्ञपतिम्) इस यज्ञ के पति परमेश्वर की शरण में (गच्छ) तू जा। (स्वाम्) अपनी (योनिम्) योनि अर्थात् उत्पादिका पारमेश्वरी-माता की शरण में (गच्छ) जा, (स्वाहा) एतन्निमित्त हम प्रतिदिन के यज्ञ में आहुति देते हैं।

[ब्रह्मचर्याश्रम में जो ब्रह्मचर्य किया जाता है, उसे यज्ञ जानकर, उसे परमेश्वरार्पित करते हुए उसका संचालन करना चाहिए। "यज्ञ" परमेश्वर का नाम है। यथा "**तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः**" (यजुः० ३१.९) में, "सहस्रशीर्ष" (यजुः० ३१.१) पुरुष को "यज्ञं पुरुषम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिपदा प्राजापत्या बृहती** ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः। सुवीर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ—(यज्ञपते) हे ब्रह्मचर्ययज्ञ के पति! अर्थात् रक्षक! (एषः यज्ञः) यह यज्ञ (सहसूक्तवाकः) सूक्तों के कथन के समेत, (ते) तेरे लिए समर्पित है। (सुवीर्यः) जिस में कि वीर्य का उत्तम पालन किया जाता है, (स्वाहा) यह तेरे प्रति अर्पित हो।

[सहसूक्तवाकः=ब्रह्मचर्य-यज्ञ में वीर्य का पालन होता है, और ब्रह्मचारी वैदिक सूक्तों का उच्चारण करते हुए वेदों का अध्ययन करते हैं]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिपदा साम्नी भुरिग् जगती** ॥

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥

अर्थ—(हुतेभ्यः) हुत देवों के लिए (वषट्) अन्नाहुतियाँ हों। (अहुतेभ्यः) जिन्हें अन्नाहुतियाँ नहीं हुईं, उन्हें भी (वषट्) अन्नाहुतियाँ हों। (गातुविदः) निज गन्तव्यस्थानों के जानने वाले (देवाः) हे उभयविध दिव्यजनो! (गातुम्) निज गन्तव्यस्थान को (वित्त्वा) जानकर (गातुम्) निज गन्तव्यस्थान पर (इत) चले जाओ [विश्राम के लिये]।

[वषट्=वह+सत्=अन्नाहुतियों का वहन अर्थात् प्रापण हो। **वह प्रापणे** (भ्वादिः)+सत् (भवतु)। सूक्त के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम के स्थापननिमित्त किये गये यज्ञ में दो प्रकार के देव आमन्त्रित हैं, एक वे जोकि वसुकोटि के विद्वान् हैं, जिन्हें कि गुरुरूप में नियुक्त किया है, और नियुक्ति में जिनका सत्कार भोज्यों और पेयों द्वारा हो चुका है (मन्त्र ३) दूसरे देव हैं प्रविष्ट ब्रह्मचारियों के माता-पिता तथा बन्धुबान्धव, और अन्य अभ्यागत अतिथि। इन सब का अन्न द्वारा सत्कार अभी नहीं हुआ, ये अहुत देव हैं और नियुक्तवसु हुतदेव हैं। इन सब के सहभोज का वर्णन "वषट्"[१] शब्दों द्वारा हुआ है। आश्रम में इन द्विविध देवों के निवास के लिए पृथक्-पृथक् स्थान निश्चित किये हुए हैं, जिन्हें कि "गातु" कहा है, ये हैं गन्तव्य स्थान। यज्ञ की कुछ विधि अभी शेष है जिसे कि मन्त्र (८) द्वारा पूरा करना है। यह विधि कालान्तर में की जायेगी, उससे पूर्व देवों को निज गन्तव्य स्थानों में विश्राम के लिए कहा है। वित्त्वा=विदित्वा]।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती** ॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ—(मनसस्पते) ज्ञान और अवबोधन के पति हे प्रधानाचार्य! (दिवि) ज्ञान-अवबोधन द्वारा द्योतमान ब्रह्मचर्याश्रम में, (इमम्) इस किये गये (यज्ञम्) यज्ञ को (नः) हमारे (देवेषु) वसु नामक गुरुदेवों [और ब्रह्मचारियों में] (धाम्) स्थापित कर, [कि वे (स्वाहा) स्वाहा द्वारा, इस यज्ञ को प्रतिदिन किया करें], और (दिवि स्वाहा, पृथिव्यां स्वाहा, अन्तरिक्षे स्वाहा, वाते स्वाहा) इन शब्दों पूर्वक प्रतिदिन किया करें। [प्रधानाचार्य का उत्तर है कि] मैंने देवों आदि में इस यज्ञ की स्थापना कर दी है।

---

१. वषट् वौषट् का रूपान्तर है। वौषट्=वह+सत्। वह के हकार को "ऊठ्" और वृद्धि होकर वौषट् पद सम्पन्न हुआ है। तदनुसार वषट् का अर्थ किया है "वह+सत्" रूप में।

[मन्त्र में प्रधानमन्त्री ने प्रधानाचार्य को यज्ञस्थापन का निर्देश किया है, और प्रधानाचार्य ने "धाम्" द्वारा उत्तर दिया है। "मनसस्पते" में मनस् का अर्थ "मनसा" के सदृश है (मन्त्र २)। मन्त्र उक्ति-प्रत्युक्तिरूप है। भावना क्लिष्ट है। अतः यथाप्रतीत अर्थ किया गया है। अर्थ की दृष्टि से [ ] इन कोष्ठों में उचित पदों का निवेश आवश्यक प्रतीत हुआ है]।

सूक्त ९८

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा॥ १॥

अर्थ—(बर्हिः) अन्तरिक्ष (हविषा, घृतेन) यज्ञिय-हविः और घृताहुतियों द्वारा (सम् अक्तम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है, (इन्द्रेण वसुना) अन्तरिक्ष में बसी विद्युत् द्वारा (सम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है, (मरुद्भिः) मानसून वायुओं द्वारा (सम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है। (देवैः) प्रकाशमान् (विश्वदेवेभिः) सूर्यरश्मियों द्वारा (सम् अक्तम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है, (हविः) हवि (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को (गच्छतु) पहुंचे, (तदर्थ स्वाहापूर्वक हवि का त्याग हो)।

[**बर्हिः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३)। मरुद्भिः=मानसून वायुएँ, यथा "**मारुताः पर्जन्यघोषिणः**" (अथर्व० ४.१५.४; तथा ४.१५.१-१६)। विश्वदेवेभिः=**एते वै रश्मयो विश्वे देवाः** (श०ब्रा० १२.४.४.६)। अक्तम्=**अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु** (रुधादिः)। मन्त्र में वर्षा ऋतु का वर्णन है, और अन्तरिक्ष को विद्युत् और मेघों द्वारा कान्तिसम्पन्न कहा है। साथ ही वर्षाकालीन यज्ञ का कथन कर उसे परमेश्वरार्पित किया है]।

सूक्त ९९

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वेदिः**॥ छन्दः—**भुरिक् त्रिष्टुप्**॥

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम्।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके॥ १॥

अर्थ—(वेदिम्) यज्ञवेदि को (परि) सब ओर (स्तृणीहि) आच्छादित कर, (परि धेहि) और उसे परिधि द्वारा घेर, (अमुया) उस वेदि के समीप (शयानाम्) शयन की हुई (जामिम्) यजमान-पत्नी को (मा मोषीः) कष्ट न पहुँचा। (होतृषदनम्)=होता के बैठने का आसन (हरितम्) मनोहारी तथा (हिरण्ययम्) हिरण्यमय हो। (यजमानस्य) यजमान के (लोके) घर में (एते निष्काः) ये निष्क [पर्याप्त] हैं।

[यज्ञारम्भ करने से पूर्व अभ्यागतों के बैठने के लिए वेदि पर आसन बिछा देने चाहिएँ, और यज्ञवेदि को परिधियों द्वारा घेर देना चाहिए, ताकि कोई पशु यज्ञवेदि में प्रवेश न पा सके। यदि किसी व्रत को धारण कर, यजमान की पत्नी, यज्ञ की पूर्वरात्री में वदि के समीप आकर शयन कर रही हो तो उसके शयन में किसी प्रकार भी बाधा या विघ्न न होना चाहिए। यजमान धनवान् है अतः उसके होता का आसन, उसके सत्कारार्थ, सुवर्णमय होना चाहिय। निष्काः="निष्कः A golden coin of defferent values" (आप्टे)। निष्कः=निः (निश्चित परिमाण वाला)+कः (क्रय-विक्रय का साधन)। जिसे मुद्रा और सिक्का कहते हैं, और जिसे राज्य द्वारा निर्मित किया जाता है। निष्क का अर्थ सुवर्ण-हार भी होता है।

मोषी:=इस द्वारा सोई हुई पत्नी की निद्रा के अपहरण करने को स्तेय कहा है "**मुष स्तेये**" (क्र्यादि:)। निद्रा भी एक धन है, उस का अपहरण करने वाला मानो धन का अपहरण करता है, अत: चोर है। निष्क:=सिक्का। "नि" के "न्" का लोप, शेष बचा, "इष्क"=इ+स्+क=सिक सिक्का (सुवर्णमय)]।

सूक्त १००

ऋषि:—**यम:** ॥ देवता—**दु:ष्वप्ननाशनम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

पर्यावर्ते दु:ष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्या:।

ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखा: शुच:॥ १ ॥

अर्थ—(दु:ष्वप्न्यात् पापात्) बुरे स्वप्न से पैदा हुए (पापात्) पाप से, (स्वप्न्यात्) तथा स्वप्न से पैदा हुई (अभूत्या:) अभूति से, भूमि अर्थात् सम्पद् के विनाश से (पर्यावर्ते) मैं प्रतिनिवृत्त होता हूँ, एतदर्थ (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्मप्रतिपादक मन्त्रों को (अन्तरम्)[1] व्यवधायक (कृण्वे) करता हूँ, (स्वप्नमुखा:) इस से स्वप्न द्वारा प्राप्त (शुच:) शोक-सन्ताप (परा) मुझ से पराभूत हो गये हैं।

[सोने से पूर्व शिवसंकल्प मन्त्रपाठ द्वारा, या ब्रह्म से प्रार्थना करके कि "आप की कृपा से, मुझे दु:खदायक स्वप्न न हों" सोया जाए, तो बुरे स्वप्न नहीं होते। यह अनुभूत है]।

सूक्त १०१

ऋषि:—**यम:** ॥ देवता—**दु:ष्वप्ननाशनम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते।

सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा॥ १ ॥

अर्थ—(स्वप्ने) स्वप्न में (यत्, अन्नम्, अश्नामि) जो अन्न मैं खाता हूँ, और (प्रात:, न अधिगम्यते) प्रात:काल वह नहीं अधिगत होता, (तत्) वह जो (दिवा) दिन के समय (न हि दृश्यते) नहीं दीखता। (तत् सर्वम्) वह सब (मे, शिवम्, अस्तु) मेरे लिए मङ्गलकारी हो।

[सायण ने "अन्नम्" के सम्बन्ध में कहा कि "**अन्नभोजनसदृशम्, अखाद्यभक्षणादिकम्**" अर्थात् अन्नभोजन के सदृश अखाद्यभक्षण आदि", मांस-शराब आदि। ऐसा स्वप्न अमंगलकारी है, अत: मङ्गल की प्रार्थना की गई है]।

सूक्त १०२

ऋषि:—**प्रजापति:** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**विराड् पुरस्ताद्बृहती**॥

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे।

मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन्मा मा हिंसिषुरीश्वरा:॥ १ ॥

अर्थ—(द्यावापृथिवीभ्याम्, अन्तरिक्षाय, मृत्यवे) द्युलोक और पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक के

---

१. अथवा "ब्रह्म को मैं आभ्यन्तर रक्षक करता हूँ। यथा "**ब्रह्म वर्म ममान्तरम्**" (अथर्व० १.१९.४), ब्रह्म मेरी आभ्यन्तर वर्म अर्थात् कवच है, मन का कवच है। वर्म=बुरे विचारों को निवारण करने वाला, उनसे रक्षा करने वाला, कवच।

स्वामी मृत्युनामक परमेश्वर के लिए (नमस्कृत्य) नमः करके, (ऊर्ध्वः तिष्ठन्) उठ खड़ा होकर, (मेक्षामि) मैं जो चलता हूँ [दैनिक कार्यों के करने के लिये] तब (ईश्वराः) भूलोक की अधीश्वर शक्तियाँ (मा) मेरी (मा हिंसिषुः) हिंसा न करें, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाएँ।

[मन्त्र में द्यावा आदि प्रयोग लाक्षणिक हैं। इन द्वारा इन में व्यापक और इनका अधिष्ठाता परमेश्वर अभिप्रेत है, जैसे कि "मञ्चाः क्रोशन्ति" में मञ्च द्वारा मञ्चस्थ पुरुष अभिप्रेत होते हैं। वेद और बुद्धि के अनुसार जड़ पदार्थों को नमस्कार अनुपपन्न है। पौराणिक विद्वान् भी तो द्यौः आदि जड़ पदार्थों को नमस्कार नहीं मानते, और वे इन द्यौः आदि के अधिष्ठाता चेतन देवों के प्रति ही नमस्कार मानते हैं। मृत्यवे द्वारा परमेश्वर ही अभिप्रेत है, यह परमेश्वर का नाम है। यथा "**स एव मृत्युः सोऽमृतं सो अभ्वं स रक्षः**" (अथर्व० १३.४(३).२५ में परमेश्वर को "मृत्यु" कहा है।

मेक्षामि—यह पद "**मख या मखि गतौ**" (भ्वादिः) का रूप प्रतीत होता है। अथर्ववेद के आङ्गलभाषा के अनुवादक ह्विटनी ने 'ऊर्ध्वः तिष्ठन् मेक्षामि' का अर्थ किया है "I will urinate standing arect" अर्थात् मैं सीधा खड़ा होकर मूत्र करूँगा। इस अर्थ में "मेक्षामि" पद को ह्विटनी ने "मिह सेचने" का भविष्यत्-कालिक रूप माना है। वेदानुयायी हिन्दुओं में खड़े होकर मूत्र करने की प्रथा नहीं। वर्तमान में पैण्ट-धारी लोगों में यह प्रथा अंग्रेजी प्रथा से आई है।

सायण ने निम्नलिखित अर्थ किया है "**तिष्ठान् आसीनोऽहम् ऊर्ध्वः ऊर्ध्ववत् ऊर्ध्वमुखो मैष्यामि। ऊर्ध्वलोकं मा गमिष्यामीत्यर्थः। यद्वा नमस्कारेण ऊर्ध्वो मा गमिष्यामि किं तु तिष्ठन् इह लोके चिरकालावस्थायी भवामीति शेषः**"। सायण ने मेक्षामि के स्थान में मैष्यामि पाठ माना है]।

नवम अनुवाक समाप्त॥

अनुवाक १०

सूक्त १०३

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः॥ १॥

अर्थ—(क्षत्रियः) क्षतों से त्राण करने वाला, और (वस्यः इच्छन्) श्रेष्ठ राज्य सम्पत् चाहता हुआ (कः) कौन व्यक्ति (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) निन्दा से युक्त (द्रुहः) जिघांसा से (नः) हम प्रजाजनों का (उन्नेष्यति) उद्धार करेगा। (कः) कौन (यज्ञकामः) राष्ट्र-यज्ञ की कामना वाला है, (कः उ) और कौन (पूर्तिकामः) राष्ट्र-यज्ञ की पूर्ति की कामना वाला है, (कः) कौन (देवेषु) राष्ट्र के देवों में (दीर्घम्, आयुः) दीर्घ आयु (वनुते) चाहता है।

[यदि कोई राष्ट्र, परकीय राष्ट्रपति की जिघांसा का शिकार बन जाए, तो हिंसित राष्ट्र के प्रजाजन निज उद्धार के लिए किसी क्षत्रिय द्वारा सहायता के अभिलाषी मन्त्र में प्रतीत होते हैं। "दीर्घम् आयुः" का अभिप्राय है पराजित हुए राष्ट्र को पुनः स्वतन्त्र कर, राष्ट्र के शासक-देवों में सदा कीर्तिलाभ द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से सदा जीवित रहना। (वनुते=**वनु याचने** (तनादिः)]।

सूक्त १०४

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

अर्थ—(वरुणेन) वरणीय श्रेष्ठ परमेश्वर द्वारा (अथर्वणे) अथर्वा को (दत्ताम्) दी गई, (सुदुघाम्) सुगमता से दोही जाने वाली, (नित्यवत्साम्) नित्य बछड़ी वाली, (पृश्निम्) नानावर्णों वाली (धेनुम्) दुधारू गौ को (कः) कौन (बृहस्पतिना) बृहती वेदवाणी के पति परमेश्वर के साथ (सख्यम्) सखिभाव का (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला, (यथावशम्) निजकामनानुसार (तन्वः) निज तनुओं को (कल्पयाति) सामर्थ्ययुक्त करे, या करता है।

[वरुण है सब द्वारा वरणीय श्रेष्ठ परमेश्वर। अथर्वा है अचल चित्तवृत्ति वाला परमयोगी। यथा—"**अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त[१] हिरण्यये**" (अथर्व० १०.१०.१७) अर्थात् जिस हिरण्यमय आसन पर अथर्वा आसीन हुआ है। और हिरण्यय [हिरण्यमय] आसन या कोश है, हृदय (अथर्व० १०.२.३१,३२)। इसे हिरण्ययी पुर् भी कहा है (अथर्व० १०.२.३३)। इस हृदयासन में अथर्वा योगावस्था में स्थित होता है और इस अवस्था में अथर्वा को वेदवाणी का साक्षात्कार भी वरुण की कृपा से होता है। वरुण को बृहती वाणी का पति बृहस्पति भी कहा है। वेदवाणी ज्ञान-दुग्ध प्रदान करती है, और सदा प्रदान करती है, यतः यह नित्यवत्सा है। नित्यवत्सा द्वारा वेदवाणीरूपी धेनु को सदा ज्ञान-दुग्ध प्रदात्री कहा है। यह धेनु सुगमता से दोही जा सकती है उस दोग्धा द्वारा जो इस की नित्यसेवा करता है, श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करता रहता है। जैसे कि कहा है—"**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः**" (ऋ० १०.७१.४), अर्थात् सतत स्वाध्यायी के लिए वेदवाणी अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है जैसे कि कामनावाली पत्नी पति के प्रति अपनी तनू को प्रकट कर देती है। अतः वेद धेनु सुदुघा है। वेद-धेनु नाना वर्णों वाली है, नानाविध पदार्थों का वर्णन करती है, जैसे कि चितकबरी धेनु नाना वर्णों वाली होती है। जो व्यक्ति सदा वेद-धेनु की सेवा करता, और बृहस्पति के साथ सखिभाव में रहता है वह निज कामनानुसार अपनी तीन तनूओं, देहों को सामर्थ्यसम्पन्न कर लेता है। ये तनू हैं, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर।]

सूक्त १०५

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपक्रामन्पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अर्थ—हे ब्रह्मचारी! (पौरुषेयात्) सर्वसाधारण पुरुषों के कर्मों से (अपक्रामन्) हटता हुआ, और (दैव्यम्) दिव्य (वचः) वेदवाणी का (वृणानः) वरण करता हुआ, (विश्वेभिः सखिभिः सह) सब ब्रह्मचारी सखाओं के साथ (प्रणीतीः) प्रणय अर्थात् प्रेमपूर्वक (अभ्यावर्तस्व) वर्ताव किया कर।

[प्रविष्ट-ब्रह्मचारी के उपनयन काल में उसे उपदेश दिया है, (कौशिक सूत्र १५.१६)।

१. बर्हिषि=**बर्हिः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३)। यहां अन्तरिक्ष द्वारा हृदयान्तरिक्ष अभिप्रेत है जहां अथर्वा योगासीन होता है। हृदय को कोश तथा पुर् भी कहा है।

सूक्त १०६

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जातवेदाः, वरुणश्च**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः।

ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न परमेश्वर! तथा (जातवेदः) हे प्रति-उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान परमेश्वर! (अस्मृति) विस्मृति के कारण (यत् किंचित्) जो कुछ (चकृम) हम से कर्म हो गया है, (चरणे) तथा आचार-व्यवहार में (उपारिम) जो त्रुटि हुई है, (ततः) उससे (प्रचेतः) हे प्रज्ञानी! (त्वम्) तू (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कर, (शुभे) ताकि शुभकर्मों में विद्यमान (नः) हम (सखिभ्यः) सखाओं के लिए (अमृतत्वम्, अस्तु) मोक्ष हो।

[सखिभ्यः=हम जो तेरे सखा हैं, हे परमेश्वर!। गुरुकुल शिक्षा के समाप्ति-काल में परमेश्वर से स्नातकों द्वारा प्रार्थना]।

सूक्त १०७

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**सूर्य, आपश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः।

आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्रसन्॥ १॥

अर्थ—(सूर्यस्य) सूर्य की (सप्त रश्मयः) सात रश्मियाँ (दिवः) द्युलोक से, (अवतारयन्ति) नीचे की ओर उतारती हैं, [जल] (आपः) जल जो कि (समुद्रियाः धाराः) अन्तरिक्ष से धारा रूप में [बरसते हैं], (ताः) वे जल (ते) तेरी (शल्यम्) रोगजन्य पीड़ा को (असिस्रसन्) दूर करें।

[सूर्य की शुभ्र-रश्मि सात रश्मियों का समूह है। यह शुभ्ररश्मि सात रश्मियों में विभक्त हो जाती है। वर्षाऋतु में इन्द्रधनुष के रूप में ये सात रश्मियाँ प्रकट होती हैं। उस समय अन्तरिक्ष से धारारूप में प्राप्त वर्षा जल रोगजन्य पीड़ा को दूर करता है। **समुद्रः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १.३) तथा (निरुक्त २.१०)। असिस्रसन्=**स्रंसु अवस्रंसने** (भ्वादिः); लुङि चङ्, सन्वद्भावात् "**सन्यतः**" इति (अष्टा० ७.४.७९) द्वारा अभ्यास को इत्त्व (सायण)]।

सूक्त १०८

ऋषिः—**भृगुः** देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्**॥

यो नस्तायद्दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने।

प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान्मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम्॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे राष्ट्र या साम्राज्य के अग्रणी प्रधानमन्त्री! (यः) जो (स्तायत्)[1] छिप कर (नः) हमारी (दिप्सति) दम्भपूर्वक हिंसा करना चाहता है, (यः) और जो (नः) हमारी (आविः) प्रकटरूप में [दम्भपूर्वक हिंसा करना चाहता है], वह (स्वः नः) हमारा अपना हो (विद्वान्) जो कि हमारे भेद

१. पदपाठ में "तायत्" पाठ है। अथर्व० (४.१६.१) में भी "तायत्" पाठ है; तथा "तायवः" (अथर्व० १३.२.१७; २०.४७.१४) में भी सकार रहित पाठ है।

को जानता हो, (वा) या (अरणः) अराति हो, पराया हो, (तान्) उन्हें (दत्वती[1]) दान्तवाली, (अरणी[2]) काष्ठनिर्मित सांपाकृतिक सांपनी, (प्रतीची) उनके प्रति गमन करने वाली, (एतु) उन्हें प्राप्त हो। (अग्ने) हे अग्रणी! (मा, एषाम्, वास्तु) न तो इनके वसन का घर (भूत्) हो, (मा उ) और न इनकी (अपत्यम्) सन्तान रहे।

[काष्ठनिर्मित सांपाकृतिक-सांपनी अस्त्रविशेष है, जो शत्रु को काट कर, उनमें विष का संचार कर देता है। ऐसे अन्य अस्त्रों के लिए देखो (अथर्व० ८.८.१-२०)। अरणः=अ+**रण (शब्दे)**, जिसके साथ हमारा शाब्दिक व्यवहार नहीं]।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो नः सुप्ताञ्जाग्रतो वाभिदासात्तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान्प्रतीचो निर्दह जातवेदः॥ २॥

अर्थ—(जातवेदः) हे प्रज्ञानी प्रधानमन्त्री! (यः) जो शत्रु (नः) हम (सुप्तान्) सोए हुओं, (जाग्रतः वा) या जागते हुओं, (तिष्ठतः) बैठे हुओं, (वा) या (चरतः) चलते हुओं को (अभिदासात्) उपक्षीण करे, विनष्ट करे, (तान्) उन (प्रतीचः) वापिस लौटते हुओं को (जातवेदः) हे प्रज्ञानी प्रधानमन्त्री! (सयुजा) सहयोगी (वैश्वानरेण) प्राकृतिक अर्थात् भौमाग्नि (सजोषाः) के साथ प्रीति रखने वाला तू (निर्दह) निःशेषेण दग्ध कर।

[वैश्वानरेण=भौमाग्निना। यथा "**अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः। विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी, वैश्वानरोऽयं यत् ताभ्यां जायते**" (निरुक्त ७.६.२३)]।

सूक्त १०९

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराड् पुरस्ताद्बृहती** ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी। घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे॥ १॥

अर्थ—(उग्राय) न्याय करने में कठोर, (बभ्रवे) भरण-पोषण करने वाले परमेश्वर के लिए (इदम्, नमः) यह हमारा नमस्कार हो, (यः) जो (अक्षेषु) [सत्सु] इन्द्रियों के होते हुए (तनूवशी) शरीरों को वश में [करने की शक्ति प्रदान] करता है। (कलिम्) संघर्षकाल में (घृतेन) घृतादि पदार्थों के साथ [प्रजाजन को] (शिक्षामि) मैं शिक्षा प्रदान करता हूँ, (सः) वह परमेश्वर (ईदृशे) ऐसे कर्म में (नः) हमें (मृडाति) सुखी करे।

[अक्षेषु=अक्षम् (an organ of sense) (आप्टे)=इन्द्रियां। शरीर में इन्द्रियाँ तो अश्व हैं, जो कि शरीर-रथ को विषयों की ओर ले जाती हैं, तब भी परमेश्वर-आराधना द्वारा परमेश्वर शक्ति प्रदान करता है जिस से हम तनुओं को वश में करते हैं, इन्हें विषयों में नहीं जाने देते। शिक्षामि=यह प्रधानमन्त्री की

१,२. अरणी शमीवृक्ष का काष्ठ है, जिसकी रगड़ द्वारा यज्ञियाग्नि पैदा की जाती है। यह काष्ठ आग्नेय है। इस काष्ठ द्वारा "दत्वती अरणी" नामक कृत्रिम सांपनी निर्मित की जाती है, जोकि युद्ध सम्बन्धी अस्त्र विशेष है। अथर्व० (४.३.२; १९.४७.७) में "दत्वती-रज्जु" का भी वर्णन है। यह काष्ठनिर्मित नहीं होती। अपि तु रज्जुनिर्मित होती है, और इसका मुखभाग दान्तवाले सांप के सदृश होता है। यह रज्जु आग्नेय-विस्फोटकों द्वारा निर्मित प्रतीत होती है, जैसी कि "**पूतिरज्जुरुपध्मानी**" (अथर्व० ८.८.२), अर्थात् अग्निसहित शब्द करने वाली, दुर्गन्ध फैला देने वाली रस्सी।

उक्ति है जोकि राष्ट्रकर्मों में अग्रणी है (मन्त्र २)। संघर्षकाल में शिक्षा की अत्यावश्यकता है, ताकि संघर्षकाल में प्रजाजन संघर्ष के प्रभाव से बचे रहें। संघर्षकाल में प्रजा स्वार्थप्रधान हो जाती है, अतः प्रधानमन्त्री दुष्प्राप्य घृतादि पदार्थों द्वारा भी प्रजा की सेवा करता है]।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च।

यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या॥ २॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) अन्तरिक्ष में सरण करने वाली, प्राकृतिक शक्तियों के लिए (घृतम्) घृताहुतियों द्वारा घृत (वह) प्राप्त करा, और (अक्षेभ्यः) अक्षक्रीड़ा करने वालों के लिए (पांसून्) रजःकण अर्थात् रेता, (सिकताः) बजरी (च) और (अपः) कारागार में कर्म करना, प्राप्त करा। (देवाः) और राष्ट्र के [मन्त्र ६] दिव्यगुणी व्यक्ति (यथाभागम्) निज भागानुसार (हव्यदातिम्) प्रदत्त हवि का (जुषाणाः) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए (उभायानि हव्या=हव्यानि) दोनों प्रकार की हवियों का [आस्वादन करते हुए] (मदन्ति) तृप्त रहें।

[अप्सराभ्यः=**ओषधयोऽप्सरसः। मरीचयोऽप्सरसः। आपोऽप्सरसः**। (यजुः० १८.३८, ३९, ४१, यथाक्रम)। घृताहुतियों द्वारा प्राकृतिक शक्तियाँ तथा प्राणी पुष्ट हो कर दीर्घायु होते हैं। यथा "**आयुर्वै घृतम्**"। ऋग्वेद में कहा है कि "**अक्षैर्मा दिव्यः**" (ऋ० १०.३४.१३), तू अक्षों द्वारा द्यूतक्रीडा न कर। वैदिक आदेशों में परस्पर विरोध नहीं होता। अतः व्याख्येय मन्त्र में अक्षक्रीडा करने वालों के लिए दण्ड विधान किया है कि उन्हें कारागार में बन्द कर, उन्हें पत्थर कूट कर [राष्ट्र के लिये] रेता, बजरी तय्यार करने में लगाना चाहिए। **अपः कर्मनाम** (निघं० २.१)। मन्त्र में "अपः" का अर्थ है रेता, बजरी तय्यार करना रूपी कर्म। सायणाचार्य ने यह भावना प्रकट की है कि "जिससे विरोधी कितवों का पराजय हो सके उनके मुखों में पांसु आदि फैंक"। राष्ट्र के देवों को हव्य अर्थात् सात्त्विक पदार्थ खाने-पीने के लिए देने चाहिएँ। यथा व्रीहि-यव, तथा गोदुग्ध आदि]।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।

ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु॥ ३॥

अर्थ—(हविर्धानम्) हवियों के निधान भूलोक (च) और (सूर्यम्) सूर्य के (अन्तरा) अन्तराल में (अप्सरसः) अप्सराएँ [मन्त्र २] (सधमादम्, मदन्ति) पारस्परिक मोद में प्रमुदित होती हैं। (ताः) वे अप्सराएँ (मे) मुझ [अग्नि (मन्त्र २)] अग्रणी के (हस्तौ) दोनों हाथों को (घृतेन) घृत आदि द्वारा (संसृजन्तु) संयुक्त करें, और (कितवम्) कितव जोकि (मे) मुझ अग्रणी का (सपत्नम्) शत्रु है उसे (रन्धयन्तु) हिंसित करें, या मेरे वश में करें।

[अप्सराएँ हैं तो प्राकृतिक शक्तियां, जिन्हें कि घृताहुतियों द्वारा रोगरहित कर पुष्ट किया है (मन्त्र २)। ये अन्तरिक्ष में विचरती हैं, अर्थात् भूलोक और सूर्य के अन्तराल में। ये पुष्ट होकर, वर्षाप्रदान द्वारा, मुझ प्रधानमन्त्री के दोनों हाथों को प्रभूत घृत आदि पदार्थों से भर देती हैं। मानो राष्ट्र को भर देती हैं। इससे कितवों को मैं अपने वश में कर लेता हूँ, यह वशीकरण उनके कितवपन की हिंसा भी कर देता है। राष्ट्र

में प्रभूत सामग्री के कारण द्यूत द्वारा अन्य धन की प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रहती, द्यूत में तो लाभ और हानि दोनों की सम्भावना रहती है। रन्धयन्तु=रध **हिंसासंराध्योः** (दिवादिः) तथा **रध्यतिर्वशगमने** (निरुक्त १०.४.४०)]।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान्प्रतिदीव्यति॥ ४॥

अर्थ—(प्रतिदीव्ने) प्रतिद्वन्द्वी-विजिगीषु-सैन्यदल के पराजयार्थ, (आदिनवम्) मैंने विजिगीषु-सैन्यदल प्रेषित किया है, [हे अग्नि ! (मन्त्र २) तू] (अस्मान्) हमें (घृतेन) घृतादि द्वारा (अभिक्षर) सींच। (यः) जो शत्रु (अस्मान्) हमारे प्रति (प्रतिदीव्यति) प्रतिद्वन्द्विता में विजिगीषु सैन्यदल प्रेषित करता है उसका (जहि) तू हनन कर (अशन्या) विद्युत् द्वारा (वृक्षम्, इव) जैसे वृक्ष का हनन होता है।

[आदिनवम्=आङ्पूर्वात् दीव्यतेः छन्दसि लङि, व्यत्ययेन श्नुः। **लोपो व्योर्वलि** (अष्टा० ६.१.६६) इति वकारलोपः। अमादेशो गुणश्च (सायण)। दिव्=विजिगीषा (दिवादिः)। प्रतिदीव्ने=तुमुन्नर्थे चतुर्थी। तम् पराजेतुम्। निज सेनापति का कथन अग्नि=अग्रणी के प्रति है]।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम॥ ५॥

अर्थ—(यः) जिस [अग्नि=अग्रणी] ने (नः) हमारे (द्युवे) व्यवहार-कर्म के लिए (इदम्) इस (धनम्) मुद्रा-धन को (चकार) निश्चित या निर्मित किया, (यः) तथा जिसने (अक्षाणाम्) द्यूतकर्म के पाशों का, या उन द्वारा द्यूतकर्म करने वालों को (ग्लहनम्) पकड़ा (च) और (शेषणम्) उनका विनाश [चकार] किया, (सः) वह (नः देवः) हमारा देव [अग्नि=अग्रणी] (इदम्) इस (हविः) सात्विक-अन्न का (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक सेवन करे, और हम प्रजाएँ (गन्धर्वेभिः) पृथिवी के धारण करने वाले भूपतियों के साथ मिलकर (सधमादम्, मदेम) पारस्परिक आनन्द में आनन्दित हों।

[द्युवे=दिव् धातु, व्यवहारार्थक का चतुर्थ्येकवचन में रूप। **''दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार''** आदि (दिवादिः); दिव्, वकार को ऊठ् [**च्छ्वोः शूडनुनासिके च**; अष्टा० ६.४.१९] यण् (सायण)+उवङ्+ चतुर्थ्येकवचन ''ङे''। अक्षाणां ग्लहनम्=द्यूत खेलने वाले के पाशों को ले लेना और उन्हें विनष्ट कर देना। ग्लह=**गृहू ग्रहणे, ग्लह च** (भ्वादिः)। शेषणम्=**शिष हिंसार्थः** (भ्वादिः), अथवा अक्षाणाम्=अक्षैः दीव्यतां कितवानाम्, तेषां ग्लहणं शेषणम् च। गन्धर्वेभिः=**गौः पृथिवीनाम** (निघं० १.१)+**धृञ् धारणे**]।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

अर्थ—(अक्षाः) न्यायालय के अध्यक्ष, (उग्रंपश्याः) कठोरतापूर्वक [कितवों पर] दृष्टि रखते हैं, और इस प्रकार (हि) निश्चय से (राष्ट्रभृतः) राष्ट्र का भरण-पोषण करते हैं, (वः) हे अध्यक्षो! तुम्हारा

(नामधेयम्) नाम है (संवसव:[१] इति) सम्यक् वसाने वाले, प्रजाओं को राष्ट्र में सम्यक्-वसाने वाले। (इन्दव:) हे चन्द्रसम शीतल हृदयों वाले अध्यक्षो! (तेभ्य: व:) उन प्रसिद्ध तुम्हारे लिए (हविषा) सात्विक अन्न द्वारा (विधेम) हम परिचर्या करें, सेवा करें, (वयम्) हम [आपकी अध्यक्षता में] (रयीणाम्) सम्पत्तियों के (पतय:) स्वामी (स्याम) हों।

[अक्ष:=Legal procedure, a law-suit (आप्टे), अर्थात् न्याय सम्बन्धी प्रक्रिया; तथा न्यायालय में किया अभियोग, मुकदमा। न्यायाध्यक्ष, राष्ट्रकर्म विरोधियों पर उग्रंपश्या: होकर, वस्तुत: राष्ट्र का भरणपोषण करते हैं। वे उग्रंपश्या: होते हुए भी ''इन्दव:'' चन्द्रसम शीतल हृदयों वाले होते हैं। राष्ट्र के भरण-पोषण से राष्ट्र में सम्पत्तियों की वृद्धि होती है। ऐसे अध्यक्षों का सत्कार करना चाहिए]

ऋषि:—**बादरायणि:** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

देवान्यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम। अक्षान्यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे॥ ७॥

अर्थ—(नाथित:) उपतप्त-संतप्त हुआ (यत्) जो (देवान् हुवे) मैं देवों का आह्वान करता हूँ, उनकी शरण में जाता हूँ, (यत्) और जो (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (ऊषिम) वास हमने किया है, (यत्) जो (बभ्रून्) भरण-पोषण करने (अक्षान्[२]) न्यायाध्यक्षों को (आलभे) मैं प्राप्त करता हूँ, (ईदृशे) इस प्रकार के कर्म-कलाप में, (ते) वे सब, (न:) हमें (मृडन्तु) सुखी करें।

[ब्रह्मचर्यवास और द्यूतकर्म परस्पर विरोधी हैं। ब्रह्मचर्यवास में वीर्यरक्षा, वेदाध्ययन नियमित जीवन के होते व्यक्ति द्यूत आदि कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अत: यह समग्र सूक्त द्यूतकर्म का विधायक नहीं, अपितु निषेधक है। देवों के आह्वान और ब्रह्मचर्यवास इन दोनों का, द्यूतक्रीडा के अक्षों की प्राप्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, अक्षों अर्थात् न्यायालयाध्यक्षों के साथ सम्बन्ध तो प्रतीत होता है कि उन द्वारा निर्दिष्ट मार्गों पर चलना, प्रतिकूल नहीं]।

सूक्त ११०

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा॥ १॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्री! तू (च) और (इन्द्र:) सम्राट् (दाशुषे) ''कर'' देने वाले प्रजाजन के लिए (अप्रति) किसी प्रतिपक्ष के विना, (वृत्राणि) राष्ट्र का आवरण करने वालों, घेरा डालने वालों का (हत:) हनन करते हो। (उभा=उभौ) दोनों (हि) ही (वृत्रहन्तमा=वृत्रहन्तमौ) मिलकर वृत्रों का अतिशय हनन करते हैं।

ऋषि:—**भृगु:** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेहम्॥ २॥

अर्थ—(याभ्याम्) जिन दो की सहायता द्वारा (एव) ही [प्रजाजनों ने] (अग्रे स्व:) प्रथम सुख पर (अजयन्) विजय पाई। (यौ) जो दोनों (विश्वा भुवनानि) साम्राज्य के सब प्रान्तों पर (आतस्थतु:)

१. अथवा तुम मिलकर राष्ट्र के वसुरूप हो, रत्नरूप हो। संवसव:=संभूय वसव:।
२. अक्ष:=(Legal procedure) अक्षदर्शक:=(a judge) (आप्टे)।

पूर्णतया अधिष्ठित हुए हैं। (प्रचर्षणी) जो श्रेष्ठ प्रजावाले हैं या साम्राज्य पर दृष्टि रखते हैं, (वृषणा) सुखों की वर्षा करते हैं, (वज्रबाहू) हाथों में वज्र अर्थात् आयुध रखते, या वज्रवत् कठोर अर्थात् मजबूत बाहुओं वाले हैं; (वृत्रहणा) वृत्रघाती (अग्निम्, इन्द्रम्) सर्वाग्रणी को और सम्राट् को (अहम्) मैं (हुवे) सहायतार्थ बुलाता हूँ।

[अहम्=बृहस्पतिः (मन्त्र ३)। प्रधानमन्त्री और सम्राट् का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है प्रजा का सुखसम्पादन, और साम्राज्य के वृत्रों का हनन]।

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उप॑ त्वा दे॒वो अ॑ग्रभीच्चम॒सेन॒ बृह॒स्पतिः॑।

इन्द्र॑ गी॒र्भिर्न॒ आ वि॑श॒ यज॑मानाय सु॒न्व॒ते॥ ३॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (बृहस्पतिः देवः) बृहती सेना के पति देव ने (उप) तेरे समीप होकर (चमसेन) सोमपान द्वारा (त्वा अग्रभीत्) तेरा ग्रहण किया है, सत्कार किया है, तू (सुन्वते) सोमयाग आदि करने वाले (यजमानाय) यज्ञशील प्रजाजन की रक्षा के लिए, (नः) हमारी (गीर्भिः) स्तुतिवाणियों द्वारा स्तूयमान हुआ, (आविश) सिंहासन में प्रवेश कर।

[बृहस्पति है साम्राज्य की बड़ी सेना का अधिपति। इसका सेना के साथ सम्बन्ध है। यथा—"**बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः**" (यजुः० १७.४०)। इन्द्र=सम्राट् (यजुः० ८.३७)। प्रजाएँ तो सम्राट् का चुनाव करती हैं। परन्तु सम्राट् के चुनाव में साम्राज्य की सेना का अधिकार होना चाहिये। सेना द्वारा सम्राट् स्वीकृत हुआ है, इसे "उप अग्रभीत्" द्वारा सूचित किया है। इस स्वीकृति में बृहस्पति, सम्राट् को, पेयरूप में, सोमपात्र द्वारा, सोमरस भेंट करता है]।

सूक्त १११

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः**॥ छन्दः—**पराबृहती त्रिष्टुप्**॥

इन्द्र॑स्य कु॒क्षिर॑सि सोम॒धान॑ आ॒त्मा दे॒वाना॑मु॒त मानु॑षाणाम्।

इ॒ह प्र॒जा ज॑नय॒ यास्त॑ आ॒सु या अ॒न्यत्रे॒ह तास्ते॑ रमन्ताम्॥ १॥

अर्थ—हे परमेश्वर! (इन्द्रस्य) सूर्य का (कुक्षिः) गर्भाशयरूप (असि) तू है, (सोमधानः) चन्द्रमा का तू निधान है। (देवानाम्) देवकोटि के (उत) तथा (मानुषाणाम्) साधारणकोटि के मनुष्यों की तू (आत्मा) आत्मा है, उन में प्रेरणाएँ देता है। (इह) इस भूलोक में (प्रजाः) प्रकृष्ट सन्तानें (जनय) पैदा कर, अर्थात् (आसु) इन स्त्रियों में (याः) जो कि (ते) तेरी हैं, तेरी उपासिका हैं, (ते) तेरी प्रजाएँ (याः) जो (अन्यत्र) अन्य लोकान्तरों में हैं, और (इह) इस भूलोक में हैं, (ताः) वे सब (रमन्ताम्) तुझ में रमण करें।

[इन्द्रस्य कुक्षिः=यथा "**यत्राधि सूरऽउदितो विभाति**" (यजुः० ३२.७), अर्थात् जिस परमेश्वर में सूर्य उदित हुआ दीप्त होता है। "यत्राधि" द्वारा परमेश्वर को सूर्य का आश्रय माना है, जहां से कि सूर्य उदित होता है, पैदा होता है। व्याख्येय मन्त्र का देवता है "वृषभ" अर्थात् वर्षाकारी मेघवत्, सुखवर्षी परमेश्वर]।

सूक्त ११२

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।

आपः सप्त सुस्त्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (शुम्भनी) शोभा युक्त हैं, (अन्ति सुम्ने) अति सुखदायी हैं, अथवा अन्तिम अर्थात् उन के समीप पहुँचने पर वे सुखदायी होते हैं, (महिव्रते) वे महाव्रती हैं। (सप्त) तथा ७ प्राण, (देवीः आपः) दिव्य जलों की तरह, (सुस्त्रुवुः) स्रवित हुए हैं। (ताः) उन जलों के सदृश ७ स्राव (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

[मन्त्र में प्रातःकाल के त्वरित-भ्रमण का कथन हुआ है। प्रातःकाल में उषा के प्रकाश में द्यौ और पृथिवी शोभायमान होते हैं। ये दोनों अपने-अपने महाव्रतों में सदा रहते हैं, व्रतभंग नहीं करते। ७ प्राण हैं, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, तथा पायु का नियमपूर्वक स्राव, और उपस्थ द्वारा मूत्र का स्राव। जलों का स्रवण होना, उनका स्वाभाविक धर्म है। "अहंस्" का अभिप्राय है स्रावों के ठीक प्रकार से स्रवित न होने से उत्पन्न कष्ट।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत।

अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ २॥

अर्थ—[आपः (मन्त्र १), जल] (शपथ्यात्) शपथ लेने के दोष से, (उत) और (अथो) तत्पश्चात् (वरुण्यात्) वरुणसम्बन्धी जलोदर रोग से, (अथो) तत्पश्चात् (यमस्य) मृत्युसम्बन्धी (पड्वीशात्) पादबन्धन से, बेड़ी से तथा (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) इन्द्रिय-दोषों से (मा) मुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, छुड़ा दें]।

[मन्त्र में जलचिकित्सा का वर्णन है। शपथें सदा झूठी होती हैं, जो कि मानसिक विकृति के कारण होती हैं, जलचिकित्सा से यह मानसिक विकृति ठीक हो जाती है। वरुण है अपामधिपति! यथा "**वरुणोऽपामधिपतिः**" (अथर्व० ५.२४.४)। जलोदर रोग जलसम्बन्धी है, अतः यह वरुण्य है। देव=इन्द्रियां। यथा "**देवा द्योतनात्मकाः चक्षुरादीन्द्रियाणि**" (महीधर, यजुः० ४०.४)। इन्द्रियों के किल्बिष[1] अर्थात् दोष या रोग भी जलचिकित्सा द्वारा शान्त हो जाते हैं। जलचिकित्सा द्वारा शारीरिक मलों के नाश से मनुष्य पूर्ण आयु भोगता है, अतः वह मृत्यु सम्बन्धी पादबन्धन से रहित हो जाता है। पड्वीशः="पदि विशतीति"]।

सूक्त ११३

ऋषिः—**भार्गवः**॥ देवता—**तृष्टिका**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके। यथा कृतद्विष्टासोमुष्मै शेप्यावते॥ १॥

---

१. किल्विष=किल (निश्चित)+विष (दोष और रोग, जो कि इन्द्रियों के लिए विषरूप हैं)। उणादिकोष में किल्बिष को "किल्बिष" मान कर "किल्+बुक्+रिषच्" द्वारा व्युत्पन्न माना है (१.५०), और निरुक्त में किल्बिषम् की निरुक्ति "किल्भिदम्" कही है (११.३.२३); किल्बिषम्=किल् बि (भि=भी)+**षणु दाने**; भयप्रदम्।

अर्थ—(तृष्टिके) हे अल्पतृष्णा! (तृष्टवन्दने) हे तृष्णावालों द्वारा स्तुति प्राप्त हुई! (तृष्टिके) हे अल्पतृष्णा! तू (अमुष्मै) उस (शेप्यावते) वीर्यरक्षक के लिए (यथा) जिस किसी प्रकार से भी (कृतद्विष्टा) द्विष्ट हुई (असः) हो जा, और (अमूम्) उस शेष बची तृष्णा का भी (उत् छिन्धि) उच्छेद कर।

[तृष्टिके=तृष्+भावे क्तः+कन्, टाप् (अल्पे, अष्टा० ५.३.८५)। तृष्ट वन्दने=तृष्ट, तृष्णावालों (कर्तरि क्तः) द्वारा+वन्दने=अभिवन्दिते स्तुत्ये। तू, अमूम्=उस अवशिष्ट तृष्णा का "उच्छिन्धि" उच्छेद कर।

व्यक्ति है शेप्यावत्=शेपः पुरुषेन्द्रिय, शेप्य=तद्भव वीर्य+अव् रक्षायाम्, शतृ प्रत्यय। व्यक्ति जो विषयभोग से पराङ्मुख हो गया है, और योगमार्ग की ओर जाना चाहता है वह अल्प विषयतृष्णा को भी योगमार्ग में बाधिका मानता है, और वीर्य की रक्षा करता है। वीर्य, योग में साधक है। शेप्यावते=शेप्य+अवते। अन्यथा "शेप्या" में "आकार" व्यर्थ होगा। "तृष्टिके" का दो बार प्रयोग उसकी निश्चित अल्पता दर्शाने के लिए है। "तृष्टवन्दने=तृष्टै वन्दनं यस्याः, तत्सम्बुद्धौ"]।

ऋषिः—**भार्गवः**॥ देवता—**तृष्टिका**॥ छन्दः—**शङ्कुमती चतुष्पदा भुरिगुष्णिक्**॥

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि। परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव॥ २॥

अर्थ—(तृष्टा असि) तू तृष्णा है, (तृष्टिका) चाहे अल्पतृष्णा है, (विषा) तथापि विषरूपा है, (विषातकी) विषरूपा हुई जीवन को कष्टमय करने वाली (असि) तू है। (यथा) जिस किसी प्रकार से भी (परिवृक्ता) तू पूर्णतया त्यक्त[१] कर दी गई है, (इव) जैसे (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पुरुष द्वारा (वशा) कामना परित्यक्त कर दी जाती है।

[विषातकी=विषरूपा तृष्णा+**तकि कृच्छ्रजीवने** (भ्वादिः)। वशा=**वश कान्तौ,** कान्तिः कामना, विषयभोगेच्छा, कामात्कता। यथा "**कामात्मता न प्रशस्ता**" (मनु)।

सूक्त ११४

ऋषिः—**भार्गवः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद्ददे।
आ ते मुखस्य सङ्काशात्सर्वं ते वर्च आ ददे॥ १॥

अर्थ—[हे शत्रु!] (ते) तेरे (वक्षणाभ्यः) वक्षःस्थल के अवयवों से [वर्चः] दीप्ति का (आ ददे) मैं अपहरण करता हूँ, (ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से [दीप्ति का] (अहम्) मैं (आ ददे) अपहरण करता हूँ, (ते) तेरी (मुखस्य) मुख की (संकाशात्) दीप्ति से [तेज का] (आ) मैं अपहरण करता हूँ, (ते) तेरी (सर्वम्) सब (वर्चः) दीप्ति का (आददे) मैं अपहरण करता हूँ।

[शत्रु जब परास्त हो गया तब मानो उसकी छाती का बल, हृदय की भावनाएँ, तथा मुख का तेज

---

१. तृष्णा है विषय-योग की पिपासा। तृष्णा के उद्भूत होने पर संयम द्वारा उसके विषय के उपभोग से विरत रहते हुए, शनैः-शनैः, तृष्णा के वेग का क्षय होता जाता है। शेष बची अल्प तृष्णा के प्रति कहा है कि तू भी निज स्वरूप में शान्त हो जा। जैसे कि मनु ने कहा है कि "**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते**"। अर्थात् काम के उपभोग से काम बढ़ता है, जैसे कि हवि द्वारा अग्नि बढ़ती है। क्षुधा और तृष्णा भिन्न-भिन्न हैं।

आदि सब हर लिये गये। संकाशात्=सम्+**काशृ दीप्तौ**]।

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः।

अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः॥ २॥

अर्थ—(इतः) इस [हमारे राष्ट्र से] (व्याध्यः) व्याधियाँ अर्थात् रोग (प्र यन्तु) प्रयाण कर जाएँ, (अनुध्याः) चिन्ताएँ (प्र) प्रयाण कर जाएँ, (अशस्तयः) अप्रशस्तियाँ आदि निन्दाएँ, अपकीर्तियाँ (उ) निश्चय से (प्र) प्रयाण कर जाएँ। (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (रक्षस्विनीः) राक्षस स्वभाव वाली [परकीय] सेनाओं का (हन्तु) हनन करे, (सोमः) सेनाध्यक्ष (दुरस्यतीः) दुरिच्छाओं वाली सेनाओं का (हन्तु) नाश करे।

[शत्रु के सब प्रकार के तेजों का जब अपहरण हो गया (मन्त्र १), तब अपने राष्ट्र की व्याधियों, आधियों, निन्दाओं और अपकीर्तियों ने मानो प्रयाण कर लिया, राष्ट्र से ये चली गईं। सोम=सेनाध्यक्ष (यजुः० १७.४०)]।

सूक्त ११५

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता,जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत। अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि॥ १॥

अर्थ—(पापि लक्ष्मि) हे पापरूपिणी लक्ष्मी! (इतः) यहां से (प्रपत) तू उड़ जा (इतः) यहां से (नश्य) अदृष्ट हो जा, (अमुतः) उस दूर देश से भी (प्रपत) चली जा। (द्विषते) जैसे द्विष्ट-शत्रु के पराजय के लिए, (अयस्मयेन अङ्केन) अंकित कर देने वाले लोह निर्मित शल्य द्वारा [उसके शरीर को अंकित कर दिया जाता है, वैसे] हे पापरूपिणी लक्ष्मी! (त्वा) तुझे (सजामसि) हम शल्य द्वारा सम्बन्ध कर देते हैं। [ताकि तेरा विनाश हो जाय]।

[दो प्रकार से लक्ष्मी का उपार्जन होता है, सुपथ द्वारा तथा दुष्पथ द्वारा। दुष्पथ द्वारा उपार्जित लक्ष्मी पापरूपिणी है। इसका परित्याग करना चाहिए। वेद में सु-पथ द्वारा लक्ष्मी के उपार्जन का निर्देश किया है। यथा—"**अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्**" (यजुः० ४०.१६)]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता, जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।

अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥ २॥

अर्थ—(या) जो (पतयालूः) पतन कराने वाली, (अजुष्टा) इस लिए अप्रिया और असेविता (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (मा, अभिचस्कन्द) मुझ पर आरूढ़ हुई है, (इव) जैसे कि (वन्दना) लता (वृक्षम्) वृक्ष पर; (सवितः) हे उत्पादक तथा ऐश्वर्य वाले परमेश्वर! (ताम्) उसे (इतः अस्मत् अन्यत्र) यहां से अर्थात् हम से अन्यत्र (धाः) स्थापित कर, और (हिरण्यहस्तः) मानो हाथों में हिरण्य लेकर (नः) हमें (वसु रराणः) धन देने वाला हो।

[अजुष्टा=अ+जुष्टा। **जुषी प्रीतिसेवनयोः** (तुदादिः)। सवितः=**षु प्रसवैश्वर्ययोः** (भ्वादिः, अदादिः)। रराणः—**रा दाने** (अदादिः)+कानच्। "मा अस्मत्" मुझ और हमसे। वैदिक वर्णनों में यह प्रायः देखा

जाता है कि व्यक्ति जो अपने लिए चाहता है वह अपने लिए चाहता हुआ अन्यों के लिए भी चाहता है। यह उसकी प्रबल सामाजिक भावना का द्योतक है]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता, जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एकंशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोधि जाताः।

तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ॥ ३ ॥

अर्थ—(मर्त्यस्य) मरणधर्मा मनुष्य सम्बन्धी (लक्ष्म्यः) लक्ष्मियाँ (एकशतम्) १०१ हैं, जोकि (तन्वा साकम्) शरीर के साथ (जनुषः अधि) जन्म से (जाताः) पैदा हुई हैं। (तासाम्) उनमें से (पापिष्ठाः) अत्यन्त पापी लक्ष्मियों को (इतः) इस जीवन से (निः) निःशेषरूप में (प्रहिण्मः) हम प्रगत करते हैं, अपसारित करते हैं, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ, प्रज्ञानी परमेश्वर! (शिवाः) कल्याणकारिणी लक्ष्मियाँ (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (नियच्छ) नियत कर, या प्रदान कर।

[नि यच्छ=नि+यम ("**इषुगमियमां छः**" अष्टा० ७.३.७७) द्वारा "छः"। अथवा नियच्छ=नि+दा (दाने), ("**पाघ्रा**" अष्टा० ७.३.७८) द्वारा "दा" को "यच्छ" आदेश। मनुष्य एक वर्ष लगभग माता के पेट में वास करता है, और "शतायुष" होने से १०० वर्ष और, उसका जीवन वेद कथित है। १०१ वर्षों की दृष्टि से उसकी लक्ष्मियाँ १०१ कही हैं। लक्ष्मियाँ दो प्रकार की हैं पापिष्ठाः और शिवाः। मन्त्र (४) में इन्हें पापीः और पुण्याः कहा है]।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता,जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥ ४ ॥

अर्थ—(एताः) इन [पापिष्ठाः], (एनाः) और इन [शिवाः] लक्ष्मियों को (व्याकरम्) मैंने अलग-अलग कर दिया है, दर्शा दिया है [मन्त्र ३ में], (इव) जैसे कि (खिले[१]) खलियान में (विष्ठिताः) विशेषतया स्थित (गाः) गौओं को [सायंकाल के समय] ग्वाला अलग-अलग कर देता है। (पुण्याः लक्ष्मीः) पुण्य लक्ष्मियाँ (रमन्ताम्) मुझमें रमण करें, (याः) जो (पापीः) पापमार्ग से उपार्जित होती हैं (ताः) उन्हें (अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है, उनका उपार्जन परित्यक्त कर दिया है।

सूक्त ११६

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, ज्वरः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे। नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने॥ १ ॥

अर्थ—(रूराय) गर्मी पैदा करने वाले, (च्यवनाय) पसीना बहाने वाले (नोदनाय) विक्षिप्त करने वाले, (धृष्णवे) पराभव करने वाले [ज्वर के लिये] (नमः) औषध-वज्र हो। तथा (शीताय) सर्दी लगकर होने वाले, (पूर्वकामकृत्वने) ज्वर से पूर्व की गई कामनाओं को काट देने वाले [ज्वर के लिये] (नमः) औषध-वज्र हो।

---

१. खिल=खलिहान, जहां धान्य को भूसे से अलग किया जाता है। वहां भूसे के बिखरे रहने से गौएँ एकत्रित हो जाती हैं। सायंकाल में ग्वाला उन्हें, घेर कर वापिस लाता है, और इन की व्याकृति कर देता है, इन्हें अलग-अलग कर देता है। खिले का अर्थ अनुपजाऊ भूमि करने पर अर्थ प्रासंगिक नहीं होता है। खिले=गोष्ठे (सायण)।

[**नमः वज्रनाम** (निघं० २.२०)। कृत्वने=**कृती छेदने**+क्वनिप् (सायण) ग्रीष्म और शीत ज्वर का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**चन्द्रमाः, ज्वरः**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप् (आर्च्युष्णिक्) एकावसाना**॥

यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्ये॑त्वव्रतः॥ २॥

अर्थ—(यः) जो (अव्रतः) अनियत काल का ज्वर, (अन्येद्युः) एक दिन के व्यवधान में (उभयद्युः) तथा दो दिनों के व्यवधान में (अभ्येति) आता है, वह (इमम्, मण्डूकम्) इस मण्डूक को (अभ्येतु) आए।

[मण्डूकम्=उपमावाचक पद लुप्त है। जैसे मण्डूक जल प्रदेशवासी हैं, उसी प्रकार जो मनुष्य जलप्राय प्रदेश में निवास करता है उसे, दोनों प्रकार के ज्वर आते हैं। अथवा "मण्डूक" पद यौगिक है। यथा "**मण्डूकाः, मण्ड एषामोक इति वा**" (निरुक्त ९.१.५), मण्ड अर्थात् उदक में अनूप प्रदेश में जिन का "ओकः" घर है वे मण्डूक हैं। "मण्ड" का अर्थ है उदक; यथा दधिमण्डः=दधिजलम् (वैद्यक-शब्दसिन्धुः)। जलप्राय प्रदेश में निवास करने से, शरीर में जल की आनुपातिक मात्रा बढ़ जाने पर, मलेरिया का आक्रमण होता रहता है]।

सूक्त ११७

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पथ्या बृहती**॥

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिद्वि यमन्विं न पाशिनोति धन्वेव ताँ इहि॥ १॥

अर्थ—(इन्द्र) हे सम्राट्! (मन्द्रैः) स्तुतियोग्य (मयूररोमभिः) मोर के रोम के सदृश रोम वाले (हरिभिः) अश्वों द्वारा (आ याहि) तू आ। (केचिद्) कोई (त्वा) तुझ [आते हुए] को (मा) न (वि यमन्) रोकें, (न) जैसे कि (पाशिनः) फन्दों वाले शिकारी (विम्) पक्षी को रोक लेते हैं; (तान्) उन्हें (अति इहि) अतिक्रान्त करके आ जा, (धन्व इव) जैसे कि यात्री, जलरहित मरु-प्रदेश का अतिक्रमण कर, प्रापणीय स्थान में आ जाते हैं।

[हरिभिः में बहुवचन से या तो रथ में जुते नाना अश्व अभिप्रेत हैं, या सम्राट् के रक्षकों के अश्व भी अभिप्रेत हैं। वियमन्=नियमन् (यजुः० २०.५३)। मयूररोमभिः=मन्त्र में प्रसिद्धार्थ कर दिया है। अश्व की गर्दन पर बाल होते हैं जिन्हें कि अयाल (mane) कहते हैं, परन्तु वे मयूर के रोमों के सदृश चितकबरे नहीं होते। "मयूररोमभिः" में बहुव्रीहि समास न मानकर "सह" अर्थ में "तृतीया" प्रतीत होती है, जिसका अर्थ होगा "मोर के रोमों से युक्त अश्व। यह देखा भी गया है कि घुड़सवार अपने घोड़ों के सिरों पर शोभा के लिए मोर के पंख लगा लेते हैं, तांगे वाले भी घोड़ों के सिर पर कलगीरूप में मोरपंख लगा लेते हैं। यह केवल शोभार्थ किया जाता है]"।

सूक्त ११८

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सोमः,वरुणः,देवश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्।

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वाऽनु देवा मदन्तु॥ १ ॥

अर्थ—हे सम्राट्! (ते) तेरे (मर्माणि) मर्मस्थानों को (वर्मणा) कवच द्वारा (छादयामि) मैं आच्छादित करता हूँ, (अनु) तत्पश्चात् (राजा) अस्त्र-शस्त्रों से प्रदीप्त (सोमः) सेनानायक (अमृतेन) जो मारे नहीं जा सकते अर्थात् अति शूरवीर सैनिक वर्ग द्वारा (त्वा) तुझे (वस्ताम्) आच्छादित करे। (ते) तेरे सत्कार के लिए (वरुणः) राष्ट्र का राजा (उरोः वरीयः) विस्तृत से भी विस्तृत अर्थात् विशाल स्थान (कृणोतु) तय्यार करे, (जयन्तम्) और विजय प्राप्त करते हुए (त्वा) तुझे (अनु) लक्षित करके (देवाः) साम्राज्य के दिव्य सज्जन तथा अधिकारी (मदन्तु) प्रसन्न हों।

[''वरुणः'' पद द्वारा साम्राज्य के अङ्गभूत राष्ट्र का राजा अभिप्रेत होता है। ''**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा** (यजुः० ८.३७)। सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति, जिसके अङ्ग हैं राष्ट्राधिपति वरुण नामक राजा। मर्मों का आच्छादन करने वाला है ''बृहस्पतिः'' साम्राज्य की बृहती सेना का अधिपति। सोम है सेनानायक जो कि सेना के आगे होकर चलता है, (देखो यजुः० १७.४०)। साम्राज्य के जिस राष्ट्र पर शत्रु ने आक्रमण किया है, उस शत्रु के पराजित हो जाने पर उस राष्ट्र का अधिपति वरुण राजा सम्राट् के सत्कार के लिए विशाल स्थान का प्रबन्ध करता है। 'अमृतेनानु वस्ताम्' द्वारा यह दर्शाया है कि सेनानायक ही सम्राट् की रक्षा के लिए व्यूह की रचना करता है, जिस व्यूह में सम्राट् आच्छादित रहता है]।

दशम अनुवाक समाप्त॥

सप्तम काण्ड का भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥